



सच्चं लोगम्भि सारभूयं

# बौद्ध प्रमाण-मीमांसा की जैन दृष्टि से समीक्षा

लेखक

डॉ० धर्मचन्द जैन



पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी-५

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला—८१

सम्पादक :

प्रो० सागरमल जैन

# बौद्ध प्रमाण-मीमांसा की जैन दृष्टि से समीक्षा

लेखक :

डॉ० धर्मचन्द्र जैन

प्रकाशक :

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी—५

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला—८१

पुस्तक	: बौद्ध प्रमाण-मीमांसा की जैन दृष्टि से समीक्षा
प्रकाशक	: पार्श्वनाथ विद्यापीठ आई० टी० आई० रोड, करौंदी पो०—बी० एच० यू० वाराणसी—२२१ ००५
दूरभाष	: ३११४६२
फैक्स	: ०५४२-३११४६२
प्रथम संस्करण	: १९९५
मूल्य	: २००.०० रुपये

**Pārśvanātha Vidyāpītha Granthamālā 81**

Book	: Buddha Pramāṇa Mīmāṃsā Kī Jaina Dṛṣṭi Se Samikṣā
Publisher	: Praśvanātha Vidyāpītha I.T.I. Road, Karaundi, P.O. B.H.U. Varanasi-221 005
Phone	: 311462
Fax	: 05412-311462
First Edition	: 1995
Price	: Rs. 200.00
Printed at	: Vardhaman Mudranalaya Jawahar Nagar, Bhelupur, Varanasi-10

दिवङ्गत श्रद्धेय गुरुवर्य  
**आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी**  
को  
सादर समर्पित



## आशीर्वचन

डॉ. धर्मचन्द जैन का 'बौद्ध प्रमाण-मीमांसा की जैनदृष्टि से समीक्षा' निबन्ध, जैन आचार्यों द्वारा बौद्ध दर्शन की प्रमाण-चर्चा की जो परीक्षा की गई है उसे ही आधार बनाकर लिखा गया है। हिन्दी में यह प्रथम प्रयत्न है और कहना होगा कि प्रयत्न सफल है।

आचार्य अकलङ्क के द्वारा किये गये प्रारम्भ को आचार्य विद्यान्न्द, प्रभाचन्द्र, अभयदेव, वादिदेवसूरि आदि ने विस्तार दिया। डॉ. जैन ने इन सभी आचार्यों द्वारा की गई परीक्षा को इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। कहना होगा कि मूल ग्रन्थों के ही अध्ययन द्वारा किया गया यह प्रयत्न सफल है।

पूर्वाचार्यों ने संस्कृत में जो लिखा है उसका सारांश प्रस्तुत निबन्ध में उत्तम रीति से प्राप्त होता है, इसके लिए डॉ. जैन अभिनन्दनीय हैं।

इस ग्रन्थ के अध्ययन से पाठक को जैन और बौद्ध प्रमाण-मीमांसा की समग्र चर्चा अवगत होगी, ऐसा मेरा विश्वास है। मूल संस्कृत के ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा जब शिथिल हो रही है तब ऐसे उत्तम ग्रन्थ विशेष उपयोगी सिद्ध होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

अहमदाबाद  
११ मार्च १९९५

पण्डित दलसुख भाई मालवणिया

## प्रकाशकीय

भारतीय दर्शनों में जैन और बौद्ध दोनों में ही श्रमण-परम्परा के दर्शन हैं। किन्तु जहाँ तक इन दोनों के दार्शनिक मन्तव्यों का प्रश्न है दोनों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। यह भी सत्य है कि बौद्ध प्रमाण-मीमांसा के विकास के पश्चात् ही जैन तार्किकों ने प्रमाण के क्षेत्र में प्रवेश किया। इसका परिणाम यह हुआ कि जैन तार्किकों को बौद्ध प्रमाणशास्त्र की अवधारणाओं की समीक्षा के लिए पर्याप्त अवसर मिला। जैन प्रमाणशास्त्र के ग्रन्थों में पूर्वपक्ष के रूप में बौद्ध अवधारणाओं का जो प्रस्तुतीकरण हुआ वह इस तथ्य का प्रमाण है कि जैन आचार्य प्राचीन काल से ही बौद्ध प्रमाणशास्त्रीय अवधारणाओं की समीक्षा करते रहे हैं। डॉ० धर्मचन्द्र जैन ने इसी आधार को लेकर 'बौद्ध प्रमाण-मीमांसा की जैन दृष्टि से समीक्षा' नामक एक शोध-प्रबन्ध लिखा था और जिस पर उन्हें जयपुर विश्वविद्यालय से पी-एच. डी. की उपाधि भी प्राप्त हुई थी। प्रस्तुत ग्रन्थ उसी शोध-प्रबन्ध का संशोधित एवं परिमार्जित स्वरूप है। यद्यपि दर्शन एक दुरूह विषय है ही और उसमें भी प्रमाणशास्त्र तो अत्यन्त दुरूह विषय माना जाता है। डॉ० धर्मचन्द्र जैन ने इस दुरूह विषय पर कार्य करके अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। यद्यपि ऐसे विषयों के पाठक अत्यन्त अल्प होते हैं फिर भी जैनविद्या के क्षेत्र में ऐसे अवदानों का प्रकाशन तो आवश्यक है ही। यही समझकर हमने इसके प्रकाशन के दायित्व का निर्वाह किया है। कृति कैसी बन पड़ी है, यह मूल्यांकन तो विद्वानों का कार्य है। आशा है उनके मन्तव्य हमारे लिए मार्गदर्शक होंगे।

डॉ० धर्मचन्द्र जैन जैनविद्या के एक उदीयमान विद्वान हैं। उन्होंने न केवल प्रस्तुत ग्रन्थ को प्रकाशनार्थ पार्श्वनाथ विद्यापीठ को दिया, अपितु कम्प्यूटर पर इसकी कम्पोजिंग करवाने एवं प्रूफ-संशोधन का दायित्व स्वयं ही वहन किया। एतदर्थ हम डॉ० जैन के अत्यन्त आभारी हैं।

ग्रन्थ के प्रकाशन और मुद्रण सम्बन्धी व्यवस्थाओं के लिए विद्यापीठ के निदेशक डॉ. सागरमल जैन एवं डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय के प्रति हम विशेष रूप से आभार प्रकट करते हैं। मुद्रण के लिए वर्धमान मुद्रणालय, वाराणसी धन्यवाद का पात्र है।

**भूपेन्द्र नाथ जैन**  
मन्त्री, पार्श्वनाथ विद्यापीठ  
वाराणसी।



## प्राक्कथन

प्रस्तुत ग्रन्थ 'बौद्ध प्रमाण-मीमांसा की जैनदृष्टि से समीक्षा' राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर से १९८९ ई. में पी-एच.डी. उपाधि के लिए स्वीकृत 'बौद्ध प्रमाणवाद का जैन दृष्टि से परीक्षण' विषयक शोध-प्रबन्ध का संशोधित रूप है। इस ग्रन्थ में बौद्ध एवं जैन प्रमाण-शास्त्र को संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए जैन दार्शनिकों के द्वारा की गई बौद्ध मत की आलोचना का समीक्षण किया गया है।

भारतीय धर्म-दर्शन का जब वैदिक एवं श्रमण धाराओं में वर्गीकरण किया जाता है तो जैन एवं बौद्ध दर्शन श्रमणधारा में प्रमुखता से उभरकर आते हैं। 'श्रमण' शब्द इन धर्म-दर्शनों की आचार-परम्परा में रही हुई समता की ओर संकेत करता है। आचार-मीमांसा एवं संस्कृति की दृष्टि से समानता होने पर भी इन दर्शनों की तत्त्वमीमांसा एवं प्रमाणमीमांसा में पर्याप्त मतभेद हैं। प्रमाणमीमांसा-विषयक मतभेद का आधार प्रायः तत्त्वमीमांसागत भेद ही रहा है। बौद्ध तत्त्वमीमांसा क्षणिकवाद अथवा विज्ञानवाद पर टिकी हुई है तो जैन तत्त्वमीमांसा नित्यानित्यवाद पर टिकने के साथ स्व की भांति बाह्यार्थ को भी सत् स्वीकार करती है। यही कारण है कि बौद्ध प्रमाण-मीमांसा जहां जटिल एवं तार्किक प्रतीत होती है वहां जैन प्रमाण-मीमांसा संव्यवहार के लिए उपयोगी सिद्ध होती है।

बौद्ध प्रमाण-मीमांसा का व्यवस्थित प्रारम्भ पांचवीं शती में दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय से हुआ। बौद्ध-न्याय के पिता आचार्य दिङ्नाग के अनन्तर ही न्याय, मीमांसा एवं जैन दर्शनों में पृथक् प्रमाण-शास्त्रीय ग्रन्थों के निर्माण को दिशा मिली। उनके पूर्व भारतीय दर्शन में न्यायसूत्र, चरकसंहिता, उपायहृदय, अनुयोगद्वार सूत्र आदि ग्रन्थों में प्रमाण-निरूपण अवश्य मिलता है, किन्तु स्वतन्त्र रूप से किसी भी दर्शन में प्रमाण-शास्त्रीय ग्रन्थों का निर्माण प्रारम्भ नहीं हुआ था। बौद्धदर्शन में शून्यवादी नागार्जुन ने जहां प्रमाण का निरसन किया है वहां दिङ्नाग ने प्रत्यक्ष एवं अनुमान के रूप में दो प्रमाण एवं स्वलक्षण और सामान्यलक्षण के रूप में दो प्रमेय स्वीकार कर प्रमाणमीमांसा का व्यवस्थित ढांचा खड़ा किया। दिङ्नाग द्वारा प्रवर्तित बौद्ध प्रमाण-मीमांसा को धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, अर्चट, प्रज्ञाकर गुप्त, शान्तरक्षित, कमलशील आदि आचार्यों ने विकसित एवं सुव्यवस्थित किया।

जैन दर्शन में प्रमाण-शास्त्र की प्रथम रचना सिद्धसेन (पांचवीं-छठी शती) का न्यायावतार है। इस दृष्टि से सिद्धसेन को जैनन्याय का पिता कहा जा सकता है। बत्तीस कारिका परिमित न्यायावतार में सिद्धसेन ने प्रमाण का व्यवस्थित प्रतिपादन किया है; किन्तु आठवीं शती में भट्ट अकलङ्क ने जैन न्याय को अधिक व्यवस्थित एवं व्यापक स्वरूप प्रदान किया। उन्होंने स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क को भी प्रमाण रूप में प्रतिष्ठित किया। इसलिए अकलङ्क ही जैन न्याय के प्रतिष्ठापक आचार्य माने जाते हैं। उनके पूर्ववर्ती सुमति, पात्रस्वामी आदि अन्य प्रसिद्ध दार्शनिकों की रचनाएं सम्प्रति अनुपलब्ध हैं। भट्ट अकलङ्क के अनन्तर विद्यानन्द,

अनन्तवीर्य, माणिक्यनन्दी, वादिराज, अभयदेवसूरि, प्रभाचन्द्र, वादिदेव सूरि, हेमचन्द्र आदि अनेक जैन दार्शनिकों ने जैन प्रमाणमीमांसा को तार्किक दृष्टि से पुष्ट एवं समृद्ध किया।

बौद्धों का तार्किक संघर्ष जितना न्याय एवं मीमांसा दर्शनों के साथ रहा, उतना जैन दर्शन के साथ नहीं। धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित, अर्चट आदि के ग्रंथों में जैनों के अनेकान्तवाद, हेतुलक्षण, बहिरर्थवाद आदि का खण्डन अवश्य हुआ है, किन्तु ८ वीं से ११ वीं शती के जैन दार्शनिक ग्रंथ बौद्ध प्रमाण-मीमांसा के खण्डन से भरे पड़े हैं। बारहवीं शती में भारत से बौद्ध आचार्यों की परम्परा विलुप्त हो गयी, फलतः उत्तरवर्ती जैन प्रमाण-ग्रंथों में बौद्धों के खण्डनार्थ प्रायः प्राचीन तर्कों का ही पिष्टपेषण किया गया, इसलिए इस ग्रन्थ में चौथी-पांचवी शती से लेकर ग्याहरवीं-बारहवीं शती के प्रमुख जैन दार्शनिक-ग्रंथों को ही आधार बनाया गया है।

सम्प्रति बौद्ध एवं जैन दर्शन का अध्ययन अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर रुचि का विषय बना हुआ है। बौद्ध दर्शन का प्रभाव उसके समकालीन विभिन्न दर्शनों पर हुआ अतः उसका दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में विशेष महत्त्व है। बीसवीं शती में बौद्ध प्रमाण-मीमांसा का अध्ययन करने वाले विद्वानों में श्चेरबात्स्की, सातकडि मुकर्जी, जी. टुची, जी.सी. पाण्डे, टी.आर. वी. मूर्ति, डी. एन. शास्त्री, मसाकी हतौड़ी आदि प्रमुख हैं। जैन प्रमाणमीमांसा के अध्येता विद्वानों में प्रमुख हैं-पं. सुखलाल संघवी, पं. दलसुख मालवणिया, डॉ. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, डॉ. दरबारी लाल कोठिया, पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री आदि। किन्तु जैन ग्रंथों को आधार बनाकर बौद्ध प्रमाण-मीमांसा का विस्तृत खण्डन अभी तक प्रस्तुत नहीं हुआ है। नगीन जे. शाह ने मात्र अकलङ्क के ग्रंथों से धर्मकीर्ति के दर्शन का तत्त्वमीमांसीय एवं प्रमाणमीमांसीय खण्डन प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत कृति में अकलङ्क के अतिरिक्त मल्लवादी क्षमाश्रमण, विद्यानन्द, अभयदेवसूरि, प्रभाचन्द्र, वादिदेवसूरि एवं हेमचन्द्र के ग्रंथों से सम्पूर्ण बौद्ध प्रमाणमीमांसा का अनुशीलन किया गया है, जिससे जैन-बौद्ध-परम्परा के प्रमाणमीमांसीय विकास का सम्पूर्ण चित्र तो सामने आता ही है, किन्तु जैन दार्शनिकों के प्रौढ अध्ययन एवं तार्किक कौशल का भी भान होता है। इसके अतिरिक्त जैन प्रमाणमीमांसा पर बौद्ध दार्शनिक प्रभाव भी स्पष्ट होता है। जैन दार्शनिकों की यह उल्लेखनीय विशेषता रही कि वे जैनैतर सिद्धान्तों को पूर्वपक्ष में उनके मूलग्रन्थों से भी अधिक स्पष्ट रीति से निष्पक्षता के साथ प्रस्तुत करते हैं। बौद्धपक्ष को प्रस्तुत करते हुए भी उन्होंने अपनी इस विशेषता को सुरक्षित रखा है।

### समीक्ष्य-बिन्दु

यह ग्रन्थ छह अध्यायों में विभक्त है। समस्त अध्यायों में जैन दार्शनिकों द्वारा किये गये खण्डन के पूर्व बौद्ध एवं जैन प्रमाण-मन्तव्यों को स्पष्ट किया गया है तथा खण्डन के अनन्तर उनका समाहार या समीक्षण भी किया गया है। जहां तक संभव हुआ है जैन दार्शनिकों के



काल-क्रम को ध्यान में रखा गया है। द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ अध्याय के खण्डन से सम्बद्ध संस्कृत मूल ग्रंथों के उन अंशों को परिशिष्ट में दिया गया है जो प्रायः दुर्लभ हैं।

प्रामाण्यवाद, साध्य, व्याप्ति, हेत्वाभास, दृष्टान्त, दृष्टान्ताभास आदि कुछ विषयों पर जैन एवं बौद्ध दार्शनिकों में विशेष मतभेद नहीं रहा। प्रमुखतः जिन विषयों पर मतभेद या विरोध रहा है उन्हें संक्षेपतः इस प्रकार रखा जा सकता है।

१. बौद्ध दार्शनिक जहां प्रमाणव्यवस्थावादी हैं वहां जैन दार्शनिक प्रमाणसंप्लववादी हैं। बौद्ध दर्शन में स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण नामक दो प्रमेयों के लिए पृथक्-पृथक् प्रमाणों (प्रत्यक्ष एवं अनुमान) की कल्पना की गयी है जबकि जैनदर्शन में सामान्यविशेषात्मक एक ही प्रमेय को विभिन्न प्रमाणों का विषय स्वीकार किया गया है। एक प्रमाण के द्वारा जाने गए प्रमेय को जैनदर्शन के अनुसार अन्य प्रमाणों से भी जाना जा सकता है।

२. प्रमाण की अविस्वादाकता दोनों को मान्य है, किन्तु उसके अभिप्राय में भेद है। बौद्धदर्शन में अविस्वादाकता का अर्थ है - अर्थक्रिया स्थिति, अवञ्चकता, अर्थप्रापकता या अर्थप्रदर्शकता, किन्तु जैनदर्शन में प्रमाणान्तरों से अबाधित एवं पूर्वापर विरोध से राहित्य को अविस्वादाकता मानकर उसे निश्चयात्मकता के अधीन अङ्गीकार किया गया है।

३. प्रमाण को ज्ञानात्मक स्वीकार करने में दोनों दर्शन एकमत हैं, किन्तु बौद्धदर्शन में प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक माना गया है, जबकि जैनदार्शनिकों ने उसे विशद एवं व्यवसायात्मक होने के कारण सविकल्पक सिद्ध किया है। सविकल्पकता की सिद्धि में उन्होंने अनेक हेतु दिए हैं।

जैन दार्शनिकों की मान्यता है कि निश्चयात्मक ज्ञान ही हान, उपादान एवं उपेक्षा रूप व्यवहार के लिए उपयोगी होता है और वह निश्चयात्मक होने के कारण सविकल्पक ही होता है। निर्विकल्पक होने के कारण जैनों ने अपने यहां मान्य 'दर्शन' को भी प्रमाणकोटि से बहिर्भूत रखा है।

४. कल्पना के स्वरूप को लेकर दोनों में गहन विचार हुआ है। शब्दयोजना को कल्पना मानने पर तो जैन दार्शनिक भी प्रत्यक्ष को उससे रहित प्रतिपादित करते हैं, किन्तु अभिलापसंसर्गयोग्य प्रतिभास प्रतीति को कल्पना कहने पर जैन दार्शनिक प्रत्यक्ष को उससे रहित नहीं मानते।

५. बौद्ध दर्शन में मान्य मानस-प्रत्यक्ष एवं स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष भेद जैनों को मान्य नहीं हैं। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को भी वे साव्यवहारिक-प्रत्यक्ष की ही श्रेणि में रखते हैं। अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के रूप में बौद्धों के यहां मात्र योगिप्रत्यक्ष की चर्चा है, वहां जैन आगमों में इसके अवधिज्ञान, मनः पर्याय एवं केवलज्ञान भेद प्रतिपादित हैं। ये तीनों भेद जैन दर्शन में मुख्य प्रत्यक्ष अथवा पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहे गए हैं।

६. बौद्ध दार्शनिक अनुमान-प्रमाण को भ्रान्त मानते हैं, जबकि जैन दार्शनिक उसे प्रत्यक्ष की भांति ही अभ्रान्त एवं सम्यक् मानते हैं ।
७. अनुमान के स्वार्थ एवं परार्थभेदों का सर्वप्रथम प्रणयन बौद्धों ने किया था, जिन्हें अन्य भारतीय दर्शनों की भांति जैनों ने भी अपनाया है । सिद्धसेन, शान्तिसूरि एवं वादिदेवसूरि ने तो अनुमान की भांति प्रत्यक्ष के भी स्वार्थ एवं परार्थ प्रकार बतलाये हैं ।
८. हेतु-लक्षण को लेकर दोनों परम्पराओं में गहरा मतभेद है । बौद्धदार्शनिक जहां हेतु में पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व एवं विपक्षासत्त्व रूप त्रैरूप्य का होना अनिवार्य मानते हैं वहां जैन दार्शनिक विपक्षासत्त्व रूप साध्याविनाभावित्व अथवा अन्यथानुपपत्तित्व को ही हेतु का एकमात्र लक्षण मानते हैं ।
९. बौद्धों ने स्वभाव, कार्य एवं अनुपलब्धि नामक तीन हेतु अङ्गीकार किए हैं, जबकि जैनों ने कारण पूर्वचर, उत्तरचर एवं सहचर हेतुओं को भी संव्यवहार के लिए उपयोगी समझकर बलपूर्वक स्थापित किया है । अनुपलब्धि हेतु को बौद्ध दार्शनिक निषेधसाधक मानते हैं वहां जैनों ने उसे विधि एवं निषेध दोनों का साधक माना है ।
१०. बौद्ध जहां स्वभाव एवं अनुपलब्धि हेतुओं में तादात्म्य द्वारा एवं कार्यहेतु में तदुत्पत्ति द्वारा अविनाभाव मानते हैं वहां जैन दार्शनिक इसका खण्डन करते हैं ।
११. परार्थानुमान में जैनदार्शनिक पक्षवचन अर्थात् प्रतिज्ञा को आवश्यक मानते हैं जबकि बौद्ध दार्शनिक इसे अनावश्यक मानते हैं । वे हेतु में पक्षधर्मत्व को अनिवार्य मानते हैं जबकि जैनदार्शनिक इसके बिना भी हेतु को सद्हेतु मान लेते हैं ।
१२. दृष्टान्त को परार्थानुमान का पृथक् अवयव नहीं मानने के सम्बन्ध में दोनों परम्पराएं सहमत हैं किन्तु, बौद्धों ने सपक्षसत्त्व के रूप में उसका हेतुलक्षण में ग्रहण कर लिया है ।
१३. अन्य भारतीय दर्शनों की भांति बौद्ध जहां स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क को अप्रमाण मानते हैं वहां जैन दार्शनिकों ने उन्हें युक्तिपुरस्सर प्रमाण रूप में प्रतिष्ठापित किया है । भारतीय न्याय को यह जैनों का अनूठा योगदान है ।
१४. बौद्धों ने आगम या शब्द को पृथक् रूप से प्रमाण न मानकर अपोह सिद्धान्त के अनुसार उसका अनुमान-प्रमाण में अन्तर्भाव किया है जबकि जैन दार्शनिकों ने शब्द या आगम का पृथक् प्रामाण्य स्थापित कर बौद्धों के अपोहवाद का खण्डन किया है ।
१५. बौद्धों के अनुसार शब्द का अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु जैन दार्शनिक शब्द एवं अर्थ में योग्यता सम्बन्ध से संकेत-ग्रहण मानते हैं ।
१६. बौद्ध एवं जैनदर्शन में छल जाति आदि के प्रयोग को अन्याय्य बतलाया गया है तथा

जल्प एवं वितण्डा को कथा का अंग नहीं माना गया है, मात्र वाद को ही कथा का अंग माना गया है, फिर भी बौद्धों ने असाधनाङ्गवचन एवं अदोषोद्भावन नामक दो निग्रहस्थानों को स्वीकार किया है जबकि जैनदार्शनिकों ने इनका खण्डन कर वादी के द्वारा स्वपक्षसिद्धि को ही प्रतिवादी का निग्रहस्थान माना है।

१७. बौद्धदार्शनिकों ने प्रमाण एवं उसके फल में व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक भाव स्थापित करते हुये अर्थसारूप्य को प्रमाण एवं अर्थाधिगति को फल कहा है। जैन दार्शनिकों ने प्रमाण के अर्थसारूप्य का प्रबल खण्डन किया है। साथ ही उन्होंने ज्ञान की उत्पत्ति में अर्थ, आलोक आदि की कारणता का भी निरास किया है।

भारतीय दर्शन के अध्येता के रूप में यह कृति मेरा प्रथम प्रयास है। इस अध्ययन से जैन एवं बौद्ध दर्शन के प्रति मेरी रुचि में अभिवृद्धि हुई है। मुझे लगा कि सांख्य, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, बौद्ध और चार्वाक दर्शनों को समझने के लिए जैन दर्शन-ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। शोध-कार्यों को भी इनके अध्ययन से नया आयाम मिल सकता है। जैनों ने भारतीय दर्शन की प्रायः प्रत्येक समस्या को समीक्षा का विषय बनाया है। प्रस्तुत अध्ययन में जैन एवं बौद्ध आचार्यों के वे ही ग्रन्थ अध्ययन के आधार बने हैं जो संस्कृत में उपलब्ध हैं। दिङ् नाग आदि दार्शनिकों के वे ग्रन्थ उपयोग में नहीं आ सके जो मात्र चीनी या तिब्बती भाषा में उपलब्ध होते हैं।

### कृतज्ञता-ज्ञापन

मैं स्व. गुरुवर डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी, आचार्य, संस्कृत-विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर का हृदय से ऋणी हूँ जिनके कुशल निर्देशन में शोध-कार्य सम्पन्न हो पाया। उन्होंने मुझे समय ही नहीं स्नेह, आत्मीयता एवं सतत प्रेरणा प्रदान कर निरन्तर उत्साहित किया तथा इस योग्य बनाया कि मैं बौद्ध एवं जैन दर्शन ग्रंथों का सूक्ष्म आलोचन कर यह प्रबन्ध लिख सकूँ। अपने स्वर्गमन (२७ सितम्बर १९९३) से पूर्व जून १९९३ में जयपुर में डॉ. द्विवेदी ने इस ग्रन्थ की भूमिका लिखने हेतु सहज स्वीकृति प्रदान की थी, किन्तु दैवयोग से यह संभव नहीं हो सका।

यह कार्य अब जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग के आचार्य एवं अध्यक्ष डॉ. दयानन्द भार्गव ने सम्पन्न किया है। उन्होंने पूर्ण स्नेह, औदार्य एवं आत्मीयता के साथ इस ग्रन्थ की भूमिका लिखकर पाठकों का मार्गदर्शन किया है। मैं एतदर्थ उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ।

जैन-विद्या के वर्तमान विद्वानों में शीर्षस्थ पं. दलसुखभाई मालवणिया का भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने ८२ वर्ष की अवस्था में भी इस ग्रन्थ का अवलोकन कर आशीर्वचन के

रूप में सम्मति प्रदान की है। पं. मालवणिया जी ने इस शोध कार्य को प्रारम्भ करने से पूर्व भी मेरा अमूल्य मार्गदर्शन किया था। उनके अतिरिक्त जैनविद्या के विद्वानों में मुझे जिनसे अपने कार्य में मार्गदर्शन एवं सत्परामर्श मिला, वे हैं— स्व. आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज सा., डा. नथमल टाटिया, डा. दरबारी लाल कोठिया तथा डॉ. नगीन जे. शाह। मैं इन समस्त सुधीजनों के प्रति श्रद्धानत हूँ।

श्री जैन सिद्धान्त शिक्षण संस्थान, जयपुर के अधिष्ठाता गुरुजी श्री कन्हैयालाल जी लोढ़ा के अनन्य प्रेम, प्रेरणा एवं मार्गदर्शन का आभार मैं शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता। साधना-भवन, जयपुर की प्रबंध समिति व विद्यार्थियों का मैं ऋणी हूँ जिन्होंने मुझे साधना-भवन का एकान्त एवं शान्त वातावरण प्रदान कर शोधकार्य सम्पन्न करने में अमूल्य सहयोग दिया। गुरुवर्य डॉ. श्रीकृष्ण शर्मा, सह-आचार्य, संस्कृत-विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय ने ग्रन्थ के प्रकाशन से पूर्व अमूल्य एवं उपयोगी सुझाव दिए, एतदर्थ मैं उनका भी हृदय से कृतज्ञ हूँ।

इस कृति की सम्पन्नता में विभिन्न पुस्तकालयों का सहयोग रहा है, जिनमें प्रमुख हैं—राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, ओरियण्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर, अहमदाबाद, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार, जयपुर, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, श्री जैन सिद्धान्त शिक्षण संस्थान, जयपुर, श्री सन्मति पुस्तकालय, जयपुर, जैन अनुशीलन केन्द्र एवं दर्शनशास्त्र विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, जैन विश्वभारती, लाडनू आदि। इनके अतिरिक्त व्यक्तिगत पुस्तकालयों से भी मुझे पूर्ण सहयोग मिला है, जिनमें डॉ. आर.सी. द्विवेदी, जयपुर, सुश्री शान्ति जैन, कोटा, सुहृद्वर डॉ. राजकुमार छाबड़ा, जयपुर के पुस्तकालय प्रमुख रहे हैं। मैं इन सबका कृतज्ञ हूँ।

मैं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग एवं कालेज शिक्षा निदेशालय, राजस्थान का भी आभार मानता हूँ जिनके द्वारा मुझे टीचर रिसर्च फेलोशिप प्रदान कर अध्ययनार्थ चार वर्ष (१९ मार्च, १९८५ से १८ मार्च १९८९) का समय दिया गया।

अन्त में मैं आभारी हूँ प्रख्यात जैन विद्वान् डॉ. सागरमल जी जैन का, जिन्होंने अगाध स्नेह एवं आत्मीयता के साथ पूज्य सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोध पीठ, वाराणसी से इस ग्रन्थ का प्रकाशन किया। इस ग्रन्थ को प्रकाशनयोग्य बनाने के लिए जे.के. कम्प्यूटर सेन्टर जोधपुर के श्री जितेन्द्र जोशी को भी मैं धन्यवाद देना अपना कर्तव्य समझता हूँ।

**धर्मचन्द्र जैन**

## भूमिका

महात्मा गाँधी कहा करते थे कि विश्व के इतिहास में ऐसे विचारक तो मिलते हैं जिन्होंने ईश्वर को स्वीकार नहीं किया, किन्तु कोई ऐसा विचारक नहीं मिलता जिसने सत्य को स्वीकार न किया हो। ईश्वर को न मानने पर भी सत्य की खोज में सर्वस्व न्यौछावर कर देने वाली परम्पराओं में दो परम्पराएं हैं - बौद्ध तथा जैन। इन दोनों परम्पराओं में ऐसे ईश्वर को कोई मान्यता नहीं दी गयी जो सृष्टि का स्रष्टा अथवा नियन्ता हो तथापि ये दोनों परम्पराएं सत्य की खोज को अत्यन्त महत्त्व देती हैं। सुत्तनिपात्त में महात्मा बुद्ध कहते हैं कि रसों में सत्य का रस सबसे अधिक स्वादु है - **सच्चं हे व सादुतरं रसानं** (१.१०.२)। आगे वे कहते हैं कि शाश्वत धर्म यह है कि सत्य वाणी ही अमृत है - **सच्चं वे अमता वाचा** (३.२९.४)। वे पुनः कहते हैं कि असत्यवादी नरक में जाता है - **अभूतवादी निरयं उपेति** (३/३६/५)। इन वक्तव्यों में सत्य के तीन आयाम अभिव्यक्त हो रहे हैं :

१. सत्य- तत्त्वमीमांसीय अवधारणा के रूप में
२. सत्य वाणी- आप्तवाक्य की अवधारणा के रूप में
३. सत्य भाषण - आचारशास्त्रीय अवधारणा के रूप में

भगवान् महावीर ने भी सत्य में बुद्धि स्थिर करने का उपदेश दिया है - **सच्चंमि धिङ् कुव्वह** (आचाराङ्ग १/३/२) आगे उन्होंने कहा है कि हे पुरुष ! तुम सत्य को ही जानो - **पुरिसा ! सच्चमेव समधिज्जाणहि** (आचाराङ्ग १/३/३)। असत्य प्ररूपणा करने वाले संसार के पार नहीं जा सकते - **जे ते उ वाइणो एवं न ते संसारपारगा** (सूत्रकृताङ्ग १/१/१/२१)। प्रश्नव्याकरण में तो सत्य को भगवान् ही बता दिया गया है - **तं सच्चं भगवं** (प्रश्नव्याकरण २/२)। आगे कहा गया है संसार में सत्य ही सारभूत है - **सच्चं लोगमि सारभूयं** (प्रश्नव्याकरण २/२) (प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन करने वाली संस्था का यही आदर्श वाक्य है)। मृषावाद का त्याग अणुव्रत के रूप में श्रावक के लिये तथा महाव्रत के रूप में मुनि के लिये अनिवार्यतः विहित है।

इस प्रकार जैनपरम्परा में भी तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से सत्य, आप्तवाक्य की दृष्टि से सत्यवाणी तथा आचारशास्त्रीय दृष्टि से सत्य भाषण को वही महत्त्व प्राप्त है जो बौद्ध परम्परा में है। जैन परम्परा में तत्त्वमीमांसीय सत्य अनेकान्त के रूप में, आप्तवाक्य स्याद्वाद के रूप में तथा सत्यभाषण व्रत के रूप में प्रतिपादित हुए।

आगम-युग का सत्य ही दार्शनिक युग का प्रमा है तथा प्रमा का करण ही प्रमाण है। दार्शनिक युग में इस प्रमाणशास्त्र का इतना अधिक विस्तार हुआ कि प्रमेयों का निरूपण गौण हो गया और प्रमाण का निरूपण ही मुख्य हो गया। वैदिक-परम्परा में तो प्रमाण का निरूपण करने वाला 'न्याय' एक स्वतंत्र दर्शन के रूप में ही प्रतिष्ठित हो गया तथा उसका सम्बन्ध



प्रमेयों का निरूपण करने वाले वैशेषिक दर्शन से जोड़ दिया गया। किन्तु वैशेषिक दर्शन के प्रमेयनिरूपण से सभी वैदिक सहमत नहीं थे, अतः सांख्य, मीमांसा तथा वेदान्त ने भी अपने अपने स्वतंत्र प्रमाणशास्त्र विकसित किये। प्रमाणशास्त्रों के इतने अधिक प्रस्थान स्थापित हो जाने पर इन प्रमाणशास्त्रों के बीच परस्पर मतभेद उभर कर आना स्वाभाविक था। विभिन्न प्रमाणशास्त्रों में एक-दूसरे की प्रमाणशास्त्रीय अवधारणाओं का खण्डन-मण्डन भी इसी क्रम में एक बार प्रारम्भ हुआ तो प्रायः एक सहस्र वर्ष तक पूरे भारतीय चिन्तन के पटल पर यही खण्डन-मण्डन बुरी तरह छाया रहा।

सर्वसाधारण के लिए सुबोध था आगमयुग का सत्य का निरूपण। दार्शनिक युग के प्रारम्भ का प्रमाण-निरूपण भी दुर्गम नहीं है, किन्तु जब विभिन्न प्रमाणशास्त्रों के बीच विवाद चालू हुआ तो बाल की खाल निकालने में आचार्यों ने अपने-अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन करना प्रारम्भ किया। पाण्डित्य-प्रदर्शन के इस युग का साहित्य सर्वसाधारण के लिए तो दुर्बोध है ही, सामान्यतः विद्वान् भी इस साहित्य से भयभीत रहते हैं। डॉ. धर्मचन्द्र जैन ने इसी कोटि के दुर्बोध साहित्य की ग्रन्थियाँ खोलने का दुर्लभ साहस प्रस्तुत कृति में दिखलाया है। मेरे मित्र स्वर्गीय डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी का कुशल मार्गदर्शन उन्हें प्राप्त था तथा उनकी स्वयं की बुद्धि भी सहज ही तर्कप्रवण है, अतः यह कहते हुए मुझे हार्दिक सन्तोष हो रहा है कि शैक्षणिक अराजकता के इस युग में डॉ. जैन की यह कृति एक अपवादात्मक उपलब्धि के रूप में मानी जानी चाहिये।

यद्यपि बौद्ध तथा जैन, दोनों परम्पराएं श्रमण हैं, तथापि दोनों के बीच कुछ मौलिक मतभेद हैं। बौद्ध अनात्मवादी हैं, जैन आत्मवादी हैं। बौद्ध न ध्रौव्य को मानता है, न सामान्य को। जैन ध्रौव्य को उत्पादव्यय का तथा सामान्य को विशेष का अपरिहार्य अङ्ग मानता है। अतः इन दोनों परम्पराओं के आचार्यों के बीच प्रमाणमीमांसा को लेकर शास्त्रार्थ होना स्वाभाविक ही था। वस्तुतः दर्शनयुग में आकर भारतीय चिन्तन की धाराओं को ब्राह्मण-श्रमण के रूप में विभाजित करने की परम्परा सुविचारित नहीं है। उदाहरणतः सांख्य दर्शन को ब्राह्मण परम्परा में माना जाता है, किन्तु विचार करने पर प्रतीत होगा कि श्रमण मानी जाने वाली बौद्ध विचारधारा की अपेक्षा सांख्य दर्शन जैन दर्शन के कहीं अधिक निकट है। यह निकटता इतनी अधिक है कि आचार्य कुन्दकुन्द को यह स्पष्टीकरण देना पड़ा कि आत्मा के परकर्तृत्व का खण्डन करने के बावजूद वे सांख्यदर्शन का समर्थन नहीं कर रहे हैं—

**कम्पइयवगणसु य अपरिणमंतीसु कम्पभावेण ।**

**संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥—समयसार, २.११७**

इसी प्रकार मीमांसा दर्शन में अनेकान्त को लगभग ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया गया है। यथा-

**वर्धमानकभङ्गे च रुचकः क्रियते यदा ।**

तदा पूर्वार्धिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्धिनः ॥

हेमार्धिनस्तु माध्यस्थं तस्माद् वस्तु त्रयात्मकम् ॥

-मीमांसाश्लोकवार्तिक, वनवाद, २१-२२

कुमारिलभट्ट के इस वक्तव्य का भाव-भाषा दोनों दृष्टियों से आचार्य समन्तभद्र की इस उक्ति के साथ आश्चर्यजनक साम्य वैदिक-अवैदिक की विभाजक रेखा का अतिक्रमण कर जाता है-

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।

शोकप्रमोदमाध्यस्थं जनो याति सहेतुकम् ॥

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः ।

अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥आप्तमीमांसा, ५९-६०

वस्तु की अनेकान्तात्मकता की सिद्धि करते हुए मीमांसा दार्शनिक कुमारिलभट्ट ने अनेकान्त वस्तु के ज्ञान को संदिग्ध होने से अप्रमाण नहीं माना है, अपितु वे उसे सुनिश्चित स्वीकार करते हैं, यथा -

वस्त्वनेकत्ववादाच्च न सन्दिग्धाप्रमाणता ।

ज्ञानं सन्दिह्यते यत्र तत्र न स्यात् प्रमाणता ॥

इहानैकान्तिकं वस्त्वित्येवं ज्ञानं सुनिश्चितम् ।

-श्लोकवार्तिक, वनवाद ७९-८०

मीमांसा जैसे विशुद्ध वैदिकदर्शन का जैनदर्शन से अनेकान्त के सम्बन्ध में ऐसी अक्षरशः सहमति प्रकट करना इस बात का सूचक है कि कुछ दृष्टियों से जैनदर्शन श्रमण होते हुए भी वैदिक दर्शनों से हाथ मिलाता नजर आता है। इसके विपरीत उसका श्रमणदर्शन होने पर भी बौद्धों से अनेक विषयों पर मौलिक मतभेद है।

डॉ. धर्मचन्द्र जैन ने प्रस्तुत ग्रन्थ में बौद्ध तथा जैन प्रमाणमीमांसीय आकर ग्रन्थों का अध्ययन करके उन अंशों को केन्द्र में रखा है, जिन अंशों में बौद्ध दृष्टि का जैनदृष्टि से खण्डन किया गया है। यद्यपि जैनदृष्टि का भी खण्डन बौद्ध ग्रन्थों में यत्र तत्र उपलब्ध हो जाता है, तथापि सामान्यतः बौद्धों ने जैनदृष्टि की उपेक्षा की है। यह देखने में आया है कि जैन लेखकों ने जैनतर मतों का खूब ऊहापोह किया है, किन्तु जैन मत की न केवल बौद्धों द्वारा अपितु अन्य दार्शनिकों द्वारा भी उपेक्षा ही हुई। जैन दार्शनिक जैनतर मान्यताओं का खण्डन संगोपांग रूप में करते हैं, किन्तु जैनतर दार्शनिक जैनों के अनेकान्त का खण्डन सरसरी तौर पर करके ही अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं। अनेकान्तदृष्टि तथा वेदान्तियों और बौद्धों की प्रत्ययवादी दृष्टि के बीच जो मौलिक मतभेद है उसे सातकड़ी मुकूर्जी ने अपने ग्रन्थ में अपेक्षाकृत अधिक गम्भीरता से विवेचित किया है। उनका कहना है कि वेदान्ती और बौद्ध कुछ तर्कों को स्वतः सिद्ध मानते हैं। उनकी दृष्टि में ऐसे स्वतः सिद्ध सत्त्यों को सत्यापित करने के लिए अनुभव का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं है। उदाहरणतः यह बात स्वतः सिद्ध सत्य है कि 'अ' 'ब' है

और 'अ' 'ब' नहीं है—ये दोनों वक्तव्य युगपद सत्य नहीं हो सकते। इसके विपरीत अनेकान्त यह मानता है कि कोई भी सत्य अनुभव निरपेक्ष नहीं है। यदि अनुभव में यह आता है कि 'अ' एक अपेक्षा से 'ब' है और दूसरी अपेक्षा से 'ब' नहीं है, तो किसी स्वतः सिद्ध सत्य की दुहाई देकर इस अनुभव का अपलाप नहीं किया जाना चाहिए। मूल विवाद का मुद्दा यह है कि क्या हम एक सत्य को स्वतः सिद्ध मानकर उसके आधार पर अनुभव की व्याख्या करें, या अनुभव को प्रमाण मानकर उसके आधार पर तर्क का ढांचा खड़ा करें। यदि हम अनुभव को प्रमाण मानकर तर्क का ढांचा खड़ा कर दें तो स्वतः ही अनेकान्तवाद फलित हो जाता है। किन्तु यदि हम कुछ ऐसे स्वतः सिद्ध सत्यों को मानते हैं जो अनुभव से भी ऊपर हैं तो फिर अनुभव पर टिकने वाला अनेकान्त लड़खड़ा जाता है। हमारे सामान्य अनुभव को प्रामाणिक मानने वाले सभी दर्शन चाहे वे जैन हों या मीमांसक, नैयायिक हों या सांख्य, किसी न किसी रूप में अनेकान्तवादी हैं। किन्तु हमारे अनुभव में आने वाले नैरन्तर्य तथा सामान्य को भ्रान्त मानने वाले बौद्ध तथा अनुभव में आने वाले परिवर्तन तथा विशेष को माया मानने वाले वेदान्ती अनेकान्त को स्वीकार नहीं कर सकते। उनकी दृष्टि में अनेकान्त परस्पर विरुद्ध तथ्यों को मानने के कारण अप्रामाणिक ही ठहरता है। इस मूलभूत मतभेद के कारण बौद्ध और वेदान्ती संक्षेप में अनेकान्त का खण्डन करके ही संतुष्ट हो जाते हैं; वे यह मान लेते हैं कि अनेकान्त का खण्डन होने से अन्य सब जैन मान्यताएं तो स्वतः ही खण्डित हो गईं।

इसके विपरीत जैनदार्शनिक को केवल अनेकान्त की स्थापना से ही संतोष नहीं होता। बौद्ध मान्यताओं में जहां जहां भी उसे अनुभव का अपलाप होता दिखाई देता है वहां वहां बौद्ध मान्यताओं के विरुद्ध तर्क पर तर्क देता जाता है। डॉ. धर्मचन्द जैन ने ऐसे ही सब तर्कों के विश्लेषण को अपने प्रस्तुत शोध ग्रन्थ का मेरुदण्ड बनाया है। यह विश्लेषण क्योंकि मूलग्रन्थों पर आधारित है, अतः इसकी प्रामाणिकता निस्संदिग्ध है। विशेषता यह है कि डॉ. जैन ने केवल जैन ग्रन्थों में बौद्ध मान्यताओं के विरुद्ध दी गई युक्तियों को यथावत् संकलित करके ही संतोष नहीं कर लिया है, अपितु पदे पदे अपनी सूक्ष्मेक्षिका, स्वतन्त्र निर्णय लेने की क्षमता और अध्ययन की व्यापकता का परिचय भी दिया है। दो चार उदाहरणों से अपने इस कथन की पुष्टि करना चाहूंगा।

बौद्धों द्वारा निरूपित प्रमाण की अविस्वादिता का जैनों ने जो खण्डन किया है उसका विवेचन करते हुए डॉ. जैन लिखते हैं - "वस्तुतः बौद्ध दार्शनिक प्रमाण को सांख्यव्यवहारिक दृष्टि से अविस्वादी मानते हैं, पारमार्थिक दृष्टि से नहीं। जैन दार्शनिकों ने जो खण्डन किया है वह बौद्धों की पारमार्थिक दृष्टि से किया है।" (पृ० १०४) इन दो वाक्यों में ही सारे विवाद का सार भी आ जाता है और निपटारा भी हो जाता है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक मानने वाले बौद्ध के विरुद्ध दिये जाने के लिए एक नवीन युक्ति जैन दार्शनिकों को सुझाते हुए डॉ. जैन कहते हैं - "बौद्धसम्मत प्रत्यक्ष को सविकल्पक सिद्ध करने के लिए जैन दार्शनिकों की

ओर से एक हेतु और दिया जा सकता है। वह है प्रमाण की अर्थाकारता या अर्थसरूपता। प्रमाण को बौद्ध दार्शनिकों ने अर्थाकार प्रतिपादित किया है।..... प्रत्यक्ष भी प्रमाण होने के कारण अर्थाकार होना चाहिए..... ज्ञान अर्थाकार होकर भी निर्विकल्पक हो, यह संभव नहीं है।” (पृ० २०५-२०६) स्पष्ट है कि डॉ. जैन विचाराधीन विषय में इतना रचपच कर लिख रहे हैं कि वे केवल पुराने तर्कों को दोहरा ही नहीं रहे, अभिनव तर्क देने की स्थिति में भी हैं।

उपर्युक्त विवरण से ऐसा नहीं मान लेना चाहिए कि डॉ. जैन का दृष्टिकोण भेदभावपूर्ण है। उन्हें जहाँ कहीं ऐसा लगा कि जैन दार्शनिक बौद्ध तथा अन्य दार्शनिकों के ऋणी हैं, वहाँ उसे उन्होंने मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। हेतु के भेदों का निरूपण करते समय वे लिखते हैं, “जैन दार्शनिकों पर हेतु-भेद निरूपण में बौद्धों का प्रभाव रहा है। यही नहीं, अपितु जैन दार्शनिकों ने न्याय, मीमांसा, वैशेषिक आदि दर्शनों में विद्यमान हेतुओं का भी अपने हेतु-भेदों में यथाशक्य समावेश कर लिया है। कारणहेतु का प्रतिपादन न्याय एवं सांख्य दर्शन में प्रतिपादित पूर्ववत् हेतु का ही संशोधित रूप है। पूर्वचर हेतु की कल्पना संभवतः मीमांसा दर्शन में प्रतिपादित ‘कृत्तिकोदयमालक्ष्य रोहिण्यासत्तिकल्पितवत्’ वाक्य के आधार पर की गई है।” (पृ० २४४)

उपर्युक्त मीमांसादर्शन के उल्लेख के समान ही डॉ. जैन ने बौद्ध तथा जैनदर्शन से इतर अन्य दर्शनों का भी यथेष्ट उपयोग किया है जो उनके व्यापक अनुशीलन का परिचायक है। उदाहरणतः वे कहते हैं, “बौद्ध एवं जैन दर्शन में प्रतिपादित अविनाभाव नियम रूप व्याप्ति का गंगेश ने खण्डन किया है। गंगेश का कथन है कि अविनाभाव नियम को व्याप्ति नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह केवलान्वयी अनुमान में अव्याप्त है।” (पृ० २६९) बौद्ध-जैनतर दर्शनों के इस प्रकार के प्रासंगिक उल्लेख के कारण प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय संकीर्ण होने से बच गया है।

जैनदृष्टि का प्रतिपादन करते समय डॉ. जैन ने अनेकान्त की आत्मा को पकड़ा है। इसी कारण वे कहते हैं कि “शब्द का केवल विधिपरक अथवा केवल अपोहपरक अर्थ पर्याप्त नहीं है। दोनों अर्थों को लेकर ही शब्द का पूर्ण अर्थ बनता है। (तुलनीय पृ० ३५१) इस प्रकार की संतुलित दृष्टि अनेकान्तवादी चिन्तन से ही प्रसूत हो सकती है।

पारस्परिक वादविवाद के बिन्दुओं को उजागर करने के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में अनेक उपयोगी सूचनाएं भी हैं। उदाहरणतः जैनों की इस दार्शनिक मान्यता का कि आत्मा में सम्पूर्ण ज्ञान है, किन्तु वह ज्ञानावरणीय कर्म के कारण प्रकट नहीं हो पाता (तुलनीय पृ० ३७९) शिक्षा जगत् में सफल उपयोग हो सकता है। अध्यापक यदि विद्यार्थी पर ज्ञान ऊपर से न थोपे, बल्कि उस विद्यार्थी के ही अन्दर निहित ज्ञान को अनावृत करने का प्रयत्न करे तो ऊपर से थोपे गए ज्ञान की अपेक्षा वह ज्ञान सहज होने के कारण अधिक चिरस्थायी होगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ के विवेच्य विषय का काल प्रमुखतः पांचवी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी के

बीच फैला हुआ है। आठ सौ वर्षों के इस दीर्घकाल में दो मोक्षोन्मुख चिन्तनधाराओं के बीच जो प्रमाणशास्त्रीय विवाद के मुद्दे उठे, उनका विश्लेषण रोचक, ज्ञानवर्द्धक और महत्वपूर्ण है। इस काल-खण्ड में बौद्ध और जैन के अतिरिक्त भी जो दार्शनिक परम्पराएं पनपीं उनमें चार्वाक के एक नगण्य अपवाद को छोड़कर सभी परम्पराएं मोक्षोन्मुखी हैं।

मोक्ष को जीवन का चरम लक्ष्य मानने वाली इन सभी परम्पराओं के बीच परस्पर भेद है, यह सत्य है, किन्तु उससे भी बड़ा सत्य यह है कि मोक्षोन्मुखी होने के कारण ये सभी परम्पराएं भोग की अपेक्षा संयम को महत्त्व देती हैं। विवेच्य काल खण्ड में भोगपरायण व्यक्ति नहीं थे, ऐसा तो नहीं है, किन्तु भोगवाद का कोई व्यवस्थित, गंभीर दर्शन नहीं बन पाया था। इधर पिछले कुछ वर्षों में ऐसा लगता है कि भोगवाद को न्याय संगत ठहराने के लिए एक व्यवस्थित दर्शन विकसित हो रहा है। यह दर्शन किसी एक परम्परा पर चोट न करके समस्त मोक्षोन्मुखी परम्पराओं के मूल पर चोट कर रहा है। मुझे कभी-कभी लगता है कि आज सब मोक्षोन्मुखी परम्पराओं के लिए युधिष्ठिर का वह वचन स्मरणीय है जिसमें उन्होंने कहा था कि परस्पर विरोध होने पर पाण्डव पांच हैं, कौरव सौ हैं, किन्तु किसी अन्य के साथ विरोध होने पर हम एक सौ पांच हैं -

**परस्परविरोधे तु वयं पञ्च शतानि ते ।**

**अन्यैः सह विरोधे तु वयं पञ्चोत्तरं शतम् ॥**

भोग-प्रधान विचारधारा के आक्रमण का सभी योग-प्रधान विचारधाराओं को पारस्परिक मतभेद भुलाकर सामना करना होगा।

मैं डॉ. धर्मचन्द जैन जैसे प्रतिभाशाली भारतीय संस्कृति के अध्येताओं से यह अपेक्षा रखता हूँ कि वे अपने स्वाध्यायशील जीवन के श्रमपूर्ण समय को भारतीय संस्कृति के उस समन्वित रूप को उजागर करने में लगाएंगे, जिसका मूल स्वर असत् से सत् की ओर, तमस् से ज्योति की ओर तथा मृत्यु से अमृतत्व की ओर अग्रसर होने का है -

**अस्तो मा सद्गमय**

**तमसो मा ज्योतिर्गमय**

**मृत्योर्माऽमृतं गमय ।**

डॉ. दयानन्द भार्गव

आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग

जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर (राज.)



# विषय - सूची

प्राक्कथन	i-vi
भूमिका	vii-xii
प्रथम अध्याय — प्रमाण-मीमांसा की बौद्ध-जैन-परम्परा	१-६७
भारतीय दर्शन में प्रमाण मीमांसा	१
प्रमाण का प्रयोजन	२
प्रमाण-शास्त्रों के सर्जन का प्रारम्भ	४
<b>बौद्ध-परम्परा</b>	६-२९
त्रिपिटककालीन प्रमाणमीमांसा	६
त्रिपिटकोत्तरवर्ती प्रमाणमीमांसा	७
नागार्जुन	८
विग्रहव्यावर्तनी	८
उपायहृदय	९
मैत्रेय	१०
असङ्ग	१०
वसुबन्धु	११
वादविधि	११
तर्कशास्त्र	१२
दिङ्नाग एवं उनका सम्प्रदाय	१२
दिङ्नाग	१५
प्रमाणसमुच्चय	१६
आलम्बनपरीक्षा	१८
न्यायप्रवेश	१८
धर्मकीर्ति	१९
प्रमाणवार्तिक	२०
न्यायबिन्दु	२१
प्रमाणविनिश्चय	२२
हेतुबिन्दु	२२

सम्बन्धपरीक्षा	२२
वादन्याय	२२
सन्तानान्तरसिद्धि	२३
धर्मोत्तर	२३
न्यायबिन्दुटीका	२४
अर्चट	२४
हेतुबिन्दुटीका	२५
प्रज्ञाकरगुप्त एवं प्रमाणवार्तिकभाष्य	२५
शान्तरक्षित और कमलशील	२६
तत्त्वसङ्ग्रह एवं तत्त्वसङ्ग्रहपञ्जिका	२७
दुर्वेकमिश्र	२७
धर्मोत्तरप्रदीप	२८
हेतुबिन्दुटीकालोक	२८
अन्य बौद्धाचार्य एवं उनकी कृतियां	२९
<b>जैन - परम्परा</b>	<b>२९-६३</b>
आगमवर्ती प्रमाणमीमांसा	३०
अनेकान्तसाहित्य- युगीन प्रमाणमीमांसा	३३
उमास्वाति	३४
कुन्दकुन्द	३५
सिद्धसेनदिवाकर	३५
न्यायावतार	३६
शान्तिसूरि का वार्तिक एवंसिद्धर्षिगणि की विवृति	३८
सन्मतितर्कप्रकरण	३९
समन्तभद्र	४०
युक्त्यनुशासन	४०
आप्तमीमासा	४१
स्वयम्भूस्तोत्र	४२

मल्लवादी क्षमाश्रमण और द्वादशारनयचक्र	४२
जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण	४४
सिंहसूरि	४४
सुमति	४५
पात्रस्वामी	४५
श्रीदत्त	४६
कुमारनन्दी	४६
हरिभद्रसूरि	४६
अकलङ्क एवं तदुत्तरवर्ती प्रमाणमीमांसा	४६
अकलङ्क	४७
तत्त्वार्थवार्तिक	४७
अष्टशती	४८
लघीयस्त्रय	४८
न्यायविनिश्चय	४९
सिद्धिविनिश्चय	५०
प्रमाणसङ्ग्रह	५०
विद्यानन्द	५१
प्रमाणपरीक्षा	५३
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	५३
अष्टसहस्री	५३
अनन्तवीर्य	५४
प्रमाणसङ्ग्रहभाष्य और	५४
सिद्धिविनिश्चयटीका	
माणिक्यनन्दी और परीक्षामुख	५४
वादिराज	५५
न्यायविनिश्चयविवरण	५५
प्रमाणनिर्णय	५६
अभयदेवसूरि और तत्त्वबोधविधायिनी	५६

प्रभाचन्द्र	५८
प्रमेयकमलमार्तण्ड	५८
न्यायकुमुदचन्द्र	५९
वादिदेवसूरि	५९
प्रमाणनयतत्त्वालोक	५९
स्याद्वादरलाकर	६०
हेमचन्द्र और प्रमाणमीमांसा	६०
अन्य जैनाचार्य और उनकी कृतियां	६१
नव्य न्याययुग	६१
दिगम्बर - श्वेताम्बर-सम्प्रदाय	६१
बौद्ध एवं जैन : बिन्दु एवं प्रतिबिन्दु	६३
<b>द्वितीय अध्याय - प्रमाण-लक्षण और प्रामाण्यवाद</b>	<b>६८-१०८</b>
बौद्धदर्शन में प्रमाण-लक्षण	६८
प्रथम लक्षण (अज्ञातार्थज्ञापकमिति)	६८
द्वितीय लक्षण (प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्)	७१
दोनों लक्षणों की परस्पर पूरकता	७४
तृतीय लक्षण (अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम्)	७५
जैनदर्शन में प्रमाण-लक्षण	७६
जैनदार्शनिकों द्वारा बौद्ध प्रमाण-लक्षणों का परीक्षण	८२
प्रथम लक्षण का परीक्षण	८२
अकलङ्क ८२, विद्यानन्द ८३, सिद्धर्षिगणि ८३ ,	
प्रभाचन्द्र ८५, हेमचन्द्र ८६	
समीक्षण	८६
धारावाहिक ज्ञान के प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य-विषयक विचार	८८
द्वितीय लक्षण का परीक्षण	८९
अकलङ्क ८९, विद्यानन्द ९०, सिद्धर्षिगणि ९३,	
अभयदेवसूरि ९४, वादिदेवसूरि ९९, हेमचन्द्र १०३	

समीक्षण	१०४
तृतीय लक्षण का परीक्षण	१०५
प्रामाण्यवाद	१०५
तृतीय अध्याय - प्रत्यक्ष-प्रमाण	१०९-२०७
बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष-प्रमाण	१०९-१२८
प्रत्यक्ष-लक्षण	१०९
वसुबन्धु का प्रत्यक्ष-लक्षण	१०९
दिङ्नागीय प्रत्यक्ष-लक्षण	११०
दिङ्नाग के मत में कल्पना	१११
धर्मकीर्तीय प्रत्यक्ष-लक्षण	१११
धर्मकीर्ति के मत में कल्पना	११२
धर्मोत्तर द्वारा व्याख्या	११३
शान्तरक्षित एवं कमलशील के मत में कल्पना	११५
'अभ्रान्त' पद के प्रयोग पर मतभेद	११६
दिङ्नाग ११६, धर्मकीर्ति ११७, धर्मोत्तर ११८, शान्तरक्षित एवं कमलशील ११९ आधुनिक विद्वानों का मत १२०	
प्रत्यक्षाभास	१२१
प्रत्यक्ष की प्रक्रिया	१२२
विमूढ पुरुष को भ्रम	१२२
प्रत्यक्ष की सिद्धि	१२२
प्रत्यक्ष-प्रमाण के भेद	१२२
इन्द्रिय-प्रत्यक्ष	१२२
मानस-प्रत्यक्ष	१२४
स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष	१२५
योगि-प्रत्यक्ष	१२६
निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष द्वारा व्यवहार	१२७
जैन दर्शन में प्रत्यक्ष-प्रमाण	१२८-१४३
प्रत्यक्ष-लक्षण	१२८



आगमिक धारा	१२९
प्रमाण-व्यवस्थायुगीन धारा	१३०
विशदता	१३२
प्रत्यक्ष-भेद	१३४
(१) मुख्य-प्रत्यक्ष	१३४
मुख्य-प्रत्यक्ष के भेद	१३५
अवधिज्ञान	१३५
मनःपर्यायज्ञान	१३६
केवलज्ञान	१३७
(२) सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष	१३८
इन्द्रिय-प्रत्यक्ष	१३८
अनिन्द्रिय-प्रत्यक्ष	१३९
सांख्यवहारिक-प्रत्यक्ष की प्रक्रिया	१४०
अवग्रह	१४०
ईहा	१४१
अवाय	१४२
धारणा	१४२
जैन दार्शनिकों द्वारा बौद्ध प्रत्यक्ष-प्रमाण का परीक्षण	१४३-२०१
(१) मल्लवादी क्षमाश्रमण	१४३
पूर्वपक्ष १४३, उत्तरपक्ष १४४,	
प्रत्यक्ष की अव्यपदेश्यता का खण्डन	१४५
'चक्षुर्विज्ञानसमङ्गी नीलं विजानाति नो तु नीलमिति' वाक्य का खण्डन	१४५
'अर्थेऽर्थसंज्ञी न त्वर्थे धर्मसंज्ञी' वाक्य का खण्डन	१४७
बौद्ध-प्रत्यक्ष की अप्रत्यक्षता	१४८
(२) भट्ट अकलङ्क	१४९
(३) विद्यानन्द	१५३
निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की व्यवसायजनकता का निरसन	१५६

बौद्ध एवं विद्यानन्द में उत्तर-प्रत्युत्तर	१५८
(४) वादिराज	१६१
(५) अभयदेवसूरि	१६३
वैयाकरणमत १६३, बौद्धमत १६४, नैयायिकों एवं बौद्धों में संवाद १६५-६९ बौद्ध प्रत्यक्ष का निरसन १६९	
(६) प्रभाचन्द्र	१७९
बौद्धाभिमत कल्पना का खण्डन	१७९
एकत्व-अध्यवसाय का निरसन	१८५
निर्विकल्पक ज्ञान से विकल्पज्ञान की उत्पत्ति संभव नहीं	१८८
विकल्पात्मक ज्ञान ही प्रमाण	१९०
(७) वादिदेवसूरि	१९३
प्रत्यक्ष-भेदों का निरसन	१९५
श्रोत्र के अप्राप्यकारित्व का खण्डन	१९५
मानस-प्रत्यक्ष का खण्डन	१९६
स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष का निरसन	१९९
योगिप्रत्यक्ष	२००
सर्वज्ञता-विचार	२०१
समीक्षण	२०४-२०७
चतुर्थ अध्याय - अनुमान-प्रमाण	२०८-२८९
अनुमान-लक्षण	२१०
अनुमान-भेद	२१२
स्वार्थानुमान	२१५
साध्य-विचार	२१६
हेतुलक्षण-विमर्श	२१८
बौद्धमत में हेतुलक्षण	२२०
जैनमत में हेतुलक्षण	२२२
जैनदार्शनिकों द्वारा बौद्ध हेतु-लक्षण का खण्डन	२२३

	पात्रस्वामी २२४, अकलङ्क २२६, विद्यानन्द २२६, अभयदेवसूरि २२९, हेमचन्द्र २३०	
समीक्षण		२३१
हेतु-भेद		२३४
बौद्धदर्शन में हेतु-भेद		२३५
जैन दर्शन में हेतु-भेद		२३७
समीक्षण		२४३
जैनों द्वारा स्थापित विशिष्ट हेतु		२४४
कारण हेतु		२४४
	पूर्वपक्ष २४५, उत्तरपक्ष २४५, अकलङ्क २४५, विद्यानन्द २४५, माणिक्यनन्दी २४६, प्रभाचन्द्र २४६, वादिदेवसूरि २४७, हेमचन्द्र २४८	
समीक्षण		२४९
पूर्वचर एवं उत्तरचर हेतु		२४९
समीक्षण		२५२
सहचर हेतु		२५२
समीक्षण		२५३
अनुपलब्धि हेतु पर विचार		२५३
व्याप्ति-विमर्श		२५५
बौद्धदर्शन में व्याप्ति		२५६
जैनदर्शन में व्याप्ति		२६०
व्याप्ति-ग्राहक		२६१
तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति द्वारा अविनाभाव मानने का खण्डन		२६२
	अकलङ्क २६२, विद्यानन्द २६३ प्रभाचन्द्र २६४, वादिदेवसूरि २६५	

समीक्षण	२६९
परार्थानुमान	२७०
परार्थानुमान का स्वरूप	२७०
परार्थानुमान के भेद	२७३
परार्थानुमान के अवयव	२७३
पक्ष-वचन-विमर्श	२७६
समीक्षण	२८१
पक्षाभास	२८१
दृष्टान्त और दृष्टान्ताभास	२८२
हेत्वाभास	२८३
निग्रहस्थान	२८६
पंचम अध्याय - स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क एवं आगम का प्रामाण्य तथा अपोह-विचार	२९०-३५१
प्रमाण-संख्या	२९०
प्रमाणव्यवस्था एवं प्रमाणसंप्लव	२९१
बौद्धमत की आलोचना	२९१
भारतीय दर्शन को जैन न्याय की अनूठी देन	२९३
स्मृति-प्रमाण	२९३
स्मृति का स्वरूप	२९३
स्मृति 'प्रमाण' क्यों नहीं ?	२९५
बौद्धमत में स्मृति का अप्रामाण्य	२९६
जैनों द्वारा स्मृति-प्रमाण का स्थापन	२९७
भट्ट अकलङ्क द्वारा स्मृतिप्रमाण का स्थापन	२९७
विद्यानन्द के द्वारा स्मृति-प्रमाण की स्थापना	२९९
प्रभाचन्द्र के द्वारा स्मृति-प्रमाण का स्थापन	३०१
हेमचन्द्र सूरि द्वारा स्मृति-प्रमाण का स्थापन	३०५
समीक्षण	३०५
प्रत्यभिज्ञान-प्रमाण	३०७
जैनदर्शन में प्रत्यभिज्ञान	३०७

अन्य दर्शनों में प्रत्यभिज्ञान	३०८
बौद्धदर्शन में प्रत्यभिज्ञान का अप्रामाण्य	३१०
जैनों द्वारा प्रत्यभिज्ञान-प्रमाण का प्रतिष्ठापन	३११
अकलङ्क द्वारा प्रत्यभिज्ञान-प्रमाण का स्थापन	३११
विद्यानन्द द्वारा स्थापन	३१२
प्रभाचन्द्र और वादिदेवसूरि द्वारा स्थापन	३१४
हेमचन्द्र सूरि द्वारा स्थापन	३१७
समीक्षण	३१८
तर्क-प्रमाण	३१८
जैनदर्शन में तर्क का स्वरूप	३१८
वैदिक दर्शन प्रस्थानों में तर्क का स्वरूप	३२०
बौद्ध दर्शन में तर्क का स्वरूप	३२२
जैन दार्शनिकों द्वारा बौद्धों का खण्डन एवं तर्क का प्रमाण रूप में स्थापन	३२२
अकलङ्क की युक्तियाँ	३२३
विद्यानन्द के तर्क	३२३
प्रभाचन्द्र द्वारा स्थापन	३२५
वादिदेवसूरि की नई युक्तियाँ	३२७
हेमचन्द्रसूरि का मत	३२९
समीक्षण	३३०
आगम-प्रमाण	३३०
बौद्धदर्शन में शब्द का अनुमान-प्रमाण में अन्तर्भाव	३३१
जैन दर्शन में आगम-प्रमाण	३३२
बौद्ध मान्यता का खण्डन	३३२
अकलङ्क की युक्तियाँ	३३४
प्रभाचन्द्र एवं वादिदेवसूरि के तर्क	३३६
सारांश	३३७
अपोह-विचार	३३८
बौद्ध दर्शन में अपोह	३३८

जैन दर्शन में अपोहवाद का निरसन	३४०
अकलङ्क द्वारा निरसन	३४१
पूर्वपक्ष ३४१, उत्तरपक्ष ३४१	
विद्यानन्द द्वारा निराकरण	३४३
अभयदेवसूरि का योगदान	३४४
प्रभाचन्द्र का चिन्तन	३४५
पूर्वपक्ष ३४५, उत्तरपक्ष ३४६	
समीक्षण	३५१
<b>षष्ठ अध्याय - प्रमेय, प्रमाणफल और प्रमाणाभास</b>	<b>३५२-३८४</b>
बौद्ध दर्शन में द्विविध प्रमेय	३५२
स्वलक्षण	३५३
सामान्यलक्षण	३५४
स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण में भेद	३५५
विज्ञानवाद में प्रमाण, प्रमेय एवं फलव्यवस्था	३५६
जैनदर्शन में प्रमेय	३५७
सामान्य-विशेषात्मक प्रमेय का स्वरूप	३५८
बौद्ध सम्मत प्रमेय का खण्डन एवं सामान्य विशेषात्मक प्रमेय की सिद्धि	३५९
अकलङ्क ३५९, विद्यानन्द ३६१, माणिक्यनन्दी ३६१, वादिदेवसूरि ३६२,	
समीक्षण	३६२
प्रमाण-फल	३६३
बौद्ध दर्शन में प्रमाण-फल	३६३
व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापकभाव	३६५
तदुत्पत्ति, तद्रूपता एवं तदध्यवसाय	३६५
जैन दर्शन में प्रमाण-फल	३६६

अर्थकारणता एवं अर्थाकारता (अर्थसारूप्य) का निरसन	३६८
अकलङ्क ३६८ , विद्यानन्द ३७१ , वादिराज ३७२ , अभयदेवसूरि ३७३, प्रभाचन्द्र ३७४	
जैनमत में साकार ज्ञान	३७८
समीक्षण	३७९
प्रमाणाभास	३८२
परिशिष्ट (द्वितीय अध्याय)- क	३८५
परिशिष्ट (तृतीय अध्याय) - ख	३९४
परिशिष्ट (चतुर्थ अध्याय) - ग	४१९
ग्रन्थ-लेखकानुक्रमणिका	४२१
विषयानुक्रमणिका	४३५
सहायक ग्रन्थसूची	४३९



## संकेत

अष्टसहस्री (ज्ञा)	अष्टसहस्री (अनुवाद - ज्ञानमती माताजी)
द्वादशारनयचक्र (ज)	द्वादशारनयचक्र (सम्पादन - मुनिजम्बूविजय)
प्रमाणवार्तिक (म.ज.)	प्रमाणवार्तिक -मनोरथनन्दिवृत्ति
प्रमाणवार्तिक (स्ववृत्ति)	प्रमाणवार्तिक (स्वार्थानुमानपरिच्छेद, स्वोपज्ञवृत्ति)
Perception	Perception : an essay on classical Indian theories of Knowledge
Pre-Dignāga Texts	Pre-Dinnāga Buddhist Texts on Logic from Chinese Sources.

## प्रमाणमीमांसा की बौद्ध-जैन-परम्परा

### भारतीय दर्शन में प्रमाणमीमांसा

‘प्रमाणमीमांसा’ शब्द प्रमाण से सम्बन्धित समस्त चर्चा को अपने में समेट लेता है। प्रमाण का लक्षण, उसके भेद, विषय और फल के साथ प्रामाण्य की चर्चा भी, प्रमाणमीमांसा में गर्भित हो जाती है। ‘प्र’ उपसर्गपूर्वक ‘मा’ धातु से निष्पन्न ‘प्रमाण’ शब्द प्रमेय पदार्थ को जानने में साधकतम कारण होता है। ‘प्रमाकरणं प्रमाणम्’, ‘प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्’ आदि इसके व्युत्पत्तिपरक लक्षण इसकी पुष्टि करते हैं। जानने के अनेक साधन होते हैं, किन्तु साधकतम कारण अर्थात् कारण को ही प्रमाण माना जाता है। वह साधकतम कारण अर्थात् प्रमाण क्या है, यह भारतीय दार्शनिकों के मध्य विवाद का विषय रहा है। इसकी संख्या, विषय, फल और प्रामाण्य के सम्बन्ध में भी वाद होते रहे हैं। इसलिए प्रमाणमीमांसा भारतीयदर्शन में गंभीर ऊहापोह का विषय रहा है।

तर्कशास्त्र, न्यायशास्त्र और प्रमाणशास्त्र समान अर्थ में प्रचलित हैं। ‘प्रमाणमीमांसा’ शब्द भी इन्हीं की व्याख्या करता है। भिन्न-भिन्न मान्यताओं के कारण प्रत्येक भारतीय दर्शन का अपना पृथक् प्रमाणशास्त्र प्रचलित हुआ। पाश्चात्य दर्शन में इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक यह माना जाता था कि तर्कशास्त्र तो एक विज्ञान है और उसमें मतभेद के लिए कोई अवकाश नहीं है, परन्तु समकालीन पाश्चात्य दर्शन पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि तर्कशास्त्र भी भिन्न-भिन्न हो सकते हैं।<sup>१</sup>

प्राचीन भारतीय दर्शन में प्रमाण-शास्त्र के लिए आन्वीक्षिकी शब्द का प्रयोग होता रहा है। यह आन्वीक्षिकी विद्या न्यायविद्या या हेतुविद्या के रूप में तो प्रसिद्ध ही है, किन्तु मनुस्मृति में इसका प्रयोग आत्मविद्या के लिए हुआ है।<sup>२</sup> सतीशचन्द्र विद्याभूषण के अनुसार आत्म-विद्या ही उत्तरकाल में आन्वीक्षिकी के नाम से पहचानी गई<sup>३</sup> तथा आन्वीक्षिकी ही दर्शन एवं न्याय इन दो शाखाओं में विभक्त हुई।<sup>४</sup> वात्स्यायन ने आन्वीक्षिकी को न्यायविद्या कहकर उसे अध्यात्मविद्या से पृथक् सिद्ध किया है।<sup>५</sup> उनके अनुसार संशयादि पदार्थ न्यायविद्या के पृथक् प्रस्थान हैं, यदि उसमें संशयादि पदार्थ न हों तो वह अध्यात्मविद्या मात्र रह जाएगी।

१. Susan Haack, The Philosophy of Logics, pp. 1-10

२. त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्याद् दण्डनीतिञ्च शास्त्रतीम् ।

आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भां च लोकतः ॥— मनुस्मृति, ७.४३

३. Ātma-vidyā was at a later stage called Ānvīkṣikī, the science of inquiry. — A History of Indian Logic, p. 4

४. A History of Indian Logic, pp. 5-6

५. इमास्तु चतस्रो विद्याः पृथक्प्रस्थानाः प्राणभूतामनुग्रहायोपदिश्यन्ते यासां चतुर्थीयम् आन्वीक्षिकी न्यायविद्या । तस्याः पृथक्प्रस्थानाः संशयादयः पदार्थाः । तेषां पृथक्चनमन्तरेणाऽध्यात्मविद्यामात्रमियं स्यात् यथोपनिषदः ।—न्यायभाष्य, १.१.१.



कौटिल्य ने आन्वीक्षिकी को समस्त विद्याओं का दीपक, समस्त कर्मों का उपाय एवं समस्त धर्मों का आश्रय निरूपित किया है।<sup>६</sup> उनके अनुसार यह विद्या त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति के बलाबल का हेतु द्वारा विचार कर लोक का उपकार करती है, विपत्ति एवं अभ्युदय में मनुष्य की बुद्धि को स्थिर करती है।<sup>७</sup>

आन्वीक्षिकी में हेतुओं का प्राबल्य होने से इसे हेतुविद्या या हेतुशास्त्र भी कहा गया। परिषद् में सद् असद् का निर्णय करने हेतु इसका उपयोग करने से इस विद्या को तर्कविद्या या वाद नाम भी दिये गये।<sup>८</sup> वादविद्या अथवा तर्कविद्या के द्वारा प्रमेयों को सिद्ध किए जाने से इसका नाम प्रमाणशास्त्र हुआ। प्रमाणशास्त्र या प्रमाणविद्या के लिए भारतीय दर्शन में बहुधा 'न्याय' शब्द का प्रयोग हुआ है।<sup>९</sup> पाश्चात्य दर्शन में प्रमाणमीमांसा के लिए Epistemology (एपिस्टिमोलाजी) शब्द निकटतम है।<sup>१०</sup>

भारतीय दर्शन में 'प्रमाण' शब्द का अन्तर्भाव करने वाले अनेक प्रमाणशास्त्रीय ग्रंथों का निर्माण हुआ है और उन ग्रन्थों में से अधिकांश या तो जैनों द्वारा लिखे गए हैं या बौद्धों द्वारा निर्मित हैं, यथा- प्रमाणविध्वंसन (नागार्जुन) प्रमाणसमुच्चय (दिङ्नाग) प्रमाणवार्तिक एवं प्रमाणविनिश्चय (धर्मकीर्ति), प्रमाणवार्तिकालङ्कार (प्रज्ञाकरगुप्त), प्रमाणसङ्ग्रह (अकलङ्क), प्रमाणपरीक्षा (विद्यानन्द), प्रमाणनिर्णय (वादिराज) प्रमाणनयत्त्वालोको (वादिदेवसूरि), प्रमाणमीमांसा (हेमचन्द्र) आदि।

प्रस्तुत ग्रन्थ बौद्ध एवं जैन सम्मत प्रमाणचर्चा से सम्बद्ध है, यह मात्र पंचावयव वाक्य रूप न्याय<sup>११</sup> के सीमित क्षेत्र का अवगाहक नहीं है, अतः प्रस्तुत प्रसंग में न्याय की अपेक्षा प्रमाणमीमांसा शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रमाणमीमांसा में न्याय का भी अन्तर्भाव हो गया है।

**प्रमाण का प्रयोजन** — समस्त प्रमेय पदार्थों का ज्ञान प्रमाण द्वारा होता है। प्रमाण के अभाव में प्रमेय अर्थ का ज्ञान संभव नहीं।<sup>१२</sup> इसीलिए भारतीय दर्शनों में एक मत से स्वीकारा गया— 'मानाधीना मेयसिद्धिः' अर्थात् प्रमेय अर्थ की सिद्धि प्रमाण के अधीन है। सांख्यदर्शन में ईश्वरकृष्ण

६. प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् ।

आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता ॥ —कौटिलीय-अर्थशास्त्र, १.१.७, पृ. ११

७. बल बले चैतासां हेतुभिरन्वीक्षमाणान्वीक्षिकी लोकस्थोपकरोति, व्यसनेऽभ्युदये च बुद्धिमवस्थापयति, प्रज्ञावाक्यक्रियावैशारद्यं च करोति । —कौटिलीय-अर्थशास्त्र, १.२.६, पृ. ११

८. वसुबन्धु के वादविधि आदि ग्रंथ इसके निदर्शन हैं।

९. प्रमाणपरीक्षणी न्यायः । — न्यायभाष्य, १.१.१., पृ. ८

१०. B. K. Matilal, Perception, p. 23

११. तेषु प्रमाणसमवायः, आगमः प्रतिज्ञा । हेतुरनुमानम् । उदाहरणं प्रत्यक्षम् । उपनयनमुपमानम् । सर्वेषामेकार्थसमवाये सामर्थ्यप्रदर्शनं निगमनमिति । सोऽयं परमो न्याय इति । — न्यायभाष्य, १.१.१. पृ. ११

१२. प्रमाणमन्तरेण नार्थप्रतिपत्तिः — न्यायभाष्य, पृ. २

ने 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' का कथन किया।<sup>१३</sup> बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग<sup>१४</sup> ने एवं प्रज्ञाकरगुप्त<sup>१५</sup> ने भी 'प्रमाणाधीनो हि प्रमेयाधिगमः' कहकर इसे पुष्ट किया। जैन दार्शनिक उमास्वाति ने 'प्रमाणनयैरधिगमः'<sup>१६</sup> सूत्र द्वारा प्रमाण एवं नय को अर्थाधिगम का करण प्रतिपादित किया।

प्रमाण से प्रमेय का ज्ञान होता है, यह लगभग समस्त भारतीय दर्शनों द्वारा स्वीकृत सिद्धान्त बना, इसलिए न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, जैन, बौद्ध, चार्वाक आदि समस्त दर्शनों में प्रमाणशास्त्रीय ग्रंथों का निर्माण हुआ।

नागार्जुन (१५० ई) जयराशिभट्ट (९ वीं शती) और श्रीहर्ष (११ वीं शती) ने भारतीय दर्शन में निषेधात्मक द्वन्द्वन्याय की पद्धति द्वारा समस्त प्रमाण-व्यवस्था का ही उच्छेद करने का प्रयास किया। जिसके फलस्वरूप प्रमाण के द्वारा प्रमेय की सिद्धि मानने का सिद्धान्त भी संदिग्ध हो जाता है। इन दार्शनिकों के अनुसार या तो तत्त्व अभाव रूप है, शून्यरूप है या भाषा और बुद्धि से परे शब्द और तर्क से परे रहस्यमय है। नागार्जुन का कथन है कि प्रमाण स्वतः सिद्ध नहीं हो सकता तथा उसे प्रमाणान्तर से भी सिद्ध नहीं किया जा सकता।<sup>१७</sup> जयराशि भट्ट कहते हैं कि प्रमेय की स्थिति प्रमाण के अधीन है तथा प्रमाण के अभाव में प्रमेय एवं प्रमाण दोनों का व्यवहार असंभव है।<sup>१८</sup> वे एक अद्भुत दार्शनिक हुए जिन्होंने प्रत्यक्ष, अनुमान आदि समस्त प्रमाणों को अपनी रचना 'तत्त्वोपप्लवसिंह' में अनुचित ठहराया है। वेदान्त दार्शनिक श्रीहर्ष भी अपने ग्रंथ 'खण्डनखण्डखाद्य' में इसी प्रकार प्रमेय-प्रमाण की मान्यता का निरसन करते हैं।<sup>१९</sup>

इस प्रकार नागार्जुन, जयराशि और श्रीहर्ष संशयवादी दार्शनिकों की कोटि में आते हैं जिनका दर्शन शास्त्र में अत्यधिक महत्त्व है, क्योंकि ये सदैव रचनात्मक आशावादी दार्शनिकों के लिए चुनौती का कार्य करते हैं।

न्यायदार्शनिक वात्स्यायन ने प्रतिपादित किया है कि प्रमाण से अर्थ का ज्ञान होने पर प्रवृत्ति करने का सामर्थ्य प्राप्त होता है, इसलिए प्रमाण की संकल्पना सार्थक है।<sup>२०</sup> बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति सम्यग्ज्ञान को प्रमाण मानते हैं, अतः न्यायविन्दु के प्रारम्भ में उनका कथन है- 'पुरुषार्थ की सिद्धि

१३. सांख्यकारिका, ४

१४. Dignāga, on perception, p. 76

१५. प्रमाणवार्तिकभाष्य, पृ० ३४०

१६. तत्त्वार्थसूत्र, १.६

१७. नैव स्वतः प्रसिद्धिर्न परस्परतः परप्रमाणैर्वा ।

न भवति न च प्रमेयैर्न चाप्यकस्मात् प्रमाणाणाम् ॥ —विग्रहव्यावर्तनी, ५१

१८. अथ कथं तानि न सन्ति ? तदुच्यते सल्लक्षणनिबन्धनं मानव्यवस्थानं, माननिबन्धना च मेयस्थितिः, तदभावे तयोः सद्व्यवहारविषयत्वं कथम् ? — तत्त्वोपप्लवसिंह, पृ० १

१९. खण्डनखण्डखाद्य, प्रथमपरिच्छेद, पृ० ७६-४१०.

२०. प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यात् अर्थवत् प्रमाणम्—न्यायभाष्य, आदि वाक्य ।

सम्यग्ज्ञान पूर्वक होती है, इसलिए सम्यग्ज्ञान (प्रमाण) का व्युत्पादन किया जा रहा है'।<sup>२१</sup> न्यायावतारसूत्रवार्तिककार शान्तिसूरि नामक जैन दार्शनिक ने प्रमाण को हितार्थ की प्राप्ति एवं अहितार्थ के त्याग का कारण प्रतिपादित किया है।<sup>२२</sup>

**प्रमाण-शास्त्रों के सर्जन का प्रारम्भ**— भारतीय दार्शनिक-चिन्तन में प्रमाण किं वा प्रमाणों का प्रारम्भ कब हुआ यह निश्चित रूप से कहना अशक्य है, किन्तु यह सुनिश्चित है कि प्रमाण का अवलम्बन लिए बिना प्रमेय की मीमांसा नहीं हो सकती। प्रमेय का ज्ञान करना मानव का अनादि स्वभाव है। बी० के० मित्तलाल के शब्दों में 'न्याय एवं प्रमाण-शास्त्र के विमर्श से ही प्रमेयमीमांसा एवं तत्त्वमीमांसा में प्रवेश किया जा सकता है।'<sup>२३</sup> अतः प्रमाण निर्विवाद रूप से प्रमेयज्ञान के लिए आवश्यक तत्त्व है।

प्रमाण मानुषिक चिन्तन में प्रारम्भ से रचा बसा रह कर भी पृथक् शास्त्र के रूप में भारतीय नैयायिक अक्षपाद गौतम के न्यायसूत्र (१५० ई०) में सर्वप्रथम परिलक्षित होता है। यद्यपि गौतम के न्यायसूत्र के पूर्व कणाद के वैशेषिकसूत्र, कपिल के सांख्यसूत्र, बादरायण के ब्रह्मसूत्र एवं जैमिनि के मीमांसासूत्र की रचना हो चुकी थी। तथापि प्रमाणचर्चा की दृष्टि से गौतम के न्यायसूत्र को अन्य दार्शनिकग्रंथों की अपेक्षा अर्वाचीन होने पर भी प्रथम स्थान दिया जाता है, क्योंकि प्रमाण इसका प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है।

उपनिषद्, कौटिल्य के अर्थशास्त्र एवं चरकसंहिता में भी प्रमाण-शास्त्रीय सन्दर्भ मिलते हैं, किन्तु उनका यह प्रमुख प्रतिपाद्य नहीं है। छान्दोग्य उपनिषद् में नारद ने सनत्कुमार को विद्या की लम्बी सूची गिनायी है, उसमें वाकोवाक्य नामक विद्या का उल्लेख है<sup>२४</sup> जो न्यायविद्या की द्योतक है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में ३२ प्रकार की तन्त्रयुक्तियों का निरूपण है<sup>२५</sup> जो वादविद्या की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने इन तन्त्रयुक्तियों के निर्माण का समय छठी शताब्दी ई. पू. माना है, किन्तु इस विषय में समस्त विद्वान् एकमत नहीं हैं।<sup>२६</sup> प्रमाणशास्त्रीय प्रासाद को खड़ा करने में तन्त्रयुक्तियों के महत्त्व का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता। सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने हेतुशास्त्र की रचनाओं में तन्त्रयुक्तियों को सर्वाधिक प्राचीन माना है।<sup>२७</sup> सुश्रुतसंहिता (उत्तरतन्त्र, अध्याय ६५) में भी लगभग इन्हीं ३२ तन्त्रयुक्तियों का उल्लेख है। चरकसंहिता (सिद्धिस्थान, अध्याय १२, ७८) में इनकी संख्या

२१. सम्यग्ज्ञानपूर्विका पुरुषार्थसिद्धिरिति तद् व्युत्पाद्यते.—न्यायबिन्दु, १.१

२२. हितार्थिप्रार्थित्यागयोर्थत्रिबन्धनम् ।

तत् प्रमाणं प्रवक्ष्यामि सिद्धसेनार्कसूत्रितम् ।—न्यायावतारसूत्रवार्तिक, श्लोक १.

२३. Perception, p.8

२४. छान्दोग्योपनिषद्, ७.१.२

२५. कौटिलीय-अर्थशास्त्र, अधिकरण, १५, पृ. ९३७

२६. A History of Indian Logic, p.24

२७. A History of Indian Logic, p. 25

३४ तक पहुँच गयी है। उत्तरकालीन रचनाओं यथा अष्टांगहृदय एवं अष्टांगसङ्ग्रह में ३६ तन्त्रयुक्तियों का उल्लेख है। कालमेघ ने तन्त्रयुक्तिविचार नामक एक स्वतंत्र कृति की रचना की है।<sup>२८</sup> चरकसंहिता में न्यायसूत्र की पारिभाषिक शब्दावली से मेल खाते हुए अनेक प्रमाणशास्त्रीय पदों एवं संदर्भों का प्रयोग हुआ है, जो निश्चित रूप से चरकसंहिता का प्रमाणशास्त्रीय महत्त्व प्रकट करते हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं ऐतिहासिक के रूप में चरकसंहिता चार प्रमाणों की गणना करती है तथा उसमें भी न्यायसूत्र की भांति प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन को अनुमान के अवयवों के रूप में निरूपित किया गया है।<sup>२९</sup> जल्प, वितण्डा, संशय, प्रयोजन, अर्थापत्ति, छल, निग्रहस्थान आदि का भी चरकसंहिता में प्रयोग हुआ है।

बौद्ध ग्रंथ उपायहृदय एवं जैनागम अनुयोगद्वारसूत्र में भी प्रमाणशास्त्रीय विवरण उपलब्ध होता है। उपायहृदय का रचयिता कौन है, यह अभी निश्चित ज्ञात नहीं है, किन्तु उसे नागार्जुन की रचना समझा जाता है। उपायहृदय में वाद-धर्मों का निरूपण हुआ है, साथ ही प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द रूप चतुर्विध प्रमाणों, अनेकविध निग्रहस्थानों तथा जाति का निरूपण मिलता है। उपलब्ध बौद्ध न्याय ग्रंथों में उपायहृदय को प्राचीनतम कहा जा सकता है। जी० टुची की मान्यता है कि अक्षपाद गौतम के न्यायसूत्र का व्यवस्थित रूप उपायहृदय एवं चरकसंहिता की रचना के अनन्तर प्रतिष्ठित हुआ।<sup>३०</sup> जैनागम अनुयोगद्वार सूत्र में भी गौतमीय न्यायदर्शन के प्रत्यक्षादि चार प्रमाणों का उल्लेख है तथा पूर्ववत्, शेषवत् एवं दृष्टसाधर्म्यवत् रूप तीन अनुमान प्रमाणों का विस्तृत वर्णन है। स्थानांग सूत्र में भी चार प्रमाणों का 'हेतु' शब्द से निरूपण किया गया है। किन्तु इन आगमों का मुख्य प्रतिपाद्य प्रमाण सम्बद्ध वर्णन नहीं रहा।

इस प्रकार ईसा की द्वितीय शताब्दी तक प्रमाणशास्त्र का व्यवस्थित प्रथम ग्रंथ न्यायसूत्र प्रतीत होता है। गौतम ने षोडश पदार्थों में प्रमाण को प्रथम स्थान प्रदान किया है, क्योंकि वे प्रमाण को प्रमेय की सिद्धि के लिए आवश्यक सोपान मानते हैं।

गौतम के न्यायसूत्र पर संभवतः चौथी शती में वात्स्यायन ने न्यायभाष्य लिखा। वैशेषिक सूत्र पर प्रशस्तपाद ने प्रशस्तपादभाष्य की रचना की, सांख्यसूत्र पर युक्तिदीपिका लिखी गयी एवं जैमिनि सूत्रों पर शाबरभाष्य की रचना हुई। दिङ्नाग नामक महान् बौद्ध नैयायिक ने प्रमाणशास्त्रीय चिन्तन में काया पलट किया। उन्होंने प्रमाणसमुच्चय जैसे विशुद्ध प्रमाणशास्त्रीय ग्रंथ की रचना की जिसमें पूर्व प्रचलित न्याय, वैशेषिक एवं सांख्य दर्शनों का खण्डन किया। दिङ्नाग कृत खण्डन का उत्तर देने के लिए उद्योतकर ने न्यायभाष्य पर न्यायवार्तिक का निर्माण किया। उद्योतकर अपने वार्तिक के

२८. तन्त्रयुक्तियों के विशेष ज्ञान हेतु द्रष्टव्य— R.C. Dwivedi, Concept of the Śāstra, Indologica taurinensia, Vol. 8.

२९. Pre-Dignāga Texts, Introduction. pp. 17 and 29

३०. Pre-Dignāga Texts, Introduction, p. XXX.

प्रारम्भ में 'कुतार्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतुः' के द्वारा दिङ्नाग की ओर ही संकेत करते हैं। कुमारिल भट्ट ने भी श्लोकवार्तिक की रचना कर दिङ्नाग का खण्डन किया है।<sup>३१</sup> जैन दार्शनिक मल्लवन्दी ने द्वादशारण्यचक्र द्वारा बौद्ध-खण्डन में हाथ बंटाय। बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक की रचना कर तत्कालीन समस्त दार्शनिकों पर अचूक प्रहार किये। इस प्रकार पारस्परिक खण्डन-मण्डन द्वारा प्रमाण-शास्त्रों की विशाल स्तर पर सर्जना प्रारम्भ हो गयी। पारस्परिक खण्डन के कारण, न्याय वैशेषिक, पूर्वमीमांसा, जैन एवं बौद्ध दर्शनों में अनेक प्रमाणशास्त्रीय ग्रंथों का निर्माण हुआ और यह परम्परा समस्त दर्शनों में ग्यारहवीं शताब्दी तक निरन्तर गतिशील रही। उसके अनन्तर नव्यन्याय, जैनन्याय आदि के ग्रंथों का निर्माण जारी रहा, किन्तु बौद्धन्याय के ग्रंथों की परम्परा भारत से लुप्त हो गयी।

यहाँ पर बौद्ध एवं जैन प्रमाणमीमांसा का अध्ययन अपेक्षित है, अतः अब प्रत्येक की ऐतिहासिक परम्परा का विहंगावलोकन किया जायेगा।

## बौद्ध -परम्परा

भारतवर्ष में बौद्ध दर्शन का अस्तित्व भगवान् बुद्ध से लेकर ग्यारहवीं शती के आरम्भ तक रहा जिसे प्रसिद्ध रूसी दार्शनिक श्चेरबात्स्की ( Stcherbatskey) ने तीन समान कालों में विभक्त किया है।<sup>३२</sup> प्रथम काल ५०० ई० पूर्व से प्रथम शती ई., द्वितीय काल प्रथम शती से ५०० ई. तथा तृतीय काल ५०० ई० से ११ वीं शती का प्रारम्भ अथवा १००० ई० तक निर्धारित किया है।

श्चेरबात्स्की के विभाजन का आधार सम्पूर्ण बौद्ध दर्शन एवं उसमें हुए वैचारिक परिवर्तन हैं, किन्तु यहाँ सम्पूर्ण बौद्ध दर्शन का अध्ययन अपेक्षित न होकर मात्र प्रमाण का अध्ययन अपेक्षित है, अतः नवीन विभाजन अभीष्ट है। बौद्ध प्रमाणमीमांसा के प्रधान केन्द्र आचार्य दिङ्नाग हैं, अतः उन्हें दृष्टिगत रखते हुए हम बौद्ध दर्शन में ग्रथित सम्पूर्ण प्रमाणमीमांसा को दो भागों में रख सकते हैं।

१- प्राग् दिङ्नाग प्रमाणमीमांसा (पांचवीं शती के प्रारम्भ तक)

२- दिङ्नाग एवं उनके सम्प्रदायवर्ती प्रमाणमीमांसा (पांचवीं शती से ग्यारहवीं शती तक)

दिङ्नाग के पूर्व का अध्ययन क्षेत्र भी विस्तृत है अतः उसे सौविध्य के लिए पुनः दो उपविभागों में बांट सकते हैं- (१) त्रिपिटककालीन एवं (२) त्रिपिटकोत्तरवर्ती।

## त्रिपिटककालीन प्रमाणमीमांसा

सम्पूर्ण त्रिपिटक साहित्य में प्रमाणशास्त्र का निरूपण करने वाला एक भी स्वतन्त्र ग्रंथ नहीं है।

३१. पं० महेन्द्र कुमार शास्त्री ने कुमारिलभट्ट (६००-६८०ई.) को धर्मकीर्ति (६२०-६९० ई०) का पूर्व समकालीन एवं दिङ्नाग का उत्तरवर्ती प्रतिपादित किया है। - अकलङ्कग्रन्थत्रय, प्रस्तावना, पृ० १८-२१

३२. Buddhist Logic, Vol. 1, p.3

त्रिपिटकों में कहीं कहीं तक्की अथवा तक्किक एवं विमंसी शब्दों का प्रयोग अवश्य हुआ है,<sup>३३</sup> जो तत्कालीन तार्किक लोगों के परिचायक प्रतीत होते हैं। **विद्याभूषण** इन्हें सोफिस्ट (वितण्डावादी) मानते हैं<sup>३४</sup> **अभिधम्मपिटक** के **कथावत्तुप्पकरण** (२५५ ई० पू०) में पटिण्णा (प्रतिज्ञा), उपनय एवं निग्गह (निग्रह) शब्दों का प्रयोग हुआ है<sup>३५</sup> जो स्पष्टतः न्याय की पारिभाषिक शब्दावली में मिलते हैं। पालिभाषा में **नागसेन** रचित **मिलिन्दपण्ह** नामक ग्रंथ कुछ अंशों में वाद विद्या के प्रयोगात्मक रूप को प्रस्तुत करता है, क्योंकि इसमें **मिलिन्द** राजा का **नागसेन** से वाद-प्रतिवाद होता है।

**दलसुख मालवणिया** ने **धर्मोत्तरप्रदीप** की प्रस्तावना में यह प्रतिपादित किया है कि पालित्रिपिटक में ऐसे अनेक सुक्त हैं जिनमें **भगवान् बुद्ध** ने अपने विरोधियों के मन्तव्यों का विविध युक्तियों से निरास कर अपने मन्तव्य की स्थापना की है। उन्होंने अपनी युक्तियों का आधार व्याप्ति को नहीं, किन्तु दृष्टान्त को बनाया है। दृष्टान्त का तत्कालीन वादप्रक्रिया में विशेष महत्व था। जात्युत्तरों में भी साधर्म्य एवं वैधर्म्य दृष्टान्तों का प्राचीन काल में प्रयोग होता रहा है।<sup>३६</sup>

त्रिपिटकों के आधार पर **वसुबन्धु** ने **अभिधर्मकोश** (७.२-४) में ज्ञान के दश प्रकार निरूपित किए हैं, यथा— धर्मज्ञान, अन्वयज्ञान, संवृत्तिज्ञान, दुःखज्ञान, समुदयज्ञान, निरोधज्ञान, मार्गज्ञान, परचित्तज्ञान, क्षयज्ञान और अनुत्पादज्ञान। इन ज्ञानों का प्रमाणमीमांसा के साथ आचार्यों ने कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया है, किन्तु आगे चलकर प्रत्यक्ष एवं अनुमान के रूप में जो दो प्रमाण माने गए हैं, उनमें इन ज्ञानों का समावेश संभव है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि त्रिपिटकों के रचनाकाल तक वाद विद्या का यत्किञ्चित् प्रयोग अवश्य था, किन्तु प्रमाण का व्यवस्थित या शास्त्रीय स्वरूप उभरा नहीं था।

## त्रिपिटकोत्तरवर्ती प्रमाणमीमांसा

त्रिपिटकों के उत्तरवर्ती काल द्वितीयशती ई० से पंचम शती ई० में **नागार्जुन**, **असङ्ग**, **वसुबन्धु** आदि प्रमुख दार्शनिक हुए, जिन्होंने **त्रिपिटक** साहित्य के आधार पर मौलिक चिन्तन किया एवं भारतीय दर्शन को नयी दृष्टि प्रदान की। प्रमाण-चिन्तन के संदर्भ में भी इनका अत्यधिक महत्व है, इसलिए इनका एतद् विषयक परिचय दिया जा रहा है।

३३. (१) ब्रह्मजालसुत्त (दीर्घनिकाय) १-३२ यथा- इधा भिक्खवे, एकच्चो समणो वा ब्राह्मणो वा तक्की होति विमंसी।  
(२) उदानम्- ६.१० - याव सम्मा सम्बुद्धा लोके नुप्पज्जन्ति न तक्किका सुज्जन्ति न चापि सावका, दुदिट्ठी न दुक्खा पमुच्चरेति। उद्धत, History of the Mediaeval School of Indian Logic, p.60

३४. History of the Mediaeval school of Indian Logic, p. 59

३५. कथावत्तुप्पकरण- अट्टकथा, पालिटेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, पृ० १३

३६. (१) धर्मोत्तरप्रदीप, प्रस्तावना, पृ० ३७-३८

(२) विशेष अध्ययन के लिए द्रष्टव्य, Jayatilleke, Early Buddhist Theory of Knowledge, George Allen and Unwin, London, 1963

## नागार्जुन

न केवल बौद्ध दर्शन में अपितु सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में नागार्जुन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे माध्यमिक सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य थे। नागार्जुन ने सत्, असत् उभय एवं अनुभय इन चार कोटियों से बहिर्भूत शून्य तत्त्व का निरूपण किया। नागार्जुन के लिए न बाह्य प्रमेय अर्थ सत् है और न प्रमाण सत् है। वे प्रमाण का खण्डन कर प्रमेय का भी खण्डन कर देते हैं तथा शून्य तत्त्व को सिद्ध करते हैं। प्रमाणवाद के सन्दर्भ में उनकी शून्यता का अर्थ है- वह प्रज्ञा जो किसी सत्य को आत्यन्तिक रूप से सत्य नहीं मानती।<sup>३७</sup>

नागार्जुन (११३-२१३ ई०)<sup>३८</sup> की प्रमुख रचनाएँ हैं- (१) मूलमाध्यमिककारिका (२) युक्तिषष्टिका कारिका (३) विग्रहव्यावर्तनी। (४) वैदल्यसूत्रप्रकरण आदि। मूलमाध्यमिककारिका माध्यमिक सम्प्रदाय का प्रथम ग्रंथ है। इसमें आर्य नागार्जुन ने न्याय के पारिभाषिक शब्दों का यदा कदा प्रयोग किया है यथा- चौथे अध्याय में 'साध्यसम' शब्द का प्रयोग हुआ है।<sup>३९</sup> युक्तिषष्टिका में युक्तियों अथवा तर्क के सम्बन्ध में साठ कारिकाओं की रचना की है। न्याय-शास्त्र के सन्दर्भ में नागार्जुन की जो कृति प्रसिद्ध हुई, वह है विग्रहव्यावर्तनी। विग्रहव्यावर्तनी की विषयवस्तु को प्रमाण-शास्त्र के सन्दर्भ में जानना उपादेय है।

**विग्रहव्यावर्तनी**—यह ग्रंथ प्रमाणवादियों के तर्कों का उपस्थापन कर उनका आमूल खण्डन करता है। नागार्जुन ने संभवतः गौतमीय न्यायसूत्र में प्रणीत प्रमाणचर्चा को ही अपने खण्डन का लक्ष्य बनाया है, क्योंकि वे ग्रन्थ के प्रारम्भिक श्लोकों में न्यायसम्मत चार प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द एवं उपमान) का उपस्थापन करते हैं तथा फिर प्रमाण को जड़ से उत्पाटित करने का प्रयास करते हैं।<sup>४०</sup>

नागार्जुन का तर्क है कि इन चार प्रमाणों से यदि धर्म या अर्थ का अस्तित्व सिद्ध होता है तो इन प्रमाणों को किस प्रमाण से सिद्ध किया जायेगा? यदि ये अन्य प्रमाण से सिद्ध हैं तो अनवस्था दोष आता है, क्योंकि फिर उस प्रमाण के लिए भी अन्य प्रमाण की कल्पना करनी होगी, और यदि ये प्रमाण अग्नि की भांति स्वतः प्रकाशक हैं तो अग्नि स्वतः प्रकाशक नहीं होती, उसका अपने को प्रकाशित करने का स्वभाव अंधकार में भी होना चाहिए। यदि प्रमेय की सिद्धि बिना प्रमाणों के हो जाती है तो उनको सिद्ध करने हेतु प्रमाण का उपयोग निरर्थक है।<sup>४१</sup> इस प्रकार नागार्जुन को प्रमाण

३७. "Epistemologically emptiness is Prajñā, an unattached insight that no truth is absolute ly true." -Nagarjuna's Twelve Gate Treatise, p. 14,

३८. डॉ. सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने नागार्जुन का समय ३०० ई० माना है— History of the Mediaeval School of Indian Logic, pp. 68-69

३९. विग्रहे यः परीहारं कृते शून्यतया वदेत्  
सर्वं तस्यापरिहृतं समं साध्येन जायते ॥

४०. द्रष्टव्य, विग्रहव्यावर्तनी, श्लोक ३० से ५१ ।

४१. यदि च प्रमेयसिद्धिर्नपिक्शैव भवति प्रमाणानि ।

किं ते प्रमाणसिद्ध्या तानि यदर्थं प्रसिद्धं तत् ॥— विग्रहव्यावर्तनी, ४४

की सत्ता मान्य नहीं है। वे तो शून्य में ही सत्य का दर्शन करते हैं। इसलिए उन्होंने कहा है- “यदि मनुष्य शून्य में विश्वास करता है तो वह प्रत्येक वस्तु में विश्वास करता है और यदि मनुष्य शून्य में विश्वास नहीं करता तो वह किसी भी वस्तु में विश्वास नहीं करता।”<sup>४२</sup>

वैदल्यसूत्र प्रकरण को भी नागार्जुन की रचना माना गया है। इसका अपर नाम प्रमाणविहेठन अथवा प्रमाणविध्वंसन है। यह ग्रंथ भी विग्रहव्यावर्तनी की भांति प्रमाण का खण्डन करता है। इसका तिब्बती अनुवाद मिलता है। संस्कृत में यह अनुपलब्ध है।

**उपायहृदय**— चीनी स्रोतों से उपलब्ध उपायहृदय या उपायकौशलहृदय ग्रंथ<sup>४३</sup> को कुछ विद्वान् नागार्जुन की रचना मानते हैं, किन्तु उपायहृदय का अंतरंग अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि यह नागार्जुन की रचना नहीं हो सकती, क्योंकि नागार्जुन प्रमाण विरोधी थे जबकि उपायहृदय में प्रमाणों का बिना खण्डन किए विस्तृत निरूपण है।

प्राचीन प्रमाणशास्त्रीय विद्या में उपायहृदय का स्थान महत्वपूर्ण है। जी. टुच्ची के अनुसार इसके दो बार चीनी भाषा में अनुवाद हुए हैं। पहला अनुवाद बुद्धभद्र ने किया था जो अनुपलब्ध है तथा दूसरा अनुवाद किकियाये ने किया है जो अभी उपलब्ध है। इस ग्रन्थ का जापानी भाषा में अनुवाद उई ने किया है। उन्होंने इसका संपादन एवं विवेचन करते हुए चरकसंहिता से इसकी तुलना की है।

उपायहृदय के प्रथम प्रकरण में गौतमीय न्याय के चार प्रमाणों का ही उल्लेख किया गया है<sup>४४</sup> तथा उनमें प्रत्यक्ष प्रमाण को इसलिए श्रेष्ठ प्रतिपादित किया गया है, क्योंकि अन्य तीन प्रमाण प्रत्यक्ष के आश्रित रहते हैं।<sup>४५</sup> प्रत्यक्ष में किस प्रकार भ्रम हो सकता है इसे उपायहृदय में सोदाहरण समझाया है। अनुमान के पूर्ववत्, शेषवत् एवं सामान्यतोदृष्ट तीन भेद किये गये हैं<sup>४६</sup> तथा उनका विस्तृत निरूपण है।

उपायहृदय में इन आठ हेत्वाभासों का निरूपण है—वाक्छल, सामान्यछल, संशयसम, कालातीत, प्रकरणसम, वर्ण्यसम, सव्यभिचार एवं विरुद्ध।<sup>४७</sup> प्रथम प्रकरण के प्रारम्भ में वाद का

४२. प्रभवति च शून्यतेयं यस्य प्रभवन्ति तस्य सर्वाभाः ।

प्रभवति न तस्य किञ्चिन्न प्रभवति शून्यता यस्य ॥— विग्रहव्यावर्तनी, ७०

४३. G. Tucci ने अपनी पुस्तक Pre-Diñnāga Buddhist texts on Logic from Chinese sources, में चीनी स्रोतों से बौद्ध न्याय के चार प्राचीन ग्रंथ उपलब्ध कराये हैं—उपायहृदय, तर्कशास्त्र, शतशास्त्र एवं विग्रहव्यावर्तनी। इनमें प्रारंभिक दो संस्कृत में अनूदित हैं तथा अन्य दो का अंग्रेजी अनुवाद उपलब्ध कराया गया है। इनमें उपायहृदय एवं विग्रहव्यावर्तनी को नागार्जुन की, तर्कशास्त्र को वसुबन्धु की तथा शतशास्त्र को नागार्जुन एवं आर्यदेव की रचना माना गया है।

४४. अथ कतिविधं प्रमाणम् ? चतुर्विधं प्रमाणम् । प्रत्यक्षमनुमानमुपमानमागमश्चेति ।— उपायहृदय, पृ. १३

४५. चतुर्षु प्रमाणेषु प्रत्यक्षं श्रेष्ठम् । कुतः पुनः प्रत्यक्षं श्रेष्ठमिति चेदपरेषां त्रयाणां प्रमाणानां प्रत्यक्षोपजीवकत्वाच्चेष्टम् ।  
— उपायहृदय, पृ० १३

४६. अनुमानं त्रिविधं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं च ।— उपायहृदय, पृ० १३

४७. उपायहृदय, पृ. १४



प्रयोजन एवं महत्त्व प्रतिपादित किया गया है तथा फिर आठ प्रकार के वाद धर्मों का निरूपण है। वे आठ वाद धर्म हैं- दृष्टान्त, सिद्धान्त, वाक्यप्रशंसा, वाक्यदोष, प्रमाण, प्राप्तकालवाक्यहेत्वाभास और वाक्छल।<sup>४८</sup> इन आठ ही वादधर्मों में से प्रत्येक का भेदोपभेद पूर्वक वर्णन किया गया है। उपायहृदय में वाद का प्रारम्भ सद्धर्म की रक्षा के लिए किये जाने का विधान है न कि प्रसिद्धि अर्जित करने के लिए।<sup>४९</sup>

द्वितीय प्रकरण में विभिन्न प्रकार के निग्रह स्थानों का निरूपण है। निग्रहस्थानों को इसमें वाद के महाकण्टक एवं दुःख रूप बताया गया है तथा उनका शीघ्र निवारण करने का परामर्श दिया गया है।<sup>५०</sup> तृतीय प्रकरण में निग्रहस्थान पूर्वक प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव आदि पर विचार किया गया है तथा चतुर्थ प्रकरण में जाति का विवेचन हुआ है।

इस प्रकार प्रमाणशास्त्र एवं वादविद्या की दृष्टि से उपायहृदय प्राचीन बौद्ध रचनाओं में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

### मैत्रेय (३०० ई०)

योगाचार दर्शन के संस्थापक आचार्य मैत्रेय ने विज्ञानवाद से सम्बद्ध अनेक कृतियों का निर्माण किया जिनमें बोधिस्त्वचर्यानिर्देश, सप्तदशाभूमिशास्त्र, योगाचार्य एवं अभिसमयालंकारिका प्रमुख हैं। इनमें सप्तदशाभूमिशास्त्र ग्रंथ वादविद्या की सामग्री प्रस्तुत करता है। इस ग्रंथ में वाद विषय, वादाधिकरण, वाद करण आदि का निरूपण है, साथ ही आठ प्रकार के प्रमाणों का निरूपण है। वे आठ प्रमाण हैं- सिद्धान्त, हेतु, उदाहरण, साधर्म्य, वैधर्म्य, प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम। वाद से सम्बद्ध अन्य साग्री में वादकर्ता की विशेषताओं, निग्रहस्थान, सभा आदि का निरूपण है।

मैत्रेय के अनुसार साध्य की सिद्धि के लिए प्रतिज्ञा को हेतु एवं दो उदाहरणों का समर्थन मिलना चाहिए। मैत्रेय ने गौतम प्रणीत उपमानप्रमाण का उल्लेख नहीं किया है।<sup>५१</sup>

### असङ्ग (३५० ई०)

असङ्ग बौद्ध विज्ञानवाद के प्रतिष्ठित आचार्य एवं वसुबन्धु के ज्येष्ठ भ्राता थे। ये ३५० ई० में विद्यमान रहे होंगे, ऐसा श्री राहुलसांकृत्यायन का मत है।<sup>५२</sup> आचार्य असङ्ग ने १२ कृतियों का निर्माण किया, जिनमें अधिकतर अभी भी चीनी एवं तिब्बती अनुवादों में सुरक्षित हैं। इनके प्रमुख ज्ञात ग्रंथों में महायानोत्तरतंत्र, सूत्रालङ्कार, योगाचारभूमि, बोधिस्त्व-पिटकाववाद का नाम उल्लेखनीय है। असंग के न्याय का संक्षिप्त सार उनके प्रकरणार्थवाचा के ग्यारहवें खण्ड में मिलता है।<sup>५३</sup>

४८. उपायहृदय, पृ. ५

४९. वादारम्भोपि तथैवाधुना सद्धर्मरक्षणेच्छया न तु ख्यातिलाभाय ।—उपायहृदय, पृ. ४

५०. एतानि निग्रहस्थानानि वादस्य महाकण्टकानि गम्भीरदुःखानि ज्ञेयानि, द्रुतं च हेयानि ।— उपायहृदय, पृ० १९

५१. द्रष्टव्य, A History of Indian Logic, p. 263-265

५२. दर्शन - दिग्दर्शन, पृ० ७०५

५३. A History of Indian Logic, p. 265

असङ्ग की कृति योगाचारभूमिशाल्त्र ने विशेष प्रसिद्धि अर्जित की, अतः विज्ञानवाद को योगाचार दर्शन के नाम से ही जाना गया। असङ्ग के समय तक न्याय का विशेष विकास नहीं हुआ था। वे योगाचारभूमिशाल्त्र में प्रत्यक्ष, अनुमान, एवं आगम ये तीन प्रमाण स्वीकार करते हैं, तथा प्रतिज्ञा, हेतु एवं दृष्टान्त इन तीन को अनुमान का अवयव अङ्गीकार करते हैं।<sup>५४</sup>

असङ्ग के योगाचारभूमिशाल्त्र एवं प्रकरणार्थवाचाशास्त्र में वाद, वादाधिकरण, वादाधिष्ठान, वादालंकार, वादनिग्रह, वादनिस्सरण, वादबहुकारधर्म आदि का भी निरूपण है जो वादविद्या की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।<sup>५५</sup>

### वसुबन्धु

असङ्ग के छोटे भ्राता वसुबन्धु का जन्म गांधार राज्य के पुरुषपुर नगर में हुआ था। ये प्रारम्भ में वैभाषिक थे, किन्तु असंग के द्वारा योगाचार (विज्ञानवाद) में दीक्षित कर दिये गये।<sup>५६</sup> अतः इन्होंने वैभाषिक एवं योगाचार दोनों सम्प्रदायों में लेखन कार्य किया। परमार्थ ने इनका समय ३१६ ई० से ३९६ ई० प्रतिपादित किया है। भारतीय एवं चीनी विद्वानों ने वसुबन्धु को बोधिसत्त्व कहा है। वसुबन्धु की अनेक रचनाएं हैं,<sup>५७</sup> जिनमें प्रमुख हैं- (१) अभिधर्मकोश एवं भाष्य (२) त्रिंशिका (३) त्रिंशिका (४) मध्यान्तविभंगभाष्य (५) त्रिस्वभावनिर्देश (६) पंचस्कन्धप्रकरण (७) कर्मसिद्धिप्रकरण एवं (८) वादविधि।

इनमें न्यायशास्त्र से सम्बन्धित रचना वादविधि है।<sup>५८</sup> सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने तर्कशास्त्र नामक ग्रंथ को भी वसुबन्धु की रचना बतलाया है<sup>५९</sup> जो स्पष्टतः न्यायशास्त्र की चर्चा से युक्त है। त्रिंशिका एवं त्रिंशिका को विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि नाम से भी जाना जाता है। यह विज्ञानवाद का विशद विवेचन करती है। प्रस्तुत प्रसंग में वादविधि एवं तर्कशास्त्र का परिचय अपेक्षित है।

**वादविधि-** तत्कालीन वादविद्या का सम्पूर्ण चित्र वसुबन्धु की रचना वादविधि में देखा जा सकता है। किसी तर्क के प्रामाण्य का निर्धारण कैसे हो, इसका वादविधि में सुन्दर चित्रण है। पंचावयवों में से उपनय एवं निगमन के अतिरिक्त तीन अवयवों (प्रतिज्ञा, हेतु एवं दृष्टान्त) को इसमें स्थान दिया गया है। दिङ्नाग की प्रमाणसमुच्चयवृत्ति एवं जिनेन्द्रबुद्धि की टीका में वादविधि के कुछ अंश हैं। वादविधि का अंग्रेजी अनुवाद स्टीफन एनेकर की पुस्तक सेवन वर्क्स आफ वसुबन्धु (Seven works of Vasubandhu) में उपलब्ध है।

५४. Pre-Dignāga Texts, Introduction, pp. 17 & 19

५५. Pre-Dignāga Texts, Introduction, p. 16

५६. ई. फ्राउवालनर दो वसुबन्धु स्वीकार करते हैं।— धर्मोत्तरप्रदीप, प्रस्तावना, पृ० ४५।

५७. डॉ. महेशतिवारी ने विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि की भूमिका पृ० ४ पर वसुबन्धु की ३२ रचनाओं के नामों की गणना की है।

५८. ह्वेनसांग (सातवीं शताब्दी ई०) ने वसुबन्धु की वादविद्या से सम्बन्धित तीन कृतियों का उल्लेख किया है, जिनमें दो अभी तक अनुपलब्ध हैं, वे हैं १. वादमार्ग और २. वादकौशल।

५९. A History of Indian Logic, pp. 267-268

**तर्कशास्त्र** — कुछ चीनी विद्वानों एवं सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने तर्कशास्त्र को भी वसुबन्धु की रचना ठहराया है। तर्कशास्त्र का परमार्थ (५३० ई) ने चीनी अनुवाद किया था, जिसका पुनः संस्कृत उद्धार जी० टुची ने अपने ग्रंथ श्री दिङ्नाग बुद्धिस्ट टेक्स्ट आन लाजिक फ्राम चाइनीज सार्सेस (P. 10 Dinnāga Buddhist texts on Logic from Chinese sources) में किया है। परमार्थ ने तर्कशास्त्र पर एक टीका भी लिखी थी, किन्तु वह लुप्त हो चुकी है।

तर्कशास्त्र में तीन प्रकरण हैं। प्रथम प्रकरण अन्याय्य वचन पर है, द्वितीय प्रकरण जाति पर तथा तृतीय प्रकरण निग्रहस्थान पर है। जाति विवेचन के सम्बन्ध में वादविधि एवं तर्कशास्त्र में काफी साम्य है। बौद्ध सम्मत त्रैरूप्य हेतु का सर्वप्रथम उल्लेख तर्कशास्त्र में मिलता है। इसमें पक्षधर्म, सपक्षसत्त्व एवं विपक्षव्यावृत्ति रूप त्रिलक्षण हेतु का स्पष्ट निर्देश है।<sup>६०</sup> इससे यह भी फलित होता है कि हेतु के त्रैरूप्य की कल्पना दिङ्नाग से प्राचीन है। तर्कशास्त्र में हेतु का विशद वर्णन है। प्रतिवादी के प्रश्नों को उठाकर हेतु का यथार्थ स्वरूप निरूपित किया गया है। प्रारम्भ में हेतु के दो भेद किये गये हैं— उत्पत्तिहेतु एवं व्यञ्जनहेतु।<sup>६१</sup>

जिस प्रकार गौतम प्रणीत न्यायसूत्र में २२ प्रकार के निग्रहस्थानों का वर्णन है उसी प्रकार तर्कशास्त्र में उन्हीं २२ प्रकार के निग्रहस्थानों का निरूपण हुआ है।<sup>६२</sup> दोनों के नामों में कोई अन्तर नहीं है। तर्कशास्त्र में यह प्रतिपादित किया गया है कि यदि किसी को निग्रहस्थान प्राप्त हो जाय तो उसके साथ वाद नहीं करना चाहिए।<sup>६३</sup> खण्डन में तीन प्रकार के दोष बतलाए गए हैं— विपरीतखण्डन, असत्खण्डन, एवं विरुद्धखण्डन। ये तर्क अथवा वाद की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।<sup>६४</sup> यदि खण्डन इन तीन दोषों से युक्त होता है तो निग्रहस्थान माना जाता है। हेतु के समान त्रिविध हेत्वाभासों का भी निरूपण है। हेत्वाभासों के नाम हैं— असिद्ध, अनैकान्तिक एवं विरुद्ध।<sup>६५</sup> इस प्रकार तर्कशास्त्र में वादविद्या के साथ-साथ प्रमाणविद्या का भी अच्छा निरूपण है।

## दिङ्नाग एवं उनका सम्प्रदाय (५ वीं शती से ११ वीं शती)

परमार्थतः बौद्ध प्रमाणवाद का व्यवस्थापन दिङ्नाग से आरम्भ होता है। दिङ्नाग का भारतीय प्रमाणशास्त्र के विकास में महान् योगदान है; क्योंकि दिङ्नाग के अनन्तर ही न्याय, मीमांसा, जैन आदि दर्शनों में प्रमाणमीमांसा के सम्बन्ध में गहरा ऊहापोह हुआ। देखा जाय तो विशुद्ध रूप से प्रमाणशास्त्र पर दिङ्नाग के पूर्व कोई ग्रंथ नहीं रचा गया। गौतम प्रणीत न्यायसूत्र में भी प्रमाणचर्चा

६०. अस्माभिस्त्रिलक्षणो हेतुः स्थापितः । तद्यथा पक्षधर्मः सपक्षसत्त्वं विपक्षव्यावृत्तिश्च ।— तर्कशास्त्र, पृ. १३

६१. द्विविधो हेतुः । उत्पत्तिहेतुः व्यञ्जनहेतुश्च ।— तर्कशास्त्र, पृ. १८

६२. तुलनीय, तर्कशास्त्र, पृ० ३३

६३. यदि कस्यचिन्निग्रहस्थानापत्तिर्भवेत्, न पुनस्तेन सह वादः कर्तव्यः ।— तर्कशास्त्र, पृ० ३३

६४. खण्डनस्य त्रिविधदोषापत्तिः विपरीतखण्डनमसत्खण्डनं विरुद्धखण्डनञ्चेति । यदि खण्डनमेतत्त्रिविधदोषोपेतं तदा निग्रहस्थानम् ।— तर्कशास्त्र, पृ० १२

६५. असिद्धोऽनैकान्तिको विरुद्धश्चेति हेत्वाभासाः ।— तर्कशास्त्र, पृ० ४०

के साथ प्रमेय चर्चा का अंश अधिक था। दिङ्नाग ने प्रमाणसमुच्चय नामक विशुद्ध प्रमाणशास्त्रीय ग्रंथ की रचना कर अन्य दार्शनिकों के लिए चुनौतीपूर्ण कार्य किया।

सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने सम्पूर्ण भारतीय न्यायशास्त्र को तीन भागों में बांटा है- प्राचीन न्याय, मध्यकालीन न्याय एवं आधुनिक न्याय। प्राचीन-न्याय का आधार वे गौतम प्रणीत न्यायसूत्र को बनाते हैं, नव्य-न्याय का आधार गंगेश की तत्त्वचिन्तामणि को स्वीकार करते हैं तो मध्यकालीन न्याय की सम्पूर्ण बागडोर बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग एवं जैन नैयायिक सिद्धसेन को सौंपते हैं।<sup>६६</sup>

बौद्ध दर्शन का भारतीय प्रमाणशास्त्र के विकास में जो योगदान रहा है उसका श्रेय दिङ्नाग एवं उनकी सम्प्रदाय को जाता है। भगवान् बुद्ध के पश्चात् बौद्ध धर्म हीनयान एवं महायान शाखाओं में विभक्त हो गया था। हीनयान शाखा के समर्थक वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक सम्प्रदाय थे तथा महायान शाखा के समर्थक योगाचार एवं माध्यमिक सम्प्रदाय थे। वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक सम्प्रदाय के आचार्य प्रमाणमीमांसीय शास्त्रों के निर्माण की ओर उन्मुख नहीं हुए। उनका प्रमुख ध्येय तत्त्वमीमांसीय शास्त्र एवं उनकी व्याख्याओं की ओर रहा। महायान शाखा ने प्रमाणमीमांसा में कुशलतापूर्वक भाग लिया। माध्यमिक सम्प्रदाय ने प्रमाण का उत्पादन किया तो योगाचार सम्प्रदाय ने प्रमाण को स्थिरता प्रदान की। माध्यमिक सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य नागार्जुन ने गौतम प्रणीत न्याय अथवा प्रमाण का अनौचित्य प्रतिपादित कर उस पर ऐसा प्रहार किया कि नागार्जुन के पश्चात् लम्बे समय तक बौद्ध दर्शन में प्रमाण पर विचार ही नहीं हुआ। कालान्तर में योगाचार सम्प्रदाय के वसुबन्धु एवं दिङ्नाग ने फिर बौद्ध दर्शन में प्रमाणविद्या की स्थापना की। धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर आदि ने उसे पल्लवित किया, किन्तु माध्यमिक सम्प्रदाय में शान्तरक्षित एवं कमलशील के अतिरिक्त किसी भी आचार्य ने प्रमाणमीमांसा में सक्रिय रूप से भाग नहीं लिया।

दिङ्नाग सम्प्रदाय में दिङ्नाग के अतिरिक्त धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, अर्चट, प्रज्ञाकरगुप्त, शान्तरक्षित, कमलशील, दुर्वेकमिश्र, ज्ञानश्रीमित्र, रत्नकीर्ति, मोक्षाकरगुप्त आदि प्रमुख हैं। श्चेरबात्सकी ने बौद्ध-न्याय में दिङ्नाग एवं धर्मकीर्ति के द्वारा प्रतिपादित न्याय एवं प्रमाणमीमांसा का ही समावेश किया है।<sup>६७</sup>

श्चेरबात्सकी शान्तरक्षित एवं कमलशील को मूलतः माध्यमिक सम्प्रदाय का आचार्य मानते हैं, तथा दिङ्नाग न्याय को आगे बढ़ाने के कारण इनको माध्यमिक योगाचार अथवा माध्यमिक सौत्रान्तिक सम्प्रदाय में रखते हैं।<sup>६८</sup>

यह स्पष्ट है कि बौद्धन्याय अथवा प्रमाणमीमांसा का सर्वाधिक विकास महायान शाखा के योगाचार सम्प्रदाय में हुआ। एक मात्र विज्ञान को ही सत् मानने के कारण इस सम्प्रदाय को विज्ञानवाद

६६. A History of Indian Logic, pp. 23 & 158

६७. Buddhist Logic, Vol. I, p. 1

६८. Buddhist Logic, Vol. I, p. 45

भी कहा जाता है। वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि समस्त मूर्धन्य दार्शनिक इसी सम्प्रदाय में हुए, किन्तु सूक्ष्मदृष्टि से अध्ययन करने पर यह भलीभाँति विदित होता है कि बौद्ध प्रमाणवाद विशुद्ध विज्ञानवाद की देन नहीं है। दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर आदि समस्त बौद्ध नैयायिक बाह्य अर्थ की भी सत्ता स्वीकार कर प्रमाण व्यवस्था का स्थापन करते हैं, अतः विज्ञानवाद के व्याख्याकार विज्ञानवादियों को दो श्रेणियों में विभक्त करते हैं - आगमानुयायी एवं युक्त्यनुयायी।<sup>६९</sup> आचार्य असंग, वसुबन्धु आदि को वे आगमानुयायी श्रेणी में स्थापित करते हैं, क्योंकि ये सप्तभूमिशास्त्र एवं अष्टप्रकरण-दि शास्त्रों का अनुसरण करते हुए अपने मत की स्थापना करते हैं तथा अष्टविज्ञान के सिद्धान्त को भी स्वीकार करते हैं। दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि आचार्यों की परम्परा को वे युक्त्यनुयायी श्रेणी में रखते हैं, क्योंकि ये आचार्य आलयविज्ञान एवं क्लिष्ट मनोविज्ञान की सत्ता नहीं मानकर युक्ति का अनुसरण करते हैं।

श्वेतरत्नात्की दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि दार्शनिकों को विशुद्ध विज्ञानवादी नहीं मानते, उन्हें उनमें सौत्रान्तिक बौद्धों के भी लक्षण दिखाई पड़ते हैं, अतः वे इन दार्शनिकों को सौत्रान्तिक-योगाचार नामक नयी श्रेणी में स्थापित करते हैं।<sup>७०</sup> धर्मन्द्रनाथ शास्त्री ने भी इसका समर्थन किया है।<sup>७१</sup> दासगुप्ता ने दिङ्नाग को वैभाषिक या सौत्रान्तिक सम्प्रदाय में रखा है। सातकडि मुकर्जी ने इस सम्प्रदाय को दिङ्नाग-सम्प्रदाय ही कहा है। श्रीनिवास शास्त्री ने इसे बौद्ध दर्शन का न्यायवादी सम्प्रदाय माना है।<sup>७२</sup>

प्राचीन बौद्ध दार्शनिक दुर्वेकमिश्र एवं प्राचीन प्रसिद्ध दार्शनिक वाचस्पतिमिश्र इन्हें सौत्रान्तिक मानते हैं।<sup>७३</sup>

वस्तुतः दिङ्नाग सम्प्रदाय के दार्शनिकों ने प्रमाणमीमांसा का प्रतिपादन विज्ञानवाद के अनुसार गौण रूप से एवं बाह्यार्थवाद की अपेक्षा प्रमुख रूप से किया है। प्रामाण्य व्यवहारेण (प्रमाणवार्तिक १.७) 'प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्' (प्रमाणवार्तिक, १.३) आदि कथनों के साथ प्रत्यक्ष-लक्षण में 'अध्रान्त' पद, प्रत्यक्ष-भेदों में इन्द्रिय-प्रत्यक्ष एवं मानसप्रत्यक्ष, स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण रूप बाह्य प्रमेय आदि का प्रतिपादन बाह्यार्थ को स्वीकार करने का ही संकेतक है। धर्मकीर्ति ने वैसे प्रमाणवार्तिक में विज्ञप्तिमात्रता का विचार करते समय स्वसंवेदन को ही उपचार से अर्थवेदन कहा है-स्वविदप्यर्थविन्मता (प्रमाणवार्तिक, २.३५०)।

६९. बौद्धविज्ञानवादः चिन्तन एवं योगदान, भूमिका, पृ० ६

७०. Buddhist Logic, Vol., 1, p. 529

७१. Critique of Indian Realism, pp. 60-61

७२. (i) A History of Indian Philosophy, Vol, 1, p.120

(ii) The Buddhist Philosophy of Universal flux, p.273

(iii) वाचस्पतिमिश्र द्वारा बौद्ध-दर्शन का विवेचन, पृ. ४०-४२

७३. (i) धर्मोत्तरप्रदीप, प्रस्तावना, पृ. ५८

(ii) वाचस्पति मिश्र द्वारा बौद्ध-दर्शन का विवेचन, पृ. ३७-३८

हम यहाँ पर दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, प्रज्ञाकरगुप्त, अर्चट, शान्तरक्षित, कमलशील, दुर्वेकमिश्र आदि समस्त बौद्ध नैयायिकों को किञ्चित् मान्यता भेद होते हुए भी दिङ्नाग-सम्प्रदाय में रखकर समस्त बौद्ध प्रमाणमीमांसा को दिङ्नाग की सम्प्रदाय का अंग समझेंगे।

### दिङ्नाग (४७० से ५३० ई०)

दिङ्नाग बौद्ध-न्याय अथवा बौद्ध प्रमाण-शास्त्र के पिता थे। तिब्बतियों ने उनको जम्बूद्वीप का अलंकार कहा है।<sup>७४</sup> सतीशचन्द्र विद्याभूषण आदि विद्वानों ने दिङ्नाग को न केवल बौद्ध न्याय का पिता कहा है, अपितु उन्हें मध्यकालीन भारतीय न्यायशास्त्र का जन्मदाता माना है।<sup>७५</sup> दिङ्नाग काञ्ची में पैदा हुए, किन्तु उनके समय के सम्बन्ध में अनेक विप्रतिपत्तियाँ रही। आचार्य राहुल सांकृत्यायन ने उन्हें ४२५ ई० तथा<sup>७६</sup> ई० फ्राउवालनर ने (द्रष्टव्य - landmarks) उन्हें ४८० से ५४० ई०, के मध्य सिद्ध किया है। मसाकी हत्तौड़ी कुछ संशोधन के साथ उनका काल ४७० से ५३० ई० सिद्ध करते हैं।<sup>७७</sup> ई० फ्राउवालनर द्वारा निर्धारित समय अधिक प्रचलन में रहा है, किन्तु जैन दार्शनिक मल्लवादी जिन्होंने अपनी कृति द्वादशारण्यचक्र में दिङ्नाग मन्तव्यों को शब्दशः उद्धृत किया है, की प्रशस्ति उन्हें इससे भी पूर्व ले जाती है। क्योंकि प्रशस्ति मल्लवादी को विक्रम सं० ४१४ (३५७ ई०) में निर्धारित करती है।

दिङ्नाग के पूर्व गौतम के न्यायसूत्र पर वात्स्यायन द्वारा भाष्य रच दिया गया था, किन्तु भाष्य का प्रतिद्वन्द्वी न्याय का कोई ग्रंथ नहीं था। दिङ्नाग ने उसे नई दिशा दी, तथा बौद्ध विज्ञानवादी दृष्टि से सौत्रान्तिक दृष्टि का भी समावेश करते हुए न्याय की नवीन प्रस्थापना की। यदि दिङ्नाग अपनी न्यायविषयक रचना न करते तो न्यायशास्त्र का जो विशाल साहित्य रचा गया है संभवतः वह न रचा जाता। दिङ्नाग ने न्यायशास्त्र के फैलाव में चिनगारी का काम किया। दिङ्नाग की न्यायविषयक अवधारणाओं, चिन्तनाओं एवं प्रस्थापनाओं को प्रत्युत्तरित करने के लिए न्यायदर्शन में उद्योतकर, मीमांसादर्शन में कुमारिलभट्ट एवं प्रभाकर गुरु, जैन दर्शन में मल्लवादी जैसे विशिष्ट आचार्यों ने विस्तृत, गहन एवं युक्तिपूर्ण रचनाओं को जन्म दिया। बस फिर क्या था, धीरे धीरे सभी दर्शनों में न्याय या प्रमाणशास्त्र के स्थापन की दृष्टि विकसित होती गई और पारस्परिक खण्डन-मण्डन तथा वाद के द्वारा प्रमाणशास्त्रीय ग्रंथों का निर्माण होता चला गया।

बौद्धाचार्य दिङ्नाग जाति से ब्राह्मण थे। उनके प्रथम गुरु वात्सीपुत्रीय नागदत्त थे एवं द्वितीय

७४. तिब्बती विद्वानों ने नागार्जुन, आर्यदेव, असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग एवं धर्मकीर्ति इन छह भारतीय दार्शनिकों को जम्बूद्वीप का अलंकार (Ornaments of Jambudvip) माना है।— Shastri D.N., Critique of Indian Realism. p.1.

७५. A History of Indian Logic, p. 270

७६. (१) दर्शन-दिग्दर्शन, पृ० ७४०

(२) बलदेव उपाध्याय ३४५-४२५ ई० का काल मानते हैं,।— बौद्धदर्शन मीमांसा, पृ० २०४

७७. Dignaga, On perception, Introduction, p. 2

गुरु विज्ञानवादी वसुबन्धु थे। उनका उदय भारतीय दर्शन के इतिहास में एक महानतम घटना थी। न्यायशास्त्र पर रचित उनकी प्रमुख रचनाएं हैं—(१) आलम्बन परीक्षा (२) त्रिकालपरीक्षा (३) हेतुचक्र समर्थन (हेतु चक्र-हमरू) (४) न्यायमुख (न्यायद्वार) (५) प्रमाणसमुच्चय (सवृत्ति) और (६) हेतुमुख<sup>७८</sup> इनमें से अभी तक प्रमाणसमुच्चय का प्रत्यक्ष परिच्छेद एवं आलम्बन परीक्षा ही संस्कृत भाषा में अनूदित हो पाए हैं। न्यायप्रवेश भी संस्कृत में उपलब्ध है, किन्तु इसे दिङ्नाग अथवा उनके शिष्य शंकरस्यामी की रचना समझा जाता है। इन तीनों रचनाओं का परिचय आगे प्रस्तुत है। अन्य रचनाएं चीनी या तिब्बती भाषा में सुरक्षित हैं।

**प्रमाण-समुच्चय**— दिङ्नाग की यह उत्कृष्ट एवं सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना है। इसमें न्यायशास्त्र अथवा प्रमाणविद्या का सम्यक् निरूपण है। मध्यकालीन-न्याय का विकास इसी पर केन्द्रित है। मीमांसा, न्याय, जैन आदि दर्शनों में जो न्यायविद्या का विकास हुआ है, वह दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय पर अवलम्बित है। दिङ्नाग का प्रमाणसमुच्चय नहीं होता तो संभव है न्याय एवं मीमांसा दर्शनों में उद्योतकर व कुमारिलभट्ट जैसे तार्किकों की रचनाओं का उदय नहीं होता, क्योंकि दिङ्नाग के प्रमाण-समुच्चय का खण्डन करने के लिए ही उद्योतकर एवं कुमारिल भट्ट ने क्रमशः न्यायवार्तिक एवं श्लोकावार्तिक का निर्माण किया। मल्लवादी के द्वादशारण्यचक्र एवं सिंहसूरि की न्यायागमानुसारिणी टीका में भी प्रमाणसमुच्चय का खण्डन हुआ। दिङ्नाग का प्रमाणसमुच्चय बौद्धेतर दार्शनिकों के लिए एक चुनौती था। इसमें न्याय, वैशेषिक, मीमांसा एवं सांख्य दर्शनों का खण्डन तो किया ही गया है, किन्तु अपने पूर्ववर्ती बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धु के प्रतिपादन का भी यथावसर खण्डन कर मौलिक प्रतिपादन किया गया है, इसलिए प्रमाणसमुच्चय भारतीय प्रमाणविद्या की एक अद्वितीय कृति कही जा सकती है।

प्रमाणसमुच्चय का संस्कृत मूल उपलब्ध नहीं है, किन्तु उसका तिब्बती अनुवाद बेंगूर कलेक्शन्स (Bstanhgyur Collections) में सुरक्षित है।<sup>७९</sup> इसके प्रत्यक्ष परिच्छेद को पुनः संस्कृत में लाने का प्रयास दो विद्वानों ने किया है। प्रथम प्रयास एच० आर० रंगास्वामी अयंगर ने किया। उन्होंने प्रमाणसमुच्चय (Pramānasamuccaya) नामक पुस्तक में प्रत्यक्ष परिच्छेद का संस्कृत अनुवाद प्रस्तुत किया जो मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर से सन् १९३० ई. में प्रकाशित हुआ। उन्होंने प्रमाणसमुच्चय के साथ दिङ्नाग की स्ववृत्ति को तो दिया ही है, किन्तु उससे सम्बन्धित स्थलों को न्यायवार्तिक, न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, तत्त्वार्थरात्रवार्तिक, सन्मतितर्कप्रकरणटीका, तत्त्वसंग्र-

७८. (i) इनके अतिरिक्त बौद्ध धर्म-दर्शन पर उनकी अन्य रचनाएं हैं-

(ii) अधिधर्मकोशमर्मप्रदीप (२) अष्टसहस्रिकाप्रज्ञापारमिता आदि

(iii) मसाकी हत्तौड़ी ने The Tohoka Catalogue of the Tibetan Bstanhgyur नामक तिब्बती केटलाग के आधार पर २२ ग्रन्थों की सूची दी है।—द्रष्टव्य, Dignāga, on perception, Introduction, p. 6

७९. Dignāga, On perception., Introduction, p.6

हपडिजका, श्लोकावार्तिक आदि ग्रंथों से तुलना हेतु उद्धृत भी किया है। यत्र तत्र जिनेन्द्रबुद्धि की विशालामल्लवती टीका भी दी है। द्वितीय प्रयास जापानी विद्वान् मसाकी हतौडी ने सन् १९६८ ई० में किया। उन्होंने दिग्नाग आन पर्सेप्शन (Dignāga, on perception) नामक अपनी पुस्तक में तिब्बती अनुवाद, संस्कृत रूपान्तर के साथ अंग्रेजी अनुवाद तथा आलोचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत की है जिसका प्रकाशन, १९६८ ई० में हार्वर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, केम्ब्रिज, मसाचुसेट्स से हुआ है। इनसे पूर्व राण्डले ने न्यायवार्तिक एवं उसकी टीका से दिग्नाग के ग्रंथों के कुछ अंश फ्रेगमेण्ट्स फ्रॉम दिग्नाग (Fragments from Dignāga) में संकलित किये थे जिनका प्रकाशन १९२६ ई० में रायल एशियाटिक सोसायटी, लन्दन से हुआ था। मुनि जम्बूविजय जी द्वारा संपादित एवं गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज में प्रकाशित चन्द्रानन्दवृत्ति युक्त वैशेषिकसूत्र में प्रमाणसमुच्चय के प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान, परार्थानुमान एवं दृष्टान्त परिच्छेदों का वैशेषिक मत की परीक्षा से सम्बद्ध तिब्बती अनुवाद प्रकाशित हुआ है। इसके अतिरिक्त प्रमाणसमुच्चय, उसकी वृत्ति एवं विशालामल्लवती टीका के वैशेषिकमत से संबद्ध अंशों को संस्कृत में भी दिया गया है, जो दिग्नाग के अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण हैं। जम्बूविजयजी द्वारा ही संपादित जैन ग्रंथ द्वादशारनयचक्र में भी प्रमाणसमुच्चय के प्रथम चार परिच्छेदों का कुछ अंश संस्कृत एवं तिब्बती भाषा में प्रकाशित हुआ है, जो दिग्नाग के अध्ययन हेतु उपादेय है। इसके प्रथम भाग का प्रकाशन आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर गुजरात द्वारा सन् १९६६ ई० में किया गया था। उसके अनन्तर वहां से ही इसके दो अन्य भाग और प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रमाणसमुच्चय में कुल छह परिच्छेद हैं। (१) प्रत्यक्ष (२) स्वार्थानुमान, (३) परार्थानुमान, (४) दृष्टान्त (५) अपोह एवं (६) जाति। प्रमाणसमुच्चय की सम्पूर्ण विषय वस्तु का अनुमान इसके परिच्छेदविभाजन से ही हो जाता है कि इसमें प्रमाणमीमांसा का सर्वांग विवेचन हुआ है। उपलब्ध प्रत्यक्ष-परिच्छेद में कल्पनापोढ ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहा गया है तथा वसुबन्धु, सांख्य एवं न्यायदर्शन में प्रतिपादित प्रत्यक्ष-लक्षणों का खण्डन किया गया है।

दिग्नाग दो ही प्रमाण स्वीकार करते हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। क्योंकि उनके अनुसार दो ही प्रमेय हैं—स्वलक्षण और सामान्य लक्षण।<sup>८०</sup> प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय स्वलक्षण है एवं अनुमान प्रमाण का विषय सामान्यलक्षण। द्वादशारनयचक्र में प्राप्त स्वार्थानुमानपरिच्छेद एवं परार्थानुमान परिच्छेदों के अनुसार दिग्नाग त्रिरूपलिङ्ग से अनुमेय अर्थ का ज्ञान होने को स्वार्थानुमान एवं स्वदृष्ट अर्थ के प्रकाशन को परार्थानुमान कहते हैं।<sup>८१</sup> अपोह द्वारा शब्द से विवक्षा का ज्ञान मानना दिग्नाग

८०. अत्र प्रमाणं द्विविधमेव । कुतश्चेत् । द्विलक्षणं प्रमेयं । स्वसामान्यलक्षणाभ्यां भिन्नलक्षणं प्रमेयान्तरं नास्ति ।  
—प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, पृ. ४

८१. (i) तत्र स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गतोऽर्थदक् ।—द्वादशारनयचक्र (ज.), भोटपरिशिष्ट, पृ. १२२

(ii) परार्थमनुमानं तु स्वदृष्टार्थप्रकाशनम् ।—द्वादशारनयचक्र (ज.), भोटपरिशिष्ट, पृ. १२५



की मौलिक देन है।

**प्रमाणसमुच्चय** पर अनेक टीकाएँ लिखी गयीं। स्वयं **दिङ्नाग** ने उस पर वृत्ति की रचना की थी, किन्तु वह भी **प्रमाणसमुच्चय** के समान तिब्बती अनुवाद में सुरक्षित है। बुदोन के अनुसार ईश्वरसेन ने भी **प्रमाणसमुच्चय** पर व्याख्या लिखी थी, किन्तु वह सम्प्रति अनुपलब्ध है।<sup>८२</sup> प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक **धर्मकीर्ति** ने **प्रमाणसमुच्चय** पर 'प्रमाणवार्तिक' नामक वार्तिक ग्रंथ की रचना की थी जो सम्प्रति संस्कृत में उपलब्ध है एवं बौद्ध प्रमाण-शास्त्र का प्रतिनिधि ग्रंथ है। **जिनेन्द्रबुद्धि** ने **प्रमाणसमुच्चय** पर **विशालाम्बलवती** नामक टीका की रचना की थी जो तिब्बती अनुवाद में ही सुरक्षित है। उसके कुछ अंश **जम्बूविजय** जी द्वारा संपादित **वैशेषिकसूत्र** में अवश्य मिलते हैं। **मसाकी हत्तौडी** एवं **अयंगर** की रचनाओं में भी इसके कुछ अंश उल्लिखित हैं। **मसाकी हत्तौडी** का कथन है कि **जिनेन्द्रबुद्धि** रचित **प्रमाणसमुच्चयटीका** पर **धर्मकीर्ति** के **प्रमाणवार्तिक** का प्रभाव है।<sup>८३</sup>

**आलम्बनपरीक्षा**—**दिङ्नाग** की यह रचना विशुद्ध रूप से प्रमाणशास्त्रीय नहीं है, क्योंकि इसमें आलम्बन प्रत्यय की चर्चा ही प्रमुख प्रतिपाद्य है। **दिङ्नाग** ने तार्किक आधार पर इसमें विज्ञानवाद को प्रतिष्ठित किया है तथा बाह्यार्थवाद का निरसन किया है। **आलम्बनपरीक्षा** लघुकाय रचना है, जिसका प्रकाशन संस्कृत रूपान्तर के साथ अडयार पुस्तकालय, मद्रास से सन् १९४६ ई० में हुआ है। **ऐयास्वामी शास्त्री** ने इसमें **दिङ्नाग** की स्ववृत्ति, **परमार्थ** एवं **ह्वेनसांग** के चीनी अनुवाद, **धर्मपाल** की संस्कृत टीका एवं उसका अंग्रेजी अनुवाद भी दिया है।

**न्यायप्रवेश**—बौद्ध न्याय की एक प्राचीन एवं संक्षिप्त रचना **न्यायप्रवेश** है। **न्यायप्रवेश** के रचयिता **दिङ्नाग** थे या उनके शिष्य **शंकरस्वामी**, यह अभी तक निश्चित नहीं हो सका है। तिब्बती शाखा के विद्वान् इसे **दिङ्नाग** की रचना सिद्ध करते हैं, तथा चीनी शाखा के विद्वान् इसे **शंकर स्वामी** की कृति के रूप में अंगीकार करते हैं। प्रथम मान्यता के समर्थक **सतीशचन्द्र विद्याभूषण**, पं० **विद्युशेखर भट्टाचार्य**, एवं **कीथ** आदि विपरिचित हैं, तथा द्वितीय मान्यता के समर्थक **ऊई**, **सुगिउर**, **टुची**, **टुबियंस्की**, **मिरनोव** आदि बुधजन हैं।<sup>८४</sup>

**दिङ्नाग** के **न्यायद्वार** या **न्यायमुख** से **न्यायप्रवेश** एक भिन्न रचना है। **टुबियंस्की** एवं **कीथ** आदि विद्वान् इसको सप्रमाण सिद्ध करते हैं। **कीथ** ने यह भी सिद्ध किया है कि **न्यायप्रवेश** का निर्माण **न्यायद्वार** के पश्चात् हुआ है, क्योंकि **न्यायप्रवेश** की शैली **न्यायद्वार** से विशद है तथा उसमें **न्यायद्वार** में गृहीत चौदह दूषणाभासों को ब्राह्मण परम्परा का समझकर छोड़ दिया गया है।<sup>८५</sup>

**न्यायप्रवेश** में साधन, पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, पक्षाभास, हेत्वाभास आदि की संक्षिप्त एवं विशद चर्चा

८२. Dignāga, on perception, Introduction, p. 14

८३. Dignāga, on perception, Introduction, p.14

८४. The Nyāya Pravesh, Part I, Introduction, p. 6

८५. The Nyāya Pravesh, Part I, Introduction, p. 10

है। इसमें प्रत्यक्ष एवं अनुमान दो प्रमाण निर्दिष्ट हैं। न्यायप्रवेश पर जैनाचार्य हरिभद्रसूरि की टीका न्यायप्रवेशवृत्ति तथा पार्श्वदेवगणि की उस पर पञ्जिका है। यही एक ऐसी बौद्धन्याय कृति है जिस पर किसी जैनाचार्य की वृत्ति अथवा टीका विद्यमान है। जैनाचार्य हरिभद्र एवं पार्श्वदेवगणि ने अपनी वृत्ति व पञ्जिका में बौद्ध प्रमाण-सरणि को सुरक्षित रखा है।

### धर्मकीर्ति (६२०-६९० ई.)

दिङ्नाग के पश्चात् बौद्ध न्याय में सर्वाधिक कीर्ति धर्मकीर्ति को मिली है। धर्मकीर्ति भी दिङ्नाग की भांति दक्षिण भारत के ब्राह्मण परिवार में पैदा हुए। नालन्दा में वसुबन्धु के वृद्ध शिष्य धर्मपाल से सर्वप्रथम दीक्षा ली तथा फिर दिङ्नाग के शिष्य ईश्वरसेन से इन्होंने दिङ्नाग-न्याय को समझा। दिङ्नाग-न्याय को समझने में ये अपने गुरु से भी आगे निकल गये तथा दिङ्नाग प्रणीत प्रमाणसमुच्चय पर वार्तिक की रचना की जो प्रमाणवार्तिक के नाम से ख्यातिप्राप्त है।

धर्मकीर्ति के समय के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भारत भ्रमण (६२९ ई० से ६४५ ई०) में जिन बौद्ध विद्वानों एवं तार्किकों का उल्लेख किया है उनमें धर्मकीर्ति का नाम नहीं है।<sup>६६</sup> धर्मकीर्ति का नामोल्लेख न करने के सम्बन्ध में साधारणतः यह कहा जाता है कि उस समय धर्मकीर्ति प्रारम्भिक विद्यार्थी होंगे। एतदर्थ सतीशचन्द्र विद्याभूषण आदि विद्वान् धर्मकीर्ति का समय ६३५-६५० ई० तक मानते हैं।<sup>६७</sup> राहुल सांकृत्यायन ६०० ई० मानते हैं।<sup>६८</sup> महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य इनका समय ६२० ई० से ६९० ई० निर्धारित करते हैं।<sup>६९</sup> इत्सिंग ने भारतयात्रा (६७१ ई० से ६९५ ई०) के विवरण में धर्मकीर्ति का भी नाम दिया है।<sup>७०</sup> इससे प्रतीत होता है कि धर्मकीर्ति निश्चित रूप से ६०० ई० से ७०० ई० के मध्य रहे थे। इस प्रकार महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य द्वारा निर्णीत समय (६२०-६९० ई०) उपयुक्त प्रतीत होता है।

धर्मकीर्ति अपने न्यायग्रंथों में उद्योतकर, भर्तृहरि एवं कुमारिल का खण्डन करते हैं। तिब्बती परम्परा में कुमारिल एवं धर्मकीर्ति को समसामयिक कहा जाता है, किन्तु कुमारिल दिङ्नाग का खण्डन करते हैं और धर्मकीर्ति कुमारिल का। अतः कुमारिल की रचना श्लोकवार्तिक के पश्चात् ही धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक की रचना की होगी। उद्योतकर का न्यायवार्तिक भी धर्मकीर्ति की कृति से पूर्व रच दिया गया था। धर्मकीर्ति का समय दिङ्नाग के प्रशिष्य होने के कारण उनसे ४०-५० वर्ष बाद माना जा सकता है। महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य ने भर्तृहरि का समय ६००-६५० ई०, कुमारिल का समय ६००-६८० ई० तथा धर्मकीर्ति का समय ६२०-६९० ई० स्वीकार किया है।<sup>७१</sup>

६६. ह्वेनसांग ने नालन्दा के प्रसिद्ध विद्वानों की नामावली में निम्न नाम गिनाए हैं— धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रधामित्र, जिनमित्र, ज्ञानमित्र, शीघ्रबुद्ध और शीलपद्र।— अकलङ्कग्रन्थत्रय, प्रस्तावना, पृ० २१

६७. A History of Indian Logic, p. 10

६८. दर्शन-दिग्दर्शन, पृ० ७४४

६९. अकलङ्कग्रन्थत्रय, प्रस्तावना, पृ० २१-२३

७०. अकलङ्कग्रन्थत्रय, प्रस्तावना, पृ० २२

७१. अकलङ्कग्रन्थत्रय, प्रस्तावना, पृ० २१

आचार्य धर्मकीर्ति के सात ग्रंथ हैं—(१) प्रमाणवार्तिक (२) प्रमाणविनिश्चय (३) न्यायबिन्दु (४) हेतुबिन्दु (५) वादन्याय (६) सम्बन्ध परीक्षा, और (७) सन्तानान्तरसिद्धि। श्वेतरात्रिका के अनुसार इनमें प्रमाणवार्तिक सर्वप्रमुख है तथा शेष छह गौण या इसके ही छह पाद हैं।<sup>१२</sup> एक अन्य व्याख्या के अनुसार प्रथम तीन ग्रंथ शरीर हैं और शेष चार उसके पाद।<sup>१३</sup> ऐसा कहा जाता है कि ये सातों ग्रंथ दिङ्नाग के प्रमाण समुच्चय की व्याख्या में लिखे गये हैं। राहुलसांकृत्यायन प्रमाणवार्तिक में ही प्रमाणसमुच्चय की व्याख्या का सम्पूर्ण समावेश स्वीकार कर लेते हैं।<sup>१४</sup> उनके अनुसार प्रमाणसमुच्चय के मंगलाचरण,<sup>१५</sup> प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान परिच्छेदों की व्याख्या में प्रमाणवार्तिक में क्रमशः प्रमाणसिद्धि, प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान परिच्छेद लिखे गये हैं तथा प्रमाणसमुच्चय के अवशिष्ट परिच्छेदों दृष्टान्त, अपोह एवं जाति के विषय में पृथक् परिच्छेद नहीं लिखकर धर्मकीर्ति ने यथाप्रसंग इनकी व्याख्या का चार परिच्छेदों में अन्तर्भाव कर दिया है। धर्मकीर्ति प्रणीत ग्रंथों में प्रमाणविनिश्चय को छोड़कर समस्त ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं।

**१. प्रमाणवार्तिक**—उपलब्ध बौद्ध-न्याय ग्रंथों में धर्मकीर्ति रचित प्रमाणवार्तिक अप्रतिम है। प्रमाणवार्तिक ने बौद्ध न्याय में महती ख्याति अर्जित की है। यह मूलतः दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय पर निर्मित वार्तिक है, किन्तु कालान्तर में टीकाकारों की लेखनी का विषय प्रमाणवार्तिक बन गया। बौद्धेतर दार्शनिकों के द्वारा भी यह ग्रंथ प्रमाण-चिन्तन का लक्ष्य बनाया गया। वाचस्पतिमिश्र, जयन्तभट्ट, अकलङ्क, विद्यानन्द, व्योमशिव आदि दार्शनिकों ने प्रमाणवार्तिक से उद्धरण देकर उनका खण्डन किया है।

धर्मकीर्ति रचित प्रमाणवार्तिक उद्योतकर के न्यायवार्तिक एवं कुमारिल भट्ट के श्लोकवार्तिक पर सीधा प्रहार कर बौद्ध न्याय-पताका को ऊंची उठाता है, फलस्वरूप बौद्धेतर दार्शनिकों के लिए यह आलोच्य एवं निरास्य बना रहा है।

प्रमाणवार्तिक में चार परिच्छेद हैं—१. प्रमाणसिद्धि २. प्रत्यक्ष परिच्छेद ३. स्वार्थानुमान परिच्छेद एवं ४. परार्थानुमान परिच्छेद। इन चार परिच्छेदों में स्वार्थानुमान परिच्छेद पर स्वयं धर्मकीर्ति की वृत्ति है, अतः कुछ विद्वान् इन चार परिच्छेदों में स्वार्थानुमान को प्रथम मानते हैं। वे इसका क्रम इस प्रकार रखते हैं—१. स्वार्थानुमान २. प्रमाणसिद्धि ३. प्रत्यक्ष एवं ४. परार्थानुमान। पं० दलसुख मालवणिया का मन्तव्य है कि चारों परिच्छेदों का प्राकृतिक क्रम “प्रमाणसिद्धि” से प्रारम्भ हुआ होगा, किन्तु प्रमाणवार्तिक पर वृत्ति लिखते समय अनुमान को अधिक महत्त्व प्रदान करने हेतु स्वयं धर्मकीर्ति

१२. Buddhist Logic, Vol. I., p. 37

१३. Buxton, History of Buddhism, pp. 44-45.

१४. दर्शन-दिग्दर्शन, पृ० ७४८

१५. प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने ।

प्रमाणसिद्धयै स्वमतात् समुच्चयः करिष्यते विप्रसृतादिहेककः ॥—प्रमाणसमुच्चय, १

ने इसका क्रम बदल दिया होगा।<sup>९६</sup> हम “प्रमाणसिद्धि” से ही इसके परिच्छेदों का प्रारम्भ स्वीकार करते हैं।

“प्रमाणसिद्धि” परिच्छेद प्रमाणसमुच्चय के मंगलाचरणश्लोक की व्याख्या में ही समाप्त हो जाता है। द्वितीय परिच्छेद में प्रत्यक्षप्रमाण तथा तृतीय एवं चतुर्थ परिच्छेद में अनुमान-प्रमाण की चर्चा है। धर्मकीर्ति परिच्छेद-विभाजन के साथ कठोरता पूर्वक नहीं चले हैं। वे प्रत्यक्ष-परिच्छेद में ही सामान्य, अनुमान, अनुपलब्धि, अन्यापोह आदि की भी यथाप्रसंग चर्चा कर लेते हैं। इसी प्रकार स्वार्थानुमान परिच्छेद में आगम, पौरुषेयत्व आदि की चर्चा हुई है।

प्रमाणवार्तिक के टीकाकारों या भाष्यकारों में देवेन्द्रबुद्धि, शाक्यबुद्धि, प्रज्ञाकरगुप्त, यमारि, रविगुप्त, मनोरथनन्दी, कर्णकगोमी आदि प्रमुख हैं। इनमें अधिकांश व्याख्याकारों ने स्वार्थानुमान परिच्छेद को जोड़कर तीन परिच्छेदों की व्याख्या की है। शङ्करानन्द, शाक्यबुद्धि एवं कर्णकगोमी ऐसे दार्शनिक हुए हैं जिन्होंने मात्र स्वार्थानुमान परिच्छेद की व्याख्या की है। आचार्य मनोरथनन्दी ने सम्पूर्ण चारों परिच्छेदों पर वृत्ति लिखी है। प्रमाणवार्तिक का अध्ययन भारत में इसी वृत्ति के आधार पर अधिक प्रचलित है। यह संस्कृत में भी उपलब्ध है। अन्य व्याख्याएं या भाष्य जो संस्कृत में उपलब्ध हैं, वे हैं—प्रज्ञाकरगुप्त का प्रमाणवार्तिकभाष्य, धर्मकीर्ति की स्वार्थानुमान परिच्छेद पर स्ववृत्ति एवं कर्णकगोमी की उसी परिच्छेद पर स्ववृत्ति-टीका। कर्णकगोमी की स्ववृत्ति टीका का प्रकाशन किताबमहल, प्रयाग से १९४३ ई० में हुआ। स्वार्थानुमान परिच्छेद पर धर्मकीर्ति की स्ववृत्ति का प्रकाशन हिन्दू विश्वविद्यालय नेपाल राज्य संस्कृत ग्रंथमाला के भाग २ के अन्तर्गत पं० दलसुख मास्तराज के संपादकत्व में १९५९ ई० में हुआ। अन्य व्याख्याएं तिब्बती भाषा में सुरक्षित हैं।

२. न्यायबिन्दु—धर्मकीर्ति की यह रचना संक्षेपरुचि प्राज्ञ जिज्ञासुओं के लिए ग्रथित हुई है।<sup>९७</sup> बौद्धन्याय के अनुसार प्रमाण-स्वरूप, प्रमाण-विषय, त्रिविध हेतु एवं हेत्वाभास आदि का जितना संक्षिप्त, सारगर्भित एवं स्पष्ट विवेचन इस ग्रंथ में उपलब्ध होता है, उतना अन्यत्र नहीं। सम्पूर्ण न्यायबिन्दु सूत्रों में ग्रथित है, जिनकी कुल संख्या २०९ है। यह तीन परिच्छेदों में विभक्त है—

(१) प्रत्यक्ष परिच्छेद (२) स्वार्थानुमान परिच्छेद और (३) परार्थानुमान परिच्छेद। इसकी विषयवस्तु का स्थूल परिचय परिच्छेद के नामों से हो जाता है।

न्यायबिन्दु के रचयिता धर्मकीर्ति विज्ञानवाद के आचार्य माने जाते हैं, किन्तु न्यायबिन्दु का अध्ययन करने पर यह शुद्ध रूप में विज्ञानवाद की रचना प्रतीत नहीं होती। इस पर सौत्रान्तिक मत का अधिक प्रभाव है, क्योंकि इसमें स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण का प्रतिपादन स्पष्टतया बाह्यार्थ के रूप में किया गया प्रतीत होता है।<sup>९८</sup>

९६. प्रमाणवार्तिक (स्ववृत्ति), प्रस्तावना, पृ० ९

९७. संक्षिप्तरुचीन् प्राज्ञान् अधिकृत्येदं प्रकरणं प्रणीतम्।— धर्मोत्तरप्रदीप, पृ० ३५.११

९८. यथा (i) यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदस्तत् स्वलक्षणम्।—न्यायबिन्दु, १.१३

(ii) अन्यत् सामान्यलक्षणम्।—न्यायबिन्दु, १.१६

न्यायबिन्दु पर अनेक टीकाएं लिखी गयी हैं, उनमें प्रमुख हैं—विनीतदेव की टीका, शान्तभद्र की टीका, धर्मोत्तरकृतटीका आदि। विनीतदेव की टीका तिब्बती अनुवाद में उपलब्ध है तथा इसका बिब्लिओथिका इण्डिका में कलकत्ता से सन् १९१३ में प्रकाशन भी हुआ है। शान्तभद्र की टीका तिब्बती एवं संस्कृत दोनों में अनुपलब्ध है, किन्तु शान्तभद्र के मतों का खण्डन धर्मोत्तर, अकलङ्क आदि आचार्यों के ग्रंथों में मिलता है। दुर्वेक मिश्र ने भी शान्तभद्र का उल्लेख किया है। धर्मोत्तरकृत टीका सर्वाधिक प्रसिद्ध हुई है। इसे ही न्यायबिन्दुटीका के नाम से जाना जाता है तथा यह अभी संस्कृत में उपलब्ध है। इस पर विशेष विचार आगे धर्मोत्तर के प्रसंग में किया जायेगा। इन तीन टीकाओं के अतिरिक्त कमलशील द्वारा न्यायबिन्दु-पूर्वपक्ष-संक्षेप एवं जिनमित्र द्वारा न्यायबिन्दुपिण्डार्थ की भी रचना की गयी है, किन्तु इनके तिब्बती अनुवाद मिलते हैं, संस्कृत मूल एवं अनुवाद उपलब्ध नहीं है।

३. प्रमाणविनिश्चय — धर्मकीर्ति की यह कृति मध्यमबुद्धि जिज्ञासुओं के लिए बनी है। इसमें प्रमाणवार्तिक में प्रतिपादित विषयों को ही संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। इसके आधे से अधिक श्लोक प्रमाणवार्तिक से ही गृहीत हैं। यह मूल संस्कृत में अनुपलब्ध है, इसका तिब्बती अनुवाद उपलब्ध है। इसके तीन परिच्छेद हैं—प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। इसकी धर्मोत्तररचित टीका तथा ज्ञानश्रीभद्र कृत टीका भी तिब्बती भाषा में उपलब्ध है। ध्वन्यालोक के कर्ता आनन्दवर्धन की भी इस पर धर्मोत्तमा टीका होने का उल्लेख मिलता है।<sup>१९</sup>

४. हेतुबिन्दु— यह हेतु के लक्षण, स्वरूप एवं उसके प्रकारों से सम्बद्ध है। न्यायबिन्दु के समान यह भी सूत्रों में निबद्ध है। स्वभाव, कार्य एवं अनुपलब्धि हेतुओं का इसमें विशद निरूपण है। हेतुबिन्दु पर अर्चट की टीका है तथा उस पर दुर्वेकमिश्र का आलोक है, जिन्हें क्रमशः हेतुबिन्दुटीका एवं हेतुबिन्दुटीकालोक (अर्चटालोक) कहा जाता है। हेतुबिन्दुटीका का दुर्वेकमिश्र के आलोक के साथ ओरियण्टल इंस्टीट्यूट बड़ौदा से १९४९ ई० में पं० सुखलालसंघवी तथा मुनि श्री जिनविजय के संयुक्त संपादन में प्रकाशन हुआ है।

५. सम्बन्धपरीक्षा — धर्मकीर्ति की यह कृति मूलरूप में अनुपलब्ध है, किन्तु जैनाचार्य प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा वादिदेवसूरि ने स्याद्वादरत्नाकर में इसकी कारिकाएँ उद्धृत की हैं।<sup>१००</sup> प्रमेयकमलमार्तण्ड में २२ कारिकाएँ उद्धृत हैं, जिन पर स्वयं प्रभाचन्द्र ने व्याख्या लिखी है। इनका पृथक् प्रकाशन बौद्धभारती, वाराणसी से प्रभाचन्द्र की व्याख्या सहित १९७२ ई० में हुआ है। इससे पूर्व श्री राहुल सांकृत्यायन ने १९५३ ई० में प्रमाणवार्तिकभाष्य की प्रस्तावना में २२ कारिकाओं को उद्धृत किया है। सम्बन्धपरीक्षा में संयोग, समवाय आदि सम्बन्धों की परीक्षा की गई है।

६. वादन्याय — यह पूर्णतः वाद-विद्या से सम्बन्धित रचना है। इसमें धर्मकीर्ति ने निग्रहस्थान का लक्षण किया है तथा न्यायदर्शन सम्मत समस्त निग्रहस्थानों का खण्डन किया है। असाधनांग वचन

१९. Buddhist Logic, Vol. 2, p. 41.

१००. द्रष्टव्य, प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ५०३-५११ एवं स्याद्वादरत्नाकर, पृ० ८१२।

एवं अदोषोद्भावन नामक निग्रहस्थानों की स्थापना भी की है। असाधनांगवचन से वादी का तथा अदोषोद्भावन से प्रतिवादी का निग्रह निरूपित किया गया है। **वादन्याय** पर प्रसिद्ध बौद्धाचार्य **शान्तरक्षित** ने **विपञ्चितार्थ** नामक व्याख्या लिखी है। मूल **वादन्याय** का प्रकाशन महाबोधि सोसायटी, बनारस से सन् १९३३ में हुआ था, किन्तु **शान्तरक्षित** की व्याख्या सहित बौद्ध भारती, वाराणसी से सन् १९७२ में प्रकाशन हो गया है। **आर. सी. पाण्डे** के संपादन में भी इसका हाल ही प्रकाशन हुआ है।

**७. सन्तानान्तरसिद्धि** — यह विज्ञानवाद में अपने से भिन्न विज्ञान सन्तानों की सिद्धि से सम्बद्ध प्रकरण ग्रंथ है। यह मूल संस्कृत में उपलब्ध नहीं हो सका है। **विनीतदेव** की टीका के साथ तिब्बती भाषा में उपलब्ध है। इसका अंग्रेजी अनुवाद **श्चेरबात्की** द्वारा किया गया है।

**धर्मकीर्ति** के समस्त टीकाकारों को **श्चेरबात्की** ने तीन वर्गों में विभक्त किया है। प्रथमवर्ग शब्दार्थपरक व्याख्या करने वाले टीकाकारों का है, जिनमें **देवेन्द्रबुद्धि**, **शाक्यबुद्धि**, **विनीतदेव**, **शान्तभद्र**, एवं **मनोरथनन्दी** प्रमुख हैं। द्वितीय वर्ग तत्त्वज्ञान एवं दार्शनिक हार्द को स्पष्ट करने वाले टीकाकारों का है, जिनमें **धर्मोत्तर** प्रमुख है। ये सब काश्मीरी थे। अतः **श्चेरबात्की** इस वर्ग को काश्मीरी वर्ग भी कहते हैं। इस वर्ग के अन्य दार्शनिक थे **आनन्दवर्द्धन**, **ज्ञानश्री**, **शंकरानन्द** आदि। तृतीय वर्ग धार्मिक टीकाकारों का था जिनमें **प्रज्ञाकरगुप्त** सर्वप्रथम है। यह वर्ग **जिन**, **रविगुप्त** एवं **यमारि** के दृष्टिभेद से पुनः तीन उपसम्प्रदायों में विभक्त किया गया है।<sup>१०१</sup> यहां पर **धर्मकीर्ति** के प्रमुख टीकाकारों में **धर्मोत्तर**, **प्रज्ञाकरगुप्त** एवं **अर्चट** की टीकाओं पर विचार किया जायेगा।

### **धर्मोत्तर (७०० ई०)**

**धर्मकीर्ति** के प्रमाणग्रंथों के दार्शनिक पक्ष को सर्वप्रथम व्यवस्थित एवं तार्किक शैली में **धर्मोत्तर** ने प्रस्तुत किया। **धर्मकीर्ति** अपने जीवन काल में उनके ग्रंथों का जैसा योग्य टीकाकार देखना चाहते थे, वैसा टीकाकार उनके मरणोपरान्त **धर्मोत्तर** के रूप में पैदा हुआ। **श्चेरबात्की** **धर्मोत्तर** को मूलतः काश्मीरी ब्राह्मण बतलाते हैं। **धर्मोत्तर** को तिब्बतियों द्वारा अत्यधिक आदर एवं सम्मान दिया गया है। वे **धर्मकीर्ति** के ग्रंथों का दार्शनिक विश्लेषण ही नहीं करते, अपितु नया चिन्तन एवं दृष्टिकोण भी देते हैं।

**धर्मोत्तर** ने **धर्मकीर्ति** के प्रधान ग्रंथ **प्रमाणवार्तिक** की टीका नहीं की। उन्होंने केवल **प्रमाणविनिश्चय** एवं **न्यायबिन्दु** ग्रंथों की विस्तृत टीका की है। **प्रमाणविनिश्चय** की टीका का मूल रूप संस्कृत में अनुपलब्ध है, तिब्बती अनुवाद में सुरक्षित है। **न्यायबिन्दुटीका** से भी यह विशाल है। संभव है उसके समान महत्त्वपूर्ण भी होगी। **धर्मोत्तर** के अन्य चार ग्रंथों का भी उल्लेख मिलता है, वे हैं— **प्रामाण्यपरीक्षा**, **अपोहप्रकरण**, **परलोकसिद्धि** एवं **क्षणभंगसिद्धि**।

धर्मोत्तर का समय श्चेरबात्स्की ने ८०० ई० के आस-पास निर्धारित किया है।<sup>१०२</sup> राहुल सांकृत्यायन ने ७२५ ई० माना है, किन्तु पं० दलसुख मालवणिया ने उन्हें ७०० ई० से भी कुछ पूर्व का स्वीकार किया है।<sup>१०३</sup>

**न्यायबिन्दुटीका** — धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु पर धर्मोत्तर की यह टीका विस्तृत, विशद एवं महत्त्वपूर्ण है। न्यायबिन्दु की टीकाओं में इसका सर्वोत्तम स्थान है और इसका प्रमाण इस टीका पर लिखी गयी उपटीकाएं हैं। इससे पूर्व जो टीकाएं की गयीं वे शब्दार्थपरक थीं, किन्तु धर्मोत्तर की इस टीका से तात्त्विक अभिप्राय को स्पष्ट करने का कार्य प्रारम्भ हुआ। इस टीका का आकार १४७७ श्लोक परिमाण आंका गया है।

न्यायबिन्दुटीका की उपटीकाओं या टिप्पणों का क्रम इस प्रकार है—(१) मल्लवादी कृत धर्मोत्तर टिप्पण (२) तात्पर्यनिबन्धनटिप्पण (३) न्यायबिन्दुटीकाटिप्पणी (४) धर्मोत्तरप्रदीप।

मल्लवादी कृत धर्मोत्तरटिप्पण की प्रतियां जैसलमेर एवं पाटन के भण्डारों में विद्यमान हैं। मल्लवादी नाम से टिप्पणकार जैन प्रतीत होते हैं, किन्तु ये द्वादशशरानयचक्र के कर्ता मल्लवादी क्षमाश्रमण से भिन्न हैं। इनका समय पं० दलसुख मालवणिया ने ७००-७५० ई० के मध्य स्वीकार किया है। तात्पर्यनिबन्धनटिप्पण की एक टाडपत्र प्रति मुनि पुण्यकिञ्चय जी को प्राप्त हुई थी, किन्तु इस पर लेखक की प्रशस्ति एवं नाम नहीं है। न्यायबिन्दुटीकाटिप्पणी का संपादन बिब्लिओथिका बुद्धिका नं० ११ में श्चेरबात्स्की ने किया है, जो सेन्टपीटर्सबर्ग से १९०९ ई० में प्रकाशित हुई है, किन्तु वह अपूर्ण है। इसके भी लेखक का नाम अज्ञात है। न्यायबिन्दुटीका पर अनुटीका धर्मोत्तरप्रदीप सर्वाधिक प्रसिद्ध है, अतः उसकी चर्चा दुर्वेकमिश्र के प्रसंग में आगे अलग से की गयी है।

### अर्चट (सातवीं आठवीं शती)

धर्मकीर्ति के टीकाकारों में अर्चट का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अर्चट का दूसरा नाम धर्माकरदत्त है जो उन्हें भिक्षु के रूप में प्रस्तुत करता है। अर्चट काश्मीरी थे ऐसा लामा तारानाथ के कथन से ज्ञात होता है।<sup>१०४</sup> पं० सुखलाल संघवी ने अर्चट को धर्मकीर्ति के पश्चात् तथा धर्मोत्तर, प्रज्ञाकर गुप्त, आदि के पूर्व का मानकर उन्हें सातवीं सदी के उत्तरार्द्ध एवं आठवीं सदी के पूर्वार्द्ध में निर्धारित किया है।<sup>१०५</sup>

दुर्वेक मिश्र के हेतुबिन्दुटीकालोक एवं स्वयं अर्चट की टीका से विदित होता है कि अर्चट की तीन कृतियां थीं — क्षणभंगसिद्धि, प्रमाणद्वित्वसिद्धि एवं हेतुबिन्दुटीका, किन्तु दुर्भाग्य से इनमें हेतुबिन्दुटीका ही वर्तमान में उपलब्ध है, जो सन् १९४९ ई० में ओरियण्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा से पं०

१०२. Buddhist Logic, Vol I, p. 41

१०३. धर्मोत्तरप्रदीप, प्रस्तावना, पृ० ५३

१०४. A History of Indian Logic, pp. 329-32

१०५. हेतुबिन्दुटीका, प्रस्तावना, पृ० १२

सुखलाल संघवी एवं मुनि जिनकिजय के संपादन में प्रकाशित हुई है।

**हेतुबिन्दुटीका**— धर्मकीर्ति की रचना हेतुबिन्दु पर अर्चट की यह टीका बौद्ध प्रमाणशास्त्र के लिए वरदान है। यह मूलग्रंथ के प्रत्येक शब्द का स्फुट रूपेण विश्लेषण करती है। इस टीका से ही पं० सुखलाल संघवी ने धर्मकीर्ति का हेतुबिन्दु तैयार किया है। जो हेतुबिन्दुटीका के परिशिष्ट में उपलब्ध है।

हेतुबिन्दुटीका में स्वभाव, कार्य एवं अनुपलब्धि रूप त्रिविध हेतुओं का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। यथाप्रसंग क्षणिकवाद में अर्थक्रियासिद्धि आदि का वर्णन किया गया है। पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति रूप त्रिरूपत्व हेतु का विधान करने के साथ असिद्ध, विरुद्ध व अनैकान्तिक हेत्वाभासों को समझाया गया है। अर्चट ने हेतुबिन्दुटीका में जैनदर्शन के सिद्धान्त स्याद्वाद का ४५ पद्यों में खण्डन प्रस्तुत किया है।<sup>१०६</sup> द्रव्य एवं पर्याय में कथञ्चित् अव्यतिरेकितता का प्रतिपादन करने वाले समन्तभद्र के श्लोक<sup>१०७</sup> का भी अर्चट द्वारा खण्डन किया गया है।<sup>१०८</sup> इसी प्रकार उन्होंने जैन दार्शनिक उमास्वाति के सत्त्वक्षण विधायक सूत्र 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' (तत्त्वार्थसूत्र, ५.२९) का भी निरसन करते हुए सत् को क्षणिक सिद्ध किया है।<sup>१०९</sup>

### प्रज्ञाकरगुप्त एवं प्रमाणवार्तिकभाष्य (आठवीं शती)

प्रज्ञाकरगुप्त ने धर्मकीर्ति की उत्कृष्टरचना प्रमाणवार्तिक पर भाष्य की रचना की है, जिसे प्रमाणवार्तिकालंकार या प्रमाणवार्तिकभाष्य कहा जाता है। प्रमाणवार्तिकालङ्कार धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक के तीन परिच्छेदों पर लिखा गया भाष्य है। इसमें स्वार्थानुमान परिच्छेद पर भाष्य नहीं है। इसके गद्य एवं पद्य का कुल परिमाण १६,२०० श्लोक जितना आंका गया है। श्री राहुल सांकृत्यायन ने प्रज्ञाकरगुप्त को धर्मकीर्ति का प्रशिष्य कहा है तथा इन्हें, तिब्बती परम्परानुसार ७०० ई० के आस पास रखा है।<sup>११०</sup> सतीशचन्द्र विद्याभूषण, श्वेतरत्नात्की आदि विद्वानों ने उन्हें १० वीं शताब्दी का दार्शनिक स्वीकार किया है,<sup>१११</sup> किन्तु जैनाचार्य अकलङ्क (८वीं शती) अपने विभिन्न न्याय ग्रंथों में, अनन्तवीर्य (९वीं शती) सिद्धिविनिश्चयटीका में, विद्यानन्द (९वीं शती) अष्टसहस्री में तथा प्रभाचन्द्र (११ वीं शती) प्रमेयकर्ममार्तण्ड में प्रज्ञाकर का उल्लेख करते हुए भूरिश : खण्डन करते हैं। जयन्तभट्ट एवं उदयन भी प्रज्ञाकर का खण्डन करते हैं। अतः प्रज्ञाकर को आठवीं सदी के प्रारम्भ से आगे नहीं ले जाया जा सकता। महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य इन्हें ६७०-७२४ ई० के मध्य

१०६. हेतुबिन्दुटीका, पृ० १०४.

१०७. द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः ।

परिणामविशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभावतः ॥—आप्तमीमांसा, ७१

१०८. हेतुबिन्दुटीका, पृ० १०५.१५

१०९. हेतुबिन्दुटीका, पृ. १४६

११०. प्रमाणवार्तिकभाष्य, प्रस्तावना, पृ० ८

१११. Buddhist Logic, Vol I., p. 43.



प्रतिपादित करते हैं।<sup>११२</sup> चीनी यात्री इत्सिंग अपने यात्रा विवरण में प्रज्ञागुप्त नामक विद्वान् का उल्लेख करता है, जो न्यायाचार्य को प्रज्ञाकरगुप्त ही प्रतीत होते हैं।<sup>११३</sup>

श्वेतरवात्की के अनुसार प्रज्ञाकरगुप्त धार्मिक परम्परा के टीकाकार थे। अनेक सन्दर्भों में प्रज्ञाकरगुप्त धर्मकीर्ति के टीकाकार ही नहीं, अपितु उनसे स्वतन्त्र विचारक भी प्रतीत होते हैं। जैनदार्शनिक अकलङ्क अपने न्यायग्रंथों में प्रज्ञाकर का भूरिशः खण्डन करते हैं। अकलङ्क के टीकाकार वादिराज न्यायविनिश्चयविवरण में तथा अनन्तवीर्य सिद्धिविनिश्चयटीका में प्रमाणवार्तिकालङ्कार का बहुभाग उद्धृत करते हैं। प्रज्ञाकरगुप्त के भाष्य की अपेक्षा मनोरथनन्दी की वृत्ति धर्मकीर्ति के अभिप्राय को समझने में अधिक सहायक सिद्ध हुई है, क्योंकि वह शब्दार्थपरक होते हुए भी धर्मकीर्ति के अभिप्राय को अधिक सक्षमता पूर्वक स्पष्ट करती है। दूसरी बात यह है कि यह वृत्ति प्रमाणवार्तिक के चारों परिच्छेदों पर लिखी गयी है। तथापि विस्तृत एवं व्यापक अध्ययन के लिए प्रज्ञाकरगुप्त के प्रमाणवार्तिकभाष्य का महत्त्व निर्विवाद है।

### शान्तरक्षित और कमलशील (आठवीं सदी)

ये दोनों आचार्य उत्तरभारत में मगध के निवासी थे।<sup>११४</sup> दिङ्नाग एवं धर्मकीर्ति के बाद ये दोनों दार्शनिक बौद्ध न्याय को कुछ भिन्न दृष्टिकोण के साथ प्रस्तुत करते हैं। गंगानाथ झा ने इनका समय ७०५ से ७६४ ई० निर्धारित किया है।<sup>११५</sup> शान्तरक्षित गुरु थे एवं कमलशील उनके शिष्य। ये दोनों नालन्दा विहार में रहे तथा फिर तिब्बत चले गये थे।

शान्तरक्षित एवं कमलशील माध्यमिक सम्प्रदाय के आचार्य थे। माध्यमिक सम्प्रदाय भी दो प्रकार के हैं- प्रासंगिक एवं स्वातन्त्रिक। शान्तरक्षित स्वातन्त्रिक सम्प्रदाय से सम्बद्ध थे। श्वेतरवात्की ने शान्तरक्षित एवं कमलशील को माध्यमिक-योगाचार अथवा माध्यमिक-सौत्रान्तिक के मिश्रित सम्प्रदाय से सम्बद्ध माना है।<sup>११६</sup> डॉ. जगन्नाथ उपाध्याय ने उन्हें स्वातन्त्रिक-माध्यमिक सम्प्रदाय से सम्बद्ध मानकर उसे व्यवहारविज्ञानवाद कहा है। वे कहते हैं कि वसुबन्धु दिङ्नाग एवं धर्मकीर्ति के द्वारा पारमार्थिक विज्ञानवाद स्वीकृत था, किन्तु शान्तरक्षित एवं कमलशील व्यावहारिक विज्ञानवादी थे।<sup>११७</sup> सरल शब्दों में इसे यूँ कहा जा सकता है कि वे दोनों माध्यमिक होकर भी विज्ञानवादी थे और उन्होंने तत्त्वसङ्ग्रह एवं उसकी पञ्जिका का निर्माण कर सौत्रान्तिकविज्ञानवादी होने का प्रमाण दिया है।

११२. अकलङ्कग्रन्थत्रय, प्रस्तावना, पृ० २७

११३. अकलङ्कग्रन्थत्रय, प्रस्तावना, पृ० २६

११४. स्वामी द्वारिकादास शास्त्री ने इन्हें बंगाल के ढाका जिले के जाहोर नामक ग्राम में उत्पन्न बतलाया है।—तत्त्वसङ्ग्रह, प्रस्तावना, पृ० २४

११५. द्रष्टव्य, तत्त्वसङ्ग्रह, गंगानाथ झा द्वारा संपादित एवं अनूदित अप्रेजी संस्करण, मोतीलाल बनारसीदास, प्रस्तावना।

११६. Buddhist Logic, Vol. 1, p. 45

११७. तत्त्वसङ्ग्रह, बौद्धभारती प्रकाशन, प्रास्ताविक किञ्चित्, पृ० १४

शान्तरक्षित की प्रमुख रचना है- तत्त्वसङ्ग्रह । उनकी दो अन्य रचनाओं का भी उल्लेख मिलता है- १. धर्मकीर्ति के वादन्याय पर विपञ्चितार्थटीका एवं २. मध्यमकालङ्कारग्रन्थ । कमलशील ने तत्त्वसङ्ग्रह की व्याख्या में तत्त्वसङ्ग्रहपञ्जिका नामक टीका की रचना की है । उनके एक अन्य ग्रंथ न्यायबिन्दुपूर्वपक्षसंक्षेप का भी उल्लेख मिलता है ।

तत्त्वसङ्ग्रह एवं तत्त्वसङ्ग्रहपञ्जिका -- आठवीं शताब्दी में रचित बौद्ध-न्याय की महत्त्वपूर्ण कृति तत्त्वसङ्ग्रह आचार्य शान्तरक्षित की अनुपम रचना है । यह ३६४५ कारिकाओं में निबद्ध है । इस पर आचार्य नागार्जुन की माध्यमिक कारिका एवं धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक का प्रभाव लक्षित होता है । तत्त्वसङ्ग्रह में प्रमेयों की परीक्षा प्रमाण-परीक्षा की अपेक्षा अधिक हुई है । जिनमें प्रकृति, ईश्वर, पुरुष, शब्द-ब्रह्म, आत्मा, स्थिरभाव, कर्मफलसम्बन्ध, द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, शब्दार्थ, स्याद्वाद, श्रुति आदि की परीक्षा मुख्य है । प्रमाणों में प्रत्यक्षलक्षण, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, सम्भव, ऐतिह्य आदि की परीक्षा करने के साथ प्रामाण्यवाद की भी परीक्षा की गयी है । शान्तरक्षित ने अविद्वक्कर्ण, शङ्करस्वामी, भाविविक्त, योगसेन, लक्षणकार, सुमति, पात्रस्वामी, पुरन्दर आदि उन विभिन्न विद्वानों के भी मन्तव्यों का उपस्थापन एवं खण्डन किया है जिनका आज कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है । शान्तरक्षित का तत्त्वसंग्रह धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक की अपेक्षा सुगम है ।

तत्त्वसङ्ग्रह पर कमलशील की पञ्जिका गद्य में निबद्ध है । यह शब्दानुलक्षी व्याख्या होकर भी ग्रंथ के हार्द को कुशलता के साथ स्पष्ट करती है । शान्तरक्षित जिन विपक्षी आचार्यों के मत का बिना नाम लिए पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापन करते हैं, कमलशील अपनी पञ्जिका में उनका नामोल्लेख भी करते हैं । जैनदार्शनिक सुमति एवं पात्रस्वामी के मतों का उपस्थापन एवं खण्डन इसका निदर्शन है । तत्त्वसङ्ग्रहपञ्जिका में दिङ्नाग मन्तव्यों को भी स्पष्ट किया गया है ।<sup>११८</sup>

### दुर्वेक मिश्र (१० वीं-११ वीं शती)

दुर्वेकमिश्र का समय सतीशचन्द्र विद्याभूषण, सुखलाल संघवी आदि ने दसवीं शताब्दी का अंतिमपाद एवं ग्यारहवीं शती का पूर्वार्द्ध स्वीकार किया है ।<sup>११९</sup> दुर्वेकमिश्र जितारि के शिष्य थे । दुर्वेकमिश्र के चार ग्रंथों का उल्लेख मिलता है— १. धर्मोत्तरप्रदीप २. अर्चटालोक (हेतुबिन्दुटीका लोक) ३. स्वयुध्यविचार एवं ४. विशेषाख्यान । इनके अतिरिक्त क्षणभंगसिद्धि एवं चतुःशती नामक, रचनाओं का भी दुर्वेकमिश्र ने स्वयं उल्लेख किया है । इनमें से प्रथम दो ग्रंथों को राहुलसांकृत्यायन तिब्बत से लाए थे । उनका संस्कृत में प्रकाशन भी हो गया है । धर्मोत्तरप्रदीप का प्रकाशन भोटदेशीय संस्कृत ग्रंथमाला के अन्तर्गत द्वितीय पुष्प के रूप में काशीप्रसाद जायसवाल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पटना से सन् १९५५ ई० में पं० दलमुखभाई मालवणिया के संपादन में हुआ । हेतुबिन्दुटीकालोक का प्रकाशन हेतुबिन्दु एवं उसकी टीका के साथ गायकवाड ओरियण्टल सीरीज में १९४९ ई० में पं०

११८. द्रष्टव्य, प्रमाणसमुच्चय (रंगास्वामी अयंगर संपादित) एवं तत्त्वसंग्रहपञ्जिका ।

११९. A History of Indian Logic, p. 337, हेतुबिन्दुटीका, प्रस्तावना, पृ० १२, धर्मोत्तरप्रदीप, प्रस्तावना, पृ० ६०

सुखलाल संघवी एवं मुनिजिनविजय के सम्पादन में हुआ। स्वयूष्यविचार, विशेषाख्यान, क्षणभङ्गसिद्धि एवं चतुःशती ग्रंथों का धर्मोत्तरप्रदीप या हेतुबिन्दुटीकालोक में उल्लेख मिलता है<sup>१२०</sup>, किन्तु वे अभी तक उपलब्ध नहीं हुए हैं। धर्मोत्तरप्रदीप एवं हेतुबिन्दुटीकालोक का संक्षिप्त परिचय आगे दिया जा रहा है।

**धर्मोत्तरप्रदीप-न्यायबिन्दुटीका** पर उपलब्ध अन्य सब टिप्पणों से धर्मोत्तरप्रदीप अधिक विस्तृत है। यह वस्तुतः धर्मोत्तर टीका के लिए प्रदीप है। इसकी मुख्य विशेषता है कि इसमें पूर्वपक्ष उपस्थापित करके धर्मोत्तर के मन्तव्य की व्याख्या की गयी है। धर्मोत्तरप्रदीप की भाषा प्रौढ, सुश्लिष्ट एवं मुहावरों से युक्त है। दुर्वेक व्यर्थ की चर्चा करना एवं खींचखांच कर अर्थ निकालना पसन्द नहीं करते। टीका में अनेक स्थानों पर वे पूर्वटीकाकारों के मन्तव्यों का भी उल्लेख करते हैं। दुर्वेकमिश्र के अनुसार न्यायबिन्दु सौत्रान्तिक मत की दृष्टि से लिखा गया ग्रंथ है, योगाचार मत के साथ इसकी कुत्रचित् संगति बैठ जाना आनुषंगिक है, मुख्य नहीं,<sup>१२१</sup> दुर्वेकमिश्र ने धर्मोत्तर के अभिप्राय को कुशलता से स्पष्ट किया है तथा कुत्रचित् विचार भेद भी प्रकट किया है। उनका यह प्रदीप बौद्धन्याय के अध्ययनार्थ महत्त्वपूर्ण है।

**हेतुबिन्दुटीकालोक-धर्मकीर्ति** रचित हेतुबिन्दु पर अर्चट ने टीका की थी। अर्चट की टीका पर दुर्वेकमिश्र ने आलोक की रचना की है, जिसे हेतुबिन्दुटीका या अर्चटालोक के नाम से जाना जाता है। इसमें दुर्वेकमिश्र ने अर्चट की टीका पर विशद व्याख्या की है एवं यथावसर बौद्धेतर मंतव्यों का उपस्थापन कर उनका निरसन किया है। अर्चट का अनुकरण करते हुए भी दुर्वेक ने कहीं कहीं उनसे असहमति प्रकट की है। स्वभाव, कार्य एवं अनुपलब्धि इन तीनों हेतुओं की दुर्वेक ने विशद व्याख्या की है। इसका भी प्रकाशन पं. सुखलाल संघवी द्वारा संपादित हेतुबिन्दुटीका के साथ हुआ है।

हेतुबिन्दुटीकालोक में दुर्वेकमिश्र ने जैनों द्वारा मान्य उत्पादव्ययधौव्यात्मक सत् का खण्डन किया है। उन्होने समन्तभद्र की आप्तमीमांसा की कारिकाओं को भी इस सन्दर्भ में उद्धृत किया है<sup>१२२</sup> जैन ग्रन्थ वादन्याय के रचयिता (संभवतः कुमारनन्दी) को स्याद्वादकेशरी की उपमा देते हुए उनके मत को उद्धृत कर<sup>१२३</sup> टीकाकार कुलभूषण की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है तथा फिर उसका खण्डन किया है।<sup>१२४</sup>

१२०. धर्मोत्तरप्रदीप, प्रस्तावना, पृ० ६०

१२१. धर्मोत्तरप्रदीप, प्रस्तावना, पृ० ५८

१२२. षट्मौलिसुवर्णाधीं नाशोत्पादस्थितिव्ययम् ।

शोकप्रमोदमाध्यस्थं जने याति सहेतुकम् ॥

पयोवतो न दध्यति न पयोति दधिवतः ।

अगोरसव्रतो नोभे तस्माद्दस्तु त्रयात्मकम् ॥—आप्तमीमांसा, ५९-६० एवं हेतुबिन्दुटीकालोक, पृ. ३६९

१२३. तथा चावादीद वादन्याये स्याद्वादकेशरी -'अखिलस्य वस्तुनोऽनेकान्तिकत्वं सत्वात् । अन्यार्थार्थक्रिया कुतः' इति ॥—हेतुबिन्दुटीकालोक, पृ. ३७३

१२४. द्रष्टव्य, हेतुबिन्दुटीकालोक, पृ. ३७३-३७४

## अन्य बौद्धाचार्य एवं उनकी कृतियां

दुर्वेकमिश्र के अतिरिक्त ग्यारहवीं शती के पूर्वार्द्ध में ज्ञानश्री मित्र एवं उनके शिष्य रत्नकीर्ति ने भी बौद्ध दर्शन का सम्यक् निरूपण किया है। ज्ञानश्रीमित्र ने बौद्धदर्शन की तत्त्वमीमांसीय एवं प्रमाणमीमांसीय समस्याओं पर बारह निबन्धों की रचना की, जिनमें क्षणभङ्गाध्याय, व्याप्तित्त्वार्च, अनुपलब्धिरहस्यम्, अपोहप्रकरणम्, कार्यकारणभावसिद्धि, अद्वैतबिन्दुप्रकरणम्, एवं साकारसिद्धि-शास्त्रम् को प्रमुख कहा जा सकता है। इन निबन्धों का प्रकाशन— ज्ञानश्रीमित्र निबन्धावली में प्रो० अनन्तलाल ठाकुर के संपादकत्व में सन् १९५९ ई० में काशी प्रसाद जायसवाल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पटना से हुआ है। ज्ञानश्रीमित्र की शैली सरस एवं बोधगम्य है। उनके क्षणभङ्गाध्याय एवं अपोहप्रकरण से जैनदार्शनिक वादिदेवसूरि ने कुछ श्लोकों को पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत किया है। ज्ञानश्रीमित्र ने अपनी रचनाओं में वाचस्पतिमिश्र, त्रिलोचन, भासर्वज्ञ एवं शंकर के मतों का खण्डन किया है। उनके शिष्य रत्नकीर्ति की भी क्षणभंगसिद्धि एवं अपोहसिद्धि नामक रचनाएं दार्शनिक जगत् में आदृत हुई हैं जिनका प्रकाशन बिब्लियोथिका इण्डिका सीरीज से प्रकाशित सिक्स बुद्धिस्ट न्याय ट्रेक्टस में हुआ है। इसका संपादन महामहोपाध्याय हरप्रसादशास्त्री द्वारा किया गया तथा प्रथम प्रकाशन १९१० ई० में कलकत्ता से हुआ।

दसवीं ग्यारहवीं शती में रचित मोक्षाकरगुप्त की तर्कभाषा भी बौद्धन्याय में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। मोक्षाकरगुप्त ने इसमें धर्मकीर्ति की न्यायबिन्दु का अनुसरण करते हुए प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान नामक तीन परिच्छेद लिखे हैं जो संक्षेप में सम्पूर्ण बौद्ध न्याय को प्रस्तुत करते हैं। इसका प्रकाशन गायकवाड़ सीरिज से १९४२ ई० में एम्बर कृष्णामाचार्य की संस्कृत टीका के साथ हुआ है।

इस प्रकार चौथी पांचवी शती से लेकर ग्यारहवीं शती तक भारत में बौद्धन्याय के अनेक ग्रंथों की रचना हुई और ये सभी ग्रंथ यथाकाल जैन दार्शनिकों द्वारा अधीत रहे हैं।

## जैन-परम्परा

जैन दर्शन में प्रमाण-मीमांसा का व्यवस्थापन सही अर्थों में बौद्धों के पश्चात् आठवीं सदी में जैन दार्शनिक ऋद्ध अकलङ्क ने किया, किन्तु व्यापक फलक पर किए गए अध्ययन से ज्ञात होता है कि जैनदर्शन में प्रमाणमीमांसीय चर्चा के बीज आगमों में भी उपलब्ध हैं। षं० दत्तसुख मालवणिया ने सम्पूर्ण जैन दर्शन को साहित्यिक विकास की दृष्टि से चार भागों में विभक्त किया है- १. आगम युग २. अनेकान्त व्यवस्थायुग ३. प्रमाणव्यवस्था युग एवं ४. नवीन न्याययुग<sup>१२५</sup>। षं० सुखलाल संघवी इन्हें तीन विभागों में रखते हैं- १. आगमयुग २. संस्कृतप्रवेश या अनेकान्तस्थापन युग और ३. न्याय-प्रमाण स्थापनयुग।<sup>१२६</sup> वे आगमयुग को भगवान् महावीर अथवा उनके पूर्ववर्ती भगवान्

१२५. आगमयुग का जैन दर्शन, पृ० २८१

१२६. दर्शन और चिन्तन, द्वितीय खण्ड, पृ० ३६२

पार्श्वनाथ से लेकर विक्रमीय पंचम-षष्ठ शताब्दी तक रखते हैं। द्वितीय युग को दो शताब्दियों विक्रमीय छठी- सातवीं शताब्दी में तथा तृतीय युग को विक्रमीय आठवीं शती से लेकर अठारहवीं शती तक रखते हैं। मुनिनथमल (सम्प्रति आचार्य महाप्रज्ञ) ने सम्पूर्ण जैन न्याय को तीन भागों में विभक्त किया है, यथा—१. आगम युग का जैन न्याय २. दर्शनयुग का जैन न्याय एवं ३. प्रमाणव्यवस्था युग का जैन न्याय।<sup>१२७</sup>

यह माना जाता है कि जो कार्य बौद्धदर्शन में दिङ्नाग ने किया वही कार्य जैन दर्शन में अकलङ्क ने किया। अकलङ्क के ग्रंथों में ही हम जैन प्रमाणमीमांसा के विकसित स्वरूप के दर्शन कर पाते हैं। अकलङ्क से पूर्व सिद्धसेन के न्यायावतार को जैन प्रमाणमीमांसा का प्रमुख ग्रंथ कहा जा सकता है, किन्तु उसमें परोक्ष प्रमाण के स्मृति, प्रत्याभिज्ञान आदि भेदों का निरूपण न होने तथा ऐसे ही अन्य कारणों से उसे जैन प्रमाणमीमांसा की सम्पूर्ण विकसित कृति नहीं कहा जा सकता। समन्तभद्र, मल्लवादी, पात्रकेसरी, सुमति आदि जो अन्य जैन दार्शनिक हुए हैं उनकी रचनाएं या तो उपलब्ध नहीं हैं या उपलब्ध हैं तो उनमें प्रमाणव्यवस्था का निरूपण पूर्णरूपेण नहीं हुआ है, अतः अकलङ्क को ही हम जैनदर्शन की प्रमाणमीमांसा का आधार बनाकर नवीन विभाजन करते हैं—

### १. प्राग् अकलङ्क प्रमाणमीमांसा

#### २. अकलङ्क एवं तदुत्तरवर्ती प्रमाणमीमांसा।

प्राग् अकलङ्क प्रमाणमीमांसा को भी दो उपविभागों में रखा जा सकता है—

#### १. आगमवर्ती तथा २. अनेकान्तसाहित्य युगीन (ईसा की प्रथम शती से छठी शती तक)

अकलङ्क एवं तदुत्तरवर्ती जैन प्रमाणशास्त्रीय रचनाओं को भी दो उपविभागों में रखा जा सकता है—१. आठवीं शती से बारहवीं शती एवं २. नव्य न्याययुग

इन समस्त भागोपविभागों में यद्यपि अकलङ्क एवं तदुत्तरवर्ती प्रमाणशास्त्रीय ग्रंथों में आठवीं से बारहवीं शती के ग्रंथों का विशेष महत्त्व है, तथापि सम्पूर्ण जैनन्याय का संक्षिप्त परिचय अभीष्ट होने से यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

### आगमवर्ती प्रमाणमीमांसा

बौद्ध त्रिपिटकों की अपेक्षा प्रमाणमीमांसीय दृष्टि से जैन आगम समृद्ध हैं। अनुयोगद्वार सूत्र में प्रमाण एवं नय का विस्तृत विवेचन है। जैन दर्शन में सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहा गया है।<sup>१२८</sup> इस अर्थ में यदि आगम-साहित्य का अनुशीलन किया जाय तो नन्दीसूत्र ज्ञानमीमांसा से ही ओत प्रोत है। भगवती सूत्र (व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र), षट्खण्डागम, राजप्रश्नीय, स्थानांग आदि आगमों में भी

१२७. जैनन्याय का विकास, पृ० ७-८

१२८. सम्यग्ज्ञान प्रमाण, प्रमाणत्वान्यथानुपपत्तेः ।—प्रमाणपरीक्षा, पृ० १

आभिनवोधिक ज्ञान (मतिज्ञान) श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्यवज्ञान एवं केवलज्ञान का भेदोपभेदों के साथ विस्तृत निरूपण है।<sup>१२९</sup> ज्ञान का यही वर्णन जैनदर्शन की प्रमाण-मीमांसा का आधार बना है।

आगम-साहित्य में न्यायदर्शन सम्मत प्रमाण का विवरण भी मिलता है। अनुयोगद्वारसूत्र, स्थानाङ्गसूत्र एवं भगवतीसूत्र इसके निदर्शन हैं। अनुयोगद्वार एवं भगवतीसूत्र में प्रमाण के चार प्रकार प्रतिपादित हैं- (१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) औपम्य एवं (४) आगम।<sup>१३०</sup> स्थानाङ्गसूत्र में इन्हीं चार प्रमाणों को 'हेतु' शब्द से कहा गया है।<sup>१३१</sup> इस सूत्र में एक अन्य स्थान पर प्रमाण का 'व्यवसाय' शब्द से भी उल्लेख हुआ है और उसके तीन भेद बताए गए हैं (१) प्रत्यक्ष (२) प्रात्ययिक एवं (३) अनुगामी<sup>१३२</sup>। पं० दलसुख मालवणिया के अनुसार यही तीन व्यवसाय सिद्धसेन के न्यायावतार एवं हरिभद्र के अनेकान्तजयपताका ग्रंथों में प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणों के रूप में निरूपित हुए हैं।<sup>१३३</sup>

स्थानांगसूत्र एवं नन्दीसूत्र में ज्ञान के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दो भेदों का कथन हुआ है।<sup>१३४</sup> उमास्वाति, सिद्धसेन आदि दार्शनिकों ने जैनन्याय में इन्हीं भेदों को प्रमाण-भेदों के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

अनुयोगद्वारसूत्र एवं स्थानांगसूत्र में प्रमाण शब्द का 'मापन' अर्थ में भी प्रयोग हुआ है, तथा उसके चार भेद किये गये हैं- द्रव्य-प्रमाण, क्षेत्र-प्रमाण, कालप्रमाण एवं भाव-प्रमाण।<sup>१३५</sup> अनुयोगद्वारसूत्र में भाव-प्रमाण के तीन भेद किये गये हैं - गुण, नय और संख्या। गुणों में जीव के तीन गुण निरूपित हैं। ज्ञान, दर्शन और चारित्र। ज्ञानगुण रूप भाव-प्रमाण के पुनः चार भेद किये गये हैं, जो न्यायशास्त्र के ही चार प्रमाण हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान, औपम्य और आगम।<sup>१३६</sup>

आगमों में प्रमाणमीमांसा के उल्लेख की दृष्टि से अनुयोगद्वार सूत्र एवं स्थानांग सूत्र को पर्याप्त महत्त्व दिया जा सकता है, क्योंकि इनमें प्रत्यक्ष, अनुमान, औपम्य एवं आगम प्रमाणों की विस्तृत चर्चा

१२९. द्रष्टव्य, नन्दीसूत्र १-४३, भगवती सूत्र, ८.२.३१७, षट्खण्डागम धवलापुस्तक १३, पृ० २०९-२५३, राजप्रश्नीय, ६०, स्थानांग ५.३, सुतागमे, पृ० २६८

१३०. गोयमा से किं तं पमाणं ? पमाणे चउव्विहे पण्णते, तं जहा पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवम्म, आगमे । जहा अणुओगददारे तहा णेयव्वं पमाणं ।—भगवती सूत्र ५.३.१९२, अनुयोगद्वार सूत्र, जीवगुण प्रमाणवर्णनद्वार ।

१३१. अहवा हेऊ चउव्विहे पण्णते तं जहा—पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवम्म, आगमे ।—स्थानांग सूत्र, ४३०, सुतागमे, पृ० २४७

१३२. तिविहे ववसाए पण्णते तं जहा—पच्चक्खे, पच्चतिते, आणुगामिए ।—स्थानांग सूत्र, २४५, सुतागमे, पृ० २१५

१३३. आगमयुग का जैनदर्शन, पृ० १३८-१३९

१३४. (१) दुविहे नाणे पण्णते, पच्चक्खे चैव परोक्खे चैव ।—स्थानांगसूत्र १०३, सुतागमे, पृ० १८७

(२) तं समासओ दुविहं पण्णतं, तं जहा पच्चक्खं च परोक्खं च ।—नन्दीसूत्र, २

१३५. चउव्विहे पमाणे पण्णते, तं जहा दव्वप्पमाणे, खेतप्पमाणे, कालप्पमाणे, भावप्पमाणे ।—स्थानांग सूत्र, ३२१, सुतागमे, पृ० २२६, अनुयोगद्वारसूत्र, प्रमाणद्वार ।

१३६. से किं णाणं गुणप्पमाणे ? चउव्विहे पण्णते तं जहा पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवम्म, आगमे ।—अनुयोगद्वारसूत्र, जीवगुणप्रमाणद्वार ।

सन्निहित है। इस चर्चा का कुछ अंश गौतमीय न्याय से मेल खाता है, कुछ बौद्ध ग्रंथ उपायहृदय से मेल खाता है तो कुछ अंश ऐसा भी है जो नितान्त मौलिक है, यथा स्थानांग सूत्र में प्रत्यक्ष-प्रमाण के दो भेद किये गये हैं— केवल और नोकेवल।<sup>१३७</sup> इन्हीं दो भेदों का उत्तरवर्ती जैनन्याय के साहित्य में सकल एवं विकल प्रत्यक्ष के रूप में कथन हुआ है।<sup>१३८</sup> अनुयोगद्वार सूत्र में इन्द्रियज्ञान को भी प्रत्यक्ष प्रतिपादित करते हुए प्रत्यक्ष के दो भेद किये गये हैं— इन्द्रियप्रत्यक्ष और नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष।<sup>१३९</sup> जैन दार्शनिक जिनभद्र एवं अकलङ्क ने संभव है प्रत्यक्ष के सांख्यवहारिक एवं पारमार्थिक भेद प्रतिपादित करने की प्रेरणा यहां से ही पायी हो। दलसुख मालवगिया का कथन है कि सांख्यवहारिक एवं पारमार्थिक भेद अकलङ्क की नयी देन नहीं है, क्योंकि इसका मूल नन्दीसूत्र एवं उनके जिनभद्रगणि कृत स्पष्टीकरण में विद्यमान है।<sup>१४०</sup>

न्याय एवं सांख्य दर्शन की भांति अनुयोगद्वारसूत्र में अनुमान के तीन भेद प्रतिपादित हैं— (१) पूर्ववत् (२) शेषवत् एवं (३) दृष्टसाधर्म्यवत्।<sup>१४१</sup> कार्य, कारण, गुण, अवयव एवं आश्रय से होने के कारण शेषवत् अनुमान पांच प्रकार का कहा गया है।<sup>१४२</sup> दृष्टसाधर्म्यवत् के भी दो भेद किये गये हैं— सामान्य दृष्ट और विशेष दृष्ट। इनमें सामान्य दृष्ट का उपमान एवं विशेषदृष्ट का प्रत्यभिज्ञान से साम्य दिखाई देता है। एकत्र अनुयोगद्वार सूत्र में ही काल की दृष्टि से अनुमान के तीन भेद किये गये हैं— अतीत कालग्रहण, प्रत्युत्पन्न कालग्रहण और अनागत कालग्रहण।<sup>१४३</sup>

अनुमान के अवयवों के सन्दर्भ में मूल आगमों में कोई चर्चा नहीं है, किन्तु भद्रबाहु रचित दशवैकालिक निर्युक्ति में उसके दो, तीन, पांच एवं दश अवयवों का प्रतिपादन हुआ है।<sup>१४४</sup> दो अवयवों में प्रतिज्ञा एवं उदाहरण; तीन में प्रतिज्ञा, हेतु एवं उदाहरण तथा पांच अवयवों में प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपसंहार और निगमन का अन्तर्भाव किया गया है। दश अवयवों का प्रयोग दो प्रकार से किया गया है— प्रथम प्रकार में प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञाविशुद्धि, हेतु, हेतुविशुद्धि, दृष्टान्त, दृष्टान्तविशुद्धि, उपसंहार, उपसंहारविशुद्धि, निगमन एवं निगमनविशुद्धि की गणना की गयी है तथा द्वितीय प्रकार में प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञा-विभक्ति, हेतु, हेतुविभक्ति, विपक्ष, प्रतिषेध, दृष्टान्त, आशंका, तत्रप्रतिषेध और निगमन

१३७. स्थानांग सूत्र, सुतागमे, पृ० १८७

१३८. तद् विकलं सकलं च ।—प्रमाणनयतत्त्वालोक, २.१९

१३९. से कि तं पञ्चवस्त्रे ? दुविहे पण्णते तं जहा—इन्द्रियपञ्चवस्त्रे, षोडशदियपञ्चवस्त्रे ।—अनुयोगद्वारसूत्र, जीवगुणप्रमाणद्वार,

१४०. आगमयुग का जैनदर्शन, पृ० १३५

१४१. (१) से कि तं अनुमाणे ? से तिविहे पण्णते तं जहा—पुव्वव, सेसव, दिट्ठसाहम्मव ।—अनुयोगद्वार सूत्र, अनुमान प्रमाणद्वार ।

(२) न्याय एवं सांख्य दर्शन में दृष्टसाधर्म्यवत् के स्थान पर सामान्यतोदृष्ट शब्द का प्रयोग हुआ है ।

१४२. से कि तं सेसव ? सेसव पंचविहं पण्णतं तं जहा—कज्जेणं, कारणेणं, गुणेणं, अवयवेणं, आसएणं ।—अनुयोगद्वारसूत्र, अनुमानप्रमाणद्वार ।

१४३. अनुयोगद्वारसूत्र, अनुमानप्रमाणद्वार ।

१४४. द्रष्टव्य, दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा, ४९-५०, गाथा, ९२ से १३७

का प्रतिपादन है।

औपम्य-प्रमाण के अनुयोगद्वारसूत्र में साधर्म्योपनीत एवं वैधर्म्योपनीत के रूप में दो भेद किये गये हैं।<sup>१४५</sup> साधर्म्योपनीत तीन प्रकार का निरूपित किया गया है-किञ्चित् साधर्म्योपनीत, प्रायः साधर्म्योपनीत, एवं सर्वसाधर्म्योपनीत। इसी प्रकार वैधर्म्योपनीत के भी तीन प्रकार मिलते हैं-किञ्चित् वैधर्म्योपनीत, प्रायो वैधर्म्योपनीत, एवं सर्ववैधर्म्योपनीत। इनके प्रत्येक के उदाहरण भी दिये गये हैं। आगम-प्रमाण के लौकिक एवं लोकोत्तर नाम से दो भेद किये गये हैं।<sup>१४६</sup> इनमें महाभारत, रामायण, वेद आदि तथा बहतर कलाशास्त्र लौकिक आगम माने गये हैं, जो जैनदार्शनिकों की उदार एवं अनेकान्तदृष्टि तथा समन्वय की भावना का उत्कृष्ट परिचायक है। लोकोत्तर आगम में सर्वज्ञ, सर्वदर्शी प्रणीत आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग आदि जैन शास्त्रों को सम्मिलित किया गया है। अनुयोगद्वार सूत्र में ही आगम के तीन अन्य भेद भी प्रतिपादित हैं—आत्मागम, अनन्तरागम और परम्परागम।<sup>१४७</sup> तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित अर्थरूप आगम उनके स्वयं के लिए आत्मागम, गणधरों के लिए अनन्तरागम एवं गणधरशिष्यों के लिए परम्परा से प्राप्त होने के कारण परम्परागम माने गये हैं।

इस प्रकार विभिन्न आगमों में प्रमाण से सम्बन्धित सामग्री प्राप्त होती है, जो निश्चित रूप से जैन प्रमाण-शास्त्रों के निर्माण में उपयोगी सिद्ध हुई है। निर्युक्तियों एवं भाष्यों का भी इस दृष्टि से योगदान है। इसमें कोई संदेह नहीं कि बौद्ध त्रिपिटकों की अपेक्षा जैनागम प्रमाणमीमांसा की दृष्टि से समृद्ध हैं। उपायहृदय आदि बौद्ध ग्रंथों में प्रतिपादित वादविद्या विषयक वर्णन जैनागमों में अपेक्षाकृत कम उपलब्ध होता है। दलसुखभाई मालवणिया ने आगमयुग का जैनदर्शन पुस्तक में वादविद्या का विस्तृत वर्णन दिया है जो तत्र द्रष्टव्य है।

### अनेकान्तसाहित्य युगीन प्रमाणमीमांसा (द्वितीय शती से सातवीं शती)

ईसवीय चौथी शती से सातवीं शती का काल जैनदर्शन में अनेकान्त एवं स्याद्वाद के स्थापन का काल था। इस काल में लगभग प्रत्येक जैन दार्शनिक अनेकान्तवाद की स्थापना के लिए प्रयत्नशील था। सिद्धसेन एवं समन्तभद्र का इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। अनेकान्त दृष्टि का आलम्बन लेकर इन दार्शनिकों ने जैनेतर दार्शनिकों के मन्तव्यों का खण्डन किया है तथा अनेकान्त के उपदेष्टा महावीर का स्तुति गान किया है। अनेकान्त के स्थापन का कार्य हरिभद्रसूरि (७००-७७० ई०) ने भी अनेकान्तत्रयपताका का निर्माण करके किया, तथापि हमारी दृष्टि इस समय प्रमाण शास्त्रीय रचनाओं की ओर विशेष केन्द्रित है। इसलिए उमास्वाति (द्वितीय तृतीय शती) के तत्त्वार्थसूत्र से ही हम अध्ययन प्रारम्भ करेंगे तथा सिद्धसेन के न्यायावतार एवं समन्तभद्र की आप्तमीमांसा पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करेंगे। इस युग में कुन्दकुन्द के समयसार, नियमसार आदि ग्रंथों तथा मन्त्रवादी

१४५. अनुयोगद्वारसूत्र, औपम्य प्रमाणद्वार।

१४६. अनुयोगद्वार सूत्र, आगम प्रमाणद्वार।

१४७. अहवा आगमे तिविहे पण्णत्ते तं जह—अतागमे अनन्तरागमे परंपरागमे य।—अनुयोगद्वार सूत्र, आगमप्रमाणद्वार।



समाश्रमण के द्वादशारनयचक्र का भी पर्याप्त महत्त्व है।

### उमास्वाति (द्वितीय तृतीय शती)

जैन दर्शन को सर्वप्रथम संस्कृत- सूत्रों में प्रतिपादित करने का कार्य आचार्य उमास्वाति ने किया। उमास्वाति को उमास्वामी एवं गृद्धपिच्छ के नाम से भी जाना जाता है।<sup>१४८</sup> इनका समय ईसवीय दूसरी एवं तीसरी शताब्दी निर्विवाद रूप से मान्य है। उमास्वाति की रचना तत्त्वार्थसूत्र संक्षिप्तरूप में जैनदर्शन के तत्त्वों को प्रकाशित कर मोक्ष मार्ग को प्रशस्त करती है, अतः इस सूत्र को मोक्षशास्त्र नाम से भी जाना जाता है। प्रमाण एवं नय की चर्चा भी बीज रूप में इसी सूत्र में विद्यमान है जो आगे अंकुरित एवं पल्लवति हुई।<sup>१४९</sup>

तत्त्वार्थसूत्र में दस अध्याय हैं, किन्तु सूत्रों की संख्या एवं कहीं कहीं सूत्रों के स्वरूप में भी श्वेताम्बर व दिगम्बर तत्त्वार्थसूत्र परस्पर मतभेद रखते हैं,<sup>१५०</sup> तथापि दोनों की विषय वस्तु एक है। इसमें जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष इन सात तत्त्वों का विस्तृत विवेचन है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र को मोक्ष का मार्ग बताया गया है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान एवं केवलज्ञान को प्रमाण कहकर इन्हें दो भागों में सर्वप्रथम उमास्वाति ने विभक्त किया है। वे इनमें से प्रथम दो ज्ञानों को परोक्ष प्रमाण में तथा अन्तिम तीन ज्ञानों को प्रत्यक्ष प्रमाण में विभक्त करते हैं।<sup>१५१</sup> यही प्रत्यक्ष-परोक्ष के रूप में प्रमाण-विभाजन जैनन्याय में आदृत हुआ। उमास्वाति तत्त्वार्थसूत्र में अनुमानप्रमाण का उल्लेख नहीं करते, किन्तु अनुमानप्रमाण का पक्ष, हेतु एवं उदाहरण इन तीन अवयवों के आधार पर प्रयोग करते हुए देखे जाते हैं। उन्होंने अनेकत्र ऐसा प्रयोग किया है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

पक्ष- मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च।

हेतु—सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेः।

उदाहरण—उन्मत्तवत्<sup>१५२</sup>

जैनदर्शन में तत्त्वार्थसूत्र पर उसी प्रकार भाष्य,वार्तिक आदि का निर्माण हुआ जिस प्रकार न्यायदर्शन में न्यायसूत्र पर। श्वेताम्बर मतावलम्बियों के अनुसार स्वयं उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र पर भाष की रचना की। पूज्यपाद देवन्दी (५वीं शती उत्तरार्द्ध) ने सर्वार्थसिद्धि नामक टीका का निर्माण

१४८. दिगम्बर मत में तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता गृद्धपिच्छाचार्य हैं, ऐसा प० फूलचन्द्र शास्त्री ने सिद्ध किया है।— सर्वार्थसिद्धि, पृ० ५६

१४९. प्रमाणनयैरधिगमः।—तत्त्वार्थसूत्र, १.६

१५०. दिगम्बर तत्त्वार्थसूत्र में कुल ३५७ सूत्र हैं, जबकि श्वेताम्बर तत्त्वार्थसूत्र में ३४३ सूत्र हैं, इसलिए कुछ विद्वान् दिगम्बर तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता गृद्धपिच्छ को उमास्वामी अथवा उमास्वाति से पृथक् सिद्ध करते हैं।

१५१. तत् प्रमाणे। आद्ये परोक्षम्। प्रत्यक्षमन्यत्।—तत्त्वार्थसूत्र १.१०-१२

१५२. तत्त्वार्थसूत्र, १.३२-३३

किया। अकलङ्क ने तत्त्वार्थराजवार्तिक एवं विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक की रचना की। तत्त्वार्थसूत्र पर सिद्धसेनगणि एवं हरिभद्र की भी टीकाएँ हैं। प्रस्तुत अध्ययन में सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक एवं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक का उपयोग किया गया है। राजवार्तिक एवं श्लोकवार्तिक का विशेष विवरण आगे अकलङ्क एवं विद्यानन्द की रचनाओं में किया जायेगा। सर्वार्थसिद्धि पांचवीं शती के उत्तरार्द्ध की रचना है, ऐसा पं० फूलचन्द शास्त्री ने प्रतिपादित किया है।<sup>१५३</sup>

### कुन्दकुन्द

जैनदर्शन में कुन्दकुन्द एक महत्वपूर्ण आचार्य हुए हैं, जिन्होंने व्यवहार एवं निश्चय नय का विवेचन कर व्यवहार को परमार्थ के उपदेश के लिए सहायक माना है।<sup>१५४</sup> वे ज्ञान का विवेचन करते हुए सर्वज्ञ को परमार्थतः आत्मज्ञ मानते हैं।<sup>१५५</sup> ज्ञान के सन्दर्भ में आचार्य कुन्दकुन्द की प्रमुख देन यह रही कि उन्होंने ज्ञान को स्वपर प्रकाशक सिद्ध किया है<sup>१५६</sup> और ज्ञान की यह स्वपर-प्रकाशकता ही प्रकारान्तर से प्रमाण की स्वपर-प्रकाशकता के रूप में आदृत हुई।<sup>१५७</sup>

आचार्य कुन्दकुन्द का समय विद्वज्जगत् में प्रथम शती ई० प्रसिद्ध है, किन्तु मधुसूदन ठाकी ने अनेक प्रमाण देकर इन्हें छठी सातवीं शती का आचार्य माना है।<sup>१५८</sup> आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार, नियमसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड आदि प्रमुख ग्रन्थ हैं।

### सिद्धसेन दिवाकर (पांचवी शती)

सिद्धसेन अनेकान्तवाद के साथ जैन-न्याय के भी प्रतिष्ठापक आचार्य हैं। जैनपरम्परा में सिद्धसेन ने ही सर्वप्रथम प्रमाणविषयक शास्त्र न्यायावतार की रचना की। न्यायावतार के अतिरिक्त उनका दार्शनिक ग्रंथ सन्मतितर्कप्रकरण है जिसने दार्शनिक क्षेत्र में ख्याति अर्जित की है। ऐसे उल्लेख मिलते हैं कि सिद्धसेन ने बत्तीस द्वात्रिंशिकाओं की रचना की थी,<sup>१५९</sup> किन्तु उनमें से अब २२ ही उपलब्ध हैं। इनमें सात द्वात्रिंशिकाएँ स्तुत्यात्मक हैं, दो समीक्षात्मक हैं तथा शेष दार्शनिक एवं वर्णनात्मक हैं।

१५३. सर्वार्थसिद्धि, प्रस्तावना, पृ० ८७-८८

१५४. तह व्यवहारेण विणा परमत्युवएसणमसक्कं ।— समयसार, ८

१५५. जाणदि पस्सदि सव्वं व्यवहारणेण केवली भगवं ।

केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ।— नियमसार, १५८

१५६. तम्हा सपरपयासं णाणं ।— नियमसार, १७१

१५७. स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम् ।— प्रमाणनयतत्त्वालोक, १.१

१५८. द्रष्टव्य, The date of kundakundacārya, pt. Dalsukhbhai Mālvāṇiyā Falicitation Volume, I.

१५९. (१) तस्सागयस्स तेणं पारद्धा जिणधुई समन्ताहिं ।

बत्तीसाहिं बत्तीसियाहिं उद्दामसद्देण ॥

(२) सिद्धसेणेण पारद्धा बत्तीसियाहिं जिणधुई— कुडंगेसरसीसाओ नीसरंतीपाससामिपडिया कमकमेण य बत्तीसइमबत्तीसियासमतीए पडिपुण्णं, तं च ददूण विम्हो राराई लोओ ।— कथावली, उद्धृत सन्मति प्रकरण, हिन्दी प्रस्तावना, पृ० ३३-३४

इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं प्रमाणशास्त्र का निरूपण करने वाली द्वात्रिंशिका न्यायावतार है जो बावीसवीं बत्तीसी के रूप में स्वीकार की गयी है। सिद्धसेन की उपलब्ध समस्त रचनाओं का संकलन ए०एन० उपाध्ये द्वारा संपादित, 'Siddhasena's Nyāyāvātār and other works' में हुआ है, जिसका प्रकाशन जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई से १९७१ ई० में हुआ है।

आचार्य सिद्धसेन के स्थितिकाल के सम्बन्ध में विद्वानों की मुख्यतः दो मान्यताएं हैं। प्रथम मान्यता के संस्तावक पं० सुखलाल संघवी, पं० दलसुख मालवणिया आदि श्वेताम्बर जैन विद्वान् हैं जो सिद्धसेन को ई० चौथी पांचवीं शती में सिद्ध करते हैं।<sup>१६०</sup> दूसरी मान्यता के प्रस्तावक या संस्तावक पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, पं० जुगलकिशोर मुख्तार आदि दिगम्बर जैन विद्वान् हैं जो इन्हें सातवीं शती का सिद्ध करते हैं।<sup>१६१</sup> जैकोबी एवं पी०एल० वैद्य ने भी सिद्धसेन को सातवीं शती में रखा है।<sup>१६२</sup> किन्तु पं० सुखलाल संघवी एवं बेचरदास दोशी ने सन्मतिकरण की प्रस्तावना में सातवीं शती की मान्यता का युक्तिपुरस्सर खण्डन किया है एवं पांचवीं शती का काल निर्धारित किया है। पं० दलसुख मालवणिया ने भी इसका समर्थन किया है<sup>१६३</sup>, हरिभद्रसूरि ने मल्लवादी क्षमाश्रमण को सिद्धसेन के सन्मतितर्क का टीकाकार कहा है<sup>१६४</sup> तथा मल्लवादी का समय पांचवीं शती से पूर्व (विक्रम संवत् ४१४) माना जाता है। तदनुसार सिद्धसेन का समय पांचवीं शती से अधिक नहीं माना जा सकता है। किन्तु सिद्धसेन के न्यायावतार का आंतरिक परीक्षण उन्हें दिङ्नाग के उत्तरकालीन सिद्ध करता है। इसलिए हमारे मत में सिद्धसेन का समय पांचवीं-छठी शती उपयुक्त है।<sup>१६५</sup> प्रस्तुत अध्ययन में सिद्धसेन के न्यायावतार एवं सन्मतितर्क का महत्वपूर्ण स्थान है।

**न्यायावतार**—न्यायावतार जैनन्याय की प्रथम व्यवस्थित रचना है। सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने मध्यकालीन न्याय के अन्तर्गत जैनन्याय की कृतियों में इसे प्रथम स्थान दिया है।<sup>१६६</sup> साधारणतया जैनन्याय का व्यवस्थित रूप ऋद्ध अकलङ्क से प्रारम्भ माना गया है, किन्तु न्यायावतार इस धारणा को मिथ्या सिद्ध कर देता है, क्योंकि इसमें प्रमाण का संक्षिप्त एवं सर्वांग विवेचन है। उसी का अकलङ्क

१६०. द्रष्टव्य (i) 'श्री सिद्धसेन दिवाकर ना समय नो प्रश्न' भारतीय विद्या, भाग ३, पृ० १५२ (ii) आगमयुग का जैन दर्शन, पृ० २७० (iii) सन्मतितर्कप्रकरण, प्रस्तावना

१६१. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृ. ५४३ से ५६६

१६२. आगमयुग का जैनदर्शन, पृ. २७१

१६३. आगमयुग का जैनदर्शन, पृ० २७१

१६४. उक्त च वादिमुख्येन श्री मल्लवादिना सम्मतौ।—अनेकान्तजयपताका, भाग-२, पृ० ४७

१६५. सिद्धसेन का यह समय निर्धारित करने के पीछे अनेक तर्क हैं, यथा-

(i) पुज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि में सिद्धसेन की तीसरी द्वात्रिंशिका का १६ वां पद्य उद्धृत हुआ है। द्रष्टव्य, सर्वार्थसिद्धि ७.१३ एवं तृतीय द्वात्रिंशिका का १६ वां पद्य।

(ii) न्यायावतार में जो 'अभ्रान्त' पद का उल्लेख हुआ है वह दार्शनिक असङ्ग से आया है, धर्मकीर्ति से नहीं। असङ्ग ने प्रत्यक्षलक्षण में अभ्रान्त पद का प्रयोग इस प्रकार किया है—'प्रत्यक्षं स्वसत्यप्रकाशाऽभ्रान्तोऽर्थः—अभि-धर्मसमुच्चय, विश्वभारती संस्करण, १९५९, परिच्छेद ४, पृ० १०५

१६६. A History of Indian Logic, p. 173

की कृतियों में विकास हुआ है। सिद्धसेन के समय तक प्रमाण का उपयोग आम बात हो गयी थी इसलिए वे कहते हैं कि प्रमाणादि की व्यवस्था अनादि निधनात्मक है तथा इसका व्यवहार करने वालों में भी यह प्रसिद्ध है, तथापि मूढ जनों के व्यामोह के निवारण हेतु इसकी रचना की जा रही है।<sup>१६७</sup>

प्रतिभामूर्ति सिद्धसेन की ३२ कारिका परिमित इस न्यायरचना में प्रमाण का लक्षण, प्रमाण-भेद एवं उनके स्वरूप का सारगर्भित निरूपण है। सिद्धसेन ने स्व एवं पर के आभासी तथा बाधविवर्जित ज्ञान को प्रमाण कहा है<sup>१६८</sup> तथा उसको प्रत्यक्ष एवं परोक्ष इन दो श्रेणियों में विभक्त किया है। परोक्ष प्रमाण में वे अनुमान एवं आगम प्रमाण का ही अन्तर्भाव करते हैं, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान व तर्क का नहीं। इसका तात्पर्य है कि स्मृति आदि प्रमाणों का विकास सिद्धसेन के पश्चात् भट्ट अकलङ्क आदि दार्शनिकों ने किया है।

सिद्धसेन ने प्रत्यक्ष-प्रमाण का विस्तृत विवरण नहीं देते हुए भी उसे अर्थ का साक्षात् ग्राहक ज्ञान प्रतिपादित किया।<sup>१६९</sup> दलसुखभाई मात्नवर्णिया का मत है कि उत्तरकाल में अकलङ्क द्वारा निरूपित सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष आचार्य सिद्धसेन को भी अभीष्ट है।<sup>१७०</sup> बौद्ध दर्शन में जिस प्रकार अनुमान के स्वार्थ एवं परार्थ भेद किये गये, सिद्धसेन उन्हें प्रत्यक्ष में भी लागू करते हैं।<sup>१७१</sup> सिद्धसेन का मत है कि प्रत्यक्ष एवं अनुमान दोनों प्रमाण अभ्रान्त हैं। भ्रान्त ज्ञान का प्रमाण होना शक्य नहीं है।<sup>१७२</sup> सिद्धसेन के अनुसार साध्याविनाभावी लिङ्ग से साध्य का निश्चय होना अनुमान है।<sup>१७३</sup> यह अनुमान तथोपपत्ति एवं अन्यथानुपपत्ति रूप द्विविध हेतुओं से होता है।<sup>१७४</sup> साध्य एवं साधन की व्याप्ति जहां निश्चित हो वहां साधर्म्य दृष्टान्त होता है तथा साध्य के अभाव में साधन का अभाव पाये जाने पर वैधर्म्यदृष्टान्त होता है।<sup>१७५</sup>

सिद्धसेन ने हेतु के अन्यथानुपपत्ति रूप लक्षण का प्रतिपादन करने के साथ उसके असिद्ध,

१६७. (१) प्रमाणादिव्यवस्थेयमनादिनिधनात्मिका ।  
 सर्वसंव्यवहर्तृणां प्रसिद्धापि प्रकीर्तिता ॥— न्यायावतार, ३२  
 (२) प्रसिद्धानां प्रमाणानां लक्षणोक्तौ प्रयोजनम् ।  
 तद्व्यामोहनिवृत्तिः स्याद् व्यामूढमनसामिह ॥ न्यायावतार, ३
१६८. प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम् ।— न्यायावतार, १
१६९. अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशम् ।  
 प्रत्यक्षमितरद् ज्ञेयं परोक्षं ग्रहणेक्षया ॥— न्यायावतार, ४
१७०. आगमयुग का जैन दर्शन, पृ० २७६
१७१. प्रत्यक्षेणानुमानेन प्रसिद्धार्थप्रकाशनात् ।  
 परस्य तदुपायत्वात् परार्थत्वं द्वयोरपि ॥— न्यायावतार, ११
१७२. अनुमानं तदभ्रान्तं प्रमाणत्वात् समक्षवत् ।  
 न प्रत्यक्षमपि भ्रान्तं प्रमाणत्वविनिश्चयात् ।  
 भ्रान्तं प्रमाणमित्येतद् विरुद्धवचनं यतः ।— न्यायावतार, ५-६
१७३. साध्याविनाभुनो लिङ्गात् साध्यनिश्चयकं स्मृतम् ।— न्यायावतार, ५
१७४. न्यायावतार, १७
१७५. न्यायावतार, १८-१९

अनैकान्तिक एवं विरुद्ध हेत्वाभासों का भी कथन किया है।<sup>१७६</sup> यह उनके प्रमाण-व्यवस्थापन के प्रौढत्व का सूचक है। सिद्धसेन ने अपनी इस लघुकाय कृति में प्रमाणों के साथ नय की भी चर्चा की है। उनके द्वारा प्रदत्त प्रमाता का लक्षण भी उल्लेखनीय है।<sup>१७७</sup>

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सिद्धसेन विरचित न्यायावतार जैनन्याय का निरूपण करने वाली आद्य कृति है, जिसका अवलम्बन उत्तरकालवर्ती जैन नैयायिकों ने अवश्य लिया है।

**शान्तिसूरि का वार्तिक एवं सिद्धर्षिगणि की विवृति** - न्यायावतार पर पूर्णतलगाच्छ्रीय शान्तिसूरि का वार्तिक तथा सिद्धर्षिगणि की विवृति (टीका) प्रसिद्ध है। शान्तिसूरि कृत वार्तिक एवं वृत्ति का प्रकाशन सिध्दी जैन ग्रंथमाला बंबई से पं० दलसुख मालवणिया के संपादन में १९४९ ई० में हुआ है। शान्तिसूरि ने अपने वार्तिक में सिद्धसेन कृत प्रमाण चिन्तन का पोषण एवं जैनैतर दार्शनिकों की प्रमाण मान्यताओं का खण्डन किया है। उन्होंने ज्ञाता की अपेक्षा से प्रमेय दो प्रकार का माना है तथा दूर एवं निकट से जो प्रतिभास में भेद होता है उसके आधार पर प्रमेय को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष कहा है।<sup>१७८</sup> शान्तिसूरि ने विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है तथा उसे तीन प्रकार का प्रतिपादित किया है- इन्द्रियप्रत्यक्ष, अनिन्द्रियप्रत्यक्ष एवं योगज प्रत्यक्ष।<sup>१७९</sup> वैशद्य की परिभाषा शान्तिसूरि की अपनी निजी विशेषता है। उनके अनुसार इदन्तया प्रतिभास ही वैशद्य है।<sup>१८०</sup> धर्मकीर्ति एवं दिङ्नाग का प्रभाव भी शान्तिसूरि पर परिलक्षित होता है। धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्ष को कल्पनापोढ कहकर उसे प्रत्यक्ष से सिद्ध बतलाया है। शान्तिसूरि ने प्रत्यक्ष को कल्पनायुक्त कहकर प्रत्यक्ष से ही सिद्ध कहा है।<sup>१८१</sup> शान्तिसूरि ने परोक्ष प्रमाण को दो प्रकार का माना है - लिङ्ग से होने वाला अनुमान एवं शब्दों से होने वाला आगम।<sup>१८२</sup> स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, एवं तर्क को शान्तिसूरि ने पृथक् प्रमाण नहीं माना है, किन्तु अन्य दार्शनिकों द्वारा मानने का उन्होंने उल्लेख किया है।<sup>१८३</sup> पात्रकेसरी के अन्यथानुपपन्नत्व श्लोक को भी शान्तिसूरि उद्धृत करते हैं। शान्तिसूरि आचार्य सिद्धसेन, मल्लवादी एवं समन्तभद्र के पश्चात्

१७६. अन्यथानुपपन्नत्व हेतोलक्षणमीरितम् ।

तदप्रतीतिसदेहविपर्यासैस्तदाभता ॥

असिद्धस्त्वप्रतीतो यो योऽन्यथैवोपपद्यते ।

विरुद्धो योऽन्यथाप्यत्र युक्तोऽनैकान्तिकः स तु ॥—न्यायावतार, २२-२३

१७७. प्रमाता स्वान्यनिर्भासी कर्ता भोक्ता विवृत्तिमान् ।

स्वसंवेदनसंसिद्धो जीवः क्षित्वाद्यनात्मकः ॥—न्यायावतार, ३१

१७८. न्यायावतारवार्तिक, १२-१४

१७९. न्यायावतारवार्तिक, १७

१८०. वैशद्यमिदन्त्वेनावभासनम् ।—न्यायावतारवार्तिक, १७

१८१. धर्मकीर्ति—प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिध्यति ।—प्रमाणवार्तिक २.१२३

शान्तिसूरि—प्रत्यक्षं कल्पनायुक्तं प्रत्यक्षेणैव सिध्यति ।—न्यायावतारवार्तिक, २८

१८२. परोक्ष द्विविधं प्राहुर्लिंगशब्दसमुद्भवम् ।—न्यायावतारवार्तिक, ३८

१८३. (i) लैङ्गिकात् प्रत्यभिज्ञादि भिन्नमन्ये प्रचक्षते ।—न्यायावतारवार्तिक, ३८

(ii) स्मृत्यूहादिकमित्येके— ।—न्यायावतारवार्तिक, १९

हुए हैं ऐसा उनके कथन से प्रतीत होता है—

असिद्धः सिद्धसेनस्य विरुद्धो मल्लवादिनः ।

द्वेषा समन्तभद्रस्य हेतुरेकान्तसाधने ॥—न्यायावतारवार्तिक, ५३

इसमें प्रदत्त क्रम संभवतः सिद्धसेन, मल्लवादी एवं समन्तभद्र का पौर्वापर्य निर्धारित कर देता है । मल्लवादी के नयचक्र का प्रथम पद्य भी शान्तिसुरि ने अपने वार्तिक में उद्धृत किया है ।<sup>१८४</sup>

सिद्धविगणि रचित न्यायावतारविवृति में धर्मकीर्ति, कुमारिल, धर्मोत्तर, प्रज्ञाकरगुप्त आदि दार्शनिकों का खण्डन हुआ है । इस आधार पर सिद्धविगणि को ई० नवीं शताब्दी में रखा जा सकता है । ए०एन०उपाध्ये ने इनका समय विक्रम संवत् ९६२ दिया है तदनुसार उन्हें ईसवीय नवीं शती में मानना उचित प्रतीत होता है । सिद्धविगणि की टीका सिद्धसेन के मूल-कथन को प्रकाशित करने के साथ अपनी मौलिक विशेषता भी रखती है ।

**सम्मतितर्कप्रकरण—**सिद्धसेन का प्राकृत भाषा में रचित यह महत्त्वपूर्ण दार्शनिक ग्रंथ है । इसमें १६६ पद्य तथा तीन काण्ड हैं । प्रथम काण्ड का नाम 'नयकंडयं' द्वितीय का नाम 'जीवकंडयं' है एवं तृतीय काण्ड के नाम का उल्लेख नहीं है । पं० सुखलाल संघवी ने इन तीनों काण्डों की विषयवस्तु के आधार पर उनको इस क्रम से नये नाम दिये हैं यथा- नयमीमांसा, ज्ञानमीमांसा एवं ज्ञेयमीमांसा । सम्पूर्ण सम्मतितर्क में सिद्धसेन ने अपने समय तक प्रचलित अथवा चर्चित दार्शनिक अभिमतों का अनेकान्त दृष्टि से परीक्षण किया है । वे प्रथमकाण्ड में अनेकान्तवाद से फलित नयवाद एवं सप्तभंगीवाद की चर्चा करते हैं । दूसरे काण्ड में दर्शन एवं ज्ञान की मीमांसा है । सिद्धसेन ने प्रतिपादित किया है कि दर्शन से द्रव्य का तथा ज्ञान से पर्याय का ग्रहण होता है ।<sup>१८५</sup> केवलज्ञान एवं केवल दर्शन का वे युगपद्भाव अथवा अभेदवाद स्थापित करते हैं । तीसरे काण्ड में अनेकान्तदृष्टि से ज्ञेयतत्त्व की चर्चा की गयी है । इसमें सामान्य और विशेषवाद, अस्तित्व और नास्तित्ववाद, आत्मस्वरूपवाद, द्रव्य और गुण का भेदाभेदवाद आदि अनेक विषयों का सूक्ष्म, विस्तृत एवं स्पष्ट निरूपण करते हुए एकान्त और अनेकान्त के उदाहरण देकर उनके गुण-दोष बतलाए गये हैं । सिद्धसेन की मान्यता है कि जितने वचनमार्ग होते हैं, उतने ही नय हो सकते हैं ।<sup>१८६</sup> नय के सम्बन्ध में उनका यह चिन्तन भारतीयदर्शन में आज भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है ।

सम्मतितर्कप्रकरण पर आचार्य अभयदेवसुरि कृत तत्त्वबोधविधायिनी नामक विस्तृत एवं

१८४. वह पद्य है-विधिनियमभंगवृत्तिव्यतिरिक्तत्वादनर्थकवचोवत् ।

जैनादन्यच्छासनमनृतं भवतीति वैधर्म्यम् ॥—न्यायावतारवार्तिक, ५६

१८५. जं सामण्यगहणं दंसणमेयं विसेसियं नाणं ।

दोणह वि णयाण एसो पाडेक्कं अत्थपज्जाओ ॥—सम्मतितर्कप्रकरण, २१

१८६. जावइआ वयणपहा तावइआ चैव हुति णयवाया ।—सम्मतितर्क-प्रकरण, ३.३७

महत्त्वपूर्ण टीका है जिसकी चर्चा आगे की जायेगी।

### समन्तभद्र (षष्ठ शती)

समन्तभद्र की विचारदृष्टि भी सिद्धसेन के सदृश अनेकान्तवाद से ओत-प्रोत है। जिस प्रकार सिद्धसेन की स्तुत्यात्मक द्वात्रिंशिकाएँ हैं उसी प्रकार समन्तभद्र भी स्तुतिपरक संस्कृत काव्य की रचना करते हैं। समन्तभद्र ने स्तुतिपरक काव्यों में ही दार्शनिक मन्तव्यों को गूँथ दिया है। दार्शनिक रचनाओं की दृष्टि से उनकी उपलब्ध तीन रचनाएँ प्रमुख हैं—आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन एवं स्वयम्भूस्तोत्र।<sup>१८७</sup> इनमें प्रथम दो कृतियाँ जैनेतर दार्शनिकों का उपस्थापन कर उनमें रही कमियों को प्रस्तुत करती हैं तथा आप्त की स्तुति करती हैं। समन्तभद्र के स्थितिकाल के सम्बन्ध में विवाद है। पं० जुगलकिशोर मुख्तार अनेक युक्तियाँ देकर इनको पूज्यपाद एवं सिद्धसेन से पूर्व दूसरी शताब्दी में रखते हैं।<sup>१८८</sup> दरबारी लाल कोठिया ने समन्तभद्र को नागार्जुन के उत्तरकालीन एवं दिङ्नाग के पूर्व सिद्ध किया है।<sup>१८९</sup> वे कुमारिल एवं धर्मकीर्ति को समन्तभद्र का आलोचक मानते हैं।<sup>१९०</sup> इस दृष्टि से कोठिया पं० जुगलकिशोर के समर्थक है। कैलाशचन्द्र शास्त्री ने इन्हें शबरस्वामी के काल में तीसरी चौथी शती का दार्शनिक माना है।<sup>१९१</sup> पं० सुखलाल संघवी, दलसुख मालवणिया आदि विद्वान् द्वितीय-तृतीय शती के मन्तव्यों का खण्डन करके इनको छठी शताब्दी का दार्शनिक सिद्ध करते हैं।<sup>१९२</sup> सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने भी ६०० ई० का समय निर्धारित किया है।<sup>१९३</sup> मुनि जम्बूविजय जी ने द्वादशारनयचक्र के प्राक्कथन में पृष्ठ १७ पर प्रतिपादित किया है कि समन्तभद्र ने दिङ्नाग के मन्तव्यों का खण्डन किया है। जो भी हो, किन्तु समन्तभद्र की रचनाओं का आन्तरिक परीक्षण इन्हें छठी शताब्दी से आगे नहीं ले जा पाता है। सिद्धसेन एवं समन्तभद्र की रचनाओं में अनेकत्र साम्य है। दोनों स्याद्वाद एवं अनेकान्तवाद के पोषक हैं तथा विज्ञानवाद, क्षणिकवाद आदि सिद्धान्तों का खण्डन करते हैं। दोनों पर धर्मकीर्ति एवं कुमारिल भट्ट का प्रभाव नहीं है। समन्तभद्र ने भावैकान्त, अभावैकान्त, नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त आदि का निराकरण कर अनेकान्त मार्ग से उनका समन्वय किया है। समन्तभद्र परीक्षाप्रधान आचार्य थे। आगे उनकी प्रमुख रचनाओं का परिचय दिया जा रहा है।

**युक्त्यनुशासन**—चौसठ पद्यों का युक्त्यनुशासन स्तुतिपरक काव्य होता हुआ भी युक्तिपूर्वक

१८७. समन्तभद्र की अन्य दो उपलब्ध रचनाएँ मानी जाती हैं—स्तुतिविद्या एवं रत्नकरणद्वाराकाचार। उनकी अनुपलब्ध रचनाएँ मानी गयी हैं—जीवसिद्धि एवं गन्धहस्तिभाष्य।

१८८. स्वामी समन्तभद्र का समय निर्णय, जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, प्रथम खण्ड, पृ. ६८९ से ६९७

१८९. जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, पृ० १०७ से ११८

१९०. जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, पृ० ११९ से १३३

१९१. जैन-न्याय, पृ० ९

१९२. सन्मतितर्कप्रकरण, प्रस्तावना

१९३. A History of Indian Logic, p. 183

जैनेतर दर्शनों की परीक्षा कर आप्तवचनों को युक्त्यनुकूल सिद्ध करता है एवं उन्हें समीचीन ठहराता है। इसमें स्तुत्यात्मक भावुकता कम एवं तार्किकता अधिक है। समन्तभद्र ने इसमें बौद्धों के क्षणिकवाद, निर्विकल्प प्रत्यक्ष, विज्ञानवाद आदि का खण्डन किया है। चार्वाक, मीमांसा, न्याय, वैशेषिक आदि के द्वारा मान्य दार्शनिक मन्तव्यों को भी बहुत सरल ढंग से समन्तभद्र ढहा देते हैं। वे यज्ञ में की जाने वाली हिंसा को भी अनुचित ठहराते हैं। सप्तभंगी-स्याद्वाद का निरूपण वे एक ही श्लोक में कर देने में दक्ष हैं।<sup>१९४</sup> समन्तभद्र ने आप्त के अर्थप्ररूपण को प्रत्यक्ष एवं आगम से अविरोद्ध कहकर युक्त्यनुशासित बतलाया है।<sup>१९५</sup> इससे प्रतीत होता है कि समन्तभद्र भी सिद्धसेन की भांति प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम ये तीन ही प्रमाण स्वीकार करते हैं।

**आप्तमीमांसा—**आप्तमीमांसा में दश परिच्छेद एवं ११४ कारिकाएँ हैं। नामानुसार इसमें आप्त की मीमांसा की गयी है। आप्त को समन्तभद्र ने निर्दोष बतलाया है तथा उनकी वाणी को युक्तिशास्त्र से अविरोद्ध कहा है।<sup>१९६</sup> समन्तभद्र की सरणि एकान्तवाद की विरोधी है, उन्होंने भाव, अभाव, अद्वैत, द्वैत, नित्य, अनित्य, भेद, अभेद, आदि एकान्तों की समीक्षा करके उनमें नयदृष्टि से पारस्परिक समन्वय स्थापित कर अनेकान्तवाद को प्रतिष्ठित किया है। अनेकान्त का कथन स्याद्वाद द्वारा होता है। समन्तभद्र स्याद्वाद का यह लक्षण निर्धारित करते हैं—

स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किञ्चित्चिद्विधिः ।

सप्तभङ्गन्यापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥ (आप्तमीमांसा, १०४)

अर्थात् सर्वथा एकान्त का त्याग करके कथञ्चित् विधान करना स्याद्वाद है। वह सात भंगों और नयों की अपेक्षा रखता है, तथा हेय और उपादेय के भेद को बतलाता है।

समन्तभद्र वस्तु को उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक सिद्ध करते हैं। वस्तु प्रतिसमय उत्पन्न होती है, नष्ट होती है एवं फिर भी ध्रुव बनी रहती है। घट को तोड़कर मुकुट बनाने पर घट नष्ट होता है, मुकुट उत्पन्न होता है एवं स्वर्ण बना ही रहता है।<sup>१९७</sup> यद्यपि आप्तमीमांसा न्यायविषयक रचना नहीं है, फिर भी इसमें कुछ अंशों में प्रमाण की चर्चा भी उपलब्ध होती है। प्रमाण का लक्षण देते समन्तभद्र ने तत्त्वज्ञान को प्रमाण कहा है।<sup>१९८</sup> वे केवलज्ञान रूप प्रमाण का फल उपेक्षा बतलाते हैं तथा शेष ज्ञानों या प्रमाणों का फल आदान, हान और उपेक्षा बतलाते हुए समस्त प्रमाणों का फल अज्ञाननाश भी

१९४. विधिनिषेधोऽनघिलाप्यता च, त्रिकशस्त्रिंश एक एव ।

त्रयो विकल्पास्तव सप्तधा ऽमी, स्याच्छब्देनैः सकलेऽर्थभेदे ॥—युक्त्यनुशासन, ४५

१९५. दृष्टागमाप्यामविरोद्धमर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते ।—युक्त्यनुशासन, ४८

१९६. स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् ॥—आप्तमीमांसा, ६

१९७. घटमौलिसुवर्णाधीं नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।

शोकप्रमोदमाध्यस्थं जनेो याति सहेतुकम् ॥—आप्तमीमांसा, ५९

१९८. तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत् सर्वभासनम् ।—आप्तमीमांसा, १०१



प्रतिपादित करते हैं।<sup>१९९</sup> समन्तभद्र युक्ति एवं तर्क से सर्वज्ञ की सिद्धि करते हैं।<sup>२००</sup> प्रमाण एवं प्रमाणाभास की चर्चा करते समय वे ज्ञान को प्रमेय मानने पर उसे प्रमाण ही मानते हैं तथा बाह्यार्थ को प्रमेय मानने पर प्रमाण एवं प्रमाणाभास दोनों की संभावना व्यक्त करते हैं।<sup>२०१</sup> समन्तभद्र ने बाह्यार्थ की सत्ता स्वीकार न करने वाले विज्ञानवादियों का खण्डन किया है तथा केवल बाह्यार्थ की सत्ता मानने वाले दार्शनिकों का भी खण्डन किया है।

आप्तमीमांसा पर जैनदर्शन के प्रतिष्ठाप्राप्त नैयायिक अकलङ्क ने अष्टशती नामक भाष्य लिखा है तथा अकलङ्क की अष्टशती पर विद्यानन्द ने अष्टसहस्री नामक विस्तृत टीका का निर्माण किया है। इनका परिचय अकलङ्क एवं विद्यानन्द के परिचय के साथ आगे दिया जायेगा।

**स्वयम्भूस्तोत्र** — यह स्तुतिपरक काव्य है जिसमें चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की गयी है और स्तुति के व्याज से ही अनेकान्तवाद, स्याद्वाद एवं नयवाद को प्रस्तुत किया गया है। समन्तभद्र कहते हैं कि जो सर्वथा असत् है उसका जन्म नहीं होता और जो सत् है उसका कभी नाश नहीं होता। बुझा हुआ दीपक भी अन्धकार रूप पुद्गल पर्याय के रूप में विद्यमान रहता है।<sup>२०२</sup> स्वयम्भूस्तोत्र में समन्तभद्र अनेकान्त का निरूपण करते हुए अनेकान्त को भी अनेकान्तात्मक बतलाते हैं।<sup>२०३</sup> वे स्याद्वाद के प्रबल समर्थक हैं तथा स्यात् शब्द से प्रभावित दिखाई देते हैं। उनके अनुसार स्यात् शब्द सर्वथा रूप से कथन करने के नियम का त्यागी एवं यथादृष्ट की अपेक्षा रखने वाला होता है।<sup>२०४</sup> स्याद्वाद प्रत्यक्ष एवं आगमादि प्रमाणों से अविरोध होता है तथा निर्दोष होता है।<sup>२०५</sup> समन्तभद्र का प्रसिद्धि प्राप्त प्रमाणलक्षण भी स्वयम्भूस्तोत्र में ही है जिसके अनुसार स्व-पर का प्रकाशक ज्ञान ही प्रमाण है।<sup>२०६</sup>

### मल्लवादी क्षमाश्रमण और द्वादशारनयचक्र ( ५वीं शती)

मल्लवादी क्षमाश्रमण<sup>२०७</sup> जैन दर्शन के प्रमुख विचक्षण तार्किक थे। ये अपनी रचना

१९९. उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः।

पूर्वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥—आप्तमीमांसा, १०२

२००. सूक्ष्मान्तरितदुर्गार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।

अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥—आप्तमीमांसा, ५

२०१. भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्वयः।

बहिः प्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तत्रिधं च ते ॥—आप्तमीमांसा, ८३

२०२. नैयासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति ।—स्वयम्भूस्तोत्र, २४

२०३. अनेकान्तो ऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।

अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽपि तात्रयात् ॥—स्वयम्भूस्तोत्र, १०३

२०४. सर्वधानियमत्यागी, यथादृष्टमपेक्षकः।

स्याच्छब्दस्तावके न्याये, नान्येषामात्मविद्विषाम् ॥—स्वयम्भूस्तोत्र, १०२

२०५. अनवद्यः स्याद्वादस्तव दृष्टेष्टाविरोधतः ।—स्वयम्भूस्तोत्र, १३८

२०६. स्वपरावभासकं ज्ञानं यथा प्रमाणं पुंवि बुद्धिलक्षणम् ।—स्वयम्भूस्तोत्र, ६३

२०७. एक मल्लवादी ने न्यायबिन्दु पर धर्मोत्तर टिप्पण लिखे हैं, किन्तु वे मल्लवादी द्वादशारनयचक्र के कर्ता क्षमाश्रमण मल्लवादी से भिन्न हैं ।—धर्मोत्तरप्रदीप, प्रस्तावना, पृ० ५५

द्वादशारनयचक्र<sup>२०८</sup> में वसुबन्धु एवं दिङ्नाग सम्मत दार्शनिक एवं प्रमाण सम्बद्ध मान्यताओं को उद्धृत कर उनका खण्डन करते हैं, किन्तु धर्मकीर्ति द्वारा प्रतिपादित मान्यताओं का इनकी रचना में कहीं भी संकेत नहीं मिलता है। अतः इनका समय दिङ्नाग (४७०-५३० ई०) के पश्चात् एवं धर्मकीर्ति (६२०-६८० ई०) के पूर्व होना चाहिए। मल्लवादी के सम्बन्ध में अनेक प्रशस्तियां मिलती हैं, जो इनको बौद्धों पर विजय प्राप्त करने वाला सिद्ध करती हैं। एक प्रशस्ति के अनुसार इन्होंने बुद्धानन्द नामक बौद्ध दार्शनिक को पराजित किया था।<sup>२०९</sup> हेमचन्द्राचार्य सिद्धहेमशब्दानुशासन में 'उत्कृष्टेऽनुपेन' २.३.३९ सूत्र की बृहद्भूति में 'अनुमल्लवादिनं तार्किकाः' द्वारा मल्लवादी की उत्कृष्टता प्रतिपादित करते हैं। प्रभावकचरित में उल्लिखित गाथा के आधार पर इन्होंने वीर संवत् ८८४ में बौद्धों पर विजय प्राप्त की थी।<sup>२१०</sup> वीरसंवत् ८८४ के आधार पर मल्लवादी की विजय विक्रम सं० ४१४ एवं ई० सन् ३५७ में स्थापित की जाती है, किन्तु दिङ्नाग मन्तव्यों का खण्डन करने के कारण मल्लवादी का समय दिङ्नाग के पूर्व निर्धारित नहीं किया जा सकता है। मल्लवादी की इस प्रसिद्ध रचना द्वादशारनयचक्र में वार्षगण्य, वसुरात एवं भर्तृहरि का भी खण्डन मिलता है।<sup>२११</sup> सिद्धसेन के सन्तितर्क पर मल्लवादी की टीका होने का भी हरिभद्र द्वारा उल्लेख है।<sup>२१२</sup> अतः मल्लवादी का समय सिद्धसेन एवं दिङ्नाग के समकालीन अथवा कुछ उत्तरवर्ती पांचवीं शती में होना चाहिए। यदि वीर निर्वाण संवत् ५२७ ई० पू० के स्थान पर ४६७ ई० पू० स्वीकार किया जाय तो मल्लवादी का समय ४१७ ई० निर्धारित होता है। मल्लवादी संभव है उसके पश्चात् ५०० ई० तक जीवित रहे हों और उन्होंने तभी दिङ्नाग आदि के मन्तव्यों का खण्डन किया हो।

मल्लवादी की रचनाओं में एकमात्र द्वादशारनयचक्र उपलब्ध है। उसका मूल रूप उस पर सिंहसूरि विरचित न्यायागमानुसारिणी टीका के आधार पर संकलित किया गया है। इस दिशा में विजयलब्धिसूरीश्वर द्वारा १९४८ ई० में प्रयास किया गया था। उनके अनन्तर व्यवस्थित रूप से मुनिब्रह्मविजय जी द्वारा प्रयास किया गया है। उनके द्वारा संपादित एवं संकलित द्वादशारनयचक्र के तीनों भाग प्रकाशित हो चुके हैं।

द्वादशारनयचक्र में जैनेतर मन्तव्य जो लोक में प्रचलित थे, उन्हीं को नय मानकर उनका विविधनयों के रूप में संग्रह किया गया है और किस प्रकार जैनदर्शन सर्वनयमय है, यह सिद्ध किया गया है। मिथ्यामतों का समूह होकर भी जैनमत किस प्रकार सम्यक् है और मिथ्यामतों के समूह का

२०८. जैनदार्शनिक साहित्य में अनेक "नयचक्र" हैं—श्रीमाइल्लधवल विरचित द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्र, देवसेन विरचित नयचक्र आदि, किन्तु द्वादशारनयचक्र इनसे सर्वथा प्राचीन है।

२०९. द्वादशारनयचक्र (ज) भाग-१, प्राक्कथन, पृ० १४

२१०. श्री वीरवत्सरादय शताष्टके चतुरशीतिसंयुक्ते।

जिग्ये से मल्लवादी बौद्धास्तद्व्यन्तराक्ष्यापि ॥—प्रभावकचरित, ८१, उद्धृत, द्वादशारनयचक्र (ज), भाग-१, प्राक्कथन, पृ० १५

२११. द्वादशारनयचक्र, (ज) भाग-१, प्राक्कथन पृ. १९-२२

२१२. उक्तं च वादिमुख्येन श्रीमल्लवादिना सम्मतौ—अनेकान्तजयपताका, भाग २, पृ० ४७

अनेकान्तवाद में किस प्रकार सामञ्जस्य होता है यह दिखाना नयचक्रकार का उद्देश्य है। द्वादशारनयचक्र में नय को बारह अरों के रूप में प्रस्तुत कर तत्कालीन दार्शनिक मान्यताओं का बलपूर्वक खण्डन किया गया है, तथा अनेकान्तवाद की स्थापना की गयी है। द्वादशारनयचक्र का प्रस्तुत अध्ययन में इसलिए अधिक महत्व है, क्योंकि इसमें दिङ्नाग सम्मत प्रमाण का खण्डन प्राप्त होता है।

### जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (षष्ठ-सप्तम शती)

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण प्रसिद्ध भाष्यकार हैं। इन्होंने आवश्यकसूत्र पर प्राकृतभाषा में विशेषावश्यकभाष्य की रचना की थी जिसमें विविध आगमिक एवं दार्शनिक विषयों के साथ ज्ञान पर भी चर्चा हुई है। भाष्य का अधिकांश मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि पांच ज्ञानों की चर्चा में रुका हुआ है। प्रमाण मीमांसा के परिप्रेक्ष्य में ज्ञान की चर्चा का बड़ा महत्व है, क्योंकि जैनदर्शन में ज्ञान को ही प्रमाण माना गया है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने अपने भाष्य में मतिज्ञान के भेदों का विवेचन करते हुए अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा के स्वरूप पर विशद प्रकाश डाला है।<sup>२१३</sup> उन्होंने ही जैन दार्शनिकों में सर्वप्रथम इन्द्रिय प्रत्यक्ष को सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष के रूप में प्रतिपादित किया।<sup>२१४</sup> यद्यपि जिनभद्र का प्रतिपाद्य प्रमाण नहीं रहा तथापि उनका यह भाष्य ज्ञानमीमांसा का विवेचन करने के कारण प्रमाणशास्त्र का अंग बन गया है।

विशेषावश्यकभाष्य पर जिनभद्र की स्वोपज्ञवृत्ति अपूर्ण रह गयी थी जिसे ऋट्याचार्य ने पूर्ण किया था तथा मल्लधारी हेमचन्द्र ने इस भाष्य पर वृत्ति का निर्माण किया है जो भाष्य के हार्द को समझने के लिए अत्यन्त उपादेय है। जिनभद्र का काल शक संवत् ५३१ ई० से पूर्व अर्थात् ईसवीय छठी सातवीं शती स्वीकार किया गया है।<sup>२१५</sup> ये श्वेताम्बर जैनाचार्य थे।

### सिंहसूरि (सप्तमशती का पूर्वार्द्ध)

मल्लवादी के द्वादशारनयचक्र पर सिंहसूरि की न्यायागमानुसारिणी टीका दार्शनिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इस टीका में सिंहसूरि सिद्धसेन के सम्मतितर्क एवं जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के विशेषावश्यकभाष्य से भी उपयोगी अंश उद्धृत करते हैं, किन्तु धर्मकीर्ति की रचनाओं का इन पर कोई प्रभाव नहीं है। अतः वे सिद्धसेन (पांचवीं शती) एवं जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण (षष्ठ शती) के पश्चात् हुए हैं तथा धर्मकीर्ति के पूर्व, ऐसा अनुमान होता है। चतुरविजयजी एवं विजयलब्धिसूरीश्वर जी ने नयचक्र की प्रस्तावना में सिंहसूरि को सप्तम शताब्दी के प्रारम्भिक काल में रखा है,<sup>२१६</sup> जो

२१३. द्रष्टव्य, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा १७८ से ४०५

२१४. इन्द्रियमणो भवं जं तं संख्यवहारपञ्चवखं ।—विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ९५

२१५. विशेषावश्यक भाष्य की रचना शक संवत् ५१३ तक हो गई थी, ऐसा जैसलमेर ज्ञान भण्डार के विशेषावश्यकभाष्य के ताडपत्र की अंतिम दो गाथाओं में दी गई तिथि से ज्ञात होता है ।—द्वादशारनयचक्र (ज) भाग-१, प्रस्तावना पृ० ७४

२१६. द्रष्टव्य, द्वादशारनयचक्र, (चतुरविजयजी द्वारा संपादित तथा विजयलब्धिसूरीश्वरजी द्वारा संपादित) भाग-१ की प्रस्तावना

समीचीन प्रतीत होता है। मुनि जम्बूकिजय जी देवर्धिगणिक्षमाश्रमण (विक्रमसंवत् ५१०) से सिंहसूरि को प्राचीन मानते हैं।<sup>२१७</sup>

सिंहसूरि अपनी टीका में वसुबन्धु, दिङ्नागादि दार्शनिकों के मन्तव्यों को पूर्व पक्ष में रखकर उनका खण्डन करते हैं। सिंहसूरि ने बौद्ध प्रमाणलक्षण में प्रत्यक्ष का विभिन्न दृष्टिकोणों से परीक्षण किया है।

### सुमति (सातवीं आठवीं शती)

सुमति नामक महान् जैनदार्शनिक की सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में दार्शनिक जगत् में धाक थी। यद्यपि सुमति नामक आचार्य की कोई कृति उपलब्ध नहीं है, किन्तु बौद्ध दार्शनिक ज्ञान्तरिक्षित तत्त्वसङ्ग्रह में अनेक बार सुमति नामक आचार्य के मत को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित करते हैं।<sup>२१८</sup> इससे सुमति नामक दिगम्बर जैनाचार्य के महत्त्व एवं काल का अनुमान हो जाता है। ज्ञान्तरिक्षित का समय ७०५ से ७६४ ई० माना गया है, सुमति उनसे पूर्व या उसी समय विद्यमान रहे होंगे। कमलशील तत्त्वसंग्रहपञ्जिका में सुमति का नामोल्लेख करके ही उनके मत की व्याख्या करते हैं,<sup>२१९</sup> इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कमलशील के काल में सुमति का मत प्रचलन में अथवा प्रभाव में रहा था। सुमति एक ऐसे दिगम्बर जैनाचार्य हैं जिन्होंने श्वेताम्बराचार्य सिद्धसेन के सम्मतितर्क पर विवृति लिखी थी।<sup>२२०</sup> वह विवृति अभी अनुपलब्ध है।

### पात्रस्वामी (सातवीं आठवीं शती)

सुमति की भाँति पात्रस्वामी अथवा पात्रकेसरी भी प्रसिद्ध जैन नैयायिक रहे हैं। इनकी प्रसिद्ध रचना है त्रिलक्षणकदर्शन। इसमें पात्रस्वामी की एक मौलिक देन है- हेतु के अविनाभावी लक्षण द्वारा बौद्धों के त्रिरूपहेतु (पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व एवं विपक्षासत्त्व) का खण्डन। अकलङ्क एवं अकलङ्कोत्तराचार्य इनके त्रिलक्षणकदर्शन के एक श्लोक को यत्र तत्र उद्धृत करते हुए देखे जाते हैं।<sup>२२१</sup> वह श्लोक है—

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ।

नानन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥

इस श्लोक में बौद्धों के हेतु त्रैरूप्य का खण्डन कर उसे अनावश्यक सिद्ध किया गया है। बौद्ध दार्शनिक ज्ञान्तरिक्षित ने भी इसे तत्त्वसङ्ग्रह में उद्धृत किया है।<sup>२२२</sup> ज्ञान्तरिक्षित ने पात्रस्वामी के मत

२१७. द्रष्टव्य, द्वादशारनयचक्र, (ज) प्राक्कथन, पृ० ३१

२१८. द्रष्टव्य, तत्त्वसंग्रह, कारिका १२६४, १२७५, १२७६, १७२३-२४, १७५४ आदि ।

२१९. यथा, तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, पृ० ४६३ कारिका १२६४ की व्याख्या में, 'नन्वित्यादिना प्रथमे हेतौ सुमतेर्दिगम्बरस्य मतेनासिद्धतामाशङ्कते ।'

२२०. पं. कैलाशचन्द्र, जैन न्याय, पृ० २५

२२१. यथा, न्यायविनिश्चय, १५४-५५, प्रमाणपरीक्षा, पृ० ४९, स्याद्वादरत्नाकर, पृ० ५२१, प्रमाणमीमांसा, पृ० ४०

२२२. तत्त्वसङ्ग्रह, १३६८

को विस्तार से उपस्थापित कर उसका निरसन किया है।<sup>२२३</sup> पात्रस्वामी की अन्य रचना का सम्प्रति कोई उल्लेख नहीं मिला है। इनका भी समय सातवीं शती के उत्तरार्द्ध एवं आठवीं शती के पूर्वार्द्ध में अकलङ्क के पूर्व रहा होगा। क्योंकि अकलङ्क इनके प्रसिद्ध श्लोक 'अन्यथानुपपन्नत्वं' को उद्धृत करते हैं।

### श्रीदत्त

श्रीदत्त नामक आचार्य का उल्लेख अकलङ्क के तत्त्वार्थवार्तिक<sup>२२४</sup> एवं विद्यानन्द के तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिक में मिलता है। विद्यानन्द ने श्रीदत्त को ६३ वादियों का जेता बतलाते हुए उनके जल्पनिर्णय नामक ग्रंथ का निर्देश किया है।<sup>२२५</sup> यह ग्रंथ वर्तमान में उपलब्ध नहीं है।

### कुमारनन्दी (आठवीं शती)

विद्यानन्द की कृतियों में कुमारनन्दी का अनेक बार उल्लेख हुआ है। कुमारनन्दी विद्यानन्द से पूर्व एवं अकलङ्क के पश्चात् हुए, ऐसा अनुमान लगाया जाता है। इनकी एक प्रसिद्ध कृति वादन्याय है जो सम्प्रति अनुपलब्ध है। विद्यानन्द ने प्रमाणपरीक्षा में कुमारनन्दी का एक श्लोक उद्धृत किया है<sup>२२६</sup> जो उनके न्यायविषयक पाण्डित्य का पर्याप्त निदर्शन है।

### हरिभद्रसूरि (७००-७७० ई०)

आठवीं सदी में याकिनीमहत्तरासूनु आचार्य हरिभद्र ने अनेकविध ग्रंथों की रचना कर ख्याति अर्जित की। वे भारतीय दर्शन के प्रकाण्डज्ञाता थे। षड्दर्शनसमुच्चय नामक उनकी दार्शनिक कृति इसका निदर्शन है। हरिभद्रसूरि ने प्रमाणशास्त्रीय ग्रंथ निर्माण की ओर कम ध्यान दिया, तथापि अनेकान्त सिद्धान्त के स्थापनार्थ रचित उनकी कृति अनेकान्तजयपताका प्रमाणशास्त्रीय विषयों का भी यथाप्रसंग प्रतिपादन करती है। हरिभद्रसूरि की अन्य दार्शनिक रचना शास्त्रवार्तासमुच्चय है जो अनेकदृष्टियों से उल्लेखनीय है। हरिभद्रसूरि ने बौद्ध प्रमाण-शास्त्रों पर भी टीकाएँ एवं व्याख्याएँ लिखी हैं, इसका निदर्शन शंकरस्वामी के न्यायप्रवेश पर लिखी गयी पञ्जिका है। किन्तु यह हरिभद्रसूरि इनसे भिन्न है या वही है, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता है। हरिभद्रसूरि के काल के सम्बन्ध में विशेष विवाद नहीं रहा। ई० ७०० से ७७० तक उनकी विद्यमानता मानी जाती है।<sup>२२७</sup>

### अकलङ्क एवं तदुत्तरवर्ती प्रमाणमीमांसा (८वीं से १२ वीं शती)

अकलङ्क के पूर्व जैनन्याय विषयक रचनाएं अत्यल्प थीं, स्तुत्यात्मक एवं अनेकान्तवाद की

२२३. तत्वसङ्ग्रह, १३५३-१४२८

२२४. श्रीदत्तमिति, सिद्धसेनमिति—तत्त्वार्थवार्तिक, १.१३.१

२२५. द्विप्रकारं जगौ जल्पं तत्त्वप्रातिभगोचरम्।

त्रिषष्टेर्वादिनां जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णयः ॥— तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, निर्णयसागर, बम्बई, पृ. २८०

२२६. तथा चाभ्यधायि कुमारनन्दि षट्कारकैः—

अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणलिङ्गमग्यते । प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः ॥— प्रमाणपरीक्षा, पृ० ४९

२२७. हरिभद्रसूरि के सन्दर्भ में विशेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य, पं० सुखलाल संघवी, समदर्शी आचार्य हरिभद्र, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, सन् १९६३

प्रतिष्ठापक रचनाओं का ही बाहुल्य था, किन्तु ८वीं शती से १२वीं शती के काल में अकलङ्क, विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, माणिक्यनन्दी, वादिराज, अभयदेवसूरि, प्रभाचन्द्र, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र आदि ने जैन-न्याय का उन्नयन एवं विशिष्ट प्रतिपादन किया। जैनन्याय के प्रतिपादन की दृष्टि से यह स्वर्णिम काल कहा जा सकता है।

### अकलङ्क (७२० से ७८० ई०)

जैनन्याय को बृहद् स्तर पर व्यवस्थित रूप अकलङ्क ने दिया। इसलिए अकलङ्क को जैन न्याय का प्रतिष्ठापक आचार्य कहा जाता है। अकलङ्क की रचनाओं में बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर गुप्त, कर्णकगोमी तथा मीमांसा दार्शनिक कुमारिलभट्ट का खण्डन किया गया है। अकलङ्क के समय निर्धारण के सम्बन्ध में दो मान्यताएं प्रचलित हैं। श्रीकण्ठ शास्त्री, जुगलकिशोर मुख्तार, पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, आदि कुछ विद्वान् अकलङ्क को सातवीं शताब्दी (६४३ ई०) का सिद्ध करते हैं तो, के० बी० पाठक, सतीशचन्द्र विद्याभूषण, पं० नाथूराम प्रेमी आठवीं शताब्दी का बतलाते हैं। महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य पूर्वप्रचलित मतों पर गहरा विचारकर उन्हें ७२०-७८० ई० के मध्य निर्धारित करते हैं।<sup>२२८</sup> अकलङ्क की कृतियों के आन्तरिक परीक्षण के पश्चात् महेन्द्रकुमार की स्थापना अधिक समीचीन प्रतीत होती है।

अकलङ्क प्रखर तार्किक, वाग्मी एवं प्रतिभासम्पन्न जैन नैयायिक थे। इनको षट्त्तर्ककुशल, वादीभसिंह और वादिसिंह भी कहा गया है।<sup>२२९</sup> भट्ट अकलङ्क ने दो टीका ग्रंथ लिखे हैं—तत्त्वार्थवार्तिक एवं अष्टशती तथा चार न्याय विषयक स्वतंत्र ग्रंथों की रचना की है—सधीयस्त्रय (सवृत्ति), न्यायविनिश्चय (सवृत्ति), प्रमाणसङ्ग्रह और सिद्धिविनिश्चय (सवृत्ति)। इनका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

**तत्त्वार्थवार्तिक**—उमास्वाति रचित तत्त्वार्थसूत्र पर अकलङ्क से पूर्व पूज्यपाद देवनन्दी ने सर्वार्थसिद्धि टीका लिखी थी। अकलङ्क ने तत्त्वार्थसूत्र पर वार्तिक की रचना की जिसे तत्त्वार्थवार्तिक अथवा तत्त्वार्थराजवार्तिक के नाम से जाना गया। वार्तिक में भट्ट अकलङ्क ने दिङ्नाग निरूपित प्रमाणलक्षण, प्रत्यक्षलक्षण आदि का निरसन किया है। अकलङ्क ने अपने अन्य ग्रंथों में जहां प्रमाण को कथञ्चित् अनधिगतार्थग्राही प्रतिपादित किया है, वहां उन्होंने तत्त्वार्थवार्तिक में अनधिगतार्थग्राहिता लक्षण को अनुपपन्न बतलाकर अधिगतार्थग्राही ज्ञान को भी प्रदीप की भांति प्रकाशक स्वीकार किया है।<sup>२३०</sup> कल्पनापोढ-प्रत्यक्ष लक्षण, मानस-प्रत्यक्ष, आदि का भी अकलङ्क ने निरसन किया है। यद्यपि तत्त्वार्थवार्तिक का मुख्य प्रतिपाद्य प्रमाणविद्या नहीं है, तथापि अकलङ्क ने प्रथम अध्याय में न्याय,

२२८. अकलङ्कग्रन्थत्रय, प्रस्तावना, पृ० १३-३२

२२९. सिद्धिविनिश्चयटीका, प्रस्तावना, पृ० ५५

२३०. यथा अन्धकारोऽवस्थितानां घटादीनामुत्पत्त्यनन्तरं प्रकाशकः ; प्रदीप उतरकालमपि न तं व्यपदेशं जहाति तदवस्थानकारणत्वात्, एवं ज्ञानमप्युत्पत्त्यनन्तरं घटादीनामवभासकं भूत्वा प्रमाणत्वमपि न तं व्यपदेशं त्यजति तदर्थत्वात् ।—तत्त्वार्थवार्तिक, १.१.२.१२, पृ० ५६

वैशेषिक, सांख्य आदि समस्त दर्शनों के प्रमाण के स्वरूप पर संक्षिप्त विचार किया है।

**अष्टशती**—समन्तभद्र की **आप्तमीमांसा** पर आठ सौ श्लोक परिमाण में **अकलङ्क** ने भाष्य की रचना की जिसे **अष्टशती** कहा जाता है। यह भाष्य **समन्तभद्र** के दार्शनिक विचारों को तत्कालीन परिवेश में प्रस्तुत करता है। यह गहन, संक्षिप्त एवं अर्थगाम्भीर्य से परिपूर्ण है। इसमें **आप्तमीमांसा** में उल्लिखित विषयों से अतिरिक्त विषयों का भी समावेश किया गया है, जिनमें बौद्धों के प्रति तर्क प्रमाण की सिद्धि, स्वलक्षण के अनिर्देश्यत्व एवं अनभिलाष्यत्व का खण्डन आदि प्रमुख हैं। **अकलङ्क** ने इसमें प्रमाण को अनधिगतार्थग्राही होने से अविसंवादक प्रतिपादित किया है।<sup>२३१</sup> 'तत्त्वज्ञान प्रमाणम्' कारिका की व्याख्या में प्रमाण के सम्बन्ध में विस्तृत विचार किया गया है<sup>२३२</sup> जिसमें बौद्ध प्रतिपादित प्रमाणलक्षण भी परीक्षित हुआ है।

**लघीयस्त्रय**—जैन प्रमाण-मीमांसा के व्यवस्थापन की दृष्टि से **अकलङ्क** की कृतियों में **लघीयस्त्रय** का प्रमुख स्थान है। इसका प्रथम प्रकाशन 'अकलङ्कमंत्रयम्' में सिंधी जैन ज्ञानपीठ द्वारा १९३९ ई० में पं० **महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य** के संपादन में हुआ है। यह छोटे छोटे तीन प्रकरणों का संग्रह है, जिन्हें प्रवेश कहा गया है। वे तीन प्रवेश हैं—(१) **प्रमाणप्रवेश** (२) **नयप्रवेश** और (३) **प्रवचन प्रवेश**। इन तीनों प्रवेशों में कुल ७८ कारिकाएँ हैं जिन पर स्वयं **अकलङ्क** ने विवृति लिखी है। यह विवृति कारिकाओं की व्याख्या मात्र न होकर उनमें सूचित विषयों की पूरक है। **अकलङ्क** ने कारिकाओं में छूटे विषय को विवृति में पूरा किया है। सम्पूर्ण **लघीयस्त्रय** में ६ परिच्छेद हैं। **प्रमाणप्रवेश** के चार तथा **नयप्रवेश** एवं **प्रवचन प्रवेश** के एक-एक परिच्छेद हैं।

**प्रमाणप्रवेश** में प्रमाणों की चर्चा है, जिसमें प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रमाण का स्वरूप बतलाकर प्रत्यक्ष के सांख्यव्यवहारिक एवं मुख्य ये दो भेद किये गये हैं।<sup>२३३</sup> सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष को इन्द्रियनिमित्त एवं अनिन्द्रियनिमित्त में विभक्त कर अवग्रहादि की प्रमाणता सिद्ध की गयी है। अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा को प्रमाण प्रतिपादित करते समय पूर्व ज्ञान की प्रमाणता एवं उत्तर ज्ञान की फलरूपता बतलायी गयी है। प्रमेय को **अकलङ्क** ने द्रव्यपर्यायात्मक सिद्ध किया है। नित्यैकान्त एवं क्षणिकैकान्त में अर्थक्रियाकारित्व का अभाव निरूपित किया है। परोक्षप्रमाण चर्चा में मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान का भेद प्रतिपादित कर तर्क का पृथक् प्रामाण्य सिद्ध किया है। साध्याविनाभावी लिङ्ग से लिङ्गी के ज्ञान को अनुमान का लक्षण निरूपित कर कारण, पूर्वचर एवं उत्तरचर हेतुओं का समर्थन किया है। उपमान का अन्तर्भाव प्रत्याभिज्ञान में किया है तथा अदृश्यानुपलब्धि से अभाव की सिद्धि निरूपित की है। उन्होंने विकल्पबुद्धि का प्रामाण्य अंगीकार किया है। **प्रमाणप्रवेश** के अंतिम परिच्छेद में किसी भी

२३१. प्रमाणमविसंवादिज्ञानमनधिगतार्थाऽधिगमलक्षणत्वात् ।— अष्टशती, पृ० १७५

२३२. द्रष्टव्य, अष्टशती, पृ० २७५-८४

२३३. प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंख्यव्यवहारतः ।

परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाणे इति सद्ग्रहः ॥—लघीयस्त्रय, ३

ज्ञान में ऐकान्तिक प्रमाणता या अप्रमाणता का निषेध करके अकलङ्क ने प्रमाणाभास का स्वरूप निर्धारित किया है। अविस्वादा और विस्वादा के आधार पर प्रमाण तथा प्रमाणाभास की व्यवस्था की है तथा श्रुत की प्रमाणता एवं शब्दों की अर्थवाचकता आदि पर विचार किया है।

नय प्रवेश में नय एवं दुर्नय के लक्षण, नयों के द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक भेद तथा नैगमादिनयों में अर्थनय व शब्दनय के प्रयोग आदि पर विचार हुआ है। यह कहा जा सकता है इस प्रवेश में सम्पूर्ण नय-परिवार का विवेचन है।

प्रवचन प्रवेश में प्रमाण और नय का पुनः भिन्न परिप्रेक्ष्य में विचार करने के अतिरिक्त निक्षेप का भी वर्णन हुआ है। कुछ अन्य विषयों यथा अर्थ एवं आलोक की ज्ञानकारणता का खण्डन, तज्जन्य, ताद्रूप्य और तदध्ववसाय का प्रामाण्य में अप्रयोजकत्व, सकलादेश एवं विकलादेश आदि पर भी चर्चा की गयी है।

लघीयस्त्रय पर प्रभाचन्द्र ने विशाल टीका का निर्माण किया है जिसे लघीयस्त्रयालङ्कार अथवा न्यायकुमुदचन्द्र कहा जाता है। इसका परिचय प्रभाचन्द्र के प्रसंग में न्यायकुमुदचन्द्र नाम से आगे दिया गया है।

**न्यायविनिश्चय** — न्यायविनिश्चय नाम सिद्धसेन के न्यायावतार के न्याय तथा धर्मकीर्ति के प्रमाणविनिश्चय के विनिश्चय का मेल प्रतीत होता है। न्यायविनिश्चय का प्रकाशन सर्वप्रथम 'अकलङ्कग्रंथत्रयम्' में १९३९ ई० में हुआ। तदनन्तर चादिराज के विवरण के साथ इसका प्रकाशन दो भागों में भारतीय ज्ञानपीठ, काशी द्वारा क्रमशः सन् १९४९ व १९५४ ई० में किया गया। अकलङ्क ने न्यायविनिश्चय पर भी लघीयस्त्रय की भाँति विवृति की रचना की है, किन्तु वह उपलब्ध नहीं है। न्यायविनिश्चय के मूलपाठ का उद्धार चादिराज के विवरण से किया गया है, जिसमें वे केवल श्लोकों की ही व्याख्या करते हैं, विवृति की नहीं, अतः विवृति अभी उपलब्ध नहीं हो सकी है। न्यायविनिश्चय में तीन प्रस्ताव हैं, प्रत्यक्ष, अनुमान और प्रवचन।

प्रत्यक्ष प्रस्ताव में स्पष्ट एवं साकार ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा गया है। अकलङ्क इसमें इन्द्रिय प्रत्यक्ष को भी परिभाषित करते हैं, तथा ज्ञान को स्वसंवेदी सिद्ध करते हैं। ज्ञानान्तरवेद्यज्ञान, साकारज्ञान, संवेदनाद्वैत आदि का उन्होंने खण्डन किया है। अकलङ्क ने सांख्य, न्याय आदि के प्रत्यक्षलक्षण का निरसन करने के साथ बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति के प्रत्यक्षलक्षण की भी आलोचना की है।

अनुमान प्रस्ताव अनुमान विषयक चर्चा से सम्बद्ध है। इसमें अकलङ्क ने साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहा है। साध्य को शक्य, अभिप्रेत एवं अप्रसिद्ध कहा है तथा उससे भिन्न साध्य को साध्याभास कहा है। उन्होंने हेतु की त्रिरूपता का खण्डन कर अन्यथानुपपत्ति का समर्थन किया है, तथा तर्क का पृथक् प्रामाण्य सिद्ध किया है। अनुपलम्भ, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर हेतु का



संकेत करने के साथ इसमें असिद्धादि हेत्वाभासों का भी वर्णन प्रतिपादित है। जाति, निग्रह, वाद आदि की भी चर्चा की गयी है।

**प्रवचन प्रस्ताव** में आप्त के सर्वज्ञ होने की सिद्धि की गयी है तथा सुगत के आप्तत्व एवं करुणावत्व का निरसन किया गया है। इसमें वेद के अपौरुषेयत्व, शब्दनित्यत्व आदि का भी खण्डन हुआ है तथा सप्तभंगी एवं स्याद्वाद का सम्यक् निरूपण हुआ है। इस प्रस्ताव में स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदि का प्रामाण्य निरूपित है तथा प्रमाण के फल की भी चर्चा की गयी है।<sup>२३४</sup>

इस दृष्टि से न्यायविनिश्चय न्याय की विशिष्ट कृति है जो जैनदृष्टि से जैनतरदर्शनों की सम्यक् रूपेण परीक्षा करती है। न्यायविनिश्चय पर वादिराज की टीका है जिसे न्यायविनिश्चयविवरण कहा गया है।

**सिद्धिविनिश्चय** — इसमें सिद्धि को ही प्रमाण बतलाकर उसी दृष्टि से सम्पूर्णग्रन्थ की रचना कर दी गयी है। सिद्धिविनिश्चय में १२ प्रस्ताव हैं। ग्रंथ की विषयवस्तु का अनुमान प्रस्तावों के नामों से हो जाता है, यथा १. प्रत्यक्ष सिद्धि २. सविकल्पसिद्धि ३. प्रमाणान्तर सिद्धि (स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क) ४. जीवसिद्धि ५. जल्पसिद्धि ६. हेतुलक्षणसिद्धि ७. शास्त्रसिद्धि ८. सर्वज्ञ सिद्धि ९. शब्दसिद्धि १०. अर्थनय सिद्धि ११. शब्दनय सिद्धि और १२. निक्षेप सिद्धि।

इन १२ प्रस्तावों की विषय सामग्री को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है- (१) प्रमाणमीमांसा (२) प्रमेय मीमांसा (३) नय मीमांसा और (४) निक्षेप मीमांसा। प्रस्तुत ग्रन्थ में बौद्ध न्याय के निरसन से सम्बद्ध विषयों पर ही विचार अपेक्षित है। उस क्रम में अकलङ्क ने बौद्ध निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का खण्डन कर व्यवसायात्मक प्रत्यक्ष की प्रमाणता और विशदता का स्थापन किया है, विज्ञानाद्वैत का खण्डन कर बाह्यार्थ की सिद्धि की है तथा अविस्वादा की बहुलता से प्रामाण्य का निर्धारण किया है। अकलङ्क कहते हैं कोई भी ज्ञान सर्वथा प्रमाण या अप्रमाण नहीं होता, अविस्वाद की बहुलता से वह प्रमाण तथा विस्वादा की बहुलता से अप्रमाण होता है।<sup>२३५</sup> वे क्षणिकवाद में अर्थक्रिया का अभाव बतलाकर बौद्ध प्रमाण-स्वरूप का खण्डन करते हैं।

अकलङ्क का कहना है कि तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति से अविनाभाव की व्याप्ति संभव नहीं है। अन्यथा नुपपत्ति को ही वे हेतु का लक्षण सिद्ध करते हैं। स्वलक्षण के अवाच्यत्व का भी सिद्धिविनिश्चय में खण्डन किया गया है। सिद्धिविनिश्चय पर अनन्तवीर्य ने टीका लिखी है जिसका उल्लेख आगे सिद्धिविनिश्चयटीका नाम से किया गया है।

**प्रमाणसङ्ग्रह**—यह अकलङ्क की अंतिम कृति है, ऐसा इसकी प्रौढ शैली से ज्ञात होता है।

२३४. प्रमाणस्य फलं तत्त्वनिर्णयादानहानधीः ।

निःश्रेयसं परं वेति केवलस्याप्युपेक्षणम् ॥—न्यायविनिश्चय, ४७६

२३५. यथा यत्राविस्वादस्तथा तत्र प्रमाणता ।—सिद्धिविनिश्चय, १.१९

प्रमाणसङ्ग्रह की रचना न्यायविनिश्चय के अनन्तर हुई थी यह निश्चित है, क्योंकि न्यायविनिश्चय की अनेक कारिकाएँ बिना किसी उपक्रम वाक्य के प्रमाणसंग्रह में रख दी गयी हैं। अकलङ्क ने अन्य रचनाओं के पश्चात् अवशिष्ट प्रमाण-विषयक विचारों का इस ग्रंथ में संग्रह कर दिया है, अतः यह गहन एवं दुरुह बन गया है। इसमें ९ प्रस्ताव तथा ८७-१/२ कारिकाएँ हैं। स्वयं अकलङ्क ने इन कारिकाओं पर पूरक विवृति की रचना की है।

प्रमाणसङ्ग्रह की विषय-वस्तु लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय एवं सिद्धिविनिश्चय की विषयवस्तु का समाहार करती है। इसमें भी अन्य ग्रंथों की भांति प्रत्यक्ष का लक्षण, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क की प्रमाणता निरूपित की गयी है। त्रिरूपता का खण्डन कर अन्यथानुपपत्ति रूप हेतुलक्षण का समर्थन किया गया है। प्रमाणसंग्रह में कुछ विषय सर्वथा नवीन हैं, यथा अनुमान के अवयवों का विधान तथा हेतु के उपलब्धि, अनुपलब्धि आदि अनेक भेदों का विस्तृत विवेचन। प्रमाणसंग्रह में शून्यवाद, संवृतिवाद, विज्ञानवाद, अपोहवाद, मिथ्यासन्तान, निर्विकल्पकप्रत्यक्ष तथा परमाणुसंचय को प्रत्यक्ष का विषय मानने वाले बौद्धों को जड़ कहा गया है।<sup>२३६</sup>

प्रमाणसङ्ग्रह पर अनन्तवीर्य कृत प्रमाणसङ्ग्रहभाष्य अथवा प्रमाणसङ्ग्रहालङ्कार नामक टीका रही है, ऐसा अनन्तवीर्य ने सिद्धिविनिश्चय टीका में स्वयं उल्लेख किया है,<sup>२३७</sup> किन्तु यह भाष्य सम्प्रति अनुपलब्ध है।

अकलङ्क द्वारा व्यवस्थित स्वरूप दिए जाने के कारण जैन न्याय को अकलङ्कन्याय के नाम से भी जाना जाता है। अकलङ्क की न्यायविषयक रचनाओं के चार प्रमुख टीकाकार हैं-विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, वादिराज एवं प्रभाचन्द्र। विद्यानन्द ने अकलङ्कीय अष्टशती पर अष्टसहस्री टीका की रचना की है। अनन्तवीर्य ने सिद्धिविनिश्चय पर वादिराज ने न्यायविनिश्चय पर एवं प्रभाचन्द्र ने लघीयस्त्रय पर टीकाओं का निर्माण किया है, जिनका परिचय यथाक्रम आगे दिया जा रहा है।

विद्यानन्द (७७५ से ८४० ई.)

अकलङ्क के टीकाकारों में विद्यानन्द<sup>२३८</sup> प्रथम हैं। विद्यानन्द को जैन एवं जैनैतर दर्शनों का अच्छा अभ्यास था। दरबारी लाल कोठिया इनका समय ७७५ ई. से ८४० ई. के मध्य सिद्ध करते हैं,<sup>२३९</sup> जो समीचीन प्रतीत होता है। आचार्य विद्यानन्द की छह स्वतन्त्र रचनाएँ तथा तीन टीका ग्रंथ हैं। स्वतंत्र रचनाएँ हैं—१. विद्यानन्दमहोदय, २. आप्तपरीक्षा ३. प्रमाणपरीक्षा ४. पत्रपरीक्षा ५.

२३६. शून्यसंवृतिविज्ञानकथानिष्फलदर्शनम्।

संचयापोहसन्तानाः सप्तैते जाड्यहेतवः ॥— प्रमाणसंग्रह, ६.५७-५८

२३७. (१) इति चर्चितं प्रमाणसंग्रहभाष्ये ।—सिद्धिविनिश्चयटीका, प्रथम भाग, पृ० ८

(२) इत्युक्तं प्रमाणसंग्रहालङ्कारे—सिद्धिविनिश्चयटीका, प्रथम भाग, पृ० १०

(३) शेषमत्र प्रमाणसंग्रहभाष्यात् प्रत्येयम् ।—सिद्धिविनिश्चयटीका, प्रथम भाग, पृ० १३०

२३८. इनको विद्यानन्दी नाम से भी जाना जाता है।

२३९. आप्तपरीक्षा, प्रस्तावना, पृ० ४७-५३

सत्यशासनपरीक्षा एवं ६. श्रीपुरपाश्वर्चनायस्तोत्र । टीका ग्रंथ हैं—१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक २. अष्टसहस्री एवं ३. युक्त्यनुशासनालङ्कार । इनमें प्रमाण-चर्चा से सम्बद्ध उपलब्ध प्रमुख ग्रंथ हैं—प्रमाणपरीक्षा, अष्टसहस्री एवं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ।

सम्प्रति विद्यानन्दमहोदय अनुपलब्ध है, किन्तु इसका उल्लेख विद्यानन्द की ही अन्य कृतियों तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक एवं अष्टसहस्री में हुआ है ।<sup>२४०</sup> स्याद्वावादरत्नाकर के रचयिता वादिदेवसूरि इस कृति का उल्लेख महोदय शब्द से करते हैं ।<sup>२४१</sup> इस दृष्टि से यह अनुमान होता है कि विद्यानन्दमहोदय एक महत्वपूर्ण दार्शनिक ग्रंथ रहा होगा, किन्तु अनुपलब्ध होने से उसकी सम्पूर्ण विषयवस्तु के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता ।

आप्तपरीक्षा में आप्त के लक्षणों की ईश्वर, कपिल, बुद्ध एवं ब्रह्म में परीक्षा कर अर्हन् में आप्तत्व निर्धारित किया गया है तथा अर्हन् को सर्वज्ञ भी सिद्ध किया गया है । इसमें कुल १२४ कारिकाएँ हैं जिन पर स्वयं विद्यानन्द की स्वोपज्ञटीका आप्तपरीक्षालङ्कृति है । विषयवस्तु की दृष्टि से यह ग्रंथ पांच प्रकरणों में विभक्त किया गया है— १. ईश्वर परीक्षा २. कपिल परीक्षा ३. सुगत परीक्षा ४. परम पुरुष परीक्षा और ५. अर्हत् सर्वज्ञ सिद्धि ।

सत्यशासनपरीक्षा नामक ग्रंथ पुरुषाद्वैत, शब्दाद्वैत, विज्ञानाद्वैत आदि विभिन्न चौदह शासनों की परीक्षा करने की प्रतिज्ञा करता है, किन्तु अंतिम दो शासन तत्त्वोपप्लव एवं अनेकान्त इसमें अनुपलब्ध हैं । बारहवां शासन प्रभाकर मीमांसा का है, जो भी पूर्ण प्रतीत नहीं होता है । इसमें विद्यानन्द की दृष्टि विभिन्न शासनों में सत्य की परीक्षा करने में समर्पित है ।

विद्यानन्द कृत श्रीपुरपाश्वर्चनायस्तोत्र, समन्तभद्र विरचित आप्तमीमांसा एवं युक्त्यनुशासन के सदृश स्तोत्रग्रंथ होते हुए भी एक तार्किक कृति है, जिसमें श्रीपुरस्य भगवान् पाश्वर्नाथ की स्तुति के व्याज से कपिलादिक की अनाप्तता सिद्ध की गयी है ।

युक्त्यनुशासनालङ्कार समन्तभद्रीय स्तोत्रग्रंथ युक्त्यनुशासन पर रचित टीका है । इसका प्रकाशन विक्रम संवत् १९७७ में माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला में हुआ था, किन्तु अब वह अप्राप्य है ।

पत्रपरीक्षा में पत्रलक्षण की परीक्षा की गयी है । मौखिक वाद न होकर जब पत्र द्वारा वाद हो तो उसे संभवतः पत्र माना गया है ।<sup>२४२</sup> पत्र में विद्यानन्द ने प्रतिज्ञा एवं हेतु को अनुमान का अवयव बतलाया है । कुत्रचित् अनुमान के दश अवयवों का भी समर्थन किया गया है । इस प्रकार पत्रपरीक्षा

२४०. (१) इति परीक्षितमसकृद्विद्यानन्दमहोदये ।—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, निर्णयसागर प्रेस, पृ० २७२

(२) अवगम्यताम् यथागमं प्रपञ्चेन विद्यानन्दमहोदयात् - तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, निर्णयसागर प्रेस, पृ० ३८५

(३) इति तत्त्वार्थालङ्कारे विद्यानन्दमहोदये च प्रपञ्चतः प्ररूपितम् ।—अष्टसहस्री, पृ० २८९-२९०

२४१. स्याद्वावादरत्नाकर, पृ. ३४९

२४२. प्रसिद्धावयवं वाक्यं स्वेष्टस्यार्थस्य साधकम् ।

साधुगूढपदप्रायं पत्रमाहुरनाकुलम् ॥—उद्धत, प्रमेयरत्नमाला, पृ० ३५२ ।

प्रमाणशास्त्रीय कृति है। यह विद्यानन्द की अतिलघु रचना है, जिसका प्रकाशन सनातन जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी से हुआ है।

**प्रमाणपरीक्षा—विद्यानन्द** की यह कृति पूर्णतः प्रमाणचर्चा से सम्बद्ध है। इसमें विद्यानन्द ने जैनेतर दार्शनिकों के द्वारा मान्य प्रमाण-स्वरूप, प्रमाण-संख्या, प्रमाण-विषय एवं प्रमाण-फल का युक्तिपूर्वक परीक्षण कर जैन दृष्टि से उनकी वास्तविक स्थिति को प्रकाशित किया है। विद्यानन्द ने इस ग्रंथ में सम्यग्ज्ञान को ही प्रमाण कह कर <sup>२४३</sup> अन्य मतावलम्बियों के प्रमाणविषयक दोषों का उद्भावन किया है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष एवं हेतु के त्रैरूप्य व पांचरूप्य का भी विद्यानन्द ने इसमें प्रबल खण्डन किया है तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क को पृथक् प्रमाण सिद्ध किया है। विद्यानन्द की यह संक्षिप्त कृति प्रमाण सम्बद्ध समस्त चर्चा को अपने में समेटे हुए है।

**तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक**—यह उपाखाति के तत्त्वार्थसूत्र पर विद्यानन्द का अनुपमवार्तिक है। अकलङ्क कृत तत्त्वार्थवार्तिक उद्योतकर के न्यायवार्तिक का अनुसरण करता है तो विद्यानन्द का श्लोकवार्तिक धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक एवं कुमारिल के मीमांसाश्लोकवार्तिक की सरणि का अनुकरण करता है। यह पूर्णरूप से पद्यात्मक है, तथा स्वयं विद्यानन्द ने उस पर गद्यात्मक भाष्य भी लिखा है। यह ग्रंथ जैन सिद्धान्त एवं उसके दार्शनिक मन्तव्यों को प्रतिष्ठित करता हुआ जैनेतर मान्यताओं का निरसन करता है। यह जैनदर्शन के प्राणभूत ग्रंथों में प्रथम कोटि का ग्रंथ समझा जाता है। प्रथम अध्याय में प्रमाण विषयक सूत्रों की व्याख्या करते हुए विद्यानन्द ने बौद्ध आदि मन्तव्यों का खण्डन कर जैन दर्शनानुसार प्रमाण-लक्षण, प्रमाण-भेद, प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, हेतु, अनुमानावयव आदि का स्थापन किया है। जैन-प्रमाण के स्थापन एवं बौद्ध-प्रमाण के खण्डन के लिए यह ग्रंथ नितान्त महत्त्वपूर्ण है।

**अष्टसहस्री**—यह समन्तभद्र विरचित आप्तमीमांसा (देवागमस्तोत्र) पर विशाल टीका है, जिसमें अकलङ्कीय टीका अष्टशती को इस प्रकार से आत्मसात् कर लिया गया है कि अष्टशती को अष्टसहस्री से पृथक् कर पाना दुष्कर कार्य है। अष्टसहस्री में समन्तभद्र के मन्तव्यों को व्यापक विचारपटल पर प्रकाशित किया गया है। अकलङ्कीय अष्टशती कुछ दुरूह एवं दुरवगम्य थी, जिसे अष्टसहस्री ने सरल बनाकर उसका हार्द प्रकट करने का प्रयास किया है। स्वयं विद्यानन्द इसको कष्टसहस्री कहते हैं <sup>२४४</sup> तथा अन्य हजारों शास्त्र सुनने की अपेक्षा इसके श्रवण को ही पर्याप्त समझते हैं। <sup>२४५</sup> विद्यानन्द ने अपने इस ग्रंथ में कुमारिलभट्ट, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकरगुप्त आदि के मन्तव्यों का युक्तिपुरस्सर खण्डन किया है। जयरशि के तत्त्वोपलवादा का भी इसमें खण्डन किया गया है। समन्तभद्र द्वारा प्रस्तुत

२४३. द्रष्टव्य, वही अध्याय, पादटिप्पण, १२८

२४४. कष्टसहस्री सिद्धा साऽष्टसहस्रीयमत्र मे पुष्यात् ।—अष्टसहस्री, प्रशस्तिपद्य ।

२४५. श्रोतव्यऽष्टसहस्री श्रुतेः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः ।

विज्ञायेत ययैव स्वसमयपरसमयसद्भावः ॥—अष्टसहस्री, पृ० १५७

‘तत्त्वज्ञानं प्रमाणम्’ कारिका<sup>२४६</sup> के अन्तर्गत विद्यानन्द ने प्रमाण के स्वरूप पर विस्तृत विचार किया है तथा बौद्ध सम्मत प्रत्यक्ष एवं अनुमान का खण्डन किया है।

अकलङ्क के अनन्तर जैन न्याय के व्यवस्थित स्थापन एवं जैनैतर दार्शनिकों का खण्डन करने में विद्यानन्द ने महती भूमिका निभायी है, इसमें कोई संदेह नहीं है। विद्यानन्द का अनुसरण उत्तरवर्ती जैन नैयायिक अभयदेवसूरि, प्रभाचन्द्र, वादिदेवसूरि आदि करते हैं।

### अनन्तवीर्य (१५०-१९० ई०)

जैनदर्शन में अनन्तवीर्य नामक चार आचार्यों का उल्लेख मिलता है, जिनमें एक अनन्तवीर्य का उल्लेख अकलङ्क तत्त्वार्थवार्तिक में करते हैं<sup>२४७</sup> द्वितीय अनन्तवीर्य का उल्लेख सिद्धिविनिश्चय के टीकाकार रविभद्रपादोपजीवी अनन्तवीर्य करते हैं।<sup>२४८</sup> तृतीय अनन्तवीर्य सिद्धिविनिश्चय के टीकाकार स्वयं है तथा चतुर्थ अनन्तवीर्य प्रमेयरत्नमाला के रचयिता हैं। इनमें तृतीय अनन्तवीर्य ही अकलङ्क के टीकाकार हैं। इनका समय १५० से १९० ई० के मध्य निर्धारित किया गया है।<sup>२४९</sup>

**प्रमाणसङ्ग्रहभाष्य और सिद्धिविनिश्चय टीका**—अनन्तवीर्य ने अकलङ्क के दो ग्रंथों सिद्धिविनिश्चय एवं प्रमाणसंग्रह पर व्याख्या लिखी है। प्रमाणसंग्रह पर भाष्य लिखने का अनुमान उनके सिद्धिविनिश्चय टीका में प्रदत्त उल्लेखों से होता है।<sup>२५०</sup> यह भाष्य अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है। सिद्धिविनिश्चय टीका उपलब्ध है। यह १८०० श्लोक परिमाण विस्तृत एवं विशद है। यद्यपि अनन्तवीर्य, अनन्तवीर्य होकर भी अकलङ्क के गूढ अर्थों को समझने में अपने आपको असमर्थ पाते हैं। फिर भी वे वादिराज एवं प्रभाचन्द्र के पथप्रदर्शक बने हैं। अनन्तवीर्य ने ग्रन्थ का एक तिहाई भाग बौद्ध तार्किक धर्मकीर्ति एवं उनके टीकाकारों के खण्डन में ही समर्पित कर दिया है। वे अपनी तार्किक युक्तियों के साथ अनेक लोकोक्तियों, मुहावरों एवं न्यायों का भी प्रयोग करते हुए देखे जाते हैं। उनकी यह टीका बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, अर्चट, प्रज्ञाकरगुप्त, शान्तरक्षित, कमलशील आदि के मन्तव्यों का उल्लेख कर उनका निरसन करती है, किन्तु इस टीका में उतना सौष्ठव नहीं आ पाया है, जितना विद्यानन्द या प्रभाचन्द्र की टीकाओं में दिखाई देता है। दूसरी बात यह भी है कि इसकी एक मात्र पाण्डुलिपि उपलब्ध हुई वह अनेक स्थलों पर खण्डित है जिस कारण से सही अर्थ निर्धारित करने में कठिनाई रही है।

### माणिक्यनन्दी और परीक्षामुख (१९३-१०५३ ई०)

माणिक्यनन्दी प्रथम जैन दार्शनिक हैं, जिन्होंने अकलङ्क के ग्रंथों के आधार पर जैन न्याय का

२४६. आप्तमीमांसा, १०१

२४७. अनन्तवीर्ययतिना चेन्द्रवीर्यस्य प्रतिघातश्रुतेः सप्रतिघातसामर्थ्यं वैक्रियिकम् ।—तत्त्वार्थवार्तिक, पृ० १५४. १२

२४८. तस्मात् “उक्ताथोऽनन्तरश्लोकोऽयम्” इत्यनन्तवीर्यः ।—सिद्धिविनिश्चयटीका, पृ० ३१

२४९. सिद्धिविनिश्चयटीका, प्रस्तावना, पृ० ७५-८९

२५०. द्रष्टव्य, यही अध्याय का पादटिप्पण, २३७

संक्षिप्त सूत्र ग्रंथ **परीक्षामुख** तैयार किया। **परीक्षामुख** पर **अकलङ्क** के टीकाकार **विद्यानन्द** का भी प्रभाव है, किन्तु **वादिराज** (१०२५ ई०) का नहीं है। **दरबारी लाल कोठिया** **परीक्षामुख** के टीकाकार **प्रभाचन्द्र** को **माणिक्यनन्दी** का साक्षात् शिष्य अंगीकार करते हैं।<sup>२५१</sup> **प्रभाचन्द्र** का समय १०१० से १०८० ई० निर्धारित किया गया है, तदनुसार **कोठिया जी** ने **माणिक्यनन्दी** को ९९३ ई० से १०५३ ई० के मध्य सिद्ध किया है और उनकी रचना **परीक्षामुख** का समय १०२८ ई० अनुमानित किया है। **परीक्षामुख** में छह परिच्छेद हैं, जिनमें क्रमशः प्रमाणलक्षण, प्रत्यक्षस्वरूप, परोक्ष-स्वरूप, प्रमाण-विषय, प्रमाण-फल एवं आभासों का वर्णन है। ग्रंथकार ने इसमें जैनन्याय विषयक सामग्री को व्यवस्थित रूप में सूत्रात्मक शैली में संजोया है।

**परीक्षामुख** पर अनेक बृहत् एवं लघुकाय टीकाएं रची गयीं, जिनमें **प्रभाचन्द्र** विरचित **प्रमेयकमलमार्तण्ड** सर्वाधिक प्रसिद्ध है। अन्य टीकाएं हैं- **लघु अनन्तवीर्य** रचित **प्रमेयरत्नमाला चारुकीर्ति** रचित **प्रमेयरत्नालंकार** तथा **शान्तिवर्णी** विरचित **प्रमेयकण्ठिका**।

### वादिराज (१०२५ ई०)

**अकलङ्क** रचित **न्यायविनिश्चय** के विवरणकार **वादिराजसूरि** हैं। **वादिराज सूरि** के समय की सूचना उनके **पार्श्वनाथचरित्र** से मिलती है। उन्होंने यह रचना शक सं० ९४७ में कार्तिक शुक्ला तृतीया को पूरी की थी।<sup>२५२</sup> **चालुक्यनरेश जयसिंहदेव** की राजसभा में इनका बड़ा सम्मान था। इस आधार पर **वादिराज** को १०२५ ई० के आस पास निश्चित किया जाता है। वे प्रसिद्ध वैयाकरण, तार्किक, कवि एवं भव्यसहाय थे।<sup>२५३</sup>

**न्यायविनिश्चयविवरण** - यह **अकलङ्क** के **न्यायविनिश्चय** पर **वादिराज** का प्रसिद्ध विवरण है। **वादिराज** इसमें **अकलङ्क** कृति का अर्थ बहुत गहराई से पकड़ते हैं। वे एक ही श्लोक के चार पांच अर्थ निकालना सहज बात समझते हैं। **वादिराज** ने **सिद्धिविनिश्चय** के टीकाकार **अनन्तवीर्य** से प्रेरणा ग्रहणकर **न्यायविनिश्चय** के गूढ अर्थ को प्रकट किया है, ऐसा उन्होंने स्वयं ग्रंथारम्भ में निर्देश किया है।<sup>२५४</sup>

**वादिराजसूरि** का **न्यायविनिश्चयविवरण** बीस हजार श्लोकपरिमाण है। यह एक महान् न्यायग्रंथ है। इसमें पूर्वपक्ष के रूप में **कुमारिल**, **प्रभाकर**, **मण्डनमिश्र**, **व्योमशिव**, **भासर्वज्ञ** आदि के मन्तव्यों को रखकर उनका निरसन किया गया है। सबसे अधिक **धर्मकीर्ति** के **प्रमाणवार्तिक** एवं उस पर

२५१. आप्तपरीक्षा, प्रस्तावना, पृ० ३३

२५२. पार्श्वनाथचरित, प्रशस्ति, ५, उद्धृत, न्यायविनिश्चयविवरण, प्रस्तावना, पृ० ६३

२५३. वादिराजमनु शाब्दिकलोको वादिराजमनुतार्किकसिंहः।

वादिराजमनु काव्यकृतस्ते वादिराजमनु भव्यसहायः ॥— एकीभावस्तोत्र, उद्धृत, न्यायविनिश्चयविवरण प्रस्तावना, पृ० ५८।

२५४. गूढमर्थमकलङ्ककवाङ्मयागाधभूमिनिहितं तदर्थिनाम्।

व्यञ्जयत्यलमनन्तवीर्यवाग्दीपवार्तिरनिशं पदे पदे ॥— न्यायविनिश्चयविवरण, ३

विरचित प्रज्ञाकर के प्रमाणवार्तिकालङ्कार की समीक्षा की गयी है। लगभग आधा प्रमाणवार्तिकालङ्कार इस ग्रंथ में परीक्षित हुआ है।

**प्रमाणनिर्णय**—वादिराज की अन्य उपलब्ध कृतियां हैं- पार्श्वनाथचरित, यशोधरचरित, एकीभाव-स्तोत्र एवं प्रमाणनिर्णय। इनमें प्रमाणनिर्णय प्रमाणशास्त्र की लघुकाय एवं स्वतंत्र रचना है जो अकलङ्क प्रणीत न्याय-ग्रंथों पर आधारित है। प्रमाणनिर्णय संस्कृत गद्य में निर्मित है, जिसके चार परिच्छेद हैं—प्रमाणलक्षणनिर्णय, प्रत्यक्षनिर्णय, परोक्षप्रमाणनिर्णय और आगमनिर्णय। इस लघुकाय प्रकरण में वादिराज परोक्ष प्रमाण के अनुमान एवं आगम ये दो ही भेद करते हैं तथा अनुमान के गौण भेदों में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क का प्रतिपादन करते हैं। इस ग्रंथ का प्रकाशन माणिक्यचन्द्र जैन ग्रंथमाला के अन्तर्गत हुआ है।

### अभयदेवसूरि और तत्त्वबोधविधायिनी (१० वीं शती)

जैनदर्शन में अभयदेवसूरि नामक अनेक आचार्य हुए हैं। अभयदेवसूरि नामक एक आचार्य जैन आगमों के टीकाकार हुए हैं, जिन्होंने स्थानांग, समवायांग आदि नौ आगमों पर टीकाएं लिखी थी, किन्तु ये वर्धमानसूरि के प्रशिष्य एवं जिनेश्वरसूरि के दीक्षा-शिष्य थे। ये नवाङ्गी टीकाकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनका समय विक्रम की ग्यारहवीं शती का उत्तरार्द्ध एवं बारहवीं शती का पूर्वार्द्ध (वि० स० १०८८-११३९) माना गया है।<sup>२५५</sup> यहाँ पर सिद्धसेन रचित सम्प्रतितर्क के टीकाकार के रूप में प्रसिद्ध अभयदेवसूरि की चर्चा अभीष्ट है। ये श्वेताम्बर राजगच्छीय प्रद्युम्नसूरि के शिष्य थे। इन्हें तर्कपंचानन, न्यायरत्नकीर्ति एवं न्यायवनसिंह उपाधियों से संबोधित किया गया है। पं० सुखलाल संघवी एवं पं० बेचरदासदोशी ने इनका समय विक्रम की दसवीं शताब्दी का उतरार्द्ध एवं ग्यारहवीं शती का पूर्वार्द्ध बतलाया है।<sup>२५६</sup> पं० सुखलाल संघवी ने अभयदेवसूरि रचित सम्प्रतितर्कटीका पर कुमारिल भट्ट, शान्तरक्षित, कमलशील एवं प्रभाचन्द्र के ग्रंथों का प्रतिबिम्ब माना है।<sup>२५७</sup> पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने अभयदेवसूरि का समय विक्रम की ग्यारहवीं शती का अन्तिम भाग माना है। वे अभयदेव, शान्तिासूरि एवं प्रभाचन्द्र को लगभग समकालीन एवं समदेशीय मानते हैं। साथ ही उन्होंने प्रभाचन्द्र के प्रमेयकमलमार्तण्ड एवं अभयदेवसूरि की सम्प्रतितर्कटीका (तत्त्वबोधविधायिनी) में अकल्पित सादृश्य माना है।<sup>२५८</sup> इसमें कोई संदेह नहीं है कि प्रमेयकमलमार्तण्ड एवं तत्त्वबोधविधायिनी में यत्र तत्र विषयसामग्री के प्रस्तुतीकरण में शब्दों का साम्य है।

तत्त्वबोधविधायिनी, प्रमेयकमलमार्तण्ड एवं न्यायकुमुदचन्द्र का अंतरंग अध्ययन करने पर हमें

२५५. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग, ३ पृ० ४५।

२५६. तत्त्वबोधविधायिनी, भाग—१, प्रस्तावना, पृ० १३

२५७. तत्त्वबोधविधायिनी, भाग—१, प्रस्तावना, पृ० १३

२५८. न्यायकुमुदचन्द्र, भाग—२, प्रस्तावना, पृ० ३९-४०

विचार-विकास की दृष्टि से तत्त्वबोधविधायिनी प्राचीन प्रतीत होती है। प्रभाचन्द्र के प्रमेयकमलमार्तण्ड में अनेकत्र तत्त्वबोधविधायिनी में प्रस्तुत विषय को ज्यों का त्यों लेकर यथाशक्य परिवर्धन किया गया है। न्यायकुमुदचन्द्र अधिक संशोधित एवं व्यवस्थित रचना है। उसका निर्माण प्रमेयकमलमार्तण्ड के अनन्तर हुआ है। पं० महेन्द्रकुमार जी ने यह तो स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि सम्मतितर्कटीका (तत्त्वबोधविधायिनी) के समय न्यायकुमुदचन्द्र की रचना नहीं हो सकी थी, किन्तु वे इस विषय में मौन हैं कि प्रमेयकमलमार्तण्ड व सम्मतितर्कटीका में किसकी रचना पहले हुई। दोनों में सादृश्य का कथन वे अवश्य करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रमेयकमलमार्तण्ड के पूर्व तत्त्वबोधविधायिनी की रचना हो चुकी थी, क्योंकि प्रमेयकमलमार्तण्ड में तत्त्वबोधविधायिनी में उठाये गये विषयों का अधिक विशद, परिवर्द्धित एवं सुव्यवस्थित रूप में निरूपण हुआ है। अभयदेवसूरि अनावश्यक विस्तार में चले जाते हैं, किन्तु प्रभाचन्द्र विषय से सम्बद्ध बात कहते हैं। दोनों में से किसी ने भी अपनी रचनाओं में एक दूसरे का उल्लेख नहीं किया है। इनके समकालीन होने में कोई बाधा नहीं है, किन्तु विचारविकास की दृष्टि से हमें अभयदेवसूरि की तत्त्वबोधविधायिनी प्रभाचन्द्र के प्रमेयकमलमार्तण्ड से प्राचीन प्रतीत होती है। इसलिए आगे के अध्यायों में प्रभाचन्द्र के पूर्व अभयदेवसूरि के विचार प्रकट किये गये हैं।

अभयदेवसूरि ने सिद्धसेन के सम्मतितर्कप्रकरण पर तत्त्वबोधविधायिनी नामक जो टीका रची है वह सम्मतितर्कटीका अथवा वादमहार्णव के नाम से भी प्रसिद्ध है।<sup>२५९</sup> यह टीका संस्कृत गद्य में है और २५,००० श्लोक परिमाण है। इसमें मूल सम्मतितर्क के अनुरूप ही नय, ज्ञान एवं ज्ञेय की मीमांसा की गयी है, किन्तु अभयदेवसूरि ने तत्त्वबोधविधायिनी में दसवीं शताब्दी तक प्रचलित दार्शनिक मान्यताओं को पूर्वपक्ष में रखकर उनका बलपूर्वक खण्डन किया है तथा जैन मंतव्यों को स्पष्ट किया है। अनेकत्र नई चर्चा का भी समावेश किया है, यथा, अपौरुषेयवाद, स्वतः प्रामाण्यवाद, शब्दनित्यत्ववाद, सर्वज्ञत्व का असम्भववाद आदि का निरसन एवं जैनदर्शन के सर्वज्ञ प्रणीत प्रामाण्य की सिद्धि नये विषय हैं। मूल सम्मतितर्क में प्रमाण की चर्चा नहीं मिलती, किन्तु अभयदेवसूरि ने अपनी टीका में प्रमाण के स्वरूप, उसके भेद एवं विषय के सन्दर्भ में जैनेतर दर्शनों की विशिष्ट मान्यताओं को पूर्वपक्ष में रखकर उनका युक्तिपुरस्सर खण्डन किया है। सम्मतितर्क के द्वितीयकाण्ड की टीका का बहुभाग प्रमाणसम्बद्ध चर्चा से युक्त है। अभयदेव ने धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, शान्तरक्षित, कमलशील आदि बौद्ध दार्शनिकों द्वारा मान्य प्रमाण सम्बद्ध मान्यताओं का प्रबल खण्डन प्रस्तुत किया है। अभयदेवसूरि की खण्डनात्मक दृष्टि बहुत पैनी है, जिसका अनुकरण प्रभाचन्द्र, देवसूरि आदि उत्तरवर्ती दार्शनिकों ने भी किया है।

२५९. सम्मतितर्कटीका (तत्त्वबोधविधायिनी) का प्रकाशन गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद से वि०सं० १९८०-१९८७ के मध्य हुआ था। इसका पुनर्मुद्रण अब रिनसेन बुक कं० जापान से हुआ है।



### प्रभाचन्द्र (१८०-१०६५ ई०)

प्रभाचन्द्र जैन-न्याय के महान् टीकाकार थे।<sup>२६०</sup> अकलङ्क के लघीयस्त्रय एवं माणिक्यनन्दी के परीक्षामुख पर प्रभाचन्द्र ने क्रमशः न्यायकुमुदचन्द्र एवं प्रमेयकमलमार्तण्ड नामक टीकाएं लिखकर जैनन्याय को अनुपम योगदान किया है। पाठक, जुगलकिशोर मुख्तार, नाथूराम प्रेमी आदि विद्वान् इनको आदिपुराण में स्मृत चन्द्रोदय के कर्ता प्रभाचन्द्र से अभिन्न समझकर आठवीं सदी के उत्तरार्द्ध एवं नवीं सदी के पूर्वार्द्ध में स्थिर करते हैं, किन्तु अनेक ठोस प्रमाणों से इसका खण्डन हो जाता है।<sup>२६१</sup> कैलाशचन्द्र शास्त्री ने न्यायकुमुदचन्द्र प्रथम भाग की प्रस्तावना (पृ० १२३) में प्रभाचन्द्र की समयरेखा १५० ई० से १०२० ई० के मध्य खींची है, किन्तु न्यायकुमुदचन्द्र के द्वितीय भाग की प्रस्तावना (पृ० ५८) में महेन्द्र कुमार जी इसमें कुछ संशोधन कर इसे १८० से १०६५ ई० तक ले जाते हैं, जो अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

प्रभाचन्द्र बहुश्रुत विद्वान् थे। जैन एवं जैनैतर समस्त दर्शनग्रंथों का उन्हें अभ्यास था। अपने प्रसिद्ध दोनों टीकाग्रंथों में वे न्याय, वैशेषिक, योग, सांख्य, मीमांसा, वेदान्त एवं बौद्ध दर्शनों के विभिन्न प्रसिद्ध ग्रंथों से पूर्वपक्ष का उपस्थापन कर उनका युक्तिपुरस्सर खण्डन करते हैं।

प्रमेयकमलमार्तण्ड एवं न्यायकुमुदचन्द्र के अतिरिक्त प्रभाचन्द्र के कुछ अन्य ग्रंथों का भी पता चला है, यथा—१. तत्त्वार्थवृत्ति—यह पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि पर लघुवृत्ति है। २. शाकटायनन्यास—यह शाकटायन व्याकरण की व्याख्या है।<sup>२६२</sup> ३. शब्दाम्भोजभास्कर—जैनैन्द्र व्याकरण पर महान्यास है। ४. प्रवचनसारसरोजभास्कर—यह प्रवचनसार पर टीका है। ५. गद्यकथाकोश एवं ६. महापुराण टिप्पण।<sup>२६३</sup> इन रचनाओं में से शाकटायनन्यास को महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने प्रभाचन्द्र की रचना न मानकर उसे शाकटायन कृत ही माना है।<sup>२६४</sup> रत्नकरण्डटीका, समाधितन्त्रटीका, क्रियाकलापटीका, आत्मानुशासनतिलक आदि ग्रंथों की भी प्रभाचन्द्र विरचित होने की संभावना प्रकट की गयी है। उपलब्ध एवं ज्ञात समस्त रचनाओं में जैन-न्याय से सम्बद्ध उनकी दो ही रचनाएं हैं—प्रमेयकमलमार्तण्ड एवं न्यायकुमुदचन्द्र। ये दोनों इनके प्रसिद्ध टीकाग्रंथ हैं।

**प्रमेयकमलमार्तण्ड** - माणिक्यनन्दी विरचित जैन-न्याय के संक्षिप्त सूत्रग्रंथ परीक्षामुख पर आचार्य प्रभाचन्द्र की टीका को प्रमेयकमलमार्तण्ड के नाम से जाना जाता है।<sup>२६५</sup> यह अन्वर्थनामा रचना है,

२६०. आदिपुराण में जिनसेन ने चन्द्रोदय के कर्ता प्रभाचन्द्र का स्मरण किया है, किन्तु पं० कैलाशचन्द्रशास्त्री ने 'न्यायकुमुदचन्द्र' के रचयिता प्रभाचन्द्र से उन्हें पृथक् सिद्ध किया है।—न्यायकुमुदचन्द्र, प्रथम भाग, प्रस्तावना, पृ० ११७-११९।

२६१. द्रष्टव्य, न्यायकुमुदचन्द्र भाग—२, प्रस्तावना पृ० ५०-५८

२६२. न्यायकुमुदचन्द्र, भाग-१, प्रस्तावना पृ. १२५

२६३. अंतिम चार रचनाओं का उल्लेख पं० महेन्द्र कुमार जी ने किया है। द्रष्टव्य, न्यायकुमुदचन्द्र भाग-२, प्रस्तावना पृ. ५९।

२६४. न्यायकुमुदचन्द्र, भाग-२, प्रस्तावना, पृ. ६१

२६५. प्रमेयकमलमार्तण्ड का प्रकाशन पं० महेन्द्रकुमार जी के संपादन में निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से हुआ था। उसके अनन्तर यह तीन भागों में जिनमती माताजी द्वारा हिन्दी में अनूदित होकर मदनगंज-किशनगढ़ से प्रकाशित हुआ है। इण्डियन बुक्स सेण्टर, नई दिल्ली ने मूल प्रमेयकमलमार्तण्ड का पुनः प्रकाशन किया है।

वास्तव में यह प्रमेय रूपी कमलों को विकसित करने वाला मार्तण्ड है। टीकाग्रंथ होते हुए भी यह एक पृथक् मौलिक रचना प्रतीत होती है। यह टीका १२००० श्लोक परिमाण आंकी गयी है। इसमें विषयों की विविधता एवं भाषा की सरसता है। कारकसाकल्यवाद, सन्निकर्षवाद, इन्द्रियवृत्तिवाद, निर्विकल्पक प्रमाणवाद, शब्दाद्वैतवाद, शून्यवाद, चित्राद्वैत, साकारज्ञानवाद, ईश्वरवाद, अपौरुषेयत्व-वाद आदि विविध दार्शनिक मन्तव्यों का पूर्वपक्ष-उपस्थापन के साथ खण्डन किया गया है। इसमें प्रमेय की भी चर्चा है तो प्रमाण की भी। प्रमाण ही प्रमेय-कमल के लिए मार्तण्ड है। प्रमाण के स्वरूप, भेद, विषय, फलादि की विप्रतिपत्तियों का इसमें सम्यक् समाधान करने का प्रयास किया गया है। बौद्धों की प्रमाणमीमांसा के परीक्षण की दृष्टि से यह ग्रंथ अत्यन्त उपादेय है, क्योंकि इस ग्रंथ में बौद्ध न्याय के लगभग उन सब बिन्दुओं पर चर्चा की गयी है जिनसे जैनदार्शनिकों का मतभेद है।

**न्यायकुमुदचन्द्र**—प्रसिद्ध जैन नैयायिक अकलङ्क की कृति लघीयस्त्रय पर यह प्रभाचन्द्र की विशद एवं विस्तृत टीका है। यह न्यायकुमुद के लिए चन्द्रमा है। इसकी भाषा सुबोध एवं सरस है। अकलङ्क के ग्रंथों की समस्त टीकाओं में विषय की सहज अवगति के लिए न्यायकुमुदचन्द्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड में जिन युक्तियों द्वारा परमत खण्डन में कुशलता प्राप्त की है, उन्हीं का प्रयोग न्यायकुमुदचन्द्र में भी देखने को मिलता है। दोनों ग्रंथों में विवेच्य विषय में अधिकतर साम्य है। मूलग्रंथों में भिन्नता के कारण कुत्रचित् विषेय-भेद भी दृग्गोचर होता है। एक ही विषय पर कुछ भिन्न युक्तियों का भी प्रतिपादन है एवं कभी प्राचीन युक्तियों को ही भिन्न प्रकार से निरूपित किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रमेयकमलमार्तण्ड की भांति न्यायकुमुदचन्द्र का भी पूरा उपयोग हुआ है।

### वादिदेवसूरि (१०८६ से ११६९ ई०)

जिस प्रकार दिगम्बराचार्य माणिक्यनन्दी ने संस्कृत-सूत्रों में न्यायग्रंथ परीक्षामुख की रचना की उसी प्रकार श्वेताम्बराचार्य वादिदेवसूरि<sup>२६६</sup> ने प्रमाणनयत्त्वालोक की रचना की। प्रमाणनयत्त्वालोक एवं परीक्षामुख में अनेकत्र साम्य है। केवली कवलाहार, स्त्रीमुक्ति आदि कुछ प्रसंगों में अवश्य वह परीक्षामुख से भिन्न है। वादिदेवसूरि ने प्रमाणनयत्त्वालोक पर विस्तृत टीका ग्रंथ स्याद्वादरत्नाकर का भी निर्माण किया है। इनका समय विक्रम सं० ११४६ से १२२६ अर्थात् १०८६ ई० से ११६९ ई० निर्धारित किया गया है।

**प्रमाणनयत्त्वालोक**—प्रमुख जैन तार्किक, वादिदेव अथवा देवसूरि की यह रचना माणिक्यनन्दी के परीक्षामुख का अनुसरण करती है, किन्तु इसमें परीक्षामुख से दो (सातवां एवं आठवां) परिच्छेद अधिक हैं जिनमें क्रमशः नय एवं वाद की चर्चा की गयी है। दिगम्बर मान्यता से भेद रखने वाले

२६६. इन्हें वादिदेव एवं देवसूरि के नाम से भी जाना जाता है।

मन्तव्यों का भी इसमें स्थापन किया गया है। प्रमाणनयत्त्वालोक पर वादिदेवसूरि ने स्वयं बृहत्काय टीका स्याद्वादरत्नाकर की रचना की है, जो जैन दार्शनिक जगत् का महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

**स्याद्वादरत्नाकर—वादिदेवसूरि** का यह टीका ग्रंथ ८४००० श्लोक परिमाण आंका गया है। इसका प्रकाशन श्री मोतीलाल लाधा के संपादन में १९६, भवानी पेठ पूना से वीर संवत् २४५३-५४ में हुआ था। अब १९८८ ई० में पुनर्मुद्रण भारतीय बुक कार्पोरेशन, दिल्ली ने किया है। इसमें वादिदेवसूरि ने जैनेतरदर्शनों के उन विषयों की भी आलोचना की है, जो प्रभाचन्द्र के द्वारा प्रमेयकमलमार्तण्ड में अछूते रह गये हैं। इसको जो नाम दिया गया है, वह वस्तुतः अन्वर्थ है। यह न्यायविषयक प्रतिपत्तियों को स्याद्वाद की दृष्टि से परखने वाला गंभीर समुद्र है। प्रमेयकमलमार्तण्ड की अपेक्षा स्याद्वादरत्नाकर की भाषा अधिक ललित एवं प्रसन्न है। विषय का प्रतिपादन भी अधिक व्यवस्थित है। धर्मकीर्ति के प्रमाण-लक्षण 'प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्' एवं उस पर धर्मोत्तरटीका का वादिदेवसूरि ने सम्यक्तया परीक्षण किया है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का खण्डन कर उसे सविकल्पक सिद्ध किया है। बौद्ध सम्मत प्रमाण द्वित्व को अपर्याप्त सिद्ध कर स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क एवं आगम का भी देवसूरि ने प्रामाण्य प्रतिपादित किया है। वादिदेवसूरि प्रमाण-लक्षण को सांख्यावहारिक नहीं, पारमार्थिक मानते हैं। बौद्धों के अनुसार तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति अविनाभाव के कारण हैं, किन्तु देवसूरि ने इनका निरसन किया है। उन्होंने कारण हेतु, पूर्वचरहेतु, व्याप्य हेतु आदि हेतुओं का याथार्थ्य निरूपित किया है। यथाप्रसंग क्षणिकवाद, विज्ञानवाद, चित्राद्वैतवाद एवं शून्यवाद का भी खण्डन किया है। यह भी प्रतिपादित किया है कि क्षणिकवाद में अर्थक्रिया सम्भव नहीं है। स्याद्वादरत्नाकर का भी प्रस्तुत अध्ययन में महत्वपूर्ण योगदान है।

प्रमाणनयत्त्वालोक पर वादिदेवसूरि के शिष्य रत्नप्रभाचार्य ने एक लघुकाय टीका लिखी है, जिसका नाम रत्नाकरावतारिका है। विद्वज्जगत् में यह भी प्रसिद्धि को प्राप्त हुई। इस टीका के द्वारा स्याद्वादरत्नाकर का अवगाहन कुछ सरल हो जाता है।

### हेमचन्द्र और प्रमाणमीमांसा (१०८८ ई० से ११७३ ई०)

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र की लेखनी केवल जैन-साहित्य तक सीमित नहीं थी, उन्होंने काव्य, छन्द, व्याकरण, कोश आदि विविध विषयों पर भी लेखनी चलायी है। इनकी जैन न्याय विषयक एक ही रचना है- प्रमाणमीमांसा। यह यद्यपि पूरी उपलब्ध नहीं है, तथापि जितनी उपलब्ध है<sup>२६७</sup> वही जैन न्याय साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। हेमचन्द्र अपनी प्रतिभा का प्रमाणमीमांसा में पूरा उपयोग करते हैं। माणिक्यनन्दी के द्वारा प्रमाण-लक्षण में प्रयुक्त अपूर्व एवं स्व शब्द को ये अनावश्यक सिद्ध कर सम्यग् अर्थ निर्णय को प्रमाण कहते हैं<sup>२६८</sup> जो उनकी सूझ का परिचायक है।

२६७. उपलब्ध प्रमाणमीमांसा में दो अध्याय, तीन आह्निक एवं १०० सूत्र हैं जो स्वोपज्ञवृत्ति सहित हैं।

२६८. सम्यग् अर्थनिर्णयः प्रमाणम् ।— प्रमाणमीमांसा, १.१.२

हेमचन्द्र के अनुसार गृहीतग्राही ज्ञान भी प्रमाण होता है। वे ग्रहीष्यमाण ज्ञान की भांति गृहीतग्राही ज्ञान को भी प्रमाण मानते हैं।<sup>२६९</sup>

### अन्य जैनाचार्य और उनकी कृतियां

अकलङ्कोत्तर युग में जिनेश्वरसूरि (दसवीं ग्यारहवीं शती) का प्रमालक्ष्म, चन्द्रसेनसूरि (ग्यारहवीं बारहवीं शती) रचित उत्पादादिसिद्धि, अभिनवधर्मभूषण (१४ वीं १५ वीं शती) विरचित न्यायदीपिका का भी प्रमाणमीमांसा के प्रतिपादन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रमालक्ष्म एवं न्यायदीपिका में प्रमाण का सर्वाङ्ग विवेचन है। उत्पादादिसिद्धि में बौद्ध दर्शन सम्मत अपोहवाद, सन्तानवाद आदि का निरसन हुआ है तथा प्रत्यभिज्ञान व आगम का प्रामाण्य प्रतिष्ठित किया गया है। हरिभद्रसूरि के षड्दर्शनसमुच्चय पर गुणरत्नसूरि (१३४३-१४१८ई०) की टीका तथा हेमचन्द्रसूरि के अन्ययोगव्यवच्छेद द्वित्रिंशिका पर मस्तिषेणसूरि (ई. १२९३) की टीका स्याद्वादमञ्जरी में भी प्रमाण मीमांसा की चर्चा हुई है। सप्तभङ्गीनय का विमलदास की सप्तभङ्गीतरंगिणी में विस्तृत प्रतिपादन है। इस प्रकार जैन न्याय में निरन्तर नई नई रचनाएं होती रही हैं। किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार्य हेमचन्द्र की प्रमाणमीमांसा के पञ्चाद्वर्ती रचनाओं का उपयोग नहीं किया गया है, क्योंकि भारत में बौद्ध प्रमाणशास्त्र का विकास हेमचन्द्र के पश्चात् होता दिखाई नहीं देता।

### नव्यन्याय युग

जैन दर्शन में न्याय-वैशेषिकों का अनुकरण कर नव्य-न्याय शैली में भी प्रमाण-शास्त्रों का निरूपण हुआ है, जिनमें आचार्य यशोविजय की रचनाएं प्रमुख हैं। आचार्य यशोविजय सत्रहवीं शती के महान् जैन दार्शनिक थे जिनकी सौ से ऊपर रचनाएं हैं। जैन न्याय से सम्बद्ध उनकी रचनाओं में प्रमुख हैं - १. जैनतर्कभाषा २. ज्ञानबिन्दु ३. अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरण और ४. शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका। इन समस्त रचनाओं पर नव्यन्याय शैली का प्रभाव परिलक्षित होता है। अठारहवीं शती में नरेन्द्रसेन ने प्रमाणप्रमेयकलिका की रचना की, किन्तु वह नव्य न्यायशैली में नहीं है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में जैन नव्य-न्याय का उपयोग नहीं किया गया है। आठवीं से बारहवीं शती के मध्य अकलङ्क एवं उनके अनन्तरवर्ती जैन प्रमाणशास्त्र ही प्रस्तुत अध्ययन का प्रमुख आधार बना है।

### दिगम्बर - श्वेताम्बर सम्प्रदाय<sup>२७०</sup>

प्रमाणमीमांसा की जैन परम्परा में जिन प्रमुख जैन दार्शनिकों का परिचय दिया गया है उनमें उपास्याति को छोड़कर समस्त जैन नैयायिकों को दिगम्बर एवं श्वेताम्बर इन दो सम्प्रदायों में रखा

२६९ ग्रहीष्यमाणग्राहिण इव गृहीतग्राहिणोऽपि नाप्रामाण्यम् ।—प्रमाणमीमांसा १.१.४

२७०. श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ग्रंथों में उल्लेख मिलता है कि दिगम्बर सम्प्रदाय महावीर के निर्वाण के ६०९ वर्ष पश्चात् अर्थात् ८२ ई० में उदित हुआ एवं दिगम्बर स्रोतों में श्वेताम्बर सम्प्रदाय का उदय विक्रम संवत् १३६ अर्थात् ७९ ई० में बतलाया जाता है ।— A History of Indian Logic, p.159

जा सकता है। उमास्वाति दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में समान रूप से आदृत रहे हैं। कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, सुमति, पात्रस्वामी, कुमारनन्दी, श्रीदत्त, अकलङ्क, विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, वादिराज, माणिक्यनन्दी एवं प्रभाचन्द्र दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य हैं तथा सिद्धसेन, मल्लवादी, जिनभद्र, सिंहसूरि, हरिभद्रसूरि, सिद्धर्षिगण, अभयदेवसूरि, शान्तिसूरि, वादिदेवसूरि एवं हेमचन्द्र श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के आचार्य हैं।

दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों के आचार्यों ने जैन-न्याय का कंधे से कंधा मिलाकर विकास किया। दोनों की प्रमाणमीमांसीय मान्यताओं में विशेष भेद नहीं होने के कारण दोनों ने अन्य मतावलम्बी दार्शनिकों का समान रीति से खण्डन किया। पांचवीं शती में श्वेताम्बर जैन दार्शनिक मल्लवादी ने दिङ्नाग न्याय का द्वादशारण्यचक्र में खण्डन किया तथा उनके पूर्व इसी सम्प्रदाय के आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने जैनन्याय की स्वतंत्र कृति न्यायावतार का निर्माण किया। हरिभद्रसूरि ने अपने अनेकान्त दृष्टि से सम्बद्ध अनेकान्तजयपताका एवं शास्त्रवार्तासमुच्चय जैसे ग्रंथों में अन्य दर्शनों का परीक्षण किया।

जैन-न्याय को व्यवस्थित स्वरूप दिगम्बर जैन दार्शनिक अकलङ्क ने दिया तथा विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, वादिराज एवं प्रभाचन्द्र ने अन्य दर्शनों का खण्डन कर जैन न्याय की पताका को ऊंचा उठाया। अकलङ्क के पूर्व जैन दार्शनिक सुमति एवं पात्रस्वामी ने भी जैन प्रमाणमीमांसा को व्यापक रूप से प्रस्तुत किया। सुमति ही एक ऐसे दिगम्बर जैन आचार्य हैं जिनके द्वारा श्वेताम्बर जैन दार्शनिक सिद्धसेन की कृति सम्मत्तिकर्क पर टीका रचने का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार श्वेताम्बर आचार्यों में यशोविजय (१७ वीं सदी) एक ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने दिगम्बर ग्रंथ अष्टसहस्री पर तात्पर्यविवरण की रचना की है। अन्यथा विशेष मान्यता भेद नहीं होते हुए भी समस्त दिगम्बर एवं श्वेताम्बर आचार्यों ने अपने सम्प्रदाय के दार्शनिक ग्रंथों पर ही टीकाओं का निर्माण किया है। दोनों सम्प्रदाय अपने न्याय ग्रंथों का पृथक् रूपेण विकास करने में लगे हुए थे। यही कारण है कि दिगम्बर सम्प्रदाय में माणिक्यनन्दी ने जो कार्य परीक्षामुख की रचना करके सम्पन्न किया, श्वेताम्बर सम्प्रदाय में वही कार्य वादिदेवसूरि ने प्रमाणनयत्त्वालोक का निर्माण करके किया। इसी प्रकार दिगम्बर प्रभाचन्द्र के प्रमेयकमलमार्तण्ड एवं न्यायकुमुदचन्द्र की समता श्वेताम्बर आचार्य वादिदेवसूरि के स्याद्वादरत्नाकर से की जा सकती है।

दिगम्बर एवं श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्यों ने पारस्परिक आदान-प्रदान भी किया है। श्वेताम्बर दार्शनिक अभयदेवसूरि (१० वीं सदी) के अनेक तर्कों को दिगम्बर दार्शनिक प्रभाचन्द्र (११ वीं सदी) ने ज्यों का त्यों ले लिया है, तो श्वेताम्बर दार्शनिक वादिदेवसूरि (१२ वीं सदी) ने प्रभाचन्द्र के तर्कों को यथा रूप अपना लिया है। वादिदेवसूरि ने उन प्रसंगों में प्रभाचन्द्र से मतभेद प्रकट किया है जिनमें श्वेताम्बर-सम्प्रदाय दिगम्बर-सम्प्रदाय से मतभेद रखती है। दिगम्बर एवं

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के मौलिक चिन्तकों की यदि गणना की जाय तो दिगम्बर सम्प्रदाय में कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, पात्रस्वामी, सुमति, अकलङ्क, एवं विद्यानन्द का नाम अग्रगण्य है तथा श्वेताम्बर सम्प्रदाय में सिद्धसेन, मल्लवादी, जिनभद्र, हरिभद्र, अभयदेवसूरि एवं हेमचन्द्र का नाम प्रमुख है।

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में प्रमाण सम्बन्धी विवेचन लगभग एक जैसा है। जिन मान्यताओं के सन्दर्भ में दोनों में मौलिक मतभेद है उनमें प्रमुख है दिगम्बर दार्शनिकों द्वारा प्रमाण को अनधिगत अर्थ का ग्राही मानना तथा श्वेताम्बर दार्शनिकों द्वारा गृहीतग्राही ज्ञान को भी प्रमाण स्वीकार करना। विद्यानन्द के अतिरिक्त समस्त दिगम्बर जैन दार्शनिक प्रमाण को अनधिगत अर्थ का ग्राहक प्रतिपादित करते हैं, जबकि श्वेताम्बर जैन दार्शनिक एकमत से प्रमाण को अधिगत अर्थ का भी ग्राहक स्वीकार करते हैं। दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दार्शनिकों में अन्य मतभेद प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत केवलज्ञान के सम्बन्ध में है। दिगम्बर दार्शनिक केवलज्ञानी को कवलाहारी नहीं मानते हैं, जबकि श्वेताम्बर दार्शनिक उन्हें कवलाहारी भी स्वीकार करते हैं। दिगम्बर दार्शनिकों ने अकिञ्चित्कर हेत्वाभास का प्रतिपादन किया है जबकि श्वेताम्बर दार्शनिकों ने इसे महत्त्व नहीं दिया।

## बौद्ध एवं जैन : बिंदु एवं प्रतिबिंदु

भारतीय दार्शनिक परम्परा में जो संघर्ष बौद्धों के साथ न्याय-वैशेषिक एवं मीमांसा दर्शन का रहा, उतना जैन दार्शनिकों का नहीं रहा। जैन एवं बौद्ध दोनों दर्शन श्रमण परम्परा के दर्शन हैं, अतः इनका संघर्ष वैदिक-परम्परा के साथ अधिक था, परस्पर में कम। फिर भी जैन प्रमाण-शास्त्रीय ग्रंथों का सूक्ष्मावलोकन करने पर ज्ञात होता है कि आठवीं से बारहवीं सदी के ग्रंथ बौद्ध प्रमाणमीमांसा एवं तत्त्वमीमांसा के खण्डन से अटे पड़े हैं। अकलङ्क, विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, वादिराज, अभयदेव, प्रभाचन्द्र, देवसूरि आदि आचार्यों के ग्रन्थ इसके प्रमाण हैं। आठवीं सदी के पूर्व भी सिद्धसेन, मल्लवादी, समन्तभद्र, सिंहसूरि, पात्रस्वामी आदि के ग्रन्थों में बौद्धन्याय का परीक्षण हुआ है। यही नहीं इन आचार्यों ने बौद्धाचार्यों से कुछ ग्रहण भी किया है।

विचारणीय प्रश्न यह है कि जिस प्रकार जैन दार्शनिकों ने बौद्ध प्रमाणमीमांसा का खण्डन किया है, क्या उसी प्रकार का कार्य बौद्ध दार्शनिकों द्वारा भी सम्पन्न हुआ ? इस प्रश्न के समाधान का जब हम प्रयास करते हैं तो सर्वप्रथम धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक में अनेकान्तवाद के खण्डन पर दृष्टि जाती है। धर्मकीर्ति के पूर्व सिद्धसेन एवं समन्तभद्र ने अपनी दार्शनिक कृतियों में अनेकान्तवाद एवं स्याद्वाद का प्रणयन किया था, अतः धर्मकीर्ति के द्वारा उसका खण्डन किया जाना स्वाभाविक था। धर्मकीर्ति दिगम्बर (अह्लीक) जैन दार्शनिकों के अनेकान्तवाद का खण्डन करते हुए कहते हैं कि सब पदार्थों को उभयात्मक (सामान्यविशेषात्मक) मानने से विशेष का निराकरण हो जायेगा फलतः समस्त अर्थ एक जैसे हो जायेंगे और तब दही और ऊँट भी एक जैसे हुए तो फिर दही को खाने के लिए कहे जाने पर

जैन ऊँट को खाने के लिए क्यों नहीं उद्यत होता <sup>२७१</sup>। धर्मकीर्ति के इस कथन का उत्तर अकलङ्क ने न्यायविनिश्चय में दिया है। अकलङ्क कहते हैं कि पूर्वपक्ष को जाने बिना दूषण देना विदूषकता है—‘पूर्वपक्षमविज्ञाय दूषकोऽपि विदूषकः।’<sup>२७२</sup> अर्थात् धर्मकीर्ति ने अनेकान्त के पूर्वपक्ष को सम्यक् रूपेण नहीं समझा है। अकलङ्क प्रतिपादित करना चाहते हैं कि समस्त पदार्थ सामान्यविशेषात्मक होकर भी परस्पर भिन्न हैं। वे धर्मकीर्ति का खण्डन करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार सुगत पूर्वभव में मृग थे एवं मृग भी बाद में सुगत हुआ फिर भी बौद्ध मृग के स्थान पर सुगत को क्यों नहीं खाते और मृग की वन्दना क्यों नहीं करते? वस्तुतः प्रत्येक पदार्थ में भेद व्यवस्था है। वे द्रव्यरूप से समान होते हुए भी पर्याय रूप से भिन्न होते हैं।<sup>२७३</sup>

धर्मकीर्ति के पूर्व दिङ्नाग आदि किसी भी दार्शनिक के उपलब्ध ग्रन्थों में जैन दर्शन के प्रमाणशास्त्रीय अथवा तत्त्वमीमांसीय खण्डन का उल्लेख नहीं मिलता। धर्मकीर्ति के पूर्व जैन एवं बौद्ध दार्शनिकों में वाद अवश्य होता रहा है। इसका प्रमाण है जैन दार्शनिक मल्लवादी क्षमाश्रमण के द्वारा बौद्धों को परास्त किया जाना।<sup>२७४</sup> मल्लवादी ऐसे प्रथम जैन दार्शनिक हैं जिन्होंने वसुबन्धु एवं दिङ्नाग के सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए उनका खण्डन प्रस्तुत किया है। उन्होंने वसुबन्धु व दिङ्नाग सम्मत प्रत्यक्ष, अपोह, आदि अनेक बौद्ध मान्यताओं का खण्डन किया है। इस प्रकार मल्लवादी दिङ्नाग के उत्तरकाल में एक महान् जैनदार्शनिक हुए जिन्होंने द्वादश अरों में नय का विवेचन करते हुए प्रमाण-शास्त्रीय विषय को भी गहराई से परखा। सम्प्रति मल्लवादी का ग्रंथ द्वादशारनयचक्र दिङ्नाग के मन्तव्यों को भी समझने में सहायक सिद्ध हो रहा है।

मल्लवादी के पूर्व एवं दिङ्नाग के समय ही सिद्धसेन ने जैन न्याय के प्रथम एवं सारगर्भित ग्रंथ न्यायावतार की रचना की। न्यायावतार में उन्होंने जैन-प्रमाणशास्त्र को सर्वप्रथम प्रस्तुत किया, जिसमें सहज रूप से बौद्ध प्रमाणशास्त्रीय मन्तव्यों का भी खण्डन हो गया। सिद्धसेन ने हेतु का लक्षण अन्यथानुपपन्नत्व देकर बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग के त्रिरूपत्व हेतु का खण्डन किया है।<sup>२७५</sup> दिङ्नाग ने जहाँ प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण तथा अनुमान का विषय सामान्यलक्षण माना है वहाँ सिद्धसेन ने

२७१. एतेनैव यदहीकाः किमप्यश्लीलमाकुलम् ।

प्रलपन्ति प्रतिक्षिप्तं तदप्येकान्तसंभवात् ॥

सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृते ॥

चोदितो दधि खादेति किमुष्टं नाभिधावति ॥—प्रमाणवार्तिक ३.१८१-१३

२७२. न्यायविनिश्चय, ३.३७२

२७३. सुगतोपि मृगो जातः मृगोपि सुगतस्तथा ।

तथापि सुगतो वन्द्यो मृगः खाद्यो यथेष्यते ॥

तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितः

चोदितो दधि खादेति किमुष्टमभिधावति ॥—न्यायविनिश्चय, ३.३७३-७४

२७४. मल्लवादी क्षमाश्रमण ने वीरसंवत् ८८४ में बुद्धानन्द नामक बौद्ध दार्शनिक को छह दिन के शास्त्रार्थ के पश्चात् राजसभा में पराजित किया था, इसका उल्लेख अनेक स्थानों पर हुआ है।—द्वादशारनयचक्र (ज) भाग, १, प्राक्कथन, पृ० १४

२७५. अन्यथानुपपन्नत्व हेतोलक्षणमीरितम् ।—न्यायावतार, २२

समस्त प्रमाणों का विषय अनेकान्तात्मक वस्तु को माना है।<sup>२७६</sup> दिङ्नाग ने अनुमान प्रमाण के स्वार्थ एवं परार्थ ये दो भेद किए थे, किन्तु सिद्धसेन ने इन दोनों भेदों को प्रत्यक्ष-प्रमाण में भी घटित किया है।<sup>२७७</sup>

सिद्धसेन एवं मल्लवादी के अनन्तर सिंहसूरि भी एक उत्तमकोटि के जैन दार्शनिक थे, जिन्होंने मल्लवादी के द्वादशारण्यचक्र पर न्यायागमानुसारिणी टीका की रचना की। इन्होंने टीका में वसुबन्धु एवं दिङ्नाग का नामोल्लेख किया है।<sup>२७८</sup> इस प्रकार जैनदार्शनिक सिद्धसेन के न्यायावतार, मल्लवादी के द्वादशारण्यचक्र तथा सिंहसूरि की टीका में दिङ्नाग आदि के प्रमाण चिन्तन का यत्र तत्र खण्डन हुआ है, तथापि विचारणीय प्रश्न यह है कि इनके उत्तरवर्ती बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति के न्यायग्रंथों में जैनदार्शनिकों का स्पष्ट रूपेण उल्लेख करते हुए प्रमाणशास्त्रीय खण्डन क्यों नहीं किया गया? धर्मकीर्ति ने जैन दार्शनिकों के मात्र अनेकान्तवाद का खण्डन कर प्रमाणशास्त्रीय पक्षों की उपेक्षा क्यों की? इसका एक मात्र समाधान यह प्रतीत होता है कि उस समय जैनदार्शनिकों के चिन्तन में अनेकान्तदृष्टि का प्राधान्य था। वही उनका सुरक्षा कवच था, अतः उसका खण्डन करना आवश्यक एवं पर्याप्त था। धर्मकीर्ति के पश्चात् अर्चट की हेतुबिन्दुटीका में भी स्याद्वाद का विस्तार से खण्डन मिलता है। जैन दार्शनिक उमास्वाति के द्वारा प्रदत्त सत् के लक्षण 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' (तत्त्वार्थ सूत्र ५.२९) का भी अर्चट ने निरसन किया है।<sup>२७९</sup> हेतुबिन्दुटीका पर आलोक के रचयिता दुर्वेकमिश्र ने भी स्याद्वाद एवं अनेकान्तवाद की आलोचना की है तथा, नित्यानित्यात्मक पदार्थ में अर्थक्रिया मानने का खण्डन किया है।<sup>२८०</sup>

धर्मकीर्ति एवं अर्चट के पश्चात् ही जैन दर्शन में प्रमाणशास्त्रीय चिन्तन ने शनैः शनैः विकास किया अतः यही कारण है कि इनके अनन्तर शान्तरक्षित के ग्रंथों में जैन प्रमाण-मीमांसा की आलोचना हुई है।

शान्तरक्षित ने अपने तत्त्वसङ्ग्रह में जैनदार्शनिक मान्यताओं का पर्याप्त परीक्षण किया है। परीक्षित विषयों में आत्म-तत्त्व, प्रत्यक्ष-लक्षण, हेतुलक्षण, स्याद्वाद एवं बहिरर्थवाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन दर्शन की मान्यता है कि आत्मा द्रव्यरूप से सब अवस्थाओं में वही रहता है तथा पर्यायरूप से बदलता रहता है। शान्तरक्षित ने इसका सविस्तार खण्डन किया है।<sup>२८१</sup> इसी प्रकार जैन दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त स्याद्वाद का भी शान्तरक्षित ने परीक्षण किया है। जैन दर्शन के अनुसार घटादि पदार्थ से पटादि पदार्थ सर्वथा व्यावृत्त (अतुल्य) नहीं हैं, यदि सर्वथा व्यावृत्त हो जाय तो उसे खुपुष्प की भांति

२७६. अनेकान्तात्मक वस्तु गोचरः सर्वसंविदाम् ।—न्यायावतार, २९

२७७. परार्थत्वं द्वयोरपि ।—न्यायावतार, ११

२७८. द्रष्टव्य, न्यायागमानुसारिणी, द्वादशारण्यचक्र (ज), भाग-१, पृ० ६३, ७२, ९६, ९९ आदि।

२७९. द्रष्टव्य, यही अध्याय, पाद टिप्पण १०६-१०९

२८०. द्रष्टव्य, यही अध्याय, पाद टिप्पण १२२-१२४

२८१. तत्त्वसंग्रह, कारिका ३११—३२७



अवस्तु रूप मानना पड़ेगा तथा इसी प्रकार घटादि एवं पटादिपदार्थ सर्वथा एक भी नहीं है। यदि एक हो जाए तो उनमें “यह घट है” “यह पट है” इत्यादि व्यावृत्त ज्ञान नहीं हो सकता। शान्तरक्षित ने स्याद्वादसिद्धान्त को पूर्वपक्ष में सविस्तार रखकर उसका निरसन किया है।<sup>२८२</sup> बहिरर्थवाद के प्रसंग में शान्तरक्षित ने दिगम्बर जैनाचार्य सुमति के मत का उपस्थापन कर उसका प्रतिविधान किया है। सुमतिदेव के अनुसार बाह्य पदार्थ है एवं वह सामान्यविशेषात्मक है, शान्तरक्षित ने सुमतिदेव के इस मत का खण्डन किया है<sup>२८३</sup>। प्रमेयमीमांसा के साथ जैन प्रमाणमीमांसा भी शान्तरक्षित द्वारा परीक्षित हुई है। जिसमें सुमतिदेव द्वारा प्रस्तुत प्रत्यक्षप्रमाण तथा पात्रस्वामी कृत बौद्ध हेतुलक्षण का खण्डन प्रमुख है। सुमति ने प्रत्यक्ष का विषय सामान्यविशेषात्मक अर्थ माना है, जबकि शान्तरक्षित इसका खण्डन कर स्वलक्षण को प्रत्यक्ष विषय के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं।<sup>२८४</sup> पात्रस्वामी ने बौद्धों द्वारा प्रतिपादित त्रिलक्षण हेतु का विस्तृत खण्डन किया है तथा अन्यथानुपपन्नत्व रूप हेतुलक्षण को प्रतिष्ठित किया है। शान्तरक्षित ने उसे भी पूर्वपक्ष में रखकर पात्रस्वामी के मत का निरसन किया है।<sup>२८५</sup>

जैन दार्शनिकों द्वारा बौद्धों की प्रमाणमीमांसा का खण्डन शान्तरक्षित के काल तक उतना नहीं किया गया था, जितना उनके उत्तरवर्ती काल में हुआ। शान्तरक्षित के पश्चात् ही अकलङ्क ने जैन प्रमाणमीमांसा का व्यवस्थित रूप प्रस्तुत किया एवं बौद्ध प्रमाणप्रमेयमीमांसा पर आक्षेप किया। अकलङ्क के पश्चात् प्रत्येक जैन दार्शनिक ने बौद्ध प्रमाण मीमांसा के खण्डनार्थ अपनी कलम चलायी है। उनमें प्रमुख हैं-विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, सिद्धर्षिगणि, वादिराज, अभयदेवसूरि, प्रभाचन्द्र, वादिदेवसूरि एवं हेमचन्द्र। किन्तु इन दार्शनिकों द्वारा बौद्ध-प्रमाण मीमांसा का जो खण्डन प्रस्तुत किया गया उसका प्रत्युत्तर देने वाले बौद्ध दार्शनिक ग्रंथों का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। ज्ञानश्री मित्र एवं रत्नकीर्ति के ग्रंथ भी इस सन्दर्भ में महत्त्व नहीं रखते। इस प्रकार अकलङ्क से लेकर हेमचन्द्र तक अर्थात् आठवीं शती से लेकर बारहवीं शती तक जैन न्यायग्रंथों में बौद्धमत का खण्डन प्रबल रूपेण होता रहा, किन्तु बौद्धदार्शनिकों द्वारा उसका कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया गया। यदि बौद्धों द्वारा इन ग्रंथों के तर्कों का प्रत्युत्तर दिया गया होता, तो संभव था न्याय एवं मीमांसा दर्शनों की भांति जैन दार्शनिक ग्रंथ भी अधिक समृद्ध हो गये होते। तथापि शान्तरक्षित तक बौद्ध न्याय अपने उन्नतिके शिखर पर था, अतः जैन दार्शनिकों द्वारा उसका खण्डन किया जाना जैन न्यायग्रंथों के प्रौढत्व का सूचक है।

जैन एवं बौद्ध दोनों दर्शन श्रमणसंस्कृति के परिचायक हैं, दोनों ने वैदिक-परम्परा सम्मत प्रमाण

२८२. तत्वसङ्ग्रह, १७०९-१७८४

२८३. तत्वसङ्ग्रह, १९७९-१९८५

२८४. तत्वसङ्ग्रह, १२६४-१२८३

२८५. तत्वसङ्ग्रह, १३६३-१४२८

एवं प्रमाणमीमांसा में पारस्परिक विरोध रहा है। बौद्ध दार्शनिक जहां सत् का लक्षण अर्थक्रियाकारित्व<sup>२८६</sup> मानकर उसे क्षणिक सिद्ध करते हैं वहां जैन दार्शनिक क्षणिक में अर्थक्रिया को अनुपपन्न ठहरा कर सत् को उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्यात्मक सिद्ध करते हैं।<sup>२८७</sup> जैन दार्शनिकों के अनुसार द्रव्य ध्रुव रहता है तथा उसकी पर्याय प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती है, जबकि बौद्ध दार्शनिक प्रतिक्षण सम्पूर्ण अर्थ का ही विनाश प्रतिपादित कर उसे क्षणिक सिद्ध करते हैं। उनके अनुसार दूसरे क्षण में वह वस्तु दूसरी ही होती है। विज्ञानवादी एवं शून्यवादी बौद्ध दार्शनिक जहाँ बाह्य अर्थ की सत्ता अंगीकार नहीं करते, वहाँ जैन दार्शनिक बाह्य पदार्थों को यथार्थ मानते हैं।

बौद्ध दार्शनिक जहाँ कार्य एवं कारण के नियम को संवृति सत् मानते हैं वहाँ जैन दार्शनिक इसे परमार्थ सत् रूप में अंगीकार करते हैं। बौद्ध दार्शनिक शब्द एवं अर्थ का पारस्परिक सम्बन्ध नहीं मानते, जबकि जैन दार्शनिक शब्द से अर्थ का योग्यता सम्बन्ध स्वीकार करते हैं।

प्रमाण के स्वरूप के विषय में दोनों दर्शन जहाँ सम्यग्ज्ञान को प्रमाण मानने में एकमत हैं वहाँ वे उसकी निर्विकल्पकता एवं सविकल्पकता को लेकर विवाद करते हैं। बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष-प्रमाण निर्विकल्पक होता है तो जैन दर्शन में सविकल्पक एवं व्यवसायात्मक ज्ञान ही प्रमाण होता है। बौद्ध दार्शनिक दो प्रमाण अंगीकार करते हैं—प्रत्यक्ष एवं अनुमान। उनके अनुसार प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण एवं अनुमान का विषय सामान्य लक्षण है। दोनों के विषय पृथक् हैं। जैन दार्शनिक प्रमाण संप्लव के सिद्धान्त को अंगीकार करते हैं, जिसके अनुसार एक ही सामान्य- विशेषात्मक प्रमेय अनुमान एवं प्रत्यक्ष दोनों प्रमाणों का विषय बन सकता है। जैन दार्शनिक स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क एवं आगम को जहाँ प्रमाणकोटि में रखते हैं वहाँ बौद्ध दार्शनिक स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क को प्रमाणकोटि से बहिर्भूत रखते हैं। आगम-प्रमाण का समावेश वे अनुमान-प्रमाण में कर लेते हैं।

इस प्रकार बौद्ध एवं जैन दार्शनिक प्रमाणसम्बद्ध कुछ मान्यताओं में एकमत हैं तो अनेक मान्यताओं में परस्पर मतभेद भी रखते हैं। ■

२८६. अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद् वस्तुनः ।—न्यायबिन्दु, १.१५

२८७. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।—तत्त्वार्थसूत्र, ५.२९

## द्वितीय अध्याय

# प्रमाण-लक्षण और प्रामाण्यवाद

श्रमणसंस्कृति के परिचायक बौद्ध एवं जैन दोनों दर्शन प्रमाण को ज्ञानात्मक मानते हैं। नैयायिकों को अभीष्ट कारकसाकल्य<sup>१</sup>, इन्द्रिय एवं इन्द्रियार्थसन्निकर्ष<sup>२</sup>, सांख्यसम्मत इन्द्रियवृत्ति<sup>३</sup>, मीमांसकाभिमत ज्ञातव्यापार<sup>४</sup> आदि को ये दोनों दर्शन अज्ञानात्मक या अचेतनात्मक होने के कारण प्रमाण नहीं मानते हैं।<sup>५</sup> इनके मत में प्रमाण ज्ञानात्मक है, क्योंकि वह ही हेय एवं उपादेय अर्थ का ज्ञान कराने में समर्थ होता है।<sup>६</sup> बौद्धमत में वही अर्थप्रापक, प्रवर्तक एवं संवादक होता है तथा जैन दर्शन में वही निश्चयात्मक एवं संवादक रूप में अभीष्ट है। जिस ज्ञान को ये दोनों दर्शन प्रमाण मानते हैं वह सम्यग्ज्ञान कहा गया है।

प्रमाण को ज्ञानात्मक मानते हुए भी तत्त्वमीमांसा की भिन्नता के कारण इन दोनों दर्शनों के प्रमाण-लक्षण में अनेक मौलिक मतभेद हैं। बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग (पांचवीं शती) से कमलशील (आठवीं शती) तक एवं जैन दार्शनिक सिद्धसेन (पांचवीं शती) से हेमचन्द्र (बारहवीं शती) तक प्रमाण एवं प्रामाण्यवाद के सम्बन्ध में जो ऊहापोह हुआ है उस पर प्रस्तुत अध्याय में विचार किया गया है। प्रारम्भ में बौद्ध एवं जैन दर्शन के अनुसार प्रमाण-स्वरूप का संक्षिप्त निरूपण किया गया है। तदनन्तर जैन दार्शनिकों द्वारा बौद्धों के प्रमाण-लक्षण की आलोचना प्रस्तुत की गयी है। जैन दार्शनिकों द्वारा की गयी आलोचना का समीक्षण करने के अनन्तर प्रामाण्यवाद पर विचार किया है।

## बौद्ध दर्शन में प्रमाण-लक्षण

बौद्ध दर्शन में प्रमाणलक्षण का निरूपण तीन प्रकार से मिलता है। प्रथम प्रकार में अज्ञात अर्थ के ज्ञापक या प्रकाशक ज्ञान को प्रमाण कहा गया है। द्वितीय प्रकार में अविश्वसनीय ज्ञान को एवं तृतीय प्रकार में अर्थसारूप्य को प्रमाण कहा गया है।

### प्रथम लक्षण

बौद्धों के प्रथम प्रकार के प्रमाण-लक्षण में अज्ञात अर्थ के ज्ञापक ज्ञान को रखा जा सकता है।

१. अव्यभिचारदिविशेषणविशिष्टाद्यौपलब्धिजनक कारकसाकल्यं साधकतमत्वात् प्रमाणम् ।- प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-१, पृ० १९

२. तस्याः करणं त्रिविधं । कदाचिद् इन्द्रियं कदाचिदिन्द्रियार्थसन्निकर्षः कदाचिज्ज्ञानम् ।- तर्कभाषा (केशवमिश्र), पृ० ४६ (प्रत्यक्ष-प्रमाण विवेचन में)

३. प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम् ।- सांख्यकारिका, ५

४. तत्र व्यापाराच्च प्रमाणाता ।- श्लोकवार्तिक, प्रत्यक्ष सूत्र, ६१

५. (अ) ज्ञानं प्रमाणं, नाज्ञानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षादि ।- प्रमाणवार्तिक (म.न.), १.३

(ब) सन्निकर्षादिरज्ञानस्य प्रामाण्यमनुपपन्नम् अर्थान्तरवत् ।- लघीयस्त्रयवृत्ति, १.३,

(स) प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड में कारकसाकल्य, इन्द्रियार्थसन्निकर्ष, इन्द्रियवृत्ति एवं ज्ञातव्यापार को प्रमाण मानने का खण्डन किया है ।- द्रष्टव्य, प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-१, पृ. १९-७४

६. (१) — धी प्रमाणाता ।

प्रवृत्तेस्तत्त्वधानत्वात् हेयोपादेयवस्तुनि ॥- प्रमाणवार्तिक, १.५

(२) हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ।- परीक्षामुख, १.२

बौद्ध न्यायग्रंथों में प्रमाण का यही सर्वाधिक प्राचीन पारमार्थिक लक्षण है। दिङ्नाग के टीकाकार जिनेन्द्रबुद्धि ने विशालामलवती टीका में इसका प्रतिपादन करते हुए कहा है कि अज्ञात अर्थ का ज्ञापक ज्ञान प्रमाण का सामान्य लक्षण है।<sup>१०</sup> स्वयं दिङ्नाग के उपलब्ध प्रमाणसमुच्चय ग्रंथ में यद्यपि इसका उल्लेख नहीं है तथापि उनके द्वारा प्रतिपादित प्रमाणस्वरूप से उसकी अज्ञातार्थज्ञापकता का स्पष्ट भान होता है। वे प्रतिपादित करते हैं कि स्मृति, इच्छा, द्वेष, प्रत्यभिज्ञान आदि प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि इनके द्वारा अधिगत विषय का ही ज्ञान कराया जाता है।<sup>११</sup> स्पष्टतः इस कथन से वे प्रमाण की अज्ञातार्थज्ञापकता का प्रतिपादन करना चाहते हैं। वे कहते हैं कि स्मृति, इच्छा, द्वेषादि को प्रमाण माना जाय तो अनवस्था दोष का प्रसंग उपस्थित होता है।<sup>१२</sup> दिङ्नाग के इस अभिप्राय को जिनेन्द्रबुद्धि ने भी अभिव्यक्त करते हुए कहा है कि आचार्य दिङ्नाग को प्रमाण की ज्ञातविषयकता अभीष्ट नहीं है, क्योंकि उसमें अनवस्था दोष उपस्थित होता है।<sup>१३</sup>

प्रमाण के इस लक्षण का दिङ्नाग के पश्चात् धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, आदि बौद्ध दार्शनिकों ने उपपादन एवं समर्थन किया है। धर्मकीर्ति ने यद्यपि प्रमाण का एक अन्य लक्षण “अविसंवादी ज्ञान प्रमाण है”<sup>१४</sup> भी प्रस्तुत किया है तथापि वे गौण रूप से “अज्ञातार्थप्रकाशो वा”<sup>१५</sup> कहकर अज्ञात अर्थ के प्रकाशक ज्ञान को भी प्रमाण कहते हैं। प्रज्ञाकरगुप्त ने अज्ञातार्थप्रकाशक ज्ञान को प्रमाण का पारमार्थिक लक्षण कहा है तथा अविसंवादी ज्ञान को उसका सांव्यावहारिक लक्षण बतलाया है।<sup>१६</sup>

धर्मोत्तर ने प्रमाण को अनधिगत विषयक मानने के पीछे यह हेतु दिया है कि अर्थ के अधिगत हो जाने पर उसके प्रति पुरुष प्रवर्तित हो जाता है तथा अर्थ की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार अर्थ का अधिगम हो जाने पर प्रमाणव्यापार समाप्त हो जाता है, इसलिए अनधिगत अर्थविषयक ज्ञान को प्रमाण कहना चाहिए।<sup>१७</sup> अधिगत अर्थ का ज्ञान अप्रमाण है, क्योंकि उसमें पूर्व अधिगत ज्ञान से कोई वैशिष्ट्य नहीं है।<sup>१८</sup>

७. अज्ञातार्थज्ञापकमिति प्रमाणसामान्यलक्षणम् ।—विशालामलवती, प्रमाणसमुच्चय, पृ० ११.

८. स्मृतीच्छाद्वेषादिवत् पूर्वाधिगमविषयत्वात् ।—Dignāga, on perception, संस्कृतटेक्स्ट, ३, एवं तत्त्वार्थवार्तिक, १.१२ पृ० ५६

९. (१) यदि सर्वेषां ज्ञानानां प्रमाणत्वमिष्यते प्रमाणानवस्था प्रसज्यते । स्मृतादिवत् ।—प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, पृ० ११.

(२) नाऽपि पुनः प्रत्यभिज्ञाऽनवस्था स्यात् स्मृतादिवत् ।—प्रमाणसमुच्चय, ३

१०. आचार्यस्य ज्ञातविषयकं प्रमाणं नेत्यत्र कारणमाह अनवस्थाप्रसंगादिति ।—विशालामलवती, प्रमाणसमुच्चय, पृ० ११.

११. प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम् ।—प्रमाणवार्तिक, १.३

१२. प्रमाणवार्तिक, १.७

१३. तत्र पारमार्थिकप्रमाणलक्षणमेतत् । पूर्व तु सांव्यावहारिकस्य ।—प्रमाणवार्तिकभाष्य, पृ० ३०.२२ ।

१४. अधिगते चार्थे प्रवर्तितः पुरुषः प्रापितश्चार्थः । तथा च सत्यर्थाधिगमात् समाप्तः प्रमाणव्यापारः । अत एव चानधिगतविषयं प्रमाणम् ।—न्यायबिन्दुटीका, १.१, पृ० ११.

१५. येनैव ज्ञानेन प्रथममधिगतोऽर्थः तेनैव प्रवर्तितः पुरुषः प्रापितश्चार्थः । तत्रैव चार्थे किमन्येन ज्ञानेनाधिकं कार्यम् । ततोऽधिगतविषयमप्रमाणम् ।—न्यायबिन्दुटीका, १.१. पृ० ११

बौद्ध दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाणों के प्रसंग में उनके विशेष लक्षण दिये हैं, किन्तु प्रमाण की वे यह सामान्य विशेषता मानते हैं कि प्रमाण अज्ञात अर्थ या अनधिगत विषय का ज्ञापक अथवा प्रकाशक होता है। यही कारण है कि **दिङ्नाग** ने प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण एवं अनुमान का विषय उससे भिन्न सामान्यलक्षण प्रतिपादित किया है।

**कुमारिल** ने **श्लोकवार्तिक** में बौद्धमत को प्रस्तुत करते हुए उसकी अनधितार्थविषयता को स्पष्ट किया है, तदनुसार बौद्ध दार्शनिक मीमांसकों पर आक्षेप करते हुए कहते हैं “यदि किसी अर्थ को प्रत्यक्ष के द्वारा जान लिया गया है तो उसी अर्थ को जानने के लिए अनुमान, उपमान आदि ‘प्रमाण’ नहीं हो सकते। इसी प्रकार किसी अर्थ का अनुमान आदि से ज्ञान हो गया है तो उसका प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञान होने का प्रामाण्य नहीं है।”<sup>१६</sup>

अज्ञातार्थज्ञापकता के कारण ही **दिङ्नाग** ने भिन्न-भिन्न प्रमेयों के लिए भिन्न-भिन्न प्रमाणों की व्यवस्था प्रदान की है। वे दो प्रकार के प्रमेयों का प्रतिपादन करते हैं—स्वलक्षण एवं सामान्य-लक्षण। इन दो प्रकार के प्रमेयों के लिए प्रमाण भी दो प्रकार के माने हैं—प्रत्यक्ष एवं अनुमान। प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है तथा अनुमान का विषय सामान्यलक्षण है।<sup>१७</sup> बौद्धमत के अनुसार जिस सामान्यलक्षण प्रमेय का ज्ञान अनुमान-प्रमाण द्वारा होता है उसे पुनः प्रत्यक्ष-प्रमाण द्वारा नहीं जाना जा सकता, इसी प्रकार जिस स्वलक्षण प्रमेय का ज्ञान प्रत्यक्ष-प्रमाण द्वारा होता है उसे पुनः अनुमान प्रमाण द्वारा नहीं जाना जा सकता।<sup>१८</sup>

मीमांसकों ने भी प्रमाण को अनधिगत अर्थ का अधिगन्ता प्रतिपादित किया है, किन्तु वे निश्चित प्रमेय के लिए निश्चित प्रमाण की व्यवस्था प्रदान नहीं करते। इसीलिए बौद्धों ने मीमांसकों पर उपर्युक्त आक्षेप किया है।

बौद्धों एवं मीमांसकों का इस बात में साम्य है कि वे दोनों प्रमाण को अनधिगत अर्थ का ग्राहक मानते हैं, किन्तु मीमांसकों के यहाँ अनधिगतार्थाधिगन्तृत्व प्रमाण का एक विशेषण है, सम्पूर्ण लक्षण नहीं। **पार्थसारथि मिश्र** के अनुसार कारणदोष से रहित एवं बाधकज्ञान से रहित जो अगृहीतग्राही ज्ञान है वह प्रमाण है।<sup>१९</sup> **कुमारिल** के **श्लोकवार्तिक** में भी इस प्रकार प्रमाण के अनधिगतार्थाहित्व स्वरूप का उल्लेख है।<sup>२०</sup> मीमांसकों का प्रमाण-स्वरूप के सम्बन्ध में एक श्लोक प्रसिद्ध है जिसे **कुमारिल** कर्तृक माना जाता है (किन्तु श्लोकवार्तिक में उपलब्ध नहीं है)। उसके अनुसार वह ज्ञान प्रमाण है

१६. प्रत्यक्षाऽवगते चाथं कुतस्तेषां प्रमाणता ।

तैर्यदा स प्रतीयेत तदा नाक्षस्य गोचरः ॥—श्लोकवार्तिक, प्रत्यक्षसूत्र, ११

१७. प्रत्यक्षमनुमानञ्च प्रमाणं द्विलक्षणम् ।

प्रमेयं तत्रयोगार्थं न प्रमाणान्तरं भवेत् ॥

अत्र प्रमाणं द्विविधमेव । कुतश्चेत् द्विलक्षणं प्रमेयं । स्वसामान्यलक्षणाभ्यां भिन्नलक्षणं प्रमेयान्तरं नास्ति ।

—प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, २ पृ० ४

१८. स्वलक्षणविषयकं प्रत्यक्षमेव । सामान्यलक्षणविषयकमनुमानमेव ।—विशालामलवती, पृ० ६

१९. कारणदोषबाधकज्ञानरहितमगृहीतग्राहिज्ञानं प्रमाणम् ।—शास्त्रदीपिका, पृ० ४५ ।

२०. यः पूर्ववगतो ऽशो ऽत्र स न नाम प्रतीयते ।—श्लोकवार्तिक, प्रत्यक्षसूत्र, २३३ ।

जो अपूर्व अर्थ को विषय करता हो, निश्चित हो, बाधारहित हो, अदुष्ट कारण से उत्पन्न हुआ हो तथा लोकव्यवहार में मान्य हो।<sup>२१</sup> श्लोकवार्तिक में कुमारिल ने अन्यत्र ज्ञातव्यापार को प्रमाण कहा है।<sup>२२</sup>

बौद्ध एवं मीमांसकों में पहले अनधिगतार्थगन्तुता को प्रमाण का लक्षण किसने स्वीकार किया, इस विषय में अभी तक स्पष्ट मत सामने नहीं आया है। श्वेत्बात्की, आदि विद्वान् इस विषय में मौन हैं, किन्तु डी. एन. शास्त्री का मत है कि संभवतः बौद्ध प्रभाव से मीमांसकों ने उनके प्रमाणलक्षण में अनधिगतार्थगन्तुता को स्थान दिया है।<sup>२३</sup> उनका यह मत उचित प्रतीत होता है, क्योंकि शबरस्वामी तक मीमांसादर्शन में प्रमाण को अनधिगतार्थग्राही नहीं कहा गया है। प्रमाण को अनधिगतार्थग्राही अथवा अज्ञातार्थज्ञापक कहना बौद्ध तत्त्वमीमांसा में उपयुक्त प्रतीत होता है, किन्तु मीमांसा दर्शन में जहाँ प्रमेयार्थ क्षणिक नहीं है, तथा धारावाही ज्ञान को भी जहाँ प्रमाण माना गया है, वहाँ अनधिगतार्थगन्तुता को प्रमाणलक्षण मानना असंगत है। यही कारण है कि प्रमाण के अनधिगतार्थगन्तुत्व लक्षण का खण्डन नैयायिकों एवं जैनदर्शनिकों द्वारा प्रायः मीमांसकों को लक्ष्य करके ही किया गया है, बौद्धों को लक्ष्य करके नहीं।

बौद्धों की अपेक्षा मीमांसकों को लक्ष्य करके प्रमाण की अनधिगतार्थगन्तुता का खण्डन करने के अग्राङ्गित अन्य मुख्य कारण प्रतीत होते हैं—(१) धर्मकीर्ति के द्वारा प्रमाण का एक अन्य लक्षण “अविसंवादी ज्ञान प्रमाण है” (प्रमाणवार्तिक, १.३) दिये जाने पर बौद्ध प्रमाणशास्त्र में वह मुख्य लक्षण के रूप में प्रतिष्ठित हो गया तथा अज्ञातार्थज्ञापकत्व लक्षण संभवतः गौण हो गया, जबकि मीमांसा दर्शन में इसे प्रारम्भ से अन्त तक समानरूपेण महत्त्व दिया गया। (२) मीमांसक एक ओर अनधिगतार्थगन्तु ज्ञान को प्रमाण मानते हैं तो दूसरी ओर धारावाहिक ज्ञान में भी प्रामाण्य प्रतिपादित करते हैं, जो पारस्परिक विरोध की प्रतीति कराता है। बौद्धों के यहां योगिप्रत्यक्ष के प्रमाता के अतिरिक्त किसी के भी धारावाहिक ज्ञान के प्रामाण्य को स्वीकार नहीं किया गया, अतः उनके अज्ञातार्थज्ञापकत्व में पारस्परिक विसंगति नहीं थी। (३) बौद्ध दर्शन निरंश क्षणिकवादी है, जिसके अनुसार प्रत्येक भावी क्षण अनधिगत ही रहता है। अतः उनकी तत्त्वमीमांसा में क्षणिकवाद का खण्डन करना प्रथम आवश्यकता थी। क्षणिकवाद का खण्डन करने पर ही अज्ञातार्थज्ञापकत्व-लक्षण का खण्डन संभव था, अतः भारतीयदर्शन में क्षणिकवाद का खण्डन प्रचुररूपेण किया गया है, जबकि उनके प्रमाण लक्षण के अनधिगतार्थज्ञापकत्व या अज्ञातार्थप्रकाशकत्व स्वरूप का कम।

## द्वितीय लक्षण

द्वितीय प्रकार में धर्मकीर्ति के द्वारा निरूपित प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्<sup>२४</sup> लक्षण को रखा जा

२१. तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम् ।

अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम् ॥

२२. तत्र व्यापाराच्च प्रमाणता ।—श्लोकवार्तिक, प्रत्यक्ष सूत्र, ६१

२३. The Pūrva Mīmāṃsā definition seems to have been adopted under the influence of the Buddhist whose definition is identical with it. —Critique of Indian Realism, p. 471

२४. प्रमाणवार्तिक, १.३

सकता है, जिसके अनुसार अविस्वादी ज्ञान प्रमाण है। बौद्ध प्रमाणशास्त्र में यह लक्षण सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं सांव्यावहारिक है। अविस्वादी का अर्थ यहां अभ्रान्त नहीं है, क्योंकि धर्मकीर्ति के मत में भ्रान्त ज्ञान भी कदाचित् अनुमान के रूप में प्रमाण होता है। वे अविस्वादी शब्द की व्याख्या करते हुए अविस्वादन का अर्थ अर्थक्रियास्थिति करते हैं।<sup>२५</sup> अर्थक्रियास्थिति का अर्थ है अर्थप्रापण की योग्यता। अविस्वादकत्व की विस्तृत व्याख्या धर्मकीर्ति के टीकाकार धर्मोत्तर ने की है, जो नीचे प्रस्तुत है।

धर्मोत्तर कहते हैं कि लोक में जिस प्रकार पूर्व प्रदर्शित वस्तु को प्राप्त करा देने वाला पुरुष संवादक कहलाता है उसी प्रकार ज्ञान भी अपने द्वारा प्रदर्शित (अवबोधित) अर्थ को प्राप्त कराने के कारण संवादक कहा जाता है। यहां प्राप्त कराने का अर्थ प्रदर्शित अर्थ में प्रवर्तक होना है, क्योंकि ज्ञान वस्तु को उत्पन्न करके उसे प्राप्त नहीं कराता, अपितु प्रदर्शित अर्थ में पुरुष को प्रवृत्त करता है। यही ज्ञान की प्रापकता, प्रकाशरूपता या ज्ञापकता है। प्रवर्तक होने का अर्थ भी यह नहीं कि ज्ञान पुरुष को हठात् प्रवृत्त करता है।<sup>२६</sup> संक्षेप में कहें तो प्रवृत्ति के विषय का बोध कराने वाला ज्ञान प्रमाण होता है। यह अर्थक्रिया में समर्थ वस्तु का प्रदर्शक होता है।

धर्मकीर्ति के टीकाकार प्रज्ञाकरगुप्त ने अर्थक्रियास्थिति की व्याख्या करते हुए कहा कि अग्नि आदि अर्थ में दाह, पाक आदि क्रिया निष्पत्ति का अत्रिचलित रहना अविस्वादन है।<sup>२७</sup> अर्थात् अग्नि में जिस अर्थक्रियाकारित्व का ज्ञान हुआ है वह यदि प्राप्तिकाल में विचलित नहीं हो तो वह ज्ञान अविस्वादन होने से प्रमाण है। प्रमाणवार्तिक के वृत्तिकार मनोरथनन्दी के मत में उपदर्शित अर्थ के अनुरूप क्रिया की स्थिति होना अविस्वादनकता है और यही प्रमाणयोग्यता है, क्योंकि ज्ञान से अर्थ को जानकर भी पुरुष प्रवृत्त नहीं होता है एवं प्रवृत्ति करता हुआ भी प्रतिबन्ध आदि के कारण अर्थक्रिया को प्राप्त नहीं करता है, तथापि उपदर्शित अर्थ का ज्ञान प्रमाणयोग्यता रूप अविस्वादनकता के प्राप्त होने से प्रमाण होता है।<sup>२८</sup> मनोरथनन्दी के अनुसार प्रमाण का यह अविस्वादित्व लक्षण बाह्यार्थ को स्वीकार करने वाले बौद्धों तथा विज्ञानवादी बौद्धों दोनों में समान रूप से लागू हो जाता है।<sup>२९</sup>

२५. अर्थक्रियास्थितिः अविस्वादनम् ।— प्रमाणवार्तिक, १.३

२६. लोके च पूर्वमुपदर्शितमर्थं प्रापयन् संवादक उच्यते । तदवज्ञानमपि स्वयं प्रदर्शितमर्थं प्रापयत् संवादकमुच्यते । प्रदर्शिते चार्थे प्रवर्तकत्वमेव प्रापकत्वम्, नान्यत् तथाहि— न ज्ञानं जनयदर्थं प्रापयति अपित्वर्थे पुरुषं प्रवर्तयत् प्रापयत्वर्थम् । प्रवर्तकत्वमपि प्रवृत्तिविषयप्रदर्शकत्वमेव । न हि पुरुषं हठात् प्रवर्तयितुं शक्नोति विज्ञानम् ।— न्यायबिन्दुटीका, १.१ पृ० १०

२७. अर्थस्य दाहपाकादेः क्रियानिष्पत्तिस्तस्याः स्थितिरविचलनमविस्वादनं व्यवस्था वा ।— प्रमाणवार्तिकभाष्य, पृ० ४.४

२८. यथोपदर्शितार्थस्य क्रियायाः स्थितिः प्रमाणयोग्यता अविस्वादनम् । अतश्च यतो ज्ञानादर्थं परिच्छिद्यपि न प्रवर्तते, प्रवृत्तो वा कुतश्चित् प्रतिबन्धादेरर्थक्रियां नाधिगच्छति, तदपि प्रमाणमेव, प्रमाणयोग्यतालक्षणस्याविस्वादस्य सत्त्वात् ।— प्रमाणवार्तिक (म०न०), १.३, पृ० ४

२९. एतच्चाविस्वादनं बाह्यार्थेतरवादयोः समानं प्रमाणलक्षणम् । विज्ञाननयेऽपिसाधननिर्भासज्ञानान्तरमर्थक्रियानिर्भासज्ञानमेव संवादः ।— प्रमाणवार्तिक (म०न०), १.३, पृ. ४

दुर्वेकमिन्न ने धर्मोत्तर की व्याख्या को पुष्ट करते हुए कहा है कि प्रवृत्तिविषयकवस्तु का प्रापक या अविस्वादादक ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और वही प्रमाण है।<sup>३०</sup>

इस प्रकार ज्ञान अर्थ का प्रकाशक मात्र नहीं, अपितु प्रवर्तक या अविस्वादादक है। यही प्रथम लक्षण से द्वितीय लक्षण का सूक्ष्म भेद है। दूसरा स्थूल भेद अनधिगत पदके ग्रहण न करने से संबद्ध प्रतीत होता है, किन्तु धर्मकीर्ति के मत में भी दिङ्नाग की भांति प्रमाण अधिगत अर्थ का प्राही नहीं होता। इसलिए “अज्ञातार्थप्रकाशो वा” वाक्य के द्वारा धर्मकीर्ति प्रमाण को अज्ञात अर्थ का प्रकाशक मानते हैं।

बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष एवं अनुमान इन दो प्रमाणों की कल्पना है। प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण एवं अनुमान का विषय सामान्यलक्षण मान्य है। स्वलक्षण को अर्थक्रियासामर्थ्य से युक्त होने के कारण परमार्थसत् माना गया है तथा सामान्यलक्षण को स्वलक्षण द्वारा अर्थक्रिया कराने से संवृतिसत् कहा गया है।<sup>३१</sup> स्वलक्षण के परमार्थ सत् होने से धर्मकीर्ति ने वस्तुतः एक ही प्रमेय स्वलक्षण को अंगीकार किया है,<sup>३२</sup> तथापि वे सांख्यवहारिक दृष्टि से सामान्यलक्षण द्वारा भी स्वलक्षण की प्राप्ति कराये जाने से उसको संवृतिसत् मानकर दो विषयों अथवा प्रमेयों का भी कथन करते हैं।<sup>३३</sup>

प्रत्यक्ष एवं अनुमान दोनों अविस्वादादक होने से प्रमाण हैं। प्रत्यक्ष तो अर्थक्रियासामर्थ्य से युक्त स्वलक्षण को विषय करने के कारण स्वतः अविस्वादादक है, किन्तु अनुमान की अविस्वादादकता उसके द्वारा स्वलक्षण की प्राप्ति कराये जाने पर निर्भर करती है। अनुमान को यद्यपि धर्मकीर्ति भ्रान्तज्ञान मानते हैं,<sup>३४</sup> तथापि उसे अविस्वादादक होने के कारण प्रमाण मानते हैं।<sup>३५</sup> वे इसके लिए मणिप्रभा एवं दीपप्रभा का उदाहरण देते हैं कि कोई पुरुष मणिप्रभा एवं दीपप्रभा को ‘यह मणि’ है इस प्रकार समझकर उनकी ओर दौड़ता है, किन्तु दीपप्रभा एवं मणिप्रभा दोनों ही मणि नहीं हैं, अतः इन्हें मणि समझने का उस पुरुष का ज्ञान मिथ्या होने से भ्रान्त है तथापि मणिप्रभा की ओर दौड़ने पर पुरुष को मणि की प्राप्ति हो जाती है।<sup>३६</sup> अतः वह ज्ञान भ्रान्त होने पर भी अविस्वादादक होता है। इसी प्रकार सामान्यलक्षणविषयक अनुमान से जब अर्थक्रियासामर्थ्यस्वलक्षण की प्राप्ति होती है तो अनुमान भी संवादादक होने से प्रमाण कहा जाता है।

३०. अविस्वादादकं प्रवृत्तिविषयवस्तुप्रापकं सम्यग्ज्ञानमिति ।—धर्मोत्तरप्रदीप, पृ० १७

३१. अर्थक्रियासमर्थं यत् तदत्र परमार्थसत् ।

अन्यत् संवृतिसत् प्रोक्तं, ते सामान्यस्वलक्षणे ॥—प्रमाणवार्तिक, २.३

३२. मेयं त्वेकं स्वलक्षणम् ।—प्रमाणवार्तिक, २.५३

३३. तस्मादर्थक्रियासिद्धेः सदसत्ताविचारजातः ।

तस्य स्वपररूपाभ्यां गतेर्मेयद्वयं मतम् ॥—प्रमाणवार्तिक, २.५४

३४. अयथाभिनिवेशेन द्वितीया भ्रान्तिरिष्यते ।—प्रमाणवार्तिक, २.५५

३५. अभिप्रायाऽविस्वादादपि भ्रान्तेः प्रमाणात् ।—प्रमाणवार्तिक २.५६

३६. मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः ।

मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ॥—प्रमाणवार्तिक २.५७



इस प्रकार धर्मकीर्ति की अविस्वादाकता अर्थक्रियासामर्थ्ययुक्त वस्तु की प्राप्ति पर निर्भर करती है। इसलिए वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—अर्थक्रिया के अनुरोध से प्रामाण्य की व्यवस्था है।<sup>३७</sup>

बौद्ध दर्शन क्षणिकवादी है। उसके अनुसार जो वस्तु इस क्षण में उत्पन्न होती है वह आगामों क्षण में पूर्णतया नष्ट हो जाती है, तथा तत्सदृश अन्य वस्तु उत्पन्न हो जाती है। जिस वस्तु का हम इस समय प्रत्यक्ष कर रहे हैं वह अनन्तरवर्ती क्षण में विद्यमान नहीं रहती है। इस प्रकार धर्मकीर्ति के प्रमाणलक्षण में बाधा खड़ी होती है कि जिस स्वलक्षण वस्तु का इस क्षण प्रत्यक्ष हो रहा है, वह उत्तरवर्ती क्षण में प्राप्त नहीं होती है, कोई अन्य ही वस्तु दूसरे क्षण में प्राप्त होती है, तो फिर प्रश्न उठता है कि अर्थप्रापकता के अभाव में अविस्वादाकता कहाँ रही ?

इस समस्या को धर्मोत्तर ने समझा तथा उसका समाधान खोजने का प्रयास किया। तदनुसार प्रमाण का विषय दो प्रकार का प्रतिपादित किया गया—ग्राह्य एवं प्रापणीय अथवा अध्यवसेय। प्रत्यक्ष प्रमाण का ग्राह्य विषय स्वलक्षण है एवं प्रापणीय अथवा अध्यवसेय विषय प्रत्यक्ष के आधार पर उत्पन्न क्षण संतान है, क्योंकि स्वलक्षण क्षण प्राप्त नहीं किया जा सकता, अतः प्रत्यक्ष का प्रापणीय विषय संतान है। इसी प्रकार अनुमान का ग्राह्य विषय सामान्यलक्षण है, जो अनर्थरूप है, किन्तु उसका अध्यवसेय विषय स्वलक्षण है। स्वलक्षण को प्राप्त कराने से अनुमान भी प्रमाण है। इस प्रकार धर्मोत्तर ने प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाणों के अविस्वादाकत्व को ग्राह्य एवं अध्यवसेय विषयों के रूप में प्रस्तुत किया है।<sup>३८</sup>

### दोनों लक्षणों की परस्पर पूरकता

बौद्धों के प्रमाणलक्षण में एक ओर अविस्वादादी ज्ञान को प्रमाण कहा गया तथा दूसरी ओर अज्ञात अर्थ के प्रकाशक ज्ञान को प्रमाण कहा गया, किन्तु ये दोनों प्रमाण-लक्षण एक दूसरे के पूरक बनकर ही प्रमाण-स्वरूप को प्रकट करते हैं; अन्यथा धारावाही ज्ञान में अविस्वादिता रहने से द्वितीय प्रमाण लक्षण के अनुसार उसे भी प्रमाण मानने का प्रसंग आता है जो दोषपूर्ण है। इसलिए प्रमाणवार्तिक के वृत्तिकार मनोरथनन्दी इन दोनों प्रमाण लक्षणों को परस्पर सापेक्ष प्रतिपादित करते हैं। वे प्रमाण को अविस्वादादी मानने के साथ उसे अज्ञातार्थ का प्रकाशक एवं अज्ञात अर्थ का प्रकाशक मानने के साथ उसका अविस्वादादी होना आवश्यक मानते हैं।<sup>३९</sup> अज्ञातार्थ प्रकाशकता के बिना सांवृत ज्ञान का

३७. अर्थक्रियानुरोधेन प्रामाण्यं व्यवस्थितम् ।— प्रमाणवार्तिक, २, ५८

३८. द्विविधो हि विषयः प्रमाणस्य—ग्राह्यश्च यदाकारमुत्पद्यते, प्रापणीयश्च यमध्यवस्यति । अन्यो हि ग्राह्योऽन्यथाध्यवसेयः । प्रत्यक्षस्य हि क्षण एको ग्राह्यः । अध्यवसेयस्तु प्रत्यक्षबलोत्पन्नेन निश्चयेन सन्तान एव । सन्तान एव च प्रत्यक्षस्य प्रापणीयः । क्षणस्य प्रापयितुमशक्यत्वात् । तथानुमानमपि स्वप्रतिभासेऽनर्थेर्थाध्यवसायेन प्रवृत्तेरनर्थग्राहि । स पुनरारोपितोर्धो ग्राह्यमाणः स्वलक्षणत्वेनावसीयते यतः, ततः स्वलक्षणमध्यवसितं प्रवृत्तिविषयोऽनुमानस्य । अनर्थस्तु ग्राह्यः ।— न्यायबिन्दुटीका, १, १२, पृ० ७०-७२ ।

३९. नन्वविस्वादादेवाज्ञातार्थप्रकाशो ज्ञातव्यः, अन्यथा पीतशंखज्ञानमपि प्रमाणं स्यात् तथा चाविस्वादित्वमेव प्रमाणमस्तु किमनेनाभिहितेन ? नन्वविस्वादिष्योऽज्ञातार्थप्रकाशकं ज्ञायते, न तु ज्ञानत्वादिष्य इति पूर्वस्यापेक्षणीयता लक्षणेन, न तु पुरुषामिति विशेषः ? यद्येवम् तदा विस्वादिष्योऽज्ञातार्थप्रकाशनमपेक्ष्यते एव नान्यथा सांवृतस्य निरासः शक्यः कर्तुम् । तस्मादुभयमपि परस्परसापेक्षमेव लक्षणं बौद्धव्यम् ।— प्रमाणवार्तिक (म० न०), पृ० ८

निराकरण नहीं किया जा सकता तथा अविश्ववादिता के बिना अर्थक्रिया में प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिए दोनों लक्षण मिलकर ही प्रमाण के व्यवहार एवं परमार्थ रूप को प्रकट करने में समर्थ हैं। यही कारण है कि उत्तरकाल में **मोक्षकरगुप्त** दोनों प्रमाणलक्षणों का समन्वय करते हुए अपूर्व विषयक सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।<sup>४०</sup> सम्यग्ज्ञान का अर्थ बौद्ध दर्शन में अविश्ववादक ज्ञान किया गया है।<sup>४१</sup>

### तृतीय लक्षण

बौद्धदर्शन में प्रमाण के तृतीय लक्षण अर्थसारूप्य का निरूपण अज्ञातार्थप्रकाशकता एवं अविश्ववादी ज्ञान की भाँति स्वतंत्र रूप से नहीं मिलता है, किन्तु जब प्रमाण एवं उसके फल में भेद प्रदर्शित किया गया है तब अर्थसारूप्य को प्रमाण एवं अर्थाधिगति को फल कहा गया है। अर्थसारूप्य को प्रमाण बाह्यार्थवाद की दृष्टि से कहा गया है। विज्ञानवाद के अनुसार योग्यता को प्रमाण एवं स्वसंवित्ति को फल कहा गया है। बाह्य अर्थ को जानते समय ज्ञान अर्थाकार हो जाता है, अथवा अर्थ के सरूप हो जाता है। ज्ञान का अर्थसरूप होना ही प्रमाण है। प्रमाण का यह स्वरूप **दिङ्नाग** के **प्रमाणसमुच्चय**, **शंकरस्वामी** के **न्यायप्रवेश**, **धर्मकीर्ति** के **न्यायबिन्दु** एवं **शान्तरक्षित** के **तत्त्वसङ्ग्रह** में स्पष्ट रूपेण प्रतिपादित है। **दिङ्नाग** सव्यापार ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। उनके मत में निर्व्यापार ज्ञान प्रमाण नहीं है।<sup>४२</sup> **दिङ्नाग** के शिष्य **शङ्करस्वामी** ने भी सव्यापारवती ख्याति का ही प्रमाणत्व अंगीकार किया है।<sup>४३</sup> **धर्मकीर्ति** ने सव्यापार शब्द का प्रयोग नहीं करके अर्थसारूप्य शब्द का प्रयोग किया है। वे कहते हैं कि ज्ञान का जो अर्थ के साथ सारूप्य या सादृश्य है वह प्रमाण है।<sup>४४</sup> **धर्मोत्तर** ने सारूप्य लक्षण को प्रमा के कारण के रूप में प्रमाण कहा है।<sup>४५</sup> जिस विषय से ज्ञान उदित होता है वह उस विषय के सदृश होता है। जैसे नील से उत्पन्न होने वाला ज्ञान नील के सदृश ही होता है। अन्य शब्दों में कहें तो विषयाकारता प्रमाण एवं विषयावगति उसका फल है।

**शान्तरक्षित** ने सारूप्य के साथ योग्यता को भी प्रमाण का लक्षण कहा है। योग्यता को प्रमाणलक्षण उन्होंने तब कहा है जब स्वसंवित्ति फल हो। विषयाधिगति के फल होने पर तो वे भी सारूप्य को ही प्रमाण मानते हैं।<sup>४६</sup> **कमलशील** अपनी **तत्त्वसङ्ग्रहपञ्जिका** में इसका विशद विवेचन

४०. प्रमाणं सम्यग्ज्ञानमपूर्वगोचरम् ।—तर्कभाषा (मोक्षाकर), पृ०, १

४१. अविश्ववादकं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम् ।—न्यायबिन्दुटीका, १.१, पृ० १०

४२. सव्यापारप्रतीतत्वात् प्रमाणं फलमेव सत् ।

प्रमाणत्वोपचारस्तु निर्व्यापारे न विद्यते ॥—प्रमाणसमुच्चय, ९

४३. सव्यापारवत्ख्यातेः प्रमाणत्वमिति ।—न्यायप्रवेश, पृ० ७.१७

४४. अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम् ।—न्यायबिन्दु, १.२०

४५. करणसाधनेन मानशब्देन सारूप्यलक्षणं प्रमाणमभिधीयते ।—न्यायबिन्दुटीका, १.३ पृ० ३०

४६. विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते

स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा ॥—तत्त्वसंग्रह, १३४३

करते हुए कहते हैं कि जब बाह्य अर्थ प्रमेय होता है तब विषयाधिगति फल होता है तथा सारूप्य प्रमाण होता है और जब ज्ञानात्मा प्रमेय होता है तब स्वसंवित्ति फल होता है एवं योग्यता प्रमाण होती है।<sup>४७</sup> योग्यता के कारण ही ज्ञान आत्मप्रकाशक होता है। शान्तरक्षित के पूर्व प्रमाणवार्तिक में धर्मकीर्ति ने भी इस आशय का कथन किया है। वे कहते हैं- 'रागादि अनुभवात्म होने से स्वात्म-संवेदन के योग्य हैं, उनकी योग्यता प्रमाण है, आत्मा स्वरूप प्रमेय है एवं फल स्वसंवित्ति है।'<sup>४८</sup>

अर्थसारूप्य की विशेषचर्चा प्रमाण-फल का विवेचन करते समय षष्ठ अध्याय में की गई है तथा उसका जैनदार्शनिकों के द्वारा खण्डन भी प्रस्तुत किया गया है।<sup>४९</sup>

## जैनदर्शन में प्रमाण-लक्षण

जैनदर्शन में सामान्य रूप से जो प्रमाण-लक्षण प्रतिष्ठित हुआ है, उसके अनुसार स्व एवं पर अर्थ का निश्चयात्मक ज्ञान प्रमाण है। जैनदार्शनिक न्यायदर्शन सम्मत इन्द्रिय एवं इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की भांति बौद्धाभिमत निर्विकल्पक ज्ञान को भी अव्यवसायात्मक होने के कारण प्रमाण नहीं मानते हैं।<sup>५०</sup> जैनदार्शनिक प्रमाण को ज्ञानात्मक मानने के साथ निश्चयात्मक भी मानते हैं। निश्चयात्मकता अथवा व्यवसायात्मकता ही जैन दार्शनिकों के प्रमाण का प्रमुख लक्षण है, जो उसे बौद्ध दर्शन में प्रतिपादित प्रमाण-लक्षण से पृथक् करता है। यद्यपि बौद्धदर्शन के प्रभाव से जैन प्रमाणलक्षण में अनधिगतार्थप्राहिता एवं अविस्वादाकता का भी समावेश हुआ है, किन्तु अनधिगतार्थप्राहिता को सारे जैन दार्शनिकों ने प्रमाणलक्षण के रूप में अंगीकार नहीं किया है। अकलङ्क, माणिक्यनन्दी, प्रभाचन्द्र, आदि दिग्म्बर दार्शनिकों ने इसे प्रमाणलक्षण में गर्भित करके अनधिगत अथवा अपूर्व अर्थ के व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण कहा है। अभयदेवसूरि, सिद्धार्थिगणि, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र आदि श्वेताम्बर तथा विद्यानन्द जैसे दिग्म्बर जैन दार्शनिक ने प्रमाण-लक्षण में अनधिगत अथवा अपूर्व विशेषण को अनुचित मानकर उसका खण्डन किया है। इससे ज्ञात होता है कि जैनदर्शन को प्रमाण का अज्ञातार्थज्ञापक लक्षण सर्वसम्पत्ति से अभीष्ट नहीं है। अविस्वादाकता को अकलङ्क से लेकर अन्त तक सभी दिग्म्बर एवं श्वेताम्बर जैन दार्शनिकों ने स्वीकार किया है, किन्तु वे अविस्वादाकता का मानदण्ड निश्चयात्मकता को मानते हैं। संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय से रहित ज्ञान जैन दर्शनानुसार निश्चयात्मक होता है तथा वही प्रमाण कहा गया है। निश्चयात्मकता के अभाव में जैनदार्शनिकमत में कोई ज्ञान संवादाक नहीं हो सकता। संवादाकता के साथ हेयोपादेय अर्थ में प्रवर्तकता को भी जैन दार्शनिकों ने प्रमाण के साथ सम्बद्ध किया है।

४७. बाह्ये प्रमेये विषयाधिगमः प्रमाणफलम्, सारूप्यं तु प्रमाणम् । स्वसंवितावपि सत्यां यथाकारमस्य प्रथनात् । ज्ञानात्मनि तु प्रमेये स्वसंवित्तिः फलम्, योग्यता प्रमाणम् ।— तत्वसंग्रहपञ्जिका, १३४३, पृ. ४८७ ।

४८. तत्राप्यनुभवात्मत्वात् ते योग्याः स्वात्मसंविदः ।

इति सा योग्यता मानमात्मा मेयः फलं स्ववित् ।— प्रमाणवार्तिक, २.३६६

४९. द्रष्टव्य, अध्याय ६, पृ. ३६४-३६६ एवं ३६८-३८२

५०. द्रष्टव्य, तृतीय अध्याय में जैनदार्शनिकों द्वारा किया गया बौद्धप्रत्यक्ष का खण्डन, पृ. १४३-२०४

जैनागमों में ज्ञान का जो निरूपण है उसे ही जैन दार्शनिकों ने प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित किया है। नन्दीसूत्र, भगवतीसूत्र, षट्खण्डागम आदि आगमों में ज्ञान का विशद एवं विस्तृत विवेचन है। जैनागमों में निरूपित ज्ञान ही जैन प्रमाणमीमांसा का अंग बना। सम्यग्ज्ञान को जैन दार्शनिकों ने प्रमाण तथा मिथ्याज्ञान को अप्रमाण या प्रमाणाभास कहा। जैनागमों में सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन पूर्वक होने वाले ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहा गया है तथा मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन पूर्वक होने वाले ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहा गया है,<sup>५१</sup> किन्तु प्रमाणमीमांसा के क्षेत्र में जैन दार्शनिकों ने संशय, विपर्यय, एवं अनध्यवसाय से रहित निश्चयात्मक ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहा है तथा इनसे युक्त अनिश्चयात्मक अथवा विसंवादक ज्ञान को मिथ्याज्ञान या अप्रमाण कहा है। आगम एवं प्रमाणमीमांसा के सम्यग्ज्ञान में यही मौलिक भेद है कि आगम के अनुसार मोहकर्म की सात प्रकृतियों (अनन्तानुबन्धी-चतुष्क तथा सम्यक्त्वमोह, मिथ्यात्वमोह एवं मिश्रमोह) के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से प्रकट होने वाले सम्यक्त्व से युक्त ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहा गया है, जबकि प्रमाणमीमांसा में संशयादि समारोप से रहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।

‘प्रमाण’ शब्द का प्रयोग जैनागम स्थानांग एवं अनुयोगद्वारसूत्र में मापन के अर्थ में भी हुआ है, तथा उसके चार भेद निरूपित किये गये हैं—द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कालप्रमाण एवं भावप्रमाण।<sup>५२</sup> अनुयोगद्वार एवं भगवतीसूत्र में न्यायदर्शन सम्मत प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं आगम इन चार प्रमाणों का भी उल्लेख मिलता है।<sup>५३</sup> स्थानांगसूत्र में इन्हीं चार प्रमाणों को ‘हेतु’ शब्द से भी कहा गया है।<sup>५४</sup> बौद्ध ग्रंथ उपायहृदय में भी प्रमाण के लिए ‘हेतु’ शब्द का प्रयोग हुआ है।<sup>५५</sup> उत्तरकाल में हेतु शब्द का प्रयोग अनुमान-प्रमाण के अन्तर्गत हुआ है, किन्तु प्राचीन साहित्य में सभी प्रमाणों के लिये प्रयुक्त हेतु शब्द उसके अर्थ की व्यापकता को द्योतित करता है। स्थानांगसूत्र में प्रमाण का ‘व्यवसाय’ शब्द से भी उल्लेख हुआ है, तथा उसके प्रत्यक्ष, प्रात्ययिक और अनुगामी ये तीन भेद किये गये हैं।<sup>५६</sup> अभ्यदेव के अनुसार प्रात्ययिक शब्द से आगम एवं अनुगामी शब्द से अनुमान-प्रमाण का बोध होता है।<sup>५७</sup> संभव है स्थानांगसूत्र में प्रयुक्त व्यवसाय शब्द ही जैनदार्शनिकों द्वारा निरूपित प्रमाण का प्रमुख लक्षण बना हो।

ज्ञान की प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठा सर्वप्रथम जैनदार्शनिक उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र में दिखाई देती है। उन्होंने मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यव एवं केवल इन पांच ज्ञानों का निरूपण करने के अनन्तर उन्हें प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रमाण-भेदों में विभक्त किया है। प्रथम दो ज्ञानों को परोक्ष तथा अन्तिम तीन

५१. तत्त्वार्थवार्तिक, १.३१ पृ. १२, नन्दी सूत्र, ४६

५२. द्रष्टव्य, अध्याय १, पादटिप्पण, १३५

५३. द्रष्टव्य, अध्याय १, पादटिप्पण, १३०

५४. स्थानांगसूत्र, ४३०, सुत्तागमे, पृ. २४७

५५. चतुर्विधं प्रमाणम् । प्रत्यक्षमनुमानमुपमानमागमश्चेति ।... एवं चत्वारो हेतवः ।—उपायहृदय, पृ. १३-१४,

५६. द्रष्टव्य, अध्याय १, पादटिप्पण, १३२

५७. आगमयुग का जैन दर्शन, पृ. १३८

ज्ञानों को प्रत्यक्ष-प्रमाण कहा है।<sup>५८</sup> उमास्वाति के अतिरिक्त अनुशुंगद्वार सूत्र में भी भाव-प्रमाण के अन्तर्गत ज्ञानगुण का प्रतिपादन करते हुए ज्ञान गुण के प्रत्यक्ष, अनुमान, औपम्य एवं आगम ये चार भेद करके उन्हें प्रमाण कहा गया है<sup>५९</sup> तथापि जैनदृष्टि के अनुसार ज्ञान का प्रमाण रूप में व्यवस्थापन करने का श्रेय उमास्वाति को दिया जा सकता है, क्योंकि उन्होंने न्यायसम्मत प्रत्यक्षादि प्रमाणों को स्थान न देकर मतिज्ञानादि जैनसम्मत ज्ञानों को प्रमाण रूप में प्रतिष्ठित किया है।

भारतीयदर्शन में सामान्यतः प्रमा के करण को प्रमाण कहा गया है।<sup>६०</sup> जैन दार्शनिकों ने सम्यग्ज्ञान को ही अर्थाधिगति का साधकतम या प्रमिति का करण मानकर उसे प्रमाण कहा है।<sup>६१</sup> समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में तत्त्वज्ञान को प्रमाण<sup>६२</sup> एवं विद्यानन्द ने प्रमाणपरीक्षा में सम्यग्ज्ञान को प्रमाण<sup>६३</sup> इसी आशय से प्रतिपादित किया है। सम्यग्ज्ञान का अर्थ विद्यानन्द ने स्व एवं अर्थ का व्यवसायात्मक ज्ञान किया है। जो ज्ञान स्व एवं अर्थ का व्यवसायात्मक नहीं होता वह विद्यानन्द के मत में सम्यग्ज्ञान नहीं है, इसलिए वे संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय को सम्यग्ज्ञान नहीं मानते हैं।<sup>६४</sup> तत्त्वज्ञान को भी विद्यानन्द से संशयादि मिथ्याज्ञानों से रहित बतलाया है।<sup>६५</sup> प्रभाचन्द्र एवं हेमचन्द्र ने भी प्रमाण को संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय से रहित निरूपित करते हुए उसे प्रमिति का करण कहा है।<sup>६६</sup>

जैन दर्शन में ज्ञान को स्व एवं परपदार्थ का प्रकाशक माना गया है। जिस प्रकार दीपक या सूर्य बाह्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है तथा स्वयं को भी प्रकाशित करता है उसी प्रकार ज्ञान बाह्य पदार्थों का प्रकाशक होने के साथ अपने आपका भी प्रकाशक होता है।<sup>६७</sup> ज्ञान की स्व प्रकाशकता विज्ञानवादी बौद्धों ने भी अंगीकार की है, किन्तु वे ज्ञान को बाह्यार्थ का प्रकाशक नहीं मानते हैं। नैयायिकों एवं मीमांसकों ने ज्ञान को बाह्यार्थ का प्रकाशक माना है, किन्तु स्वयं का प्रकाशक नहीं माना है। जैन दार्शनिकों ने इन दोनों मतों का निरसन कर ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता सिद्ध की है।<sup>६८</sup>

५८. मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलानि ज्ञानम् । तत् प्रमाणे । आद्ये परोक्षम् । प्रत्यक्षमन्यत् ।—तत्त्वार्थसूत्र, १.९-१२ ।

५९. अनुशुंगद्वारसूत्र, उत्तरार्द्ध, भाव एवं जीवगुण प्रमाणद्वार, पृ. १६४-१६९ ।

६०. प्रमाकरणं प्रमाणम् ।—केशवमिश्र, तर्कभाषा, प्रमाणनिरूपण ।

६१. (१) ततो ऽस्य साधकतमत्वं यथोक्तमुपपद्यत एव ।—अष्टसहस्री, पृ. २७६.८

(२) प्रमिजोति प्रमीयतेऽनेन प्रमितिमात्रं वा प्रमाणम् ।—सर्वार्थसिद्धि, १.१० पृ. ६९ ।

६२. तत्त्वज्ञानं प्रमाणम् ।—आप्तमीमांसा, १०१

६३. सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम् ।—प्रमाणपरीक्षा, पृ. १

६४. स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम् । यत् न स्वार्थव्यवसायात्मकं तत्र सम्यग्ज्ञानम्, यथा संशयविपर्ययानध्यवसायाः ।—प्रमाणपरीक्षा, पृ. ५ ।

६५. तत्त्वज्ञानं प्रमाणमिति हि निगद्यमाने मिथ्याज्ञानं संशयादि मत्याद्याभासं व्यवच्छिद्यते ।—अष्टसहस्री, पृ. २७६.७ ।

६६. प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन तत् प्रमाणं प्रमायां साधकतमम् ।—प्रमाणमीमांसा, १.१.१ की वृत्ति एवं न्यायकुमुदचन्द्र, भाग-१, पृ. ४८.१०

६७. ज्ञानस्य धर्मोऽयं तावत् स्वपरप्रकाशकत्वं प्रदीपवत् ।—नियमसार, तत्पर्यवृत्ति, १५९, पृ. ३१९ ।

६८. यत्पुनः स्वपरप्रकाशात्मकं न भवति न तद् ज्ञानम् ।—प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-१, पृ. ३६४ ।

जैन दार्शनिकों का मत है कि ज्ञान स्वप्रकाशक हुए बिना पर प्रकाशक नहीं हो सकता तथा पर प्रकाशक होने के साथ उसका स्वप्रकाशक होना नितान्त आवश्यक है। यही कारण है कि समस्त जैन दार्शनिक प्रमाण को स्व एवं बाह्य अर्थ दोनों का निश्चायक ज्ञान मानते हैं।<sup>६९</sup>

समन्तभद्र ने स्वयम्भूस्तोत्र में स्व एवं पर के अवभासक या प्रकाशक ज्ञान को प्रमाण कहा है<sup>७०</sup>। सिद्धसेन न्यायावतार में स्वपराभासी एवं बाधविवर्जित ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।<sup>७१</sup> सिद्धसेन के वार्तिककार शान्तिमूरि ने आभासी शब्द का अर्थ व्यवसायक या निश्चायक किया है।<sup>७२</sup> इस प्रकार सिद्धसेन के मत में स्व एवं बाह्य अर्थ का निश्चायक तथा बाधरहित ज्ञान प्रमाण है। सिद्धसेन के प्रमाणलक्षण में बाधविवर्जित पद मीमांसकों के प्रसिद्ध प्रमाणलक्षण से साम्य रखता है।<sup>७३</sup>

अकलङ्क के एक प्रमाणलक्षण पर बौद्धों का प्रभाव है। अकलङ्क ने अष्टशती में प्रमाणलक्षण का निरूपण करते हुए कहा है कि अनधिगत अर्थ का ज्ञान कराने के कारण अविस्वादाक ज्ञान प्रमाण है।<sup>७४</sup> बौद्ध दार्शनिकों ने इन दोनों प्रमाणलक्षणों का पृथक् पृथक् निर्देश किया है<sup>७५</sup> किन्तु अकलङ्क ने उन दोनों का समन्वय करके अविस्वादाकता को प्रमाण का मुख्य लक्षण बनाया है तथा अनधिगतग्राहिता को उसका हेतु प्रतिपादित किया है। अनधिगतविषय के ग्राहक ज्ञान को प्रमाण की विशेषता मानना अकलङ्क के मौलिक चिन्तन का परिणाम नहीं, अपितु तत्कालीन बौद्ध दार्शनिकधारा का प्रभाव है। तत्त्वार्थवार्तिक में स्वयं अकलङ्क ने प्रमाण को अनधिगत मानने का खण्डन किया है।<sup>७६</sup> क्षणिकवादी एवं प्रमाणविप्लववादी बौद्धों की तत्त्वमीमांसा व प्रमाणमीमांसा में अनधिगत अर्थ के ग्राहक ज्ञान का प्रमाण होना उपयुक्त हो सकता है, किन्तु नित्यानित्यवादी एवं प्रमाणसंप्लववादी जैन दार्शनिकों के मत में नहीं। जैनन्याय के प्रतिष्ठापक अकलङ्क द्वारा अनधिगतग्राही ज्ञान को प्रमाणलक्षण में स्थान देने का परिणाम यह हुआ कि विद्यानन्द को छोड़कर अन्य दिगम्बर जैन दार्शनिक प्रमाणलक्षण में अपूर्व, अनधिगत आदि शब्दों का ग्रहण करते रहे। माणिक्यनन्दी पर इसका स्पष्ट प्रभाव है। वे स्व एवं अपूर्व अर्थ के व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।<sup>७७</sup> प्रभाचन्द्र ने प्रमाण

६९. (१) यथा घटादीनां प्रकाशने प्रदीपो हेतुः स्वस्वरूपप्रकाशनेऽपि स एव, न प्रकाशान्तरं मृग्यं तथा प्रमाणमपीति अवश्यं चैतदभ्युपगन्तव्यम् ।—सर्वार्थसिद्धि, १.१० पृ. ६९ ।

(२) को वा तत्रति भासिनमर्थमध्यक्षमिच्छंस्तदेव तथा नेच्छेत् । प्रदीपवत् ।—परीक्षामुख, १.११-१२

(३) कः खलु ज्ञानस्यालम्बनं बाह्यं प्रतिभातमभिमन्यमानस्तदपि तत्रकारकं नाभिमन्येत ? मिहिरालोकवत् ।  
—प्रमाणनयतत्त्वालोक, १.१७ ।

७०. स्वपरवभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम् ।—स्वयम्भूस्तोत्र, ६३ ।

७१. प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम् ।—न्यायावतार, १

७२. अवभासो व्यवसायो न तु ग्रहणमात्रकम् ।—न्यायावतारवार्तिक, ३

७३. तुलनीय, यही अध्याय, पादटिप्पण २१ एवं ७१ ।

७४. प्रमाणमविविधज्ञानमनधिगतताधीनमलक्षणत्वात् ।—अष्टशती, अष्टसहस्री, पृ० १७५ ।

७५. द्रष्टव्य, यही अध्याय, पादटिप्पण ७ एवं २४ ।

७६. द्रष्टव्य, आगे इसी अध्याय में बौद्धों के प्रथम प्रमाणलक्षण का खण्डन, पृ. ८२

७७. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ।—परीक्षामुख, १.१

में अपूर्वार्थ की ग्राहिता को कथञ्चित् स्वीकार किया है। वे प्रमाण को सर्वथा अर्थ का ग्राही नहीं मानते हैं। प्रभाचन्द्र के अनुसार सर्वथा अपूर्व या अनधिगत अर्थ के ग्राही ज्ञान में संवादकता सिद्ध नहीं होती। इसलिए प्रमाण कथञ्चित् विशिष्ट प्रमा का जनक होकर अपूर्व अर्थ का ग्राही हो सकता है, किन्तु सर्वथा अपूर्व अर्थ का ग्राही नहीं<sup>७८</sup>।

विद्यानन्द ने अपूर्व या अनधिगत विशेषणों को व्यर्थ बतलाकर स्व एवं अर्थ के व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण कहा है।<sup>७९</sup> अकलङ्क ने भी लघीयस्त्रय में अनधिगत या अपूर्व पद का प्रयोग किये बिना आत्मा एवं अर्थ के व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण का मुख्यलक्षण प्रतिपादित किया है।<sup>८०</sup> जैनदर्शन में यही प्रमाण-लक्षण सर्वाधिक प्रतिष्ठित हुआ। प्रमाण का यह लक्षण श्वेताम्बर दार्शनिकों की मान्यता के भी अनुरूप है। श्वेताम्बर जैन दार्शनिक स्मृति आदि के समान धारावाहिक ज्ञान को भी प्रमाण मानते हैं।<sup>८१</sup> इसलिए उनके मत में गृहीतग्राही ज्ञान भी प्रमाण है। प्रमाण के लिए आवश्यक है कि वह स्व एवं अर्थ का निर्णायक हो। जो ज्ञान स्वयं का एवं अर्थ का सम्यक् निर्णायक होता है, वह समस्त श्वेताम्बर दार्शनिकों को प्रमाण रूप में अभीष्ट है। यही कारण है कि अभयदेवसूरि, वादिदेवसूरि आदि जैन दार्शनिकों ने स्व एवं अर्थ की निर्णीति रूप स्वभाव ज्ञान को<sup>८२</sup> अथवा स्व एवं पर के व्यवसायी ज्ञान को प्रमाण कहा है।<sup>८३</sup> आचार्य हेमचन्द्र ने संशयादि अप्रमाणभूत ज्ञान को भी स्वप्रकाशक मानकर स्व शब्द का प्रमाणलक्षण में उपादान नहीं किया है तथा अर्थ के सम्यक् निर्णय को प्रमाण कहा है।<sup>८४</sup> निर्णय शब्द के द्वारा हेमचन्द्र ने अर्थज्ञान में संशय, अनध्यवसाय एवं निर्विकल्पक ज्ञान का तथा 'सम्यक्' के द्वारा विपर्यय का निराकरण कर दिया है।<sup>८५</sup> हेमचन्द्र ने ब्रह्मीयमाण के समान गृहीतग्राही ज्ञान को भी प्रमाण प्रतिपादित कर उसके अनधिगतग्राहित्व विशेषण का निरसन किया है।<sup>८६</sup>

लघीयस्त्रय में अकलङ्क ने अविश्ववादक ज्ञान को प्रमाण कहा है।<sup>८७</sup> बौद्ध दार्शनिक अर्थक्रियास्थिति युक्त अथवा यथोपदर्शित अर्थ के प्रापक ज्ञान को संवादक कहते हैं, किन्तु अकलङ्क ने अविश्ववादक शब्द की व्याख्या बौद्धों से भिन्न प्रस्तुत की है। एक स्थल पर वे प्रमाणान्तरों से

७८. द्रष्टव्य, आगे इसी अध्याय में बौद्धों के प्रथम प्रमाण-लक्षण का प्रभाचन्द्रकृत खण्डन, पृ. ८५

७९. तत्त्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानमितीयता।

लक्षणने गतार्थत्वाद् व्यर्थमन्यद् विशेषणम् ॥—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१०.७७

८०. व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्षार्थहकं मतम्।

ग्रहणं निर्णयस्तेन मुख्यं प्रामाण्यमश्नुते ॥—लघीयस्त्रय, ६०।

८१. द्रष्टव्य, इसी अध्याय में बौद्धों के प्रथम प्रमाणलक्षण के खण्डन के अनन्तर धारावाहिक ज्ञान की चर्चा, पृ. ८८-८९

८२. प्रमाणं स्वार्थनिर्णीतस्वभावज्ञानमिति ॥—तत्त्वबोधविधायिनी, पृ. ५१८।

८३. स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम् ॥—प्रमाणनयतत्त्वालोक, १.२

८४. सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्। स्वनिर्णयः सन्नयलक्षणम्, अप्रमाणेऽपि भावात् ॥—प्रमाणमीमांसा, १.१.२-३

८५. तत्र निर्णयः संशयानध्यवसायाविकल्पकत्वरहितं ज्ञानम् ॥—प्रमाणमीमांसा, वृत्ति १.१.२

८६. ब्रह्मीयमाणग्राहिण इव गृहीतग्राहिणोऽपि नाप्रामाण्यम् ॥—प्रमाणमीमांसा, १.१.४

८७. अविश्ववादकं प्रमाणम् ॥—लघीयस्त्रयवृत्ति, २२, अकलङ्कग्रन्थत्रय, पृ. ८१०।

अबाधित एवं पूर्वापर विरोध से रहित ज्ञान को अविश्ववादक कहते हैं<sup>८८</sup> तथा अन्यत्र अविश्ववादकता को निर्णयात्मक ज्ञान के अधीन प्रतिपादित करते हैं। वे कहते हैं कि जहां ज्ञान में निर्णयात्मकता है, वहां अविश्ववादकता है। निर्णय के अभाव में अविश्ववादकता का भी अभाव है।<sup>८९</sup> अकलङ्क के अनुसार अकिञ्चित्कर, संशय एवं विपर्यय का व्यवच्छेद होने पर ही ज्ञान में निर्णयात्मकता शक्य है, अन्यथा नहीं।<sup>९०</sup> अकलङ्क द्वारा निश्चयात्मकता के साथ अविश्ववादकता का स्थापन उत्तरवर्ती जैनदार्शनिकों द्वारा भी अनुकरणीय रहा है। संवादकता एवं असंवादकता के प्रसंग में अकलङ्क किसी ज्ञान को पूर्णतः संवादक अथवा पूर्णतः विसंवादक नहीं मानते हैं। उनके अनुसार जिस ज्ञान में जितने अंश में संवादकता होती है, वह ज्ञान उतने अंश में प्रमाण है। तिमिररोग से ग्रस्त पुरुष को जो द्विचन्द्र ज्ञान होता है, उसमें चन्द्रज्ञान अविश्ववादक होने से प्रमाण है तथा द्वित्वसंख्या का ज्ञान विसंवादक होने से अप्रमाण है।<sup>९१</sup>

जैनदार्शनिकों के प्रमाणलक्षण में सविकल्प शब्द का सीधा प्रयोग नहीं हुआ है, किन्तु वे प्रत्येक प्रमाण को सविकल्पक मानते हैं। ज्ञान सविकल्प होता है तथा उसमें निश्चयात्मकता सविकल्पकता के बिना संभव नहीं है। यही कारण है कि जैन दार्शनिकों ने बौद्ध सम्मत निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का खण्डन करते समय प्रमाण की सविकल्पकता का सबल स्थापन किया है।<sup>९२</sup> प्रमाण के सविकल्पात्मक एवं निश्चयात्मक होने के साथ वे उसे उपादेय अर्थ की प्राप्ति एवं हेय अर्थ के त्याग में भी कारण स्वीकार करते हैं।<sup>९३</sup> माणिक्यनन्दी एवं वादिदेवसूरि ने हित की प्राप्ति एवं अहित के त्याग में समर्थ होने के कारण प्रमाण को ज्ञानात्मक प्रतिपादित किया है।<sup>९४</sup>

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जैनदर्शन में स्व एवं बाह्य अर्थ का व्यवसायात्मक ज्ञान ही प्रमाण है। वह ज्ञानात्मक होने के कारण इन्द्रिय एवं इन्द्रियार्थसन्निकर्षरूप नहीं होता। व्यवसायात्मक होने के कारण वह निर्विकल्पक या कल्पनापोढ नहीं होता एवं संशयादि समारोप से रहित होता है। व्यवसायात्मकता अथवा निश्चयात्मकता के कारण वह संवादक एवं हेयोपादेय अर्थ में प्रवर्तक भी होता है। उसके लिए आवश्यक नहीं कि वह अनधिगत अर्थ का ही प्राप्ति हो, गृहीतप्राप्ति ज्ञान भी

८८. प्रामाणान्तराभाधनं पूर्वापराऽविरोधश्चाविश्ववादः । —लघीयस्वयवृत्ति, अकलङ्कग्रन्थत्रय, पृ० १४२१

८९. अविश्ववादकत्वं च निर्णयायतम् । तदभावेऽभावात् तद्भावे च भावात् ॥ —लघीयस्वयवृत्ति ६०,

९०. अकिञ्चित्करसंशयविपर्ययवच्छेदेन निर्णयात्मकत्वं नान्यथा । —सिद्धिविनिश्चयवृत्ति, भाग १, पृ० १३ ।

९१. यदयथैवाविश्ववादि प्रमाणं ततथा मतम् ।

तिमिराद्युपप्लवज्ञानं चन्द्रादावविश्ववादकं प्रमाणं यथा तत्संख्यादौ विसंवादकत्वात्प्रमाणं प्रमाणेतरव्यवस्थायाः तल्लक्षणात्वात् । —लघीयस्वयवृत्ति, २२

९२. द्रष्टव्यं, तृतीय अध्याय में बौद्ध प्रत्यक्ष का खण्डन, पृ. १४३-२०४

९३. हिताहितार्थसंप्राप्तित्यागयोर्नानिबन्धनम् ।

तत् प्रमाणं प्रवक्ष्यामि सिद्धसेनार्कसूत्रितम् ॥ —न्यायावतारवार्तिक, १

९४. (१) हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् । —परीक्षामुख, १.२

(२) अभिमतानभिमतवस्तुस्वीकारतिरस्कारक्षमं हि प्रमाणम्, अतो ज्ञानमेवेदम् । —प्रमाणनयतत्त्वालोक, १.३



जैनमत में प्रमाण है ।

## जैनदार्शनिकों द्वारा बौद्ध प्रमाण-लक्षणों का परीक्षण

जैन दार्शनिकों ने बौद्ध दार्शनिकों द्वारा निरूपित अज्ञातार्थज्ञापक, अविश्ववादी ज्ञान एवं अर्थसारूप्य इन तीनों प्रमाणलक्षणों पर विचार किया है । अज्ञातार्थज्ञापक लक्षण को लेकर अकलङ्क एवं विद्यानन्द ने बौद्धों का पर्याप्त खण्डन किया है । अन्य जैन दार्शनिकों ने प्रमुख रूप से मीमांसकों को लक्ष्य बनाकर खण्डन किया है, किन्तु परोक्ष रूप से वह खण्डन लक्षण साम्य के कारण बौद्धों पर भी लागू होता है । अविश्ववादी ज्ञान को प्रमाण मानने का जैन दार्शनिकों ने प्रतिषेध नहीं किया है, किन्तु उसे निश्चयात्मक ज्ञान में घटित किया है । बौद्धों द्वारा कल्पित प्रमाणों में उन्होंने बौद्ध तत्त्वमीमांसा के आधार पर अविश्ववादिता का खण्डन प्रस्तुत किया है । अर्थसारूप्य को प्रमाण मानने का सभी जैन दार्शनिक प्रबल विरोध करते हैं ।

### प्रथम लक्षण का परीक्षण

प्रमाण के अज्ञातार्थज्ञापकत्व अथवा अनधिगतार्थगन्तृत्व स्वरूप का निरसन प्रमुख रूप से जैन दार्शनिक अकलङ्क, विद्यानन्द, सिद्धर्षिगणि, प्रभाचन्द्र एवं हेमचन्द्र के न्याय ग्रंथों में मिलता है ।

**अकलङ्क** - भट्ट अकलङ्क ने यद्यपि अनधिगतार्थग्राहित्व को प्रमाण- लक्षण में स्थान दिया है,<sup>९५</sup> तथापि वे इसे कथञ्चित् ही प्रमाणस्वरूप का अंग मानते हैं, इसीलिए **तत्त्वार्थराजवार्तिक** में उन्होंने **दिङ्नाग** के अपूर्वाधिगम या अज्ञातार्थज्ञापक प्रमाणलक्षण का खण्डन किया है । उन्होंने प्रतिपादित किया है कि जिस प्रकार अन्धकार में स्थित घटादि पदार्थों को दीपक अपने उत्पत्तिकाल में प्रकाशित कर देता है, तथापि अनन्तर काल में भी वह उन पदार्थों को प्रकाशित करते रहने के कारण उनका प्रकाशक कहलाता है । उसी प्रकार ज्ञान भी अपने उत्पत्तिकाल में घटादि पदार्थों का अवभासक होने से प्रमाण कहलाता है । तथापि वह उत्तरकाल में भी उन घटादि पदार्थों का अवभासक बना रहकर प्रमाण व्यपदेश को छोड़ नहीं देता । अर्थात् वह ज्ञान अनन्तर क्षणों में भी उन घटादि पदार्थों का अवभासक होने के कारण प्रमाण बना रहता है ।<sup>९६</sup>

यदि बौद्धमत के अनुसार दीपक प्रतिक्षण अन्य ही होता है तथा वह प्रतिक्षण अपूर्व घटादि को प्रकाशित करता है, तो उसी प्रकार ज्ञान भी दीपक की भांति प्रतिक्षण नवीन उत्पन्न हो रहा है, वह भी प्रतिक्षण अपूर्व घटादि को जान सकता है । जब ज्ञान एवं अर्थ दोनों अपूर्व हैं तो बौद्धों का यह कथन कि स्मृति, इच्छा, द्वेषादि के समान पूर्वाधिगत विषय वाला ज्ञान पुनः पुनः अभिधान करने के कारण प्रमाण नहीं है, (द्रष्टव्य, पादटिप्पण ८ व ९) खण्डित हो जाता है । आशय यह है कि ज्ञान भी अन्य घटादि पदार्थों के सदृश सदैव अपूर्व ही बना रहता है अतः बौद्धों के द्वारा प्रमाण-लक्षण में अपूर्व,

९५. द्रष्टव्य, यही अध्याय, पादटिप्पण ७४

९६. तत्त्वार्थवार्तिक, १.१२.१२

अनधिगत अथवा अज्ञात पद के प्रयोग का कोई औचित्य नहीं है।<sup>९७</sup>

**विद्यानन्द**—विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में बौद्ध सम्मत अज्ञातार्थप्रकाश रूप प्रमाणलक्षण का खण्डन कर गृहीतार्थग्राही अथवा अधिगतार्थज्ञापक ज्ञान को भी प्रमाण सिद्ध किया है। विद्यानन्द कहते हैं कि अनुमान-प्रमाण गृहीतग्राही होता है, अतः वह अज्ञातार्थप्रकाश रूप प्रमाणलक्षण के अनुसार प्रमाण सिद्ध नहीं होता है। यदि प्रत्यक्ष द्वारा क्षणिकत्वादि वस्तु के गृहीत होने पर भी उसमें रहे हुए संशयादि समारोप का व्यवच्छेद करने के कारण अनुमान का प्रामाण्य है, तो यह बौद्ध मंतव्य उचित नहीं है, क्योंकि इस प्रकार जैन सम्मत स्मृति, प्रत्यक्षज्ञान आदि को भी प्रमाण मानना होगा, क्योंकि वे भी कथञ्चित् समारोप के व्यवच्छेदक हैं। फिर स्मृति आदि को प्रमाण मानने पर बौद्धों की दो प्रमाणों की मान्यता भी भंग हो जाती है। यदि प्रत्यक्ष को मुख्य प्रमाण मानकर उसके लिए अज्ञातार्थप्रकाश लक्षण एवं अनुमान को व्यावहारिक प्रमाण मानकर उसके लिए अविश्ववादी ज्ञान रूप लक्षण दिया गया है तो इस प्रकार एक ही प्रमाणसामान्य के लिए दो लक्षणों का निरूपण बुद्धिमत्ता नहीं है।<sup>९८</sup>

बौद्ध प्रमाण-लक्षण के प्रसंग में विद्यानन्द ने मीमांसकों के अपूर्वार्थग्राहित्व प्रमाण-लक्षण का भी खण्डन किया है, तथा यह सिद्ध किया है कि ज्ञान गृहीतग्राही हो अथवा अगृहीतग्राही, यदि वह स्व एवं अर्थ का निश्चायक है तो प्रमाण है। स्व एवं अर्थ के निश्चायक ज्ञान की प्रमाणता लोक व्यवहार में एवं शास्त्रों में भी सुरक्षित है।<sup>९९</sup> विद्यानन्द ने प्रमाण का लक्षण निर्धारित करते हुए स्व एवं अर्थ के निश्चायक ज्ञान को ही प्रमाण कहा है। इसके अतिरिक्त प्रयुक्त अपूर्व, अनधिगत आदि विशेषणों को उन्होंने व्यर्थ बतलाया है।<sup>१००</sup>

**सिद्धर्षिगण**—सिद्धसेन के न्यायावतार पर विवृति की रचना करते हुए सिद्धर्षिगण ने अनधिगतार्थधिगन्तु प्रमाण-लक्षण पर तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से विचार किया है। वे परमतावलम्बियों से प्रश्न करते हैं कि अनधिगत अर्थ के अधिगम का क्या तात्पर्य है? यदि प्रमाणान्तर या ज्ञानान्तर से अनधिगत अर्थ को जानना प्रमाण है तो वह ज्ञानान्तर दूसरे का है या अपना है? यदि दूसरे के ज्ञान के द्वारा ज्ञात अर्थ भी अधिगत अर्थ है, तो यह मानना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञ के द्वारा समस्त अर्थों का ज्ञान कर लिये जाने के कारण कोई भी अर्थ अज्ञात नहीं रहता है। फलस्वरूप समस्त प्राकृतजनों का ज्ञान अधिगत अर्थ का अधिगन्ता होने के कारण अप्रमाण हो जायेगा। यदि अपने ज्ञानान्तर की अपेक्षा

९७. तत्त्वार्थवार्तिक, १.१२.१२

९८. द्रष्टव्य, परिशिष्ट—क

९९. गृहीतमगृहीतं वा स्वार्थं यदि व्यवस्यति।

तत्र लोके न शास्त्रेषु विज्ञाति प्रमाणताम् ॥—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१०.७८।

१००. द्रष्टव्य, यही अध्याय, पाद टिप्पण, ७९।

से अज्ञात अर्थ को जानना प्रमाण है तो वह अधिगम्य अर्थ कैसा है? उसका क्या स्वरूप है? सिद्धविर्गण अर्थ-स्वरूप के आठ पक्ष प्रस्तावित करते हैं, यथा- (१) वह अर्थ द्रव्य है (२) पर्याय है (३) द्रव्य विशिष्ट पर्याय है (४) पर्यायविशिष्ट द्रव्य है (५) सामान्य है (६) विशेष है (७) सामान्य विशिष्ट विशेष है (८) विशेषविशिष्ट सामान्य है। इस प्रकार अर्थ के आठ स्वरूपों की संभावना करके सिद्धविर्गण उनके प्रत्येक स्वरूप में अनधिगतत्व को अनुपपन्न सिद्ध करते हैं।

प्रथम पक्ष के अनुसार द्रव्य को अर्थ का स्वरूप माना जाता है तो वह नित्य एवं एक होता है अतः उसमें अनधिगत अंश का अभाव रहता है। यदि द्वितीय विकल्प के अनुसार पर्याय ही अर्थ है तो वह प्रतिक्षण नवीन उत्पन्न होने के कारण अनधिगत ही रहता है, अतः उसके लिए अनधिगत विशेषण का प्रयोग अनर्थक है। यदि अर्थ को द्रव्यविशिष्ट पर्याय माना जाय तो इसका समकाल में ज्ञान नहीं हो सकता तथा परस्पर में अधिगत का ज्ञान किया जाय तो अप्रामाण्य की प्रसक्ति होती है। यदि कालान्तरभावी ज्ञान से द्रव्यविशिष्ट पर्याय रूप अर्थ का ग्रहण किया जाय तो अन्य ही पर्याय का ज्ञान होगा, वर्तमान क्षणवर्ती द्रव्यविशिष्ट पर्याय का नहीं, अतः इस विकल्प में भी अनधिगत विशेषण हेय है। इसी प्रकार पर्यायविशिष्ट द्रव्य को अर्थ मानने में भी उपर्युक्त दोष आते हैं।

यदि पञ्चम विकल्प के अनुसार अधिगम्य अर्थ, 'सामान्य' है तो उसके एक होने के कारण प्रथमज्ञान में ही सकल अर्थ का ज्ञान हो जायेगा। अतः उसका उत्तरकालीन ज्ञान अधिगत अर्थ का ही ज्ञान कराने से अप्रमाण सिद्ध होगा। यदि विशेष रूप अर्थ है तो वह नित्य है या अनित्य? यदि नित्य है तो प्रथम ज्ञान से समस्त विशेषों का ज्ञान हो जायेगा तथा यदि वह अनित्य है तो उसमें भी पर्याय के समान सदैव अनधिगत रहने का दोष आता है। यदि सामान्य से विशिष्ट विशेष है, तो उसकी विशिष्टता तादात्म्य रूप है या सन्निधिरूप है? यदि विशिष्टता तादात्म्यरूप है तो प्रथम ज्ञान में ही सामान्य की भांति सम्पूर्ण अर्थ का ज्ञान हो जायेगा, तथा यदि विशिष्टता सन्निधि रूप है तो सामान्य एवं विशिष्ट दो भिन्न पक्ष हो जाते हैं अतः उन दोनों के दोषों का आपादन होगा। विशेषविशिष्ट सामान्य भी इसी प्रकार अनधिगत विशेषण की अपेक्षा नहीं करता।<sup>१०१</sup>

इस प्रकार सिद्धविर्गण 'अनधिगतार्थाधिगन्तृत्व' प्रमाण-लक्षण को अनुपपन्न सिद्ध करते हैं। उनके द्वारा किया गया खण्डन जैन तत्त्वमीमांसीय दृष्टि पर आधारित है। उन्होंने अर्थ के स्वरूप को लेकर ही अनधिगत विशेषण को अनुचित ठहराया है। जो संभवतः मीमांसकों एवं प्रमाण को अपूर्वार्थग्राही मानने वाले अकलङ्क, माणिक्यनन्दी आदि जैन दार्शनिकों के मत का निरसन करता है। बौद्धमत का खण्डन भी परोक्षरूप से हो गया है, क्योंकि उनके यहां जो स्वलक्षण अर्थ स्वीकृत है वह प्रतिक्षण नया उत्पन्न होने के कारण अनधिगत ही बना रहता है। अर्थ के प्रतिक्षण अनधिगत

बने रहने से प्रमाणलक्षण में अनधिगत पद का समावेश सिद्धिर्धिगण के अनुसार व्यर्थ है।

**प्रभाचन्द्र** — आचार्य **प्रभाचन्द्र** ने कथञ्चित् अनधिगत अर्थ के ग्राही ज्ञान को प्रमाण कहा है, सर्वथा अपूर्वार्थग्राहित्व का उन्होंने भी खण्डन किया है। **प्रभाचन्द्र** कहते हैं कि यदि सर्वथा अनधिगत अर्थ के अधिगन्ता ज्ञान को ही प्रमाण माना जायेगा तो प्रमाण के प्रामाण्य का निश्चय करना भी शक्य नहीं हो सकेगा, क्योंकि प्रामाण्य का निश्चय संबन्ध ज्ञान से होता है। संवाद ज्ञान का विषय पूर्वप्रमाण द्वारा अधिगत अर्थ ही होता है, अतः अधिगत अर्थ का अधिगन्ता होने से संवादज्ञान अप्रमाण हो जायेगा। अप्रमाणभूत संवादज्ञान से प्रथम प्रमाण का प्रामाण्य व्यवस्थापित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार लक्षण में अनधिगत पद का प्रयोग समुचित नहीं है।<sup>१०२</sup>

**प्रभाचन्द्र** ने कथञ्चित् गृहीतग्राही ज्ञान का भी प्रामाण्य अंगीकार किया है। इसीलिए वे प्रत्यभिज्ञान का उदाहरण देकर उसके प्रामाण्य की पुष्टि करते हैं, तथा सर्वथा अपूर्व अर्थ के ग्राहक ज्ञान को प्रमाण मानने वाले मीमांसकों एवं बौद्धों का खण्डन करते हैं। मीमांसकों का खण्डन करते हुए उन्होंने कहा है कि प्रत्यभिज्ञान अनुभूत अर्थ का ही ग्राहक होता है, तथा स्मृति एवं प्रत्यक्ष से प्रतिपन्न अर्थ में ही उसकी प्रवृत्ति होती है। प्रत्यभिज्ञान को यदि प्रमाण न माना जाय तो शब्द, आत्मा आदि के नित्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती।<sup>१०३</sup>

अनधिगतग्राही ज्ञान के प्रमाणत्व का निरसन करते हुए **प्रभाचन्द्र** कहते हैं कि यदि अनधिगत अथवा अपूर्व अर्थ के ग्राहक ज्ञान को ही प्रमाण कहा जाय तो द्विचन्द्रज्ञान भी प्रमाण हो जायेगा, क्योंकि वह भी सर्वथा अनधिगत का ग्राही ज्ञान है।<sup>१०४</sup> इस प्रकार **प्रभाचन्द्र** के मत में प्रमाण का सर्वथा अनधिगतार्थग्राही होना अनुपपन्न है।

**प्रभाचन्द्र** प्रमाण को कथञ्चित् विशिष्ट प्रमा का जनक होने से अपूर्वार्थग्राही भी मानते हैं। एक बार निश्चित रूप से जाने गये ज्ञान को पुनः जानने में वे विशिष्ट प्रमा स्वीकार करते हैं, **प्रभाचन्द्र** के अनुसार एक वस्तु को पुनः जानने पर उसकी सुखादि साधकता विशेष की प्रतीति होती है। प्रथम बार में वस्तुमात्र का निश्चय होता है, फिर यह सुख की साधक है अथवा दुःख की साधक है, यह निश्चय करके उसको ग्रहण किया जाता है अथवा छोड़ा जाता है। यदि बार बार निश्चय किया जाय तो ग्राह्य वस्तु का ग्रहण एवं त्याज्यवस्तु का त्याग नहीं किया जा सकता। कुछ लोगों को अभ्यास के कारण एक बार देखने से भी वस्तु की हेयोपादेयता का निश्चय हो जाता है। अतः **प्रभाचन्द्र** के अनुसार एक ही वस्तु को जानने वाले आगम, अनुमान एवं प्रत्यक्ष प्रमाण में कथञ्चित् विशेष प्रतिपत्ति होने से

१०२. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग १, पृ० १६९

१०३. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग १, पृ० १७१

१०४. किञ्च, अपूर्वार्थप्रत्ययस्य प्रामाण्ये द्विचन्द्रादिप्रत्ययोऽपि प्रमाणं स्यात्। — प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग १, पृ० १७३

प्रामाण्य है। प्रमाण के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह सर्वथा अगृहीत अर्थ का ग्रहण करे।<sup>१०५</sup>

**हेमचन्द्र**—आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाण को अनधिगतार्थग्राही मानने का सबल निरसन किया है तथा गृहीतार्थग्राही ज्ञान के प्रामाण्य का जैनदृष्टि से प्रबल समर्थन किया है। उन्होंने प्रतिपादित किया है कि जिस प्रकार ग्रहीष्यमाण या अधिगम्य अर्थ के ग्राही ज्ञान को प्रमाण माना जाता है उसी प्रकार गृहीतार्थग्राही ज्ञान भी प्रमाण है।<sup>१०६</sup> उनका सीधा प्रश्न है—गृहीतार्थग्राही ज्ञान के प्रामाण्य का निषेध क्यों किया जाता है? द्रव्य की अपेक्षा से या पर्याय की अपेक्षा से?<sup>१०७</sup> पर्याय की अपेक्षा से तो धारावाही ज्ञान में भी गृहीतग्राहिता सम्भव नहीं है, क्योंकि पर्याय क्षणिक होती है अतः प्रतिक्षण नवीन उत्पन्न होती है। प्रतिक्षण नवीन पर्याय का ज्ञान होने से कोई भी ज्ञान गृहीतग्राही नहीं हो सकता। अतः उसका निवारण करने के लिए अपूर्व या अनधिगत विशेषण का प्रयोग व्यर्थ है। यदि द्रव्य की अपेक्षा से गृहीतग्राहित्व का निषेध किया जाता है तो वह भी अनुपयुक्त है, क्योंकि द्रव्य नित्य है अतः उसकी गृहीत एवं ग्रहीष्यमाण अवस्थाओं में कोई भेद नहीं है। इसलिए ग्रहीष्यमाण के ग्राही ज्ञान को प्रमाण मानने एवं गृहीतग्राही ज्ञान को प्रमाण नहीं मानने में कोई औचित्य नहीं है।<sup>१०८</sup>

आचार्य हेमचन्द्र ने अकलङ्क, माणिक्यनन्दी आदि दिग्गम्बर जैन दार्शनिकों को लक्ष्य करके कहा है कि जिस प्रकार अवग्रह, ईहा आदि के गृहीतग्राही होने पर भी उन्हें प्रमाण माना जाता है उसी प्रकार प्रत्येक गृहीतग्राही ज्ञान, जो सम्यगर्थनिर्णायक हो, को प्रमाण मानना चाहिए। अवग्रह आदि में भिन्न विषयता नहीं होती, क्योंकि दर्शन से जाने गये का अवग्रह होता है तथा अवगृहीत की ईहा होती है और ईहित का निश्चय होता है।<sup>१०९</sup>

इस प्रकार हेमचन्द्र के मत में द्रव्य एवं पर्याय दोनों अपेक्षाओं से ही प्रमाण-लक्षण में अनधिगतग्राही अथवा अपूर्वग्राही विशेषण निरर्थक हैं।

## समीक्षण

जैन दार्शनिकों द्वारा की गई आलोचना से विदित होता है कि जैनदर्शन में अज्ञातार्थज्ञापक अथवा अनधिगतार्थगन्तुत्व पद का प्रमाण-लक्षण में सन्निवेश होना अभीष्ट नहीं है। यद्यपि अकलङ्क एवं विद्यानन्द के अतिरिक्त अन्य जैन दार्शनिक बौद्ध प्रमाण-लक्षण का खण्डन करने के लिए सीधे

१०५. (१) प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग १, पृ० १७०

(२) अभयदेवसूरि ने भी तत्त्वबोधविधायिनी में प्रमाण को विशिष्ट प्रमा का जनक स्वीकार किया है, यथा-न चाधिगतो वस्तुनि किं कुर्वद् तत् प्रमाणतामान्नोतीति वक्तव्यम् विशिष्टप्रमां विदधतस्तस्य प्रमाणताप्रतिपादनात् । न च पूर्वोक्त्यत्रैव प्रमा तेन जन्यते, प्रमित्यन्तरोत्पादकत्वेन प्रमाणत्वात् । —तत्त्वबोधविधायिनी, पृ० ४६६

१०६. द्रष्टव्य, यही अध्याय, पाटलिपुत्र ८६

१०७. हेमचन्द्र ने सिद्धार्थिगणि की भांति ही जैन तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से यह प्रश्न किया है।

१०८. प्रमाणमीमांसा, स्वोपज्ञवृत्ति, १.१.४

१०९. प्रमाणमीमांसा, स्वोपज्ञवृत्ति, १.१.४

प्रवृत्त नहीं हुए हैं, तथापि मीमांसादर्शन में प्रणीत प्रमाण-लक्षण पर विचार करते हुए वे परोक्ष रूप से बौद्ध मन्तव्य का भी निरसन कर देते हैं।

अकलङ्कदादि जैन दार्शनिकों द्वारा किये गये बौद्ध खण्डन से यह स्पष्ट होता है कि जैन दर्शन में गृहीतग्राही ज्ञान भी प्रमाण है। प्रमाण के लिए आवश्यक है कि वह स्व एवं अर्थ का व्यवसायक हो। अनधिगत विषय का ज्ञान कराना उसके लिए आवश्यक नहीं है। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि को प्रमाण स्वीकार करना इसका स्पष्ट निदर्शन है।

विचारणीय प्रश्न यह है कि अकलङ्क, माणिक्यनन्दी आदि कुछ जैन दार्शनिकों ने अपने प्रमाण लक्षणों में अनधिगत अथवा अपूर्व पदों का भी समावेश किया है, इसका क्या औचित्य है? इसमें कोई संदेह नहीं कि जैन परम्परा में “अनधिगत” शब्द का प्रमाण-लक्षण में प्रयोग सर्वप्रथम अकलङ्क द्वारा किया गया है, तथा माणिक्यनन्दी द्वारा अपूर्व पद का प्रयोग अकलङ्क का अनुसरण है। प्रश्न यह है कि अकलङ्क ने एक ओर बौद्धों के अपूर्वाधिगम रूप प्रमाण-लक्षण का खण्डन किया है तो दूसरी ओर उन्होंने प्रमाण को अनधिगतार्थग्राही होने के कारण अविस्वादाक माना है, ऐसा क्यों? इसके उत्तर में प्रतीत होता है कि अकलङ्क के द्वारा अष्टशती में प्रमाण को अनधिगतार्थग्राही मानना बौद्ध प्रमाणमीमांसा का प्रभाव है तथा तत्त्वार्थवार्तिक में बौद्धों का खण्डन उनकी जैन प्रमाणमीमांसीय दृष्टि को प्रस्तुत करता है। माणिक्यनन्दी द्वारा अपूर्व पद का सन्निवेश अकलङ्क द्वारा अष्टशती में प्रयुक्त ‘अनधिगत’ पद के प्रभाव को ही द्योतित करता है। विद्यानन्द एक ऐसे दिगम्बर जैन दार्शनिक हुए हैं जिन्होंने अकलङ्ककृत अनधिगत शब्द के प्रयोग का ‘व्यर्थमन्यद्विशेषणं’ कहकर निराकरण कर दिया है। विद्यानन्द के अनुसार स्व एवं अर्थ का व्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण है। वह गृहीतग्राही हो या अगृहीतग्राही हो, इससे उ.के प्रमाण होने में कोई अन्तर नहीं आता। प्रभाचन्द्र ने भी गृहीतग्राही ज्ञान को प्रमाण माना है, किन्तु वे प्रमाण को विशिष्ट प्रमा का जनक होने के कारण कथञ्चित् अपूर्वार्थग्राही भी सिद्ध करते हैं। यह ज्ञातव्य है कि प्रभाचन्द्र ने मीमांसा- लक्षण में प्रयुक्त अपूर्वार्थविज्ञान<sup>१०</sup> को सर्वथा अपूर्वार्थ का ग्राही मानकर खण्डन भी किया है। इससे ज्ञात होता है कि अकलङ्क एवं उनकी परम्परा के दिगम्बर जैन दार्शनिक गृहीतग्राही ज्ञान के प्रामाण्य का प्रतिषेध नहीं करते हैं। उनके अनुसार गृहीतग्राही ज्ञान भी विशिष्ट प्रमा का जनक होने के कारण प्रमाण है।

अभ्यदेवसूरि ने भी प्रमाण को विशिष्ट प्रमा का जनक स्वीकार किया है, किन्तु उनके सहित हेमचन्द्र आदि सभी श्वेताम्बर जैन दार्शनिक एकमत से गृहीतग्राही ज्ञान को स्व एवं अर्थ का प्रकाशक होने के कारण प्रमाण अंगीकार करते हैं। हेमचन्द्र द्वारा ग्रहीष्यमाण अर्थ की भांति गृहीतार्थ के ग्राही ज्ञान को प्रमाण सिद्ध करना श्वेताम्बर जैन परम्परा का मन्तव्य स्पष्ट करता है। सिद्धार्थिगणि एवं हेमचन्द्र के द्वारा तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से प्रमाण- लक्षण में अनधिगत पद के आदान का खण्डन भी वस्तुतः महत्वपूर्ण है।

११०. तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम् ।

अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम् ॥ उद्धृत, प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-१, पृ० १७१ ।

जैन तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो अर्थ द्रव्य की दृष्टि से नित्य एवं पर्याय की दृष्टि से अनित्य होता है। नित्यानित्यात्मक अर्थ का ज्ञान कथञ्चित् गृहीतग्राही एवं कथञ्चित् अगृहीतग्राही होता है। वह न सर्वथा गृहीतग्राही कहा जा सकता है और न सर्वथा अगृहीतग्राही। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि प्रमाण भी कथञ्चित् गृहीतग्राही होते हैं तथा कालगत भेद के कारण कथञ्चित् अगृहीतग्राही होते हैं। इसलिए प्रमाण को सर्वथा अपूर्वार्थग्राही कहना शक्य नहीं है। दूसरे शब्दों में कहें तो प्रमाण-लक्षण में अपूर्व या अनधिगत पद का प्रयोग जैनदार्शनिक तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से उपयुक्त नहीं है। यदि इस पद का प्रयोग किया जाता है तो प्रमाण-लक्षण में अव्याप्ति दोष प्राप्त होता है, क्योंकि प्रमाण कथञ्चित् गृहीतार्थ का ग्राही भी होता है।

बौद्ध तत्त्वमीमांसा के परिप्रेक्ष्य में यदि विचार किया जाय तो उसके अनुसार पारमार्थिक स्वलक्षण अर्थ क्षणिक होता है। वह प्रतिक्षण निरंश रूप से नष्ट होता रहता है तथा संतान के रूप में नवीन अर्थ उत्पन्न होता रहता है, फलतः वह प्रतिक्षण अज्ञात ही बना रहता है, इसलिए प्रमाण-लक्षण में अज्ञातार्थज्ञापक पद का प्रयोग बौद्ध तत्त्वमीमांसीय दृष्टि को स्पष्ट करने के अतिरिक्त कोई वैशिष्ट्य नहीं रखता। दूसरी बात यह है कि यह लक्षण बौद्धों की पारमार्थिक तत्त्वमीमांसा पर आधृत है, व्यावहारिक दृष्टि से तो स्वलक्षण अर्थ का ग्रहण बाह्येन्द्रियों से होना शक्य नहीं है। संभवतः इसी अपर्याप्तता को ध्यान में रखकर धर्मकीर्ति ने प्रमाण के एक नये लक्षण "प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्" का उद्दण्डन किया। यदि अज्ञातार्थज्ञापक या अज्ञातार्थप्रकाशक प्रमाण का सम्पूर्ण या पर्याप्त लक्षण होता तो धर्मकीर्ति द्वारा नया लक्षण प्रदान न किया जाता। धर्मकीर्ति द्वारा नये लक्षण का उद्दण्डन पूर्वलक्षण की अपर्याप्तता ज्ञापित करता है।

### धारावाहिक ज्ञान के प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य विषयक विचार

भारतीय दर्शन में धारावाहिक ज्ञान (एक ही वस्तु के लगातार ज्ञान) के प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य के सम्बन्ध में अनेक विप्रतिपत्तियाँ रही हैं। न्याय-वैशेषिकों के अनुसार अधिगतार्थग्राही ज्ञान भी प्रमाण होता है अतः उनके मत में स्पष्टतः धारावाहिक ज्ञान प्रमाण है।<sup>१११</sup> मीमांसकों ने प्रमाण-लक्षण में अनधिगत पद का प्रयोग किया है तथापि वे धारावाहिक ज्ञान का प्रामाण्य अंगीकर करते हैं। प्रभाकर मतानुयायी अनुभूति मात्र को प्रमाण मानते हैं अतः वे धारावाहिक ज्ञानों को परस्पर निरपेक्ष मानकर सबका प्रामाण्य अंगीकर करते हैं।<sup>११२</sup> कुमारिल मतानुयायी प्रमाण में सूक्ष्मकाल का भेद करके अनधिगत पद के औचित्य को सुरक्षित रखते हुए धारावाहिक ज्ञान के प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं।<sup>११३</sup>

१११. अनधिगतार्थगन्तुं च धारावाहिकविज्ञानानामधिगतार्थगोचराणां लोकप्रसिद्धप्रमाणभावानां प्रामाण्यं विहन्तीति नाद्रियामहे ।— न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, पृ० २१

११२. अन्योन्यनिरपेक्षास्तु धारावाहिकबुद्ध्यः । व्याप्रियमाणे हि पूर्वविज्ञानकारणकलाप उत्तरेषामप्युत्पत्तिरिति न प्रतीतित उत्पत्तितो वा धारावाहिकविज्ञानानि परस्परस्यातिशेरत इति युक्ता सर्वेषामपि प्रामाण्यता ।— शालिकनाथ, प्रकरणपञ्चिका, उद्भूत, प्रमाणमीमांसा, भाषाटिप्पण, पृ० १२

११३. धारावाहिकेष्वप्युत्तरोत्तरेषां कालान्तरसम्बन्धस्यागृहीतस्य ग्रहणाद् युक्तं प्रामाण्यम् ।— पार्थसारथिमिश्र, शास्त्रदीपिका, पृ० १२४-२६

बौद्ध परम्परा की निरंश क्षणिकवादिनी तत्त्वमीमांसा में धारावाहिक ज्ञान का प्रामाण्य मान्य नहीं है। इसलिए बौद्धदार्शनिक प्रमाणलक्षण में अज्ञात अथवा अनधिगत विशेषण का प्रयोग करते हैं। तथापि योगिप्रत्यक्ष के संदर्भ में बौद्ध दार्शनिक अर्चट ने सूक्ष्म काल- भेद का ज्ञान मानकर धारावाहिक ज्ञान में प्रामाण्य ज्ञापित किया है ऐसा पण्डित सुखलाल संघवी का मन्तव्य है। साधारण प्रमाताओं के धारावाहिक ज्ञान को अर्चट ने प्रमाणकोटि में नहीं लिया, क्योंकि तब वह सूक्ष्मकाल भेद का प्राहक नहीं होता है।<sup>११४</sup>

जैन दार्शनिकों में दोनों परम्पराएं हैं। अकलङ्क, माणिक्यनन्दी, प्रभाचन्द्र आदि 'अपूर्व' एवं 'अनधिगत' का प्रयोग करने वाले दिग्म्बर दार्शनिक धारावाहिक ज्ञान को तभी प्रमाण मानते हैं जब वह ज्ञान विशिष्ट प्रमाजनक हो। यदि वह पूर्वज्ञान से विशिष्ट प्रमाजनक नहीं है तो अप्रमाण है। प्रमाण- लक्षण में गृहीत अनधिगत, अपूर्व आदि पद इसके साक्षी हैं। श्वेताम्बर परम्परा के सभी विद्वान् स्मृति की भांति धारावाहिक ज्ञान को भी प्रमाण मानते हैं। प्रमाण- लक्षण में इसीलिए उन्होंने अपूर्व, अनधिगत आदि पदों का सन्निवेश नहीं किया। हेमचन्द्र ने तो स्पष्ट रूपेण प्रतिपादित किया है कि गृहीतप्राही ज्ञान भी प्रहीष्यमाण या अगृहीत के प्राही ज्ञान के समान प्रमाण है।<sup>११५</sup>

### द्वितीय लक्षण का परीक्षण

धर्मकीर्ति प्रणीत "प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्" लक्षण पर जैन दार्शनिक अकलङ्क, विद्यानन्द, सिद्धर्षिगण, अभयदेवसूरि एवं हेमचन्द्र ने प्रमुख रूप से विचार किया है।

**अकलङ्क**—अकलङ्क का धर्मकीर्ति के प्रमाण- लक्षण से स्थूलरूपेण कोई विरोध नहीं है। यही कारण है कि अकलङ्क ने अपने न्याय ग्रंथों में अनेकत्र अविस्वादक ज्ञान को प्रमाण कहा है।<sup>११६</sup> यही नहीं उन्होंने अष्टशती में बौद्धों के प्रथम लक्षण "अनधिगत अर्थ के ज्ञापक ज्ञान" को अविस्वादकता का हेतु माना है,<sup>११७</sup> अतः इसमें संशय नहीं कि अकलङ्क का प्रमाणलक्षण बौद्धों की प्रमाण मीमांसा से प्रभावित है, किन्तु उनके ग्रंथों का सूक्ष्मावलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे धर्मकीर्ति के प्रमाणलक्षण में प्रयुक्त अविस्वादक शब्द के अभिप्राय में उनसे या उनकी परम्परा से मतभेद रखते हैं। धर्मकीर्ति अर्थक्रियास्थिति को अविस्वादान कहते हैं तथा धर्मोत्तर प्रवृत्ति विषयक अर्थप्रदर्शकता को ही संवादकता कहकर उसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भी घटित कर लेते हैं जबकि अकलङ्क के अनुसार निश्चयात्मक ज्ञान ही संवादक हो सकता है, निर्विकल्पक प्रत्यक्ष निश्चयात्मक नहीं होने के कारण

११४. प्रमाणमीमांसा, भाषाटिप्पण, पृ० १२ एवं हेतुबिन्दुटीका, पृ० ३७-३८

११५. द्रष्टव्य, यही अध्याय, पादटिप्पण, ८६

११६. (१) अविस्वादक प्रमाणम्-लघीयस्त्रयवृत्ति, २२, अकलङ्कग्रन्थत्रय, पृ० ८

(२) प्रमाणमविसंवादिज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात् ।—अष्टशती, अष्टहस्ती, पृ० १७५

(३) यदयथैवाविसंवादि प्रमाणं ततथा मतम् ।—लघीयस्त्रय, २२

(४) क्वचिदविसंवादस्यान्यथानुपपत्तेः सिद्धं प्रामाण्यमिति ।—लघीयस्त्रयवृत्ति, पृ० १०

११७. द्रष्टव्य, उपर्युक्त पादटिप्पण, ११६(२)



संवादक नहीं हो सकता। वे कहते हैं कि जिस प्रकार अज्ञानी पुरुष विष को देखकर भी उसके हानि लाभ का सम्यक् निर्णय नहीं कर सकता उसी प्रकार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से हान-उपादान का निर्णय नहीं हो सकता तथा निर्णयात्मक ज्ञान के बिना कोई ज्ञान अविस्वादाक नहीं होता।<sup>११८</sup>

इस प्रकार धर्मकीर्ति की भांति अकलङ्क प्रमाण की कसौटी अर्थसंवादकता को स्वीकार करके<sup>११९</sup> भी संवादकता को निश्चयात्मक ज्ञान के अधीन मानते हैं।<sup>१२०</sup> निश्चयात्मक ज्ञान को वे संशय, विपर्यय एवं अकिञ्चित्कर से रहित मानते हैं<sup>१२१</sup> तथा अनिश्चयात्मक ज्ञान को अप्रमाण मानते हैं। अकलङ्क के अनुसार निर्णय के अभाव में अविस्वादाकता का अभाव होता है तथा निर्णय के सद्भाव में अविस्वादाकता का सद्भाव रहता है।<sup>१२२</sup> जो ज्ञान निर्णयात्मक होता है वही व्यवहार में प्रवर्तक एवं संवादक होता है। बौद्धों द्वारा कल्पित निर्विकल्पक प्रत्यक्ष अनिश्चयात्मक है इसलिए वह संवादक एवं व्यवहार में प्रवर्तक नहीं हो सकता और संवादकता एवं व्यवहार में प्रवर्तकता के अभाव में उसे प्रमाण नहीं कहा जा सकता।<sup>१२३</sup>

**विद्यानन्द**—विद्यानन्द ने बौद्ध प्रमाणलक्षण में स्थित अविस्वादि पद का सीधा खण्डन नहीं किया है, किन्तु उन्होंने यह अवश्य प्रतिपादित किया है कि प्रमाण का लक्षण ऐसा होना चाहिए जिसमें बाधक का असंभव होना सुनिश्चित हो।<sup>१२४</sup> उनकी दृष्टि में स्व एवं अर्थ का निश्चायक ज्ञान ही प्रमाण है तथा उसका कोई निश्चित रूपेण बाधक नहीं है।<sup>१२५</sup> यथाप्रसंग विद्यानन्द ने तत्त्वोपप्लव-वादी के मुख से धर्मकीर्ति के अविस्वादित्व लक्षण का खण्डन भी किया है, जिसका कुछ अंश यहां प्रस्तुत है।

अविस्वादी ज्ञान प्रमाण का लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमाण की अर्थक्रियास्थिति रूप अविस्वादाकता ज्ञात होकर प्रामाण्य का व्यवस्थापन करती है अथवा अज्ञात रहकर ? स्वयं अज्ञात रहकर तो वह प्रामाण्य का व्यवस्थापन नहीं कर सकती। यदि ज्ञात होकर प्रामाण्य का व्यवस्थापन करती है तो जिस ज्ञान से ज्ञात होती है उसके संवादकत्व का व्यवस्थापन किससे होता है ? यदि संवादकत्व का व्यवस्थापन अन्य संवादज्ञान से होता है तो अनवस्था दोष आता है।

यदि अर्थक्रियास्थितिलक्षण युक्त अविस्वाद ज्ञान का प्रामाण्य अभ्यास दशा में स्वतः सिद्ध है तो वह अभ्यास क्या है ? उत्पन्न होने वाले ज्ञान में पुनः संवाद का अनुभव होना अभ्यास है तो वह

११८. द्रष्टव्य, तृतीय अध्याय में अकलङ्क कृत बौद्ध मत का खण्डन, पृ. १५०

११९. प्रमाणमर्थसंवादात् ।—प्रमाणसंग्रह, १०

१२०. अविस्वादकत्वं च निर्णयायत् ।—लघीयस्त्रयवृत्ति, ६०

१२१. अकिञ्चित्करसंशयविपर्ययव्यवच्छेदेन निर्णयात्मकत्वं नान्यथा ।—सिद्धिविनिश्चय वृत्ति, १.३, पृ० १३

१२२. तदभावेऽभावात् तद्भावे च भावात् ।—लघीयस्त्रयवृत्ति, ६०

१२३. द्रष्टव्य, तृतीय अध्याय में अकलङ्क कृत बौद्ध प्रत्यक्ष का खण्डन, पृ. १४९-१५४

१२४. सुनिश्चितासम्भवबाधकत्वेन ।—अष्टसहस्री(ज्ञा), भाग-१, पृ० २१६

१२५. स्वार्थव्यवसायात्मकत्वमेव हि सुनिश्चितासम्भवदबाधकत्वम् ।—अष्टसहस्री(ज्ञा), भाग-१, पृ० २१७

तज्जातीय ज्ञान में होता है या अतज्जातीय ज्ञान में होता है। क्षणिकवादियों के मत में तो ज्ञान उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है अतः उसमें पुनः पुनः संवाद का अनुभव होना अशक्य है। यदि संतान की अपेक्षा से अभ्यास का होना शक्य है तो संतान अवस्तरूप है। अतः उसमें भी अभ्यास का होना अनुपपन्न है। यदि तज्जातीयज्ञान में पुनः पुनः संवाद का अनुभव होता है तो जाति का निराकरण करने वाले बौद्धों के मत में यह संभव नहीं है।<sup>१२६</sup>

आचार्य विद्यानन्द ने प्रमाणपरीक्षा कृति में यह बलवत्तरूप में प्रतिपादित किया है कि व्यवसायात्मकता के अभाव में ज्ञान अविस्वादाक नहीं होता। बौद्ध स्वसंवेदन, इन्द्रिय, मानस एवं योगज भेद से प्रत्यक्ष के चार प्रकार मानते हैं। विद्यानन्द के अनुसार ये चारों प्रकार के प्रत्यक्ष अप्रमाण हैं, क्योंकि अव्यवसायात्मक होने के कारण इनमें अविस्वादाकता नहीं है। आचार्य विद्यानन्द ने धर्मोत्तर के मत को पूर्वपक्ष में उपस्थापित भी किया है, यथा—

‘सम्यग्ज्ञान अर्थात् प्रमाण की व्याप्ति अविस्वादाकता के साथ है। अविस्वादाकता के अभाव में सम्यग्ज्ञान अथवा प्रमाण का अभाव रहता है। अविस्वादाकता भी अर्थप्रापकता से व्याप्त है। जो ज्ञान अर्थप्रापक नहीं होता वह अविस्वादाकी नहीं होता। अर्थप्रापकता भी प्रवर्तकत्व से व्याप्त है। अप्रवर्तक ज्ञान अर्थप्रापक नहीं होता। प्रवर्तकता भी स्वविषयोपदर्शकता से व्याप्त है। स्वविषय के उपदर्शक ज्ञान में प्रवर्तक का व्यवहार सिद्ध होता है। ज्ञान पुरुष के हाथ पकड़कर उसे प्रवृत्त नहीं करता। अपने विषय का उपदर्शक होने से ही ज्ञान को प्रवर्तक कहा जाता है तथा जो ज्ञान प्रवर्तक होता है वही अर्थप्रापक होता है एवं जो ज्ञान अर्थप्रापक होता है वही अविस्वादाक होने से सम्यग्ज्ञान होता है अर्थात् प्रमाण होता है। इससे भिन्न ज्ञान संशयादि ज्ञान के समान मिथ्या होता है।’<sup>१२७</sup>

धर्मोत्तर के उपर्युक्त मत का विद्यानन्द ने विस्तृत खण्डन करते हुए प्रतिपादित किया है कि स्वसंवेदन, इन्द्रिय, मन एवं योगी इन चार प्रकार के बौद्ध प्रत्यक्ष में सम्यग्ज्ञानत्व या प्रमाणत्व का व्यवस्थापन नहीं हो सकता, क्योंकि इनमें स्वविषयोपदर्शकता सिद्ध नहीं है। ये अपने विषय को प्रदर्शित करने में समर्थ नहीं हैं। इनसे नीलादि विषयों का उपदर्शन यदि हो भी जाय तब भी उसकी क्षणभंगता का उपदर्शन नहीं हो पाता। वस्तुतः जो ज्ञान अव्यवसायात्मक है वह अपने विषय का उपदर्शक नहीं हो सकता। जिस प्रकार चलते हुए पुरुष को तिनके का स्पर्श अव्यवसायात्मक होता है उसी प्रकार बौद्धों को अभिमत प्रत्यक्ष अथवा दर्शन भी अव्यवसायात्मक होता है। अव्यवसायात्मक होने से वह स्वविषयोपदर्शक नहीं हो सकता तथा स्वविषयोपदर्शक नहीं होने से वह प्रवर्तक, अर्थप्रापक अथवा अविस्वादाक नहीं हो सकता। अविस्वादाकता के अभाव में उसे सम्यग्ज्ञान अथवा प्रमाण नहीं कहा जा सकता। व्यवसायात्मक रूप व्यापक के अभाव में उसमें व्याप्य स्वविषयोपदर्शकता का अनुभव नहीं होता।<sup>१२८</sup>

१२६. अष्टसहस्री (ज्ञा.) भाग १, पृ० २११-२१३

१२७. द्रष्टव्य, (१) परिशिष्ट - क (२) तुलनीय, धर्मोत्तर, न्यायबिन्दुटीका, १.१

१२८. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - क

यदि बौद्ध दार्शनिक व्यवसायात्मकता के साथ स्वविषयोपदर्शकता की व्याप्ति नहीं मानकर व्यवसायजनकता के साथ मानते हैं तो विद्यानन्द उसका भी प्रतीकार करते हुए कहते हैं कि जो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष स्वयं व्यवसाय रूप नहीं है वह व्यवसायजनक नहीं हो सकता।<sup>१२९</sup>

बौद्धों के अनुसार अनुमान संवृतिसत् सामान्यलक्षण को विषय करता है, फिर भी स्वलक्षण की प्राप्ति में कारण होने से उसको प्रमाण माना गया है। यथा किसी पुरुष को प्रदीपप्रभा में मणि का ज्ञान हुआ और किसी को मणिप्रभा में मणि का ज्ञान हुआ, उन दोनों का ज्ञान समानरूप से मिथ्या है, फिर भी जिसको मणिप्रभा में मणि का ज्ञान हुआ है, उसको मणि की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार अनुमान और अनुमानाभास दोनों के अयथार्थ होने पर भी एक अर्थक्रिया का साधक होता है, और दूसरा उसका साधक नहीं होता है। अनुमान से परम्परया स्वलक्षण की प्राप्ति होती है और अनुमानाभास से नहीं होती है। अतः अनुमान प्रमाण है और अनुमानाभास अप्रमाण है। अर्थक्रिया की सिद्धि के लिए पूर्वतः तत्त्वनिश्चय न होने पर भी अनुमान में प्रमाणशीलता संभव है।

विद्यानन्द कहते हैं कि अनुमान को प्रमाण मानने हेतु जो मणिप्रभा का दृष्टान्त दिया गया है, वह बौद्धों के मत का ही विघटन करने वाला है। मणिप्रभादर्शन को बौद्धों ने संवादक माना है, और संवादक होने से वह प्रमाण भी है, किन्तु इसको प्रत्यक्ष और अनुमान से अतिरिक्त तृतीय प्रमाण मानना पड़ेगा, क्योंकि मणिप्रभादर्शन शुक्तिका में रजत ज्ञान की भांति विसंवादक होने से प्रत्यक्षाभास है अतः उसका प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। यदि इसको एकत्व अध्यवसाय के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं तो शुक्तिका में रजत का ज्ञान, अवस्थित वृक्षों में गतिशीलता का ज्ञान आदि भ्रान्तज्ञानों को भी प्रमाण मानना होगा। मणिप्रभादर्शन अनुमान भी नहीं है, क्योंकि उसमें लिङ्ग और लिङ्गी के सम्बन्ध का ज्ञान नहीं है। बिना लिङ्ग-लिङ्गिज्ञान के अनुमान नहीं हो सकता। मणिप्रभा दर्शन दृष्टान्त है, दार्ष्टान्त नहीं। फिर भी मणिप्रभादर्शन को अनुमान माना जाय तो दृष्टान्त और दार्ष्टान्त के एक हो जाने से किसके द्वारा किसकी सिद्धि होगी? और तब क्षणिकत्वादि साधक अनुमान प्रमाण भी कैसे बनेगा। कदाचित् संवाद पाये जाने के कारण मणिप्रभादर्शन को प्रमाण मानना ठीक नहीं है, क्योंकि कदाचित् संवाद तो मिथ्याज्ञान में भी पाया जाता है। कभी कभी मिथ्याज्ञान से भी अर्थ की प्राप्ति हो जाती है। अतः इस प्रकार उसे भी प्रमाण मानना चाहिए अन्यथा मणिप्रभादर्शन को तथा अनुमान को भी विसंवादी होने से प्रमाण नहीं माना जा सकता।<sup>१३०</sup>

बौद्ध कहते हैं कि मिथ्याज्ञान में संवाद कभी कभी ही पाया जाता है, किन्तु अनुमान में संवाद सदा पाया जाता है। यद्यपि अनुमान अवस्तुभूत सामान्यलक्षण को विषय करता है, फिर भी परम्परा से वस्तु (स्वलक्षण) की प्राप्ति का कारण होने से वह संवादक है। कहा भी है—

१२९. विस्तार के लिए द्रष्टव्य, तृतीय अध्याय में बौद्ध-प्रत्यक्ष का विद्यानन्द कृत खण्डन, पृ. १५३-१६१

१३०. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - क

लिङ्गलिङ्गिधयोरेवं पारम्पर्येण वस्तुनि ।  
प्रतिबन्धात्तदाभासशून्ययोरप्यवञ्चनम् ॥ १३१

लिङ्गबुद्धि (हेतु के ज्ञान) और लिङ्गबुद्धि (साध्य के ज्ञान) में वस्तु का साक्षात् प्रतिभास न होने पर भी परम्परा से वस्तु के साथ सम्बन्ध होने के कारण उनसे उत्पन्न अनुमान में संवादकता है ।

विद्यानन्द इसका भी प्रत्युत्तर देते हुए कहते हैं कि यदि अनुमान में सर्वदा संवादकता विद्यमान रहती है तो प्रत्यक्ष की तरह उसे भी अभ्रान्त मानना चाहिए, किन्तु बौद्धों ने प्रत्यक्ष को अभ्रान्त माना है, और अनुमान को भ्रान्त माना है ।<sup>१३२</sup> यदि अनुमान भ्रान्त है तो वह संवादक कैसे हो सकता है और संवादकता के अभाव में वह प्रमाण भी नहीं हो सकता है । यदि अनुमान का आलम्बन प्रत्यय 'सामान्य' मिथ्या है तो प्राप्त (स्वलक्षण) भी मिथ्या होगा और यदि अनुमान द्वारा प्राप्य विषय वास्तविक है, तो उसके आलम्बन को भी वास्तविक मानना चाहिए ।<sup>१३३</sup> इस प्रकार विद्यानन्द ने प्रत्यक्ष एवं अनुमान दोनों प्रमाणों में बौद्धों के अविश्ववादकत्व लक्षण को अनुपपन्न सिद्ध किया है । इस अनुपपन्नता प्रतिपादन का मूलाधार निर्भ्रान्त तथा निश्चयात्मक ज्ञान है जबकि बौद्ध असत् से भी अर्थक्रियासिद्धि संभव होने पर इसकी प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं । इसी के लिए दीपप्रभा, मणिप्रभा का दृष्टान्त प्रचलित है । प्रमाणव्यवस्था मणिप्रभा की भांति है । भ्रान्त, मिथ्या या असम्यग्ज्ञान उनके अनुसार दीपप्रभा के समान है ।

विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में, बौद्धों द्वारा अभिमत अविश्ववादी ज्ञान को स्वप्नज्ञान में भी सिद्ध कर बौद्धों के प्रमाण- लक्षण को अनुपपन्न बतलाया है । विद्यानन्द कहते हैं कि अविश्ववाद का अर्थ यदि आकांक्षा-निवृत्ति है तो वह स्वप्नज्ञान में भी संभव है, क्योंकि स्वप्न में भी परितोष का अनुभव होता है । अतः स्वप्नज्ञान को भी प्रमाण स्वीकार करना होगा । यदि स्वप्नज्ञान में अर्थक्रियास्थिति रूप अविश्ववाद नहीं है तो शब्द ज्ञान में भी अर्थक्रिया स्थिति संभव नहीं । शब्द ज्ञान में यदि अभिप्राय निवेदन से अर्थक्रियास्थिति रूप अविश्ववाद माना जाता है तो वह अभिप्राय-निवेदन तो स्वप्नादि ज्ञानों में भी देखा जाता है । अतः उनको भी प्रमाण मानने का प्रसंग आता है ।<sup>१३४</sup>

इस प्रकार बौद्धमत में अविश्ववाद को प्रमाण-लक्षण मानना विद्यानन्द के अनुसार कथमपि संभव नहीं है ।

सिद्धर्षिगणि—सिद्धर्षिगणि ने न्यायावतारविवृति में धर्मकीर्ति द्वारा प्रमाणलक्षण में प्रयुक्त अविश्ववादक शब्द के तीन अर्थों को प्रस्तुत कर प्रत्येक का खण्डन किया है । वे बौद्धों से प्रश्न करते हैं कि

१३१. (अ) द्रष्टव्य, परिशिष्ट - क (ब) प्रमाणवार्तिक, २.८२

१३२. भ्रान्त ह्यनुमान स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायेन प्रवृत्तत्वात् ।— न्यायबिन्दुटीका, पृ० ४०

१३३. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - क

१३४. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - क

क्या प्रदर्शित अर्थ की प्राप्ति कराना प्रमाण की अविस्वादाकता है, अथवा प्राप्तियोग्य अर्थ को प्रदर्शित करना उसकी अविस्वादाकता है, अथवा तो अविचलित अर्थ को विषय करना अविस्वादाकता है ?

यदि प्रदर्शित अर्थ की प्राप्ति कराना अविस्वादाकता है तो यह लक्षण अयुक्त है, क्योंकि जल के बुदबुदे के समान क्षणिक पदार्थ प्राप्तिकाल में नष्ट हो जाता है, अतः प्रदर्शित अर्थ की प्राप्ति नहीं होने से ज्ञान में अविस्वादाकता नहीं हो सकती। द्वितीय विकल्प में यदि प्राप्तियोग्य अर्थ को प्रदर्शित करना ज्ञान की अविस्वादाकता है तो ग्रह, नक्षत्र आदि विषयों का ज्ञान अप्रमाण सिद्ध होगा, क्योंकि वे दृष्ट होने पर भी प्राप्त नहीं होते। यदि अविस्वाद का अर्थ विषय का अविचलन है तो उसकी अविचलित विषयता को कैसे जानते हैं ? यदि ज्ञानान्तर से उस विषय का निराकरण नहीं होने के कारण उसे अविचलित या विस्वादाकरहित कहा जाता है तो यह जैनमत में भी इष्ट है।<sup>१३५</sup>

यहां पर सिद्धार्थिगण ने प्रदर्शितार्थप्रापकता एवं प्रापणयोग्य अर्थ की प्रदर्शकता के रूप में अविस्वाद लक्षण का खण्डन किया है तथा उसे अविचलितार्थ विषयता के रूप में स्वीकार किया है जो अकलङ्क के द्वारा प्रस्तुत प्रमाणान्तर से अबाधित एवं पूर्वापर विरोध से रहित अविस्वादी ज्ञान के लक्षण से साम्य रखता है।<sup>१३६</sup>

**अभयदेवसूरि द्वारा बौद्ध प्रमाण-लक्षण का उपस्थापन एवं खण्डन**— अभयदेवसूरि ने सिद्धसेन के सम्मतितर्कप्रकरण की तत्त्वबोधविधायिनी टीका में धर्मकीर्ति के प्रमाण-लक्षण को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित कर उसका विस्तृत खण्डन किया है। वे धर्मकीर्ति के लक्षण को उपस्थापित करते समय धर्मोत्तर आदि बौद्धदार्शनिकों की व्याख्याओं का भी उपयोग करते हैं। यहां उनके मतानुसार पूर्व पक्ष को रखने के अनन्तर खण्डन प्रस्तुत किया जा रहा है।

**पूर्वपक्ष का उपस्थापन**<sup>१३७</sup> - 'प्रमाणमविस्वादिज्ञानम्' वचन के अनुसार ज्ञान की अविस्वादाकता प्रमाण का लक्षण है। अविस्वादाकता का अर्थ है अर्थक्रिया में साधक अर्थ की प्रदर्शकता। यह अर्थप्रदर्शकता अर्थप्राप्ति के लिए प्रवृत्त कराने में हेतुभूत होती है। क्योंकि अर्थक्रियार्थी पुरुष अर्थक्रिया में समर्थ अर्थ को प्राप्त करने के लिए प्रमाण अथवा अप्रमाण का अन्वेषण करता है। अर्थक्रिया को सम्पन्न करने वाला जो ज्ञान अर्थ प्रदर्शक होता है, उसी का अर्थक्रियार्थी पुरुष के द्वारा अन्वेषण किया जाता है।<sup>१३८</sup>

१३५. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - क

१३६. प्रमाणान्तराबाधनं पूर्वापराविरोधश्चाविस्वादः ।—लघीयस्त्रयवृत्ति, पृ० १४.२१

१३७. मूल पाठ के लिए द्रष्टव्य, परिशिष्ट - क

१३८. तुलनीय—अर्थक्रियाधिभिक्षार्थक्रियासमर्थ वस्तुप्राप्तिनिमित्तं ज्ञानं मृग्यते । यच्च तैर्मृग्यते तदेव शास्त्रे विचार्यते । ततोऽर्थक्रियासमर्थवस्तुप्रदर्शकं सम्यग्ज्ञानम् ।—न्यायबिन्दुटीका, १.१, पृ० १६

प्रत्यक्ष एवं अनुमान ये दोनों तथाभूत अर्थ के प्रदर्शक हैं, अतः इन दोनों में अविस्वादाकता रूप प्रमाण का लक्षण विद्यमान है। प्रत्यक्ष से अर्थक्रिया का साधन दृष्ट रूप में ज्ञात अथवा प्रदर्शित होता है तथा अनुमान द्वारा वह दृष्टलिङ्ग (हेतु) से अव्यभिचरित रूप में अध्यवसित होता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष एवं अनुमान द्वारा अर्थक्रिया के साधन रूप अर्थ को प्रदर्शित किया जाता है। वही अर्थ की प्रापकता है। अर्थ की प्रापकता ही अविस्वादाकता है एवं वही प्रमाण का लक्षण है।<sup>१३९</sup> प्रत्यक्ष एवं अनुमान के द्वारा प्रदर्शित अर्थ में प्रवृत्ति करने पर अर्थ प्राप्ति होती ही है। अतः अर्थप्रदर्शकत्व के अतिरिक्त प्रापकता नहीं है। वह प्रापकता शक्तिरूप है, यथा—“प्रापण शक्ति ही ज्ञान का प्रामाण्य है,” और वही प्रापकता है। अन्यथा ज्ञानान्तर से उसकी प्रापकता की व्यवस्था करने पर प्रमाण को प्रवर्तक शक्ति वाला नहीं कहा जा सकता।

यद्यपि प्रत्यक्ष वस्तुक्षण ग्राही होता है और उसका ग्राहकत्व ही उसकी प्रदर्शकता है। वस्तु के क्षणिक होने के कारण दृष्ट क्षण की प्राप्ति नहीं होती, उस क्षण की सन्तान ही प्राप्त होती है। इस प्रकार प्रत्यक्ष द्वारा क्षण-सन्तान का अध्यवसाय किया जाता है और वही प्रत्यक्ष का अर्थ प्रदर्शक व्यापार है। अनुमान द्वारा वस्तु का ग्रहण नहीं होता। अतः उसका अर्थ प्रापक होना संभव प्रतीत नहीं होता तथापि अपने आकार वाली बाह्य वस्तु के अध्यवसाय से पुरुष द्वारा प्रवृत्ति करने में निमित्त बनने के कारण अनुमान को अर्थ का प्रापक कहा जाता है।

अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय जो क्षण है वह निवृत्त हो जाने के कारण प्राप्त नहीं होता, तथापि प्रत्यक्ष से उस क्षण की सन्तान का अध्यवसाय होता है, अर्थात् प्रवृत्तिपूर्वक प्राप्ति का विषय सन्तान है। वह विषय ही प्रत्यक्ष की अथवा प्रदर्शित अर्थ की प्रापकता है तथा वही इसका प्रामाण्य है। अनुमान के द्वारा तो आरोपित वस्तु अथवा स्वाकार का ग्रहण होता है, वे दोनों अवस्तु रूप होते हैं। अतः वे प्रवृत्ति के विषय नहीं होते, अपितु बाह्य वस्तुओं के अभेद अध्यवसाय से वस्तु में ही अनुमान की प्रवर्तकता एवं प्रापकता देखी जाती है। इस प्रकार अनुमान का ग्राह्य विषय अनर्थ है, किन्तु प्राप्य विषय बाह्य है जो स्वाकार के अभेद अध्यवसाय रूप होता है। इस प्रकार अनुमान का अध्यवसेय विषय वस्तुरूप सिद्ध होता है। वह विषय प्रदर्शितार्थप्रापक होता है, अतः अनुमान भी प्रमाण है।<sup>१४०</sup> कहा गया है—“उस विकल्प से भी वस्तुक्षण का अध्यवसाय होने से वस्तु में ही प्रवृत्ति होती है, प्रवृत्ति होने पर प्रत्यक्ष से उसका योगक्षेम अभिन्न हो जाता है।”

प्रत्यक्ष एवं अनुमान के द्वारा अर्थ को जानकर प्रवर्तमान पुरुष अर्थक्रिया में कभी विस्वाद को प्राप्त नहीं होता है। प्रत्यक्ष एवं अनुमान दोनों का परिच्छेद सन्तान विषयक अध्यवसाय है, तथा दोनों

१३९. तुलनीय—प्रत्यक्ष प्रतिभासमान नियतमर्थ दर्शयति। अनुमानं च लिङ्गसम्बद्धं नियतमर्थं दर्शयति। अत एते नियतस्वार्थस्य प्रदर्शकौ। तेन ते प्रमाणे। नान्यद् विज्ञानम्। प्राप्तुं शक्यमर्थमादर्शयत् प्रापकम्। प्रापकत्वाच्च प्रमाणम्।—न्यायबिन्दुटीका १.१, पृ० १२

१४०. धर्मोत्तर मत के लिए द्रष्टव्य, यही अध्याय, पादटिप्पण, ३८

का प्रामाण्य वस्तुविषयक है। यह लौकिक अविस्वादाकता रूप प्रामाण्य है, क्योंकि लोक में प्रतिज्ञात अर्थ को प्राप्त कराता हुआ संवादक पुरुष प्रमाण कहलाता है उसी प्रकार यहां भी अर्थप्रापकता रूप अविस्वादाकता से प्रत्यक्ष एवं अनुमान ये दोनों प्रमाण हैं।<sup>१४१</sup>

क्षणिक-अर्थ का ज्ञान प्राप्तिकाल तक अवस्थित नहीं रहता है, किन्तु इससे उसकी प्रापकता में शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अर्थ के प्रदर्शकत्व के अतिरिक्त उसका अवस्थान या प्रापकता असंभव है। यह भी शंका नहीं करनी चाहिए कि अन्य ज्ञानान्तर की प्राप्ति में सन्निकृष्ट (साधकतम) होने से वही क्षणिक-ज्ञान प्रापक है। यद्यपि अनेक ज्ञान क्षणों से प्रवृत्ति होने पर अर्थप्राप्ति होती है तथापि दृश्यमान अर्थप्रदर्शकत्व ही ज्ञान की प्रापकता है,<sup>१४२</sup> अन्य नहीं। वह अर्थप्रदर्शकता प्रथम ज्ञान क्षण में सम्पन्न हो जाती है।

प्रदर्शित एवं प्रापकत्व लक्षण वाले प्रामाण्य के स्वीकार करने पर पीतशंख आदि को ग्रहण करने वाले ज्ञानों में प्रामाण्य की प्रसक्ति नहीं होती। पीतशंख आदि के ग्राहक ज्ञान प्रदर्शित अर्थ के प्रापक नहीं होते हैं। जिस देश, काल एवं आकार वाली वस्तु उन ज्ञानों के द्वारा प्रदर्शित होती है वैसे देश, काल एवं आकार वाली वस्तु प्राप्त नहीं होती है तथा जैसे देश, काल एवं आकार वाली वस्तु प्राप्त होती है, वैसी प्रदर्शित नहीं होती। देश, काल एवं आकार आदि के भेद से वस्तु का भेद निश्चित है। अतः पीतशंख आदि ज्ञानों में प्रदर्शित अर्थ की प्रापकता नहीं होने से वे अप्रमाण हैं। इसी प्रकार जलादि के प्रदर्शक ज्ञान में मरीचि आदि अन्य वस्तु की प्राप्ति देखी जाती है। यदि वहाँ प्रदर्शित अर्थ को प्रापक मानकर उसे प्रमाण समझा जाय तो कुछ भी अप्रमाण नहीं रहेगा।<sup>१४३</sup>

प्रत्यक्ष एवं अनुमान इन दोनों प्रमाणों के अतिरिक्त कोई ज्ञान नियत प्रदर्शित अर्थ का प्रापक नहीं होता। स्वलक्षण एवं सामान्य लक्षण में साधारण अनियत अर्थ असत्त्व होने से प्राप्त नहीं किया जा सकता। अतः प्रदर्शितार्थ प्रापक रूप में उसका कोई प्रामाण्य नहीं होता।<sup>१४४</sup> शब्दादि अनियतार्थ के प्रदर्शक होते हैं, क्योंकि वे साक्षात् अथवा परम्परा में प्रतिपाद्य अर्थ से उत्पन्न नहीं होते हैं।

इसलिए यह निश्चित हुआ कि जिसमें प्रापणशक्ति का स्वभाव है, वह अविस्वादाक है तथा वह प्रमाण है, अर्थ के अविनाभाव से उत्पन्न प्रमाण की प्रापणशक्ति का निश्चय निर्विकल्प के पश्चाद् भावी विकल्प द्वारा किया जाता है, क्योंकि जिस अर्थ से दर्शन या निर्विकल्पक प्रत्यक्ष उत्पन्न

१४१. तुलनीय—लोके च पूर्वमुपदर्शितार्थं प्रापयन् संवादक उच्यते। तद्विज्ञानमपि स्वयं प्रदर्शितमर्थं प्रापयत् संवादकमुच्यते।—न्यायबिन्दुटीका, १.१, पृ० १०

१४२. तुलनीय—प्रवर्तकत्वमपि प्रवृत्तिविषयप्रदर्शकत्वमेव।—न्यायबिन्दुटीका १.१, पृ० १०

१४३. तुलनीय—तस्मादन्याकारवस्तुग्राहि नाकारान्तरवति वस्तुनि प्रमाणम्। यथा पीतशंखग्राहि शुक्ले शंखे देशान्तरग्राहि च न देशान्तरस्थे प्रमाणम्।—कालान्तरयुक्तग्राहि च न कालान्तरवति वस्तुनि प्रमाणम्।—न्यायबिन्दुटीका १.१, पृ० १८

१४४. तुलनीय—आभ्यां प्रामाण्यमभ्येन च ज्ञानेन दर्शितोऽर्थः कश्चिदत्यन्तविपर्यस्तः, यथा मरीचिकासु जलम्। स चास्तवात् प्राप्नुमशक्यः कश्चिदनियतो भावाभावयोः यथा संशयार्थः, न च भावाभावाभ्यां युक्तोऽर्था जगत्वस्ति। ततः प्राप्नुमशक्यस्तादृशः।—न्यायबिन्दुटीका, १.१, पृ. १४

होता है उसका प्रमाता स्वानुरूप अवसाय को उत्पन्न करने के कारण अर्थ के अविनाभावित्व का निश्चय करता हुआ प्रापणशक्ति के निमित्त प्रामाण्य का स्वतः निश्चय करता है, अन्य ज्ञान की उसके निश्चय हेतु अपेक्षा नहीं करता। अविस्वादादकता को इसलिए प्रमाण-लक्षण कहा गया है।<sup>१४५</sup>

संक्षेप में कहें तो जिस ज्ञान की अर्थ-प्रदर्शकता में प्रापणशक्ति विद्यमान है वह ज्ञान प्रमाण है। प्रमाण नियत अर्थ का प्रदर्शक होता है। उसकी प्रदर्शकता ही प्रापकता है। वही उसकी अविस्वादादकता है। इस प्रकार अभयदेवसूरि ने बौद्धमत के प्रमाण में अर्थप्रापणशक्ति पर बल दिया है न कि उसकी अर्थप्रापकता पर, तथापि अर्थप्रदर्शकता से ही बौद्धमत में अर्थप्रापकता मान्य है।

**उत्तरपक्ष—धर्मोत्तर** का मतव्य है कि अर्थ की प्रदर्शकता ही उसकी प्रापकता है। अभयदेवसूरि ने इसका खण्डन करते हुए कहा है कि अर्थ का प्रदर्शकत्व ही उसका प्रापकत्व नहीं है, क्योंकि वस्तु के होने पर भी अर्थप्राप्ति हेतु प्रवृत्ति पुरुष की इच्छा के अधीन होती है। प्रदर्शकत्व के सद्भाव में भी "मैं इसके द्वारा प्रवर्तित किया गया हूँ" इस प्रकार प्रदर्शित अर्थ को ग्रहण करने की इच्छा के अभाव में प्रवृत्ति नहीं होती।<sup>१४६</sup>

अर्थप्रदर्शकता ही अर्थप्रापकता नहीं है। बौद्धों के द्वारा अभ्युपगत प्रदर्शितार्थ की प्रापकता ज्ञान में कहीं भी संभव नहीं है। अभयदेवसूरि कहते हैं कि अर्थप्रापकता तो बौद्धों के द्वारा संतान के आश्रय से परिकल्पित की जाती है, जबकि संतान ही संभव नहीं है। बौद्ध दर्शन में संतान की मान्यता पर प्रहार करते हुए अभयदेवसूरि कहते हैं कि संतान स्वरूप से सत् है अथवा सन्तानी (स्वलक्षण) रूप से? स्वरूप से तो संतान सत् है नहीं, क्योंकि संतानी के अभाव में उसका ग्रहण नहीं होता है। यदि संतानी के अभाव में उसका ग्रहण हो जाता है तो क्षणिकवाद पर आँच आती है। बौद्धमत में सामान्य को स्वीकार करने का भी कोई कारण नहीं रह जाता है। इसलिए संतान की स्वरूप से प्रवृत्त्यादि विषयता नहीं है। सन्तानी रूप से संतान के सत् मानने पर भी संतानी द्वारा ही प्रवृत्त्यादि विषयता होती है। संतानी (स्वलक्षण) से भिन्न संतान प्रवृत्त्यादि का विषय नहीं होता, तथा मुख्य बात यह है कि संतानियों की उत्पत्ति के अनन्तर उनका ध्वंस हो जाने के कारण उनको विषय करने वाले ज्ञान में प्रदर्शितार्थप्रापकता नहीं होती। क्योंकि उनके दृश्य एवं प्राप्य क्षणों में अत्यन्त भेद देखा जाता है।<sup>१४७</sup>

जिस बौद्ध दर्शन में देश, काल, आकार, आदि के भेद से, समान प्रतीयमान वस्तु का भी भेद, स्वीकार किया जाता है वहां स्वरूप से भिन्न पूर्व एवं उत्तर क्षणों में अभेद कैसे हो सकता है, जिससे

१४५. अभयदेवसूरि ने बौद्धमत के जिन वाक्यों को उद्धृत किया है, उनमें से अनेक धर्मोत्तर की न्यायबिन्दु टीका से मेल खाते हैं। द्रष्टव्य, उपर्युक्त पाद टिप्पण १३७-१४४। संभव है कि कुछ वाक्य धर्मोत्तर की प्रमाणविनिश्चयटीका से लिए हों, परन्तु सम्प्रति प्रमाणविनिश्चयटीका का संस्कृतमूल अनुपलब्ध है। अतः हम उससे मिलान नहीं कर सके।

१४६. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - क

१४७. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - क



ज्ञान में प्रदर्शित अर्थ की प्रापकता युक्तिसंगत हो।<sup>१४८</sup>

यदि बौद्ध कहें कि संवृति से संतान का स्वरूप सिद्ध है इसलिए अर्थप्रापकता में दोष नहीं है तथा संवृति या सांव्यावहारिक रूप से ही प्रमाण का लक्षण प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम् निरूपित किया गया है, तो अभयदेवसूरि के मत में यह बौद्ध कथन उपयुक्त नहीं है। अभयदेवसूरि कहते हैं कि यदि इस प्रकार लोक व्यवहार के अनुरोध से प्रमाण में प्रदर्शित अर्थ की प्रापकता स्वीकार की जाती है तो नित्यानित्य वस्तु के प्रदर्शक ज्ञान में अर्थ प्रापकता स्वीकार करनी चाहिए, क्योंकि लोक व्यवहार में तो वस्तु नित्यानित्यात्मक है<sup>१४९</sup>, एकान्ततः अनित्य अथवा क्षणिक नहीं। नित्यानित्यात्मक वस्तु के तथाभाव का खण्डन नहीं किया जा सकता, क्योंकि तब सन्तान विषय भी बाधित सिद्ध होता है।<sup>१५०</sup>

वस्तुतः बौद्धों के द्वारा अभिमत प्रत्यक्ष-प्रमाण में अध्यवसित अर्थ की प्रापकता संभव नहीं है, क्योंकि बौद्धों के अनुसार जो अर्थ प्रत्यक्ष से उपलब्ध होता है वही उसके द्वारा अध्यवसित होना चाहिए, किन्तु प्रत्यक्ष का ग्राह्यक्षण स्वलक्षण है तथा अध्यवसाय संतान का होता है, इसलिए प्रत्यक्ष से उपलब्ध अर्थ की प्रापकता सिद्ध नहीं है।

क्षणमात्र रहने वाले सन्तानियों के दृष्ट होने पर उनके पृष्ठभावी अध्यवसाय द्वारा संतान को अध्यवसाय का विषय मानना उचित नहीं है। इस प्रकार अन्यथाभूत वस्तु का ग्रहण करने वाले तत्त्व अन्यथाभूत वस्तु का अध्यवसाय करने वाले ज्ञान में प्रदर्शितार्थप्रापकता रूप प्रामाण्य कथमपि युक्त नहीं है। यदि दृश्यक्षण एवं प्राप्यक्षण के भिन्न-भिन्न होने पर भी उनमें सादृश्य के कारण अध्यवसाय माना जाता है तो शुक्तिका में रजत का अध्यवसाय करने वाले ज्ञान को भी प्रमाण मानना चाहिए, क्योंकि उसमें भी दृश्य एवं प्राप्य क्षण में सादृश्य का अध्यवसाय होता है।

यदि रजत के लिए प्रवृत्त हुए व्यक्ति को रजत प्राप्त नहीं होता है, इसलिए बौद्ध मत में भी प्रदर्शित अर्थ की प्रापकता नहीं है, तो उसी प्रकार सन्तान के अध्यवसित होने पर भी प्राप्ति क्षण की होती है अतः प्रत्यक्ष में भी प्रदर्शित अर्थ की प्रापकता नहीं है। यदि प्रत्यक्ष में संतान की प्राप्ति होती है तो उसे भी स्वलक्षण की भांति वस्तुसत् मानना चाहिए तथा इस प्रकार अक्षणिक वस्तु की सिद्धि होने के कारण सामान्यधर्मों को स्वरूप से असत् नहीं मानना चाहिए।<sup>१५१</sup>

बौद्ध कहते हैं कि प्रत्यक्ष द्वारा क्षणिक एवं अक्षणिक में साधारण अर्थ को विषय करने पर किसी भ्रमनिमित्त से अक्षणिकता का आरोप हो जाता है, तथापि प्रत्यक्ष अक्षणिक विषय में प्रमाण नहीं होता, उसमें विपरीत अध्यवसाय होने के कारण वह अप्रमाण होता है। क्षणिक अर्थ के विषय में भी अनुरूप

१४८. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - क

१४९. यहां अभयदेव सूरि ने जैन तत्वमीमांसा को लोकव्यवहार के लिए उपयोगी माना है।

१५०. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - क

१५१. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - क

अध्यवसाय नहीं करने पर प्रत्यक्ष का प्रामाण्य नहीं है, किन्तु नीलरूप अर्थ में तथाभूत निश्चय करने के कारण वह प्रमाण है।<sup>१५२</sup>

अभयदेव कहते हैं कि यह बौद्ध मान्यता विरोधी है। इसके अनुसार तो एक ही प्रत्यक्ष को क्षणिकत्व एवं अक्षणिकत्व के विषय में अप्रमाण स्वीकार कर लिया गया है तथा नीलादि अर्थ में उसका प्रामाण्य स्वीकार किया गया है। फलतः इस प्रकार बौद्धों ने जैनों की भांति अनेकान्तवाद को स्वीकार कर लिया है।<sup>१५३</sup>

क्षण को ग्रहण करने पर भी उससे विपरीत सन्तान का अध्यवसाय उत्पन्न होने से निर्विकल्पक का प्रामाण्य युक्त नहीं है, क्योंकि मरीचिका-स्वलक्षण का ग्रहण करने पर जल का अध्यवसाय देखा जाता है जो मिथ्या है। वस्तुतः 'जो मेरे द्वारा तत्त्वतः देखा गया है वही प्राप्त हुआ है' इस प्रकार के अध्यवसाय में ही ज्ञान का प्रामाण्य व्यवस्थापित होता है। दृष्ट क्षणिक सन्तानी (स्वलक्षण) से संतान की प्राप्ति नहीं होती है, क्योंकि वह असत् है। इस प्रकार धर्मोत्तर के मत का पर्यालोचन करने पर परमार्थतः प्रदर्शितार्थप्रापक ज्ञान का प्रामाण्य संभव नहीं है। फलतः बौद्ध मत में संवादकता को प्रमाण का लक्षण मानना अयुक्त है।<sup>१५४</sup>

अभयदेवसूरि ने इस प्रकार दृश्य एवं प्राप्य क्षण को नितान्त भिन्न बतलाकर, सन्तानी के अभाव में संतान को असत् सिद्ध करके, प्रदर्शित अर्थ के ज्ञान में प्रापकता को अनुपपन्न प्रतिपादित कर धर्मकीर्ति प्रणीत प्रमाणलक्षण को खण्डित किया है, तथा नित्यानित्यात्मक अर्थ को विषय करने वाले अविशंवादक ज्ञान की जैनमतानुसार सांख्यवहारिकता एवं प्रमाणता सिद्ध की है।

वादिदेवसूरि द्वारा बौद्ध प्रमाण-लक्षण का उपस्थापन एवं खण्डन—वादिदेवसूरि ने भी अभयदेवसूरि के समान बौद्ध पक्ष का उपस्थापन कर खण्डन किया है। वादिदेवसूरि के द्वारा बौद्ध पक्ष का उपस्थापन अभयदेवसूरि कृत उपस्थापन से वैशिष्ट्य रखता है। अतः यहाँ उसे प्रस्तुत किया जा रहा है। वादिदेवसूरि ने भी धर्मोत्तर की टीका का अवलम्बन लिया है। वादिदेवसूरि ने अविशंवादी ज्ञान को प्रमाण का लक्षण मानने का खण्डन करने के अनन्तर उसकी सांख्यवहारिकता का भी खण्डन किया है।

**पूर्वपक्ष—** बौद्ध "प्रमाणमविसंवादि विज्ञानम्" द्वारा अविशंवादक ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। अविशंवादकता का अर्थ है— अर्थप्रापकता। यह अर्थप्रापकता प्रत्यक्ष एवं अनुमान दोनों प्रमाणों में उपलब्ध है। अतः यही प्रमाण का सामान्य लक्षण है। प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा प्रदर्शित स्वलक्षण क्षण के क्षणिक होने से उसकी प्राप्ति नहीं होती, किन्तु उसके क्षणसन्तान की प्राप्ति होती है। सन्तान के अध्यवसाय

१५२. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - क

१५३. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - क

१५४. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - क

को उत्पन्न करना ही उसकी प्रापकता है। प्रत्यक्ष का विषय दो प्रकार का है—(१) ग्राह्य एवं (२) अध्यवसेय। ग्राह्य क्षण एक होता है तथा वह समस्त सजातीय एवं विजातीय क्षणों (वस्तुओं) से व्यावृत्त होता है। उसे स्वलक्षण के नाम से जाना जाता है। अर्थ की ग्राह्यता यही है कि वह स्वाकार ज्ञान को उत्पन्न करता है और ज्ञान की ग्राहकता भी यही है कि वह अर्थाकार होकर आत्मलाभ करता है। अध्यवसेय विषय क्षणसंतान होता है। बहुत से स्वलक्षणों के लक्षण से युक्त एवं उपादान तथा उपादेय भाव को प्राप्त अर्थ संतान कहलाता है। उसके अगृहीत होने पर भी अध्यवसेय होने से वह प्रवृत्ति का विषय बनता है। अध्यवसेय अर्थ की सन्तान-अपेक्षा से ही प्रत्यक्ष की प्रमाणव्यवस्था बनती है, अन्यथा स्वलक्षण तो प्रापक होने में असमर्थ है। इस प्रकार प्रत्यक्ष में सर्वत्र प्रामाण्य का व्यवस्थापन सन्तान के अध्यवसाय की अपेक्षा से होता है ग्राह्य की अपेक्षा से नहीं। सन्तान का अध्यवसाय करने रूप अविस्वादकता होने से प्रत्यक्ष को प्रमाण माना जाता है। फिर प्रश्न उठता है कि प्रत्यक्ष के निर्विकल्प होने से वह संतान का अध्यवसाय कैसे कर सकता है? बौद्ध इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि प्रत्यक्षजन्य विकल्प से सन्तान का अध्यवसाय होता है, किन्तु उसे प्रत्यक्ष से अध्यवसित कहा जाता है।

अनुमान का विषय सामान्यलक्षण है जो अपारमार्थिक है, अतः भ्रान्त है। तथापि उसके द्वारा मणिप्रभा से मणिबुद्धि के समान वस्तु की प्राप्ति होती है अतः अर्थप्रापकता से अनुमान भी प्रमाण है। उसके भी दो प्रकार के विषय हैं—(१) ग्राह्य एवं (२) अध्यवसेय। उनमें अध्यवसेय विषय स्वलक्षण है, क्योंकि अनुमान के उत्पन्न होने पर अध्यवसाय से अर्थ क्रिया कराने वाली प्रमाता की प्रवृत्ति स्वलक्षण में ही देखी जाती है। अनुमान का ग्राह्य विषय तो सामान्यलक्षण ही है। अब प्रश्न उठता है कि वह सामान्यलक्षण बाह्य पदार्थों के तादात्म्य से अध्यवसित होता है अथवा बुद्धयाकार होता है। बाह्य रूप से सामान्य है, अथवा भीतर ही उसका बाह्य रूप है। परमार्थ रूप से तो अनुमान का कोई विषय नहीं होता, क्योंकि स्वलक्षण तो उसका विषय है नहीं, क्योंकि उसका परिस्फुरण ही नहीं होता है। अनुमान का विषय बुद्धयाकार भी नहीं होता, क्योंकि बाहर उससे तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता। बाह्य पदार्थ अलीक हैं ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसके सर्वथा असंभव होने पर अर्थक्रिया सामर्थ्य से शून्यता प्राप्त होती है। अर्थात् जब बाह्य पदार्थ ही नहीं है तो अर्थक्रिया की प्रापक, कैसी? जैसे हाथी के लिए सिंह के बालों की कल्पना व्यर्थ है उसी प्रकार अनुमान भी तब निर्वि र हो जायेगा, उसका कोई विषय नहीं रहेगा। अनुमान-प्रमाण भ्रान्त भी है, क्योंकि वह स्वरूप से अनर्थ में अर्थ का अध्यवसाय करने हेतु प्रवृत्त होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो अनुमान स्वरूप से प्रतीत अनर्थ रूप सामान्यलक्षण में स्वलक्षणरूपता का आरोप करके प्रवृत्त होता है अतः वह भ्रान्त है; फिर भी स्वभाव, कार्य, लिङ्गादि के दर्शन से उत्पन्न होने के कारण वह परम्परा से स्वभाव एवं कारण में प्रतिबद्ध होता है। इसलिए अर्थ का प्रापक होता है। अर्थ का प्रापक होने से अविस्वादक होता

है, और अविस्वादाक होने से प्रमाण होता है। इसीलिए कहा गया है—“अतस्मिस्तद्ग्रहो भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमा” अर्थात् जो जैसा नहीं है, उसमें वैसी वस्तु का ग्रहण करना भ्रान्ति है एवं वह भ्रान्ति भी सम्बन्ध से (स्वलक्षण सम्बन्ध से) प्रमा होती है।

अनुमान के अतिरिक्त अन्य विकल्पों से नियत अर्थ का अविनाभाव सम्बन्ध नहीं होता, फलतः वे विकल्प अर्थप्रापक नहीं होते और अर्थप्रापक नहीं होने से अविस्वादाक नहीं होते और अविस्वादाक नहीं होने से प्रमाण नहीं होते।

प्रमाण यथा-अध्यवसित अर्थ का प्रापक होता है। अतः पीतशंख आदि के ग्राहक ज्ञान में शंखमात्र आदि की प्राप्ति होने पर भी उस ज्ञान का प्रामाण्य नहीं है, क्योंकि जैसा अध्यवसाय किया गया वैसा पीत शंख प्राप्त नहीं हुआ। शंख तो प्राप्त हुआ, किन्तु पीत शंख प्राप्त नहीं हुआ। पीतशंख का अध्यवसाय होने पर पीत शंख प्राप्त होना चाहिए। यदि पीतशंख का अध्यवसाय होने पर श्वेत शंख प्राप्त होता है तो वह ज्ञान अप्रमाण समझा जायेगा, क्योंकि वह अर्थाविस्वादाक नहीं है। अतः यथाध्यवसित अर्थ का प्रापक अविस्वादादी ज्ञान प्रमाण है।<sup>१५५</sup>

**उत्तरपक्ष—वादिदेवसूरि** ने बौद्ध प्रमाणलक्षण का खण्डन प्रस्तुत करते हुए प्रतिज्ञा की है कि बौद्धों ने जो अध्यवसित वस्तु के प्रापक अविस्वादादी ज्ञान को प्रमाण सामान्य का लक्षण कहा है, वह घटित नहीं होता है।

बौद्ध शासन में अध्यवसाय का विषय वस्तु को न मानकर अवस्तु को माना गया है और जो अवस्तु है उसकी प्राप्ति संभव है। कथन भी है—“यथाध्यवसायमतत्त्वात् यथातत्त्वं चानध्यवसायात्” अर्थात् अध्यवसाय के अनुसार तत्त्व नहीं होता एवं तत्त्व के अनुसार अध्यवसाय नहीं होता। ऐसी स्थिति में मूलभूत वस्तु की प्राप्ति अंधकंठकीय न्याय का अनुसरण करती है। ऐसा प्रमाणान्तर से भी नहीं देखा गया कि वह यथाध्यवसित की प्राप्ति कराता हो। यदि बौद्ध कहें कि सन्तान की प्राप्ति से स्वलक्षण वस्तु की प्राप्ति हो जाती है तो यह कथन भी समुचित नहीं है, क्योंकि क्षणिक क्षण की परम्परा से पृथग्भूत पारमार्थिक सन्तान को बौद्धों ने स्वीकार ही नहीं किया है।

बौद्धों ने सन्तान के अपारमार्थिक होने पर भी संव्यवहार की महत्ता से इस प्रमाणलक्षण के निर्वाह का प्रयास किया है। बौद्ध कहते हैं कि यह प्रमाण का लक्षण सांव्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। परमार्थतः तो अनादि अविद्या की वासना से ग्राह्य-ग्राहकादि भेद प्रपंच का आरोप होता है अन्यथा यह सब विज्ञान मात्र है। इसमें क्या प्राप्त होता है और क्या प्राप्त कराना है? अर्थात् कुछ नहीं। वस्तुतः ज्ञान में ही अविद्या वासना के कारण ग्राह्य-ग्राहकादि भाव प्रकट होते हैं।

१५५. (१) द्रष्टव्य, परिशिष्ट - क

(२) वादिदेवसूरि द्वारा बौद्धमत का उपस्थापन प्रायः धर्मोत्तर की न्यायबिन्दु टीका से मेल खाता है। द्रष्टव्य, न्यायबिन्दुटीका के प्रत्यक्षपरिच्छेद में विशेषतः १, ३ एवं ११ वें सूत्र की टीका।

वादिदेवसूरि बौद्ध मत का परिहार करते हुए कहते हैं कि यह तो विज्ञानवाद के सिद्धान्त की घोषणामात्र है, प्राकरणिक प्रसंग का समर्थन नहीं। वस्तुतः बौद्धों के द्वारा सांवृति प्रतीति को प्रमाण कहना हास्यास्पद है। जो संवृति विचार गोचर नहीं होती है उससे प्रमाण के लक्षण का निर्वाह करना महान् कैतव्य है। ब्राह्म-प्राहकादि का व्यवहार भी अनादि अविद्या की वासना-निर्मित नहीं है, अपितु तात्त्विक है, वास्तविक है।<sup>१५६</sup> यदि बौद्धों में विज्ञान मात्र को सत् नहीं मानने वालों के द्वारा सांवृति संतान की कल्पना की जाती है, तब तो उन्हें नैयायिकादि द्वारा सम्मत जाति, अवयवी, समवाय आदि को भी सांवृति सत् मान लेना चाहिए। यदि वृत्ति, विकल्प आदि बाधकों के कारण जाति, समवाय आदि की सत्यता नहीं रहती है तो उसी प्रकार भेद आदि विकल्पों से सन्तान भी बाधित होता है। उसका भी अध्वसाय करके प्रमाण के अविश्ववादी लक्षण का निर्वाह नहीं किया जा सकता।<sup>१५७</sup>

धर्मकीर्ति "प्रामाण्यं व्यवहारेण"<sup>१५८</sup> द्वारा तथा प्रज्ञाकरगुप्त "सांख्यवहारिकस्य चैतत् प्रमाणस्य लक्षणम्"<sup>१५९</sup> कथन द्वारा "प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्" लक्षण को सांख्यवहारिक प्रतिपादित करते हैं। वादिदेवसूरि ने इसका निरसन किया है। वे सांख्यवहारिकता को कल्पित नहीं वास्तविक मानते हैं। उन्होंने प्रमाण को पारमार्थिक माना है, क्योंकि उनकी दृष्टि में जगत् पारमार्थिक है।

वादिदेवसूरि ने प्रमाण के सांख्यवहारिक होने पर अनेक प्रश्न खड़े किए हैं। वे कहते हैं कि यदि संवृति या सांख्यवहार से प्रमाण का लक्ष्यलक्षण भाव सिद्ध है तो वह संवृति क्या है? उपचार को यदि संवृति कहा जाता है तो कोई मुख्य लक्ष्यलक्षण भाव भी होना चाहिए क्योंकि मुख्य की सत्ता के बिना उपचार की प्रवृत्ति नहीं होती है। विचार से अनुपपद्यमान विकल्प बुद्धि यदि संवृति है तो उससे लक्ष्यलक्षण भाव नहीं बन सकता। यदि उसमें लक्ष्यलक्षणभाव का अवभासन होता है, इसलिए बौद्ध (बुद्धधारूढ) रूप से लक्ष्यलक्षणभाव सिद्ध होता है तो अबौद्ध रूप में सिद्ध क्यों नहीं होता? यदि अबौद्ध रूप विकल्प से बहिर्भूत है इसलिए वह असंभव है, तो यह कहना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि अबौद्ध रूप बाह्य जगत् को माने बिना विकल्प का विषय क्या होगा? समस्त विकल्पों का विषय असंभव या वितथ नहीं है। प्रत्यक्ष के विषय के समान विकल्प का विषय भी संभव है। यदि मनोराज्यादि विकल्प के समान समस्त विकल्प असंभव हैं तो वैसे ही केशोण्डुक प्रत्यक्ष की भांति समस्त प्रत्यक्ष असंभव हो जाएंगे। यदि प्रत्यक्षाभास का विषय असंभव है, प्रत्यक्ष का नहीं तो इसी प्रकार विकल्पाभास का विषय असंभव होता है, विकल्प का नहीं। यदि यह प्रश्न उठे कि कौनसा विकल्प सत्य है? तो यह भी प्रश्न है कि कौनसा प्रत्यक्ष सत्य है? जिससे अर्थक्रिया में प्रवृत्त हुआ व्यक्ति विश्वादा को प्राप्त नहीं करता है, यदि वह सम्यक् प्रत्यक्ष है तो जिस विकल्प से अर्थ को

१५६. वादिदेवसूरि ने बौद्ध दर्शन सम्मत विज्ञानवाद का विस्तृत खण्डन किया है। द्रष्टव्य, स्याद्वादरत्नाकर, पृ. १४८-१७२

१५७. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - क

१५८. प्रमाणवार्तिक, १.७

१५९. प्रमाणवार्तिकभाष्य, १.१

ज्ञानकर प्रवृत्त हुआ व्यक्ति अर्थक्रिया में विसंवाद को प्राप्त नहीं करता है वह विकल्प भी सत्य है। इस प्रकार दोनों में साम्य है।

प्रत्यक्ष का विषय जिस प्रकार सत् माना गया है उस प्रकार रूप अनुमानादि प्रमाणों का विषय भी सत् या पारमार्थिक है। प्रत्यक्ष द्वारा भी सामान्य रूपादि का ही ग्रहण होता है स्वलक्षण परमाणुओं का नहीं। इसलिए यह बाह्य जगत् मात्र सांख्यवहारिक नहीं, अपितु वास्तविक है। जिस प्रकार वृक्षादि का विशेष रूप अपनी अर्थक्रिया का संपादन करता है उसी प्रकार वृक्षादि का सामान्य रूप भी अर्थक्रिया का संपादन करता है। ज्ञाता के परितोष रूप अर्थक्रिया सामान्य में भी है। स्वविषय के ज्ञान को उत्पन्न करना रूप अर्थक्रिया भी सामान्य में है। यदि सजातीय अर्थ को उत्पन्न करना अर्थक्रिया है तो वह भी विसदृश परिणाम की भांति सामान्य (सदृशपरिणाम) में है। बौद्ध कहते हैं कि विसदृश परिणाम वाले बालपादप से विसदृश परिणाम वाला ही तरुण पादप प्रकट होता हुआ उपलब्ध होता है, तो जिस प्रकार विसदृश परिणाम विशेष से विसदृश परिणाम विशेष प्रकट होता है उसी प्रकार सदृश परिणाम वाले सामान्य से सदृश परिणाम सामान्य प्रकट होता है। सामान्य से सजातीय अर्थों को उत्पन्न करने रूप अर्थक्रिया होती है। इसलिए विशेष (स्वलक्षण) के समान सामान्य (सामान्य लक्षण) भी वास्तविक है, वस्तु रूप है, और उस वस्तु में प्रवर्तमान विकल्प वस्तु का अवभासन करता है। वह भी प्रत्यक्ष की भांति संवादक होने से अनुपप्लव है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि विकल्प से किया जाने वाला लक्ष्यलक्षणभाव केवल बुद्धि से आरूढ या काल्पनिक नहीं, अर्थात् सांवृत नहीं है, अपितु पारमार्थिक है।<sup>१६०</sup>

**हेमचन्द्र** - आचार्य हेमचन्द्र ने भी बौद्ध प्रमाण-लक्षण में दोषोद्भावन किया है तथा निर्णयात्मक ज्ञान को प्रमाण मानने पर बल दिया है।

बौद्ध एक ओर अविश्ववादी ज्ञान को प्रमाण बतलाकर उसे सांख्यवहारिक प्रमाण का लक्षण प्रतिपादित करते हैं तो दूसरी ओर निर्विकल्पक ज्ञान को प्रमाण कहते हैं, किन्तु निर्विकल्पक ज्ञान संख्यवहार को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता है, अतः उसको प्रमाण कैसे कहा जा सकता है? यदि निर्विकल्पक ज्ञान के पश्चात् उत्पन्न होने वाला विकल्प संख्यवहार को उत्पन्न करने में समर्थ होता है इसलिए निर्विकल्पक ज्ञान प्रमाणभूत है, तो यह बौद्धों के द्वारा मात्र याचतिकमण्डन-न्याय का अनुसरण है। इससे अच्छा तो यह है कि संख्यवहार के कारणभूत विकल्पज्ञान का ही प्रामाण्य स्वीकर कर लें। विकल्प ज्ञान या निर्णयात्मक ज्ञान को प्रमाण मान लेने पर परम्परापरिश्रम का भी परिहार हो सकेगा। यदि बौद्ध मत में विकल्पज्ञान का प्रामाण्य नहीं है तो उसके कारण होने वाला व्यवहार अविश्ववादी कैसे होगा? दृश्य एवं विकल्प्य क्षणों में एकत्व का अध्यवसाय करने से यदि संवादित्व स्वीकार किया जाता है तो यह संवादित्व तिमिररोग से ग्रस्त पुरुष के ज्ञान की भांति वास्तविक नहीं है, अपितु

उपचरित है। इसलिए अनुपचरित अविस्वादित्व को प्रमाण का लक्षण मानना अभीष्ट हो तो सम्यगर्थ निर्णय को प्रमाण मानना चाहिए।<sup>१६१</sup>

### समीक्षण

जैन दार्शनिकों ने बौद्धों के 'प्रमाणमविसंवादिज्ञानम्' प्रमाणलक्षण का खण्डन करते हुए उसे बौद्ध तत्त्वमीमांसा में भी अनुचित ठहराया है। अकलङ्क, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, वादिदेवसूरि आदि सारे जैन दार्शनिकों ने यद्यपि बौद्धों के प्रभाव से ही प्रमाण को अविस्वादक माना है, किन्तु वे अविस्वादकता को निश्चयात्मकता में फलित करते हैं तथा अविस्वादकता का विषय सामान्यविशेषात्मक अथवा नित्यानित्यात्मक अर्थ को मानते हैं। बौद्धों की क्षणिकवादी तत्त्वमीमांसा में दृश्य एवं प्राप्यक्षण के अत्यन्त भिन्न होने के कारण उसमें प्रमाण की अविस्वादकता सिद्ध नहीं है। अविस्वादकता का अर्थ है-प्रदर्शित अर्थ की प्रापकता। अर्थात् जिस अर्थ का ज्ञान हुआ है वह वैसा ही प्राप्त हो तो ज्ञान की अविस्वादकता सुरक्षित रहती है, यदि जैसे अर्थ का ज्ञान हुआ, वैसे वह प्राप्त न हो तो ज्ञान विस्वादक कहलाता है। जैन दार्शनिक कहते हैं कि बौद्ध तत्त्वमीमांसा में जो अर्थ दृष्ट होता है, वह क्षणिक होने के कारण उत्तर क्षण में नष्ट हो जाता है, अतः वह दृष्ट अर्थ प्राप्त नहीं होता, कोई अन्य ही अर्थ प्राप्त होता है। इसलिए बौद्ध तत्त्वमीमांसा में प्रमाण का अविस्वादक होना सिद्ध नहीं होता है।

वस्तुतः बौद्ध दार्शनिक प्रमाण को सांख्यवहारिक दृष्टि से अविस्वादी मानते हैं, पारमार्थिक दृष्टि से नहीं। जैन दार्शनिकों ने जो खण्डन किया है, वह बौद्धों की पारमार्थिक दृष्टि से किया है। जैन दार्शनिकों के अनुसार प्रमाण की अविस्वादकता पारमार्थिक दृष्टि से होनी चाहिए, तभी अविस्वादक ज्ञान को प्रमाण का सामान्य लक्षण निरूपित किया जा सकता है। प्रमाण का यह सांख्यवहारिक लक्षण बौद्धों के अनुमानप्रमाण में ही घटित हो पाता है, प्रत्यक्ष-प्रमाण में नहीं। वस्तुतः प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक मानकर उसमें अविस्वादकता सिद्ध नहीं की जा सकती। यदि सांख्यवहारिक दृष्टि से संतान का अध्यवसाय मानकर अविस्वादकता सिद्ध की जाती है तो प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक नहीं कहा जा सकता। वह सांख्यवहारिक दृष्टि से कथञ्चित् सविकल्पक सिद्ध होता है। प्रमाण का सविकल्पक एवं व्यवसायात्मक होना जैन दार्शनिकों को इष्ट है, क्योंकि अविस्वादकता को उसी में फलित किया जा सकता है, निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में नहीं। अनुमान को बौद्ध दार्शनिकों ने सांख्यवहारिक दृष्टि से ही प्रमाण स्वीकार किया है, क्योंकि पारमार्थिक दृष्टि से वह भ्रान्त ज्ञान है। भ्रान्त होने के कारण जैनदार्शनिक बौद्ध कल्पित अनुमानप्रमाण में भी परमार्थतः अविस्वादकता स्वीकार नहीं करते। अनुमानप्रमाण प्रत्यक्षपूर्वक होता है, क्योंकि लिङ्गनिश्चय प्रत्यक्षजन्य विकल्प से होता है। प्रत्यक्ष में जब तक संवादकता सिद्ध नहीं होती तब तक अनुमान-प्रमाण में भी ज्ञान को संवादक नहीं माना जा सकता।

जैन दार्शनिक प्रमेय अर्थ को नित्यानित्यात्मक मानते हैं, सर्वथा नित्य एवं सर्वथा अनित्य नहीं। उनके मत में पर्याय की दृष्टि से अर्थ अनित्य है, एवं द्रव्य दृष्टि से नित्य। अतः प्रमाण का अविश्वसनीयता होना अनेकान्तवाद के अनुसार जैनमत में भी कथञ्चित् ही सिद्ध किया जा सकता है, सर्वथा नहीं। दूसरे शब्दों में व्यावहारिक दृष्टि से ही जैनमत में प्रमाण अविश्वसनीयता होता है, परमार्थतः नहीं। किन्तु जैन दार्शनिकों द्वारा प्रमाण को सविकल्पक, व्यवसायात्मक एवं संव्यवहार के लिए उपयोगी मानने के कारण संवादकतागत वे दोष नहीं आते जो बौद्ध दार्शनिकों द्वारा मान्य निर्विकल्पक प्रत्यक्ष एवं भ्रान्तज्ञान रूप अनुमान- प्रमाण में आते हैं।

### तृतीय लक्षण का परीक्षण

तृतीय प्रमाण-लक्षण अर्थसारूप्य का जैन दार्शनिकों ने सबल खण्ड किया है, क्योंकि उनके अनुसार ज्ञान में अर्थाकारता का होना संभव नहीं है। इस खण्डन की चर्चा षष्ठ अध्याय में प्रमाण के फल का निरूपण करते समय की गयी है।<sup>१६२</sup>

## प्रामाण्यवाद

बौद्ध एवं जैन दर्शन प्रमाण के प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य के निश्चय को अभ्यास दशा में स्वतः तथा अनभ्यास दशा में परतः स्वीकार करने में एकमत हैं।

प्रमाणभूत ज्ञान का प्रमेय से अव्यभिचरित होना प्रमाण का प्रामाण्य है तथा प्रमेय से व्यभिचरित होना उसका अप्रामाण्य है।<sup>१६३</sup> दूसरे शब्दों में कहें तो प्रमाण की अर्थ से अविश्वसनीयता ही उसका प्रामाण्य है एवं अर्थ से विश्वसनीयता होना उसका अप्रामाण्य है।<sup>१६४</sup>

प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य को लेकर भारतीय दर्शन में गहन विचार हुआ है। मीमांसा दार्शनिक प्रमाण में प्रामाण्य का ज्ञान स्वतः एवं अप्रामाण्य का ज्ञान परतः मानते हैं।<sup>१६५</sup> न्याय दार्शनिक प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों का ज्ञान परतः मानते हैं। जिस ज्ञान से प्रमेय ज्ञात हुआ है उससे ही यदि ज्ञान का प्रामाण्य ज्ञात होता है तो उसे स्वतः प्रामाण्य कहा गया है एवं उसके प्रामाण्य का ज्ञान करने के लिए यदि अन्य ज्ञान या अर्थ की अपेक्षा होती है तो उसे परतः प्रामाण्य कहा गया है।

जैन एवं बौद्ध दार्शनिक इस बात पर एकमत हैं कि अभ्यासदशा में प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य का ज्ञान स्वतः होता है तथा अनभ्यासदशा में परतः होता है। यद्यपि सर्वदर्शनसङ्ग्रह एवं बुद्धिस्ट लॉजिक में बौद्धों के एक भिन्न मत का उल्लेख किया गया है,<sup>१६६</sup> जिसके अनुसार प्रामाण्य का ज्ञान परतः एवं

१६२. द्रष्टव्य, षष्ठ अध्याय में प्रमाण की अर्थाकारता का खण्डन, पृ. ३६८-३७८

१६३. ज्ञानस्य प्रमेयाव्यभिचारित्वं प्रामाण्यम् । तदितरत्वप्रामाण्यम् ।—वादिदेवसूरी, प्रमाणनयतत्त्वालोक, १.१८

१६४. वस्तुसंवादः प्रामाण्यमभिधीयते ।—तत्त्वसंग्रह, २९५८

१६५. स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम् ।

न हि स्वतो ऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते ॥—श्लोकवार्तिक, चोदनासूत्र, श्लोक ३७

१६६. (१) सर्वदर्शनसङ्ग्रह, पृ० २७९ (सौगतांश्वरं स्वतः) (२) श्चेरवात्स्की, Buddhist Logic, Vol. I, p. 66



अप्रामाण्य का ज्ञान स्वतः होता है, किन्तु बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित एवं कमलशील ने स्पष्टरूपेण प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य को स्वतः एवं परतः दोनों प्रकार का घोषित किया है।<sup>१६७</sup> कमलशील ने मीमांसकों द्वारा उपस्थापित प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य के चार विकल्पों का निर्देश दिया है।<sup>१६८</sup> (१) प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों का स्वतः होना (२) प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों का परतः होना (३) प्रामाण्य का परतः एवं अप्रामाण्य का स्वतः होना तथा (४) प्रामाण्य का स्वतः एवं अप्रामाण्य का परतः होना। मीमांसकों ने इनमें से चौथा विकल्प अपनाया है, किन्तु कमलशील बौद्ध प्रामाण्यवाद का निर्देश करते हुए कहते हैं कि इनमें से हमें कोई भी विकल्प अभीष्ट नहीं है। हमारे अनुसार तो प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों कहीं स्वतः एवं कहीं परतः हो सकते हैं, अतः हमें इनका अनियम पक्ष अभीष्ट है।<sup>१६९</sup> अनियमपक्ष का अभिप्रायः संभवतः अभ्यास दशा में प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों का स्वतः तथा अनभ्यासदशा में दोनों का परतः होना है।

धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्ष का कल्पनापोढ लक्षण निर्दिष्ट करते समय प्रत्यक्ष की सिद्धि किसी अन्य प्रमाण में नहीं, अपितु प्रत्यक्ष से ही स्वीकार की है<sup>१७०</sup>, किन्तु कदाचित् ऐसा भी हो सकता है कि प्रत्यक्ष से अर्थक्रिया का ज्ञान न हो या समारोप हो तो उसका अनुमान के द्वारा या अर्थक्रिया ज्ञान के द्वारा निश्चय किया जाता है।<sup>१७१</sup> सारांश यह है कि अर्थक्रिया के अनुरोध से ही प्रमाण का प्रामाण्य निश्चित होता है,<sup>१७२</sup> चाहे वह स्वतः हो या परतः।

बौद्ध प्रामाण्यवाद का स्पष्ट संकेत हमें प्रमाणवार्तिक की मनोरथनन्दी द्वारा की गयी वृत्ति में मिलता है। मनोरथनन्दी कहते हैं कि अर्थक्रियावभासक प्रत्यक्ष स्वतः अर्थक्रियानुभवात्मक होता है इसलिए उसमें प्रामाण्य की सिद्धि करने के लिए अन्य अर्थक्रिया की अपेक्षा नहीं होती है इसलिए वह स्वतः प्रमाण है। इसमें अर्थक्रिया की परम्परा का अनुसरण करने वाला अनवस्था दोष भी नहीं आता है तथा जहां अनभ्यास दशा में सन्दिग्धप्रामाण्य होता है वहां उत्पत्ति में उसके अर्थक्रिया ज्ञान से अथवा अनुमान से प्रामाण्य का निश्चय किया जाता है।<sup>१७३</sup> इस प्रकार प्रामाण्य स्वतः एवं परतः दोनों प्रकार से उपपन्न है।

१६७. तत्त्वसंग्रह, २९६०-२९६१ एवं पञ्जिका।

१६८. तत्त्वसङ्ग्रहपञ्जिका, २८१०-११, पृ० ९०३।

१६९. न हि बौद्धैरेषां चतुर्णामेकतमोपि पक्षोऽभीष्टः, अनियमपक्षस्येष्टत्वात्। तथाहि उभयमप्येतत्किञ्चित् स्वतः, किञ्चित् परत इति।—तत्त्वसङ्ग्रहपञ्जिका, ३१२२ पृ० ९८१।

१७०. (१) प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिध्यति।—प्रमाणवार्तिक, २.१२३

(२) स्वरूपस्य स्वतो गतिः।—प्रमाणवार्तिक, १.६

१७१. प्रामाण्यं व्यवहारेण।—प्रमाणवार्तिक, १.७

१७२. अर्थक्रियानुरोधेन प्रमाणत्वं व्यवस्थितम्।—प्रमाणवार्तिक, २.५८

१७३. अर्थक्रियानिर्भासं तु प्रत्यक्षं स्वतः एवार्थक्रियानुभवात्मकम्, न तत्र परार्थक्रियापेक्ष्यत इति तदपि स्वतो निश्चितप्रामाण्यम्। अत एवार्थक्रियापरम्परानुसरणादनवस्थादोषोऽपि दुःस्थ एव। यत्त्वनभ्यस्तदशायां सन्दिग्धप्रामाण्यम्, उत्यत्तो तस्यार्थक्रियाज्ञानाद् अनुमानाद्वा प्रामाण्यं निश्चीयते।—प्रमाणवार्तिक, १.३, पृ० ४

जैन दार्शनिकों ने प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य की उत्पत्ति एवं उनकी ज्ञप्ति पर पृथक् रूपेण विचार किया है। वादिदेवसूरि ने प्रतिपादित किया है कि प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों की उत्पत्ति परतः होती है तथा ज्ञप्ति अभ्यासदशा में स्वतः एवं अनभ्यासदशा में परतः होती है।<sup>१७४</sup> जैन दार्शनिक कहते हैं कि जिस प्रकार ज्ञान के निमित्त इन्द्रियादि के दोष के कारण ज्ञान में अप्रामाण्य उत्पन्न होता है उसी प्रकार इन्द्रियादि के निर्दुष्ट होने पर ज्ञान में प्रामाण्य भी उत्पन्न होता है।<sup>१७५</sup> ज्ञान के प्रामाण्य या अप्रामाण्य की परीक्षा प्रमेय के आश्रित होती है। ज्ञान में ऐसी कोई विशेषता नहीं है कि उसमें बिना इन्द्रियादि बाह्य कारणों के अप्रामाण्य उत्पन्न हो सके।<sup>१७६</sup> दो चन्द्रमाओं के दिखाई देने रूप अप्रामाण्य जिस प्रकार चक्षु इन्द्रिय के दोष से होता है उसी प्रकार चक्षु इन्द्रिय के निर्दोष या निर्मल होने पर एकचन्द्रज्ञान में प्रामाण्य भी उत्पन्न हो सकता है।<sup>१७७</sup>

वादिदेवसूरि के पूर्व माणिक्यनन्दी ने भी प्रामाण्य के निश्चय को स्वतः एवं परतः बतलाया है।<sup>१७८</sup> प्रभाचन्द्र ने स्पष्ट किया है कि अभ्यास दशा में ज्ञान का प्रामाण्य ज्ञात करने के लिए किसी भिन्न ज्ञान या वस्तु की आवश्यकता नहीं होती, अभ्यास के कारण हम उसी ज्ञान से प्रमेय का अव्यभिचरित ज्ञान कर लेते हैं तथा अनभ्यस्त दशा में या संशयादि की स्थिति में ज्ञान का प्रामाण्य जानने के लिए किसी भिन्न ज्ञान या अर्थक्रिया संवाद का आश्रय लेना पड़ता है।<sup>१७९</sup> हेमचन्द्राचार्य ने भी ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः एवं परतः दोनों प्रकार से उपपन्न बतलाया है।<sup>१८०</sup>

जैन दर्शन में वादिदेवसूरि कृत प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य की उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति के सिद्धान्त को सर्वाधिक आदर मिला है। पं. सुखलाल संघवी ने भी वादिदेवसूरि कृत स्थापन को पूर्णतया जैनपरम्परा का द्योतक बतलाया है।<sup>१८१</sup> किन्तु डा. सागरमल जैन प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य की उत्पत्ति को एकान्ततः परतः मानना उचित नहीं समझते हैं। सागरमल जैन लिखते हैं कि “वे सभी ज्ञान जिनका ज्ञेय ज्ञान से भिन्न नहीं हैं, उनके प्रामाण्य की उत्पत्ति स्वतः ही होती है।”<sup>१८२</sup> प्रामाण्य के निश्चय के संदर्भ में भी वे लिखते हैं कि सकलज्ञान, पूर्णज्ञान और आत्मगतज्ञान में ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय स्वतः होगा,

१७४. तदुभयमुत्तौ परत एव ज्ञप्तौ तु स्वतः परतश्चेति ।—प्रमाणवार्तिक (म.न.), १.२१

१७५. द्रष्टव्य (१) प्रभाचन्द्र कृत स्वतः प्रामाण्य परीक्षा, प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग—१, पृ० ४३६

(२) स्याद्वादरत्नाकर, पृ० २४०-२४२ ।

१७६ स्वस्मिन् व्यभिचारित्वासम्भवात् । तेन सर्वं ज्ञानं स्वापेक्षया प्रामाण्यमेव न प्रामाणापासः ।— स्याद्वादरत्नाकर, पृ० २४०.८

१७७. यथैव ह्यप्रामाण्यलक्षणं विशिष्टं कार्यं काचकामलादिदोषलक्षणविशिष्टेभ्यश्चक्षुरादिभ्यो जायते तथा प्रामाण्यमपि गुणविशेषणविशिष्टेभ्यो विशेषाभावात् ।—प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग—१, पृ० ४०९ ।

१७८. तत्रामाण्यं स्वतः परतश्चेति ।—परीक्षामुख, १.१३

१७९. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग—१, पृ० ४५०

१८०. प्रमाणमीमांसा, १.१.८ एवं वृत्ति ।

१८१. प्रमाणमीमांसा, भाषाटिप्पण, पृ० १७

१८२. जैनभाषादर्शन, पृ० ८८.६

जबकि विकलज्ञान, अपूर्णज्ञान, नयज्ञान और वस्तुगत ज्ञान में उसका निश्चय परतः होगा। पारमार्थिक प्रत्यक्ष के द्वारा होने वाले ज्ञान में उसके प्रामाण्य का बोध स्वतः होगा जबकि व्यावहारिक प्रत्यक्ष और अनुमानादि में प्रामाण्य का बोध स्वतः और परतः दोनों प्रकार से सम्भव है।<sup>१८३</sup> सागरमल जैन के कथन से प्रतीत होता है कि वादिदेवसूरि ने ज्ञान में प्रामाण्य या अप्रामाण्य की उत्पत्ति का निरूपण बाह्य प्रमेय की दृष्टि से किया है, आत्मगत ज्ञान की दृष्टि से नहीं। ज्ञप्ति का प्रतिपादन भी अभ्यास एवं अनभ्यासदशा के आधार पर सामान्य लोक-व्यवहार के आश्रित किया गया प्रतीत होता है।

जो भी हो, बौद्ध एवं जैन दार्शनिकों ने मीमांसकों के स्वतः प्रामाण्यवाद का जमकर खण्डन किया है तथा एकान्ततः परतः प्रामाण्यवाद का भी यथावसर प्रतिषेध किया है। दोनों सम्प्रदायों के दार्शनिकों ने स्वतः एवं परतः दोनों प्रकार से प्रामाण्यवाद का निश्चय स्वीकार किया है। अतः बौद्ध एवं जैन प्रामाण्यवाद में विरोध नहीं है। यही कारण है कि किसी भी जैन दार्शनिक ने बौद्ध प्रामाण्यवाद को अपनी आलोचना का विषय नहीं बनाया है तथा बौद्ध दार्शनिकों ने भी जैन प्रामाण्यवाद का खण्डन नहीं किया है। ■

१८३. जैनभाषादर्शन, पृ० ८८.२०-२४

## तृतीय अध्याय प्रत्यक्ष-प्रमाण

प्रत्यक्ष-प्रमाण को प्रमाणवादी समस्त दार्शनिक स्वीकार करते हैं। प्रमाण को अस्वीकार करने वाले नागार्जुन, श्रीहर्ष, जयराशिभट्ट आदि कुछ दार्शनिकों के अतिरिक्त न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, बौद्ध, सांख्य, चार्वाक आदि सभी भारतीय दर्शन-प्रस्थान प्रत्यक्ष-प्रमाण का प्रतिपादन करते हैं। प्रत्यक्ष को प्रमाण रूप में स्वीकार करते हुए भी उनमें उसके स्वरूप को लेकर मतभेद रहा है। सांख्य, न्याय, मीमांसा आदि दर्शनों ने ऐन्द्रियक ज्ञान को अथवा इन्द्रियों को प्रत्यक्ष प्रमाण की श्रेणी में रखा है, जबकि बौद्ध एवं जैन दार्शनिक ऐन्द्रियक एवं अतीन्द्रिय दोनों प्रकार के ज्ञानों को प्रत्यक्ष-प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। वे प्रमाण को ज्ञानात्मक मानने के कारण इन्द्रिय एवं उसके पदार्थ के साथ हुए सन्निकर्ष को प्रमाण की कोटि में नहीं रखते हैं।

प्रत्यक्ष को ये दोनों दर्शन स्फुट एवं साक्षात्कारी ज्ञान के रूप में स्वीकार करते हुए भी निर्विकल्पकता एवं सविकल्पकता को लेकर गहरा मतभेद रखते हैं। बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष-प्रमाण निर्विकल्पक ज्ञान के रूप में स्वीकार किया गया है, जबकि जैनदार्शनिक इसे हेयोपादेय बुद्धि में सहायक न होने के कारण प्रमाण नहीं मानते हैं। जैनदार्शनिकों के अनुसार निश्चयात्मक अर्थात् सविकल्पक ज्ञान ही प्रमाण होता है, निर्विकल्पक ज्ञान नहीं। जैनदर्शन में ज्ञान के पूर्व 'दर्शन' का होना स्वीकार किया गया है, जो बौद्धों के निर्विकल्पक ज्ञान से कुछ सादृश्य रखता है, किन्तु जैनदार्शनिक निर्विकल्पक ज्ञान को प्रमाण न मानने के कारण 'दर्शन' को प्रमाण की कोटि से बाहर रखते हैं।

जैन-बौद्ध परम्परा में प्रत्यक्ष-प्रमाण के विषय में क्या चिन्तन रहा है, इसे प्रस्तुत करते हुए आगे जैनदार्शनिकों द्वारा बौद्धों के कल्पनापोढ अथवा निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की समालोचना प्रस्तुत की जाएगी।

## बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष-प्रमाण

### प्रत्यक्ष-लक्षण

बौद्धदर्शन में क्रमिक विकास के परिणामस्वरूप तीन प्रकार के प्रत्यक्ष-लक्षण मिलते हैं। प्रथम लक्षण वसुबन्धु द्वारा निरूपित है, जिसके अनुसार अर्थ से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है। दिङ्नाग ने इस लक्षण का खण्डन किया है तथा कल्पना से रहित ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है। यह प्रत्यक्ष का द्वितीय लक्षण कहा जा सकता है। तृतीय लक्षण धर्मकीर्ति ने दिया है जिसके अनुसार प्रत्यक्षप्रमाण कल्पनारहित होने के साथ अभ्रान्त भी होता है।

### १. वसुबन्धु का प्रत्यक्ष-लक्षण

वसुबन्धु ने 'वादविधि' में प्रत्यक्ष का लक्षण दिया है,<sup>१</sup> जिसका उल्लेख एवं खण्डन उद्योतकर के

१. Seven works of Vasubandhu, p.40

न्यायवार्तिक<sup>२</sup> तथा दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय<sup>३</sup> में प्राप्त होता है। वादविधि में प्रदत्त लक्षण के अनुसार वही ज्ञान प्रत्यक्ष है जो अर्थ से उत्पन्न हुआ है।<sup>४</sup> जिस अर्थ को जिस ज्ञान से व्यपदिष्ट किया जाता है, यदि वह ज्ञान उसी अर्थ से उत्पन्न होता है तो प्रत्यक्ष है, अन्यथा नहीं<sup>५</sup>। यथा किसी ज्ञान को घट ज्ञान कहा जाय, और वह यदि घट से उत्पन्न हो तो वह घट का प्रत्यक्ष कहलायेगा। इस प्रकार वसुबन्धु का प्रत्यक्ष-लक्षण अर्थाश्रित अथवा आलम्बनाश्रित है, इन्द्रियाश्रित नहीं। दिङ्नाग ने वादविधि में वर्णित प्रत्यक्ष-लक्षण का खण्डन करते हुए कहा है कि यदि आलम्बन से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहा जायेगा तो स्मृति, अनुमान, अभिलाष आदि ज्ञान भी अन्य आलम्बन की अपेक्षा नहीं करते, अतः प्रत्यक्ष का यह लक्षण स्मृत्यादि ज्ञानों में भी अतिव्याप्त हो जायेगा।<sup>६</sup>

## २. दिङ्नागीय प्रत्यक्ष-लक्षण

दिङ्नाग ने प्रत्यक्ष को अक्षाश्रित निरूपित किया है। वे प्रत्यक्ष शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहते हैं—‘अक्षमक्षं प्रति वर्तत इति प्रत्यक्षम्’<sup>७</sup> अर्थात् जो ज्ञान इन्द्रिय के आश्रित या सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष कहा जाता है। दिङ्नाग के अनुसार प्रत्यक्षज्ञान कल्पना रहित होता है। इसलिए उन्होंने कल्पनापोढ को प्रत्यक्ष का लक्षण कहा है<sup>८</sup>। कल्पना का अर्थ है, नाम, जाति, क्रिया, द्रव्य आदि की योजना।<sup>९</sup> कल्पनापोढ होने पर भी प्रत्यक्ष-प्रमाण ज्ञानात्मक होता है। इसे दिङ्नाग के टीकाकार जिनेन्द्रबुद्धि ने स्पष्ट किया है<sup>१०</sup> कि जिस प्रकार ‘अवत्सा धेनु को लाओ’ इस कथन में वत्स का निषेध करने पर भी गोधेनु का बोध होता ही है, इसी प्रकार कल्पना का निषेध करने पर भी ज्ञान का बोध होता ही है, क्योंकि ज्ञान ही कल्पना से युक्त होता है। अतः कल्पना का निषेध करने से उससे रहित ज्ञान का बोध होता है। इस प्रकार दिङ्नाग के अनुसार ज्ञान दो प्रकार का कहा जा सकता है— १. कल्पनायुक्त अर्थात् सविकल्पक और २. कल्पना रहित अर्थात् निर्विकल्पक। इनमें से जो ज्ञान कल्पनारहित होता है वही दिङ्नाग के अनुसार प्रत्यक्ष-प्रमाण है।

२. न्यायवार्तिक, १.१.४

३. प्रमाणसमुच्चय, १.१५

४. ततोऽर्थाद्विज्ञानं प्रत्यक्षम्।

५. यद्विज्ञानं येन विषयेण व्यपदिश्यते तत् तन्मात्रादुत्पद्यते। नान्यतः। ततोऽन्यतश्च न भवतीति तज्ज्ञानं प्रत्यक्षम्।

— प्रमाणसमुच्चयटीका, पृ० ३४

६. आलम्बनं चेद् स्मृत्यादिज्ञानं नान्यदपेक्षते।— प्रमाणसमुच्चय, १.१६

७. मसाकी हत्तौडी के Dignāga, on perception, p. 77 पर इसे दिङ्नाग के न्यायमुख, पृ० ३ बी १७ (चीनी अनुवाद) का वाक्य बतलाया गया है। तत्वसंग्रहपञ्जिका, पृ० ४५६, धर्मोत्तरप्रदीप, पृ० ३८.२६ पर भी यह वाक्य उद्धृत है।

८. प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्।— प्रमाणसमुच्चय, १.३

९. अथ केयं कल्पना नामजात्यादि योजना Dignāga, on perception, प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, ३

१०. कल्पनापोढमिति निर्देशेनापि तज्ज्ञानात्मकमिति गम्यते। ज्ञानमेव यतः कल्पनासंसृष्टं तस्मात् तत्प्रतिषेधेन तदेव प्रतीयते अवत्साधेनुरानीयतामिति यथा वत्सप्रतिषेधेन गोधेनोरेव।— प्रमाणसमुच्चयटीका, पृ० ९-१०

**दिङ्नाग के मत में कल्पना**—दिङ्नाग के अनुसार कल्पना का अर्थ है ज्ञान में नाम, जाति, गुण, क्रिया एवं द्रव्य की योजना करना।<sup>११</sup> यथा यदृच्छा शब्दों में 'यह डित्य है' इस प्रकार किसी विशिष्ट अर्थ को डित्य नाम से युक्त करना नाम योजना रूप कल्पना है। जाति शब्दों में यथा 'यह गाय है' इस प्रकार गाय शब्द का प्रयोग करना जाति योजना रूप कल्पना है। इसी प्रकार गुण शब्दों में 'यह शुक्ल है' इस प्रकार शुक्ल गुण का योजन करना गुणयोजना रूप कल्पना है, क्रिया शब्दों में यथा 'यह क्रिया से रसोड़या है' इस प्रकार क्रिया की योजना करना क्रिया रूप कल्पना है तथा द्रव्य शब्दों में यथा 'यह दण्डी है', अथवा 'विषाणी है' इस प्रकार का प्रयोग करना द्रव्य योजना रूप कल्पना है।<sup>१२</sup> दिङ्नाग इन पांचों प्रकार की कल्पना से रहित ज्ञान को प्रत्यक्ष-प्रमाण की संज्ञा देते हैं।<sup>१३</sup>

दिङ्नाग द्वारा नामादि योजना रूप कल्पना का निषेध करने के पीछे **अभिधर्मकोशव्याख्या** आदि ग्रंथों के दो कथन महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं<sup>१४</sup> यथा (१) **चक्षुर्विज्ञान-समप्ती नीलं विजानाति नो तु नीलमिति**। (२) **अर्थेऽर्थसंज्ञी न त्वर्थे धर्मसंज्ञीति**। इनमें प्रथम वाक्य का अर्थ है चक्षुर्विज्ञान से जानने वाला पुरुष नील अर्थ को जानता है, किन्तु उसे 'यह नील है' इस रूप में नहीं जानता। नील को जानना कल्पना रहित है, 'यह नील है' इस रूप में कथन करना अथवा जानना कल्पनायुक्त है। प्रत्यक्ष-प्रमाण कल्पनारहित होता है, अतः उसमें नील का ज्ञान होते हुए भी 'यह नील है' इस रूप में ज्ञान नहीं होता। द्वितीय वाक्य 'अर्थेऽर्थसंज्ञी न त्वर्थे धर्मसंज्ञी' भी इसी प्रकार का है। अर्थ में अर्थ का ज्ञान होना प्रत्यक्ष है, किन्तु अर्थ में धर्म का अर्थात् नाम का ज्ञान होना<sup>१५</sup> विकल्पात्मक होने से प्रत्यक्ष नहीं है।

दिङ्नाग का मन्तव्य है कि अर्थ में शब्द नहीं है<sup>१६</sup> जिससे अर्थ का ज्ञान होने पर शब्द भी प्रतिभासित हों।

### ३. धर्मकीर्तीय प्रत्यक्ष-लक्षण

धर्मकीर्ति संभवतः दिङ्नागप्रणीत लक्षण को पर्याप्त नहीं मानते हैं इसलिए उन्होंने प्रत्यक्ष-लक्षण में कल्पनापोढ के अतिरिक्त 'अभ्रान्त' पद का भी सन्निवेश किया है।<sup>१७</sup> वे उसी ज्ञान को प्रत्यक्ष-प्रमाण मानते हैं जो कल्पना से रहित एवं अभ्रान्त हो। धर्मकीर्ति का कथन है कि कभी कोई

११. नामजात्यादियोजना- Dignāga, on perception, प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, ३

१२. यदृच्छाशब्देषु नाम्ना विशिष्टोऽर्थ उच्यते डित्य इति। जातिशब्देषु जात्या गौरिति। गुणशब्देषु गुणेन शुक्ल इति। क्रियाशब्देषु क्रियया पाचक इति। द्रव्यशब्देषु द्रव्येण दण्डी विषाणीति।—Dignāga, on perception, प्रमाण-समुच्चयवृत्ति, C एवं प्रमाणसमुच्चयटीका, पृ० १२

१३. यत्रैषा कल्पना नास्ति तत्रत्यक्षम्। Dignāga, on perception, प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, C

१४. (i) Dignāga, on perception, प्रमाणसमुच्चयवृत्ति Da, a -२, अभिधर्मकोशव्याख्या, पृ० ६४.२२-२३

(ii) द्वादशारण्यचक्र (ज) भाग १ पृ० ६०-६१

१५. धर्मो नामोच्यते नामकायः पदकायो व्यञ्जनकायः।— द्वादशारण्यचक्र (ज) भाग-१, पृ० ६२

१६. अन्येत्वर्थशून्यैः शब्दैः।— प्रमाणसमुच्चयटीका, पृ० १२, Dignāga on perception, प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, C

१७. तत्र प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्।— न्यायबिन्दु, १.४

ज्ञान कल्पना रहित होते हुए भी इन्द्रिय विकार के कारण भ्रान्त हो सकता है।<sup>१८</sup> उस भ्रान्तज्ञान का निराकरण करने के लिए उन्होंने 'अभ्रान्त' पद का सन्निवेश करना आवश्यक समझा। प्रमाण-लक्षण का विवेचन करते समय यह संकेत कर दिया गया था कि धर्मकीर्ति के मत में अविश्ववादी एवं अभ्रान्त पद एकार्थक नहीं है।<sup>१९</sup> उनके मत में भ्रान्तज्ञान भी अविश्ववादी हो सकता है, यथा अनुमान-प्रमाण। इसलिए अभ्रान्त पद का प्रत्यक्ष-लक्षण में पृथक्तया सन्निवेश करना उनको आवश्यक प्रतीत हुआ।

धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष-लक्षण का धर्मोत्तर, शान्तरक्षित एवं कमलशील ने पूर्णतः समर्थन किया है, तथा उसकी विशद एवं विस्तृत चर्चा की है।

धर्मोत्तर ने प्रत्यक्ष शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए इन्द्रियाश्रित ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है,<sup>२०</sup> किन्तु प्रत्यक्ष के इस लक्षण में मानस, योगी एवं स्वसंवेदन प्रत्यक्षों का समावेश नहीं हो पाता अतः वे इसे व्युत्पत्तिनिमित्त लक्षण मानकर प्रवृत्तिनिमित्त लक्षण प्रदान करते हैं, तदनुसार वे अर्थ के साक्षात्कारी ज्ञान को प्रत्यक्ष-प्रमाण मानते हैं।<sup>२१</sup>

आचार्य शान्तरक्षित ने धर्मकीर्ति की भांति कल्पनापोढ एवं अभ्रान्तज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहा है<sup>२२</sup> तथा कमलशील ने उसके औचित्य को प्रदर्शित किया है।

धर्मकीर्ति के लक्षण में प्रयुक्त कल्पना एवं अभ्रान्त शब्दों का क्या अर्थ है तथा 'अभ्रान्त' पद के सन्निवेश का औचित्य है या नहीं, इस पर विचार अपेक्षित है।

### धर्मकीर्ति के मत में कल्पना

द्विज्ञान तो नाम, जाति, गुण, क्रिया एवं द्रव्य आदि की शब्द-योजना करने को कल्पना मानते हैं, किन्तु धर्मकीर्ति उनसे भी एक चरण आगे बढ़ गये हैं। वे अभिलाप अर्थात् वाचक शब्द के संसर्ग योग्य प्रतीति को ही कल्पना शब्द से अभिहित कर देते हैं, यथा- 'अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना,<sup>२३</sup> धर्मकीर्ति के द्वारा अभिलाप के संसर्ग योग्य प्रतिभास रूप प्रतीति को कल्पना कहने से कुमारिल भट्ट द्वारा निरूपित निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का खण्डन हो जाता है। कुमारिल भट्ट ने बालक एवं मूक पुरुष के ज्ञान को निर्विकल्पक माना है,<sup>२४</sup> क्योंकि उसमें शब्द योजना नहीं होती,

१८. आश्रयोपप्लवोद्धवम् ।

अविकल्पकमेकं च प्रत्यक्षापं ॥ —प्रमाणवार्तिक २.२८८

१९. द्रष्टव्य, द्वितीय अध्याय, पृ. ७२ एवं तृतीय अध्याय, पृ. १२१

२०. प्रत्यक्षमिति प्रतिगतमाश्रितमक्षम् ।-न्यायबिन्दुटीका, १.३, पृ. २८

२१. यत्किञ्चिदर्थस्य साक्षात्कारि ज्ञानं तत् प्रत्यक्षमुच्यते ।-न्यायबिन्दुटीका १.३, पृ. २८

२२. प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम् ।-तत्त्वसंग्रह, १.२१३

२३. न्यायबिन्दु, १.५, प्रमाणवार्तिक २.१७६ में धर्मकीर्ति 'जायन्ते कल्पनास्तत्र यत्र शब्दो निवेशितः' द्वारा शब्दयोजना को कल्पना कहते हैं।

२४. अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् ।

बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम् ॥ —श्लोकवार्तिक, प्रत्यक्षसूत्र, ११२

किन्तु धर्मकीर्ति के द्वारा अभिलाप के संसर्गयोग्य प्रतिभासरूप प्रतीति को कल्पना कहने से उसका निरसन हो जाता है। ऐसा प्रतीति होता है कि धर्मकीर्ति ने कुमारिल सम्मत बालक के निर्विकल्पक प्रत्यक्षत्व का खण्डन करने हेतु ही उसे कल्पना की श्रेणी में रखा है।

### धर्मोत्तर द्वारा व्याख्या

धर्मोत्तर ने अभिलापसंसर्गयोग्य पद में स्थित योग्य शब्द के महत्व का उद्घाटन किया है। वे कहते हैं कि कोई प्रतीति तो अभिलाप के संसर्ग से युक्त आभास वाली होती है, यथा शब्द एवं अर्थ के संकेत को जानने वाले व्यक्ति को घट शब्द से युक्त अर्थ की प्रतीति होती है, किन्तु कोई प्रतीति वाचक शब्द के संसर्ग से युक्त दिखाई नहीं देती। तथापि उसका आभास वाचक शब्द के संसर्ग के योग्य होता है, यथा शब्द एवं अर्थ के संकेत से अनभिज्ञ बालक घट को देखते समय उसके वाचक 'घट' शब्द की कल्पना नहीं करता, किन्तु फिर भी घट का आकार वाचक शब्द के संसर्ग के योग्य होता है अतः उस बालक की प्रतीति को भी कल्पना ही कहा जायेगा।<sup>२५</sup> यदि कल्पना लक्षण में 'योग्य' शब्द का ग्रहण न किया जाता तो सद्योजात बालक के अभिलापसंसर्ग योग्य प्रतिभास को कल्पना नहीं कहा जा सकता था।<sup>२६</sup>

प्रश्न यह उठता है कि वाचक शब्द के संसर्ग की योग्यता का निश्चय कैसे हो ? धर्मोत्तर इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि अनियत आकार वाला प्रतिभास अभिलाप के संसर्ग के योग्य होता है।<sup>२७</sup> अनियताकार प्रतिभास उसे कहा जाता है जो अर्थ की सन्निधि के अभाव में उत्पन्न हो।<sup>२८</sup> जो ज्ञान ग्राह्य अर्थ से उत्पन्न होता है वह तो नियत आकार वाला होता है, यथा—नीलादि का चाक्षुष ज्ञान। कल्पना ज्ञान वस्तु से उत्पन्न नहीं होता, अतः वह अनियताकार होता है। अनियताकार होने से उसमें अभिलाप के संसर्ग की योग्यता होती है। विकल्प अर्थ से उत्पन्न नहीं होता है। जिस प्रकार बालक जब तक दृश्यमान स्तन को 'यह वही है' इस तरह पूर्वदृष्ट स्तन के रूप में नहीं पहचान लेता है, तब तक रोना बन्द नहीं करता है तथा स्तनों पर मुख नहीं लगाता है। पूर्वदृष्ट स्तन तो वहां नहीं होता फिर भी उसका विकल्प उत्पन्न होता है। इस प्रकार अर्थ की सन्निधि के न होने पर भी विकल्प उत्पन्न हो सकता है। वह पूर्वदृष्ट एवं पश्चात् दृष्ट स्तनों में एकता मानकर दूध पीना आरम्भ करता है।<sup>२९</sup>

धर्मोत्तर के मत में इन्द्रियज्ञान सन्निहित अर्थ का ही ग्राहक होता है, अतः वह अर्थसापेक्ष होता

२५. यद्यपि अभिलापसंसर्गप्रभासा न भवति तदहर्जातस्य बालकस्य कल्पना, अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा तु भवत्येव।

— न्यायबिन्दुटीका, १.५, पृ० ४४

२६. धर्मकीर्ति के टीकाकार मनोरथनन्दी ने योग्य शब्द का आदान नहीं किया। 'वाच्यवाचकाकारसंसर्गवती प्रतीतिः कल्पना' के द्वारा उन्होंने वाच्य एवं वाचक के आकार के संसर्ग से युक्त प्रतीति को कल्पना कहा है।— प्रमाणवार्तिक (म.न.)

२.१२६, पृ० १३८

२७. असत्यभिलापसंसर्गं कुतो योग्यतावसितिरिति चेत्। अनियतप्रतिभासत्वात्।—न्यायबिन्दुटीका, १.५, पृ० ४५

२८. अर्थसन्निधिनिरपेक्षत्वात्।—न्यायबिन्दुटीका, १.५ पृ० ४६

२९. न्यायबिन्दुटीका, १.५, पृ० ४६



है। उसकी उत्पत्ति अर्थ-सान्निध्य के बिना नहीं होती, इसलिए उसे नियत-प्रतिभास वाला माना गया है। नियत प्रतिभास आकार वाला होने से वह अभिलाप के संसर्ग योग्य नहीं होता।

संक्षेप में कहा जाय तो धर्मोत्तर यह दिखाना चाहते हैं कि जो ज्ञान अर्थ के बिना, उसकी सन्निधि के बिना उत्पन्न हो जाता है वह अनियत आकार वाला होता है। अनियत आकार वाला होने से उसमें अभिलाप के संसर्ग की योग्यता पायी जाती है<sup>३०</sup> तथा जो ज्ञान अर्थ की सन्निधि से उत्पन्न होता है उसमें नियत आकार का प्रतिभास होता है अतः उसमें अभिलाप के संसर्ग की योग्यता नहीं होती। जिसमें अभिलाप के संसर्ग की योग्यता होती है वह कल्पना ज्ञान है तथा जिसमें यह नहीं होती है वह प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा प्रत्यक्ष-प्रमाण है।

प्रश्न यह उठता है कि वाच्य-वाचक संसर्ग की योग्यता तो स्वलक्षण में भी होती है तब उसके प्रत्यक्ष को कल्पना रहित कैसे कहा जा सकता है। इसलिए विनीतदेव ने धर्मकीर्ति के कल्पना-लक्षण में अभिलाप शब्द का अर्थ वाच्य सामान्य आदि किया है।<sup>३१</sup> उनके अनुसार अर्थ स्व-लक्षण वाच्य नहीं होता तथा शब्द स्वलक्षण वाचक नहीं होता, अपितु सामान्य ही वाच्य तथा वाचक होते हैं। इस प्रकार अवाच्य एवं अवाचक जो स्वलक्षण है उसका ग्राहक होने से इन्द्रियज्ञान निर्विकल्पक होता है।<sup>३२</sup>

धर्मोत्तर के अनुसार स्वलक्षण में भी वाच्य-वाचक भाव हो सकता है, किन्तु वस्तुभाव से उत्पन्न होने के कारण वह निर्विकल्पक होता है तथा स्वलक्षण में वाच्य-वाचक भाव स्वीकार करके ही प्रत्यक्ष को कल्पनापोढ कहा गया है।<sup>३३</sup> स्वलक्षण का इन्द्रियज्ञान नियत प्रतिभास वाला होने से अभिलाप के संसर्ग योग्य नहीं होता, अतः निर्विकल्पक होता है।<sup>३४</sup>

यहां धर्मोत्तर ने एक शंका उठायी है। इन्द्रियज्ञान में तो श्रोत्रविज्ञान भी है जिसका विषय शब्द स्वलक्षण है। यदि शब्द स्वलक्षण को किञ्चित् वाच्य तथा वाचक मान लिया जाय और कल्पना का

३०. असत्रिहितविषयं चार्थनिरपेक्षम् । अनपेक्षं च प्रतिभासनियमहेतोरभावाद् अनियतप्रतिभासम् । तादृशं चाभिलापसंसर्गयोग्यम् । —न्यायबिन्दुटीका, १.५, पृ० ४७

३१. अभिलप्यते इत्यभिलापः वाच्यः सामान्यादिः । —न्यायबिन्दुटीकाटिप्पणी पृ०, ५१.६, Buddhist Logic, Vol. 2 p. 19 एवं न्यायबिन्दुटीका (हिन्दी व्याख्या) पृ. ४३ पर उद्धृत

३२. (१) विनीतदेवेन सामान्ययोर्वाच्यवाचक भावमङ्गीकृत्य निर्विकल्पकत्वमिन्द्रियविज्ञानस्य प्रतिपादितम् । —न्यायबिन्दुटीकाटिप्पणी, पृ० २३-२४, उद्धृत, न्यायबिन्दुटीका (हिन्दी व्याख्या), पृ. ४९

(२) पूर्वं व्याख्यातृभिः असामर्थ्यवैयर्थ्याभ्यां स्वलक्षणस्य संकेतयितुमशक्यत्वाद्वाच्यवाचकत्वम् । अवाच्यावाचकत्व लक्षणग्राहित्वाच्चेन्द्रियविज्ञानमविकल्पकमिति व्याख्यातम् । —धर्मोत्तरप्रदीप, पृ० ५२

३३. (१) अतएव स्वलक्षणस्यापि वाच्यवाचकभावमभ्युपगम्य एतदविकल्पकत्वमुच्यते । — न्यायबिन्दुटीका, १.५ पृ० ४८

(२) वस्तुतः बौद्ध-न्याय के सिद्धान्तानुसार सामान्यो का ही वाच्यवाचक सम्बन्ध होता है । यथा कहा है - परमार्थतः सामान्ययोरेव वाच्यवाचकत्वं नार्थशब्दविशेषस्य । — न्यायबिन्दुटीकाटिप्पणी, पृ० २३, उद्धृत, न्यायबिन्दुटीका, (हिन्दी व्याख्या) पृ. ४९

(३) न विशेषेषु शब्दानां प्रवृत्तावस्ति सम्भवः । — प्रमाणवार्तिक, २.१२७

३४. न चेन्द्रियविज्ञानमर्थेन नियमितप्रतिभासत्वाद् अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासं भवतीति निर्विकल्पकम् । — न्यायबिन्दुटीका १.५, पृ० ४८

अर्थ “वाचक शब्द के संसर्ग की योग्यता” समझा जाय तो श्रोत्रज्ञान के सविकल्पक होने की आपत्ति आती है। इस शंका का स्वयं धर्मोत्तर समाधान करते हुए कहते हैं कि शब्द स्वलक्षण में वाच्य-वाचक भाव मानने पर भी संकेत काल में जाने गये (तरप् तमप् को “घ” कहते हैं इत्यादि रूप में) शब्दों का स्मरण न हो तब तक यह ज्ञान सविकल्पक नहीं होता। दूसरी बात यह है कि संकेत काल में जाना गया शब्द स्वलक्षण इस समय नहीं है अतः पूर्वकाल में देखे गये संकेत को नहीं देखता हुआ श्रोत्रज्ञान वाच्य-वाचक भाव का ग्रहण नहीं करता है।<sup>३५</sup>

संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है कि श्रोत्रज्ञान का विषय शब्द स्वलक्षण है। पूर्वगृहीत संकेतों का यदि विद्यमान शब्द स्वलक्षण में ग्रहण नहीं होता है तो उससे होने वाला श्रोत्रज्ञान भी निर्विकल्पक ही होता है।

योगिज्ञान में तो एक साथ समस्त शब्दों एवं उनके अर्थों का ज्ञान होता है, अतः योगि-ज्ञान के भी सविकल्पक होने का प्रसंग आता है, किन्तु धर्मोत्तर के अनुसार यहां भी श्रोत्रज्ञान वाली युक्ति से ही समाधान होता है।<sup>३६</sup>

युक्ति है - जो ज्ञान गृह्यमाण वस्तु का संकेत काल में देखे गये रूप से ग्रहण नहीं करता, वह वाच्य-वाचक भाव का ग्राहक नहीं होता।<sup>३७</sup> वाच्यवाचकभाव के अभाव में जो प्रत्यक्ष होता है वह निर्विकल्पक होता है।

प्रज्ञाकरगुप्त ने विशेषण आदि के सम्बन्ध से युक्त वस्तु के प्रतिभास की प्रतीति को कल्पना कहा है।<sup>३८</sup>

### शान्तरक्षित एवं कमलशील के मत में कल्पना

शान्तरक्षित एवं कमलशील ने यद्यपि अभिलापिनी प्रतीति को कल्पना कहा है<sup>३९</sup> तथापि वे धर्मकीर्तीय कल्पना के स्वरूप से सहमत प्रतीत होते हैं। धर्मकीर्ति की भांति वे भी शब्द के प्रयोग के बिना भी शब्दार्थ-घटना के योग्य प्रतीति को कल्पना मानते हैं।<sup>४०</sup> शान्तरक्षित कहते हैं - सद्योजात बालक में अतीत जन्म की शब्दार्थाभ्यास रूप वासना का अन्वय रहता है अतः उसमें भी अभिलापिनी प्रतीति होती है।<sup>४१</sup> कमलशील ने कहा है कि हंसना, रोना, स्तनपान करना, प्रसन्न होना आदि कार्यों

३५. ततः पूर्वकालदृष्टत्वमपश्यच्छ्रोत्रज्ञानं न वाच्यवाचकभावग्राहि ।- न्यायबिन्दुटीका, १.५, पृ० ५०

३६. अनेनैव न्यायेन योगिज्ञानमपि ।- न्यायबिन्दुटीका, पृ० ५०

३७. इस युक्ति का उल्लेख दुर्वेक मित्र ने किया है - यज्ज्ञानं संकेतकालविषयत्वं गृह्यमाणस्य न गृह्णाति, न तद् वाच्यवाचकभावग्राहि ।- धर्मोत्तरप्रदीप, पृ० ५४

३८. विशेषणादिसम्बन्धवस्तुप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना ।- प्रमाणवार्तिकभाष्य, पृ० २४५

३९. अभिलापिनी प्रतीतिः कल्पना ।- तत्त्वसङ्ग्रह, १२१३

४०. शब्दार्थघटनायोग्या वृक्ष इत्यादिरूपतः ।

या वाचामप्रयोगेऽपि साभिलापेव जायते ॥ तत्त्वसङ्ग्रह, १२१४

४१. अतीतभवनामार्थभावनावासनान्वयात् ।

सद्योजातोऽपि यद्योगादितिकर्तव्यतापटुः ॥ तत्त्वसङ्ग्रह, १२१५

(इति कर्तव्यता) में बालक भी चतुर होता है अतः उसमें भी कल्पना का अनुमान होता है।<sup>४२</sup>

ज्ञानरक्षित एवं कमलशील ने दिङ्नाग निरूपित कल्पना स्वरूप की भी चर्चा की है। नाम, जाति, गुण, क्रिया एवं द्रव्य रूप पांच कल्पनाओं में ये दोनों दार्शनिक नाम कल्पना को प्रमुख मानते हैं। जात्यादि का वास्तविक अस्तित्व नहीं होने से उन्हें ये हेय प्रतिपादित करते हैं।<sup>४३</sup> जात्यादि को यदि कल्पना मानकर उनका कथन किया जाय तो भी नामयोजना करनी पड़ती है।<sup>४४</sup> कमलशील ने 'उच्यते' शब्द पर बल दिया है तथा नामयोजना से ही उसे सार्थक माना है। यथा- 'जात्या विशिष्टोऽर्थ उच्यते गौः' इत्यादि वाक्यों में जो 'उच्यते' पद है वह नाम अथवा शब्द योजना की ओर संकेत करता है।<sup>४५</sup>

### 'अभ्रान्त' पद के प्रयोग पर मत-भेद

दिङ्नाग - असंग ने प्रत्यक्ष-लक्षण में 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण किया था।<sup>४६</sup> किन्तु दिङ्नाग ने उसे अपने लक्षण में स्थान नहीं दिया। ज्ञानरक्षित एवं कमलशील ने तत्त्वसङ्ग्रह एवं उसकी पञ्जिका में दिङ्नाग द्वारा अभ्रान्त पद का सन्निवेश नहीं करने का कारण दिया है।<sup>४७</sup> वे कहते हैं कि पीतशंखादि का भ्रान्त ज्ञान भी दिङ्नाग मत में प्रत्यक्ष है। ज्ञानरक्षित ने कहा है कि श्वेत शंख के स्थान पर पीतशंख का ज्ञान भ्रमरूप है तथापि अर्थक्रिया के अविस्वादी होने से दिङ्नागमत में उसकी प्रमाणता है। कमलशील कहते हैं पीतशंख ज्ञान लिङ्गजन्य नहीं है, अतः उसे अनुमान नहीं कहा जा सकता तथा शंख रूप में अविस्वादी होने से उसे अप्रमाण नहीं कहा जा सकता।

दिङ्नाग के इस मत का ज्ञानरक्षित एवं कमलशील दोनों ने खण्डन किया है। उनका कहना है पीतशंख ज्ञान अविस्वादी नहीं है, क्योंकि पीत का प्रतिभास अथवा अध्यवसाय होने पर पीत शंख

४२. इतिकर्तव्यतायां स्मितरुदितस्तनपानप्रहर्यादिलक्षणयां पटुः चतुरो भवति, अतोऽनया कार्यभूतया यथोक्ता कल्पना बालस्याप्यनुमीयत एव ।- तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, १२१५। वाक्यपदीय में भी इसी प्रकार कहा गया है, कमलशील ने इसे उद्धृत किया है-

इतिकर्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया ।

यां पूर्वाहितसंस्कारो बालोऽपि प्रतिपद्यते ॥ वाक्यपदीय, १.१२१

४३. तत्र हेया जात्यादियोजना परप्रसिद्धकल्पना । तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, १२२० पृ. ४५१

४४. जात्यादियोजना शब्दयोजनाऽव्यभिचारिणी ।- तत्त्वसंग्रह, १२३२

४५. शब्दयोजनाया सर्वा योजना व्याप्ता । अत एव चाचार्यीयम् 'जात्या विशिष्टो उच्यते गौः' इत्यादिषु यद् 'उच्यते' इति वचनं तत् सफलं भवेत् । अन्यथा विना नाम्ना कथम् 'उच्यते' इति स्यात् अभिधानक्रियायाः शब्दधर्मत्वात् ।

— तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, पृ. ४५५

४६. Buddhist Logic, Vol. 1, p. 155

४७. पीतशंखादिबुद्धीनां विभ्रमेऽपि प्रमाणता ।

अर्थक्रियाऽविस्वादादपरे सम्प्रचक्षते । ॥- तत्त्वसंग्रह, १३२३

केचित्तु स्वयथ्या एवाभ्रान्तग्रहणं नेच्छन्ति ; भ्रान्तस्यापि पीतशंखादिज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वात् । तथाहि - न तदनुमानम् ; अलिङ्गजत्वात् । प्रमाणं च अविस्वादितात् । अत एवाचार्यदिङ्नागेन लक्षणे न कृतमभ्रान्तग्रहणम् ।- तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, १३२३, पृ. ४८२

प्राप्त नहीं होता, अपितु श्वेत शंख प्राप्त होता है,<sup>४८</sup> उल्लेखनीय है कि प्रज्ञाकरगुप्त ने शंख रूप में उस ज्ञान को अविसंवादी माना है तथा पीतज्ञान को विसंवादी माना है।<sup>४९</sup>

प्रमाणसमुच्चय में दिङ्नाग ने प्रतिपादित किया है कि भ्रान्ति सदा मानसिक होती है, ऐन्द्रियक नहीं। प्रत्यक्षाभास को वे कल्पनाजन्य मानते हैं।<sup>५०</sup> श्वेतरत्नात्की ने प्रतिपादित किया है कि तीन कारणों से दिङ्नाग ने प्रत्यक्ष-लक्षण में 'अभ्रान्त' पद का प्रयोग नहीं किया-(१) भ्रान्ति कल्पनाजन्य होती है, क्योंकि वह निर्णयात्मक होती है जबकि प्रत्यक्ष सदैव कल्पना रहित होता है। अतः उसमें अभ्रान्त पद के प्रयोग की आवश्यकता नहीं थी। (२) दिङ्नाग अपने प्रत्यक्ष-लक्षण को बाह्यार्थवाद एवं विज्ञानवाद दोनों के अनुकूल बनाना चाहते थे। अभ्रान्त पद का प्रयोग करने पर यह लक्षण विज्ञानवाद में संगत नहीं रहता है। क्योंकि उसमें सभी आलम्बन भ्रान्त होते हैं। (३) 'अभ्रान्त' पद के अनेक अर्थ लगाये जा सकते थे। अतः इस पद का प्रयोग प्रत्यक्ष-लक्षण के लिए घातक सिद्ध होता है।<sup>५१</sup>

**धर्मकीर्ति** - धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्षाभास में निर्विकल्पक भ्रान्ति को इन्द्रिय जन्य माना है।<sup>५२</sup> उनके मत में इन्द्रिय में विकार उत्पन्न होने के कारण इन्द्रियजन्य भ्रान्ति उत्पन्न होती है। भ्रान्ति को मात्र मनोजन्य मानने का वे खण्डन करते हैं तथा यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि भ्रान्ति इन्द्रिय के विकार के कारण होती है,<sup>५३</sup> यथा एक चन्द्र में दो चन्द्रों की भ्रान्ति इन्द्रियजन्य है। यदि द्विचन्द्र ज्ञान में मानसी भ्रान्ति होती तो जिस प्रकार रज्जु आदि में संस्थानसाम्य से उत्पन्न सर्पादि की भ्रान्ति का निराकरण उसका प्रत्यक्ष होने पर हो जाता है उसी प्रकार प्रत्यक्ष द्वारा अक्षविकार रहते हुए भी द्विचन्द्र भ्रान्ति का निराकरण हो जाना चाहिए, किन्तु इन्द्रियविकार के रहते हुए द्विचन्द्र भ्रान्ति का निराकरण नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि द्विचन्द्र भ्रान्ति इन्द्रियविकार जन्य है।<sup>५४</sup> इस प्रकार की भ्रान्ति का निराकरण करने के लिए ही धर्मकीर्ति ने निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में 'अभ्रान्त' पद का संयोजन किया है।

न्यायखिन्दु में धर्मकीर्ति कहते हैं कि तिमिर, आशुभ्रमण, नौयान, संक्षोभ आदि से जिस

४८. तत्राध्यवसिताकारप्रतिरूपान् न विद्यते ।

तत्राप्यर्थक्रियावापितरन्यथाऽतिप्रसज्यते ॥- तत्वसंग्रह, १३२४

तत्रेह न यथाप्रतिभासमविसंबादः पीतस्य प्रतिभासनात् तस्य तथा भूतस्याप्राप्तेः । नापि यथाध्यवसायमविसंबादः ; पीतस्यैव, विशिष्टार्थक्रियाकारित्वेनाध्यवसायात् न च तद्रूपार्थक्रियाप्रापितरिति । -तत्वसंग्रहपञ्जिका, १३२४, पृ. ४८३

४९. प्रमाणवार्तिकभाष्य, पृ. ५

५०. इसकी चर्चा प्रत्यक्षाभास में की गयी है। द्रष्टव्य, पृ. १२१ एवं पादटिप्पण, ७५

५१. Buddhist Logic, Vol. I, pp.155-157

५२. प्रमाणवार्तिक, २.२८८

५३. प्रमाणवार्तिक, २.२९४

५४. सर्पादिभ्रान्तिवच्चास्याः स्यादक्षविकृतावपि ।

निवृत्तिर्न निवर्तेत निवृत्तेऽप्यक्षविप्लवे ॥- प्रमाणवार्तिक, २.२९७

कल्पनारहित ज्ञान में भ्रम उत्पन्न नहीं हो, वह ज्ञान प्रत्यक्ष है।<sup>५५</sup> धर्मकीर्ति यहां तिमिरादि-जन्य भ्रमों का उल्लेख करना चाहते हैं, किन्तु उनके टीकाकार धर्मोत्तर ने इन समस्त भ्रमों को ऐन्द्रियक विकार उत्पन्न करने वाला माना है।<sup>५६</sup> उनका कथन है कि इन्द्रिय के विकृत हुए बिना इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में भ्रान्ति संभव नहीं है।<sup>५७</sup> धर्मकीर्ति द्वारा कहे गये इन भ्रमकारणों को धर्मोत्तर ने चार भागों में विभक्त किया है, यथा इन्द्रियगत, विषयगत, बाह्याश्रयगत एवं आध्यात्मिक आश्रयगत।<sup>५८</sup> तिमिर रोग से नेत्रों में विकार उत्पन्न होने के कारण जो भ्रान्ति होती है वह इन्द्रियगत भ्रान्ति का उदाहरण है। अलात आदि के शीघ्र धूमने के कारण उसमें चक्र के दिखाई देने की जो भ्रान्ति उत्पन्न होती है वह विषयगत भ्रान्ति का कारण है। चलती हुई नाव में बैठे व्यक्ति को बाह्य वृक्षादि के चलने का जो भ्रम होता है वह बाह्याश्रय गत भ्रान्ति का उदाहरण है। वात, पित्त एवं कफ के संक्षोभ (प्रकोप) के कारण जलते हुए स्तम्भ आदि की जो भ्रान्ति होती है वह आभ्यन्तर भ्रान्ति का उदाहरण है। इन भ्रान्तियों का वर्गीकरण कर लेने के पश्चात् भी धर्मोत्तर इस बात पर दृढ़ हैं कि इन समस्त भ्रान्तियों का कारण इन्द्रिय में ही उत्पन्न विकार है। इन्द्रिय के विकृत होने से ही ये भ्रान्तियां होती हैं। इन भ्रान्तियों में धर्मोत्तर ने और भी उदाहरण जोड़ दिये हैं, यथा पीलिया के रोगी को समस्त वस्तुएं पीली दिखने का भ्रम, अलात या मशाल के शीघ्र लाने एवं ले जाने से अग्निवर्ण के दण्डभास की भ्रान्ति आदि।<sup>५९</sup>

धर्मोत्तर ने यह स्पष्ट प्रतिपादित किया है कि धर्मकीर्तीय प्रत्यक्ष-लक्षण में 'अभ्रान्त' पद का अर्थ अविस्वादादक नहीं है। अविस्वादादकता तो प्रत्यक्ष के सम्यग्ज्ञान रूप होने के कारण उसमें स्वतः प्राप्त है। अतः प्रत्यक्ष-लक्षण में अविस्वादादकता का पुनः कथन करना निष्प्रयोजन है।<sup>६०</sup> विनीतदेव<sup>६१</sup> कमलशील<sup>६२</sup> आदि बौद्ध नैयायिकों ने अभ्रान्त का अर्थ अविस्वादादक किया है, जो धर्मोत्तर के तर्क से खण्डित हो जाता है। धर्मोत्तर ने अभ्रान्त का अर्थ करते हुए कहा है कि जो ज्ञान अथाऽन्या में समर्थ माह्य वस्तु स्वरूप से अविपरीत होता है उसे अभ्रान्त ज्ञान समझना चाहिए।<sup>६३</sup> सन्निवेश उपाधि से युक्त परमाणुसंघात ही अर्थक्रिया में समर्थ वस्तु होती है।<sup>६४</sup> उस वस्तु के ज्ञान में भ्रम नहीं होना ही

५५. तथा रहितं तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभाघनाहितविभ्रमं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ।— न्यायबिन्दु, १.६

५६. सर्वैरेव च विभ्रमकारणैरिन्द्रियविषयबाह्याध्यात्मिकाश्रयगतैरिन्द्रियमेव विकर्तव्यम् ।— न्यायबिन्दुटीका, १.६ पृ. ५३

५७. अविकृते इन्द्रिये इन्द्रियभ्रान्त्ययोगात् ।— न्यायबिन्दुटीका, पृ. ५३

५८. द्रष्टव्यं, उपरि पादटिप्पण, ५६ एवं न्यायबिन्दुटीका, पृ. ५२

५९. न्यायबिन्दुटीका १.६, पृ. ५३-५४

६०. न तु अविस्वादादकमभ्रान्तमिह गृहीतव्यम् । यतः सम्यग्ज्ञानमेव प्रत्यक्षं नान्यत् । तत्र सम्यग्ज्ञानत्वादेवाऽविस्वादादकत्वे लब्धे पुनरविस्वादादकग्रहणं निष्प्रयोजनमेव ।— न्यायबिन्दुटीका, १.४, पृ. ४१

६१. अभ्रान्तमिति यद्विस्वादि न भवति ।— न्यायबिन्दुटीका, पृ. ३७ पर उद्धृत

६२. अभ्रान्तमत्राविस्वादि त्वेन द्रष्टव्यम् ।— तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, १३११, पृ. ४७५

६३. तस्माद् ब्राह्मेऽर्थक्रियाक्षमे वस्तुरूपे यद् अविपर्यस्तं तदभ्रान्तमिह वेदितव्यम् ।— न्यायबिन्दुटीका, १.४, पृ. ४१

६४. अर्थक्रियाक्षमं च वस्तुरूपं सन्निवेशोपाधि वर्णात्मकम् ।— न्यायबिन्दुटीका, १.४, पृ. ३४

अभ्रान्त होना है ।

वे कहते हैं कि चलते हुए वृक्ष का दिखाई देना आदि ज्ञान भ्रान्त होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता ।<sup>६५</sup> यद्यपि यह ज्ञान कल्पना से रहित होने के कारण निर्विकल्पक है तथा वृक्ष मात्र की प्राप्ति होने के कारण अविस्वादाक भी है, तथापि वृक्ष चलते हुए रूप में प्राप्त नहीं होता है इसलिए उसका चलते हुए दिखाई देना भ्रान्त ज्ञान है, अतः यह प्रत्यक्ष नहीं, अपितु मिथ्याज्ञान है । यदि कोई शंका करे कि वृक्ष की प्राप्ति होने पर भी इस ज्ञान को भ्रान्त कैसे कहा जा सकता है, तो धर्मोत्तर उसका तत्परता से समाधान करते हैं कि द्रष्टा को नानादेशगामी वृक्ष दिखाई देता है, जबकि उसे प्राप्ति एकदेश में स्थित वृक्ष की होती है । जिस देश या स्थान में वृक्ष दिखाई देता है उस स्थान में उस वृक्ष की प्राप्ति नहीं होती तथा जिस स्थान में वृक्ष दिखाई नहीं देता उस स्थान में वृक्ष की प्राप्ति होती है, अतः इस ज्ञान से वस्तुतः किसी अर्थ की प्राप्ति नहीं होती है; ज्ञानान्तर से ही वृक्षादि अर्थ प्राप्त होता है । इस प्रकार धर्मोत्तर भ्रान्त ज्ञान की निवृत्ति के लिये प्रत्यक्ष-लक्षण में 'अभ्रान्त' पद को आवश्यक मानते हैं तथा अर्थक्रिया में समर्थ ग्राह्य वस्तु के ज्ञान को ही अभ्रान्त की संज्ञा देते हैं ।

धर्मोत्तर यद्यपि अभ्रान्त पद का अर्थ अविस्वादाकता से भिन्न रूप में प्रस्तुत करना चाहते हैं किन्तु उनकी अभ्रान्तता अविस्वादाकता से आत्यन्तिक रूपेण पृथक् नहीं हो पायी है । अर्थक्रिया में समर्थ ग्राह्य वस्तु का अविपरीत ज्ञान एक प्रकार से अविस्वादाक ज्ञान ही है । हां, एक अन्तर अवश्य प्रतीत होता है, वह यह कि धर्मोत्तर अनुमान को भ्रान्त ज्ञान मानने पर भी उसे अर्थ का अध्यवसायक होने के कारण सम्यग्ज्ञान अथवा प्रमाण मानते हैं<sup>६६</sup>, किन्तु प्रत्यक्ष में वे ग्राह्य वस्तु के अविपरीत ग्रहण पर बल देते हैं । अर्थक्रिया में समर्थ ग्राह्य का अविपरीत ग्रहण प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए आवश्यक है । स्थिर वस्तु का स्थिर रूप में ग्रहण होना एवं गतिशील वस्तु का गतिशील रूप में ग्रहण होना प्रत्यक्ष की अभ्रान्तता है ।

**शान्तरक्षित एवं कमलशील** – शान्तरक्षित एवं कमलशील ने धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष-लक्षण का समर्थन किया है अतः वे कल्पनापोढ के साथ अभ्रान्तपद का सन्निवेश भी आवश्यक मानते हैं ।<sup>६७</sup> शान्तरक्षित ने प्रतिपादित किया है कि यदि 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण नहीं किया जाय तो केशोष्णुक आदि का ज्ञान भी निर्विकल्पक होने से प्रत्यक्ष की श्रेणी में आता है ।<sup>६८</sup> कमलशील कहते हैं कि अभ्रान्त का अर्थ यहां अविस्वादी है । यदि अभ्रान्त का अर्थ यथावस्थित आलम्बन आदि के आकार

६५. न्यायबिन्दुटीका १.४, पृ. ३६-३८

६६. भ्रान्तं ह्यनुमानं स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायेन प्रवृत्तत्वात् । प्रत्यक्षं तु ग्राह्ये रूपे न विपर्यस्तम् ।- न्यायबिन्दुटीका, १.४, पृ. ४०

६७. प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम् ।- तत्त्वसंग्रह, १२१३ एवं पञ्चिका

६८. केशोष्णुकादिविज्ञाननिवृत्त्यर्थमिदं कृतम् ।

अभ्रान्तग्रहणं तद्वि भ्रान्तत्वान्नेष्यते प्रमा ॥-तत्त्वसंग्रह, १३११

में लेते हैं तो प्रत्यक्ष-लक्षण योगाचार मत में घटित नहीं होता है। क्योंकि योगाचार मत में आलम्बन आदि असिद्ध है। अविसंवादी अर्थ में प्रत्यक्ष-लक्षण सौत्रान्तिक के साथ योगाचार मत में भी घटित हो जाता है।<sup>६९</sup> इस प्रकार कमलशील ने 'कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्' प्रत्यक्ष-लक्षण को अभ्रान्त पद का अविसंवादी अर्थ करके विज्ञानवाद एवं बाह्यार्थवाद दोनों में घटित किया है।

कमलशील का कथन है कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में जो भ्रान्ति होती है वह मनोजन्य नहीं होती। मनोजन्य भ्रान्ति मानस-प्रत्यक्ष में होती है, यथा स्वप्नज्ञान स्पष्ट प्रतिभासित होने के कारण निर्विकल्पक होता है,<sup>७०</sup> किन्तु अभ्रान्त नहीं होता। अतः मानस-प्रत्यक्ष में होने वाली भ्रान्ति का निराकरण भी अभ्रान्त पद से होता है। किन्तु इन्द्रियजन्य भ्रान्ति भी संभव है। इन्द्रियों में विकार होने पर या उनके उपहत होने पर इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में भ्रान्ति हो सकती है। केशोण्डूक आदि के ज्ञान में इन्द्रियज भ्रान्ति ही है।<sup>७१</sup> मनोभ्रान्ति तो उसका कारण निवृत्त होने पर निवृत्त हो जाती है। यथा रज्जु में सर्प की भ्रान्ति उसका प्रत्यक्ष होने पर निवृत्त हो जाती है, किन्तु इन्द्रियजन्य भ्रान्ति ऐन्द्रियक विकार का निवारण न हो तब तक बनी ही रहती है।<sup>७२</sup>

**आधुनिक विद्वानों का मत** — धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष-लक्षण में प्रयुक्त 'अभ्रान्त' पद के सम्बन्ध में सातकडि मुकर्जी का मत है कि धर्मकीर्ति द्वारा अभ्रान्त पद का प्रयोग अनावश्यक रूप से किया गया है तथा प्रत्यक्ष का दिङ्नागीय लक्षण पर्याप्त है।<sup>७३</sup> श्वेतरबात्स्की स्पष्टरूपेण अपना कोई मत नहीं देते हैं, किन्तु अभ्रान्त का अविसंवाद अर्थ ग्रहण करने पर वे उसे अनावश्यक मानते हुए प्रतीत होते हैं।<sup>७४</sup>

प्रत्यक्ष-लक्षण में 'अभ्रान्त' पद के सन्निवेश के औचित्य अथवा अनौचित्य का निर्णय करने के लिए प्रत्यक्षाभास को भी समझना आवश्यक है। इसलिए अब प्रत्यक्षाभास की चर्चा को जा रही है।

६९. अभ्रान्तमत्राविसंवादित्वेन द्रष्टव्यम् । न तु यथाऽवस्थितालम्बनाकारतया । अन्यथा हि योगाचारमतेनालम्बनासिद्धे-  
रुभयनयसमाप्रयेजेष्टस्य प्रत्यक्षलक्षणस्याऽव्यापिता स्यात् । — तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, १३११, पृ. ४७९

७०. मानसस्यापि योगिज्ञानादेः तत्र च स्वप्नान्तिकस्यापि निर्विकल्पकत्वमस्ति, स्पष्टप्रतिभासित्वात् । — तत्त्वसंग्रहपञ्जिका  
१३११, पृ. ४८०.१३-१४

७१. इन्द्रियजेयं केशोण्डूकादिबुद्धिः । — तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, १३११, पृ. ४८०.१८

७२. (i) यदि मनोभ्रान्तिः स्यात् ततो मनोभ्रान्तेरेव कारणान्निवर्तताऽनिवृत्तेऽप्यक्षविप्लवे । सर्पादि भ्रान्तिवदिति दृष्टान्तः ।  
— तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, १३११, पृ. ४८०.१९-२०

(ii) शान्तरक्षित - सर्पादिभ्रान्तिवच्चेदमनष्टेऽप्यक्षविप्लवे ।

निवर्तत मनोभ्रान्तेः स्पष्टं च प्रतिभासनात् ॥ तत्त्वसंग्रह, १३१३

७३. It has become perfectly clear that Dignāga's definition of perception is complete and sufficient by itself. The addition of the adjective 'abhrant' has no logical necessity or justification. — The Buddhist Philosophy of Universal flux, p.280

७४. Buddhist Logic, Vol. 2, p.18

## प्रत्यक्षाभास

आचार्य दिङ्नाग ने चार प्रकार के प्रत्यक्षाभास का निरूपण किया है, <sup>७५</sup> यथा-भ्रान्ति, संवृत्तिसत्त्वान, अनुमानानुमानिक एवं सतैमिर । (1) भ्रान्ति—यथा मरू-मरीचिका में जलादि की कल्पना (2) संवृत्तिसत्त्वान—स्वलक्षण रूप परमार्थसत् में अर्थान्तर का आरोप कर उसके स्वरूप की कल्पना करना (3) अनुमानानुमानिक ज्ञान—यथा पूर्वदृष्ट में एकत्व की कल्पना करने से लिङ्गानुमेयादि का ज्ञान । स्मृतिज्ञान, शाब्दज्ञान आदि का भी इसमें समावेश हो सकता है । (4) सतैमिर — कमलशील ने तिमिर शब्द को अज्ञान का पर्याय माना है तथा अज्ञान में होने वाले विसंवादक ज्ञान को सतैमिर कहा है । <sup>७६</sup> जिनेन्द्रबुद्धि ने इन्द्रिय के उपघात से उत्पन्न ज्ञान को तिमिरादि ज्ञान कहा है, <sup>७७</sup> किन्तु मसाकी हतौड़ी के अनुसार जिनेन्द्रबुद्धि पर धर्मकीर्ति का प्रभाव लक्षित होता है, <sup>७८</sup> क्योंकि पूर्ववर्ती धर्मकीर्ति ने स्पष्टरूपेण आश्रयोपप्लव (इन्द्रियोपघात) से उत्पन्न ज्ञान को सतैमिर प्रत्यक्षाभास कहा है । <sup>७९</sup>

धर्मकीर्ति ने इन चार प्रत्यक्षाभासों में से प्रथम तीन को कल्पनाज्ञान माना है तथा चतुर्थ को अविकल्पक प्रत्यक्षाभास के रूप में निरूपित किया है । <sup>८०</sup> दिङ्नाग ने प्रथम तीन कल्पना ज्ञानों की ही व्याख्या की है, अन्तिम सतैमिर की नहीं । अतः मसाकी हतौड़ी का मत है कि दिङ्नाग को तीन ही प्रकार के प्रत्यक्षाभास अभीष्ट थे । <sup>८१</sup> तीन प्रकार के प्रत्यक्षाभास का आधार वे वादविधि को मानते हैं, जहां भ्रान्तिज्ञान, संवृत्तिज्ञान एवं अनुमान ज्ञान का निरूपण है । मसाकी हतौड़ी का कथन है कि दिङ्नाग ने सतैमिर शब्द को प्रत्यक्षाभास का विशेषण बनाया है । उसे पृथक् प्रत्यक्षाभास के रूप में निरूपित नहीं किया । <sup>८२</sup>

दिङ्नाग ने न्यायदर्शन के प्रत्यक्षलक्षण <sup>८३</sup> में स्थित अव्यभिचारि पद को अनावश्यक सिद्ध किया है, क्योंकि इन्द्रिय एवं अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान उनके मत में व्यभिचार रहित ही होता है । दिङ्नाग का यह कथन इस बात को मानने के लिए बाध्य करता है कि उन्हें मानस भ्रान्ति ही

७५. भ्रान्तिः संवृत्तिसत्त्वानमनुमानानुमानिकम् ।

स्मार्ताभिलाषिकञ्चेति प्रत्यक्षाभं सतैमिरम् ॥— प्रमाणसमुच्चय, १.८

७६. सतैमिरमिति तु तिमिरशब्दोऽयमज्ञानपर्यायः । 'तिमिरघ्नं च मन्दानामिति यथा । तिमिरे भवं तैमिरं विसंवादकमित्यर्थः ।—तत्त्वसंग्रहपञ्चिका, पृ. ४८३

७७. Dignāga, on perception, p. 95.36

७८. Ibid, p. 96

७९. आश्रयोपप्लवोद्भवम् ।—प्रमाणवार्तिक, २.२८८

८०. त्रिविधं कल्पनाज्ञानमाश्रयोपप्लवोद्भवम् ।

अविकल्पकमेकं च प्रत्यक्षाभं चतुर्विधम् ॥— प्रमाणवार्तिक २.२८८

८१. Dignāga, on perception, p. 95.41

८२. Ibid, p. 96.3

८३. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।—न्यायसूत्र, १.१.४



अभीष्ट है, इन्द्रियज्ञान में वे किसी प्रकार की भ्रान्ति नहीं मानते हैं।<sup>८४</sup> धर्मकीर्ति ने इन्द्रियज्ञान में भ्रान्ति को बलपूर्वक सिद्ध किया है। यही कारण है कि उन्होंने निर्विकल्पक के साथ प्रत्यक्ष का अभ्रान्त होना भी आवश्यक माना है।

### प्रत्यक्ष की प्रक्रिया

धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में प्रतिपादित किया है कि सब ओर से चिन्तन अथवा विकल्प को समेट कर शान्त चित्त से युक्त पुरुष चक्षु से रूप को देखता है तो इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।<sup>८५</sup> धर्मकीर्ति यहां प्रतिपादित करना चाहते हैं कि विकल्पावस्था में किया गया इन्द्रियजन्य ज्ञान सविकल्पक होने से प्रत्यक्ष कोटि में नहीं आता। अतः जब भी इन्द्रियादि प्रत्यक्ष-ज्ञान करना हो तो हमें अपने आपको समस्त विकल्पावस्थाओं से परे होना चाहिए।

**विमूढ पुरुष को भ्रम** — निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के अनन्तर-क्षण में विकल्प का उदय होता है। निर्विकल्प एवं सविकल्प अवस्थाओं में मन की अव्यवधान पूर्वक युगपद् वृत्ति जानकर विमूढ ज्ञाता पुरुष सविकल्प एवं निर्विकल्प अवस्थाओं में भेद नहीं कर पाता। अविकल्प एवं सविकल्प अवस्थाओं के शीघ्र होने के कारण भी कभी उसे दोनों में एकत्व का ज्ञान होता है।<sup>८६</sup> जिस प्रकार अलात (अग्नि युक्त जलती लकड़ी) को घुमाये जाने पर उसमें चक्र का भ्रम हो जाता है उसी प्रकार विमूढ प्रतिपत्ता को निर्विकल्प एवं सविकल्प ज्ञान में एकता का भास होता है। वस्तुतः निर्विकल्पक एवं सविकल्पक दोनों अवस्थाएं भिन्न भिन्न हैं। निर्विकल्पक अवस्था का विषय परमार्थ सत् स्वलक्षण है जबकि सविकल्प अवस्था का विषय आरोपित अर्थ अथवा सामान्यलक्षण है।

**प्रत्यक्ष की सिद्धि** — धर्मकीर्ति ने यह प्रतिपादित किया है कि प्रत्यक्ष की सिद्धि के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती है, अपितु स्वसंवेदन रूप प्रत्यक्ष से ही वह सिद्ध होता है।<sup>८७</sup>

### प्रत्यक्ष-प्रमाण के भेद

प्रत्यक्ष-प्रमाण चार प्रकार का निरूपित किया गया है — (१) इन्द्रियप्रत्यक्ष, (२) मनोविज्ञान (मानसप्रत्यक्ष), (३) स्वसंवेदन प्रत्यक्ष एवं (४) योगिप्रत्यक्ष।

### इन्द्रिय प्रत्यक्ष

'अक्षमक्षं प्रति वर्तत इति प्रत्यक्षम्' दिङ्नाग ने प्रत्यक्ष शब्द की यह जो व्युत्पत्ति की है<sup>८८</sup> वह

८४. Dignāga, on perception, p. 97

८५. संहृत्य सर्वतश्चिन्तां स्तिमितेनान्तःपत्तना ।

स्थितोऽपि चक्षुषा रूपमीक्षते साक्षजा मतिः ॥— प्रमाणवार्तिक, २.१२४

८६. मनसोः युगपद्वृत्तेः सविकल्पाविकल्पयोः ।

विमूढो लघुवृत्तेर्वा तयोरेक्यं व्यवस्यति ॥— प्रमाणवार्तिक, २.१३३

८७. प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिध्यति । प्रमाणवार्तिक, २.१२३

८८. धर्मोत्तरप्रदीप, पृ० ३८.२६, Dignāga on perception, p. 77 पर इसे न्यायमुख, पृ० ३७.१७ पर एवं तत्वसंग्रहपञ्जिका, पृ० ३७३.२७ पर भी दिखाया गया है ।

मुख्यतः इन्द्रियजन्य ज्ञान को इङ्गित करती है । इसी प्रकार धर्मोत्तर के द्वारा की गयी व्युत्पत्ति “प्रतिगतमाश्रितम् अक्षमिति प्रत्यक्षम्” भी इन्द्रियाश्रित ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान के रूप में प्रतिपादित करती है ।<sup>८९</sup> चार प्रकार के प्रत्यक्षों में इन्द्रिय-प्रत्यक्ष लोकव्यवहार की दृष्टि से प्रमुख प्रतीत होता है । दिङ्नाग ने प्रमाणसमुच्चय में एक प्रश्न उठाया है कि प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रिय एवं विषय (अर्थ) दोनों के अधीन है, फिर उसे विषय के आधार पर प्रतिविषय नहीं कह कर प्रत्यक्ष क्यों कहा जाता है ?<sup>९०</sup> इसका समाधान अभिधर्मकोश में है<sup>९१</sup> जिसे दिङ्नाग ने भी प्रस्तुत किया है । दिङ्नाग का कथन है कि असाधारण कारण के आधार पर व्यपदेश किया जाता है । प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियाँ असाधारण कारण हैं, अतः उनके आधार पर इस ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा गया है ।<sup>९२</sup> विषय तो इन्द्रियज्ञान के साथ मनोविज्ञान, योगिज्ञान आदि में भी साधारण कारण है अतः विषय के आधार पर “प्रतिविषय” व्यपदेश नहीं किया गया ।<sup>९३</sup> धर्मकीर्ति ने कहा है कि गमकत्व के आधार पर व्यपदेश किया जाता है । यहाँ इन्द्रियाँ गमक हैं तथा विषय (अर्थ) गम्य । अतः गमक के आधार पर प्रत्यक्ष व्यपदेश किया गया है ।<sup>९४</sup> जिस प्रकार न्यायदर्शन में इन्द्रिय को प्रत्यक्ष प्रमाण माना गया है उस प्रकार बौद्ध न्याय में नहीं । बौद्धन्याय के अनुसार इन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है, इन्द्रिय नहीं, क्योंकि ज्ञान ही अर्थ का प्रापक एवं उसमें प्रवर्तक होता है ।

संक्षेप में श्रोत्रादि पांच इन्द्रियों से होने वाला अर्थ का कल्पनापोढ एवं अभ्रान्त ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा जा सकता है । श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना एवं त्वक् इन पांच इन्द्रियों में से बौद्ध दर्शन के अनुसार घ्राण, रसना एवं त्वक् ये तीन इन्द्रियाँ अर्थ को प्राप्त करके ही उनका ज्ञान कराती हैं, अतः ये तीनों प्राप्यकारी हैं, किन्तु श्रोत्र एवं चक्षु ये दो इन्द्रियाँ अर्थ के किञ्चिद् दूरस्थ होने पर उनका ज्ञान कराने में सक्षम होती हैं, अतः ये दोनों अप्राप्यकारी हैं ।<sup>९५</sup>

बौद्धदर्शन में प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण एवं अनुमान का विषय सामान्यलक्षण है । प्रश्न होता है कि इन्द्रियद्वारा क्षणिक स्वलक्षण का परमाणु के रूप में ग्रहण होता है अथवा परमाणुओं के सञ्चित रूप में ? इन्द्रियों द्वारा परमाणु रूप में क्षणिक स्वलक्षण का प्रत्यक्ष होना शक्य प्रतीत नहीं होता,

८९. न्यायबिन्दुटीका, १.३, पृ० २८

९०. अथ कस्माद् द्वाधाधीनायामुत्पत्तौ प्रत्यक्षमुच्यते न प्रतिविषयम् ।-Dignāga, on perception, संस्कृत टेक्स्ट, Da a-१

९१. तद्विकारविकारित्वादाश्रयाक्षरुदयः ।

अतोऽसाधारणत्वाच्च विज्ञानं तैरिच्छते ॥—अभिधर्मकोश, १.४५

९२. असाधारणहेतुत्वादक्षैस्तद्व्यपदिश्यते ।—प्रमाणसमुच्चय, ४

९३. प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, पृ० १४

९४. प्रमाणवार्तिक, २.१९२

९५. (i) चक्षुःश्रोत्रविज्ञानयोरपि यस्मात् प्रत्यक्षत्वमिच्छते, तयोश्च सन्निकर्षजत्वं न संभवति ।—प्रमाणसमुच्चयटीका, पृ० ४२

(ii) ततश्चाप्राप्यकारित्वात् यबौद्धैः श्रोत्रचक्षुषोः ।

लक्षणव्याप्तिसिद्धयर्थं संयोगो नेति कीर्त्यते ॥ —श्लोकवार्तिक, प्रत्यक्षसूत्र, ४०

क्योंकि चाक्षुष ज्ञान द्वारा परमाणु दिखाई नहीं देते हैं, <sup>१६</sup> अतः बौद्धदर्शन में प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण स्वीकार करते हुए भी आलम्बन के संचित रूप को अथवा अनेक अर्थों (स्वलक्षण परमाणुओं) से जन्य सामान्य स्वलक्षण को प्रत्यक्ष का विषय प्रतिपादित किया गया है। “सञ्चितालम्बनाः पञ्चविज्ञानकायाः” बौद्धों का प्रसिद्ध सिद्धान्त है। दिङ्नाग ने इसे “तत्रानेकार्थजन्यत्वात् स्वार्थे सामान्यगोचरम्” कहकर पुष्ट किया है। <sup>१७</sup> अनेक अर्थों अर्थात् स्वलक्षण परमाणुओं से जन्य स्वलक्षण समुदाय का प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान होता है। दिङ्नाग ने यहां जो सामान्य शब्द का प्रयोग किया है वह समुदाय का बोधक है, नैयायिकादि के सामान्य का नहीं। धर्मकीर्ति कहते हैं कि समुदाय को सञ्चित कहा जाता है तथा वही दिङ्नाग द्वारा सामान्य शब्द से कहा गया है। <sup>१८</sup> उस सामान्य में ही इन्द्रियज्ञान होता है। धर्मकीर्ति ने यहां एक आशंका प्रस्तुत की है कि सामान्य का ज्ञान होने के कारण यह विकल्पक हो जायेगा तब प्रत्यक्ष निर्विकल्पक होता है यह कैसे कहा जा सकता है? <sup>१९</sup> इस आशंका का निवारण भी स्वयं धर्मकीर्ति ने किया है। वे कहते हैं कि एक परमाणु दृश्य नहीं होता, अनेक परमाणु मिलकर ही ज्ञान उत्पन्न करने में सक्षम होते हैं, अतः सञ्चित अणुओं को प्रत्यक्ष का विषय समझना चाहिए, किन्तु ये सञ्चित अणु परमाणुओं से पृथक् नहीं है। अतः यहां सामान्य शब्द परमाणुओं से अतिरिक्त का द्योतक नहीं होने के कारण सविकल्पक ज्ञान को उत्पन्न नहीं करता। <sup>१००</sup>

### मानस प्रत्यक्ष

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की भांति मानस-प्रत्यक्ष का आलम्बन भी रूपादि-विषय है तथा यह भी निर्विकल्पक होता है एवं ज्ञानाकार होकर प्रवृत्त होता है। <sup>१०१</sup> धर्मकीर्ति ने मानसप्रत्यक्ष अथवा मनोविज्ञान का विशिष्ट लक्षण दिया है। यथा इन्द्रिय ज्ञान जिसका समनन्तर कारण है <sup>१०२</sup> तथा

१६. न हि प्रत्येकमणवो दृश्याः । — प्रमाणवार्तिक (म.न.) २.१९६, पृ० १५९

१७. Dignāga, on perception, संस्कृत टेक्स्ट, ४, प्रमाणसमुच्चय, रंगास्वामी अयंगर, में इसे भिन्न रूप में कहा गया है- ‘तत्र नैकार्थोत्पादात् स्वार्थसामान्यगोचरः’ का ४

१८. सञ्चितः समुदायः स सामान्यं तत्र चाक्षुषीः । — प्रमाणवार्तिक, २.१९४

१९. सामान्यबुद्धिश्चावश्यं विकल्पेनानुबध्यते । — प्रमाणवार्तिक, २.१९४

१००. (i) अर्थान्तराऽपिसम्बन्धाज्जायन्ते येऽणवोऽपरे ।

उक्तास्ते सञ्चितास्ते हि निमित्तं ज्ञानजन्मनः ॥

अणूनां स विशेषश्च नान्तरेणापरानणून् ।

तदेकानियमाज्ज्ञानमुक्तं सामान्यगोचरम् ॥ — प्रमाणवार्तिक, २.१९५-९६

(ii) न तु परमाण्वतिरिक्तसामान्यविषयम्, तत् कथं सामान्यविषयत्वात् सविकल्पकत्वप्रसङ्गः । — प्रमाणवार्तिक, २.१९६ पर मनोरथनन्दिवृत्ति ।

१०१. मानसमपि रूपादिविषयालम्बनमविकल्पकमनुभवाकारप्रवृत्तम् । — Dignāga, on perception प्रमाणसमुच्चय, ५ की वृत्ति

१०२. बौद्ध दर्शन में ज्ञान के चार प्रत्यय (कारण) माने गये हैं - आलम्बन प्रत्यय, सहकारी प्रत्यय, अधिपति प्रत्यय तथा समनन्तर प्रत्यय। जब नीलादि का चाक्षुष ज्ञान होता है तो उसमें नीलादि आलम्बन प्रत्यय होते हैं, प्रकाशादि सहकारी प्रत्यय होते हैं, चक्षु इन्द्रिय अधिपति प्रत्यय। पूर्वक्षण में उत्पन्न नीलादि का ज्ञान जब उत्तरक्षण के ज्ञान में कारण बनता है तब वह समनन्तर प्रत्यय कहलाता है। यथा मानस ज्ञान में इन्द्रिय ज्ञान समनन्तर प्रत्यय होता है, क्योंकि पूर्वक्षण में इन्द्रियज्ञान एवं उत्तरक्षण में मनोविज्ञान होता है।

इन्द्रिय ज्ञान के विषय (लक्षण) के अनन्तर उत्पन्न द्वितीय क्षण जिसका सहकारी कारण है वह मनोविज्ञान अथवा मानस प्रत्यक्ष है ।<sup>१०३</sup> संक्षेपतः धर्मकीर्ति के मत में मानस प्रत्यक्ष की निम्नाङ्कित विशेषताएँ हैं-

1. यह इन्द्रिय ज्ञान के अनन्तर उत्पन्न होता है ।

2. इन्द्रियज्ञान के विषय क्षण (स्वलक्षण क्षण) के अनन्तर उत्पन्न सजातीय द्वितीय क्षण इसका विषय बनता है ।

3. इन्द्रियविज्ञान तथा द्वितीय-क्षण विषय के द्वारा एक मनोविज्ञान उत्पन्न किया जाता है । अतः ये दोनों परस्पर एक कार्यकारी सहकारी कारण हैं । धर्मोत्तर मानसप्रत्यक्ष को सिद्धान्त होने से स्वीकार करते हैं । अन्यथा उनके मत में मानस-प्रत्यक्ष का साधक प्रमाण नहीं है ।<sup>१०४</sup> जितारि ने अपने ग्रंथ हेतुतत्त्वनिर्देश में प्रत्यक्ष के भेदों में मानस-प्रत्यक्ष को नहीं रखा है ।<sup>१०५</sup> इस प्रकार कुछ बौद्ध दार्शनिकों के मत में मानस-प्रत्यक्ष अयुक्त है । ज्ञानरक्षित, कमलशील आदि दार्शनिकों ने मानस प्रत्यक्ष को योगिज्ञान की श्रेणी में रख दिया है ;<sup>१०६</sup> जो धर्मोत्तर के अनुसार उपयुक्त नहीं है, क्योंकि मानसप्रत्यक्ष में इन्द्रिय- प्रत्यक्ष समनन्तर प्रत्यय होता है, जबकि योगिज्ञान में वह आलम्बन प्रत्यय होता है ।

### स्वसंवेदन प्रत्यक्ष

इसमें बाह्य पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं होता, अपितु समस्त आन्तरिक ज्ञान एवं सुख-दुःखादि का संवेदन होता है । दिङ्नाग ने स्वसंवेदन को मानस-प्रत्यक्ष का ही पर्याय माना है ।<sup>१०७</sup> ऐसा प्रज्ञाकर गुप्त के प्रमाणवार्तिकभाष्य से भी पुष्ट होता है । प्रज्ञाकरगुप्त ने प्रमाणवार्तिकभाष्य में अनेक स्थानों पर स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का मानस प्रत्यक्ष के रूप में वर्णन किया है ।<sup>१०८</sup> बौद्ध दर्शन में प्रत्येक ज्ञान में स्वसंवेदन होता है ऐसा माना गया है । सुख, दुःख, राग, द्वेषादि का ज्ञान स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा होता है । धर्मकीर्ति ने स्वसंवेदन प्रत्यक्ष को मानस प्रत्यक्ष से भिन्न माना है तथा इसे परिभाषित करते हुए कहा है —“समस्त चित्त तथा चैत पदार्थों का आत्म संवेदन या स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है ।<sup>१०९</sup>

चित्त का अर्थ ज्ञान है जो अर्थ मात्र का ग्राहक होता है तथा चित्त में प्रकट होने वाली सुख

१०३. स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं तन्मनोविज्ञानम् ।-न्यायबिन्दु, १.९

१०४. एतच्च सिद्धान्तप्रसिद्धं मानसं प्रत्यक्षम् । न त्वस्य प्रसाधकमस्ति प्रमाणम् ।- न्यायबिन्दुटीका, १.९, पृ० ६०

१०५. Dignāga, on perception, p.94

१०६. समस्तवस्तुसम्बद्धतत्त्वाभ्यासबलोद्भूतम् ।

सर्वज्ञं मानसं ज्ञानं मानमेकं प्रकल्प्यते ॥ —तत्त्वसङ्ग्रह, ३३८०

१०७. मानसं चार्थरागादिस्वसंवित्तिरकल्पिका ।— Dignāga, on perception, प्रमाणसमुच्चय, ६

१०८. (१) मानसमप्यर्थरागादिस्वरूपसंवेदनमकल्पकत्वात् प्रत्यक्षम् ।-प्रमाणवार्तिकभाष्य, पृ० ३०३

(२) रागद्वेषमोहसुखदुःखादिषु स्वसंवेदनमिन्द्रियानपेक्षात्मानसं प्रत्यक्षमिति ।—प्रमाणवार्तिकभाष्य, पृ० ३०५

(३) सुखादीनामपि स्वसंवेदनं मानसं प्रत्यक्षम् ।-प्रमाणवार्तिकभाष्य, पृ० ३०७

१०९. सर्वचित्तचैतानामात्मसंवेदनम् ।-न्यायबिन्दु, १.१०

दुःखादि रूप विभिन्न अवस्थाएं चैत हैं । चित्त एवं चैतों का ज्ञान होना स्वसंवेदन है । जिस रूप से (सुख दुःखादि रूप से) ज्ञान के द्वारा अपना अनुभव किया जाता है उस रूप में ही उसका आत्म-संवेदन रूप प्रत्यक्ष होता है ।

सांख्य दर्शन में जहाँ प्रकृति के सुख-दुःख-मोहात्मक होने से नीलादि भी सुख-दुःख - मोहात्मक होते हैं वहाँ बौद्ध मत में बाह्य नीलादि पदार्थ सुख-दुःखात्मक नहीं होते, ज्ञान ही सुख-दुःखात्मक होता है । अतः ज्ञान के साथ सुख-दुःख का भी स्व संवेदन प्रत्यक्ष होता है ।<sup>११०</sup> चित्त एवं चैतों का ज्ञान रूप अनुभव अपने स्वरूप का साक्षात्कार कराता है, साथ ही वह कल्पना रहित एवं अभ्रान्त है, अतः इसे प्रत्यक्ष कहा गया है । स्वसंवेदन प्रत्यक्ष की इन विशेषताओं को प्रमाणवार्तिक के निम्नांकित श्लोकों में इस प्रकार गूथा गया है-

अशक्यसमयो ह्यात्मा रागादीनामनन्यभाक् ।

तेषामतः स्वसंवित्तिर्नाभिजल्पानुषङ्गिणी ॥

अथात्मरूपं न वेत्ति पररूपस्य वित्कथम् ।—प्रमाणवार्तिक, २.२४९ एवं ४४४

अर्थात् यह आत्मा रागादि का अद्वितीय भाजन एवं शब्द संकेत से रहित है इसलिए उसका स्वसंवेदन होता है, किन्तु उसका शब्द से अनुपंग नहीं होता । दूसरी बात यह है कि जो आत्मरूप को नहीं जानता वह परपदार्थों को कैसे जान सकता है ।

### योगिप्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष का एक भेद योगिप्रत्यक्ष है । दिङ्नाग का कथन है कि योगी का ज्ञान गुरु, के निर्देश अथवा आगम की कल्पना से रहित होता है तथा इससे अर्थमात्र का बोध होता है ।<sup>१११</sup> धर्मकीर्ति के अनुसार यह ज्ञान चार आर्य सत्य आदि यथार्थ अथवा भूतार्थ<sup>११२</sup> का पुनः पुनः चिन्तन करने से उत्पन्न होता है । जब यथार्थ तत्त्वों के चिन्तन का प्रकर्ष हो जाता है तब योगिप्रत्यक्ष ज्ञान प्रकट होता है ।<sup>११३</sup> यह विद्यमान वस्तु के समान भाव्यमान वस्तु के स्फुटतर आकार को भासित करता है ।

भूतार्थ की भावना का प्रकर्ष स्फुट आभास के आरम्भ की अवस्था है । प्रकर्ष पर्यन्त अवस्था वाला अभ्रक से व्यवहित पदार्थ के समान पूर्णतः स्पष्ट नहीं जानता है, किन्तु योगिप्रत्यक्ष वाला मनुष्य भाव्यमान वस्तु का हस्तामलकवत् स्पष्ट दर्शन करता है ।

निश्चय ही योगिज्ञान स्पष्ट आकार वाला होता है अतः निर्विकल्पक है । असन्निहित वस्तु का

११०. सुखादि ज्ञानाकार हैं इसकी सिद्धि हेतु धर्मकीर्ति ने अनेक युक्तियां दी हैं । द्रष्टव्य, प्रमाणवार्तिक, २.२६६ एवं २७४

१११. योगिनां गुरुनिर्देशाऽव्यतिभिन्नार्थमात्रदक् - Dignāga, on perception, संस्कृत टेक्स्ट, ६

११२. श्वेतरात्रकी भूतार्थ का अर्थ परमार्थसत् (स्वलक्षण) भी करते हैं । द्रष्टव्य, Buddhist Logic, Vol. II, p. 31, F.N. 1

११३. भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानं चेति ।—न्यायबिन्दु, १.११

ग्राहक ज्ञान अस्फुटाभ होता है । अतः सविकल्पक होता है, किन्तु योगिज्ञान संकेतकाल में ग्रहण किये गये विषय का ग्रहण नहीं करने से अस्फुटाभ नहीं होता ।

श्चेरबात्स्की का कथन है कि योगी का प्रत्यक्ष मानसिक ज्ञान है । इसमें इन्द्रियों के सहयोग की कोई आवश्यकता नहीं होती । इसके प्रत्यक्ष कोटि में आने का मुख्य कारण इसकी स्फुटाभता है ।<sup>११४</sup> योगिप्रत्यक्ष में कल्पनापोढत्व की सिद्धि हेतु स्फुटाभता को प्रकारान्तर से स्थान दिया गया है । धर्मोत्तर ने 'स्फुटाभत्वादेव च निर्विकल्पकम्'<sup>११५</sup> कथन से यही स्पष्ट किया है कि स्फुट होने के कारण योगिप्रत्यक्ष निर्विकल्पक होता है । जो ज्ञान विकल्प से युक्त होता है वह स्फुट रूप से अर्थ का अवभासन नहीं करता । ऐसा धर्मकीर्ति का मत रहा है, यथा - न विकल्पानुबद्धस्यास्ति स्फुटार्थावभासिता ।<sup>११६</sup>

विनीतदेव ने योगी के प्रत्यक्ष में कुछ दिव्यज्ञानों तथा भविष्य द्रष्टृत्व आदि की भी गणना की है, किन्तु धर्मोत्तर ने उसे छोड़ दिया है ।<sup>११७</sup>

### निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा व्यवहार

धर्मकीर्ति ने 'प्रामाण्यं व्यवहारेण'<sup>११८</sup> कथन द्वारा प्रमाण को व्यवहाराश्रित प्रतिपादित किया है किन्तु बौद्धेतर दार्शनिकों द्वारा यह प्रश्न उठाया जाता रहा है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा व्यवहार शक्य नहीं है, क्योंकि जब तक "यह सुख का साधन है, अथवा यह दुःख का साधन है" इसका निश्चय नहीं होता तब तक उसकी प्राप्ति अथवा परिहार के लिए कैसे प्रवृत्त हुआ जा सकता है ।<sup>११९</sup>

ज्ञान्तरिक्षित ने इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा है कि निर्विकल्पक ज्ञान विकल्प को उत्पन्न करने में समर्थ होता है, अतः विकल्पोत्पत्ति के द्वारा वह भी व्यवहार का अंग बन जाता है ।<sup>१२०</sup> आचार्य कमलशील ने ज्ञान्तरिक्षित के कथन की विस्तृत व्याख्या की है । वे कहते हैं कि निर्विकल्पक भी प्रत्यक्ष सजातीय एवं विजातीय समस्त पदार्थों से व्यावृत्त अग्नि आदि अर्थ को तदाकार रूप उत्पन्न होता हुआ जानता है । वह नियत रूप से व्यवस्थित वस्तु का ग्राहक होता है तथा विजातीय वस्तुओं से व्यावृत्त एवं वस्तु के आकार से अनुगत होने के कारण उस ग्राह्य वस्तु में ही विधि एवं निषेध का आविर्भाव करता है— "यह अग्नि है, फूलों का स्तबक नहीं ।" वे विधि एवं निषेध रूप

११४. Buddhist Logic, Vol. II. p. 30, FN. 2

११५. न्यायबिन्दुटीका, १.११, पृ० ६६

११६. प्रमाणवार्तिक, २.२८३

११७. Buddhist Logic, Vol. II. p. 33, F.N. 2

११८. प्रमाणवार्तिक, १.७

११९. तत्वसङ्ग्रहपञ्जिका, १३०५, पृ० ४७७

१२०. अविकल्पमपि ज्ञानं विकल्पोत्पत्तिशक्तिमतम् ।

निःशेषव्यवहाराङ्गं तद्द्वारेण भवत्यतः ॥— तत्वसंग्रह, १३०५

विकल्प परम्परा से ब्राह्म वस्तु में प्रतिबंधित होते हैं अतः विसंवादी होने पर भी बौद्धों को उनका प्रामाण्य अभीष्ट है ।<sup>१२१</sup> ज्ञानतरङ्गित कहते हैं कि दृश्य एवं विकल्प का एकत्व अध्यवसाय होने से प्रवृत्ति (व्यवहार) होने के कारण तथा अनधिगत वस्तु का अधिगम होने के कारण विधि-निषेध विकल्प का प्रामाण्य है ।

प्रत्यक्ष भी उत्पन्न होकर जिस अंश में अध्यवसाय उत्पन्न करता है उसका वही अंश व्यवहार योग्य गृहीत कहा जाता है ।<sup>१२२</sup> भ्रान्ति के कारण समारोप- प्रवृत्ति होने से जिस अंश में प्रत्यक्ष व्यवसाय को उत्पन्न नहीं कर पाता है वह अंश व्यवहार के अयोग्य होने के कारण गृहीत होकर भी अगृहीत ही कहा जाता है । उस अगृहीत अंश में प्रत्यक्ष के अनन्तर उत्पन्न होने वाला प्रत्येक विकल्प प्रमाण नहीं होता, अपितु जिसके द्वारा समारोप का व्यवच्छेद किया जाता है वही विकल्प (अनुमान) प्रमाण होता है, यथा शब्द का प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण होने पर भी उसका अनित्यत्व अंश अगृहीत रह जाता है अतः उसका ज्ञान करने के लिये तथा तद्विषयक समारोप का व्यवच्छेद करने के लिए अनुमान प्रमाण प्रवृत्त होता है ।

कमलशील ने यह भी स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि प्रत्यक्ष होते ही रूपादि अर्थ का निश्चय नहीं होता है । उसके निश्चय के लिए अभ्यास अर्थित्व, पाटव आदि कारणों की अपेक्षा होती है । अभ्यास आदि के कारण ही पिता एवं गुरु के समान होने पर भी पिता को आते हुए देखकर 'मेरे पिता आ रहे हैं, गुरु नहीं' ऐसा निश्चय होता है ।<sup>१२३</sup>

## जैन दर्शन में प्रत्यक्ष - प्रमाण

### प्रत्यक्ष - लक्षण

जैनदर्शन में निरूपित प्रत्यक्ष - लक्षण को क्रमिक विकास की दृष्टि से दो धाराओं में रखा जा सकता है — (१) प्राचीन आगमिक धारा एवं (२) प्रमाण-व्यवस्था युगीन धारा । प्राचीन आगमिक धारा के अनुसार इन्द्रिय, मन आदि की सहायता के बिना आत्मा में स्वतः जो ज्ञान प्रकट होता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान है, इन्द्रियादि की सहायता से होने वाला ज्ञान परोक्ष ज्ञान है । द्वितीय धारा पर जैनैतर दार्शनिक धाराओं एवं लोकव्यवहार की दृष्टि का प्रभाव है, अतः इस धारा के दार्शनिकों ने इन्द्रिय एवं

१२१. प्रत्यक्षं कल्पनापोद्धमपि सजातीयविजातीयव्यावृत्तमनलादिकमर्थं तदाकारनिर्भासोत्पत्तितः परिच्छिन्दद् उत्पद्यते । तच्च नियतरूपव्यवस्थितवस्तुग्राहित्वाद् विजातीयव्यावृत्तवस्त्वाकारानुगतत्वाच्च तत्रैव वस्तुनि विधिप्रतिषेधावाविर्भावयति - "अनलोऽयम्, नासौ कुसुमस्तम्बकादिः" इति । तयोश्च विकल्पयोः पारम्पर्येण वस्तुनि प्रतिबन्धाद् विसंवादित्वेऽपि नः प्रामाण्यमिष्टम्; दृश्यविकल्पयोरैकत्वाध्यवसायेन प्रवृत्तेरनधिगतवस्तुरूपाधिगमाभावात् । — तत्त्वसंग्रह पञ्जिका, १३०५, पृ० ४७७

१२२. प्रत्यक्षमुत्पन्नमपि यत्रांशेऽध्यवसायं जनयति स एवांशो व्यवहारयोग्यो गृहीत इत्याधिधीयते । — तत्त्वसङ्ग्रहपञ्जिका, पृ० ४७८

१२३. न ह्यनुभूत इत्येव निश्चयो भवति, तस्याभ्यासाधिक्त्वात्पाटवादि कारणान्तरापेक्षत्वात् । यथा जनकाध्यापकाऽविशेषेऽपि पितरमायान्तं दृष्ट्वा 'पिता मे आगच्छति, नोपाध्यायः' इति निश्चिनोति । — तत्त्वसङ्ग्रहपञ्जिका, पृ० ४७८

मन के द्वारा होने वाले ज्ञान को सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष नाम देकर उसे भी प्रत्यक्ष-प्रमाण की कोटि में स्थापित किया है । यहां प्रत्यक्ष-लक्षण की दोनों परम्पराओं पर विचार किया जा रहा है ।

### (1) आगमिक धारा

आगम की मान्यता है कि आत्मा में स्वभावतः स्व को एवं समस्त पदार्थों को जानने की अनन्तशक्ति विद्यमान है, किन्तु ज्ञानावरण नामक कर्म के उदय से आत्मा के जानने की शक्ति उसी प्रकार आच्छादित हो जाती है जिस प्रकार सूर्य मेघों से आच्छादित होने के कारण समस्त पदार्थों को प्रकाशित नहीं कर पाता । यद्यपि मेघाच्छन्न होते हुए भी सूर्य की प्रकाशन शक्ति समाप्त नहीं होती है, उसी प्रकार कर्म से आवरित आत्मा में जानने की शक्ति समाप्त नहीं होती है, तथापि ज्ञानावरण कर्म के उदय से वह शक्ति ढक जाती है । जब ज्ञानावरण कर्म में आंशिक कमी (क्षयोपशम) होती है अथवा उसका सम्पूर्ण नाश (क्षय) होता है तो आत्मा के जानने अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान करने की शक्ति प्रकट होती है । दूसरे शब्दों में कहें तो आत्मा ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम अथवा क्षय से स्व एवं बाह्यार्थ का ज्ञान करता है । जब यह ज्ञान इन्द्रिय एवं मन की सहायता से होता है तो परोक्ष कहलाता है तथा जब इन्द्रियादि की सहायता के बिना सीधे आत्मा द्वारा होता है तो प्रत्यक्ष कहलाता है ।

पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में प्रत्यक्ष शब्द की व्युत्पत्ति का निर्देश करते समय 'अक्ष' शब्द का अर्थ आत्मा किया है तथा ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम अथवा क्षय से आत्मा में जो ज्ञान प्रकट होता है उसे प्रत्यक्ष कहा है ।<sup>१२४</sup> इस प्रकार आत्मा में बिना पर की सहायता के स्वतः प्रकट होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है । जैनागमों में पांच ज्ञानों का वर्णन मिलता है ।<sup>१२५</sup> वे पांच ज्ञान हैं —मतिज्ञान (आभिनिबोधिक ज्ञान), श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान एवं केवलज्ञान । इनमें से मति एवं श्रुतज्ञान इन्द्रिय एवं मन की सहायता से प्रकट होते हैं, अतः ये दोनों ज्ञान आगमसरणि में परोक्ष हैं तथा अवधि, मनःपर्याय एवं केवलज्ञान आत्ममात्र सापेक्ष हैं, इसलिए इन तीनों को प्रत्यक्ष ज्ञान कहा गया है ।<sup>१२६</sup> भद्र अकलङ्कदेव ने यद्यपि इन्द्रियों के माध्यम से होने वाले ज्ञान को भी प्रत्यक्ष की श्रेणी में रखा है तथापि तत्त्वार्थवार्तिक में उन्होंने आगमानुकूल प्रत्यक्ष का लक्षण निरूपित किया है । तदनुसार इन्द्रिय एवं अनिन्द्रिय (मन) की अपेक्षा से रहित, व्यभिचार विहीन जो साकार ज्ञान है, वह प्रत्यक्ष है ।<sup>१२७</sup>

१२४. (१) अक्षणेति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा, तमेव प्राप्तक्षयोपशमं प्रक्षीणावरणं वा प्रतिनियतं वा प्रत्यक्षम् ।

—सर्वार्थसिद्धि, १.१२, पृ० ७२

(२) जैन दार्शनिक भद्रबाहु एवं जिनभद्र ने भी अक्ष शब्द का अर्थ जीव या आत्मा करके प्रत्यक्ष की व्याख्या की है ।

क्रमशः यथा—जीवो अक्खो तं पइ जं वट्टइ तं तु होइ पच्चक्खं ।—उद्धत, न्यायावतारविवृति, पृ० १५

जीवो अक्खो अत्थव्यावणभोयणगुण्णिओ जेण ।

तं पइ वट्टइ णाणं जं पच्चक्खं तं तिविहं ॥—विशेषावश्यकभाष्य, गा० ८९

१२५. ज्ञान वर्णन के लिए द्रष्टव्य हैं - नन्दीसूत्र, १-४३, भगवतीसूत्र, ८.२.३१७, राजप्रश्नीयसूत्र, ६०, षट्खण्डागम ५.५.२१-८३ ध्वला पुस्तक, १३, पृ० २०९-३५३

१२६. आद्ये परोक्षम् । प्रत्यक्षमन्यत् । -उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र, १.११-१२

१२७. इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षम् । -तत्त्वार्थवार्तिक, १.१२, पृ० ५३



आत्ममात्र सापेक्ष ज्ञान में अवधिज्ञान का असम्यक् रूप विभङ्गज्ञान व्यभिचार युक्त होता है, उसका निवारण करने के लिए ही अकलङ्क ने अतीतव्यभिचार पद दिया है। ज्ञान के पूर्व जैनदर्शन में दर्शन का प्रवर्तन माना गया है, किन्तु दर्शन निराकार एवं निर्विकल्पक होता है, अतः इसका परिहार करने के लिए 'साकार' शब्द का प्रयोग किया गया है। अकलङ्क ने यहां स्पष्ट कर दिया है कि प्रत्यक्ष ज्ञान में पर (आत्मा से अन्य) की अपेक्षा नहीं होती है।<sup>१२८</sup>

पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में यह प्रश्न उठाया है कि जैनदर्शन में इन्द्रियव्यापार से जनित ज्ञान को अन्य भारतीय दार्शनिकों की भांति प्रत्यक्ष एवं इन्द्रिय व्यापार से रहित ज्ञान को परोक्ष क्यों नहीं कहा गया ? पूज्यपाद ने जैन ज्ञानमीमांसा के आधार पर इसका समाधान प्रस्तुत किया है। जैनदर्शन में सर्वज्ञ आप्तपुरुष प्रत्यक्ष-ज्ञान द्वारा समस्त पदार्थों को जानता है। यदि सर्वज्ञ का प्रत्यक्ष इन्द्रिय के निमित्त से हो तो सर्वज्ञ समस्त पदार्थों को प्रत्यक्षपूर्वक नहीं जान सकेगा, अर्थात् उसकी सर्वज्ञता सिद्ध नहीं हो सकेगी, किन्तु आप्तपुरुष सर्वज्ञ है तथा वह समस्त पदार्थों का प्रतिक्षण प्रत्यक्ष करता है। उसकी यह प्रत्यक्षता तभी सिद्ध हो सकती है, जब वह मात्र आत्मा द्वारा समस्त अर्थों को जानता हो।<sup>१२९</sup> पूज्यपाद के समाधान को अकलङ्क ने भी विस्तृतरूपेण प्रस्तुत कर पुष्ट किया है।<sup>१३०</sup>

अब प्रश्न उठता है कि इन्द्रियादि के बिना आत्मा को बाह्यार्थों का प्रत्यक्ष किस प्रकार होता है ? अकलङ्क ने इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा है कि जिस प्रकार रथ का निर्माता तपोविशेष के प्रभाव से ऋद्धिविशेष प्राप्त करके बाह्य उपकरणादि के बिना भी रथ का निर्माण करने में सक्षम होता है, उसी प्रकार आत्मा भी ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष अथवा सम्पूर्णक्षय से इन्द्रियादि बाह्यसाधनों के बिना ही बाह्यार्थों को जानने में सक्षम होता है।<sup>१३१</sup>

संक्षेप में यह कहा जा सकता है आगमिक-परम्परा के अनुसार प्रत्यक्ष-प्रमाण आत्माश्रित है तथा ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम अथवा क्षय से बाह्यार्थों का ज्ञान होता है, इसमें इन्द्रियादि के सहयोग की अपेक्षा नहीं होती है।

## (2) प्रमाण-व्यवस्थायुगीन धारा

जब जैन दार्शनिकों ने यह अनुभव किया कि इन्द्रिय एवं मनोजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष मान बिना न्याय, मीमांसा, सांख्य एवं बौद्ध दर्शनों के साथ प्रमाणचर्चा में भाग नहीं लिया जा सकता, तब उन्होंने भी इन्द्रिय एवं मनोजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष नाम देकर उसे प्रत्यक्ष कोटि में प्रतिष्ठित किया। यद्यपि नन्दीसूत्र में पाँच ज्ञानों को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष भेदों में विभक्त किया गया है तथा प्रत्यक्ष के भी

१२८. अक्षं प्रति नियतमित्ति परापेक्षानिवृत्तिः। — तत्त्वार्थवार्तिक, १.१२, पृ० ५३

१२९. तदयुक्तम्, आप्तस्य प्रत्यक्षज्ञानाभावप्रसङ्गात्। यदि इन्द्रियनिमित्तमेव ज्ञानं प्रत्यक्षमिष्यते एवं सति आप्तस्य प्रत्यक्षज्ञानं न स्यात्। — सर्वार्थसिद्धि, १.१२, पृ० ७२

१३०. द्रष्टव्य, तत्त्वार्थवार्तिक, भाग-१, पृ० ५३-५४

१३१. तत्त्वार्थवार्तिक, भाग-१, पृ० ५३

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष एवं नोइन्द्रिय-प्रत्यक्ष भेद किये गये हैं तथापि इन्द्रिय ज्ञान की प्रत्यक्ष रूप में प्रतिष्ठा उस काल तक नहीं हुई थी, क्योंकि नन्दीसूत्र के चूर्णिकार जिनदासगणि महत्तर इन्द्रियज्ञान को परमार्थतः परोक्षज्ञान ही मानते हैं। फिर भी नन्दीसूत्र के रचयिता देववाचक ने इन्द्रियज्ञान को प्रत्यक्ष की श्रेणी में रखकर सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष को स्वीकार करने हेतु बीज वपन कर दिया था। उनके अनन्तर जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने स्पष्ट शब्दों में इन्द्रिय एवं मन से होने वाले ज्ञान को सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष नाम दिया है। अकलङ्क द्वारा सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष को स्वीकार करने का यही आधार रहा है। नन्दीसूत्र में मनोजन्य ज्ञान को इन्द्रियज्ञान के साथ प्रत्यक्ष की श्रेणी में परिगणित नहीं किया गया था, किन्तु जिनभद्रगणि ने उसे भी इन्द्रियज्ञान के साथ प्रस्तुत कर दोनों को सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष नाम दिया है। परिणाम स्वरूप अकलङ्क सहित सभी दार्शनिकों ने इन्द्रिय एवं अनिन्द्रिय (मन) के निमित्त से जन्य प्रत्यक्ष को सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है। नन्दीसूत्र में प्रतिपादित नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष को दर्शन-ग्रन्थों में पारमार्थिक प्रत्यक्ष नाम मिला है।

इस प्रकार आत्ममात्र सापेक्ष ज्ञान के साथ इन्द्रिय एवं अनिन्द्रिय जन्य ज्ञान को भी प्रत्यक्ष कोटि में स्थापित करने पर प्रत्यक्ष के एक ऐसे सामान्य लक्षण की आवश्यकता अनुभव हुई जो दोनों प्रकार के प्रत्यक्षों में अभिव्याप्त हो सके। दिगम्बर जैन दार्शनिक अकलङ्क ने इस आवश्यकता की पूर्ति करते हुए 'प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानम्'<sup>१३२</sup> के द्वारा विशद अथवा स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है। अकलङ्क के इस प्रत्यक्ष-लक्षण का विद्यानन्द<sup>१३३</sup> माणिक्यनदी<sup>१३४</sup> अभयदेवसूरि, प्रभाचन्द्र, वादिदेव,<sup>१३५</sup> हेमचन्द्र<sup>१३६</sup> आदि समस्त दिगम्बर एवं श्वेताम्बर जैन दार्शनिकों ने अनुसरण कर प्रत्यक्ष को विशदज्ञानात्मक प्रतिपादित किया है। प्रत्यक्ष में प्रमाण सामान्य का लक्षण विद्यमान होने से वह स्व एवं अर्थ का निश्चयक तो होता ही है तथा प्रत्यक्ष होने से विशद भी होता है। जैन दार्शनिक अकलङ्क ने न्यायविनिश्चय में प्रत्यक्ष प्रमाण का विस्तृत लक्षण प्रदान किया है, जिसमें प्रत्यक्ष-प्रमाण की समस्त विशेषताओं का संकलन हो जाता है। प्रस्तुत सन्दर्भ में यह लक्षण विचारणीय है —

प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा ।

द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम् ।<sup>१३७</sup>

जो ज्ञान अञ्जसा स्पष्ट हो, साकार हो, द्रव्य पर्यायात्मक एवं सामान्य विशेषात्मक अर्थ को जानता हो तथा स्वप्रकाशक हो, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रत्यक्ष के इस लक्षण में अकलङ्क ने प्रमाण के सामान्य-लक्षण की भी कुछ विशेषताओं का प्रतिपादन किया है, यथा उसके द्वारा द्रव्यपर्यायात्मक एवं

१३२. सिद्धिविनिश्चय, १.१९, अन्यत्र भी कहा है - प्रत्यक्षं विशदज्ञानम् । — प्रमाणसंग्रह, २

१३३. विशदज्ञानात्मक प्रत्यक्षम् । — प्रमाणपरीक्षा, पृ० ३७

१३४. विशदं प्रत्यक्षम् । — परीक्षामुख, २.३

१३५. स्पष्टं प्रत्यक्षम् । — प्रमाणनयतत्वालोको २.२

१३६. विशदः प्रत्यक्षम् । — प्रमाणमीमांसा, १.१.१३

१३७. न्यायविनिश्चय, ३

सम्मान्यविशेषात्मक अर्थ का जानना तथा स्वप्रकाशक या आत्मवेदक होना । 'साकार' विशेषण का प्रयोग भी यद्यपि ज्ञान सामान्य का प्रतिपादक है तथापि इसके द्वारा बौद्ध दर्शन में कल्पित निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का निराकरण हो जाता है । अतः प्रत्यक्ष- लक्षण में साकार शब्द का प्रयोग औचित्यपूर्ण है । प्रत्यक्ष के वैशिष्ट्य के प्रतिपादक अन्य दो शब्द हैं — स्पष्ट एवं अज्ञसा । अकलङ्क के टीकाकार वादिराज ने अज्ञसा पद को स्पष्ट एवं साकार दोनों के विशेषणों के रूप में ग्रहण कर प्रत्यक्ष को आवश्यकरूपेण स्पष्ट<sup>१३८</sup> एवं परमार्थतः साकार प्रतिपादित किया है<sup>१३९</sup> यद्यपि अकलङ्क अज्ञसा पद को स्पष्ट का विशेषण मानते हैं, ऐसा उनके द्वारा प्रयुक्त अन्य उदाहरणों से ज्ञात होता है ।<sup>१४०</sup>

अकलङ्क के द्वारा प्रतिपादित प्रत्यक्ष- लक्षण की एक ही विशेषता मुख्य रूप से उभर कर आती है और वह यह कि प्रत्यक्ष- प्रमाण प्रमाण होने के साथ विशदज्ञानात्मक होता है । 'साकार' विशेषण का प्रयोग तो परोक्ष-प्रमाण में भी चला जाता है, क्योंकि सामान्यतः सभी ज्ञान साकार होते हैं । यही कारण है कि अकलङ्कोत्तरवर्ती सभी जैन दार्शनिकों ने विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहा है, उसकी अन्य विशेषताओं का उल्लेख नहीं किया ।

विशदता—अब प्रश्न उठता है कि विशद किसे कहा जाय । विशदता के सम्बन्ध में लगभग सभी जैन दार्शनिकों ने विचार किया है । अकलङ्क के अनुसार अनुमान आदि अन्य प्रमाणों की अपेक्षा अधिक प्रकाशकता ही प्रत्यक्ष की विशदता है ।<sup>१४१</sup> विशदता की यह परिभाषा तुलनात्मक दृष्टिकोण को लिए हुए है, तथा अन्योन्याश्रित दोष से युक्त है । यही नहीं प्रत्यक्ष-प्रमाण में भी विशदता का तरतम रूप देखा जाता है । केवलज्ञान सर्वतः विशद है तथा उसकी अपेक्षा मतिज्ञान अविशद है । यह तो निश्चित है कि प्रत्यक्ष-प्रमाण अनुमान की अपेक्षा विशद होता है या अधिक प्रकाशक होता है । इसीलिए विद्यानन्द, वादिदेवसुरि<sup>१४२</sup> आदि जैन दार्शनिकों ने अकलङ्क कृत लक्षण को अपनाया है ।<sup>१४३</sup> विद्यानन्द ने तो विशदज्ञानात्मकता के साथ प्रत्यक्ष की व्याप्ति प्रदर्शित की है तथा अनुमानादि में उसका व्यतिरेक निर्दिष्ट किया है ।

माणिक्यनन्दी ने ज्ञानान्तर के व्यवधान से रहित विशेषरूपेण प्रकाशकता को विशदता कहा

१३८. प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टमज्ञसा - न्यायविनिश्चयविवरण, पृ० ९८

१३९. २ ज्ञसा परमार्थत एव साकारं न कल्पनयेति - न्यायविनिश्चयविवरण, पृ० १०३ पंक्ति २६

१४०. (१) विज्ञानमज्ञसा स्पष्टं विप्रकृष्टे विरुध्यते - न्यायविनिश्चयविवरण, पृ० ४०७

(२) प्रत्यक्षमज्ञसा स्पष्टमन्यच्छ्रुतमविप्लवम् - न्यायविनिश्चयविवरण, पृ० ४६९

१४१. अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम् ।

तद्वैशद्यं मतं बुद्धेरवैशद्यमतः परम् ।— लघीयस्वयं, का. ४

१४२. अनुमानाद्याधिक्येन विशेषप्रकाशनं स्पष्टत्वम् ।— प्रमाणनयतत्वालोको, २, ३

१४३. विशदज्ञानात्मकं प्रत्यक्षं प्रत्यक्षत्वात् । यत्तु न विशदज्ञानात्मकं तत्र प्रत्यक्षम्, यथाऽनुमानादिज्ञानम् ।

— प्रमाणपरीक्षा, पृ. ३७

है।<sup>१४४</sup> ज्ञानान्तर के व्यवधान से रहित कहने का आशय यह है कि प्रत्यक्ष प्रमाण किसी अन्य प्रमाण या ज्ञान के आश्रित नहीं होता है।

प्रभाचन्द्र ने विशदता में तरतमता का निर्देश किया है। उन्होंने अन्धकार में अस्पष्ट दिखाई देने वाले वृक्ष में भी संस्थान मात्र की विशदता को ज्ञापित कर उसमें प्रत्यक्ष-प्रमाण सिद्ध किया है तथा वृक्ष के विशेषांश को अनुमान-प्रमाण द्वारा अध्यवसित किया है।<sup>१४५</sup> प्रभाचन्द्र कहते हैं कि स्पष्ट ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम में तरतमता से पदार्थ का स्पष्ट ज्ञान होने में तरतमता होती है।<sup>१४६</sup> आचार्य प्रभाचन्द्र ने एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया है कि प्रमाण स्वपर प्रकाशक होता है, अतः स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि परोक्षप्रमाणों में भी स्वरूप प्रकाशकता के कारण प्रत्यक्ष का लक्षण अतिव्याप्त हो जाता है।<sup>१४७</sup> किन्तु वे इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहते हैं कि बाह्यार्थ का ज्ञान करने में प्रवृत्त होते समय स्मृत्यादि प्रमाणों को अन्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों पर आश्रित रहना पड़ता है इसलिए वे प्रत्यक्ष नहीं कहे जा सकते।<sup>१४८</sup> प्रभाचन्द्र ने माणिक्यनन्दी के कथन को ही विशदता अथवा अविशदता की कसौटी माना है। तदनुसार प्रमाणान्तर के व्यवधान से रहित ज्ञान विशद है तथा प्रमाणान्तर के व्यवधान से युक्त ज्ञान अविशद है। स्वरूप ग्रहण की अपेक्षा से विशदता या अविशदता का भेद प्रतिपादन प्रभाचन्द्र ने नहीं किया।<sup>१४९</sup>

आचार्य हेमचन्द्र ने वैशद्य की दो विशेषताओं का प्रतिपादन किया है—(1) प्रमाणान्तर की अपेक्षा न होना (2) इदन्तया प्रतिभास का होना।<sup>१५०</sup> प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं होने का कथन माणिक्यनन्दी एवं प्रभाचन्द्र का अनुसरण प्रतीत होता है, किन्तु इदन्तया प्रतिभास प्रत्यक्ष में ही होता है, अनुमानादि अन्य ज्ञानों में नहीं। अतः विशदता की यह नयी विशेषता कही जा सकती है। संक्षेप में जैन दर्शन के प्रत्यक्ष-प्रमाण की विशेषताओं का निम्नलिखित बिन्दुओं में समाहार किया जा सकता है—

- (1) प्रत्यक्ष ज्ञान विशद अथवा स्पष्ट होता है।
- (2) विशदता के कारण वह अन्य प्रमाण पर आश्रित नहीं होता।
- (3) अनुमान आदि परोक्ष प्रमाणों से वह अर्थ का विशेष प्रकाशन करता है।
- (4) प्रत्यक्ष के द्वारा पदार्थ का इदन्तया प्रतिभास होता है।

१४४. प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम् । —परीक्षामुख, २.४

१४५. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-१, पृ. ५९८-९९

१४६. विशदज्ञानावरणस्य तरतमभावेनैवापगमात् ।—प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-१, पृ. ५९९

१४७. ननु च परोक्षेऽपि स्मृतिप्रत्याभिज्ञादिस्वरूपसंवेदनेऽस्याध्यक्षलक्षणस्य सम्भवादतिव्याप्तिरेव ।— प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-१, पृ. ५९९

१४८. बहिरर्धग्रहणापेक्षया हि विज्ञानानां प्रत्यक्षोत्तरव्यपदेशः ।— प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-१, पृ. ६००

१४९. तत्र प्रमाणान्तराव्यवधानाव्यवधानसद्भावेन वैशद्योत्तरसम्भवात्, न तु स्वरूपग्रहणापेक्षया, तत्र तदभावात् ।  
— प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-१, पृ. ६००

१५०. प्रमाणान्तरानपेक्षेदन्तया प्रतिभासो वा वैशद्यम् ।— प्रमाणमीमांसा, १.१.१४

## प्रत्यक्ष के भेद

उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र में प्रत्यक्ष-प्रमाण के अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान एवं केवलज्ञान ये तीन भेद प्राप्त होते हैं। ये तीनों भेद आत्ममात्र सापेक्ष हैं। इनमें इन्द्रियादि के सहयोग की अपेक्षा नहीं है, किन्तु प्रत्यक्षज्ञान के नन्दीसूत्र में इन्द्रिय एवं नोइन्द्रिय ये दो भेद किए गए हैं तथा जिनभद्र ने इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के साथ अनिन्द्रिय अर्थात् मन के प्रत्यक्ष को भी स्थान देकर दोनों को सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है।

भट्ट अकलङ्क ने प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद किये हैं — (1) मुख्य प्रत्यक्ष एवं (2) संख्यवहार प्रत्यक्ष।<sup>१५१</sup> कुत्रचित् उन्होंने मुख्य प्रत्यक्ष को अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा है तथा संख्यवहार प्रत्यक्ष के दो भेद किए हैं—इन्द्रिय प्रत्यक्ष एवं अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष<sup>१५२</sup>। विद्यानन्द ने इन्द्रिय, अनिन्द्रिय एवं अतीन्द्रिय के रूप में प्रत्यक्ष के इन्हीं तीन भेदों का निरूपण किया है।<sup>१५३</sup> अकलङ्क के द्वारा किया गया वर्गीकरण ही माणिक्यनन्दी<sup>१५४</sup> हेमचन्द्र<sup>१५५</sup> आदि उत्तरकालीन जैन दार्शनिकों ने अपनाया है। चाण्डिकेयसूत्र ने मुख्य प्रत्यक्ष के स्थान पर पारमार्थिक प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग कर प्रत्यक्ष के द्विविध विभाजन को ही अक्षुण्ण रखा है।<sup>१५६</sup> यहाँ पर अकलङ्क के द्वारा किये गये मुख्य एवं संख्यवहार रूप विभाजन को आधार पर बना कर प्रत्यक्ष से सम्बद्ध अन्य विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

### (१) मुख्य प्रत्यक्ष

आगमिक सरणि में जिसे प्रत्यक्ष-प्रमाण कहा गया, प्रमाण-व्यवस्था युग में वही मुख्य प्रत्यक्ष के रूप में प्रतिष्ठापित हुआ। मुख्य प्रत्यक्ष में इन्द्रिय एवं मन के सहयोग की अपेक्षा नहीं होती। इसमें ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम अथवा क्षय से सीधा आत्मा द्वारा ज्ञान होता है। भट्ट अकलङ्क ने मुख्य प्रत्यक्ष को अतीन्द्रिय ज्ञान कहा है।<sup>१५७</sup> माणिक्यनन्दी ने सामग्री विशेष के कारण उसे समस्त आवरणों से रहित अतीन्द्रिय ज्ञान माना है।<sup>१५८</sup> अकलङ्क देव एवं माणिक्यनन्दी का लक्ष्य संभवतः केवलज्ञान को ही अतीन्द्रिय ज्ञान अथवा मुख्य प्रत्यक्ष के रूप में स्थापित करना है। आचार्य हेमचन्द्र के द्वारा दिये गये मुख्य प्रत्यक्ष के लक्षण से भी ऐसा विदित होता है<sup>१५९</sup> उन्होंने निःशेष रूप से ज्ञानावरणादि चार घाती कर्मों का क्षय होने पर जो चेतना का प्रकाशक स्वभाव आविर्भूत होता है उसे

१५१. मुख्यसंख्यवहारतः — लघीयस्त्रय, ३

१५२. तत्र सांख्यवहारिकम् इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम् । मुख्यमतीन्द्रियज्ञानम् । — लघीयस्त्रयवृत्ति, ४

१५३. तत् त्रिविधम् इन्द्रियानिन्द्रियातीन्द्रियप्रत्यक्षविकल्पात् । — प्रमाणपरीक्षा, पृ. ३८

१५४. द्रष्टव्य, परीक्षामुख २.५ एवं ११

१५५. द्रष्टव्य, प्रमाणमीमांसा १.१.१५ एवं २०

१५६. तद् द्विप्रकारं सांख्यवहारिकं पारमार्थिकम् । — प्रमाणनयतत्त्वालोक, २.४

१५७. मुख्यमतीन्द्रियज्ञानम् — लघीयस्त्रयवृत्ति, ४, अकलङ्कग्रन्थत्रय, पृ. २

१५८. सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम् । — परीक्षामुख, २.११

१५९. तत् सर्वधावरणविलये चेतनस्य स्वरूपाविर्भावो मुख्यं केवलम् । — प्रमाणमीमांसा, १.१.१५

मुख्य प्रत्यक्ष कहा है ।<sup>१६०</sup> वादिदेवसूरि ने मुख्य शब्द के स्थान पर पारमार्थिक शब्द का प्रयोग कर उसे उत्पत्ति में आत्ममात्रापेक्ष बतलाया है ।<sup>१६१</sup> इस प्रकार जैन दृष्टि का अंध्ययन करने पर यह विदित होता है कि वस्तुतः केवलज्ञान ही मुख्य प्रत्यक्ष है, किन्तु अवधिज्ञान एवं मनःपर्याय ज्ञानों में भी इन्द्रियादि की अपेक्षा नहीं होने के कारण उनको मुख्य प्रत्यक्ष में समाविष्ट कर लिया गया है । अवधिज्ञान एवं मनः पर्यायज्ञान भी इस दृष्टि से तरतम रूप में मुख्यप्रत्यक्ष अथवा पारमार्थिक प्रत्यक्ष ही हैं ।<sup>१६२</sup> इनमें भी केवलज्ञान की भांति बिना इन्द्रियादि की सहायता से सीधे आत्मा से पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है ।

**मुख्य प्रत्यक्ष के भेद** - मुख्य प्रत्यक्ष के तीन भेदों का वर्णन मिलता है - (1) अवधिज्ञान, (2) मनः पर्यायज्ञान एवं (3) केवलज्ञान । पूज्यपाद एवं अकलङ्क ने इनमें से प्रथम दो ज्ञानों को देशप्रत्यक्ष तथा केवलज्ञान को सर्वप्रत्यक्ष कहा है ।<sup>१६३</sup> वादिदेवसूरि ने देशप्रत्यक्ष के स्थान पर विकल प्रत्यक्ष एवं सर्वप्रत्यक्ष के स्थान पर सकल प्रत्यक्ष शब्दों का प्रयोग किया है ।<sup>१६४</sup> अर्थात् वे केवलज्ञान को सकल प्रत्यक्ष तथा अवधि एवं मनः पर्यायज्ञानों को विकलप्रत्यक्ष की श्रेणि में रखते हैं ।

**(क) अवधिज्ञान** - यह ज्ञान इन्द्रिय एवं मन की सहायता के बिना आत्मा में अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम से प्रकट होता है तथा इसके द्वारा रूपी पदार्थों की विभिन्न पर्यायों का ज्ञान होता है ।<sup>१६५</sup> सीमित क्षेत्र, काल आदि में मात्र रूपी पदार्थों का ज्ञान कराने के कारण यह मर्यादित अर्थात् अवधिज्ञान है । यह अवधिज्ञान दो प्रकार का है - भवप्रत्यय एवं गुणप्रत्यय । देव एवं नारक जीवों में जन्म से पाये जाने के कारण यह ज्ञान भवप्रत्यय तथा मनुष्य एवं तिर्यञ्च में साधना आदि के द्वारा प्रयत्नपूर्वक प्राप्त किये जाने के कारण गुणप्रत्यय अथवा क्षयोपशमनिमित्तक कहा जाता है ।<sup>१६६</sup> यह गुणप्रत्यय अवधिज्ञान अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित एवं अनवस्थित के भेद से छह प्रकार का है । जिस स्थान विशेष पर अवधिज्ञान प्राप्त हुआ है, वह यदि उस स्थान को छोड़ने पर भी ज्ञानी का अनुगमन करे तो उसे अनुगामी अवधिज्ञान कहते हैं और उस स्थान को छोड़ने पर अवधिज्ञान समाप्त हो जाय तो उसे अननुगामी अवधिज्ञान कहते हैं । एक बार अवधिज्ञान प्राप्त होने पर निरन्तर बढ़ता जाय उसे वर्धमान अवधिज्ञान तथा घटने पर उसे हीयमान अवधिज्ञान कहते हैं । यदि अवधिज्ञान प्राप्त होने पर जीवनपर्यन्त बना रहे तो उसे अवस्थित एवं एकबार प्राप्त होने

१६०. प्रमाणमीमांसा, वृत्ति, १.१.१५

१६१. पारमार्थिकं पुनरुत्पत्तावात्ममात्रापेक्षम् ।- प्रमाणनयतत्त्वालोक, २.१८

१६२. प्रमाणमीमांसा, १.१.१८

१६३. सर्वार्थसिद्धि, १.२० पृ. ८८, तत्त्वार्थवार्तिक १.२०.१५, पृ. ७८.२५-२६

१६४. तद् विकलं सकलं च ।- प्रमाणनयतत्त्वालोक, २.१९

१६५. अवधिज्ञानावरणविलयविशेषसमुद्भवं भवगुणप्रत्ययं रूपिद्रव्यगोचरमवधिज्ञानम् ।- प्रमाणनयतत्त्वालोक, २.२१

१६६. एषोऽवधिः षड्विकल्पः । कुतः अनुगाम्यननुगामिवर्धमानहीयमानावस्थिताऽनवस्थितभेदात् । - सर्वार्थसिद्धि, १.२२, पृ. ८८

पर समाप्त हो जाय तो उसे अनवस्थित अवधिज्ञान कहते हैं । अवस्थित एवं अनवस्थित को क्रमशः अप्रतिपाती एवं प्रतिपाती नाम भी दिए गए हैं ।

(ख) मनः पर्यायज्ञान<sup>१६७</sup> — संयम की विशुद्धि से जब मनः पर्यायज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है तो मनः पर्यायज्ञान प्रकट होता है ।<sup>१६८</sup> मनः पर्यायज्ञान भी आत्मसापेक्ष है, यह इन्द्रियादि की अपेक्षा नहीं रखता । मनः पर्यायज्ञान के सम्बन्ध में जैनदार्शनिकों में दो मत हैं । प्रथम मत नन्दीसूत्र<sup>१६९</sup>, आवश्यकनिर्युक्ति एवं तत्त्वार्थभाष्य<sup>१७०</sup> पर अवलम्बित है जिसके अनुसार मनः पर्यायज्ञान के द्वारा दूसरे के मन में चिन्त्यमान अर्थों को जाना जाता है । द्वितीय मत विशेषावश्यक भाष्य<sup>१७१</sup> नन्दीचूर्णि<sup>१७२</sup> आदि ग्रंथों पर अवलम्बित है, जिसके अनुसार मनः पर्यव ज्ञान द्वारा मात्र दूसरे के मन की पर्यायों को जाना जाता है तथा उसमें चिन्त्यमान पदार्थों का ज्ञान अनुमान-प्रमाण द्वारा होता है । इनमें से पूज्यपाद<sup>१७३</sup> अकलङ्क<sup>१७४</sup> आदि दिगम्बर जैन दार्शनिकों द्वारा मात्र प्रथम मत अपनाया गया है । श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्यों में दोनों मत दिखाई देते हैं, किन्तु हेमचन्द्र<sup>१७५</sup> आदि उत्तरकालीन दार्शनिकों द्वारा द्वितीय मत को महत्व दिया गया है । पं. सुखलाल जी का मन्तव्य है कि प्रथम परम्परा में दोषोद्भावन होने के कारण द्वितीय परम्परा का विकास हुआ ।<sup>१७६</sup> वस्तुतः मनः पर्यवज्ञानी दूसरे के मन की पर्यायों को ही जानता है, उसके मन में चिन्त्यमान पदार्थों को तभी जाना जा सकता है जब मन की पर्यायों को जान लिया गया हो । मन की पर्यायों को जानने के अनन्तर यदि चिन्त्यमान पदार्थों को जानता है तो या तो उन्हें अनुमान से जाना जा सकता है, या फिर अवधिज्ञान से । चिन्तन को जानना तथा चिन्त्यमान पदार्थों को जानना भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य हैं ।

मनः पर्यय ज्ञान के दो भेद हैं— ऋजुमति एवं विपुलमति । इनमें ऋजुमति से विपुलमति ज्ञान

१६७. 'मनः पर्यायज्ञान' शब्द के स्थान पर 'मनः पर्यय' एवं 'मनः पर्यव' शब्दों का भी प्रयोग मिलता है ।

१६८. संयमविशुद्धिनिबन्धनाद् विशिष्टावरणविच्छेदाज्जातं मनोद्रव्यपर्यायात्मन्वनं मनः पर्यायज्ञानम् । — प्रमाणनयतत्त्व-लोक, २.२२

१६९. मणपञ्जवनाणं पुण, जणमणपरिचितियत्त्वपागडणं ।

माणसखित्तनिबद्धं, गुणपच्चइअं चरित्तवओ ॥— नन्दीसूत्र, ६५

१७०. अवधिज्ञानविषयस्थानन्तथागं मनः पर्यायज्ञानी जानीते रूपिद्रव्याणि मनोरहस्यविचारगतानि च मानुषक्षेत्रपर्यापन्तानि विशुद्धतराणि चेति ।— उमास्वाति, तत्त्वार्थभाष्य, १.२९

१७१. द्रव्यमणोपञ्जाए जाणइ पासइ य तग्गएणन्ते ।

तेणवभासिए उण जाणइ बज्जेऽणुमाणेणं ॥— जिनमद्र, विशेषावश्यकभाष्य, ८१४

१७२. मणियत्त्वं पुण पच्चक्खं णो पेक्खइ, जेण मणणं मुत्तममुत्तं वा, सो य छउमत्थो तं अपुमाणतो पेक्खइ ति ।— नन्दीचूर्णि पृ. २४

१७३. परकीयमनसि व्यवस्थितोऽर्थऽनेन ज्ञायते इत्येतावदत्रापेक्ष्यते ।— सर्वार्थसिद्धि, १.२३, पृ. ८९-९०

१७४. परकीयमनेगतार्थज्ञानं मनः पर्ययः । तत्त्वार्थवार्तिक, १.९.४ तथा द्रष्टव्य, तत्त्वार्थवार्तिक, १.२३.२-४

१७५. मनसो द्रव्यरूपस्य पर्यायाश्चिन्तनानुगुणाः परिणामभेदास्तद्विषयं ज्ञानं मनः पर्यायः । यद्बाह्यचिन्तनीयार्थज्ञाने तत् आनुमानिकमेव न मनः पर्यायप्रत्यक्षम् ।— प्रमाणमीमांसावृत्ति, १.१.१८, पृ. १५

१७६. प्रमाणमीमांसा, भाषाटिप्पण, पृ. ३७-३८

अधिक विशुद्ध एवं अप्रतिपाती (न गिरने वाला) होता है ।<sup>१७७</sup> दोनों प्रकार का मनः पर्याय ज्ञान संयत एवं अप्रमत्त मनुष्य के अतिरिक्त किसी भी अन्य प्राणी को नहीं होता । मनः पर्याय ज्ञान मूर्त मनोद्रव्यगतपर्यायों अथवा तद्गत मूर्त अर्थों को जानता है । अमूर्त द्रव्यों का ज्ञान केवल ज्ञान में ही होता है ।

(ग) **केवलज्ञान**— केवल ज्ञान सकल प्रत्यक्ष ज्ञान है । इससे बढ़कर कोई भी ज्ञान उत्कृष्ट एवं विशुद्ध नहीं है । मोह, ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अन्तराय कर्म के क्षय (सम्पूर्ण नाश) से यह ज्ञान प्रकट होता है ।<sup>१७८</sup> इसकी प्राप्ति के अनन्तर आत्मा पर किसी भी प्रकार का ज्ञानावरण शेष नहीं रहता । केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् पुरुष को कुछ भी जानना शेष नहीं रहता, अतः उसे सर्वज्ञ कहा जाता है । सर्वज्ञ को विश्व के समस्त पदार्थों के तीनों कालों की समस्त पर्यायों का ज्ञान हस्तामलकवत् स्पष्टरूपेण होता रहता है ।<sup>१७९</sup> बाह्यपदार्थों की पर्यायों का ज्ञान कुन्दकुन्द की दृष्टि में व्यवहार दृष्टि से होता है तथा निश्चय दृष्टि से सर्वज्ञ को आत्मा की पर्यायों का ज्ञान होता है ।<sup>१८०</sup> आचाराङ्गसूत्र में सर्वज्ञता के सन्दर्भ में कथन है कि जो एक को जानता है, वह सबको जानता है तथा जो सबको जानता है वह एक को जानता है ।<sup>१८१</sup> डॉ. नथमल टाटिया ने इसकी व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहा है कि जैन दर्शन में प्रत्येक पदार्थ अपने अतिरिक्त जगत् के समस्त पदार्थों से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध है । उनका सम्बन्ध पर्यायों के रूप में होता है । जब एक पदार्थ का पूर्ण रूप से ज्ञान होता है तो जगत् के अन्य पदार्थों से उसके सम्बन्ध अथवा पर्यायों का भी ज्ञान हो जाता है । इस प्रकार एक पदार्थ का सम्पूर्ण ज्ञान ही समस्त पदार्थों का पूर्ण ज्ञान है ।<sup>१८२</sup>

जैन दार्शनिक साहित्य का बहुत बड़ा भाग सर्वज्ञता की पुष्टि में लगा हुआ है । सर्वज्ञता की पुष्टि हेतु मुख्यतः दो तर्क दिये जाते हैं — (1) प्रज्ञा का तारतम्य देखा जाता है, अतः वह किसी मनुष्य में निरतिशय भी होनी चाहिए अर्थात् पूर्ण होनी चाहिए । प्रज्ञा का पूर्ण होना सर्वज्ञता है । (2) सर्वज्ञ का बाधक कोई प्रमाण नहीं है ।<sup>१८३</sup> अन्य हेतु भी दिये गये हैं यथा ज्ञानावरण कर्म का सम्पूर्ण क्षय होने पर सर्वज्ञता प्रकट होती है, अत्यन्त अपरोक्ष अर्थ का भी अविशंवादी ज्ञान होता है आदि । आप्तमीमांसा में समन्तभद्र ने प्रतिपादित किया है कि सूक्ष्म, अन्तरित एवं दूरस्थ पदार्थ भी किसी को

१७७. विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ।— तत्त्वार्थसूत्र, १.२५

१७८. मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ।— तत्त्वार्थसूत्र, १०.१

१७९. निखिलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारि स्वरूपं केवलज्ञानम् ।— प्रमाणनयतत्त्वालोक, २.२३

१८०. जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भगवं ।

केवलजाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥— नियमसार, १५८

१८१. जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ ।— आचारांगसूत्र, १.३.४

१८२. Studies in Jaina Philosophy, p. 70

१८३. यथा-प्रज्ञातिशयविभ्रान्त्यादिसिद्धेस्तत्सिद्धिः । बाधकाभावाच्च ।— प्रमाणमीमांसा, १.१.१६, १७



प्रत्यक्ष होते हैं। जिस प्रकार अनुमान प्रमाण से जानी गई अग्नि किसी को प्रत्यक्ष भी होती है उसी प्रकार सर्वज्ञ को सूक्ष्म अन्तरित एवं दूरस्थ पदार्थ भी प्रत्यक्ष होते हैं।<sup>१८४</sup>

मीमांसकों ने सर्वज्ञता का खण्डन किया है। बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने भी बुद्ध को धर्मज्ञ माना है, सर्वज्ञ नहीं। किन्तु धीरे धीरे बौद्धदर्शन में भी सर्वज्ञता का समावेश हो गया। योगि- प्रत्यक्ष एक प्रकार से अतीन्द्रियज्ञान रूप सर्वज्ञता का ही द्योतक है।

## (२) सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष

सर्वप्रथम जिनभद्रगणि क्षमात्रमण ने इन्द्रिय एवं मन से जन्य ज्ञान को सांख्यवहार प्रत्यक्ष कहा है।<sup>१८५</sup> अकलङ्क ने इन्द्रिय प्रत्यक्ष एवं अनिन्द्रिय (मन) प्रत्यक्ष को सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है।<sup>१८६</sup> सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष की कल्पना लोकव्यवहार को दृष्टिगत रखकर की गयी।<sup>१८७</sup> सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष के स्वरूप एवं भेदों के सम्बन्ध में लगभग समस्त जैन दार्शनिकों ने जिनभद्र एवं अकलङ्क का अनुसरण किया है।<sup>१८८</sup> सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रिय एवं मन के निमित्त से होता है।<sup>१८९</sup> यद्यपि ज्ञान रूप होने के कारण यह भी ज्ञानावरण के क्षयोपशम से आत्मा में ही प्रकट होता है, किन्तु इन्द्रियादि के निमित्त से होने के कारण इसे सांख्यवहारिक कहा जाता है। यह जब इन्द्रिय के निमित्त से होता है तो इन्द्रिय प्रत्यक्ष तथा मन के द्वारा होने पर अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष कहलाता है।

**इन्द्रिय-प्रत्यक्ष** — प्रमाण सामान्य की भांति इन्द्रियप्रत्यक्ष भी हित की प्राप्ति एवं अहित के त्याग में समर्थ है। यह अर्थ का सम्पूर्ण ज्ञान कराने वाला नहीं, किन्तु देशतः अर्थात् आंशिक रूप में ज्ञान कराने वाला होता है। अकलङ्क देव का इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में यही मन्तव्य है यथा “जो हित की प्राप्ति एवं अहित के त्याग में समर्थ हो, इन्द्रियों से उत्पन्न हो एवं जिससे देशतः अर्थ का ज्ञान होता हो, वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा जाता है।”<sup>१९०</sup> यहाँ अकलङ्क ने इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की आवश्यक विशेषताओं एवं सीमा का निर्देश किया है। साधारण रूपेण इन्द्रियों के माध्यम से होने वाला बाह्य अर्थों का प्रत्यक्ष इन्द्रिय-प्रत्यक्ष है।

**इन्द्रियाँ पाँच हैं** — श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, एवं स्पर्शन (त्वक्)। जैनदर्शन में मन को अनिन्द्रिय

१८४. सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।

अनुमेयत्वतोऽन्यादिरितिसर्वज्ञसंस्थितिः ॥— आप्तमीमांसा, ५

१८५. इन्द्रियमणो भवं जं तं संख्यवहारपञ्चकसंखं ।— विशेषावश्यकभाष्य, ९५

१८६. तत्र सांख्यवहारिकम् इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम् ।— लघीयसूत्रवृत्ति, ४

१८७. केवलं लोकबुद्धयैव मतेलक्षणसंग्रहः ।— अकलङ्क न्यायविनिश्चय, ४७५

१८८. (१) माणिक्यनन्दी, परीक्षामुख, २.५, इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांख्यवहारिकम्।

(२) हेमचन्द्र, प्रमाणमीमांसा, १.१.२०, इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवग्रहेहावायधारणात्सांख्यवहारिकम्।

१८९. तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ।— तत्त्वार्थसूत्र, १.१४

१९०. हितहितप्राप्तनिर्मुक्तिक्षममिन्द्रियनिमित्तम्।

यदेशेतोऽर्थज्ञानं तदिन्द्रियाध्यक्षमुच्यते ॥— न्यायविनिश्चय, ४

कहकर उसे इन्द्रियों से पृथक् प्रतिपादित किया गया है ।<sup>१९१</sup> इन्द्रियों एवं मन को पुद्गल (जड़ द्रव्य) से निर्मित होने के कारण क्रमशः द्रव्येन्द्रिय एवं द्रव्य मन कहा गया है तथा चेतनायुक्त होकर जब वे बाह्यार्थ का ज्ञान करते हैं तब उन्हें क्रमशः भावेन्द्रिय एवं भाव मन कहा गया है । परमार्थतः तो आत्मा ही भावमन एवं भावेन्द्रिय है ।

जैन दर्शन की यह मान्यता है कि श्रोत्र, घ्राण, रसना एवं स्पर्शन ये चार इन्द्रियाँ पदार्थ को प्राप्त कर अर्थात् पदार्थ का संयोग प्राप्त कर पदार्थ का ज्ञान कराती है । इसलिए ये चारों प्राप्यकारी हैं, किन्तु चक्षु इन्द्रिय एवं मन पदार्थ का संयोग प्राप्त किये बिना, पदार्थ से कुछ दूर रहकर उनका ज्ञान कराने में समर्थ हैं, अतः ये दोनों अप्राप्यकारी हैं ।<sup>१९२</sup>

**अनिन्द्रिय - प्रत्यक्ष** - जैनदर्शन में 'अनिन्द्रिय' शब्द का प्रयोग मन के अर्थ में हुआ है<sup>१९३</sup> तथा इसे इन्द्रियों से भिन्न एवं निरपेक्ष प्रतिपादित किया गया है ।<sup>१९४</sup> न्यायदर्शन में जहाँ मन आत्मा से संयुक्त होता है एवं इन्द्रियाँ मन से संयुक्त होती हैं, तभी बाह्यार्थ का ज्ञान होता है वहाँ जैनदर्शन में आत्मा को मात्र मन के द्वारा (इन्द्रियों के बिना) भी बाह्यार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान करने वाला माना गया है । इन्द्रियों के द्वारा जहाँ अपने अपने विषयों का ज्ञान होता है वहाँ मन समस्त इन्द्रियों के विषयों को जान सकता है । इन्द्रियों की भांति मन भी पौद्गलिक है, अतः चेतना (आत्मा) के संयोग से ही बाह्य पदार्थों को जानने में समर्थ होता है । उमास्वामि ने मन को श्रुतज्ञान का करण कहा है ।<sup>१९५</sup> श्रुतज्ञान वहाँ मति का उपलक्षण है । मति एवं श्रुत दोनों में समस्त पदार्थों का ज्ञान माना गया है । इसीलिए आचार्य हेमचन्द्र ने मन को समस्त अर्थों का ग्राहक माना है ।<sup>१९६</sup> यद्यपि इन्द्रिय प्रत्यक्ष में भी मन इन्द्रियों का सहयोग करता है, किन्तु वह इन्द्रियों के बिना भी आत्मा का करण बन कर बाह्यार्थ का प्रत्यक्ष करने में समर्थ है । वैसे चक्षु इन्द्रिय की भांति मन को भी जैनदर्शन में अप्राप्यकारी माना गया है ।

बौद्ध और जैन दोनों दर्शन मन को व्यापक या परमाणुरूप नहीं मानकर मध्यम परिमाण वाला मानते हैं । विज्ञानवाद के अनुसार मन विज्ञानात्मक है तथा उत्तरवर्ती विज्ञानों का समनन्तर करण रूप

१९१. बौद्धदर्शन में मन को इन्द्रियों की श्रेणी में प्रतिपादित किया गया है । डॉ० नक्षमल टाटिया कहते हैं कि जैनदर्शन में मन को अनिन्द्रिय कहना संभवतः उतना ही प्राचीन है जितना बौद्ध दर्शन में मन को इन्द्रिय कहना ।— Studies in Jaina Philosophy, p.32

१९२. बौद्धदर्शन में चक्षु एवं मन के साथ श्रोत्र को भी अप्राप्यकारी माना गया है, यथा - अप्राप्तान्याक्षिमनःश्रोत्राणि त्रयमन्यथा ।— अविधर्मकोश, २.४३ एवं द्रष्टव्य, यही अध्याय, पादटिप्पण ९५

१९३. अनिन्द्रिय के अतिरिक्त 'नोइन्द्रिय' शब्द भी कहीं कहीं मन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, यथा 'सवार्थग्रहणं मनः अनिन्द्रियम्' इति 'नोइन्द्रियम्' इति चोच्यते ।— प्रमाणमीमांसा वृत्ति, १.१.२४ । नोइन्द्रिय शब्द का प्रयोग आत्मा के अर्थ में भी हुआ है । नन्दीसूत्र में अविधि आदि ज्ञानों को नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा गया है ।— नन्दीसूत्र, ५

१९४. तस्येन्द्रिनिरपेक्षस्य तज्जनकत्वाभावात् ।— प्रमाणमीमांसावृत्ति, १.१.२१, पृ० १७.२६

१९५. श्रुतमनिन्द्रियस्य ।— तत्त्वार्थसूत्र, २.२२

१९६. सवार्थग्रहणं मनः ।— प्रमाणमीमांसा, १.१.२४

विज्ञान है। बौद्ध मन से पृथक् आत्मा को स्वीकार नहीं करते हैं। उनके यहां मन से होने वाले प्रत्यक्ष को मानस प्रत्यक्ष कहा गया है जबकि जैनदर्शन में उसे अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा गया है।

मन का स्वरूप, कारण, कार्य आदि भारतीय दर्शन में विवाद के विषय रहे हैं। मन का शरीर में क्या स्थान है इस सम्बन्ध में पं. सुखलाल संघवी के अनुसार दिगम्बर पक्ष द्रव्यमन को हृदयप्रदेशवर्ती स्वीकार करता है जबकि श्वेताम्बर परम्परा समग्र स्थूल शरीर को द्रव्यमन का स्थान मानती है। भावमन तो आत्मस्वरूप है ही।

### सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष की प्रक्रिया

इन्द्रिय एवं मन के माध्यम से होने वाले बाह्यार्थ के प्रत्यक्ष के चार सोपान हैं - अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा। यद्यपि ये चारों सोपान मूलतः मतिज्ञान के भेदों में परिगणित हैं<sup>१९७</sup> किन्तु जिनभद्र एवं अकलङ्क द्वारा मतिज्ञान को संख्यवहार प्रत्यक्ष के रूप में अंगीकार कर लिये जाने के कारण इन चारों भेदों को सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष की चार अवस्थाओं या चार सोपानों में समझा जा सकता है।

**अवग्रह** - अवग्रह के सन्दर्भ में जैनदार्शनिकों के दो मत हैं। प्रथम मत में उमास्वाति, जिनभद्र, सिद्धसेनगणि एवं यशोविजय हैं, जिनके अनुसार अवग्रह में निश्चयात्मक ज्ञान नहीं होता। द्वितीय मत अवग्रह को निश्चयात्मक ज्ञान मानता है। इस मत के प्रतिपादक एवं समर्थक हैं - पूज्यपाद देवन्दी, अकलङ्क, विद्यानन्द, वादिदेवसूरि एवं हेमचन्द्र। प्रथम मत आगमिक धारा का प्रस्तावक एवं समर्थक हैं, तथा द्वितीय मत ज्ञान को प्रमाण मानने के कारण उसे निश्चयात्मक मानने वाला है। जैन दर्शन में दर्शन को निराकार एवं निर्विकल्पक माना गया है तथा ज्ञान को साकार एवं सविकल्पक। अवग्रह ज्ञान की अवस्था है, दर्शन की नहीं। ज्ञान होने से, अवग्रह साकार एवं निश्चयात्मक है। वह दर्शन के अनन्तर होता है।

वाचक उमास्वाति ने अवग्रह को परिभाषित करते हुए कहा है कि इन्द्रियों के द्वारा अपने विषयों का आलोचन पूर्वक अव्यक्त अवधारण अवग्रह है।<sup>१९८</sup> अवग्रह के द्वारा विषय के सामान्यधर्मों का ज्ञान होता है तथा वह शब्दों द्वारा अनिर्देश्य होता है। जिनभद्र ने अर्थावग्रह के विषय को सामान्य, अनिर्देश्य, स्वरूप नामादि की कल्पना से रहित प्रतिपादित किया है।<sup>१९९</sup> सिद्धसेनगणि ने उमास्वाति का अनुसरण किया है तथा यशोविजय (17 वीं शती) ने जिनभद्र के तर्कों को ही संक्षेप में प्रस्तुत किया है।<sup>२००</sup>

१९७. अवग्रहेहावायधारणा: - तत्त्वार्थसूत्र १.१५, नन्दीसूत्र में इन चारों भेदों को आभिनिबोधक ज्ञान के श्रुतिनिमित्त भेदों में गिनाया गया है - सुयनिसिसयं चउत्विहं पण्णत्तं, तंजहा - उग्गहे, ईहा, अवाओ, धारणा। - नन्दीसूत्र, २६

१९८. तत्राव्यक्तं यथास्वं इन्द्रियैर्विषयाणामालोचनावधारणमवग्रहः। - तत्त्वार्थीधिगमभाष्य, १.१५

१९९. सामन्तं अभिदेसं सरूवनामाइकप्यणारहियं। - विशेषावश्यकभाष्य, २५२

२००. द्रष्टव्य, जैनतर्कभाषा, पृ. ७-१४ एवं नथमल टाटिया, Studies in Jaina Philosophy, p. 36

अवग्रह भी दो प्रकार का है—व्यञ्जनावग्रह एवं अर्थावग्रह ।<sup>२०१</sup> पदार्थ के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होने पर पदार्थ का ज्ञान होने के पूर्व जो उसका आभास होता है वह व्यञ्जनावग्रह है । आगमसरणि के आचार्य जिन्नभद्र ने इन्द्रिय, अर्थ एवं उनके सन्निकर्ष को व्यञ्जनावग्रह माना है । अर्थावग्रह में पदार्थ का ग्रहण होता है कि यह कुछ है । चक्षु एव मन के अप्राप्यकारी होने से उनमें व्यञ्जनावग्रह नहीं होता, मात्र अर्थावग्रह होता है । शेष इन्द्रियों के प्रत्यक्ष में दोनों प्रकार के अवग्रह होते हैं ।

पूज्यपाद देवनन्दी ने व्यञ्जनावग्रह को अव्यक्त तथा अर्थावग्रह को व्यक्त ज्ञान माना है ।<sup>२०२</sup> अवग्रह को निश्चयात्मक ज्ञान की श्रेणी में रखने वाले ऋद्ध अकलङ्क के अनुसार इन्द्रिय एवं अर्थ का योग होने पर पदार्थ की सत्ता के आलोचन रूप अर्थ के आकार का निश्चयात्मक ज्ञान अवग्रह है ।<sup>२०३</sup> विद्यानन्द ने अवग्रह को इन्द्रिय एवं अर्थ का योग होने पर वस्तुमात्र का ग्रहण होने के अनन्तर वस्तु भेद का ग्राहक प्रतिपादित किया है ।<sup>२०४</sup> वादिदेवसूरि ने प्रतिपादित किया है कि विषय एवं इन्द्रिय का योग (सन्निपात) होने पर सत्ता मात्र को ग्रहण करने वाला दर्शन उत्पन्न होता है तदनुसार अवान्तर सामान्य से युक्त वस्तु को ग्रहण करने वाला अवग्रह उत्पन्न होता है ।<sup>२०५</sup> आचार्य हेमचन्द्र ने इसी बात को सरल शब्दावली में प्रस्तुत करते हुए प्रतिपादित किया है कि इन्द्रिय एवं अर्थ का योग होने पर दर्शन उत्पन्न होता है, दर्शन के अनन्तर जो अर्थ का ग्रहण है वह अवग्रह है ।<sup>२०६</sup>

जैन नैयायिकों ने आगमिक धारा में प्रतिपादित अवग्रह के सामान्य-ग्रहण अर्थ को आगे न बढ़ाकर उसे निश्चयात्मक रूप में प्रस्तुत किया, इसका मुख्य कारण प्रमाणशास्त्र में निश्चयात्मक ज्ञान को प्रमाण मानना रहा है ।

ईहा — अवगृहीत अर्थ के विषय में विशेष जानने की चेष्टा अथवा आकांक्षा ईहा है ।<sup>२०७</sup> यथा निद्रा में सोये हुए व्यक्ति को लगातार आवाज लगाये जाने पर उसका आवाज से सम्पर्क होने पर 'यह आवाज है' इस रूप में ग्रहण तो अवग्रह है, किन्तु उसके अनन्तर यह आवाज किसकी है—पुरुष की

२०१. नन्दीसूत्र, २७

२०२. अर्थावग्रहव्यञ्जनावग्रहयोर्व्यक्ताव्यक्तकृतो विशेषः ।— सर्वाथिसिद्धि १.१८ पृ० ८१

२०३. अक्षार्थयोगे सत्तालोकोऽर्थाकारविकल्पधीः ।

अवग्रहो... लघीयस्त्रय, ५

२०४. अक्षार्थयोगजाद वस्तुमात्रग्रहणलक्षणम् ।

जातं यद् वस्तु भेदस्य ग्रहणं तदवग्रहः ।— तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १.१५.२ भाग-३, पृ० ४३७

२०५. विषयविषयिसन्निपातानन्तरसमुद्भूतसत्तामात्रगोचरदर्शनाज्जातमाद्यमवान्तरसामान्याकारविशिष्टवस्तुग्रहणमवग्रहः ।

प्रमाणनयतत्त्वालोक, २.७

२०६. अक्षार्थयोगे दर्शनान्तरमर्थग्रहणमवग्रहः ।— प्रमाणमीमांसा, १.१.२६

२०७. (१) विशेषाकांक्षेहा - लघीयस्त्रय, ५

(२) तद्गृहीतार्थसामान्ये यद्विशेषस्य कांक्षणम् ।

निश्चयाभिमुखं सेहा संशयाद्धिन्लक्षणम् ।— तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१५.३

(३) अवगृहीतार्थविशेषाकांक्षेहा ।— प्रमाणनयतत्त्वालोक, २.८

है या नारी की है, अथवा वाद्ययन्त्र की है इस रूप में शंका होने के साथ ही यह निश्चय हो कि यह आवाज पुरुष की होनी चाहिए, यह ज्ञान ईहा है ।<sup>२०८</sup>

ईहा ज्ञान संशय पूर्वक होता है, किन्तु संशय रूप नहीं है, क्योंकि संशय में तो ज्ञान निश्चयात्मक नहीं हो पाता, किन्तु ईहा में निर्णयपरक होता है ।<sup>२०९</sup> वादिदेवसूरि ने प्रतिपादित किया है कि ईहा ज्ञान संशयपूर्वक होता है, इसलिए वह संशय से भिन्न है ।<sup>२१०</sup> एक प्रकार से कहा जाय तो ईहा ज्ञान संदेह को दूर करता है । आचार्य हेमचन्द्र का मत है कि अवग्रह एवं ईहा के बीच संदेह की स्थिति सदैव उत्पन्न होती है, किन्तु शीघ्रता के कारण उपलक्षित नहीं होती ।<sup>२११</sup>

**अवाय** — ईहित अर्थविशेष का निर्णय अवाय है ।<sup>२१२</sup> यथा शब्द सुनकर यह ईहा हुई कि ये शब्द पुरुष के होने चाहिए, अवाय में यह निर्णय हो जाता है कि यह पुरुष के ही शब्द हैं । संक्षेप में यदि कहा जाय तो अवाय को ही प्रत्यक्ष प्रक्रिया में पूर्ण निर्णयात्मक ज्ञान कहा जा सकता है और यही प्रमाण का वास्तविक स्वरूप है, जो हेयोपादेय का ज्ञान कराता है । इस अवाय के लिए 'अपाय' शब्द का भी प्रयोग हुआ है ।

**धारणा** — जिनभद्र ने अवाय ज्ञान की अविच्युति को धारणा कहा है ।<sup>२१३</sup> अकलङ्क एवं विद्यानन्द ने स्मृति के हेतु को धारणा कहा है, <sup>२१४</sup> किन्तु वादिदेवसूरि ने धारणा को स्मृति का साक्षात् हेतु मानने का खण्डन किया है तथा उसे पारम्परिक हेतु माना है ।<sup>२१५</sup> उनके मत में अवाय ज्ञान जब दृढतम अवस्था को धारण कर लेता है, तो उसे धारणा कहा जाता है ।<sup>२१६</sup> हेमचन्द्र का मत है कि धारणा के होने पर ही स्मृति का होना शक्य है, इसलिए धारणा को स्मृति का हेतु मानना सर्वथा उचित है ।<sup>२१७</sup> उनका कथन है कि धारणा के अभाव में स्मृति रूप परोक्ष ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि अवग्रह आदि तीनों ज्ञान तो अन्तर्मुहूर्त (अधिकतम अड़तालीस मिनिट) तक विद्यमान रहते हैं ।<sup>२१८</sup> संक्षेप में कहें

२०८. अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा को समझने के लिए नन्दीसूत्र में दिये गये उदाहरण द्रष्टव्य हैं । देखिए, नन्दीसूत्र, ३५ (१) प्रतिबोधक दृष्टान्त (२) मल्लक दृष्टान्त

२०९. निश्चयाधिमुखं सेहा संशयाद्भिन्नलक्षणा ।— विद्यानन्द, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१५.३

२१०. संशयपूर्वकत्वादीहायाः संशयाद् भेदः ।— प्रमाणनयतत्त्वालोक, २.११

२११. इह चावग्रहेहयोरन्तराले अभ्यस्तेऽपि विषये संशयज्ञानमस्त्येव आशु धावानु नोपलक्ष्यते ।— प्रमाणमीमांसावृत्ति, १.१.२७, पृ० २१

२१२. (१) अवायो विनिश्चयः ।— लघीयस्त्रय, ५. (२) तस्यैव निर्णयोऽवायः ।— तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १.१६.४

(३) ईहितविशेषनिर्णयोऽवायः ।— प्रमाणनयतत्त्वालोक, २.९

२१३. अविच्युई धारणा होइ ।— विशेषावश्यकपाष्य, १८०

२१४. (१) धारणा स्मृतिहेतुः ।— लघीयस्त्रय, ६

(२) स्मृतिहेतुः स धारणा - तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१५.४

२१५. स्वाह्यादरत्नाकर, २.१०, पृ० ३४९

२१६. स एव दृढतमावस्थापन्नो धारणा ।— प्रमाणनयतत्त्वालोक, २.१०

२१७. स्मृतिहेतुधारणा ।— प्रमाणमीमांसा, १.१.२९

२१८. अवग्रहादवस्तु त्रय आन्तर्मुहूर्तिकाः ।— प्रमाणमीमांसावृत्ति, १.१.२९

तो धारणा अवाय रूप में निर्णीत ज्ञान का संस्कार है, जो स्मृति का हेतु है ।

अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा का सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष में आवश्यक क्रम है, किन्तु शीघ्रता पूर्वक होने से क्रम का भान नहीं होता । जिस प्रकार कमल के सैकड़ों पत्तों के साथ छेदे जाने पर यह ज्ञान नहीं होता कि कौनसा पत्ता कब छेदा गया, किन्तु उनका छेदन क्रम से ही होता है । २१९ इसी प्रकार अवग्रह आदि भी क्रम से ही होते हैं, किन्तु शीघ्र सम्पन्न होने के कारण इनके क्रम का बोध नहीं रहता है । आधुनिक युग में टेलीफोन से बात करते समय हमें लगता है कि दूसरे ही क्षण हमारी ध्वनि अमेरिका पहुँच गई है, किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से वह ध्वनि भी विद्युत् तरंगों में परिणत होकर क्रम से ही जाती है । शीघ्रता पूर्वक जाने से उनके क्रम का हमें बोध नहीं रहता है ।

## जैन दार्शनिकों द्वारा बौद्ध प्रत्यक्ष-प्रमाण का परीक्षण

जैन दार्शनिकों ने बौद्ध प्रत्यक्ष-प्रमाण में अनेकविध दोषों का उद्भावन कर विकल्पात्मक अथवा स्वपर-निश्चयात्मक ज्ञान को प्रमाण रूप में प्रतिष्ठित किया है । दिग्म्बर एवं श्वेताम्बर सम्प्रदायों के जिन जैनाचार्यों ने बौद्धप्रत्यक्ष का सबल खण्डन किया है उनमें प्रमुख मल्लवादी क्षमाश्रमण, भट्ट अकलङ्क, विद्यानन्द, वादिराज, अभयदेवसूरि, प्रभाचन्द्र एवं वादिदेवसूरि के दार्शनिक ग्रंथों के आधार पर यथाक्रम यहां बौद्ध प्रत्यक्षप्रमाण का खण्डन प्रस्तुत किया गया है । जैनाचार्यों द्वारा प्रमुखरूपेण दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकरगुप्त, ज्ञान्तरिक्षित, कमलशील आदि बौद्ध दार्शनिकों के मन्तव्यों को खण्डन का लक्ष्य बनाया गया है । जैन दार्शनिक बौद्ध-प्रत्यक्ष की आलोचना करते समय बौद्धदर्शन के प्रकाण्ड पण्डित प्रतीत होते हैं, क्योंकि अनेकत्र वे बौद्ध प्रत्यक्ष-मीमांसा का बौद्धों के सिद्धान्तों से ही खण्डन करते हुए दिखाई देते हैं तथा अनेकत्र मौलिक तर्कों का उपस्थापन कर प्रत्यक्ष को सविकल्पात्मक सिद्ध करते हैं ।

### मल्लवादी क्षमाश्रमण

तार्किक शिरोमणि मल्लवादी क्षमाश्रमण ने दिङ्नाग के प्रत्यक्ष-लक्षण को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित कर उसका मौलिक एवं विस्तृत खण्डन किया है । टीकाकार सिंहसूरि ने उसकी समुचित व्याख्या की है ।

**पूर्वपक्ष** - घटादि की कल्पना से रहित ज्ञान प्रत्यक्ष है । नाम, जाति, गुण, क्रिया एवं द्रव्य के स्वरूप को प्राप्त वस्त्वन्तर का निरूपण करना अथवा अनुस्मरण करना कल्पना है । इस प्रकार की कल्पना से रहित प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय के अधिपति प्रत्यय से उत्पन्न होता है । उसका विषय असाधारण अर्थ (स्वलक्षण) होता है । वह शब्दातीत होता है तथा सबके लिए आत्मसंवेद्य होता है ।

मल्लवादी के टीकाकार सिंहसूरि ने कल्पना को दो प्रकार का निरूपित किया है (1) यादृच्छिकी

२१९. क्वचित् क्रमस्थानुपलक्षणमेवाप्याश्रुत्यादात् उत्पलपत्रशतव्यतिभेदक्रमवत् ।— प्रमाणवतत्वालोक, २.१७

एवं (2) नैमित्तिकी । नाम युक्त कल्पना को यादृच्छिकी तथा जात्यादि से युक्त कल्पना को नैमित्तिकी कहा है । सिंहसूरि का कथन है कि रूप, आलोक, चित्त एवं चक्षु से चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है तथापि चक्षु असाधारण कारण है अतः प्रत्यक्ष को चक्षुर्विज्ञान शब्द से व्यपदिष्ट किया जाता है ।<sup>२२०</sup>

प्रत्यक्ष निर्विकल्पक होता है, इसे मल्लवादी ने अभिधर्मपिटक के वाक्य द्वारा निरूपित किया है । तदनुसार चक्षुर्विज्ञानसंतान नील को जानता है, किन्तु 'वह नील है' इस प्रकार उसे शब्दयुक्त नहीं जानता । प्रकरणपाद में भी कहा गया है कि 'यह नील है' इस प्रकार कथन करने वाला नील अर्थ को नहीं देखता है । अभिधर्मपिटक में इसे ही 'अर्थेऽर्थसंज्ञी न त्वर्थे धर्मसंज्ञी' कथन द्वारा अभिहित किया गया है । अर्थ को अर्थ रूप में जानना अर्थसंज्ञा तथा उसे यदृच्छादि नाम देना धर्मसंज्ञा है । धर्म को नाम, पद एवं व्यंजनकाय कहा गया है ।<sup>२२१</sup>

उत्तरपक्ष - आचार्य मल्लवादी क्षमाश्रमण ने दिङ्नाग प्रणीत प्रत्यक्ष-लक्षण को खरविषाणादि के समान अलौकिक होने के कारण कल्पित एवं निष्फल सिद्ध किया है । मल्लवादी कहते हैं कि दिङ्नाग के लक्षण में स्ववचन विरोध है, जिसका परिहार दुस्तर है । जिस प्रकार दिङ्नागीय वचन कल्पनात्मक होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं है, उसी प्रकार कल्पनापोढ रूप प्रत्यक्षलक्षण भी कल्पनात्मक होने के कारण अप्रत्यक्ष है ।

दिङ्नाग प्रणीत प्रत्यक्ष-लक्षण को कल्पनात्मक सिद्ध करने के लिए मल्लवादी अनेक तर्क उपस्थापित करते हैं, यथा

(१) निरूपणविकल्पात्मकत्वात् - प्रत्यक्ष का निरूपण किया जा सकता है कि 'यह ऐसा है' । उसका निरूपण करना ही विकल्प है । प्रत्यक्ष निरूपणात्मक होता है षट्त्वादि ज्ञान के समान । अतः वह ज्ञान विकल्पात्मक सिद्ध होता है । इन्द्रियज्ञान भी निरूपणविकल्पात्मक है, इसकी सिद्धि के लिए मल्लवादी ने आगे तर्क प्रस्तुत किया है कि प्रत्यक्ष से आलम्बन के विपरीत ज्ञान होता है ।

(२) आलम्बनविपरीतप्रतिपत्त्यात्मकत्वात् - प्रत्यक्ष का आलम्बन प्रत्यय द्रव्यरूप नीलादि परमाणु हैं, उनका समूह नील पीतादि आकारवान् पदार्थ नहीं, क्योंकि समूह रूप नीलपीतादि का आकार परमार्थसत् नहीं, संवृतिसत् है । जबकि प्रत्यक्ष द्वारा परमाणुसमूह अथवा परमाणुसंघात का ज्ञान होता है, पृथक्-पृथक् परमाणुओं का नहीं । द्रव्य परमाणुओं में सबके नील पीतादि आकार भिन्न-भिन्न होने चाहिए, किन्तु ऐसी प्रतिपत्ति नहीं होती । संवृतिसत् रूप से नीलपीतादि रूप एक ही आकार का प्रत्यक्ष होता है । इस प्रकार जैसा ज्ञान होता है वैसा आलम्बन नहीं होता । आलम्बन के विपरीत ज्ञान होने से यह कल्पनात्मक है, अतः प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता ।

२२० द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

२२१. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

- (३) **अध्यारोपात्मकत्वात्** - जिस प्रकार माणवक में सिंहत्व का अध्यारोप किया जाता है उसी प्रकार द्रव्यसत् अणुओं में नीलपीत आदि आकार का अध्यारोप होता है, अतः प्रत्यक्ष कल्पनात्मक है।
- (४) **सामान्यरूपविषयत्वात्** - प्रत्यक्ष का विषय सामान्य रूप होता है। जिस प्रकार अग्नि सामान्य कारीष, तौष, तार्ण, पार्ण आदि विशेषों के आश्रित होता है, उसी प्रकार प्रत्यक्ष का विषय सामान्य भी अनेक द्रव्यपरमाणुओं के आश्रित होता है।
- (५) **तदतद्द्रव्यवृत्तित्वात्** - अनेक परमाणु समूह से प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। उसमें समूह असत्त्वरूप होता है तथा समूही द्रव्यसत्-परमाणु सत्त्व रूप होते हैं। इन दोनों तद् अतद् के अभेद ग्रहण से नीलाद्याकार रूप ज्ञान उत्पन्न होता है। कहा गया है - 'गुणों का परमार्थ रूप दृष्टिगत नहीं होता। जो दृष्टिगत होता है वह माया के समान तुच्छ होता है।'<sup>२२२</sup> प्रत्यक्ष में इस प्रकार सद् एवं असद् दोनों का अभेद ग्रहण होने से वह विकल्पात्मक है।

मस्त्ववादी निष्कर्षरूपेण बौद्ध प्रत्यक्ष को कल्पनात्मक सिद्ध करते हैं। वे प्रतिपादित करते हैं कि अनुमानादि ज्ञान जिस प्रकार कल्पनात्मक होने से अप्रत्यक्ष हैं, उसी प्रकार इन्द्रियज्ञानादि बौद्ध प्रत्यक्ष भी कल्पनात्मक होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं कहे जा सकते।<sup>२२३</sup>

**प्रत्यक्ष की अव्यपदेश्यता का खण्डन-** दिङ्नाग प्रत्यक्ष को नाम, जाति, गुण, क्रिया एवं द्रव्य की योजना से हीन अर्थात् अव्यपदेश्य या अनभिलाष्य प्रतिपादित करते हैं। मस्त्ववादी ने उसका भी खण्डन किया है। मस्त्ववादी कहते हैं कि प्रत्येक रूप परमाणु के भिन्न-भिन्न होने पर उनके अविविक्त रूपसंघात तत्त्व का इन्द्रिय से सन्निकर्ष होने पर जो आलम्बन विपरीत ज्ञान होता है उसे बौद्ध अव्यपदेश्य मानते हैं, किन्तु शब्द से अभिधेय को ही व्यपदेश्य नहीं कहा जाता, अपितु हेतु अथवा अर्थान्तर से अधिगम्य अर्थ को भी व्यपदेश्य कहा जाता है। बौद्ध के द्वारा भी जो इन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष कहा गया है वह संचयग्रहण रूप निमित्तान्तर से जन्य है अतः वह भी अभिलाष्य अथवा व्यपदेश्य है।<sup>२२४</sup>

बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग ने अपने प्रत्यक्ष-लक्षण में **अधिधर्मपिटक** के जिन दो वाक्यों "चक्षुर्विज्ञानसमंगी नीलं विजानाति तो तु नीलमिति" तथा "अर्थेऽर्थसंज्ञी न त्वर्थे धर्मसंज्ञीति" को आधार बनाया है<sup>२२५</sup>, उनका भी मस्त्ववादी ने खण्डन किया है।

**"चक्षुर्विज्ञानसमङ्गी नीलं विजानाति नो तु नीलमिति"** वाक्य का खण्डन - प्रत्यक्ष की उत्पत्ति के लिए जो 'सञ्चितालम्बनाः पञ्चविज्ञानकायाः' सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है उसका

२२२. गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।

यत् तु दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम् । -षष्टितन्त्र, उद्धृत, द्वादशारण्यचक्र (ज.) भाग - १, पृ. ६३

२२३. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

२२४. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

२२५. द्रष्टव्य, यही अध्याय, पादटिप्पण, १४



प्रत्यक्ष के स्वलक्षण मात्र विषय से विरोध दिखाई देता है और प्रत्यक्ष-लक्षण के उदाहरण रूप में जो 'चक्षुर्विज्ञानसम्पन्नी नीलं विज्ञानाति नो तु नीलमिति' कथन किया गया है वह भी घटित नहीं होता है, क्योंकि चक्षु के द्वारा रूपमात्र का ग्रहण होता है संचय का नहीं। संचय का ग्रहण नहीं होने से संचितालम्बन की कल्पना व्यर्थ सिद्ध होती है। संचय संवृतिसत् है, अतः वह परमार्थतः असत्त्व है तथा रूपरहित है। चक्षु द्वारा रूपरहित संचय का ग्रहण नहीं हो सकता, फलतः चक्षु, इन्द्रिय के रूप में ही सिद्ध नहीं होता। रूप परमाणु स्वलक्षणों का भी चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं होता, क्योंकि वे परमाणु अतीन्द्रिय होने से चक्षु इन्द्रिय के विषय नहीं बनते। इस प्रकार संचय तथा परमाणु दोनों में चक्षु द्वारा रूप का ग्रहण नहीं हो पाता, फलतः चक्षु इन्द्रिय के द्वारा होने वाला चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न नहीं होता।

जिस प्रकार रूप का ग्रहण नहीं कर पाने के कारण चक्षु को चक्षु नहीं कहा जा सकता उसी प्रकार अन्यथा अर्थ प्रतिपत्ति के कारण विज्ञान को भी विज्ञान नहीं कहा जा सकता। रूपहीन संचय की रूप के रूप में प्रतिपत्ति तथा रूपमात्र की संचय के रूप में प्रतिपत्ति होना अन्यथा अर्थप्रतिपत्ति है। जिस प्रकार अलात को घुमाने पर जो चक्र की प्रतिपत्ति होती है, वह अन्यथा प्रतिपत्ति है, उसी प्रकार यहां जो चक्षुर्विज्ञान होता है वह अन्यथाप्रतिपत्त्यात्मक होता है।

चक्षु एवं विज्ञान का खण्डन करने के पश्चात् उसी आधार पर ~~प्रत्यक्षवादी~~ ने उसके समंगित्व का भी खण्डन किया है। रूप का ग्रहण हुए बिना चक्षुर्विज्ञान का समंगन (सन्तान) कैसे होगा? संचय तो रूप है नहीं, अतः उसका चक्षुर्विज्ञान नहीं होता तथा अतीन्द्रिय होने से रूपाणुओं का भी चक्षुर्विज्ञान नहीं होता अतः इनका समंगन (सन्तान) नहीं हो सकता।

चक्षुर्विज्ञान की सन्तान नील को जानती है यह मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि तदाकार ज्ञान की उत्पत्ति के हेतु का अभाव है। जिस प्रकार दग्ध पुरुष को दाह के अनुभव का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि उसमें तदाकार ज्ञान की उत्पत्ति के हेतु का अभाव है। इसी प्रकार नीलाकार ज्ञान की उत्पत्ति के हेतु नीलरूप का चक्षुर्विज्ञान में अभाव है। अतः उसकी सन्तान नीलरूप को नहीं जानती है।

यदि यह कहा जाय कि नीलरूप एवं संचय दोनों मिलकर ज्ञान के कारण बनते हैं, तो ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों का युगपद् ज्ञान होना असंभव है। सिंहसूरि ने बौद्ध पक्ष को स्पष्ट करते हुए कहा है कि नीलपरमाणु शिविकोद्वाहन्याय से समुदित होकर ज्ञान के कारण बनते हैं, एक एक नहीं। नीलपरमाणुओं से अतिरिक्त कोई समुदाय नहीं है। इस प्रकार नीलपरमाणुओं का समुदाय ज्ञान का कारण है। सिंहसूरि इसका प्रतिषेध करते हुए कहते हैं कि नीलपरमाणु एवं उनके समुदाय को मिलाकर ज्ञान का कारण नहीं कहा जा सकता।<sup>२२६</sup> प्रतिषेधार्थ सिंहसूरि ने बौद्ध ग्रंथ के कथन को उद्धृत किया

२२६. स्यान्मतम्—त एव हि नीलपरमाणवः प्रत्येकं शिविकोद्वाहन्यायेन समुदिताश्च कारणं न चैकैकः न च समुदायस्तदव्यतिरिक्तोऽस्तीत्युभयकारणत्वं ज्ञानस्य, तस्माज्ज्ञानोत्पत्तिहेत्वभावासिद्धिरिति। -न्यायागमानुसारिणी, द्वादशारनयचक्र (ज.) भाग-१, पृ. ७३.९-११, धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक में भी इस आशय के श्लोक मिलते हैं। द्रष्टव्य, वही अध्याय, पादटिप्पण, १००

है, तदनुसार 'जिस प्रकार एक ज्ञान दो अर्थों को नहीं जानता है उसी प्रकार दो ज्ञान एक अर्थ को नहीं जानते हैं।' २२७

संचय एवं नीलरूप का एक ज्ञान होने के कारण यदि इनको एक ज्ञेय माना जाय तो समस्त पदार्थ सभी रूप हो जायेंगे अर्थात् सर्वसर्वात्मवादिता का प्रसंग आ जायेगा।

इस प्रकार मल्लवादी ने 'चक्षुर्विज्ञानसमंगी नीलं विज्ञानाति' को अनुपपन्न सिद्ध किया है। वे 'नो नीलमिति' वाक्यांश को उपयुक्त ठहराते हुए कहते हैं कि 'नो नीलमिति' कथनांश ही घटित हो पाता है, क्योंकि यहां नीलपरमाणु के आकार का नियत ज्ञान उत्पन्न होने के हेतु का अभाव रहता है। समुदाय से नियतज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें नीलत्व का अभाव है। भिन्न-भिन्न परमाणुओं के संहत होने पर सरसों के ढेर की भांति उनका ज्ञान होता है, तो यह भी कथन अयुक्त है, क्योंकि वे नीलपरमाणु परस्पर भिन्न हैं उनकी नीलता प्रतिपरमाणु भिन्न है, वह स्वाश्रय परमाणु से अन्यत्र नहीं है, अतद्रूप होने से। अतः एक दूसरे की नीलता अन्य परमाणु में नहीं आती। फलतः समस्त परमाणुओं की नीलता को सरसों की राशि की भांति एक साथ नहीं देखा जा सकता, क्योंकि सब परमाणुओं की नीलता भिन्न-भिन्न है। जाति, आकार आदि से वे नील परमाणु एक नहीं हो सकते, क्योंकि वे परस्पर अत्यन्त व्यावृत्त हैं। अत्यन्त व्यावृत्त इसलिए हैं क्योंकि वे द्रव्यसद्रूप हैं। द्रव्यसद्रूप होने का अर्थ है जिसका अन्य से निरपेक्ष अपना विविक्त स्वरूप हो। उन द्रव्यसद्रूप परमाणुओं का चक्षु द्वारा ग्रहण नहीं होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि चक्षुर्विज्ञान समंगी नील को नहीं जानता है।

इस प्रकार प्रत्यक्ष की उत्पत्ति के विधायक वाक्य 'चक्षुर्विज्ञानसमंगी नीलं विज्ञानाति नो तु नीलमिति' का अर्थ प्रकट होता है कि चक्षुर्विज्ञान का संचित आलम्बन वाला सन्तान संचय रूप संवृतिसत् को नील रूप में जानता है जो कि असत् है तथा वही चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है। वस्तुतः बौद्ध मत में नील असद्रूप नहीं होता है। वह तो परमार्थ सत् होता है। परमार्थ सत् परमाणु ही नील होते हैं, संचय नहीं। तात्पर्य यह है कि चक्षुर्विज्ञान का सन्तान परमार्थ नील को नहीं जानता है, संचयरूप नील को जानता है। २२८

'अर्थेऽर्थसंज्ञी न त्वर्थे धर्मसंज्ञी' वाक्य का खण्डन - भावना वाक्य 'अर्थेऽर्थसंज्ञी न त्वर्थे धर्मसंज्ञीति' भी उचित सिद्ध नहीं होता। मल्लवादी ने इसका खण्डन करते हुए इस वाक्य को उलट कर रख दिया है, यथा 'अनर्थेऽर्थसंज्ञी, न च कदाचित् कश्चिद्व्यर्थे धर्मसंज्ञी'। संवृतिसत् होने से समुदाय अनर्थ है। बौद्धमत में अनर्थ रूप समुदाय में ही द्रव्यसत् नील परमाणु का ज्ञान होता है, अर्थ रूप द्रव्यसत् परमाणुओं में नील का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि वे परमाणु अतीन्द्रिय होने से इन्द्रिय के

२२७. विज्ञानाति न विज्ञानमेकमर्थद्वयं यथा।

एकमर्थं विज्ञानाति न विज्ञानद्वयं तथा। — चतुःशती २६८, उद्धृत, द्वादशारण्यचक्र (ज), भाग-१, पृ. ७३  
२२८. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

विषय नहीं बनते। अतः अनर्थोऽर्थसंज्ञी न त्वर्थोऽर्थसंज्ञी कथन उचित सिद्ध होता है। नील परमाणु रूप अर्थ में कभी भी धर्मसंज्ञा नहीं होती है, क्योंकि वह अतीन्द्रिय होने से आत्यन्तिक रूप से सर्वदा अग्राह्य होता है। वस्तुतः अनर्थ में ही धर्मसंज्ञा होती है, क्योंकि संचय एवं नाम आदि दोनों कल्पनात्मक होते हैं, उनमें कल्पना का अपोह असंभव है। शून्य को शून्य से गुणा करने पर शून्य ही प्राप्त होता है। इसी प्रकार असत् विषय से कल्पना भी असत् एवं निर्मूल सिद्ध होती है।<sup>२२९</sup>

**बौद्ध-प्रत्यक्ष की अप्रत्यक्षता** – दिङ्नाग प्रणीत प्रत्यक्ष का खण्डन दिङ्नागवाक्यों के द्वारा करने में भी मल्लवादी सिद्धहस्त हैं। प्रमाणसमुच्चय में दिङ्नाग ने प्रत्यक्ष को प्रतिपादित करते हुए कहा है 'तत्रानेकार्थजन्यत्वात् स्वार्थे सामान्यगोचरम्, (द्रष्टव्य, यही अध्याय, पादटिप्पण, ९७) अर्थात् प्रत्यक्ष की उत्पत्ति अनेक स्वलक्षण परमाणुओं से होती है, एक स्वलक्षण परमाणु या अर्थ से नहीं। इसलिए स्वलक्षणों में सामान्यगोचरता होती है।

मल्लवादी ने कल्पनापोढ एवं स्वलक्षणविषयक बौद्ध प्रत्यक्ष का खण्डन करते समय दिङ्नाग के उपर्युक्त वाक्य का उपयोग करते हुए कहा है—दिङ्नाग द्वारा निर्दिष्ट प्रत्यक्ष अप्रत्यक्षरूप है, इसके दो हेतु बौद्धों के द्वारा प्रस्तुत कर दिये गये हैं। वे दो हेतु हैं- (1) अनेकार्थजन्यत्वात् एवं (2) स्वार्थे सामान्यगोचरत्वात्। अनेक परमाणुस्वलक्षणों (अर्थ) से जन्य होने के कारण बौद्धों द्वारा प्रतिपादित प्रत्यक्ष अनुमान की भांति अप्रत्यक्ष है। अनुमान जिस प्रकार पक्षधर्म आदि अनेक अर्थों से जन्य होने से अप्रत्यक्ष है उसी प्रकार प्रत्यक्ष भी अनेक परमाणु स्वलक्षण अर्थों से जन्य होने के कारण अप्रत्यक्ष है।

प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण (स्वार्थ) सामान्य रूप में गृहीत होता है इसलिए भी प्रत्यक्ष, अनुमान की भांति अप्रत्यक्ष सिद्ध होता है।

यदि अनेकार्थजन्य होने पर भी तथा स्वलक्षण के सामान्यगोचर होने पर भी उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है तो अनुमान-प्रमाण भी प्रत्यक्ष रूप में सिद्ध होने लगेगा। इस प्रकार एक ही प्रमाण मानना पर्याप्त होगा। वस्तुतः स्व एवं सामान्यलक्षण एक ही विषय है अतः उसके आधार पर प्रत्यक्ष एवं अनुमान में भेद नहीं किया जा सकता।<sup>२३०</sup>

इस प्रकार मल्लवादी ने दिङ्नाग प्रणीत प्रत्यक्ष को निरूपणात्मक होने से, आलम्बन के विपरीत प्रतिपत्त्यात्मक होने से, अध्यारोपात्मक होने से, सामान्यरूप विषयात्मक होने से, सत् एवं असत् दोनों का अभेद ग्राहक होने से विकल्पात्मक सिद्ध किया है, साथ ही हेतुन्तर से जन्य होने के कारण उसे व्यपदेश्य बतलाया है। अग्निधर्मपिटक के दोनों वाक्यों का खण्डन भी प्रत्यक्ष की विकल्पात्मकता को सिद्ध करता है, यही नहीं मल्लवादी ने प्रत्यक्ष को अनेकार्थजन्य एवं स्वार्थसामान्यगोचर होने से

२२९. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

२३०. द्रष्टव्य, परिशिष्ट-ख

बौद्ध प्रत्यक्षलक्षण के अनुसार अनुपपन्न एवं अप्रत्यक्ष ठहराया है।

### भट्ट अकलङ्क

अकलङ्क ने बौद्ध प्रत्यक्ष-प्रमाण का परीक्षण अपने न्यायग्रंथों में अनेकत्र किया है। लघीयस्त्रय, सिद्धिविनिश्चय एवं न्यायविनिश्चय इसके संदर्भ में प्रमुख ग्रंथ हैं। अकलङ्क का मत है कि विकल्पात्मक अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण होता है, निर्विकल्पात्मक अथवा अनिश्चयात्मक ज्ञान को प्रमाण नहीं कहा जा सकता। वे विकल्प का अर्थ निश्चय करते हुए प्रतीत होते हैं। शब्दसंसर्ग अथवा उसकी योग्यता मात्र को वे विकल्प की संज्ञा नहीं देते। अकलङ्क द्वारा किये गये बौद्ध प्रत्यक्ष-लक्षण के परीक्षण से यह भली भांति स्पष्ट होता है।

अकलङ्क के ग्रंथों में बौद्ध-प्रत्यक्ष को पूर्वपक्ष के रूप में विधिवत् स्थापित कर उसका खण्डन नहीं किया गया है, किन्तु वे यथाप्रसंग बौद्धमत का उल्लेख कर अथवा उल्लेख किये बिना ही तत्तत्प्रकरण में सीधा उसका खण्डन करने हेतु प्रवृत्त हो जाते हैं। वे कुत्रचित् बौद्ध कारिकाओं का किञ्चित् संशोधन कर बौद्धमत का निरसन करते हुए दिखाई देते हैं। मत्स्यवादी की लेखनी का लक्ष्य जहां केवल बौद्धदार्शनिक दिङ्नाग है, वहां अकलङ्क की लेखनी के लक्ष्य, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकरगुप्त एवं शान्तरिक्षित भी हैं।

निरूपणात्मक होने से प्रत्यक्ष सर्वथा निर्विकल्पक नहीं— अपने तत्त्वार्थवार्तिक में कल्पनापोढ लक्षण का खण्डन करते हुए अकलङ्क बौद्धों से पूछते हैं कि प्रत्यक्ष को सर्वथा कल्पनापोढ कहा गया है, अथवा कथञ्चित् कल्पनापोढ कहा गया है? यदि सर्वथा कल्पनारहित कहा गया है तो “कल्पना से रहित ज्ञान प्रमाण है” इत्यादि कल्पनाओं से भी उसे रहित होना चाहिए। यदि उसका निरूपण संभव है तो प्रत्यक्ष को सर्वथा कल्पना रहित कहना खण्डित हो जाता है। यदि प्रत्यक्ष कथञ्चित् कल्पनापोढ होता है तो एकान्तवाद का त्याग होने से बौद्धमत का व्याघात होता है तथा प्रकारान्तर से अनेकान्तवाद का ग्रहण हो जाता है।<sup>२३१</sup>

निर्विकल्पक ज्ञान से हिताहित का निर्णय नहीं— अकलङ्क का मत है कि जो ज्ञान संव्यवहार के लिए अनुपयोगी है उसे प्रमाण नहीं कहा जा सकता।<sup>२३२</sup> अकिञ्चित्कर निर्विकल्पक दर्शन संव्यवहार के लिए अनुपयोगी है अतः वह प्रमाण नहीं हो सकता। प्रमाण से हित की प्राप्ति एवं अहित के परिहार का ज्ञान होता है।<sup>२३३</sup> निर्विकल्पक ज्ञान से हिताहित का ज्ञान नहीं होता, अतः उसका निश्चय हुए बिना पुरुष उसकी प्राप्ति अथवा परिहार के लिए प्रवृत्त नहीं हो सकता। इस प्रकार निर्विकल्पक ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध नहीं होता। विकल्पात्मक अथवा निश्चयात्मक ज्ञान से हित की प्राप्ति एवं अहित

२३१. द्रष्टव्य परिशिष्ट - ख

२३२. बौद्धदार्शनिक धर्मकीर्ति ने भी कहा है - प्रामाण्य व्यवहारेण ।- प्रामाणवार्तिक, १, ७

२३३. प्रज्ञाकरगुप्त ने भी एतदर्थक कथन किया है, यथा 'हेयोपादेयविषये प्रवर्तकं हि प्रमाणमुच्यते ।'- प्रामाणवार्तिकपाठ्य, पृ. २२

के परित्याग का विचार होता है, अतः वही तत्त्वतः प्रमाण है।

**निश्चयात्मक ज्ञान ही अविस्वादाक**—जिस प्रकार अज्ञानी पुरुष विष को देखकर भी उसके हानिलाभ का सम्यक् निर्णय नहीं कर सकता, उसी प्रकार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से हान एवं उपादान का निर्णय नहीं होता। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष निश्चयात्मक नहीं होने के कारण अविस्वादाक नहीं कहा जा सकता तथा अविस्वादाक नहीं होने से वह प्रमाण नहीं हो सकता। जो ज्ञान, व्यवसायात्मक होता है वही अविस्वादाक होता है एवं अविस्वादाक ज्ञान ही प्रमाण होता है। निर्विकल्पक ज्ञान व्यवसायात्मक नहीं होता, अतः वह अविस्वादाक भी नहीं होता है। फलतः उसे प्रमाण भी नहीं कहा जा सकता।<sup>२३४</sup>

बौद्धदार्शनिक सुखादि एवं नीलादि के निर्भासी निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते हैं, क्योंकि वह अविस्वादाक होता है। अकलङ्क इसका निरसन करते हुए प्रतिपादित करते हैं कि विकल्पात्मक ज्ञान ही अविस्वादाक होता है, क्योंकि वह व्यवसायात्मक होता है। अविस्वादी प्रत्यक्ष-प्रमाण को निर्विकल्पक मानने पर क्षण-क्षयादि की सिद्धि के समान उसकी सिद्धि के लिए भी अन्य अनुमान आदि प्रमाणों की आवश्यकता उत्पन्न होगी, क्योंकि निर्विकल्पक तो निश्चयात्मक होता नहीं है। उसका निश्चय हुए बिना अविस्वादाकता सिद्ध नहीं होती और अविस्वादाकता के बिना उसे प्रमाण नहीं माना जा सकता।<sup>२३५</sup>

**निर्विकल्पक ज्ञान स्वलक्षणों में भेद का अव्यवस्थापक**—प्रत्यक्ष का कल्पनापोढ एवं अभ्रान्त लक्षण विस्वादाक को ही उत्पन्न करता है, क्योंकि उससे यथादृष्ट अर्थ का निर्णय नहीं होता। स्वलक्षणग्राही अविक्ल्पक ज्ञान यथार्थ प्रतिभासित अर्थ का व्यवसाय करने में समर्थ नहीं है, अतः वह अविस्वादाक नहीं है। निर्विकल्पक स्वभाव वाले प्रत्यक्ष से अद्वैत की भांति स्वलक्षण का व्यवस्थापन भी शक्य नहीं है, क्योंकि निर्विकल्पकता से भेद का ज्ञान नहीं होता। अतः उससे विभिन्न स्वलक्षणों में भेद रूप व्यवस्थापन संभव नहीं है।<sup>२३६</sup>

**विकल्पात्मक ज्ञान ही विशदावभासक**—अकलङ्क धर्मकीर्ति का खण्डन करते हुए प्रतिपादित करते हैं कि सब ओर से चिन्तन (विकल्प) को समेट लेने पर भी सविकल्प ज्ञान का ही अवभासन होता है, निर्विकल्पक का नहीं। शान्तचित्त मनुष्य भी चक्षु से रूपयुक्त, संस्थानयुक्त, स्थूल, एक एवं अनेक सूक्ष्म स्वभावों वाले पदार्थ का ही प्रत्यक्ष करता है, असाधारण एकान्त स्वलक्षण का नहीं।<sup>२३७</sup> विकल्पात्मक ज्ञान में ही बाह्य अर्थों का विशद अवभासन होता है। स्व-संवेदन से भी विकल्पात्मक

२३४. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

२३५. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

२३६. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

२३७. यहां अकलङ्क के खण्डन का लक्ष्य धर्मकीर्ति की यह कारिका है -

सद्वत्य सर्वतच्छिन्तां...साक्षजा मतिः । द्रष्टव्य, यही अध्याय, पादटिप्पण, ८५

ज्ञान की ही विशुद्धता ज्ञात होती है। इसलिए विकल्पात्मक ज्ञान ही विशद एवं प्रत्यक्ष होता है।<sup>२३८</sup> विकल्पोत्पादक मानने से प्रत्यक्ष एकान्तः विकल्परहित नहीं होता-अकलङ्क कहते हैं कि कोई भी प्रत्यक्ष ज्ञान सर्वथा विकल्परहित नहीं होता, क्योंकि सर्वथा अविकल्प बुद्धि से विकल्प ज्ञान का उत्पन्न होना शक्य नहीं है।<sup>२३९</sup> यह संभव है कि स्वलक्षण-भेद की भांति कल्पनाएं प्रत्यक्ष में उपलक्षित नहीं हों, किन्तु प्रत्यक्ष में उनका अभाव नहीं होता। वे प्रतिक्षण उत्पन्न एवं नष्ट होती रहती हैं।

बौद्ध कहते हैं कि सदृश अपर-अपर क्षणों की उत्पत्ति होने से अर्थ के विशेष स्वरूप स्वलक्षण का बोध नहीं होता, उसके सदृश क्षणों में ही मनुष्य को परमार्थ क्षण का भ्रम होता रहता है। अकलङ्क इसका निरसन करते हुए कहते हैं कि बौद्ध मत में क्षणभंगवाद के कारण दो क्षणों में सर्वथा सादृश्य अनिष्ट एवं अयुक्त है।

वस्तुतः प्रत्यक्ष में समस्त कल्पनाओं का एकान्त विरह संभव नहीं है, क्योंकि सर्वथा अविकल्प बुद्धि पुनः विकल्प को उत्पन्न नहीं कर सकती।<sup>२४०</sup>

अविकल्प एवं अभ्रान्त ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं, प्रत्यक्षाभास है। इन्द्रियों एवं उनके विषयों का निश्चय करने वाले जैनों के प्रत्यक्ष में ही अविस्वादिता का नियम है, क्योंकि उसमें व्यवसायात्मकता है।

बौद्ध यदि समस्त विकल्पों को वितथ या मिथ्या मानते हैं, तो यह उचित नहीं है; क्योंकि विकल्प के अभाव में बौद्ध दार्शनिक प्रत्यक्ष प्रमाण का व्यवस्थापन नहीं कर सकते। विकल्पों से परमार्थतः बौद्धों ने प्रत्यक्ष की प्रमाण-व्यवस्था की है, ऐसा बौद्ध कथन "जहां यह इस प्रकार के विकल्प को उत्पन्न करता है, वहां ही उसकी प्रमाणता है"<sup>२४१</sup> से भी पुष्ट होता है।<sup>२४२</sup>

प्रत्यक्ष अभिलाप के संसर्गयोग्य होता है-अकलङ्क न्यायदार्शनिकों की भांति प्रतिपादित करते हैं कि प्रत्यक्ष द्वारा जिस प्रमेय का ज्ञान होता है वह किसी विशेषण से विशिष्ट होता है। विशेषण, विशेष्य एवं उनके सम्बन्ध का ग्रहण किये बिना किसी प्रमेय का ज्ञान नहीं होता। स्व एवं अर्थ का इन्द्रिय से सन्निकर्ष होने पर जो ज्ञान होता है वह एक स्थूल प्रमेय का ज्ञान होता है वह अभिलाप (वाचक शब्द) के संसर्ग योग्य होता है। उसे अभिलाप के संसर्ग के अयोग्य नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि अभिलापसंसर्ग के अयोग्य मानने पर सदृश विषय की स्मृति कहना संभव नहीं है।

अक्षणिक् एवं स्थूल-आकारक वस्तु का प्रत्यक्ष-अकलङ्क बौद्धों से कहते हैं कि क्षणिक परमाणु रूप स्वलक्षणों को देखता हुआ भी पुरुष केवल अक्षणिक एवं स्थूल आकार का ही स्पष्ट ज्ञान कर पाता

२३८. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

२३९. बौद्धदार्शनिक शान्तरक्षित ने अविकल्प ज्ञान को विकल्प की उत्पत्ति में समर्थ बतलाया है। द्रष्टव्य, यही अध्याय, पाद टिप्पण, १२०

२४०. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

२४१. यत्रैव जनयेदेनाम् तत्रैवास्य प्रमाणता - न्यायविनिश्चयविवरण, भाग १, पृ. ५२३ एवं सिद्धिविनिश्चयटीका पृ० १०८

२४२. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

है। उसका ही निश्चय हो पाता है अतः वह निश्चयात्मक ज्ञान ही विशदज्ञान है। उससे ही सादृश्य की स्मृति हो पाती है। विशद ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। निर्विकल्पक ज्ञान अव्यवसायात्मक होने के कारण विशद नहीं कहा जा सकता। अतः वह प्रत्यक्ष नहीं, प्रत्यक्षाभास है।<sup>२४३</sup>

अविभक्त प्रत्यक्ष में विकल्प एवं भ्रान्ति सम्भव नहीं—धर्मकीर्ति ने ज्ञान को विज्ञानवाद की दृष्टि से अविभक्त कहते हुए भी उसे ग्राह्य-ग्राहक की दृष्टि से विभागी माना है।<sup>२४४</sup> अकलङ्क ने इस कथन को आधार बनाते हुए “कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्” का खण्डन किया है। अकलङ्क कहते हैं कि यदि प्रत्यक्ष अविभक्त होता है तो वह बाहर से विभक्त की भांति क्यों प्रतीत होता है? उसमें कल्पना एवं भ्रान्ति कैसे संभव होती है? कल्पना रहित एवं अभ्रान्त ज्ञान में भी जब विकल्प एवं भ्रान्ति संभव है तो प्रत्यक्ष एवं प्रत्यक्षाभास में भेद प्रदर्शित करने का आधार नहीं रहता है। यदि स्वयं अविभक्त ज्ञान में कल्पना से रचित ग्राह्य-ग्राहक ज्ञान का भेद ज्ञात होता है तो उसी प्रकार एक चन्द्रमा को देखने वाले पुरुष को द्विचन्द्र की मानसी भ्रान्ति हो सकती है। अतः प्रत्यक्ष को कल्पनापोढ नहीं कहा जा सकता।<sup>२४५</sup>

व्यवसायात्मक ज्ञान की ही स्मृति सम्भव—अकलङ्क के मत में व्यवसायात्मक ज्ञान की ही स्मृति हो सकती है। दर्शन, अभ्यास, पाठ्य, प्रकरण आदि भी व्यवसायात्मक ज्ञान में ही हो सकते हैं। क्षणिक एवं अव्यवसायात्मक ज्ञान की स्मृति नहीं हो सकती, अतः धर्मकीर्ति आदि बौद्ध दार्शनिकों के द्वारा कल्पित प्रत्यक्ष सर्वथा अव्यवसायात्मक नहीं, अपितु व्यवसायात्मक अथवा विकल्पात्मक होना चाहिए। क्योंकि प्रत्यक्ष को व्यवसायात्मक नहीं मानने पर क्षणभंगादि की सिद्धि के लिए भी लिङ्ग का स्मरण नहीं हो सकता। लिङ्ग का स्मरण हुए बिना अनुमान की प्रवृत्ति भी संभव नहीं है। बौद्धों ने प्रत्यक्ष में रहे हुए समारोप का निवारण करने के लिए अनुमान की प्रवृत्ति आवश्यक मानी है, किन्तु अकलङ्क कहते हैं कि समारोप के व्यवच्छेद के आकांक्षी पुरुष के लिए निर्विकल्पक ज्ञान में प्रामाण्य मानना समीचीन नहीं है।

अकलङ्क ने व्यवसायात्मक ज्ञान में ही वैशद्य स्वीकार किया है, क्योंकि विशदज्ञान की ही स्मृति संभव है। व्यवसायात्मक ज्ञान से जन्य संस्कार द्वारा ही प्रत्यभिज्ञान होता है। व्यवसायात्मक ज्ञान की विशदता का अनुभव से विरोध नहीं है।<sup>२४६</sup>

नैरात्म्यवाद में प्रमाण, प्रमेय एवं फल-व्यवस्था अनुपपन्न—बौद्ध दार्शनिक नैरात्म्यवादी हैं। अतः भट्ट अकलङ्क ने नैरात्म्यवाद को आधार बनाकर भी प्रत्यक्ष के अभ्रान्त लक्षण का खण्डन किया है। अकलङ्क कहते हैं कि समस्त पदार्थों का नैरात्म्य प्रतिपादित करके प्रत्यक्ष को अभ्रान्त कहना उन्मत्तता है।

२४३. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

२४४. अविभागीऽपि बुद्ध्यात्मविपर्यासितदर्शनैः ।

ग्राह्यग्राहकसंविद्धिभेदवानिव लक्ष्यते ।— प्रमाणवार्तिक, २.३५४

२४५. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

२४६. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

नैरात्म्य की स्वीकृति में यथादर्शन प्रमाण, प्रमेय एवं फल की व्यवस्था नहीं बन सकती ।<sup>२४७</sup> जब तक आत्मा को स्वीकार न किया जाय तब तक प्रमाता वही है, यह निश्चय नहीं होता और प्रमाता के एक हुए बिना प्रमाण, प्रमेय एवं फल में व्यवस्था बन पाना संभव नहीं है । फलस्वरूप नैरात्म्यवाद में यथातत्त्व का न तो ज्ञान हो सकता है और न दूसरों को ही ज्ञान कराया जा सकता है ।<sup>२४८</sup>

इस प्रकार मल्लवादी के अनन्तर भट्ट अकलङ्क ने निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के खण्डनार्थ अनेक नये तर्क उपस्थापित किये हैं तथा प्रत्यक्ष को विकल्पात्मक सिद्ध किया है । अकलङ्क निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को स्वलक्षणों में भेद का व्यवस्थापक नहीं मानते हैं तथा उसे अविशद, अनिश्चयात्मक, विसंवादी एवं संव्यवहार के लिए अनुपयोगी सिद्ध करते हैं । विकल्पात्मक अथवा निश्चयात्मक ज्ञान को ही अकलङ्क अविंवादी, संव्यवहार के लिए उपयोगी एवं विशद प्रतिपादित करते हैं । यही नहीं अकलङ्क निर्विकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्षाभास सिद्ध कर अक्षणिक एवं स्थूल आकार के ग्राहक सविकल्पात्मक ज्ञान को प्रत्यक्ष सिद्ध करते हैं । अकलङ्क ने प्रत्यक्ष प्रमाण को विशेषण विशेष्य युक्त वस्तु का ग्राहक एवं अभिलाप के संसर्गयोग्य भी स्वीकार किया है । उन्होने विशदता की कसौटी स्मृति को बताया है । जो ज्ञान विशद होता है वही स्मरणयोग्य होता है । अविशद ज्ञान स्मृति में नहीं रह सकता । स्मृति के साथ अभ्यास, पाठ आदि की उपपत्ति भी अकलङ्क व्यवसायात्मक ज्ञान में ही स्वीकार करते हैं अव्यवसायात्मक अथवा निर्विकल्पात्मक ज्ञान में नहीं ।

## विद्यानन्द

यद्यपि विद्यानन्द के चिन्तन पर अकलङ्क का प्रभाव है, तथापि विद्यानन्द ने बौद्ध-प्रत्यक्ष का खण्डन करते समय कुछ मौलिक तर्क दिये हैं जिनका अनुसरण अभयदेवसूरि, प्रभाचन्द्र, वादिदेवसूरि आदि दार्शनिकों ने भी किया है ।

कल्पना के चार अर्थ-धर्मकीर्तिप्रणीत प्रत्यक्ष लक्षण “कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्” का खण्डन करने के लिए उद्यत विद्यानन्द ने बौद्धों की ओर से कल्पना के चार अर्थ कल्पित किये हैं :- (१) अस्पष्ट प्रतीति कल्पना है (२) स्व एवं अर्थ की निश्चिति कल्पना है (३) अभिलापवती प्रतीति कल्पना है अथवा (४) अभिलाप संसर्गयोग्य प्रतीति कल्पना है । कल्पना के इन चार स्वरूपों में से प्रारम्भिक दो को विद्यानन्द ने कल्पना रूप में स्वीकार किया है, किन्तु अस्पष्ट प्रतीति रूप कल्पना का जैन सम्मत प्रत्यक्षलक्षण में परिहार किया है तथा स्व एवं अर्थ की व्यवसिति रूप कल्पना को जैन प्रत्यक्षलक्षण में आवश्यक माना है । अन्तिम दो स्वरूपों को ग्रंथ का आकार बढ़ाने वाला बतलाकर उन्हें महत्त्व नहीं दिया है ।<sup>२४९</sup>

२४७. धर्मकीर्ति ने प्रमाण, प्रमेय एवं फल की व्यवस्था यथादर्शन स्वीकार की है—

यथानुदर्शनं चेद्यं मेयमानफलस्थितिः ।

क्रियते विद्यमानापि ग्राह्यग्राहकसंविदाम् ॥—प्रमाणवार्तिक २.३५७

२४८. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

२४९. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख



धर्मकीर्ति ने विकल्पों से अनुविद्ध ज्ञान में स्फुट प्रतिभास का निषेध किया है।<sup>२५०</sup> इसका अर्थ है कि धर्मकीर्ति के मत में निर्विकल्पक ज्ञान स्फुट या स्पष्ट होता है और अस्पष्ट प्रतीति कल्पना होती है। किन्तु अस्पष्ट प्रतीति को कल्पना कहने से जैनदार्शनिक प्रत्यक्ष का कोई विरोध नहीं है, क्योंकि जैनदर्शन में भी स्पष्टता या विशदता को प्रत्यक्ष का लक्षण कहा गया है अतः प्रत्यक्ष में अस्पष्ट प्रतीति रूप कल्पना का अपोढ होना विद्यानन्द को भी अभीष्ट है। विद्यानन्द कहते हैं कि अस्पष्ट प्रतीति के अर्थ में प्रत्यक्ष को कल्पनापोढ कहना सिद्ध साधन है, क्योंकि प्रत्यक्ष स्पष्ट होता है अतः उसमें अवैशद्य का व्यवच्छेद करना आवश्यक है। अस्पष्ट प्रतिभास रूप प्रतीति का निराकरण किये बिना प्रत्यक्ष एवं अनुमान में कोई भेद नहीं रह पाता है।<sup>२५१</sup>

प्रत्यक्ष व्यवसायात्मक होता है—कल्पना का अर्थ स्व एवं अर्थ की निश्चित करने पर विद्यानन्द उसे प्रत्यक्ष में आवश्यक मानते हैं। ऐसी कल्पना का वे प्रत्यक्ष-लक्षण से परिहार नहीं करते, क्योंकि प्रत्यक्ष स्व एवं अर्थ का निश्चायक होता है। अतः प्रत्यक्ष का उससे रहित होना असंभव है। विद्यानन्द ने बौद्धमत में भी कल्पनापोढ लक्षण को कदाचित् अनुपपन्न सिद्ध करते हुए कहा है कि बौद्धों को भी मानस-प्रत्यक्ष का व्यवसायात्मक होना अभीष्ट है। मानस-प्रत्यक्ष इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के अनन्तर उत्पन्न होता है तथा इन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत स्वलक्षण को ग्रहण करता है, इसलिए उसे व्यवसायात्मक माना जा सकता है। मानसप्रत्यक्ष को व्यवसायात्मक स्वीकार करते हुए व्यवसायात्मकता का प्रत्यक्ष में अपोह करना युक्तिसंगत नहीं है।<sup>२५२</sup>

बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने समस्त विकल्पों का संहार होने की अवस्था में प्रत्यक्ष को प्रत्यात्मवेद्य एवं निर्विकल्पक माना है। जैनदार्शनिक अकल्पकता का मन्तव्य है कि विकल्प रहित स्थिरचित्त वाले पुरुष को भी चक्षु से स्थूल आकारक वस्तु दिखाई देती है, स्वलक्षण वस्तु नहीं, अतः प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक नहीं कहा जा सकता। विद्यानन्द कहते हैं कि चित्त का सब ओर से संहार करने पर भी पुरुष को चक्षु से रूप एवं स्व का स्पष्ट व्यवसाय होता है। विद्यानन्द के अनुसार चित्त की विकल्परहित अवस्था में भी स्व एवं पर का निश्चायक ज्ञान विद्यमान रहता है। यह निश्चायकज्ञान स्वपर व्यवसायात्मकता से रहित नहीं होता। इसलिए प्रत्यक्षानुभूति के कारण प्रत्यक्ष को स्वपर व्यवसायात्मक रूप कल्पना से रहित नहीं कहा जा सकता।

प्रत्यक्ष की कल्पनापोढता अनुमान से भी सिद्ध नहीं—अनुमान से भी प्रत्यक्ष कल्पनापोढ सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि पुनः विकल्प करते हुए पुरुष को “मुझे स्व एवं अर्थ का निश्चय हुआ था अथवा मैंने घटादि पदार्थ को जाना था” इस प्रकार का ज्ञान होता है। निश्चयात्मक ज्ञान हुए बिना उसकी एवंविध स्मृति नहीं हो सकती। इन्द्रियप्रत्यक्ष से जिस प्रकार बौद्धों ने वस्तु के क्षणिकत्व का ज्ञान स्वीकार नहीं

२५०. न विकल्पानुबद्धस्यास्ति स्फुटार्थावभासिता — प्रमाणवार्तिक २.२८३

२५१. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

२५२. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

किया है उसी प्रकार निर्विकल्पक इन्द्रियप्रत्यक्ष से ज्ञात अर्थ का स्मरण भी नहीं हो सकता। यदि अध्यासादि में अश्व की कल्पना करते हुए भी गोदर्शन की स्मृति देखी जाती है तो वह व्यवसायात्मक ज्ञान के कारण ही देखी जाती है, निर्विकल्पकता के कारण नहीं।<sup>२५३</sup> इस प्रकार विद्यानन्द ने अकलङ्क के द्वारा दी गई युक्ति को ही आगे बढ़ाया है।

सामान्यविशेषात्मक अर्थ का ज्ञान सविकल्पक ही होता है—बौद्ध दार्शनिकों की मान्यता है कि प्रत्यक्ष की उत्पत्ति अर्थ-सामर्थ्य से होती है, इसलिए वह निर्विकल्पक होता है, किन्तु उनकी इस मान्यता का विद्यानन्द यह कह कर निराकरण कर देते हैं कि अर्थ जात्याघात्मक अथवा सामान्यविशेषात्मक होता है एवं उससे उत्पन्न ज्ञान निर्विकल्पक नहीं सविकल्पक ही होता है। वह सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान परमार्थतः स्फुट या विशद होता है। उस पर वैशद्य का आरोप नहीं होता एवं वह निर्विकल्पक भी नहीं होता है। बौद्ध दार्शनिकों का मन्तव्य है कि अर्थ से निर्विकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है तथा निर्विकल्पक से सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है। विद्यानन्द का कथन है कि इससे तो अर्थ का सीधे सविकल्पक ज्ञान मानना ही उचित है, क्योंकि वही स्पष्ट प्रतीति में आता है।<sup>२५४</sup>

विद्यानन्द प्रमेय अर्थ को जात्याघात्मक मानने के कारण भी उसके प्रत्यक्ष को सविकल्पक मानते हैं। विद्यानन्द के अनुसार अर्थ का जात्याघात्मक स्वरूप असिद्ध नहीं है। वस्तु का जात्याघात्मक बोध निर्बाध होता है। जात्याघात्मक अर्थ एवं स्व की व्यवसिति रूप कल्पना प्रत्यक्ष में स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है।

शब्दयोजना के अभाव में भी निश्चयात्मकता सम्भव—वे बौद्ध प्रतिपादित “अभिलापवती प्रतीतिः कल्पना” का खण्डन करते हुए कहते हैं कि प्रत्यक्ष के निश्चयात्मक होने में शब्द-योजना आवश्यक नहीं है। बिना शब्दयोजना के भी ज्ञान निश्चयात्मक हो सकता है। यदि प्रत्यक्ष में अर्थ के वाचक शब्द विशेष की अपेक्षा की जाय तो अन्योन्याश्रय दोष आता है। वाचकशब्द का स्मरण होने से व्यवसाय हो तथा व्यवसाय होने पर वाचक शब्द का स्मरण हो—इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न हो जाता है। इसलिए समस्त व्यवसायात्मक प्रत्यक्ष स्वतः उत्पन्न होता है। संकेत-स्मरण रूप एवं दृष्ट अर्थ में संकल्पात्मिका रूप कल्पना को विद्यानन्द स्पष्ट व्यवसिति नहीं मानते हैं, इसलिए संकेतस्मरणादियुक्त कल्पना को भी विद्यानन्द ने सविकल्पक प्रत्यक्ष में अंगीकार नहीं किया है। विद्यानन्द कहते हैं कि अर्थ से दूर चले जाने पर उसके अभिलाप शब्द का निश्चय हो तो क्या वह ज्ञान अर्थ निश्चयात्मक नहीं कहलायेगा? अर्थात् कहलाएगा। यहां पर विद्यानन्द ने वैशेषिक, व्याकरण आदि दर्शनों का भी खण्डन कर दिया है जो शब्दयोजना के अभाव में ज्ञान को अध्यवसायात्मक नहीं मानते हैं।<sup>२५५</sup>

२५३. (i) द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

(ii) विद्यानन्द ने प्रमाणपरीक्षा में धर्मकीर्ति के मूल मन्तव्य देकर उनका खण्डन किया है। द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

२५४. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

२५५. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

प्रत्यक्ष कथञ्चित् निर्विकल्पक-विद्यानन्द ने प्रत्यक्ष को सविकल्पात्मक ही नहीं, किन्तु अनेकान्तवाद की दृष्टि से उसे कथञ्चित् निर्विकल्पक भी स्वीकार किया है। विद्यानन्द का कथन है कि मुख्य एवं संव्यवहार दोनों प्रकार के प्रत्यक्ष शब्द योजना से रहित होने के कारण निर्विकल्पक हैं तथा निश्चयात्मक होने के कारण अथवा स्मृत्यादि की युक्ति से सविकल्पक हैं। प्रत्यक्ष को सर्वथा निर्विकल्पक मान लेने पर स्व एवं अर्थ का व्यवसाय नहीं हो सकता तथा सर्वथा सविकल्पक मानने पर उसमें शब्दकल्पना माननी पड़ती है इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण कथञ्चित् सविकल्पक है तथा कथञ्चित् निर्विकल्पक है।<sup>२५६</sup>

बौद्धमत में प्रत्यक्ष कथञ्चित् सविकल्पक-प्रत्यक्ष का कथञ्चित् सविकल्पकत्व विद्यानन्द ने बौद्ध मत में भी सिद्ध किया है। बौद्धदर्शन में रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा एवं संस्कार इन पांच विज्ञान धातुओं को सवितर्क एवं सविचार माना गया है, अतः इनके द्वारा होने वाले प्रत्यक्ष को एकान्त रूप से निर्विकल्पक नहीं कहा जा सकता। बौद्ध दर्शन में योगिप्रत्यक्ष को विधूतकल्पनाजाल कहा गया है। विद्यानन्द ने इसमें प्रत्यक्ष के निर्विकल्पकत्व लक्षण को अव्याप्तिदोष युक्त बतलाया है। क्योंकि बुद्ध भगवान् शास्त्रीय ज्ञान रूप कल्पना के अभाव में धर्मोपदेशना नहीं कर सकते। इस प्रकार बौद्ध प्रतिपादित प्रत्यक्ष के कल्पनापोढ लक्षण का खण्डन हो जाता है।<sup>२५७</sup>

**निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की व्यवसायजनकता का निरसन-बौद्धों की मान्यता है कि निर्विकल्पक ज्ञान विकल्प को उत्पन्न करने में समर्थ है इसलिए व्यवसाय निर्विकल्पक प्रत्यक्षजन्य है।<sup>२५८</sup> विद्यानन्द ने बौद्धों की इस मान्यता का निम्नांकित खण्डन प्रस्तुत किया है।**

निर्विकल्पकज्ञान (दर्शन) से सविकल्पकज्ञान (व्यवसाय)<sup>२५९</sup> उत्पन्न होता है, बौद्धों की यह मान्यता अविवेकपूर्ण है। यदि निर्विकल्पक ज्ञान व्यवसाय को उत्पन्न करता है तो वह व्यवसाय निर्विकल्पकज्ञान के विषय का उपदर्शक होता है या नहीं? यदि उपदर्शक होता है तो व्यवसाय को ही उस विषय में संवादी होने से प्रवर्तक एवं प्रापक मानना चाहिए। निर्विकल्पकज्ञान सन्निकर्ष आदि के समान स्वविषय में प्रवर्तक एवं प्रापक नहीं होता है अतः उसे अविशंवादी एवं व्यवसायात्मक नहीं माना जा सकता। यदि व्यवसाय, दर्शन के विषय का उपदर्शक नहीं होता है तो दर्शन, व्यवसाय को उत्पन्न करने मात्र से अपने विषय का उपदर्शक नहीं हो सकता। यदि होता है तो संशय, विपर्यय आदि को उत्पन्न करके भी दर्शन अपने विषय का उपदर्शक होने लगेगा। तात्पर्य यह है कि दर्शन अव्यवसायात्मक होने के कारण व्यवसाय का जनक नहीं हो सकता।

दर्शन के विषय सामान्य का अध्यवसाय करने के कारण विकल्प को दर्शनजन्य कहकर

२५६. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

२५७. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

२५८. द्रष्टव्य, यही अध्याय पादटिप्पण, १२० एवं १२२

२५९. विद्यानन्द ने प्रस्तुत प्रकरण में 'दर्शन' शब्द का प्रयोग निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के अर्थ में किया है तथा 'व्यवसाय' शब्द का प्रयोग सविकल्प ज्ञान के अर्थ में किया है।

स्वविषयोपदर्शक प्रतिपादित किए जाय तो भी उपयुक्त नहीं है, क्योंकि दर्शन का विषय-सामान्य तो अन्यापोह लक्षण रूप होने से अवस्तु है। अवस्तु का व्यवसाय करने वाले को वस्तु का उपदर्शक मानना विरुद्ध है।<sup>२६०</sup>

दृश्य एवं सामान्य में एकत्व का अध्यवसाय करने से व्यवसाय (विकल्प) वस्तु का उपदर्शक ही होता है, यह मान्यता भी मिथ्या है, क्योंकि एकत्व का अध्यवसाय असंभव है। इस संबंध में अनेक प्रश्न उठते हैं, यथा दृश्य एवं सामान्य के एकत्व का अध्यवसाय दर्शन करता है या उसके अनन्तर उत्पन्न व्यवसाय (विकल्प)? अथवा कोई अन्य ज्ञान? दर्शन तो दृश्य एवं सामान्य के एकत्व का अध्यवसाय कर नहीं सकता, क्योंकि वह विकल्प्य (सामान्य) को विषय नहीं करता है। उसका पृष्ठभावी विकल्प (व्यवसाय) भी दोनों के एकत्व का अध्यवसाय नहीं कर सकता, क्योंकि वह दृश्यक्षेत्र को विषय नहीं करता है। इन दोनों को विषय करने वाले ज्ञानान्तर की कल्पना की जाय तो यह प्रश्न उठता है कि वह निर्विकल्पक है या सविकल्पक? निर्विकल्पक ज्ञान दृश्य एवं विकल्प्य (सामान्य) के विरुद्ध होने से उक्त दोनों को विषय नहीं कर सकता। विकल्पात्मक ज्ञान भी दोनों को विषय नहीं कर सकता, क्योंकि उसका विषय मात्र सामान्य लक्षण है, दृश्य नहीं। दृश्य (स्वलक्षण) एवं विकल्प्य (सामान्यलक्षण) दोनों को विषय नहीं करने वाला ज्ञान भी उनके एकत्व का अध्यवसाय नहीं कर सकता, क्योंकि जो जिसको विषय नहीं बनाता है वह उसके एकत्व का अध्यवसाय नहीं कर सकता, यथा रस का ज्ञान स्पर्श एवं रूप दोनों को विषय नहीं करता है, अतः एकत्व का अध्यवसाय भी नहीं कर सकता। इस प्रकार दृश्य एवं विकल्प्य के एकत्व का अध्यवसाय नहीं करने के कारण विकल्प को स्वलक्षण वस्तु का उपदर्शक नहीं कहा जा सकता।

यदि विकल्प का जनक होने से कारण दर्शन (निर्विकल्पक ज्ञान) को अपने विषय रूप वस्तु का उपदर्शक कहा जाय तो भी समीचीन नहीं है, क्योंकि समस्त कल्पनाओं का नाश हो जाने पर योगिप्रत्यक्ष में निर्विकल्पक ज्ञान विकल्प को उत्पन्न नहीं करता, अतः वहाँ निर्विकल्पक ज्ञान को वस्तु का उपदर्शक कहने में विरोध आता है। इसी प्रकार स्वसंवेदन प्रत्यक्ष भी वस्तु के स्वरूप का उपदर्शक नहीं होता है, क्योंकि वह विकल्प को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है। अतः 'स्वरूप का ज्ञान स्वतः होता है'<sup>२६१</sup> यह कथन भी सम्यक् रूपेण स्थापित नहीं हो पाता है।

यदि दर्शन के पृष्ठभावी विकल्प को स्वसंवेदन के बल से सिद्ध माना जाता है तो उसका स्वसंवेदन रूप प्रामाण्य किस प्रकार है? यदि स्वरूप के उपदर्शन मात्र से ही विकल्प प्रमाण है तो स्वर्ग प्रापण शक्ति आदि में भी प्रमाणता प्राप्त होती है जो बौद्धों को इष्ट नहीं है। विकल्प के अप्रमाण होने पर उससे ही उसकी व्यवसाय सिद्धि नहीं हो सकती। व्यवसाय सिद्धि नहीं होने पर "व्यवसाय को उत्पन्न करके दर्शन अपने विषय का उपदर्शक होता है," यह बौद्ध कथन असिद्ध हो जाता है।

२६०. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

२६१. स्वरूपस्य स्वतो गतिः ।— प्रमाणवार्तिक, १.६

स्वविषयोपदर्शकता के अभाव में दर्शन (निर्विकल्पक ज्ञान) न प्रवर्तक हो सकता है और न अर्थप्रापक । अर्थप्रापकता के अभाव में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष अविसंवादी नहीं होता, अविसंवादित्व के अभाव में उसे प्रमाण या सम्यग्ज्ञान नहीं कहा जा सकता ।<sup>२६२</sup>

बौद्ध कहते हैं कि अर्थ सामर्थ्य से उत्पत्ति एवं अर्थाकारता ही दर्शन (निर्विकल्पक ज्ञान) की स्वविषयोपदर्शकता है तथा वह समस्त प्रत्यक्ष ज्ञानों के अव्यवसायात्मक होने पर भी संभव है, अतः प्रत्यक्ष अर्थसामर्थ्य से उत्पन्न होने के कारण तथा अर्थाकार होने के कारण अर्थ में प्रवर्तक एवं अर्थप्रापक होता है ।<sup>२६३</sup> अर्थप्रापक होने से वह अविसंवादी होता है ।

निर्विकल्पक ज्ञान क्षणक्षयादि का उपदर्शक क्यों नहीं?—विद्यानन्द उपर्युक्त मंतव्य का खण्डन करते हुए कहते हैं कि फिर तो निर्विकल्पक ज्ञान को क्षणक्षयादि का भी उपदर्शक होना चाहिए । यदि अक्षणिकता आदि के समारोप का प्रवेश होने से अयोगी ज्ञाता के लिए निर्विकल्पक ज्ञान क्षण-क्षयादि का उपदर्शक नहीं होता, किन्तु योगी ज्ञान में समारोप संभव नहीं है इसलिए उसका निर्विकल्पक ज्ञान क्षणक्षयादि का भी उपदर्शक होता है, ऐसा कहा जाय तो भी यह बुद्धिमान पुरुषों के लिए संतोषप्रद समाधान नहीं है; क्योंकि अयोगी ज्ञाता को नील आदि में भी अनील आदि का विपरीत समारोप हो सकता है, तब उन्हें क्षणिकता आदि के समान नीलादि का भी दर्शन नहीं हो सकेगा । अन्यथा नीलादि-वस्तु में नीलादित्व और क्षणिकतादि विरुद्ध धर्मों का समावेश होने से दर्शन में भेद हो जायेगा । जब दर्शन (निर्विकल्पक ज्ञान) एक एवं भेदरहित हो तो यह नहीं कहा जा सकता है कि वह नीलादि में भ्रमाक्रान्त नहीं है तथा क्षणिकतादि में भ्रमाक्रान्त है । जो जिस विषय में विपरीत समारोप का विरोधी है वह उस विषय में निश्चयात्मक है, यथा अनुमेय अर्थ में अनुमान ज्ञान । इसी प्रकार प्रत्यक्ष भी अपने विषय में विपरीत समारोप का विरोधी होने से निश्चयात्मक है ।<sup>२६४</sup>

**बौद्ध एवं विद्यानन्द में उत्तर-प्रत्युत्तर—आगे बौद्ध एवं विद्यानन्द के उत्तर-प्रत्युत्तर संक्षेपतः इस प्रकार हैं—**

**बौद्ध—अभ्यास, प्रकरण, बुद्धिपाटव और अर्थित्व से निर्विकल्पक दर्शन में भी नीलादि पदार्थ का संस्कार एवं स्मरण उत्पन्न हो जाता है<sup>२६५</sup> क्षणिकादि में अभ्यास, प्रकरण, बुद्धिपाटव एवं अर्थित्व का अभाव होने से संस्कार एवं उसका स्मरण नहीं होता । व्यवसायात्मक ज्ञान में अभ्यास, प्रकरण आदि से ही संस्कार एवं स्मरण सम्भव हैं, उनके अभाव में नहीं । अतः प्रत्यक्ष को व्यवसायात्मक स्वीकार करने वालों को भी अभ्यास आदि चारों का नियमतः स्वीकार करना चाहिए ।**

२६२. द्रष्टव्य, प्रमाणपरीक्षा, पृ० ६-७

२६३. द्रष्टव्य - (१) तद्भावाद अर्थप्रतीतिसिद्धेरिति—न्यायबिन्दु, १.२१

(२) सारूष्यं ज्ञानस्य व्यवस्थापनहेतुः ।—न्यायबिन्दुटीका, १.२१ पृ. ८९

२६४. द्रष्टव्य, प्रमाणपरीक्षा, पृ० ७-८

२६५. द्रष्टव्य, यही अध्याय, पाटटिप्पण, १२३

विद्यानन्द – बौद्ध मान्यता उपयुक्त नहीं है, क्योंकि भूयोदर्शन रूप अभ्यास का क्षणक्षयादि में भी सद्भाव देखा जाता है। यदि अभ्यास का अर्थ 'पुनः पुनः विकल्प को उत्पन्न करना' लिया जाता है। तो वह विवादास्पद है, क्योंकि जो दर्शन स्वयं निर्विकल्पक है वह विकल्प (निश्चय) को उत्पन्न नहीं कर सकता है। बुद्धिपाटव तो नीलादि एवं क्षणिकता आदि में समान है, क्योंकि निर्विकल्पक दर्शन को बौद्धों द्वारा निरंश माना गया है। इन्द्रियज्ञान के निरंश होने से नीलादि में पटुता एवं क्षणिकत्व आदि में अपटुता संभव नहीं है, अन्यथा अंशभेद मानने होंगे। "वासना रूप कर्म के कारण इन्द्रियबुद्धि में पटुता और अपटुता दोनों संभव हैं" ऐसा कथन भी समीचीन नहीं है, क्योंकि वासना रूप कर्म का सद्भाव एवं असद्भाव दोनों विरुद्ध धर्म होने से वे एक निरंश इन्द्रियज्ञान में सम्भव नहीं हैं। अर्थित्व का अर्थ यदि जिज्ञासा रूप है तो नीलादि के समान ही वह क्षणिकता में भी है। यदि अर्थित्व का अर्थ अभिलषितत्व रूप है तो वह व्यवसाय उत्पन्न करने का अनिवार्य कारण नहीं है, क्योंकि किसी उदासीन पुरुष को अनभिलषित वस्तु में भी स्मरण (व्यवसाय) होता हुआ देखा जाता है अतः अर्थित्व भी संस्कार एवं स्मरण का नियामक नहीं है।

इस प्रकार निरंश ज्ञानवादी बौद्ध मत में अभ्यास आदि से कहीं भी संस्कारोत्पत्ति घटित नहीं होती है, किन्तु बाह्य घटादि एवं आभ्यन्तर ज्ञान इन दोनों को अनेकान्तात्मक, स्वीकार करने वाले स्याद्वादियों के मत में संस्कार-स्मरण आदि संभव हैं। जैनमत में एक ज्ञान को सर्वथा व्यवसाय (अवाय) या सर्वथा अव्यवसाय (अनवाय) रूप में निरूपित नहीं किया गया है। इसी प्रकार उसे सर्वथा संस्कार (धारणा) या असंस्कार (धारणेतरे) भी निरूपित नहीं किया गया है, तथा उसे सर्वथा स्मरण या सर्वथा अस्मरण रूप में भी प्रतिपादित नहीं किया गया है। यहां ज्ञान एवं ज्ञेय में एक एवं अनेक की दृष्टि से कथञ्चित् भेद है।<sup>२६६</sup>

बौद्ध – दर्शन (निर्विकल्पक प्रत्यक्ष) को भी हमने व्यावृत्तिभेद से भिन्न स्वीकार किया है, अतः कोई दोष नहीं आता है। यथा नील का अर्थ है अनील से व्यावृत्ति, क्षणिकता का अर्थ है अक्षणिकता से व्यावृत्ति। अनील व्यावृत्ति में नील का व्यवसाय नील की वासना के जागृत होने से उत्पन्न होता है किन्तु अक्षणिकव्यावृत्ति में क्षणिक की वासना का उद्भव नहीं होने से क्षणिक का प्रत्यक्ष द्वारा व्यवसाय नहीं होता। अनील की व्यावृत्ति एवं अक्षणिक की व्यावृत्ति में अभेद संभव नहीं है, अन्यथा व्यावर्त्यमान अनीलत्व एवं अक्षणिकत्व एक हो जायेंगे। व्यावृत्तियों के भिन्न होने से वस्तु में भेद नहीं होता, क्योंकि वस्तु निरंश है। यदि वस्तु को भिन्न-भिन्न मानेंगे तो अनवस्था दोष का प्रसंग आता है।

विद्यानन्द-बौद्धों का यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि वस्तु में जब तक स्वभाव नहीं होता है तब

तक उसमें व्यावृत्ति भेद भी असंभव है । नीलस्वलक्षण जिस स्वभाव से अनील से व्यावृत्त है उसी स्वभाव से यदि अक्षणिक से व्यावृत्त हो तो अनील एवं अक्षणिक दोनों एक हो जायेंगे । यदि नीलस्वलक्षण अनील से अन्य स्वभाव से व्यावृत्त है तथा अक्षणिक से अन्य स्वभाव से तो नीलस्वलक्षण में स्वभाव भेद सिद्ध होता है, जिसका निराकरण संभव नहीं है । यदि वस्तु में स्वभाव भेद भी तदन्य स्वभाव व्यावृत्ति से कल्पित है तो कल्पित स्वभावान्तर की परिकल्पना से अनवस्था दोष आता है । यथा नील स्वलक्षण में स्वभाव भेद अनील-अस्वभाव व्यावृत्ति और अक्षणिक अस्वभावव्यावृत्ति से कल्पित है, वास्तविक नहीं है, तो इस प्रकार अनीलस्वभाव की अन्यव्यावृत्ति को भी अन्यव्यावृत्ति रूप अन्य स्वभाव से कल्पित करना पड़ेगा और उस अन्यव्यावृत्ति को भी तदन्यव्यावृत्ति रूप अन्य स्वभाव मानना होगा, फलस्वरूप किसी भी वस्तु के ज्ञान में व्यवस्था नहीं हो सकेगी ।<sup>२६७</sup>

**बौद्ध** - वस्तु शब्द- विकल्पों का विषय नहीं होती । क्योंकि शब्द विकल्पों का विषय अन्यव्यावृत्ति है<sup>२६८</sup> जो श्रुतिनादिकालीन विद्यमान अविद्या के कारण कल्पित होती है और कल्पित होने से वह विचारणीय नहीं है । यदि उसे विचारणीय माना जाय तो वह अवस्तु न रहकर वस्तु हो जायेगी ।

**विद्यानन्द** - यह बौद्ध कथन भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि इस प्रकार दर्शन (निर्विकल्पक प्रत्यक्ष) का विषय भी अवस्तु रूप सिद्ध होगा । अतः वह भी शब्द विकल्प के विषय की भांति विचार योग्य नहीं है । नीलस्वलक्षण सुगत एवं अन्य लोगों के दर्शन का विषय बनता है तो क्या एक ही स्वभाव से बनता है या नाना स्वभावों से ? यदि एक ही स्वभाव से दर्शन का विषय है तो जो जब सुगत के लिए दृश्य होता है वही अन्य लोगों के लिए दृश्य हो जायेगा, फलतः सम्पूर्ण जगत् के लोग सुगत हो जायेंगे । जो अन्य लोगों का दृश्य है वही यदि सुगत का भी दृश्य है तो समस्त सुगत अन्य लोगों की भांति हो जायेंगे । इस प्रकार यह अखिल जगत् सुगत रहित हो जायेगा । यदि इस दोष से बचने के लिए सुगत एवं अन्य संसारी जनों के दृश्य (ज्ञेय अर्थ) को नाना स्वभाव वाला मानते हो तो नीलस्वलक्षण रूप दृश्य में स्वभावभेद का प्रसंग आ जाएगा, किन्तु दृश्यरूप नीलस्वलक्षण में नाना ज्ञेयस्वभाव को कल्पित नहीं माना जा सकता, क्योंकि उन्हें कल्पित मानने पर नीलस्वरूप भी कल्पित हो जायेगा । जबकि वह बौद्ध मत में परमार्थसत् है ।

तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष-ज्ञान की अव्यवसायात्मकता प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं है । अनुमान से भी इसकी अव्यवसायात्मकता को सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि गोदर्शन के समय जिस प्रकार अश्व का विकल्प होता है उसी प्रकार गाय का दर्शन भी व्यवसायात्मक होता है । गाय का दर्शन व्यवसायात्मक नहीं हो तो उत्तरकाल में उससे गाय का स्मरण, जो कि व्यवसायात्मक है, कदापि नहीं

२६७. द्रष्टव्य, प्रमाणपरीक्षा, पृ० ९-१०

२६८. तुलनीय - श्रुतौ सम्बन्धतेऽपोहो नैतद्भस्तुनि युज्यते ।- प्रमाणवार्तिक, २.१७२

हो सकता । जो ज्ञान व्यवसायात्मक नहीं होता, वह उत्तरकाल में स्मरण को उत्पन्न नहीं करता है, किन्तु गाय का प्रत्यक्ष ज्ञान करने वाले को उत्तरकाल में गाय का स्मरण होता है, इसलिए प्रत्यक्षज्ञान व्यवसायात्मक है ।<sup>२६९</sup>

विद्यानन्द कृत बौद्ध प्रत्यक्ष की आलोचना से ज्ञात होता है कि विद्यानन्द भी अकलङ्क की भांति प्रत्यक्ष को विशदात्मक एवं निश्चयात्मक मानते हैं । प्रत्यक्ष में अभिलापसंसर्गयोग्यता की चर्चा विद्यानन्द ने नहीं की है, किन्तु उन्होंने प्रत्यक्ष का अभिलापयुक्त अथवा शब्द-योजना से युक्त होना आवश्यक नहीं माना है । विद्यानन्द ने अनेकान्तदृष्टि का उपयोग कर प्रत्यक्ष को स्वपर का निश्चयात्मक होने के कारण कथञ्चित् सविकल्पक तथा शब्दयोजना के अभाव में कथञ्चित् निर्विकल्पक प्रतिपादित किया है । शब्दयोजना के अभाव में भी निश्चयात्मकता को स्वीकार करना विद्यानन्द की अपनी विशेषता है । वे निश्चयात्मकता को ही सविकल्पकता मानते हैं । प्रत्यक्ष का विषय जात्याद्यात्मक प्रतिपादित करके भी विद्यानन्द ने प्रत्यक्ष की सविकल्पता सिद्ध की है । उन्होंने बौद्ध सम्मत मानस प्रत्यक्ष को व्यवसायात्मक होने के कारण तथा योगिप्रत्यक्ष को धर्मोपदेशता के कारण कथञ्चित् सविकल्पक सिद्ध किया है । निर्विकल्पज्ञान से सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति को विद्यानन्द संभव नहीं मानते हैं तथा चित्त की विकल्परहित अवस्था में भी प्रत्यक्ष को स्वपरव्यवसायात्मक अंगीकार करते हैं । विद्यानन्द ने भी प्रत्यक्ष के व्यवसायात्मक ज्ञान की कसौटी स्मृति को माना है । अकलङ्क के समान विद्यानन्द ने भी अभ्यास, प्रकरण, बुद्धिपाटव और अर्थित्व को सविकल्पात्मक ज्ञान में ही संभव बतलाया है, निर्विकल्पक में नहीं ।

## वादिराज

अकलङ्क रचित न्यायविनिश्चय के विवरणकार वादिराज बौद्धों की आलोचना करते हुए कहते हैं कि बौद्ध प्रत्यक्ष में दृश्य एवं प्राप्य क्षण भिन्न हैं, अतः दृश्य क्षण का प्रत्यक्ष अज्ञात प्राप्यक्षण में प्रवर्तक नहीं हो सकता । यदि दृश्य एवं प्राप्य क्षण वस्तुतः एक हैं तो जगत् को क्षणभंगी नहीं कहा जा सकता । यदि संवृत्तिसत् से ये दोनों क्षण एक हैं तो प्रत्यक्ष अविकल्पक सिद्ध नहीं होता है ।<sup>२७०</sup>

**बौद्ध** — वर्तमान दृश्य क्षण ही प्रत्यक्ष का विषय होता है और वह प्रवर्तक होता है । उसकी अधिगति के संतोष मात्र से ही उसका प्रवर्तक होना उपपन्न है । प्राप्य क्षण में उसकी उपलब्धि तो व्यवहार करने वाले पुरुषों के अभिप्राय से कही गयी है, परमार्थतः नहीं ।

**वादिराज** — इस प्रकार तो क्षण-भंग आदि की सिद्धि में भी उसी वर्तमान क्षण को विषय करने वाले प्रत्यक्ष को प्रमाण मानना चाहिये । क्षणभंग-सिद्धि के लिए अनुमान प्रमाण का आश्रय लेना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि अनुमान प्रमाण भी व्यवहाराश्रित है, पारमार्थिक नहीं । यदि समारोप का व्यवच्छेद कर निश्चय ज्ञान कराने हेतु अनुमान-प्रमाण में प्रवृत्त होना स्वीकार किया जाता है तो नीलादि के ज्ञान

२६९. द्रष्टव्य, प्रमाणपरीक्षा, पृ० १०-१२

२७०. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख



में अनुमान-प्रमाण की प्रवृत्ति क्यों नहीं मानी जाती ? यदि नीलादि का निश्चय प्रत्यक्षप्रमाण से ही हो जाता है तो यह कैसे संभव है, प्रत्यक्ष तो अनिश्चयात्मक है। यदि वह प्रत्यक्ष का हेतु है तो यह भी संभव नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष निर्विकल्पक है और निर्विकल्पक ज्ञान निश्चय नहीं करा सकता। जिस प्रकार अर्थ निश्चयात्मक ज्ञान करने में हेतु नहीं होता, उसी प्रकार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी निश्चयात्मक ज्ञान नहीं करा सकता। यदि निश्चय के संस्कार को जागृत करने के कारण प्रत्यक्ष को निश्चय का हेतु कहा जाता है तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि संस्कार की जागृति तो अर्थ से ही होती है। अतः निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से निश्चय नहीं होता। यदि नीलादि में होता भी है तो क्षणक्षयादि में क्यों नहीं होता ? दर्शन, पाटव आदि तो दोनों में समान हैं। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में निश्चय की अपेक्षा रहती है, अतः निश्चय ही मुख्यतः प्रमाण है। स्व एवं अर्थ का निश्चायक ज्ञान किसी की अपेक्षा नहीं करता, अतः साधकतम होने से वही प्रमाण है। अविश्ववादिता भी उसी के अधीन है।<sup>२७१</sup>

बौद्धों के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में अविश्ववाद निर्धारित नहीं है, क्योंकि उसमें अविश्ववाद का निर्धारण करने पर विरोध उत्पन्न होता है और अविश्ववादिता का निर्णय हुए बिना निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का प्रामाण्य सिद्ध नहीं है। अविश्ववाद एवं प्रामाण्य में व्याप्यव्यापक भाव है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में अविश्ववादिता सिद्ध नहीं होती है।

चक्षु आदि इन्द्रियों के विषयों के व्यवसायात्मक ज्ञान में प्रामाण्य है, क्योंकि उसमें अविश्ववाद संभव है। द्विचन्द्रादि ज्ञानों में विश्ववाद इसलिए है, क्योंकि उसमें व्यवसायात्मकता ही नहीं है। विधूतबाध या बाधारहित अवसाय ही व्यवसाय है। द्विचन्द्रादि ज्ञान सबाध है, किन्तु जब इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान बाधा रहित अवसायात्मक होता है तब उसके प्रामाण्य में कोई बाधा नहीं है।<sup>२७२</sup>

**बौद्ध** - विकल्प यथार्थ नहीं हैं। समस्त विकल्प वितथ अर्थात् मिथ्या होते हैं।

**वादिराज** - बौद्ध कथन असंगत है, क्योंकि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण है, इसका अवस्थापन बौद्धों ने वितथ विकल्प रूप अनुमान से किया है। यथा प्रत्यक्ष निर्विकल्पक है, अर्थसामर्थ्य के कारण, उत्तरार्थक्षण के समान। प्रत्यक्ष में कल्पना नहीं है, क्योंकि उपलब्धिलक्षण प्राप्त कल्पनाएं उसमें उपलब्ध नहीं होती हैं, भूतल में घट के समान।<sup>२७३</sup>

**बौद्ध** - प्रत्यक्ष का प्रामाण्य स्वतः व्यवस्थित है। जैसा कि कहा है- 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिद्ध्यति'<sup>२७४</sup> अर्थात् कल्पना रहित प्रत्यक्ष-प्रमाण प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है।

२७१. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

२७२. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

२७३. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

२७४. प्रमाणवार्तिक, २.१२३

**वादिपक्ष** — यदि ऐसा है तो अनुमान से क्या प्रयोजन है ? व्यामोह (समारोप) का विच्छेद करने के लिए अनुमान को स्वीकार करते हो, तो व्यामोह के रहते हुए भी प्रत्यक्ष को व्यवस्थित कैसे माना जा सकता है ? अतः प्रत्यक्ष से प्रत्यक्ष के प्रामाण्य का ज्ञान नहीं होता और उसके विकल्प से भी प्रत्यक्ष के प्रामाण्य का निश्चय नहीं होता, क्योंकि वह विकल्प प्रत्यक्षपूर्वक होता है अतः विकल्प का प्रामाण्य प्रत्यक्ष से एवं प्रत्यक्ष का प्रामाण्य विकल्प से होने के कारण परस्परश्रय दोष उत्पन्न होता है ।

अतः विकल्प बल से ही विकल्पों की अयथार्थता एवं प्रत्यक्ष की परमार्थता का व्यवस्थापन किया जाना चाहिए तथा विकल्पों को पूर्ण रूप से वितथार्थ (मिथ्या) नहीं मानना चाहिए । इस प्रकार नीलादि विकल्प भी परमार्थ सिद्ध होता है, क्योंकि उसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं है और उसके प्रामाण्य का निश्चय करने में वही साधकतम है । अविस्वादिता का नियम भी उसमें है । निर्विकल्प में बाधा है, वह अपने प्रामाण्य में विकल्प की अपेक्षा रखता है तथा विस्वादी भी है अतः वह प्रत्यक्षाभास है ।<sup>२७५</sup>

इस प्रकार **वादिपक्ष** ने निश्चयात्मकता के अभाव में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को अप्रमाण सिद्ध किया है तथा बौद्धों के समस्त विकल्पों को वितथ मानने के सिद्धान्त का खण्डन किया है । **वादिपक्ष** ने प्रतिपादित किया है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का व्यवस्थापन भी विकल्पात्मक ज्ञान रूप अनुमान के अभाव में सिद्ध नहीं है । इसलिए समस्त विकल्पों को वितथ नहीं कहा जा सकता । निर्विकल्पक ज्ञान में अविस्वादा भी निर्धारित नहीं है तथा वह दृष्ट अर्थ में प्रवर्तक भी नहीं होता है, इसलिए निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, सविकल्प प्रत्यक्ष निश्चयात्मक, संवादात्मक एवं प्रवर्तक होने से 'प्रमाण' होता है । **वादिपक्ष** ने विधूतबाध अवसाय को व्यवसाय कहकर उसमें संशयविपर्ययादि प्रत्यक्षाभासों का भी निराकरण कर दिया है ।

## अभयदेवसूरि

**सिद्धसेन** विरचित **सन्मतितर्क** के टीकाग्रंथ **तत्त्वोद्योगविधायिनी** में **अभयदेवसूरि** ने बौद्धों का वैयाकरणों एवं नैयायिकों के साथ वाद प्रस्तुत कर बौद्ध प्रत्यक्ष का प्रामाणिक उपस्थापन किया है । तदनन्तर उसका निरसन कर जैनमत के अनुरूप सविकल्पात्मक, विशदात्मक एवं स्वपर-निश्चयात्मक प्रत्यक्ष का प्रतिष्ठापन किया है । बौद्ध प्रत्यक्ष के सम्यक् अवगमनार्थ यहाँ वैयाकरणों एवं नैयायिकों के साथ उनका वाद संक्षेप में प्रस्तुत है ।

**वैयाकरण**— वाक् के स्पर्श से रहित कोई ज्ञान नहीं है । समस्त ज्ञान शब्द से अनुविद्ध प्रतिभासित होता है ।<sup>२७६</sup> यदि वाक् (शब्द) के संस्पर्श से रहित कोई ज्ञान है तो वह प्रकाशक नहीं हो सकता । ज्ञान में वाधूपता शाश्वत है तथा वह प्रत्यक्षमार्शिनी है । उसके अभाव में ज्ञान का कोई रूप शेष नहीं रहता है,

<sup>२७५</sup> द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

<sup>२७६</sup> न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।

अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥ वाक्यपदीय, १.१२३

जैसा कि कहा गया है— ज्ञान की शाश्वत वाग्रूपता यदि भंग हो जाय तो प्रकाश प्रकाशित न हो सकेगा, क्योंकि वह वाग्रूपता प्रत्यक्षवर्णात्मक है। वाग्रूपता के अभाव में स्वसंवेदन व्यवहार योग्य नहीं होता। अतः समस्त ज्ञान के वाग्रूप होने के कारण प्रत्यक्ष को सविकल्पक मानना चाहिए।<sup>२७७</sup>

**बौद्ध** – वैयाकरणों का मन्तव्य असत् है, क्योंकि प्रत्यक्ष पुरः सन्निहित अर्थ का प्रकाशक होता है। वाग्रूपता पुरः सन्निहित नहीं होती, अतः प्रत्यक्ष में शब्द का ज्ञान नहीं होता, रूप का ज्ञान होता है। शब्द से रहित नीलादि का अवभासन होता है। शब्द की पदार्थात्मता भी उचित नहीं, क्योंकि पदार्थ का प्रत्यक्ष होने के साथ शब्द का प्रत्यक्ष नहीं होता। स्तम्भादि का प्रत्यक्ष शब्द-विविक्त होता है एवं शब्द भी अर्थविविक्त होता है। स्तम्भ का ज्ञान चक्षु से होता है तथा शब्द का श्रोत्र से। अतः इन दोनों का ऐक्य नहीं हो सकता है। चक्षु से रूप का ज्ञान होता है रस का नहीं, इसी प्रकार श्रोत्र से शब्द का ज्ञान होता है चक्षु से नहीं। यदि चक्षु से ही शब्द का भी ज्ञान माना जाए तो फिर भिन्न-भिन्न इन्द्रियां मानने की आवश्यकता नहीं रहती है। फिर तो एक ही इन्द्रिय से पांचों विषयों का ज्ञान हो जायेगा। वस्तुतः समस्त इन्द्रिय-प्रत्यक्ष शब्द रहित (वाचक विकल) होकर ही अपने विषय का ज्ञान करता है, अतः निर्विकल्पक है।

शब्द यद्यपि दृष्टि से अवभासित नहीं होता है, तथापि स्मृति में प्रतिभासित होता है अतः भिन्न ज्ञान से ग्राह्य अर्थ का वह विशेषण बनता है, यदि ऐसा कहा जाय तो भी उचित नहीं है; क्योंकि भिन्न ज्ञान से ज्ञात अर्थ स्वतंत्र रूप से प्रतिभासित होता है तथा उसके अनन्तर प्रतीयमान शब्द उसका विशेषण नहीं बन सकता। एक समय अथवा अनेक समयों में भी शब्द-स्वरूप अपने ग्राहक ज्ञान में स्वतंत्र रूप से प्रतिभासित होता हुआ विशेषण भाव को प्राप्त नहीं होता है, अन्यथा सर्वत्र शब्द विशेषण बन जायेगा।

यदि यह माना जाय कि शब्द से संस्पृष्ट अर्थ का ही ग्रहण होता है तो शब्द संकेत से अनभिज्ञ बालक को अर्थ का प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिए। यहां वैयाकरण कहते हैं कि बालक भी 'क्या है' इस प्रकार शब्दोल्लेख करता है अतः शब्दानुषक्त रूप का ग्रहण होने से प्रत्यक्ष सविकल्पक है। इसका उत्तर देते हुए बौद्ध कहते हैं कि बालक 'क्या है' ऐसा जो ज्ञान करता है वह सामान्य का ही ग्रहण है विशेष का नहीं। विशेष का ग्रहण हुए बिना विशद अवभासक ज्ञान संभव नहीं है। और जब अश्व का चिन्तन करते हुए पुरुष को गाय का प्रत्यक्ष होता है तो उस शब्द विकल्प (अश्वविषयक) के अनुरूप प्रत्यक्ष नहीं होने से ज्ञान की शाश्वत वाग्रूपता (शब्द स्वरूपत्व) नहीं कही जा सकती। गाय का प्रत्यक्ष करते समय 'गो' शब्द का उल्लेख नहीं हो पाता है तथा एक साथ अश्व एवं गाय दोनों के विकल्प नहीं हो सकते हैं।

अतः अर्थ का साक्षात्कार होना प्रत्यक्ष है। उसमें वाग्योजना का स्पर्श नहीं है। लोचनादि इन्द्रियों

से होने वाले प्रत्यक्ष में शब्द संस्पर्श नहीं होता है। शब्द श्रोत्रप्राह्य होता है। श्रोत्रप्राह्य वैश्वरी वाक् का ग्रहण चक्षुजन्म प्रत्यक्ष नहीं करता है, क्योंकि वाक् उसका विषय नहीं है। इसलिए प्रत्यक्ष को वाग्रूपता से रहित एवं निर्विकल्पक मानना चाहिए।<sup>२७८</sup>

**नैयायिक-** वस्तु का विशेषण-विशेष्य भावपूर्वक ग्रहण होता है। यही कल्पना है। नियत देश-काल आदि में दृश्यमान वस्तु व्यवहार के लिए उपयोगी होती है। देशादि के संसर्ग से रहित वस्तु कभी भी अनुभव में नहीं आती है और जो देशादि से विशिष्ट वस्तु का ग्रहण होता है वह कल्पना है। यह आवश्यक नहीं है कि इसमें वस्तु के नाम का उल्लेख हो। नामोल्लेख के अभाव में भी वस्तु का विशेषण-विशेष्य भावपूर्वक ग्रहण करना प्रत्यक्ष ज्ञान की सविकल्पकता है।<sup>२७९</sup>

**बौद्ध-** नैयायिकों का कथन भी असत् है, क्योंकि प्रत्यक्ष पुरोवर्ती नीलादि को देखने में समर्थ होता है, उससे युक्त भूतल को नहीं, और भूतल को जाने बिना यह कैसे कहा जा सकता है कि भूतलविशिष्ट नीलादि का प्रत्यक्ष होता है। शुद्ध नीलादि का ग्रहण होने के कारण विशेषणविशेष्य भाव का ग्रहण होना नहीं कहा जा सकता। प्रत्यक्ष में स्व स्वरूप के व्यवस्थित रूप एवं आलोक का ग्रहण होता है उनसे अतिरिक्त देशकालादि का ग्रहण नहीं होता है। अतः देशादि से विशिष्ट ज्ञान का मन्तव्य खण्डित हो जाता है।

यदि नैयायिक फिर भी विशेषण-विशेष्य भाव का प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं तो प्रश्न होता है कि समानकाल के दो अर्थों में विशेषणविशेष्य भाव का प्रत्यक्ष होता है अथवा भिन्नकाल के दो अर्थों में? भिन्नकाल के दो अर्थों में तो विशेषण-विशेष्य भाव हो नहीं सकता, क्योंकि उनका युगपत् प्रतिभास नहीं होता। पहले जिस क्षण विशेषण धन आदि का ज्ञान होता है उस क्षण उसके स्वामी आदि विशेष्य का ज्ञान नहीं होता। अतः धन विशिष्ट स्वामी का प्रत्यक्ष से ग्रहण नहीं होता। तुल्यकाल के अर्थों में भी विशेषण-विशेष्य भाव का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी स्थिति नहीं है। विशेषण-विशेष्य भाव से रहित दण्ड एवं पुरुष के संयोग में भी कोई दण्डविशिष्ट पुरुष के रूप में उसे दण्डी कहता है, अन्य उसी को पुरुषविशिष्ट दण्ड के रूप में 'यह उसका दण्ड है' इस प्रकार कहता है तथा जिसे विशेषण-विशेष्य भाव का ज्ञान नहीं है वह उन्हें स्वतंत्ररूपेण दण्ड एवं पुरुष के रूप में देखता है। वस्तुतः प्रत्यक्ष के द्वारा दण्ड एवं पुरुष स्वतंत्र रूप से ज्ञात होते हैं। उनका विशेषण विशेष्यभाव कल्पना से आरोपित है।

विशेषण का संयोजन तो स्मरण से उत्पन्न होता है। अतः वह मानसिक कल्पना मात्र है। उसमें अर्थ की सन्निधि की आवश्यकता नहीं होती।<sup>२८०</sup>

**नैयायिक-** यदि पुर-स्थित अर्थ का ग्राही विकल्प नहीं है तो उस अर्थ में प्रवृत्ति कैसे होगी? जो विशेषण

२७८. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

२७९. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

२८०. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

आदि का अनुभव पुरुष को पहले हुआ है उससे उसकी अर्थ में प्रवृत्ति होती है। जब तक अर्थ का ज्ञान नहीं हो जाता तब तक उसमें प्रवृत्ति नहीं होती, अन्यथा शुक्ल अर्थ को जानता हुआ ज्ञान नील अर्थ में प्रवर्तक हो जायेगा। निर्विकल्पक ज्ञान वर्तमान अर्थ में प्रवृत्त नहीं करता, अन्यथा विकल्प के बिना भी सर्वत्र प्रवृत्ति का प्रसंग आ जाएगा। सुख हेतु के निश्चय के बिना पुरःस्थित वस्तु के प्रकाशनमात्र से कोई प्रवृत्ति नहीं करता है। विकल्प ही पुरोव्यवस्थित अर्थ का ग्राही होता है, क्योंकि वही प्रवर्तक होता है। अक्षानुसारी होने से वही प्रत्यक्ष है एवं पूर्वदृष्ट नामादि विशेषणों का ग्राही होने से निश्चयात्मक है।

**बौद्ध**— नैयायिकों का कथन असंगत है, क्योंकि विकल्पात्मक ज्ञान अस्पष्ट होता है जबकि निर्विकल्पक ज्ञान स्पष्ट होता है। धूमग्राही प्रत्यक्ष के अतिरिक्त जिस प्रकार अग्नि का अनुमान अस्पष्ट आकार वाला होता है उसी प्रकार विशददर्शन युक्त अर्थ के आकारकज्ञान के अतिरिक्त विकल्प अस्पष्ट आकार वाला होता है, क्योंकि वह प्रत्यक्षदर्शन के समय अनुभव में नहीं आता। पूर्वदृष्ट विशेषण मात्र का अध्यवसाय करने वाले विकल्प एवं पुरोवर्ती अर्थ का स्पष्ट अवभासन करने वाले प्रत्यक्ष को एक नहीं कहा जा सकता। ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

यदि पुरोवर्ती अर्थ को विकल्प प्रकाशित करने में समर्थ है तो भी उससे प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि प्रवृत्तिविधायक अर्थक्रिया में समर्थ रूप का वह अवभासन नहीं करता। अर्थक्रिया में समर्थ रूप का प्रकाशन होने पर ही अर्थक्रियार्थी प्रवृत्त होते हैं। वस्तुतः अर्थक्रिया का सम्बन्ध वर्तमान समय में स्थित अर्थ से होता है। विकल्प उस अर्थक्रिया-सम्बन्ध को प्रदर्शित करने में असमर्थ होता है, क्योंकि उस समय विकल्पबुद्धि विद्यमान नहीं रहती, मात्र अर्थ के स्वरूप का अवभासन रहता है। अर्थ के स्वरूप के अवभासन मात्र से ही अर्थक्रिया के सम्बन्ध का अवभासन हो जाता है। अतः यह कहा जा सकता है कि पुरोवर्ती अर्थ में प्रवर्तमान भी विकल्प प्रवर्तक नहीं होता।

पूर्वदृष्ट का अनुस्मरण करता हुआ ही व्यवहारी पुरुष उसे दृश्यमान पर आरोपित करता है। स्मृति जिस स्वरूप का अध्यवसाय करती है वह प्रत्यक्ष मार्ग में उपयुक्त नहीं है, क्योंकि स्मृति एवं प्रत्यक्ष में अर्थाकार का भेद होता है। प्रत्यक्ष एवं स्मरण दोनों एक विषय को धारण नहीं कर सकते, क्योंकि 'पूर्वदृष्ट को देखता हूँ' ऐसा निश्चय दोनों के भिन्न-भिन्न विषयों को द्योतित करता है। दोनों में एकता मानने पर बौद्ध, नैयायिकों से प्रश्न करते हैं कि स्मर्यमाण रूप दृश्यमान के रूप में प्रतीत होता है अथवा दृश्यमान रूप स्मर्यमाण के रूप में प्रतीत होता है? इन दोनों विकल्पों में से यदि प्रथम विकल्प को सम्यक् मानते हैं तो स्मर्यमाण के स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष मान लेने पर वह परोक्ष नहीं रह सकेगा तथा यदि दूसरा विकल्प सम्यक् मानते हैं तो दृश्यमान के स्मर्यमाण रूप में अवभासित होने पर समस्त ज्ञान परोक्ष हो जायेगा। अतः यह मानना चाहिए कि प्रत्यक्षज्ञान वर्तमान रूप का ही ज्ञान कराता है, स्मृति उसका स्पर्श नहीं करती। स्मृति परोक्ष है, अतः स्मरण एवं प्रत्यक्ष का ऐक्य संभव नहीं है। स्मरण अविशद ज्ञान कराता है, प्रत्यक्ष से अर्थ का विशद ज्ञान होता है।

इस प्रकार दृश्यमान एवं स्मर्यमाण में अभेद सिद्ध नहीं है, क्योंकि दृश्यमान में स्मृति एवं स्मर्यमाण में दृष्टि नहीं पायी जाती।<sup>२८१</sup>

बौद्ध मत में जाति, गुण, क्रिया आदि असत् हैं, कल्पनात्मक हैं, अतः नैयायिकों को लक्ष्य कर बौद्धों ने जाति का भी खण्डन किया है। बौद्ध कहते हैं कि किसी अर्थ का जाति के रूप में प्रत्यक्ष नहीं होता। जाति प्रत्यक्ष एवं कल्पनाज्ञान में बाह्य आकार को धारण करती हुई प्रतीत नहीं होती है। सविकल्पक ज्ञान में भी वर्णसंस्थान के अतिरिक्त कोई जाति प्रतिभासित नहीं होती। इसी प्रकार गुण, क्रिया आदि भी अप्रतिभासित होने के कारण असत् हैं। अतः इनसे विशिष्ट अर्थ के ग्राही प्रत्यक्ष को सविकल्पक कहना भी उचित नहीं है।<sup>२८२</sup>

**नैयायिक** - निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से व्यवहार नहीं होता, क्योंकि हेय एवं उपादेय रूप दुःख तथा सुख के साधन का निश्चय हुए बिना दुःख के हान एवं सुख के उपादान रूप व्यवहार का होना शक्य नहीं है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सुख एवं दुःख के साधन का निश्चय करने में सक्षम नहीं है।

**बौद्ध** - सविकल्पक प्रत्यक्ष से भी अर्थ में प्रवृत्ति रूप व्यवहार नहीं होता, क्योंकि सुख-दुःख के साधन का निश्चय होने मात्र से कोई उनके उपादान या हान के लिए प्रवृत्त नहीं होता है। अपितु व्यवहार को उत्पन्न करने की योग्यता के ज्ञान से पुरुष हानोपादान रूप व्यवहार में प्रवृत्त होता है। फल का निश्चय हुए बिना वह योग्यता प्राप्त नहीं होती, और सुख के साधन का परोक्ष रूप से निश्चय करने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हो जाता है, अन्यथा अनुमान को भी परोक्षरूपेण निश्चय स्वभाव वाला होने से प्रत्यक्ष मानना पड़ेगा। दूसरी बात यह है कि निश्चयात्मक या सविकल्पक प्रत्यक्ष से वस्तु का निश्चय नहीं होता और उससे प्रतिबद्ध अर्थक्रिया भी उपलब्ध नहीं होती। इसलिए पूर्व अर्थ के अध्यवसाय से स्मृति प्रकट होती हुई अभिलाष को उत्पन्न करती है फिर उससे प्रवृत्ति पैदा होती है। यह प्रक्रिया निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भी समान है।

**नैयायिक** - वस्तु के स्वरूप को प्रतिभासित करने वाले निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का अर्थक्रिया से सम्बन्ध अनुभव में नहीं आता, अतः वह प्रवृत्ति नहीं करा सकता। यदि उसका अर्थक्रिया से सम्बन्ध अनुभव में आता है तो उसे सविकल्पक मानना चाहिए। प्रवर्तक हुए बिना प्रत्यक्ष को प्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बौद्धों ने 'प्रामाण्य व्यवहारेण' कथन द्वारा प्रमाण का व्यावहारिक लक्षण कहा है।

**बौद्ध** - निर्विकल्पक प्रत्यक्ष अभ्यास, पाटव आदि से जिस अंश में विधि एवं निषेध विकल्पों को उत्पन्न करता हुआ पुरुष को प्रवर्तित करता है उसी अंश में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का प्रामाण्य है। निश्चय की अपेक्षा से निर्विकल्पक प्रत्यक्ष व्यवहार का साधक होता है, अतः उसके प्रामाण्य में कोई क्षति नहीं है।

२८१. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

२८२. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

**नैयायिक** – यदि इस प्रकार निश्चय होने पर ही प्रवृत्ति होती है, निश्चय के अभाव में नहीं, तो प्रवृत्तिविधायक होने से निश्चय ही प्रमाण है। दर्शन (निर्विकल्पक प्रत्यक्ष) से गृहीत नील का निश्चय करने वाला विकल्प गृहीतग्राही होने से अप्रमाण नहीं होता है। विकल्प प्रमाण है, क्योंकि वह दर्शन से गृहीत अर्थ के अर्थक्रिया सम्बन्ध का उल्लेख करते हुए प्रवृत्ति कराता है। सर्वत्र कल्पना (विकल्प) ही प्रवृत्ति कराती है। अनुमान में भी उससे ही प्रवृत्ति देखी जाती है। दर्शन (निर्विकल्पक प्रत्यक्ष) क्षणिक का ग्रहण करने पर व्यवसायात्मक नहीं होता, क्योंकि वह तदनुरूप प्रवृत्ति नहीं कराता, अतः व्यवहार विधायक ज्ञान को ही प्रमाण कहा जा सकता है और वह ज्ञान निर्विकल्पक नहीं, सविकल्पक है। २८३

**बौद्ध** – हम विकल्पात्मक ज्ञान को अप्रमाण नहीं मानते हैं, क्योंकि अनुमान को हमने विकल्प रूप में ही प्रमाण स्वीकार किया है, किन्तु विकल्पात्मक ज्ञान को प्रत्यक्षप्रमाण नहीं कहा जा सकता।

**नैयायिक** – लिङ्ग के अभाव में प्रत्यक्ष अर्थ का निश्चय करने वाला विकल्प अनुमान कैसे है ?

**बौद्ध** – यह केवल अपरोक्ष (पुरोवर्ती) अर्थ का ही निश्चय नहीं करता, अपितु अर्थक्रिया से सम्बद्ध परोक्ष अर्थ का भी निश्चय करता है। उसके अभाव में प्रवृत्ति नहीं होती। सुगन्ध आदि का निर्विकल्पक रूपेण ज्ञान करने वाला अभ्यस्त पुरुष अन्यत्रगतचित्त होकर भी प्रवृत्त होता दिखाई देता है। अतः निर्विकल्पक को प्रवर्तक कैसे नहीं कहा जा सकता ? यदि अनुमान से ही बाह्यार्थ में सर्वदा प्रवृत्ति होती है तो प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध नहीं हो सकेगा तथा उसे मात्र स्वसंवेदन (प्रत्यक्ष) मानना पड़ेगा और तब रूपादि स्वलक्षणग्राही इन्द्रियज्ञान एवं आर्यचतुष्टय गोचर योगविज्ञान आदि चतुर्विध प्रत्यक्ष का वर्णन असंगत हो जायेगा।

यदि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष अर्थ की अर्थक्रिया योग्यता को प्राप्त नहीं करता है और उसके अभाव में प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अतः प्रवर्तक नहीं होने के कारण बाह्य व्यवहार में निर्विकल्पक ज्ञान प्रमाण नहीं है, तो अनुमान भी अर्थक्रिया की संगति को प्रकाशित नहीं करता है, क्योंकि अनुमान का विषय अवस्तु है अतः वह भी प्रवर्तक सिद्ध नहीं होता। यदि वह अध्यवसायक के रूप में उत्पन्न होता है, इसलिए अर्थग्राहिता के अभाव में भी प्रवर्तक होता है तो यह कथन असत् है, क्योंकि उसका अध्यवसायित्व ही अनुपपन्न है। ग्राह्याकार एवं ग्राहकाकार दोनों रूपों में उसका अध्यवसायित्व सिद्ध नहीं होता।

अनुमान होने पर प्रवृत्ति देखी गयी है। अनुमान के अभाव में प्रवृत्ति नहीं देखी गयी, अतः अनुमान से प्रवृत्ति होती है ऐसा यदि निश्चय किया जाता है तो विकल्परहित प्रत्यक्ष में भी अभ्यासदशा में प्रवृत्ति देखी गयी है। यह बात बार-बार कही गयी है कि कल्पना का संवेदन न होने पर भी पुरःस्थित अर्थ के स्पष्ट प्रतिभास मात्र से ही प्रवृत्ति होती है, अतः उससे क्यों नहीं प्रवृत्ति का व्यवस्थापन

किया जाता ?

यदि अनुमान से अनभ्यास दशा में प्रवृत्ति उपलब्ध होती है, उसके बिना नहीं होती तो यह भी मान्यता उपयुक्त नहीं है, क्योंकि अनभ्यास दशा में अनुमान से प्रवृत्ति दिखाई देने से सर्वदा अनुमान से ही व्यवहार उत्पन्न होगा और प्रत्यक्ष से लिङ्ग का ग्रहण नहीं मानने के कारण लिङ्ग के निश्चय के लिए अन्य अनुमान मानना पड़ेगा तथा उस अनुमान के लिङ्ग-निश्चय के लिए भी अन्य अनुमान मानना होगा। इस प्रकार अनवस्था दोष उपस्थित होगा एवं कभी व्यवहार नहीं हो सकेगा, अतः निर्विकल्पक दर्शन (प्रत्यक्ष) को अभ्यासदशा में व्यवहार करने वाला स्वीकार करना चाहिए।<sup>२८४</sup>

इस प्रकार अभ्यदेवसूरि ने वैयाकरण एवं नैयायिकों के सविकल्पवाद का बौद्धों द्वारा खण्डन प्रस्तुत कर बौद्ध निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को मजबूती के साथ पूर्वपक्ष में रखा है।

### अभ्यदेवसूरि द्वारा बौद्ध प्रत्यक्ष का निरसन

तर्कपंचानन अभ्यदेवसूरि के मत में अन्य जैन दार्शनिकों की तरह वही ज्ञान प्रमाण होता है जो स्व एवं अर्थ का निर्णायक हो।<sup>२८५</sup> बौद्ध सम्मत निर्विकल्पक ज्ञान स्व एवं अर्थ का निर्णायक नहीं है, इसलिए अभ्यदेवसूरि ने बौद्ध दार्शनिकों से सीधा प्रश्न किया है कि आप लोग (बौद्ध) स्व एवं अर्थ के निर्णायक स्वभाव वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष क्यों नहीं मानते हैं ? उसके ग्राहक प्रमाण का अभाव है इसलिए या उसके बाधक प्रमाण का सद्भाव है इसलिए ? स्वार्थनिर्णयस्वभाव वाले ज्ञान के ग्राहक प्रमाण का अभाव स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि स्थिर, स्थूल एवं साधारण स्तम्भादि बाह्य अर्थ का तथा सद् द्रव्य चेतनत्व आदि आन्तरिक ज्ञान का निर्णय होता देखा गया है। स्वसंवेदन प्रत्यक्ष में स्व एवं अर्थ का निर्णायक प्रत्यक्ष सिद्ध है इसलिए स्व एवं अर्थ के निर्णायक ज्ञान के ग्राहक प्रमाण का अभाव सिद्ध नहीं है।

स्व एवं अर्थ के निर्णयस्वभाव वाले ज्ञान का बाधक प्रमाण भी नहीं है। उसका बाधक न प्रत्यक्षप्रमाण है और न अनुमानप्रमाण। प्रत्यक्ष-प्रमाण उसका बाधक नहीं हो सकता, क्योंकि वह अविकल्पज्ञान का प्रसाधक नहीं है। निरंश क्षणिक एवं एक परमाणु का ज्ञान स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं है। अतः प्रत्यक्ष को स्व एवं अर्थ के निर्णायक ज्ञान का बाधक नहीं कहा जा सकता। अनुमानप्रमाण भी उसका बाधक नहीं हो सकता, क्योंकि अनुमान तो प्रत्यक्षपूर्वक प्रवृत्त होता है। जिस विषय में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, उसमें अनुमान प्रवृत्त नहीं होता। प्रत्यक्ष एवं अनुमान के अतिरिक्त प्रमाण बौद्धों को अभीष्ट नहीं है।<sup>२८६</sup>

अभ्यदेवसूरि ने निर्विकल्पक एवं सविकल्पक के एकत्व अध्यवसाय, निर्विकल्पक के वैशद्य तथा निर्विकल्पक अवस्था आदि का जो खण्डन किया है उसे उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप में प्रस्तुत किया

२८४. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

२८५. प्रमाणं स्वार्थनिर्णीतिस्वभावज्ञानम् ।-तत्त्वबोधविधायिनी, पृ. ५१८.२४

२८६. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख



जा रहा है ।

**बौद्ध** — निर्विकल्पक एवं सविकल्पक ज्ञान में मन की युगपद् वृत्ति होने अथवा शीघ्रवृत्ति ; कारण मूढ पुरुष निर्विकल्पक एवं सविकल्पक ज्ञान में एकत्व का अध्यवसाय करता है,<sup>२८७</sup> जिससे वह निर्विकल्पक प्रत्यक्षगत विशदता को स्व एवं अर्थ के अध्यवसायी सांश विकल्पज्ञान पर आरोपित कर देता है जिससे उसे विकल्पज्ञान विशद प्रतीत होता है ।

**अभ्यदेवसूरि** — स्व एवं अर्थ का अध्यवसायी एक ही विशदज्ञान अनुभव में आता है । अननुभूयमान निर्विकल्पक ज्ञान की परिकल्पना करने पर तो बुद्धि से भिन्न चैतन्य (पुरुष) की परिकल्पना करने वाले सांख्यमत के अनिषेध का प्रसंग आता है । अभ्यदेवसूरि बौद्धों से प्रश्न करते हैं कि सविकल्प एवं निर्विकल्पक ज्ञान में एकत्व का अध्यवसाय कौन करता है ? निर्विकल्पक ज्ञान तो विकल्प के साथ एकता का अध्यवसाय नहीं कर सकता , क्योंकि वह बौद्धमत में अध्यवसाय से विकल माना गया है । यदि वह अध्यवसाय करने लगे तो उसे भ्रान्त मानने का प्रसंग आता है । विकल्प भी निर्विकल्पक के साथ एकता का अध्यवसाय नहीं कर सकता , क्योंकि सविकल्प ज्ञान का निर्विकल्पक ज्ञान विषय नहीं बनता है । यदि बने तो सविकल्पक ज्ञान स्वलक्षण को भी विषय करने लगेगा । अविषयीकृत ज्ञान का अन्य ज्ञान पर अध्यारोप नहीं होता है, यथा जब तक रजत का ज्ञान नहीं हुआ है तब तक उसका सीप पर 'यह रजत है' इस प्रकार अध्यारोप नहीं किया जा सकता ।

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी अपने को निर्विकल्पक रूप में नहीं जानता है, क्योंकि वह अर्थ को विषय नहीं करता तथा वह 'यह है' इस रूप में असिद्ध है । मरीचिका का जल के रूप में अध्यवसाय होने पर भी वह उस रूप अर्थक्रिया में उपयोगी सिद्ध नहीं होता । इसी प्रकार अनुभव (निर्विकल्प ज्ञान) भी विकल्प रूप में अध्यवसित होकर उस प्रकार की अर्थक्रिया करने में सिद्ध नहीं होता । बौद्ध मत में विकल्प भी सिद्ध नहीं है , क्योंकि उसका विषय अवस्तु स्वीकार किया गया है । यदि विकल्प उसको विकल्प रूप में अध्यवसित करता है तो विकल्प का विषय परमार्थ मानना पड़ेगा तथा "विकल्प का अवस्तु को विषय करने के कारण एवं विसंवादयुक्त होने के कारण उच्छेद समझना चाहिए"<sup>२८८</sup> कथन से संगति नहीं बैठेगी । अतः विकल्पान्तर भी विकल्प का अध्यवसाय नहीं कर सकता , क्योंकि उसमें भी वही अवस्तु को विषय करने का दोष है ।

यदि निर्विकल्पक एवं सविकल्पक ज्ञान की एकता का अध्यवसाय करते समय विकल्प ज्ञान को व्यवहारकर्ता पुरुष निर्विकल्पक रूप में मानता है तो समस्त ज्ञान तब निर्विकल्पक हो जायेगा एवं विकल्पज्ञान का व्यवहार समाप्त होने से अनुमान- प्रमाण का अभाव हो जायेगा । यदि निर्विकल्पक

२८७. तुलनीय - मनसोर्युगपदवृत्ते : सविकल्पाविकल्पयोः ।

विमूढो लघुवृत्तेर्वा तयोरेक्यं व्यवस्यति ॥— प्रमाणवार्तिक, २.१३३

२८८. विकल्पाऽवस्तुनिर्भासाद् विसंवाददुपप्लवः ।— तत्त्वबोधविधायिनी, पृ० ५००.१४

ज्ञान को व्यवहारकर्ता पुरुष सविकल्पक रूप में मानता है तो समस्त ज्ञान सविकल्पक हो जायेगा फलतः बौद्धों का निर्विकल्पक प्रत्यक्षवाद समाप्त हो जायेगा ।

**प्रज्ञाकर (बौद्ध)** - जिस प्रकार मणिप्रभा में मणि का ज्ञान 'जो मैंने मणि देखा, वही प्राप्त हुआ, ऐसा मानने वाले के लिए' प्रत्यक्ष प्रमाण है ।<sup>२८९</sup> उसी प्रकार दृश्य एवं प्राप्य में एकत्व का अध्यवसाय होने से निर्विकल्पक ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है ।

**अभयदेव** - जिस प्रकार दृश्य पर प्राप्य का आरोप करके उसे प्राप्य माना जाता है उसी प्रकार अविकल्प पर विकल्प का आरोप कर उसे विकल्प क्यों नहीं मान लेते हैं, क्योंकि दोनों स्थानों पर तुल्य न्याय है ।

**बौद्ध** - प्राप्य मणिप्रभा एवं मणिप्रतिभास का एकत्व अध्यवसाय होने से मणि प्राप्त होने पर भी उसके प्रतिभास का अभाव नहीं होता । उसी प्रकार सविकल्प एवं निर्विकल्प के एकत्व का अध्यवसाय होने पर भी निर्विकल्पक का अभाव नहीं होता ।

**अभयदेव** - यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि इस प्रकार तो सांश (सावयव), स्थूल, एवं एक अर्थ के स्पष्ट प्रतिभास से रहित निरंश, क्षणिक, परमाणु प्रतिभास लक्षणयुक्त निर्विकल्पक का सविकल्प से ही निर्णय होगा ।<sup>२९०</sup>

अपने इस कथन की पुष्टि में अभयदेवसुरि ने विकल्प द्वारा निर्विकल्प के तिरस्कार की विस्तृत चर्चा की है तथा यह सिद्ध किया है कि विकल्प प्रचुरविषय वाला होने से अथवा निर्णायक होने से बलवान् नहीं होता । अतः विकल्प के द्वारा अविकल्प के तिरस्कार को स्वीकार नहीं किया जा सकता ।<sup>२९१</sup>

यदि सूर्य के द्वारा तारासमूह के तिरस्कार के समान विकल्प से अविकल्प का तिरस्कार हो जाता है, अतः अविकल्प रूप में निर्णय नहीं होता तब इस प्रकार तो विकल्प का अविकल्प से तिरस्कार मानने पर भी प्रतिभास निर्णय नहीं हो सकता है ।

यदि विकल्प बलवान् है एवं अविकल्प दुर्बल है अतः विकल्प के द्वारा अविकल्प का तिरस्कार होता है तो विकल्प बलवान् कैसे है ? यदि प्रचुरविषयवाला होने से विकल्प बलवान् है तो यह उचित नहीं है, क्योंकि अविकल्प के विषय में विकल्प की प्रवृत्ति होती है, अन्यथा विकल्प में गृहीतग्राहित्व दोष असंभव हो जायेगा ।

यदि निर्णयात्मक होने से विकल्प बलवान् है तो वह स्वरूप में निर्णयात्मक है या अर्थरूप में ?

२८९ तुलनीय - तस्मान्मणिप्रभायामपि मणिज्ञानप्रत्यक्षमेव । - प्रमाणवार्तिकभाष्य, पृ. २२०.१९

२९०. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

२९१. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

स्वरूप में तो वह निर्णयात्मक नहीं है , क्योंकि तब 'सर्वचित्तवैतानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षम्' इस स्वसंवेदन रूप निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के लक्षण से विरोध उत्पन्न हो जायेगा। यदि फिर भी उसे निर्णयात्मक माना जाए तो चक्षु आदि इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान स्व एवं पर का निर्णयात्मक क्यों नहीं होता ? और यदि स्व एवं अर्थ का अध्यवसाय चक्षु आदि इन्द्रियों का सिद्ध है तो किससे किसका तिरस्कार होगा ? इसीलिए विकल्प को स्वरूप से निर्णायक नहीं मानना चाहिए।

यदि अर्थरूप में विकल्प निर्णयात्मक है तो ऐसा मानने पर एक विकल्प के निर्णय एवं अनिर्णय ये दो स्वभाव मानने पड़ेंगे। यदि वे दोनों स्वभाव परस्पर विकल्प से भिन्न हैं तो किस सम्बन्ध से वे विकल्प से सम्बद्ध हैं ? आप समवायादि सम्बन्ध को स्वीकार करते नहीं हैं। अतः विकल्प निर्णयात्मक होने से बलवान् है , यह सिद्ध नहीं होता।

निर्णय एवं अनिर्णय स्वभाव का परस्पर एवं उनके विकल्प से तादात्म्य सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है , तो भी उपयुक्त नहीं है , क्योंकि जो विकल्प स्वरूप से अनिर्णयात्मक है वह बाह्यार्थ में निर्णय स्वभाव वाला कैसे होगा ? बाह्यार्थ में निर्णय स्वभाव वाला होने पर स्वरूप से उसे निर्णयात्मक मानना होगा , क्योंकि स्वरूप का निश्चय किये बिना विकल्प अर्थ का निश्चय नहीं करता है। जिस प्रकार दूसरों का ज्ञान अपने अनुभव का विषय नहीं होता उसी प्रकार विकल्प का स्वरूप जाने बिना वह अपना विषय नहीं होता। उस विकल्प का विकल्पान्तर से भी निश्चय नहीं हो सकता , क्योंकि उसका अन्य विकल्पान्तर से निश्चय करने का प्रसंग उपस्थित होगा, फलतः अनवस्था दोष आ जायेगा। अतः तदाकार का विषय नहीं होने से विकल्प अर्थ का अभाव होने के कारण दृश्य एवं विकल्प अर्थों के एकत्व का अध्यवसाय नहीं हो सकता।

इस प्रकार विकल्प प्रचुरविषय वाला होने से एवं निर्णायक होने से बलवान् नहीं है। तब उससे निर्विकल्पक का तिरस्कार होना संभव नहीं है। अतः यह कहा जा सकता है कि विकल्प द्वारा अविकल्प का एकत्व अध्यवसाय नहीं किया जाता।

आगे अभयदेवसूरि बौद्धों से कहते हैं कि यदि अविकल्पक ज्ञान द्वारा विकल्प पर एकत्व का अध्यारोप किया जाता है, तो बताइए इसका निश्चय कैसे होता है ? यदि अस्पष्ट एवं अस्वलक्षण प्राही विकल्प में स्पष्ट एवं स्वलक्षण प्राही अविकल्पक ज्ञान की प्रतीति होने पर एकत्व के अध्यारोप का ज्ञान होता है तो यह मन्तव्य उचित नहीं है। यदि विकल्पज्ञान में अविकल्पक ज्ञान की प्रतीति होती है , इसलिए विकल्प ज्ञान पर अविकल्प का आरोप होता है तो प्रश्न उठता है कि अविकल्प का आरोप कैसे होता है ? यदि अविकल्प के स्पष्टता आदि धर्म विकल्प में दिखाई देते हैं इसलिए अविकल्प का विकल्प पर आरोप सिद्ध होता है तो यह धारणा भी भ्रान्त है, क्योंकि अविकल्प में स्पष्टता आदि धर्म स्वीकार नहीं किये जा सकते। वस्तुतः विकल्प के अतिरिक्त अविकल्प का अनुभव नहीं होता है जिससे स्पष्टता आदि धर्मों की कल्पना की जा सके। अविकल्प में स्पष्टता आदि धर्मों का ज्ञान

कारने के लिए अन्य अननुभूत विशदत्व आदि धर्म वाले ज्ञान की कल्पना की जाती है तो अनवस्था दोष आता है ।<sup>२९२</sup>

**बौद्ध**— कोई ज्ञान सविकल्पक होता है तथा कोई निर्विकल्पक । इनमें विकल्प की उत्पत्ति अर्थसामर्थ्य से नहीं होती है इसलिए विकल्प में स्पष्टता आदि धर्म नहीं पाये जाते हैं एवं अविकल्प की उत्पत्ति भी यदि अर्थसामर्थ्य के बिना मान ली जाय तो कहीं भी स्पष्टता आदि धर्म नहीं पाये जायेंगे । अतः अविकल्प में उन्हें स्वीकार करना चाहिए । वस्तुतः अर्थसामर्थ्य से उत्पन्न होने की वैशद्य से व्याप्ति है । अविकल्प ज्ञान अर्थसामर्थ्य से उत्पन्न होता है, अतः वह विशद है ।

**अभ्यदेवसूरि**— अर्थसामर्थ्य से उत्पन्न होने पर भी दूर स्थित पादप आदि का ज्ञान विशद नहीं होता है एवं योगिप्रत्यक्ष ज्ञान अर्थ सामर्थ्य से अनुत्पन्न होकर भी स्पष्ट होता है अतः विशदता की व्याप्ति अर्थसामर्थ्योत्पन्न ज्ञान से नहीं कही जा सकती ।

योगिप्रत्यक्ष ज्ञान अर्थ के सामर्थ्य से उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि योगी पुरुष अतीत एवं अनागत अर्थ के अभाव में भी उनका प्रत्यक्ष कर लेता है । यदि अन्य स्वभाव से योगिप्रत्यक्ष में अतीतादि अर्थों का ज्ञान होता है तो उस ज्ञान को सावयवमाही मानना होगा, फलतः वह सविकल्पक हो जायेगा । अतः योगिप्रत्यक्ष ज्ञान को अर्थ सामर्थ्य से उत्पन्न नहीं मानना चाहिए ।

जैन दार्शनिकों के मत में कोई ज्ञान अर्थसामर्थ्य से उत्पन्न नहीं होता, इसलिए विकल्प ज्ञान अर्थसामर्थ्य से अनुत्पन्न होकर भी यदि विशद होता है तो इसमें क्या विरोध है ?<sup>२९३</sup>

**बौद्ध**— विकल्प का विशदता से ही विरोध है । विकल्प से अनुबद्ध ज्ञान में स्पष्ट अर्थ का प्रतिभास नहीं होता यथा स्वप्न में स्मार्त ज्ञान का स्मरण होता है, किन्तु स्पष्ट अर्थ का ज्ञान नहीं होता है ।<sup>२९४</sup>

**अभ्यदेवसूरि**— स्वप्नावस्था में पुरोवर्ती हस्ती आदि का प्रकाशक एक ज्ञान अनुभव में आता है तथा दूसरा स्मरण ज्ञान होता है । उनमें पूर्वोल्लेख रूप से उत्पन्न स्वप्न ज्ञान को यदि अविशद माना जाता है तो इससे समस्त विकल्प ज्ञानों में विशदता का अभाव नहीं होता । कुछ विकल्प ज्ञान पुरोवर्ती स्तम्भ आदि का स्पष्ट ज्ञान करते हैं । इन ज्ञानों की स्वसंवेदन- प्रत्यक्ष से भी प्रतीति होती है । पुरोवर्ती स्तम्भादि के स्पष्ट ज्ञान को अविकल्पक नहीं कहा जा सकता, वह तो सविकल्पक ही है । स्थिर एवं स्थूल पुरोवर्ती हस्ती आदि के प्रकाशक स्वप्नावस्था के ज्ञान को यदि निर्विकल्पक माना जाता है तो सावयव वस्तु के अध्यवसायी अनुमान ज्ञान को भी निर्विकल्पक मानना होगा, फलतः विकल्प की बात ही समाप्त हो जायेगी और आपका यह कथन भी निरस्त हो जायेगा कि 'पहले निरंश वस्तु का

२९२. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

२९३. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

२९४. विकल्पस्य वैशद्यमेव विरोधः । तदुक्तम्—  
न विकल्पानुबद्धस्य स्पष्टार्थप्रतिभासिता ।

स्वप्नेऽपि स्मर्यते स्मार्तं न च तत् ताद्गर्भवत् ॥—प्रमाणवार्तिक, २.२८३

ग्राहक निर्विकल्पक ज्ञान होता है, क्योंकि वह अर्थसामर्थ्य से उत्पन्न होता है, उसके अनन्तर काल में निर्विकल्पक ज्ञान से अर्थनिरपेक्ष एवं सांश वस्तु का अध्यवसायी अविशद सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है। शीघ्र उत्पन्न होने के कारण निर्विकल्पक ज्ञान की विशदता के अध्यारोप से लोक सविकल्पक को प्रत्यक्ष मानता है।'

उपर्युक्त न्याय से विकल्प ही विशद रूप में उत्पन्न ठहरता है क्योंकि निरंश, क्षणिक परमाणु का व्यवसाय करने वाले निर्विकल्पक ज्ञान की कहीं भी उपलब्धि नहीं होती है। इसलिए उसमें वैशद्य की कल्पना करना खण्डित हो जाता है।<sup>२९५</sup>

**बौद्ध** - समस्त कल्पनाओं के समापन की अवस्था में पुरोवर्ती अर्थ के प्रकाशक, स्पष्ट एवं इन्द्रिय से उत्पन्न निर्विकल्पक ज्ञान का अनुभव किया जाता है। ज्ञान में निर्विकल्पकता प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है। उसके लिए अन्य प्रमाण के अन्वेषण की आवश्यकता नहीं है। समस्तविकल्पों के समापन की अवस्था में नामादि से युक्त अर्थ के उल्लेख रूप विकल्प का अनुभव नहीं होता है।<sup>२९६</sup>

**अभ्यदेवसूरि** - समस्त विकल्पों से रहित अवस्था ही सिद्ध नहीं है, क्योंकि उस अवस्था में भी स्थिर एवं स्थूल स्वभाव वाले, शब्द संसर्ग के योग्य पुरोवर्ती 'गो' आदि के प्रतिभास का अनुभव होता है और वह सविकल्पक ज्ञान का ही अनुभव है।

शब्द संसर्ग का प्रतिभास ही सविकल्पकता नहीं है, अपितु शब्द संसर्ग के योग्य प्रतिभास को भी धर्मकीर्ति ने सविकल्पक स्वीकार किया है।<sup>२९७</sup> अतः पुरोवर्ती गो आदि का प्रतिभास शब्द संसर्ग के योग्य होने से सविकल्पक ही है। यदि ऐसा नहीं मानते हैं तो अव्युत्पन्न संकेत वाले बालक का ज्ञान शब्दसंसर्ग से रहित होने के कारण सविकल्पक सिद्ध नहीं होगा, जबकि उसे बौद्ध दार्शनिक सविकल्पक मानते हैं।<sup>२९८</sup> अतः शब्द संसर्ग के योग्य प्रतिभास के विशद होने से सविकल्पक ज्ञान को भी प्रत्यक्ष मानना चाहिए। सविकल्पक ज्ञान में आवश्यक नहीं है कि शब्द योजना हो। शब्द योजना के बिना भी स्थिर एवं स्थूल अर्थ का प्रतिभास निर्णयात्मक हो सकता है। वही विशद, निर्णयात्मक एवं सविकल्पक ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है।<sup>२९९</sup>

यदि विकल्प का स्वरूप शब्द योजना से युक्त अर्थ का ग्रहण करना माना जाय तो <sup>३००</sup> शब्द

२९५. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

२९६. (१) तुलनीय-संज्ञत्य सर्वतश्चिन्तां स्तिमितेनान्तरात्मना ।

स्थितोपि चक्षुषा रूपमीक्षते साक्षजा मतिः । - प्रमाणवार्तिक, २.१२४

(२) प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिध्यति । - प्रमाणवार्तिक, २.१२३

२९७. अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना । - न्यायबिन्दु, १.५

२९८. धर्मोत्तर ने अव्युत्पन्न संकेत बालक के ज्ञान को भी सविकल्पक माना है, यथा-काचित्त्वभिलापेनासंसृष्टापि अभिलापसंसर्गयोग्याभासा भवति, यथा बालकस्याव्युत्पन्नसंकेतस्य कल्पना । - न्यायबिन्दुटीका, १.५, पृ. ४४

२९९. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

३००. तुलनीय - शब्दार्थगाहि यद् यत्र तज्ज्ञानं तत्र कल्पना । - प्रमाणवार्तिक, २.२८७

स्मरण के बिना शब्दयोजना असंभव है और पूर्वकाल में अर्थदर्शन के साथ शब्द की सन्निधि के बिना शब्द स्मरण असंभव है। अर्थ का दर्शन निश्चय को उत्पन्न किये बिना युक्त नहीं है और निश्चय शब्दयोजना के बिना स्वीकार नहीं किया जाता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष कहीं भी अर्थ प्रदर्शक नहीं हो पाता, अतः उसका प्रामाण्य नहीं माना जा सकता। इसलिए शब्दयोजना के बिना भी अर्थ का निर्णायक ज्ञान प्रत्यक्ष होता है।

अविकल्प या अनिर्णयात्मक प्रत्यक्ष से लिङ्ग का भी निर्णय नहीं हो सकता। लिङ्ग का निर्णय करने के लिए अनुमान भी सक्षम नहीं है, क्योंकि उसके लिंग का निर्णय करने के लिए अन्य अनुमान की कल्पना करनी होगी। फलतः अनवस्था दोष के कारण अनुमान ही प्रवृत्त नहीं हो सकेगा और समस्त प्रमाण आदि के व्यवहार का लोप हो जायेगा।<sup>३०१</sup>

**बौद्ध** - निरंश वस्तु के सामर्थ्य से उत्पन्न होने के कारण, इन्द्रिय के प्रथम सन्निपात से उत्पन्न निर्विकल्पक ज्ञान निरंश वस्तु का ग्रहण करता है।

**अभ्यदेवसूरि** - यह कथन भी असंगत है, क्योंकि निरंश वस्तु का ही अभाव है अतः उसके सामर्थ्य से उत्पन्न होने का जो हेतु दिया गया है वह असिद्ध है। जो निरंशवस्तु से उत्पन्न हो, वह निरंश वस्तु का ग्राही हो यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि निरंश रूप-स्वलक्षण से उत्पन्न उत्तर रूप-स्वलक्षण, पूर्वक्षण का ग्राही नहीं होता है।

**अभ्यदेवसूरि** ने सांश या सावयव वस्तु का प्रत्यक्ष होने के कारण प्रत्यक्ष को सविकल्पक स्वीकार किया है। उन्होंने बौद्ध मान्यता का खण्डन करते हुए प्रतिपादित किया है कि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष तथाभूत निरंश वस्तु से उत्पन्न नहीं होता है अतः उसे संवेदनग्राही एवं निर्विकल्पक नहीं कहा जा सकता।<sup>३०२</sup>

**बौद्ध** - अनुभव (निर्विकल्पक प्रत्यक्ष) मात्र से विकल्प की उत्पत्ति नहीं होती है। अन्यथा निर्णयात्मक-प्रत्यक्षवादी को भी विस्तृत प्रघट्टक आदि में वर्ण, पद, वाक्य आदि सबका निर्णयात्मक प्रत्यक्ष रूप से अनुभव होने लगेगा तथा स्मरण रूप विकल्प का उदय ही नहीं हो सकेगा। उसकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

यदि निर्णयात्मक प्रत्यक्ष में दर्शन, पाटव, अभ्यास, प्रकरण आदि की अपेक्षा होती है तो वह तो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भी समानरूपेण लागू होती है।

**अभ्यदेवसूरि** - बौद्धों का यह कथन असत् है, क्योंकि दर्शन (निर्विकल्पक प्रत्यक्ष) में सच्चेतन आदि को ग्रहण करने की योग्यता रूप जो पाटव है तथा उनको ग्रहण न करने की योग्यता रूप जो अपाटव है वह दर्शन एवं दृश्य के सावयव होने पर ही युक्तिमत् ठहरता है और सावयव होने पर उसकी सविकल्पकता सिद्ध होती है।

३०१. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

३०२. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

यदि अभ्यास आदि की सहायता से दर्शन विकल्प को उत्पन्न करता है तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि कभी अभ्यास आदि की सहायता से दर्शन विकल्प को उत्पन्न करता हुआ नहीं देखा गया, अतः अविकल्प में विकल्प जनकता को कैसे स्वीकार किया जा सकता है? यदि सच्चेतन आदि विकल्प को अविकल्पक ज्ञान उत्पन्न करता हुआ देखा गया है, इसलिए अविकल्प को सविकल्पक का जनक माना गया है तो फिर क्रमभावी हेतु एवं फल के रूप में अविकल्प एवं सविकल्प दो ज्ञानों का अनुभव होना चाहिए, जो नहीं होता है। केवल एक सावयव स्वभाव वाले, सामान्य विशेषात्मक वस्तु के ग्राहक ज्ञान का ही निश्चय होता है, अतः यही विकल्पज्ञान उत्पन्न होता है।

अविकल्प ज्ञान को अभ्यासादि की सहायता से विकल्प को उत्पन्न करने वाला सिद्ध करने के लिए जो प्रघट्टक के अस्मरण का दृष्टान्त दिया गया है वह भी अयुक्त है, क्योंकि वर्ण आदि एवं उनके ज्ञानों का प्रति व्यक्ति भेद होता है। उनके दृढ संस्कार ही निश्चयात्मक होते हैं तथा उनका ज्ञान ही स्मृति जनक होता है, अतः प्रतिनियत विषय की स्मृति संभव होने से सकल प्रघट्टक के अस्मरण का दोष नहीं आता है। अनिश्चयात्मक ज्ञान तो क्षणिकत्व आदि की भांति कहीं भी विकल्प का कारण नहीं होता है।<sup>३०३</sup>

अभ्यदेवसूरि ने बौद्ध पक्ष को रखते हुए धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक के दो श्लोकों को प्रस्तुत किया है। तदनुसार प्रत्यक्ष द्वारा एक अर्थ का समस्त स्वभाव जान लिया जाता है तो फिर उसका कौनसा भाग अदृष्ट रह जाता है जिसके लिए प्रमाणान्तर (अनुमान) का परीक्षण किया जाता है? धर्मकीर्ति के मत में रूपसाधर्म्य से दृष्ट अर्थ के ज्ञान में भ्रान्ति हो सकती है यथा शुक्ति में रजताकार की भ्रान्ति।<sup>३०४</sup> उसके निराकरण के लिए अनुमान प्रमाण माना गया है। प्रस्तुत प्रसंग में अभ्यदेव इसका तात्पर्य कहते हैं कि जो जिससे अभिन्न है वह उसके अनुभव किये जाने पर अनुभव होता है, जिस प्रकार उस वस्तु का ही स्वरूप। सच्चेतन आदि चित्त से स्वर्गप्रापणसामर्थ्य अभिन्न है। उसका उससे भेदसम्बन्ध असिद्ध है।

अभ्यदेव – स्वर्गप्रापण-सामर्थ्य सच्चेतनादि चित्त से अभिन्न नहीं है, क्योंकि सच्चेतनादि का अनुभव होने पर स्वर्गप्रापण-सामर्थ्य का अनुभव नहीं होता है, यथा चन्द्रमा का प्रत्यक्ष होने पर भी तिमिर रोगी को उसके एकत्व का प्रत्यक्ष नहीं होता है। चन्द्रमा का ग्रहण होने के साथ उसके एकत्व का भी अनुभव हो जाता है, यदि ऐसा कहें तो फिर प्रत्यक्ष में भ्रान्ति का अभाव मानना होगा। यदि कोई प्रत्यक्ष भ्रान्त नहीं होता है तो फिर 'कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्' में अभ्रान्त पद का ग्रहण करना अनर्थक सिद्ध होता है।

वस्तुतः एकत्व के ज्ञान के बिना भी चन्द्रमा का प्रतिभास होता देखा गया है। यदि दो चन्द्रमाओं के दिखाई देने पर चन्द्रज्ञान मरीचिका जल की भांति भ्रान्त है तो यह मानना उचित नहीं है, क्योंकि

३०३. द्रष्टव्य परिशिष्ट - ख

३०४. तुलनीय, प्रमाणवार्तिक ३.४३-४४

द्वित्व ज्ञान में विसंवाद होने से जिस प्रकार वह ज्ञान भ्रान्त है उसी प्रकार चन्द्रमा में संवाद होने से वह अभ्रान्त भी है। प्रमाण एवं अप्रमाण व्यवस्था व्यवहार के अनुरोध से होती है जैसा कि आपने (बौद्धों ने) कहा भी है 'प्रामाण्य व्यवहारेण शास्त्रं मोहनवर्तनम्'।<sup>३०५</sup>

एक ज्ञान में भ्रान्त एवं अभ्रान्त दोनों रूपों का होना अयुक्त नहीं है, क्योंकि व्यवहारी पुरुष इस प्रकार के ज्ञान का आश्रय लेता है, अन्यथा चन्द्रदर्शन में 'चन्द्ररूप में प्रमाणता तथा क्षणिकता में अप्रमाणता' ये दोनों रूप घटित नहीं होंगे। क्षणिकता में चन्द्रदर्शन का प्रामाण्य मानने के लिए प्रमाणान्तर की प्रवृत्ति नहीं होगी। चन्द्रज्ञान में भी अप्रमाणता मानने पर तो कहीं भी कोई भी ज्ञान प्रमाण नहीं रहेगा, फलतः समस्त प्रमाण-व्यवहार का लोप हो जायेगा।<sup>३०६</sup>

जिन बौद्धों ने दृश्य एवं प्राप्यक्षण के एकत्व में अविसंवाद मानकर प्रत्यक्ष प्रमाण स्वीकार किया है तथा उन दोनों (दृश्य एवं प्राप्य) के पृथक्-पृथक् रूप से अनुभव होने पर भी उनमें पृथक्तया प्रमाण स्वीकार नहीं किया है वे चन्द्रदर्शन में चन्द्रप्राप्ति का अध्यवसाय करके चन्द्रमात्र में प्रमाण क्यों नहीं स्वीकार करते हैं? द्वित्व ज्ञान के कारण चन्द्रदर्शन मात्र को अप्रमाण क्यों मान लेते हैं? विवेक के अनध्यवसायी पुरुष को चन्द्रदर्शन का अनुभव नहीं होने पर भी यदि एकत्व का निश्चय होने से उसे प्रमाण मानते हैं तो बौद्धों द्वारा प्रयुक्त यह अनुमान प्रमाण बाधित होता है कि "जो वस्तु जिस प्रकार की प्रकाशित होती है वह उसी प्रकार से व्यवहार के योग्य सत् होती है। जिस प्रकार नील को नीलरूप में प्रकाशित करने वाला ज्ञान नील रूप से व्यवहार योग्य होता है उसी प्रकार समस्त पदार्थ (भाव) क्षणिक रूप में अवभासित होते हैं, इसलिए क्षणिक हैं।" क्योंकि इस अनुमान-वाक्य में हेतु असिद्ध है।<sup>३०७</sup>

अभयदेवसूरि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का भिन्न प्रकार से निरसन करते हुए कहते हैं कि अविकल्पक दर्शन को प्रमाण मानना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि सुषुप्त अवस्था में भी अविकल्पक दर्शन पाया जाता है। यतः चेतना का सद्भाव सुषुप्तावस्था में भी रहता है अन्यथा जागृत अवस्था के ज्ञान का कोई उपादान नहीं रहेगा या अचेतन को ही उसका उपादान मानना होगा। इसलिए अविकल्पक दर्शन को प्रमाण मानने पर सुषुप्तावस्था के दर्शन को भी प्रमाण स्वीकार करने का प्रसंग आता है। यदि उस निर्विकल्पक दर्शन द्वारा विकल्प को उत्पन्न नहीं किया जाता है, इसलिए वह अप्रमाण है, तो ऐसा मन्तव्य भी उचित नहीं है, क्योंकि सुषुप्तावस्था में भी विकल्प का तादात्म्य रहता है। यदि विकल्प सुषुप्तावस्था में न हो तो बाह्यार्थ में भी वह व्यवस्थापक नहीं हो सकता है। इसलिए बाह्यार्थ में व्यवस्थापक होने से सविकल्पज्ञान को ही प्रमाण मानना चाहिए।<sup>३०८</sup>

३०५. प्रमाणवार्तिक, १.७

३०६. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

३०७. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

३०८. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख



‘अभ्यासदशा में विकल्पनिरपेक्ष दर्शन (प्रत्यक्ष) ही प्रमाण होता है’ यह बौद्ध मंतव्य भी उचित नहीं है, क्योंकि इसमें दर्शन को प्रमाण किस विषय में कहा गया है ? भावी प्राप्य रूपदि में यदि दर्शन को प्रमाण कहा गया है तो प्राप्य को विषय नहीं करने के कारण उसमें प्रामाण्य मानना उचित नहीं है। अन्यथा नीलज्ञान पीतज्ञान के विषय में प्रमाण होने लगेगा, और प्रत्यक्ष की वर्तमानावभासिता भी सिद्ध नहीं हो सकेगी।

यदि वर्तमान को विषय करने वाला दर्शन भी भावी प्राप्य में प्रवृत्त कराने के कारण प्रमाण है तो यह भी समुचित नहीं है, क्योंकि जो अभी प्राप्य विषय नहीं बना है उसमें प्रवृत्त कराना संभव नहीं है अन्यथा मीमांसक-मत में सामान्य मात्र को विषय करने वाला शब्द ज्ञान भी विशेष में प्रवृत्त कराने लगेगा। उसका खण्डन करना युक्त नहीं हो सकेगा।

यदि प्राप्य विषय में भी निर्विकल्पक ज्ञान किसी निमित्त से प्रवर्तक होता है तो प्रत्यक्षपृष्ठभावी व सामान्यमात्राध्यवसायी विकल्प को प्राप्य विशेष में प्रवर्तक मानना उचित नहीं है। जबकि बौद्धों ने दृश्य एवं विकल्प्य अर्थों के एकत्व ज्ञान को प्रवृत्ति में निमित्त कहा है। इससे सिद्ध होता है कि निर्विकल्पक ज्ञान प्राप्य अर्थ में प्रमाण नहीं है। यदि दृश्य एवं प्राप्य अर्थ में एकत्व के कारण वह प्रमाण होता है तो यह कैसे कहा गया है ? यदि व्यवहारी पुरुषों को उसमें संवाद ज्ञान होता है इसलिए वह प्रमाण है <sup>३०९</sup>, तो दृश्य एवं प्राप्य का एकत्व किसका विषय होता है ? निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विषय तो हो नहीं सकता, क्योंकि यदि वह सामान्य को विषय करेगा तो सविकल्पक हो जायेगा और यदि विकल्प उसको विषय करता है तो अभ्यासदशा में विकल्प को बौद्ध मत में स्वीकार नहीं किया गया है इसलिए अभ्यासदशा में भी विकल्प निरपेक्ष दर्शन को प्रमाण नहीं कहा जा सकता। <sup>३१०</sup>

सारांश यह है कि अभ्यदेवसूरि ने बौद्ध प्रत्यक्ष का व्याकरण एवं न्याय दर्शन के साथ आलोडन करने के अनन्तर उसके विविध पक्षों में अनेक दोषों की उद्भावना की है। बौद्ध प्रत्यक्ष की आलोचना में अभ्यदेवसूरि ने निर्विकल्पक एवं सविकल्पक ज्ञान के एकत्व अध्यवसाय को अनुपपन्न सिद्ध किया है, तथा निर्विकल्पक ज्ञान की विशदता का भी खण्डन किया है। अभ्यदेवसूरि विद्यानन्द की भांति प्रत्यक्ष ज्ञान में शब्दयोजना को आवश्यक नहीं मानते हैं। अकलङ्क के समान अभ्यदेवसूरि ने प्रत्यक्ष को निश्चयात्मक अर्थ में सविकल्पक सिद्ध किया है तथा बौद्ध सम्मत निर्विकल्पक अवस्था को अनुपपन्न बताया है। अभ्यदेव का मन्तव्य है कि समस्त कल्पनाओं के संहार की अवस्था में भी अभिलापसंसर्गयोग्य अर्थ का ही ग्रहण होता है, अतः प्रत्यक्ष ज्ञान निर्विकल्पक नहीं हो सकता। अर्थसामर्थ्य से उत्पन्न प्रत्यक्ष के वैशद्य का भी अभ्यदेव ने निराकरण किया है। अभ्यदेव का कथन है कि योगिप्रत्यक्ष अर्थ सामर्थ्य से उत्पन्न नहीं होता है, तथापि विशद होता है। अभ्यदेव सांश वस्तु

३०९. तुलनीय-प्रमाणमविसंवादिज्ञानम्; अर्थक्रियास्थितिरविसंवादनम् ।— प्रमाणवार्तिक, १, ३

३१०. द्रष्टव्य, परिशिष्ट-ख

का ग्राहक होने से भी प्रत्यक्ष को सविकल्पक प्रतिपादित करते हैं। अभ्यास, दर्शन, पाटव, प्रकरण आदि को अकलङ्क एवं विद्यानन्द की भांति अभयदेव ने भी सविकल्पकज्ञान में ही युक्तिसंगत ठहराया है। अभयदेवसूरि ने अभ्यासदशा में विकल्प निरपेक्ष दर्शन के प्रामाण्य का खण्डन कर सविकल्पक प्रत्यक्ष को ही व्यवहार के लिए संवादक एवं प्रवर्तक माना है। यह ध्यातव्य है कि अभयदेव के मत में ज्ञान के समान निराकार दर्शन का भी प्रामाण्य है, किन्तु ज्ञान एवं दर्शन को इतराकार से रहित वे प्रमाण नहीं मानते हैं।<sup>३११</sup>

### प्रभाचन्द्र

प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र एवं प्रमेयकमलमार्तण्ड में बौद्ध निर्विकल्पक प्रत्यक्ष पर पर्याप्त ऊहापोह किया है। प्रभाचन्द्र पर अकलङ्क, विद्यानन्द एवं अभयदेवसूरि का प्रभाव है, तथापि उन्होंने कल्पना के स्वरूप, निर्विकल्पक एवं सविकल्पक ज्ञान के एकत्व अध्यवसाय, निर्विकल्पक ज्ञान द्वारा सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति आदि विषयों पर विस्तृत एवं गहन चिन्तन कर मौलिक तर्क प्रस्तुत किये हैं।

### बौद्धाभिमत कल्पना का खण्डन

बौद्ध प्रत्यक्ष-लक्षण का खण्डन करने हेतु उद्यत प्रभाचन्द्र ने बौद्धों से प्रश्न किया है कि 'कल्पनापोढ' प्रत्यक्ष-लक्षण में 'कल्पना' किसे कहा गया है? प्रतिभास का शब्दयुक्त होना कल्पना है? या निश्चय होना कल्पना है? जाति आदि का उल्लेख करना कल्पना है अथवा प्रतिभास का अस्पष्ट आकार होना कल्पना है? अर्थ सान्निध्य के बिना प्रतिभास होना कल्पना है? इन्द्रियों के बिना प्रतिभास रूप ज्ञान उत्पन्न होना कल्पना है अथवा तो धर्मान्तर का आरोप करना कल्पना है?<sup>३१२</sup> कल्पना के इन विविध रूपों को प्रस्तुत कर प्रभाचन्द्र ने केवल दो रूपों को कल्पना स्वीकार किया है—निश्चय होना एवं जाति आदि का उल्लेख करना। प्रभाचन्द्र ने कल्पना के अन्य रूपों का प्रतिषेध किया है। कल्पना का अर्थ प्रभाचन्द्र के मत में विकल्पात्मक अथवा निश्चयात्मक ज्ञान है। उसी आधार पर वे कल्पना के विभिन्न रूपों का प्रतिषेध करते हैं।

प्रभाचन्द्र कहते हैं कि प्रतिभास का शब्द युक्त होना उपपन्न नहीं है। इसलिए अभिलापवती प्रतीति को कल्पना कहना<sup>३१३</sup> उचित नहीं है। प्रतिभास स्वभाव से अभिलापयुक्त होता है या अभिलाप का हेतु होने के कारण अभिलापयुक्त होता है? स्वभाव से प्रतिभास शब्दयुक्त नहीं होता। अर्थ के प्रतिभास में ऐसा कोई स्वभाव नहीं है कि जिससे वह शब्द युक्त उत्पन्न हो। प्रतिभास चेतन होता है तथा शब्द पौद्गलिक होने के कारण अचेतन होता है। चेतन एवं अचेतन में पारस्परिक विरोध

३११. निराकारसाकारोपयोगौ तूपसर्जनीकृततदितराकारौ स्वविषयावभासकत्वेन प्रवर्तमानौ प्रमाणम्, न तु निरस्तेतराकारौ।

— तत्त्वबोधविधायिनी, पृ. ४५८

३१२. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

३१३. अभिलावती प्रतीतिः कल्पना ।— शान्तरक्षित, तत्त्वसङ्ग्रह, १२३

होने से इनमें तादात्म्य नहीं हो सकता। जिन दोनों में विरुद्ध धर्म पाए जाते हैं उनमें तादात्म्य नहीं होता, जैसे जल और अग्नि में। इसी प्रकार चेतन एवं अचेतन रूप विरुद्ध धर्म होने के कारण शब्द एवं ज्ञान (प्रतिभास) में तादात्म्य नहीं पाया जाता। इसलिए ज्ञान में शब्द की स्वभाव-शून्यता होने के कारण उसमें अविकल्पकता सिद्ध ही है। उसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। शब्द का हेतु होने से भी अर्थ का प्रतिभास शब्दयुक्त नहीं होता है। यदि शब्द से प्रतिभास उत्पन्न होता है इसलिए प्रतिभास कल्पनात्मक होता है ऐसा मानें तब तो श्रोत्र से होने वाला शब्दज्ञान बौद्धमत में अविकल्पक नहीं रह सकेगा। क्योंकि वह अभिलाप से उत्पन्न होता है। यदि प्रतिभास शब्द को उत्पन्न करता है इसलिए वह अभिलापवान् होता है तो प्रकृति-प्रत्ययादि का प्रत्यक्ष भी सविकल्पक हो जायेगा। प्रतिभास को शब्द से जन्य एवं जनक दोनों मानने पर भी दोनों प्रकार के दोष आते हैं तथा एक में दोनों के होने का विरोध भी आता है। इसलिए अभिलापवती प्रतीति या शब्दयुक्त प्रतिभास को कल्पना मानना उचित नहीं है।<sup>३१४</sup>

**प्रभाचन्द्र** यहां यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि जैन मतानुसार अर्थ का जो प्रत्यक्ष होता है वह शब्दयुक्त या अभिलाप युक्त नहीं होता। अर्थ का प्रतिभास शब्द रहित ही होता है। शब्द अचेतन एवं प्रतिभास चेतन होता है, अतः इनमें तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता। बौद्ध भी प्रत्यक्ष को अभिलाप रहित मानते हैं, किन्तु उन्होंने संभवतः मीमांसा दर्शन एवं वैयाकरणों के शब्दाद्वैत का खण्डन करने के लिए प्रत्यक्ष को अभिलाप या शब्द रहित निरूपित किया है। इस दृष्टि से जैन एवं बौद्ध मन्तव्य में कोई मतभेद नहीं है।

**प्रभाचन्द्र** ने प्रतिभास के अस्पष्ट आकार को भी 'कल्पना' मानने का प्रतिषेध किया है।<sup>३१५</sup> **प्रभाचन्द्र** कहते हैं कि अस्पष्ट आकार की सिद्धि विकल्पात्मक अनुमान से होती है, यथा - "जो सविकल्पक ज्ञान होता है वह अस्पष्ट होता है, यथा अनुमान। विवादास्पद ज्ञान भी अस्पष्ट है, क्योंकि वह विकल्पात्मक है।" इस प्रकार विकल्प से अस्पष्टता की सिद्धि होने के कारण तथा अस्पष्टता से विकल्पोत्पत्ति मानने के कारण अन्योन्याश्रय दोष आता है। वस्तुतः निर्विकल्पक एवं सविकल्पक ज्ञानों से स्पष्टता एवं अस्पष्टता का कोई सम्बन्ध नहीं है। स्पष्टता एवं अस्पष्टता का सम्बन्ध तो उसकी इन्द्रियादि सामग्री विशेष से होता है। वस्तु का स्वरूप भी अस्पष्टता में हेतु नहीं होता है। यदि परोक्ष आकार का जहां उल्लेख होता है वहां अस्पष्टता होती है, तो यह मन्तव्य भी उपयुक्त नहीं है, क्योंकि विकल्प ज्ञान सर्वत्र परोक्ष अर्थ में ही प्रवृत्त नहीं होता है, अपितु वर्तमान पुरोवर्ती अर्थ में भी विकल्पात्मक प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति देखी जाती है।<sup>३१६</sup>

३१४. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

३१५. धर्मकीर्ति एवं धर्मोत्तर अस्फुट प्रतिभास में कल्पना मानते हैं, यथा -

(१) न विकल्पानुबद्धस्यास्ति स्फुटा र्भावभासिता ।—प्रमाणवार्तिक, २.२८३

(२) अस्फुटा भत्वादेव च सविकल्पकम् ।—न्यायबिन्दुटीका, १.११ पृ० ६७

३१६. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

बौद्धों का यह मन्तव्य है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष विशद होता है तथा कल्पनात्मक ज्ञान अस्पष्ट होता है, किन्तु प्रभाचन्द्र विकल्पात्मक ज्ञान को निश्चयात्मक मानते हैं अस्पष्टात्मक नहीं। इसलिए अस्पष्ट आकार के अर्थ में भी वे कल्पना शब्द के प्रयोग का प्रतीकार करते हैं। विद्यानन्द ने अस्पष्ट प्रतीति के अर्थ में कल्पना शब्द का प्रयोग स्वीकार कर बौद्धों की भाँति जैन प्रत्यक्ष में भी वैसी कल्पनापोढता प्रतिपादित की है।<sup>३१७</sup>

बौद्ध दार्शनिक विकल्प को अर्थसन्निधि से निरपेक्ष मानते हैं।<sup>३१८</sup> उनका कथन है कि विकल्प या कल्पना अर्थ से उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि उसके लिए अर्थ की सन्निधि अपेक्षित नहीं है। प्रभाचन्द्र के अनुसार जैन दर्शन में अभीष्ट सविकल्पक प्रत्यक्ष अर्थसन्निधि से निरपेक्ष नहीं होता है। पुरोवर्ती अर्थ के होने पर ही प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति देखी जाती है। प्रभाचन्द्र यहां पर इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का अवलम्बन लेकर ही अर्थसन्निधि की बात कह रहे हैं, अन्यथा अतीन्द्रियप्रत्यक्ष द्वारा दूरस्थ, भूत एवं भावी अर्थों का ही ज्ञान जैन दर्शन में संभव माना गया है। इन्द्रियप्रत्यक्ष अवश्य पुरोवर्ती अर्थ का ही ज्ञान कराता है जो निश्चयात्मक होने से प्रभाचन्द्र की दृष्टि में विकल्पात्मक है। इसलिए प्रभाचन्द्र मानते हैं कि अर्थ की सन्निधि में उत्पन्न विकल्पात्मक प्रत्यक्ष को अप्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता।<sup>३१९</sup>

इन्द्रियों से अनुत्पन्न ज्ञान यदि कल्पना है तो यह मन्तव्य भी उचित नहीं है, क्योंकि विकल्पात्मक प्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य होता है। विकल्पात्मक ज्ञान का इन्द्रिय के साथ अन्वय व्यतिरेक का सम्बन्ध है। निर्विकल्पक ज्ञान की प्रतीति इन्द्रिय से उत्पन्न होती हुई नहीं देखी जाती है। निर्विकल्पक ज्ञान द्वारा अर्थ का साक्षात्कार भी नहीं होता है, वह तो वन्ध्या पुत्र के समान स्वरूपतः अप्रसिद्ध है। इसलिए सविकल्पक प्रत्यक्ष में अनक्षप्रभवता का दोष नहीं दिया जा सकता।<sup>३२०</sup>

प्रभाचन्द्र ने यहां पर भी इन्द्रिय से उत्पन्न पुरोवर्ती अर्थ के प्रत्यक्ष को ही आधार बना कर अनक्षप्रभवता रूप कल्पना का खण्डन किया है।

प्रभाचन्द्र ने धर्मान्तर के आरोप को भी कल्पना का लक्षण नहीं माना है। यदि कल्पनात्मक ज्ञान में निर्विकल्पक के धर्मान्तर का आरोप होता है तो वह धर्म कौनसा है? यदि विशदता रूप धर्मान्तर का आरोप होता है तो विशदता का आरोप सविकल्पक ज्ञान में होना उसी प्रकार असत् है जिस प्रकार वन्ध्या-पुत्र के सम्बन्धी का होना। निर्विकल्पक ज्ञान में वैशद्यधर्म अप्रसिद्ध है। वैशद्य की प्रतीति तो सविकल्पक ज्ञान में ही होती है, इसलिए धर्मान्तर के आरोप को कल्पना मानकर भी विकल्पात्मक

३१७. द्रष्टव्य, विद्यानन्दकृत बौद्ध प्रत्यक्ष खण्डन, यही अध्याय, पृ. २४९

३१८. धर्मान्तर ने अर्थसन्निधि की निरपेक्षता को विकल्प का कारण कहा है, यथा—कुतः पुनरेतद् विकल्पोऽर्थान्नोत्पद्यते इति, अर्थसन्निधिनिरपेक्षत्वात्।—न्यायबिन्दुटीका, १.५ पृ० ४६

३१९. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

३२०. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

प्रत्यक्ष का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता।<sup>३२१</sup>

इस प्रकार प्रभाचन्द्र ने इन्द्रियजन्य सविकल्पक प्रत्यक्ष को बौद्धों के द्वारा प्रतिपादित कल्पना के दोष से बचाकर निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ही दूषित बतलाया है। प्रभाचन्द्र ने कल्पना को निश्चयात्मक तथा जाति आदि का उल्लेख करने के रूप में स्वीकृत किया है जिससे सविकल्पक प्रत्यक्ष का प्रामाण्य ही अधिक पुष्ट हुआ है।

प्रभाचन्द्र अनिश्चयात्मक ज्ञान को प्रमाण नहीं मानते हैं, इसलिए वे कहते हैं कि यदि कल्पना का अर्थ निश्चय है तो यह सत्य है, क्योंकि प्रमाण का अनिश्चयात्मक होना उचित नहीं है। निर्विकल्पक ज्ञान स्व एवं पर का निश्चायक नहीं होता इसलिए वह प्रमाण नहीं कहा जा सकता। प्रत्यक्ष स्व एवं अर्थ का व्यवसायक होता है, प्रमाण होने से, अनुमान के समान। जिसका स्वयं का स्वरूप निश्चित नहीं होता एवं जो अर्थ का निश्चायक भी नहीं होता वह प्रमाण नहीं हो सकता, यथा अन्य पुरुष का ज्ञान एवं संशयादि ज्ञान। अन्य पुरुष का ज्ञान अपने लिए अनिश्चायक (अनुपयोगी) है तथा संशयादि ज्ञान पर का अनिश्चायक होने से अप्रमाण है। वस्तुतः स्व एवं अर्थ की अव्यवसायकता को छोड़कर पुरुषान्तर एवं संशयादि के ज्ञान के अप्रामाण्य में कोई कारण नहीं है।

प्रमाण, संशयादि का व्यवच्छेद करके निश्चय अर्थ के स्वरूप का अवधारण करता है। प्रमाण का यह स्वरूप 'प्रमाण' शब्द की निरुक्ति से भी ज्ञात होता है। जैसा कि प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र में प्रतिपादित किया है—

'प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदलक्षणेन मीयते परिच्छिद्यते येनाऽर्थः तत् प्रमाणम्'<sup>३२२</sup>

अर्थात् 'प्रकर्ष रूप से संशयादि का व्यवच्छेद करके जिसके द्वारा अर्थ (पदार्थ) जाना जाता है वह प्रमाण है।' प्रमाण का यह लक्षण निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में संभव नहीं है अतः उसमें प्रमाण शब्द की प्रवृत्ति नहीं की जा सकती है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष व्यवहार के लिए अनुपयोगी होने से भी प्रमाण नहीं है। जो व्यवहार के लिए अनुपयोगी होता है वह प्रमाण नहीं होता, जैसे कि चलते हुए व्यक्ति के लिए तिनकों के स्पर्श होने का ज्ञान। बौद्धों के द्वारा ऐसा ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण परिकल्पित किया गया है।

बौद्धों ने 'प्रामाण्य व्यवहारेण'<sup>३२३</sup> के अनुसार व्यवहार के आधार पर प्रमाणता स्वीकार की है, किन्तु निर्विकल्पक ज्ञान तो प्रवृत्ति आदि व्यवहार का प्रसाधक नहीं है, क्योंकि वह स्व एवं अर्थ का निश्चायक नहीं है। अनध्यवसायी (अनिश्चायक) होने से निर्विकल्पक कहीं भी प्रवृत्ति आदि नहीं

३२१. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

३२२. हेमचन्द्र कृत प्रमाणमीमांसा पृ० २ पर भी यह वाक्य है।

३२३. प्रमाणवार्तिक, १, ७

करा सकता।<sup>३२४</sup>

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष अतिरिक्त विकल्प को उत्पन्न करने के कारण प्रवर्तक होता है अतः प्रमाण है,<sup>३२५</sup> ऐसी मान्यता भी श्रद्धामात्र है। क्योंकि जिस निर्विकल्पक को अपना स्वरूप ही ज्ञात नहीं है वह सन्निकर्ष<sup>३२६</sup> के सदृश ही है। यदि निर्विकल्पक को बौद्ध प्रवर्तक मानते हैं तो सन्निकर्ष को भी प्रवर्तक मानना होगा। बौद्ध कहते हैं कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष चेतन होता है एवं सन्निकर्ष अचेतन होता है, किन्तु उनमें ऐसा भेद प्रतीत नहीं होता। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी चेतन रूप में अप्रसिद्ध है।<sup>३२७</sup> जो पर निरपेक्ष एवं स्वरूप का उपदर्शक हो वही चेतन कहा जाता है और निर्विकल्पक प्रत्यक्ष स्वप्न में भी परनिरपेक्ष होकर स्वरूप का उपदर्शन नहीं कराता अतः वह चेतन नहीं हो सकता है तथा सन्निकर्ष से उसमें कोई विशेषता नहीं मानी जा सकती। सन्निकर्ष से निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में कोई विशेषता तभी हो सकती है जब उसे व्यवसायात्मक माना जाए<sup>३२८</sup> अन्यथा निर्व्यापार होने के कारण अननुभूयमान स्वरूप होने से इसे सन्निकर्ष से भिन्न रूप में प्रसिद्ध नहीं कहा जा सकता।<sup>३२९</sup>

यदि बौद्ध कहें कि 'मैं देखता हूँ' इस प्रकार का विकल्प ही प्रत्यक्ष का व्यापार है, अतः उसे निर्व्यापार नहीं कहा जा सकता है,<sup>३३०</sup> तो उनका यह कथन भी समीचीन नहीं है, क्योंकि तब प्रत्यक्ष की व्यवसायात्मकता माननी होगी। बौद्धों के द्वारा 'व्यापार' प्रत्यक्ष से भिन्न अंगीकार नहीं किया जाता है, उसका स्वभाव होने के कारण। यदि प्रत्यक्ष का कार्य होने से व्यापार को उससे भिन्न माना जाता है तो वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का व्यापार किस प्रकार है? पुत्र, पिता का व्यापार नहीं होता है। यदि हो तो भी निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में व्यवसायस्वभावता माने बिना उससे उत्पन्न विकल्प में व्यवसायकता नहीं मानी जा सकती। यदि विकल्प में बोधरूप होने से व्यवसायकता है तो बोध तो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भी है अतः उसको भी व्यवसाय-स्वभाव मानना चाहिए। बोधरूपता में दोनों के समान होने पर भी 'जिस निर्विकल्पक का साक्षात् अर्थ (स्वलक्षण) में ग्रहण व्यापार होता है वह निश्चय नहीं करता, और उस निर्विकल्पक के व्यापार से उत्पन्न विकल्प निश्चय करता है'—ऐसा मानना

३२४. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

३२५. अविकल्पमपि ज्ञानं विकल्पोत्पत्तिशक्तिमत् ।

निःशेषव्यवहारङ्गं तदद्वारेण भवत्यतः ॥— तत्त्वसंग्रह, १३०६

३२६. न्यायदर्शन द्वारा मान्य प्रत्यक्षप्रमाण के भेदों में एक इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष भी है। सन्निकर्ष के प्रामाण्य का बौद्ध स्वयं खण्डन करते हैं।

३२७. प्रभाचन्द्र का यह कथन उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि जैन मान्यता के अनुसार निर्विकल्पक दर्शन को भी चेतन का गुण माना गया है अतः निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को चेतन रूप में अप्रसिद्ध कहना समुचित नहीं है।

३२८. तुलनीय - अधिगमोऽपि व्यवसायात्मैव, तदनुत्पत्तौ सतोऽपि दर्शनस्य साधनान्तरापेक्षया सन्निधानाऽपेदात् सुषुप्त-चेतन्यवत् ।— अष्टशती, अष्टसहस्री, पृ० ७५

३२९. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

३३०. बौद्ध दार्शनिक प्रमाण को सव्यापार मानते हैं, यथा-

सव्यापारप्रतीतत्वात् प्रमाणं फलमेव सत् ।— प्रमाणसमुच्चय, १.९

तो ठीक इसी प्रकार है जैसे तलवार से कोश में तीक्ष्णता का होना मानना । विलक्षण सामग्री से उत्पन्न होने के कारण यदि व्यवसायकता मानी जाती है तो वह तो सविकल्प निर्विकल्प में भेद सिद्ध होने पर सिद्ध होगी । विकल्प के बिना अविकल्पक का स्वरूप स्वप्न में भी प्रसिद्ध नहीं है । स्व एवं अर्थ का व्यवसायात्मक एक ही ज्ञान इन्द्रियादि सामग्री से उत्पन्न अनुभव किया जाता है । उनमें स्वरूप का भेद तथा सामग्री का भेद किसी को कभी भी प्रतिभासित नहीं होता । यदि होता है तो बुद्धि एवं चैतन्य में भेद मानने वाले सांख्य का प्रतिकेप नहीं किया जा सकता । यदि इनके एकत्व अध्यवसाय के कारण भेद का ज्ञान नहीं होता है तो यह तर्क तो दोनों स्थानों पर समान है ।<sup>३३१</sup>

इस प्रकार प्रभाचन्द्र कल्पना का अर्थ निश्चयात्मक ज्ञान करते हैं । वे किसी भी अनिश्चयात्मक ज्ञान को अर्थक्रिया में प्रवर्तक नहीं होने के कारण प्रमाण नहीं मानते हैं । निर्विकल्पक ज्ञान निश्चयात्मक नहीं होता है, अतः वह व्यवहार का अंग नहीं होता है । निश्चयात्मक ज्ञान निर्विकल्पक नहीं कहा जा सकता । निश्चयात्मक रूप में जिस ज्ञान की प्रतीति होती है वह सविकल्पक ही होता है । निर्विकल्पक ज्ञान विकल्पज्ञान को उत्पन्न करके भी व्यवहार का अंग नहीं बन सकता, क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञान के द्वारा विजातीय विकल्पज्ञान की उत्पत्ति संभव नहीं है । निर्विकल्पक ज्ञान स्वयं निश्चयात्मक नहीं होता है, अतः वह अन्य निश्चयात्मक ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकता ।

जाति आदि का उल्लेख कल्पना है, इसको स्वीकारने में भी प्रभाचन्द्र को कोई आपत्ति नहीं है । प्रभाचन्द्र कहते हैं कि विशेषणविशेष्य भूत जात्यादि पदार्थों के सम्बन्ध में अज्ञान का नाश करने वाले निश्चयात्मक ज्ञान को विकल्पात्मक कहना उचित है । बौद्ध मन्तव्य के अनुसार प्रत्यक्ष-प्रमाण जात्यादि से विशिष्ट अर्थ का ग्राहक नहीं होता है । उसका विषय निरंश स्वलक्षण परमाणु होते हैं, जबकि जैन दार्शनिक मत में सामान्य विशेषात्मक अथवा विशेषणविशेष्यभूतात्मक अर्थ का ही प्रमाण के द्वारा निश्चय किया जाता है । जैनदार्शनिक विशेषणविशेष्यभूत अर्थ का प्रमाण में प्रतिबिम्ब नहीं मानते हैं, किन्तु यथावस्थित अर्थ का प्रमाण को प्रकाशक मानते हैं । अतः यहां जात्यादि उल्लेख का अभिप्राय विशेषणविशेष्यभावयुक्त अर्थ का ग्रहण करना है । इसलिए प्रभाचन्द्र कहते हैं कि 'सफेद गाय चरती है' इत्यादि ज्ञान जात्यादिविशिष्ट होते हैं । इनकी प्रतीति का अपलाप नहीं किया जा सकता ।<sup>३३२</sup>

प्रत्यक्ष जात्यादि विशिष्ट अर्थ का ग्राहक होता है, यह कहकर प्रभाचन्द्र ने भी विद्यानन्द के समान बौद्ध प्रत्यक्ष के विषय स्वलक्षण का निराकरण कर दिया है तथा जैन सम्मत सामान्यविशेषात्मक प्रमेय

३३१. (१) द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

(२) एकत्व अध्यवसाय विषयक ऊहापोह विद्यानन्द एवं अभयदेवसूरी कृत बौद्ध प्रत्यक्षनिरसन में किया जा चुका है । प्रभाचन्द्र कृत खण्डन के लिए आगे द्रष्टव्य ।

३३२. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

का भी संकेत कर दिया है।<sup>३३३</sup>

सारांश यह है कि प्रभाचन्द्र इन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष-प्रमाण को निश्चयात्मक ज्ञान मानकर भी उसे शब्दयुक्त, अस्पष्ट आकारवाला, अर्थसन्निधि से निरपेक्ष, अनक्षप्रभव, एवं धर्मान्तर के आरोप से युक्त नहीं मानते हैं। इतना होते हुए भी वे प्रत्यक्ष को सामान्यविशेषात्मक या जात्यादि के उल्लेख से युक्त मानते हैं।

प्रभाचन्द्र प्रतिपादित करते हैं कि प्रत्यक्षप्रमाण अन्य प्रमाण की अपेक्षा किये बिना वस्तु के तथाभाव का प्रकाशक होता है, किन्तु अविकल्पक ज्ञान नीलादि में क्षणिकता का ज्ञान कराने के लिए विकल्प (अनुमान) की अपेक्षा करता है। अतः वस्तु व्यवस्था में परव्यापार की अपेक्षा रखने के कारण सन्निकर्ष आदि के समान अविकल्पक ज्ञान भी अप्रमाण है।<sup>३३४</sup>

### एकत्व अध्यवसाय का निरसन

बौद्ध - विकल्प एवं निर्विकल्प ज्ञान के युगपत् होने अथवा शीघ्र होने से दोनों में एकत्व का अध्यवसाय होता है जिससे विकल्प में वैशद्य की प्रतीति होती है, जबकि वस्तुतः निर्विकल्पक ज्ञान विशद होता है।<sup>३३५</sup>

प्रभाचन्द्र - बौद्धों का कथन उचित नहीं है, क्योंकि विकल्प के अतिरिक्त निर्विकल्प की प्रतीति नहीं होती है अतः उनमें एकत्व का अध्यवसाय संभव नहीं है। दोनों के भिन्न-भिन्न प्रतीत होने पर ही मैत्र में चैत्र की भांति एक का दूसरे पर आरोप किया जा सकता है।

प्रत्यक्ष से विकल्प अस्पष्ट प्रतिभास वाला एवं निर्विकल्प स्पष्ट प्रतिभास वाला प्रतीत नहीं होता है। फिर भी बौद्ध अनुभूयमान वैशद्य को छोड़कर अननुभूयमान निर्विकल्प में विशदता की कल्पना क्यों करते हैं? प्रभाचन्द्र ने एकत्व अध्यवसाय का खण्डन करते हुए अनेक प्रश्न उठाए हैं। (1) दीर्घ शङ्कुली (बड़ी पूड़ी) खाते समय रूपादि पांच विषयों की साथ उत्पत्ति होती है अतः उनमें भी अभेद अध्यवसाय होना चाहिए। यदि भिन्न-भिन्न इन्द्रियों का विषय होने के कारण उनका अभेद अध्यवसाय नहीं होता है तो विषयभेद की स्थिति तो इनमें भी है। निर्विकल्प का विषय स्वलक्षण है एवं विकल्प का विषय संतान है। (2) यदि लघुवृत्ति अर्थात् शीघ्रतापूर्वक होने के कारण विकल्प एवं निर्विकल्प में अभेद मालूम पड़ता है तो गधे के रेंकने में भी अभेद अध्यवसाय का प्रसंग उपस्थित होता है। (3) यदि विकल्प एवं निर्विकल्प के सादृश्य के कारण उनके भेद की प्राप्ति नहीं होती है तो वह सादृश्य कैसा है? विषय की अभेदता का या ज्ञानरूपता का? विषय की अभेदता का तो सादृश्य हो नहीं सकता क्योंकि विकल्प का विषय संतान एवं निर्विकल्प का विषय स्वलक्षण है। यदि

३३३. द्रष्टव्य, विद्यानन्द कृत बौद्ध-प्रत्यक्ष आलोचना, पृ. १५५

३३४. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

३३५. मनसोर्युगपदवृत्तेः सविकल्पाविकल्पयोः।

विमूढो लघुवृत्तेर्वा तयोरेक्यं व्यवस्यति ॥— प्रमाणवार्तिक, २.१३३



ज्ञानरूपता का सादृश्य है तो नील पीतादि ज्ञानों का भी भेद रूप से उपलब्ध नहीं होगा।<sup>३३६</sup> (4) यदि अभिभव के कारण दोनों की पृथक् प्रतीति नहीं होती है तो किसके द्वारा किसका अभिभव होता है ?<sup>३३७</sup>

प्रभाचन्द्र ने निर्विकल्पक एवं सविकल्पक ज्ञान के एकत्व अध्यवसाय पर आगे विभिन्न प्रकार से विचार किया है।

निर्विकल्प एवं सविकल्प का एकत्व अध्यवसाय किस रूप होता है ? (1) निर्विकल्प एवं सविकल्प का एक ही विषय होने रूप (2) एक के विषय को दूसरे के द्वारा ग्रहण करने रूप अथवा (3) एक का दूसरे विषय पर अध्यारोप होने रूप ? प्रभाचन्द्र ने इन तीनों प्रकार के एकत्व अध्यवसाय का निराकरण किया है।

1-निर्विकल्प एवं सविकल्पक ज्ञान का विषय एक नहीं है। विकल्प का विषय सामान्य एवं निर्विकल्प का विषय विशेष है। दृश्य एवं विकल्प्य विषय का एकत्व अध्यवसाय होने के कारण भी दोनों का विषय एक कहना उचित नहीं है। क्योंकि इनके एकत्व का अध्यवसाय संभव नहीं है। यदि दोनों का ग्रहण किये बिना एकत्व का अध्यवसाय सम्भव हो तो अतिप्रसंग होगा। यदि सादृश्य के कारण एक विषय का अन्य पर आरोप किया जाता है तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि वस्तु (दृश्य) एवं अवस्तु (विकल्प्य) का नील एवं खरविषाण की भांति सादृश्य नहीं हो सकता, अतः सविकल्प एवं निर्विकल्पक ज्ञान का विषय एक नहीं है।

2- विकल्प एवं निर्विकल्प में एक के द्वारा अन्य के विषय का ग्रहण किया जाना भी समान कालभावी एवं दोनों के स्वतंत्र होने से युक्तियुक्त नहीं है।

3- विकल्प या निर्विकल्प का एक दूसरे पर अध्यारोप भी असम्भव है। यदि विकल्प पर निर्विकल्प का अध्यारोप किया जाय तो विकल्प-व्यवहार का उच्छेद हो जायेगा और निर्विकल्प पर विकल्प का आरोप किया जाय तो निर्विकल्पता का उच्छेद हो जायेगा।

यदि विकल्प में निर्विकल्पक के आरोप से विशदता का व्यवहार होता है तो उसी प्रकार निर्विकल्प में विकल्प का अध्यारोप करने से अविशदता का व्यवहार क्यों नहीं माना जाता ? यदि निर्विकल्प द्वारा विकल्प का अभिभव करने से विशदता रहती है तो यह तो विकल्प द्वारा निर्विकल्प का अभिभव करने पर भी मानी जा सकती है। यदि यह माना जाय कि निर्विकल्प से विकल्प का अभिभव हुआ, तो वह अभिभव किस प्रकार होगा ? (क) सहभाव के कारण, (ख) अभिन्न विषय होने से, अथवा (ग) अभिन्न सामग्री से जन्य होने के कारण ?

३३६. द्रष्टव्य, प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-१ पृ० ८७-८९

३३७. इस तर्क का अभयदेवसूरी कृत बौद्ध-प्रत्यक्ष खण्डन में निरूपण किया जा चुका है। द्रष्टव्य, पृ. १७१। प्रभाचन्द्र कृत खण्डन के लिए द्रष्टव्य, प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-१ पृ० ८९-९१

क- दोनों का सहभाव माना जाय तो गाय को देखने के समय सहभाव के कारण अश्व के विकल्प का स्पष्ट प्रतिभास होना चाहिए ।

ख- शब्द स्वलक्षण का श्रोत्रेन्द्रिय से प्रत्यक्ष करते हुए क्षणिकत्व के अनुमान का भी स्पष्ट प्रतिभास होना चाहिए, क्योंकि इनका विषय भिन्न नहीं है ।

ग- यदि बौद्ध कहते हैं कि श्रोत्रेन्द्रिय के प्रत्यक्ष द्वारा क्षणिकत्व के अनुमान का अभिभव नहीं होता, क्योंकि दोनों भिन्न-भिन्न सामग्री से जन्य हैं, एक स्वलक्षण जन्य है तथा दूसरा सामान्य लक्षण जन्य है । यदि अभिन्न सामग्रीजन्य मानने लगे तो समस्त विकल्पों का विशद अवभास होने लगेगा, और अभिन्न सामग्रीजन्य स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से उनका अभिभव हो जाएगा यदि विकल्प एवं स्वसंवेदन की सामग्री एक नहीं है, क्योंकि विकल्प वासनाजन्य है एवं स्वसंवेदन (निर्विकल्प) संवेदनमात्रजन्य है तो यह उपयुक्त नहीं है, क्योंकि फिर तो नीलादि विकल्प का भी प्रत्यक्ष से अभिभव नहीं हो सकेगा, क्यों कि भिन्न सामग्री तो वहां पर भी है ।<sup>३३८</sup>

विद्यानन्द एवं अभयदेवसूरि द्वारा चर्चित प्रश्न पर प्रभाचन्द्र ने भी विचार कर प्रतिपादित किया है कि सविकल्प एवं निर्विकल्प की एकता का अध्यवसाय न निर्विकल्पक ज्ञान कर सकता है, न सविकल्पक और न ही ज्ञानान्तर, क्योंकि निर्विकल्प ज्ञान अध्यवसाय धर्म से रहित होता है, तथा सविकल्प ज्ञान निर्विकल्प ज्ञान को विषय नहीं करता है । यदि विकल्प का विषय निर्विकल्प ज्ञान माना जाता है तो 'विकल्पोऽवस्तुनिर्भासः' आदि बौद्ध वक्तव्य से विरोध पैदा होता है । ज्ञानान्तर से भी दोनों के एकत्व का अध्यवसाय नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञानान्तर भी या तो निर्विकल्पक होगा या सविकल्पक । अतः उसमें भी पूर्ववत् एकत्व अध्यवसायक सामर्थ्य नहीं है । एकत्व अध्यवसाय के अभाव में निर्विकल्प की विशदता का सविकल्प ज्ञान पर आरोप फलित नहीं होता है ।<sup>३३९</sup>

प्रभाचन्द्र ने विकल्पज्ञान को निश्चयात्मक माना है तथा निश्चयात्मकता के साथ प्रमाणता की व्याप्ति अंगीकार की है । समस्त चिन्ताओं के संहार की अवस्था में निर्विकल्पक ज्ञान के प्रामाण्य का अन्य जैन दार्शनिकों के समान उन्होंने भी प्रतीकार किया है तथा स्थिरस्थूलादि स्वभाव वाले अर्थ का प्रत्यक्ष माना है । बौद्धों का यह मन्तव्य कि 'निर्विकल्पक ज्ञान सविकल्पक ज्ञान को उत्पन्न करने के कारण प्रमाण होता है', भी प्रभाचन्द्र के अनुसार उचित नहीं है, क्योंकि निर्विकल्पज्ञान तो संशयादि विकल्पों को भी उत्पन्न करता है । अतः वह प्रमाण नहीं हो सकता । संशयादि विकल्पों का उत्पादक ज्ञान बौद्ध मत में भी यदि अप्रमाण है तथा स्वलक्षण का अध्यवसायक ज्ञान प्रमाण है तो यह मन्तव्य भी उचित नहीं है, क्योंकि विकल्प का आलम्बन स्वलक्षण नहीं है, अतः वह स्वलक्षण का अध्यवसाय

<sup>३३८</sup>. द्रष्टव्य, प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-१, पृ० ९१-९४

<sup>३३९</sup>. द्रष्टव्य, व्यायकुमुदचन्द्र, भाग-१ पृ० ९४-९५ एवं विद्यानन्द व अभयदेव कृत प्रत्यक्ष-आलोचना, पृ. १५६ एवं पृ. १७०

नहीं कर सकता।<sup>३४०</sup>

प्रभाचन्द्र ने विद्यानन्द एवं अभयदेवसूरि के समान विकल्प का शब्द संश्रित होना आवश्यक नहीं माना है तथा बौद्ध सम्मत शब्दाश्रित विकल्प का खण्डन किया है। प्रभाचन्द्र कहते हैं कि समस्त विकल्पों का स्वरूप उनका शब्दाश्रित होना नहीं है, अपितु वे समारोप के विरोधी होते हैं।<sup>३४१</sup>

**निर्विकल्पक ज्ञान से विकल्पज्ञान की उत्पत्ति संभव नहीं** — बौद्ध मन्तव्यानुसार निर्विकल्पक ज्ञान विकल्पज्ञान को उत्पन्न करके व्यवहार का अंग बनता है। जैन दार्शनिक विद्यानन्द एवं अभयदेव के समान प्रभाचन्द्र ने भी इस मंतव्य का निरसन किया है। प्रभाचन्द्र कहते हैं कि विकल्प को उत्पन्न करने का सामर्थ्य होना एवं अविकल्पक होना परस्पर विरोधी है। यदि विकल्प की वासना से युक्त निर्विकल्पक प्रत्यक्ष विकल्प को उत्पन्न करने में समर्थ होता है तो फिर अर्थ को ही विकल्प उत्पन्न करने वाला क्यों नहीं मान लिया जाता है? व्यर्थ ही निर्विकल्पक को मानने से क्या लाभ? यदि अर्थ अज्ञात है अतः वह विकल्पोत्पादक नहीं हो सकता है तो निर्विकल्पक ज्ञान भी अनिश्चयात्मक है वह भी विकल्प को उत्पन्न नहीं कर सकता। उभयत्र स्थिति समान है। यदि निर्विकल्पक का अनुभव होने मात्र से वह विकल्पोत्पादन में समर्थ है तो क्षणक्षयादि का भी अनुभव होने से वे भी विकल्पोत्पादन में समर्थ होंगे।

यदि बौद्ध यह कहें कि जिस पदार्थ में दर्शन विकल्प वासना का प्रबोधक होता है वहां ही वह विकल्प की उत्पत्ति करता है तो यह भी असम्भव है, क्योंकि नीलादि में अनुभव मात्र जिस प्रकार विकल्प वासना का प्रबोधक होता है उसी प्रकार क्षणक्षयादि में भी वह विकल्प वासना का प्रबोधक होना चाहिए।<sup>३४२</sup> यदि क्षणक्षयादि में अभ्यास, प्रकरण, बुद्धिपाटव एवं अर्थित्व का अभाव होता है इसलिए क्षणिकादि का अनुभव विकल्पवासना का प्रबोधक नहीं होता है तो यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि इन चारों का क्षणक्षयादि में सद्भाव है।

प्रभाचन्द्र अभ्यास, प्रकरण, आदि को क्षणक्षयादि में सिद्ध करते हैं, यथा-

**अभ्यास**— भूयोदर्शन अभ्यास है, या बहुत बार विकल्प उत्पन्न करना अभ्यास है? भूयोदर्शन अभ्यास है तो वह नीलादि के समान क्षणिकता में समान रूप से पाया जाता है। यदि बहुत बार विकल्प उत्पन्न

३४०. न चात्रावस्थायां नामसंश्रयतयाऽनुभूयमानानामपि विकल्पानां संभवः अतिप्रसंगादित्युक्तिमात्रम् ।... संहतसकल-विकल्पावस्थायां स्थिरस्थूलादिस्वभावार्थसाक्षात्कारिणो निश्चयहेतुत्वात् तस्य प्रामाण्यमित्ययुक्तम्, संशयादिविकल्पजनकस्यापि प्रामाण्यप्रसंगात्, नहि नीलादिविकल्पोऽपि स्वलक्षणाध्ववसायी। तदनालम्बनस्य तदध्ववसायित्वविरोधात्।— प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-१, पृ० ९६-९८

३४१. न चाशेषविकल्पानां नामसंश्रयतैव स्वरूपम्, समारोपविरोधि-ग्रहणलक्षणत्वात् तेषाम् ।- प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-१, पृ० ९७

३४२. द्रष्टव्य, प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-१, पृ० ९८-१००

करना अभ्यास है, तो उसका क्षणक्षयादि में अभाव नहीं है। यदि विकल्पवासना का प्रबोधक नहीं होने से क्षणक्षयादि में अभ्यास नहीं है तो अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित होता है।

**प्रकरण** – क्षणिक एवं अक्षणिक का विचार करते समय क्षणिक प्रकरण है ही।

**पाटव**— दर्शन (निर्विकल्प)का नीलादि में विकल्प उत्पन्न करना पाटव है, अथवा अधिक स्पष्ट (स्फुटतर) अनुभव का होना पाटव है या अविद्या रूप वासना के नाश होने से आत्मलाभ होना पाटव है ?

प्रथम पक्ष मानने पर तो अन्योन्याश्रय दोष आता है, क्योंकि पाटव होने पर दर्शन नीलादि में विकल्प का उत्पादक होता है और नीलादि में विकल्प का उत्पादक होने पर दर्शन में पाटव होता है। द्वितीय पक्ष में जो स्फुटता नीलादि के अनुभव में है वह क्षणक्षयादि के अनुभव में भी है, अतः पाटव उसमें भी होना चाहिए। तृतीय पक्ष में अविद्यावासना के नाश होने पर आत्म-लाभ को पाटव कहें तो वह भी अयुक्त है, क्योंकि बौद्धों ने तुच्छ स्वभाव के अभाव को उसमें अंगीकार नहीं किया है। दूसरी बात यह है कि योगी जन के निर्विकल्प प्रत्यक्ष में भी पाटव रहता है तो उससे विकल्प की उत्पत्ति का प्रसंग आता है, जिससे योगियों के सम्बन्ध में बौद्धों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त - 'योगियों का ज्ञान कल्पना जाल से रहित होता है'<sup>३४३</sup> से भी विरोध उत्पन्न होता है।

**अर्थित्व** – अभिलषित होना अर्थित्व है अथवा जिज्ञासित होना ? अभिलषित होने को अर्थित्व कहें तो युक्त नहीं है, क्योंकि कहीं अनभिलषित वस्तु में भी विकल्पवासना का प्रबोध देखा जाता है एवं ऐसा मानने पर चक्रकदोष का भी प्रसंग आता है ; यथा वस्तु का निश्चय होने पर उसकी अभिलाषा होगी, अभिलषित (अर्थित्व) होने पर विकल्प वासना का प्रबोध होगा, विकल्प वासना का प्रबोध होने पर विकल्प उत्पन्न होगा एवं विकल्प उत्पन्न होने पर अभिलाषा होगा, पुनः अभिलाषा होने पर विकल्प वासना का प्रबोध होगा इस प्रकार चक्र के चलने से चक्रक दोष उत्पन्न होगा।

यदि जिज्ञासा होना अर्थित्व है, तो वह नीलादि दर्शन के समान क्षणक्षयादि में भी समान रूप से विद्यमान है अतः उसके दर्शन को ही विकल्पोत्पादक क्यों नहीं मान लिया जाता है ?<sup>३४४</sup>

**बौद्ध** – अभ्यासादि की सापेक्षता एवं निरपेक्षता से विकल्प उत्पन्न नहीं होता है। वह शब्द एवं अर्थ की विकल्पवासना से उत्पन्न होता है। वह विकल्पवासना भी अपनी पूर्व वासना से उत्पन्न होती है। इस प्रकार विकल्प-सन्तान के अनादि होने से वह प्रत्यक्ष संतान से पृथक् होता है। इस प्रकार विजातीय दर्शन से विजातीय विकल्प की उत्पत्ति हमें भी अनिष्ट है।

**प्रभाचन्द्र** – यह कथन असंगत है, क्योंकि यदि दर्शन (निर्विकल्प) विकल्प को उत्पन्न नहीं करेगा तो 'यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता'<sup>३</sup> अर्थात् जहां दर्शन सविकल्प बुद्धि को उत्पन्न करता है वहां ही

३४३. विधूतकल्पनाजाल - प्रमाणवार्तिक, १.१ एवं २.२८१

३४४. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-१, पृ० १००-१०२

वह प्रमाण है, इस कथन से विरोध उत्पन्न होगा। दूसरी बात यह है विकल्प के वासना विशेष से पैदा होने पर प्रत्यक्ष के रूपादिविषयों का प्रतिनियम नहीं हो सकता। यदि होता है तो मनोराज्यादि विकल्प से भी प्रत्यक्ष के विषय का प्रतिनियम होने लगेगा। यदि प्रत्यक्ष के सहकारी वासनाविशेष से उत्पन्न रूपादि विकल्प से उनका (रूपादि का) नियमन होता है तो स्वलक्षण विषय का भी उसी से नियमन होना चाहिए।<sup>३४५</sup>

**विकल्पात्मक ज्ञान ही प्रमाण** – प्रभाचन्द्र अन्त में विकल्पात्मक ज्ञान को ही प्रमाण रूप में प्रतिष्ठित करते हैं तथा उसको प्रमाण स्वीकार करने के लिए अनेक हेतु प्रस्तुत करते हैं, यथा - विकल्प प्रमाण है - (1) संवादक होने से (2) अर्थ के ज्ञान में साधकतम होने से, (3) अनिश्चित अर्थ का निश्चायक होने से एवं (4) अनुमान की भांति प्रतिपत्ता (प्रमाता) के द्वारा अपेक्षणीय होने से।

निर्विकल्पक ज्ञान प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह भी सन्निकर्ष के समान (1) संवादक नहीं है (2) अर्थ के ज्ञान में साधकतम नहीं है (3) अनिश्चित अर्थ का निश्चायक नहीं है तथा (4) वह प्रमाता द्वारा अपेक्षणीय नहीं है।<sup>३४६</sup>

प्रभाचन्द्र विकल्प को प्रमाण न मानने के पक्ष में बौद्धों की ओर से दस कोटियां प्रस्तुत करते हैं, यथा विकल्प अप्रमाण है, क्योंकि वह (1) स्पष्ट आकार से रहित होता है (2) गृहीतप्राही होता है (3) असत् में प्रवर्तक होता है (4) हित की प्राप्ति एवं अहित के परिहार में समर्थ नहीं होता है (5) कदाचित् विसंवादी होता है (6) समारोप का निषेधक नहीं होता (7) व्यवहार में अनुपयोगी होता है (8) स्वलक्षण को विषय नहीं करता (9) शब्द संसर्ग के योग्य प्रतिभासवाला होता है (10) शब्द मात्र से जन्य होता है।

प्रभाचन्द्र ने इन बिन्दुओं का क्रमशः खण्डन कर विकल्प का प्रामाण्य सिद्ध किया है।

1. स्पष्ट आकार से रहित होने के कारण विकल्प अप्रमाण नहीं है, क्योंकि उसे अप्रमाण मानने पर तो काच, अभ्रक आदि से व्यवहित पदार्थों एवं दूरवर्ती वृक्षादि के प्रत्यक्ष (योगिप्रत्यक्ष) को भी अप्रमाण मानना पड़ेगा। यदि अज्ञात वस्तु का प्रकाशक एवं संवादक होने से काच, अभ्रक आदि से व्यवहित अर्थ एवं दूरस्थित वृक्षादि का प्रत्यक्ष भी प्रमाण है, तो इस प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण के अतिरिक्त अन्य सविकल्पक प्रमाण मानना पड़ेगा, क्योंकि यह अस्पष्ट होने से बौद्धों के अनुसार प्रत्यक्ष तो है नहीं, एवं अलिंगजत्व होने से अनुमान भी नहीं है, अतः प्रमाणान्तर की कल्पना का प्रसंग उपस्थित होता है।

३४५. द्रष्टव्य, प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-१, पृ० १०३-१०४

३४६. ततो विकल्पः प्रमाणं संवादकत्वात्, अर्थपरिच्छितौ साधकतमत्वात्, अनिश्चितार्थ-निश्चायकत्वात्, प्रतिपत्तपेक्षणीयत्वाच्च अनुमानवत्, न तु निर्विकल्पकं तद्विपरीतत्वात्सन्निकर्षादिवत्। \_\_\_\_\_ प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-१ पृ० १०३-१०५

2. गृहीतग्राही होने से भी विकल्प अप्रमाण नहीं है अन्यथा, अनुमान भी अप्रमाण हो जायेगा, क्योंकि अनुमान के ग्राहक व्याप्तिज्ञान एवं योगिप्रत्यक्ष भी गृहीतग्राही होते हैं। इस प्रकार क्षणक्षय के अनुमान का प्रामाण्य भी नहीं हो सकेगा, क्योंकि प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत शब्द, रूप आदि का ही अनुमान किया जाता है।

बौद्ध कहते हैं कि धर्मों के स्वरूप को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष द्वारा शब्द का ग्रहण होने पर भी क्षणक्षय (क्षणिकत्व) का ग्रहण नहीं होता। प्रभाचन्द्र कहते हैं कि ऐसा मानने पर तो एक ही शब्द-धर्मों में दो विरुद्ध धर्मों का अध्यास हो जायेगा - शब्द का ग्राह्य होना एवं क्षणिकता का अप्रग्रहण होना जो उपयुक्त नहीं है।

3. असत् में प्रवर्तक होने से भी विकल्प को अप्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अतीत एवं अनागत काल में विकल्पों के असत् होने पर भी स्वकाल में तो वे सत् होते ही हैं। फिर भी यदि विकल्प अप्रमाण माना जाय तो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के भी अप्रामाण्य का प्रसंग उपस्थित होता है, क्योंकि वह भी प्रत्यक्षज्ञान के समय नहीं रहता है।

4. हित की प्राप्ति एवं अहित के परिहार में विकल्प असमर्थ है, इसलिए वह अप्रमाण है, ऐसा कथन भी असंगत है, क्योंकि विकल्प से ही इष्ट अर्थ की प्रतिपत्ति होती है, उसमें प्रवृत्ति होती है एवं फिर प्राप्ति होती है तथा अनिष्ट अर्थ से निवृत्ति होती है, ऐसा देखा जाता है। यदि विकल्प में कभी कभी अर्थ प्रापकता का अभाव होता है तो वह तो निर्विकल्पक में भी होता है, क्योंकि अर्थप्राप्ति के अनिच्छुक व्यक्ति को निर्विकल्पक प्रत्यक्ष अर्थ-प्राप्ति के लिए प्रवृत्त नहीं करता।

5. विकल्प कभी कभी विसंवादी भी होता है इसलिए उसे अप्रमाण कहा जाय तो भी उचित नहीं है, क्योंकि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भी कभी कभी विसंवादिता पायी जाती है, यथा तिमिर रोगादि से युक्त नेत्रवाले पुरुष को अर्थाभाव में भी अर्थ दिखाई देता है। यदि यह प्रत्यक्ष विसंवादी नहीं, भ्रान्त है अतः अप्रमाण है तो हम जैन भी भ्रान्त विकल्प को प्रमाण नहीं मानते हैं।

6. समारोप का निषेधक न होने से विकल्प को अप्रमाण कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि विकल्प के विषय में तो निश्चयात्मकता के कारण समारोप होता ही नहीं है। वह तो समारोप का विरोधी है। ३४७

7. 'विकल्प व्यवहार के लिए अनुपयोगी है' ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सारे व्यवहार विकल्पमूलक ही होते हैं।

8. विकल्प का विषय स्वलक्षण नहीं है, इसलिए भी विकल्प को अप्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनुमान का भी विषय स्वलक्षण नहीं है, तथापि बौद्ध उसे प्रमाण मानते हैं। अनुमान का विषय जिस

प्रकार सामान्यलक्षण है, उसी प्रकार विकल्प का भी विषय सामान्यलक्षण है। यदि अनुमान सामान्यलक्षण का ग्रहण करता है एवं स्वलक्षण के रूप में उसका अध्यवसाय करता है तथा दृश्य एवं विकल्प्य अर्थ की एकता बताकर प्रवृत्ति कराता है इसलिए प्रमाण है, तो विकल्प में भी यह बात समान है, अतः उसे भी प्रमाण मानना चाहिए।

9. शब्द संसर्ग के योग्य पदार्थ का प्रतिभास कराने से भी विकल्प को अप्रमाण कहना असमीचीन है, क्योंकि अनुमान में भी शब्द संसर्गता है। अतः उसे भी विकल्प के समान अप्रमाण मानना पड़ेगा।

10. शब्दजन्य होने से भी विकल्प को अप्रमाण कहना उचित नहीं है, क्योंकि फिर तो शब्दप्रत्यक्ष को भी अप्रमाण मानना होगा। 'विकल्प ज्ञान ग्राह्य अर्थ के बिना शब्दमात्र से उत्पन्न होता है' यह कथन भी समुचित नहीं है, क्योंकि अर्थ के होने पर ही नीलादि विकल्प देखे जाते हैं। यदि कोई विकल्प बिना अर्थ के भी उत्पन्न होता है तो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भी ऐसा होता है। वहां अर्थाभाव होने पर भी द्विचन्द्र आदि का ज्ञान देखा जाता है। यदि द्विचन्द्र आदि का प्रत्यक्ष भ्रान्त है तो विकल्प भी इसी प्रकार अर्थाभाव में उत्पन्न होने पर भ्रान्त कहा जा सकता है।<sup>३४८</sup>

बौद्ध दार्शनिक मानते हैं कि विकल्प एवं शब्द में कार्यकारण भाव का नियम है। अर्थात् शब्द कारण है एवं विकल्प उसका कार्य है।<sup>३४९</sup> प्रभाचन्द्र इसका निरसन करते हुए कहते हैं कि बौद्धमतानुसार तो किसी नीलादि पदार्थ को देखते हुए पुरुष को पूर्वानुभूत तत्सदृश नीलादि की स्मृति न हो सकेगी, तथा उस वस्तु के नाम विशेष का स्मरण भी न होने से उसके साथ वाच्य-वाचक सम्बन्ध न बन सकेगा, फलतः उस वस्तु को नीलादि नाम न दिया जा सकेगा और उसके अभाव में उसका अध्यवसाय न हो सकेगा। परिणामस्वरूप समस्त जगत् अविकल्पात्मक हो जायेगा।<sup>३५०</sup>

सारांश यह है कि प्रभाचन्द्र के मत में जगत् का व्यवहार विकल्पात्मक ज्ञान से ही होता है, निर्विकल्पात्मक ज्ञान से नहीं। विकल्पात्मक ज्ञान का प्रयोग प्रभाचन्द्र ने अकलङ्क आदि के समान निश्चयात्मक ज्ञान के अर्थ में किया है। निर्विकल्पक ज्ञान विकल्पात्मक ज्ञान को उत्पन्न करने में भी समर्थ नहीं होता है, क्योंकि जो स्वयं निश्चयात्मक नहीं है वह निश्चयात्मक विकल्पज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकता। विद्यानन्द व अभयदेव के समान निर्विकल्प एवं सविकल्पक का एकत्व अध्यवसाय भी प्रभाचन्द्र को स्वीकृत नहीं है। एकत्व अध्यवसाय के मत का प्रभाचन्द्र ने विविध प्रकार से निरसन कर विकल्पात्मक ज्ञान को ही अनुभवसिद्ध एवं प्रवर्तक प्रतिपादित किया है। प्रभाचन्द्र के अनुसार विकल्पात्मक प्रत्यक्ष ही विशद, स्फुट, एवं स्पष्टाकार होता है। संशयादि विकल्पों को वे प्रमाण नहीं मानते। जो अविसंवादी एवं स्व-पर व्यवसायी विकल्पात्मक ज्ञान होता है उसे ही वे प्रमाण-कोटि

३४८. (१) द्रष्टव्य, प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-१, पृ० १०६-१०९

(२) इन सब बिन्दुओं का निरूपण वादी देवसुरि ने भी किया है। द्रष्टव्य, स्याद्वादरत्नाकर, पृ० ८७-८८

३४९. विकल्पयोनयः शब्दाः विकल्पाः शब्दयोनयः।

३५०. द्रष्टव्य, प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-१, पृ० ११०

में लेते हैं। निर्विकल्पक ज्ञान में अविश्ववाद सिद्ध नहीं है, क्योंकि उसका ग्राह्य एवं प्राप्य स्वलक्षण विषय भिन्न होता है। विकल्पात्मक ज्ञान में यह दोष नहीं है। प्रभाचन्द्र ने भी विद्यानन्द व अभयदेवसूरि की भांति विकल्प में शब्द योजना को आवश्यक नहीं माना है तथा समस्त जैन दार्शनिकों की भांति विकल्पों की संहत अवस्था में स्थिर एवं स्थूल अर्थ का ही प्रत्यक्ष अंगीकार किया है।

### वादिदेवसूरि

वादिदेवसूरि ने भी बौद्ध प्रत्यक्ष-लक्षण पर पर्याप्त विचार किया है, किन्तु उनके अधिकांश तर्क पूर्ववर्ती अभयदेव, प्रभाचन्द्र आदि दार्शनिकों के ग्रंथों पर आधारित हैं। प्रभाचन्द्र के अनेक तर्कों को वादिदेवसूरि ने ज्यों का त्यों अपना लिया है<sup>३५१</sup>, किन्तु वादिदेव का प्रस्तुतीकरण अधिक व्यवस्थित एवं विशद है तथा उनकी भाषा भी अधिक ललित और प्रसन्न है। यहां वादिदेवसूरि के वे तर्क प्रस्तुत हैं, जो कुछ नवीनता एवं मौलिकता लिए हुए हैं।

प्रत्यक्ष-लक्षण में अव्याप्ति दोष-वादिदेवसूरि ने कल्पनापोढ प्रत्यक्षलक्षण में अव्याप्ति दोष बतलाया है, क्योंकि इस लक्षण में अन्य दार्शनिकों द्वारा गृहीत सविकल्पक प्रत्यक्ष का प्रत्यक्ष रूप में समावेश नहीं हो पाता। वे कहते हैं कि तथागत के अतिरिक्त अन्य दार्शनिक सविकल्पक ज्ञान को भी प्रत्यक्ष मानते हैं, अतः प्रत्यक्ष शब्द सविकल्पक ज्ञान में भी प्रसिद्ध है। सविकल्पक ज्ञान का निराकरण करके बौद्ध भी निर्विकल्पक ज्ञान की कल्पना नहीं कर सकते। इसलिए उनके द्वारा प्रतिपादित कल्पनापोढ प्रत्यक्षलक्षण अव्याप्तिदोष युक्त है।<sup>३५२</sup>

‘अभ्रान्त’ पद निरर्थक-धर्मकीर्ति के प्रत्यक्षलक्षण ‘कल्पनापोढमभ्रान्तम्’ में विद्यमान ‘अभ्रान्त’ पद को भी वादिदेव ने निरर्थक सिद्ध किया है। वे कहते हैं कि सम्यग्ज्ञान अभ्रान्त होता है अतः प्रत्यक्षलक्षण में अभ्रान्त पद के पुनः सन्निवेश का कोई औचित्य नहीं है। कल्पनापोढ होने पर भी यदि चलते हुए वृक्षादि का ज्ञान भ्रान्त होता है, इसलिए उसके निराकरणार्थ अभ्रान्त पद का प्रयोग किया गया है तो यह तो बौद्धों का वाक्प्रपंचमात्र है। चलते हुए वृक्षादि का ज्ञान मिथ्याज्ञान है अतः विसंवादक है, ऐसा प्रतिपादित करके भी बौद्ध पर्यायान्तर से अभ्रान्त पद द्वारा प्रत्यक्ष-लक्षण में उसका पुनः सन्निवेश करके वाक्व्यंसकता प्रकट करते हैं।<sup>३५३</sup>

प्रत्यक्ष की व्यवसायात्मकता-वादिदेवसूरि ने प्रत्यक्ष की व्यवसायात्मकता या निश्चयात्मकता के दो हेतु प्रस्तुत किये हैं। पहला तो यह है कि वह संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय रूप समारोप का विरोधी होता है इसलिए वह व्यवसायात्मक होता है। दूसरा यह कि वह प्रमाण होता है इसलिए व्यवसायात्मक होता है।<sup>३५४</sup>

३५१. तुलनीय, स्याद्वादरत्नाकर पृ० ७८-८८ एवं प्रमेयकमलमार्तण्ड भाग-१ पृ० ८७-१०९

३५२. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

३५३. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

३५४. तद्व्यवसायस्वभावं समारोपपरिपथित्वात् प्रमाणत्वाद् वा ।—प्रमाणनयतत्त्वालोक, १, ७



व्यवसायात्मक प्रत्यक्ष ही अनुभव का विषय-बौद्ध दार्शनिकों का कथन है कि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कल्पना-शून्य होता है तथा व्यवसायात्मकता कल्पनात्मक होती है। इसलिए प्रत्यक्ष को व्यवसायात्मक अथवा कल्पनात्मक नहीं मानना चाहिए। प्रत्यक्ष तो शब्द विकल होता है एवं अर्थसामर्थ्य से उत्पन्न होता है जबकि व्यवसायात्मकता अभिलापरूप प्रतिभास के बिना संभव नहीं है। स्वलक्षण अर्थ एवं शब्द में कोई मेल नहीं है, वे दोनों एक दूसरे से पृथक हैं इसलिए स्वलक्षणजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान अभिलापरहित होने के कारण निर्विकल्पक होता है। वादिदेवसूरि ने इसका निरसन करते हुए प्रतिपादित किया है कि “मैं नील अर्थ को देख रहा हूँ” इस प्रकार उल्लेखनीय व्यवसायात्मक प्रत्यक्ष ही सबके द्वारा सर्वदा अनुभव किया जाता है। अर्थ के शब्दविविक्त होने के कारण उसका प्रत्यक्ष कल्पनाशून्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष अर्थसामर्थ्य से उत्पन्न नहीं होता है, अन्यथा अर्थ के अचेतन होने के कारण उससे उत्पन्न प्रत्यक्षज्ञान को भी अचेतन मानना होगा।<sup>३५५</sup> जैनदर्शन की यह धारणा है कि प्रत्यक्ष ज्ञान अर्थ से उत्पन्न नहीं होता, वह तो ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से आत्मा में प्रकट होता है।

शब्दसंसर्ग के बिना भी व्यवसायात्मकता-बौद्ध दार्शनिक कहते हैं कि स्वलक्षण को विषय करने वाला निर्विकल्पक प्रत्यक्ष उत्पन्न होने पर भी जब तक विधि एवं निषेध द्वारा पश्चाद्भावी विकल्पों को उत्पन्न नहीं करता तब तक “यह नील है, पीत नहीं है” इस प्रकार इदन्तया या अनिदन्तया प्रतिनियत अर्थ की व्यवस्था नहीं हो सकती। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सविकल्पक ज्ञान को उत्पन्न करके ही व्यवहार का अंग बनता है। प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्प द्वारा प्रतिपत्ता पूर्वकाल में संकेतरूप में गृहीत शब्द सामान्य का स्मरण करता है और वही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के व्यवहार का व्यवस्थापक होता है। वादिदेव इसका निरसन करते हुए प्रतिपादित करते हैं कि प्रत्यक्ष स्वतः ही व्यवसायात्मक होता है, शब्द सम्पर्क की अपेक्षा से नहीं। शब्द-सम्पर्क की अपेक्षा रखने पर तो वर्ण, पद आदि का व्यवसाय नहीं हो सकेगा। उसके व्यवसाय के लिए अन्य शब्द-सम्पर्क या स्मरण की अपेक्षा होगी और उस शब्द के लिए किसी अन्य शब्द के स्मरण की। फलतः अनवस्थादोष उपस्थित होगा। नामान्तर स्मरण के बिना ही वर्णपद का व्यवसाय स्वीकार करने पर वस्तु व्यवसाय भी वाचकनाम-स्मरण के बिना स्वतः ही स्वीकार करना चाहिए। वादिदेव ने यहां विद्यानन्द, अभयदेवसूरि आदि अन्य जैनदार्शनिकों की भांति प्रत्यक्ष में शब्दयोजना का होना आवश्यक नहीं माना है। वादिदेव कहते हैं कि शब्द सम्पर्क के बिना भी ज्ञान विशद एवं व्यवसायात्मक होता है। शब्दसम्पर्क से ही व्यवसायात्मकता हो, ऐसा नहीं है। निकटवर्ती निजांशव्यापी, कालान्तरस्थायी, प्रतिक्षण स्थगित परिणामी, अलक्ष्यमाण परमाणु परिमाणी, अन्य वस्तुओं के सदृश एवं विसदृश आकार वाले कुम्भादि पदार्थों का अवभासन सविकल्पक ही होता है।

प्रत्यक्ष की सविकल्पकता मानने के प्रमुख कारण-प्रत्यक्ष को सविकल्पक मानने के वादिदेव ने और भी दो कारण निर्दिष्ट किये हैं - (1) बौद्धाभिमत निर्विकल्पक प्रत्यक्ष-लक्षण का खण्डन करना एवं

(2) प्रत्यक्ष की शब्द सम्पर्क या अभिलाप संसर्ग योग्यता दिखाना। इसका तात्पर्य है कि अन्य जैन दार्शनिकों की भांति वादिदेव को प्रत्यक्ष में अभिलाप-संसर्ग-योग्यता इष्ट है तथा साभिलापता का होना आवश्यकरूपेण अभीष्ट नहीं है।<sup>३५६</sup>

इस प्रकार वादिदेवसूत्र कृत बौद्ध-प्रत्यक्ष आलोचना में कुछ नयी बातें उठी हैं यथा-कल्पनापोढ प्रत्यक्ष-लक्षण में अव्याप्ति दोष, अभ्रान्त पद के प्रयोग की निरर्थकता आदि। 'अभ्रान्त' पद को लेकर जैनदार्शनिकों ने प्रायः खण्डन नहीं किया है, किन्तु वादिदेव ने इस पर विचार कर सम्यग्ज्ञान में उसके आदान को निरर्थक बतलाया है। वादिदेव के अनुसार प्रत्यक्ष-प्रमाण समारोप का विरोधी एवं व्यवसायात्मक होने के कारण सविकल्पक होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान में शब्दयोजना का होना आवश्यक नहीं, तथापि वह अभिलापसंसर्ग के योग्य होता है। स्थिर एवं स्थूल अर्थ के अवभासन की सविकल्पकता सभी जैन दार्शनिकों ने प्रतिपादित की है, किन्तु वादिदेव ने प्रमेय अर्थ के लिए कुछ नये विशेषणों का प्रयोग किया है, यथा निजांशव्यापी, कालान्तरस्थायी, प्रतिक्षण स्थगित परिणामी आदि निर्विकल्प एवं सविकल्पक ज्ञान के एकत्व अध्यवसाय, निर्विकल्पक ज्ञान द्वारा सविकल्पज्ञान की उत्पत्ति आदि का निरसन वादिदेव ने प्रभाचन्द्र की भांति ही किया है, तथा प्रत्यक्ष को सविकल्पक सिद्ध किया है।

## प्रत्यक्ष-भेदों का निरसन

यद्यपि प्रत्यक्ष के सामान्यलक्षण कल्पनापोढता एवं अभ्रान्तता का खण्डन होने के साथ ही बौद्ध दार्शनिकों द्वारा कल्पित प्रत्यक्ष-भेदों इन्द्रिय, मानस, स्वसंवेदन एवं योगिप्रत्यक्ष का भी खण्डन हो गया है, जैसा कि प्रभाचन्द्राचार्य कहते हैं- "बौद्धों द्वारा परिकल्पित प्रत्यक्ष-लक्षण के अनुपपन्न होने से स्वसंवेदन, इन्द्रियादि प्रत्यक्ष-भेदों का वर्णन आकाश कुसुम के सौरभ वर्णन के समान उपेक्षणीय है"<sup>३५७</sup> तथापि यहां पर इन्द्रिय प्रत्यक्ष में श्रोत्र के अप्राप्यकारित्व, मानसप्रत्यक्ष, स्वसंवेदन एवं योगिप्रत्यक्ष का जैन दार्शनिक मन्तव्य के साथ किञ्चित् विशेष परीक्षण अपेक्षित है।

### श्रोत्र के अप्राप्यकारित्व का खण्डन

त्वक्, रसना एवं घ्राण को प्राप्यकारी तथा चक्षु एवं मन को अप्राप्यकारी मानने के सम्बन्ध में जैन एवं बौद्ध दोनों दर्शन एकमत हैं, किन्तु श्रोत्र के प्राप्यकारित्व एवं अप्राप्यकारित्व को लेकर मतभेद है।<sup>३५८</sup> बौद्ध दार्शनिक श्रोत्र को अप्राप्यकारी मानते हैं तथा जैन दार्शनिक उसे प्राप्यकारी कहते हैं।

३५६. द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ख

३५७. ततो भवत्परिकल्पितप्रत्यक्षलक्षणस्यानुपपत्तेः 'स्वसंवेदनेन्द्रिय' इत्यादिना तद्भेदोपवर्णनमाकाशकुशेशयसौ-  
रभ्यावर्णनप्रख्यमित्युपेक्षते। - न्यायकुमुदचन्द्र, भाग-१, पृ० ५१.१७

३५८. (क) १. पुट्टं सुणेइ सद्दं रूवं पुण पासइ अपुट्टं तु। गंधं रसं च फासं च बद्धं पुट्टं वियागरे। - नन्दीसूत्र, ८५ एवं द्रष्टव्य, विशेषावश्यकभाष्य २०४-२१२, २. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा५, ३. सर्वार्थसिद्धि - १.१९ पृ० ८२

(ख) १. द्रष्टव्य, यही अध्याय, पादटिप्पण ९५, २. चक्षुः श्रोत्रमनसामप्राप्तार्थप्रकाशकत्वम्। - न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ८३ एवं स्याद्वाटरलाकर, पृ० ३३३, ३. चक्षुःश्रोत्रमनसामप्राप्तार्थकारित्वम्। - तत्वबोधविधायिनी, पृ० ५४५

(ग) न्याय, वैशेषिक, सांख्य एवं मीमांसा दर्शनों में पांचो इन्द्रियों को अर्थ का प्राप्यकारी माना गया है। द्रष्टव्य, न्यायसूत्र, ३.१.३०, प्रशस्तपादभाष्य, न्यायकन्दली, पृ० २३, सांख्यसूत्र १.८७, शाबरभाष्य, सूत्र १.१.४

बौद्ध दार्शनिकों के मत में श्रोत्र का शब्द से सन्निकर्ष हुए बिना ही शब्द का ज्ञान हो जाता है जबकि जैन दार्शनिक श्रोत्र से शब्द का सन्निकर्ष होना आवश्यक मानते हैं। यहां पर अभयदेवसूरी, प्रभाचन्द्र एवं वादिदेवसूरी के अनुसार बौद्ध मन्तव्य को पूर्वपक्ष में रखकर खण्डन प्रस्तुत किया गया है।

**पूर्वपक्ष**— चक्षु एवं मन की भांति श्रोत्र भी अप्राप्यकारी है। श्रोत्र के द्वारा असन्निकृष्ट शब्द का ग्रहण होता है। यदि शब्द श्रोत्र से सन्निकृष्ट होकर गृहीत हो तो शब्द में दूर, निकट आदि का व्यवहार संभव नहीं हो सकता। जिस प्रकार चक्षु का अर्थ से सन्निकर्ष नहीं होने के कारण दूर स्थित पादपादि का ज्ञान होता है उसी प्रकार श्रोत्र के द्वारा असन्निकृष्ट शब्द में दूर या निकटता का ज्ञान होता है। जिस प्रकार तेजस्विता के कारण असन्निकृष्ट रूप का चक्षु में अभिघात होता है उसी प्रकार असन्निकृष्ट शब्द का उसकी तीव्रता के कारण श्रोत्र में अभिघात होता है।

**उत्तरपक्ष**—अभयदेवसूरी, प्रभाचन्द्र, वादिदेवसूरी आदि जैन दार्शनिकों ने श्रोत्र के अप्राप्यकारित्व का खण्डन करते हुए कहा है कि श्रोत्र को अप्राप्यकारी मानने में प्रत्यक्ष से बाधा है। कर्णशष्कुली में प्रविष्ट मच्छर आदि के शब्दों का ज्ञान, श्रोत्र के द्वारा शब्द का सन्निकर्ष होने पर ही होता है। दूर, निकट आदि का व्यवहार श्रोत्र के प्राप्यकारी होने पर भी संभव है। जिस प्रकार घ्राण के द्वारा सन्निकृष्ट गंध का ज्ञान होने पर भी “पद्म की गन्ध दूर से आ रही है, मालती की गंध निकट से आ रही है” इस प्रकार दूरनिकटादि का व्यवहार संभव है उसी प्रकार शब्द का सन्निकर्ष से ग्रहण करते हुए भी उसमें दूर- निकट का बोध होता है।

शब्द का ग्रहण सन्निकर्ष पूर्वक होता है, क्योंकि निर्वात में दूरस्थ पुरुष के द्वारा शब्द सुनाई नहीं देता है। तथा जो शब्द निकटस्थ मनुष्य के द्वारा सुनाई देता है वह प्रतिवात चलने पर उसे सुनाई नहीं देता है। इसका अर्थ है कि शब्द सन्निकृष्ट होकर ही श्रोत्र के द्वारा सुनाई देता है। यदि शब्द अपने उत्पत्ति स्थान में ही गृहीत होते हैं तो दूरस्थ भेरी आदि के शब्दों का ग्रहण नहीं होकर मच्छर के गुणगुनाने का ही शब्द सुनाई देना चाहिए था, किन्तु भेरी या नगाडों की आवाज से मच्छर की आवाज दब जाती है। फलतः भेरी या नगाडों की आवाज ही सुनाई देती है। जैन दार्शनिक चक्षु के अप्राप्यकारित्व का समर्थन एवं श्रोत्र के अप्राप्यकारित्व का खण्डन करते हुए कहते हैं कि सूर्य की किरणें भासरूप से लौटकर चक्षु से अभिसंबद्ध होने के कारण चक्षु की अभिघात हेतु होती हैं जबकि श्रोत्र में अभिघात का कोई हेतु नहीं है जो शब्द से लौटकर श्रोत्र से अभिसंबद्ध हो। इसलिए श्रोत्र को प्राप्यकारी मानना ही उचित है।<sup>३५९</sup>

### मानस-प्रत्यक्ष का खण्डन

जैन दर्शन में अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष एवं मनःपर्यवज्ञान का निरूपण बौद्ध दर्शन के मानस-प्रत्यक्ष से एकदम भिन्न है। बौद्धदर्शन में निरूपित मानस-प्रत्यक्ष का समनन्तर प्रत्यय इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होता है,

३५९. द्रष्टव्य, तत्त्वबोधविधायिनी, पृ० ५४५-४६, न्यायकुमुदचन्द्र, भाग-१ पृ० ८३-८६ एवं स्याद्वाहरत्नाकर, पृ० ३३३-३८

तथा आलम्बनप्रत्यक्ष इन्द्रियप्रत्यक्ष का अनन्तर विषय । अर्थात् मानस-प्रत्यक्ष के पूर्व इन्द्रिय प्रत्यक्ष का होना आवश्यक है । जैन दर्शन में कल्पित अनिन्द्रियप्रत्यक्ष में बिना इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के मन ही सीधा समस्त अर्थों का ग्रहण कर सकता है । इसे सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष माना गया है । मनःपर्यवज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष है । जिसमें इन्द्रिय एवं मन दोनों की आवश्यकता नहीं होती । किन्तु सीधे आत्मा के द्वारा दूसरे के मन की पर्यायों अथवा मन में विचारित अर्थों का ज्ञान होता है ।

जैन दार्शनिक अकलङ्क एवं उनके टीकाकार वादिराज द्वारा किये गये बौद्ध मानस-प्रत्यक्ष का खण्डन यहां प्रस्तुत है । प्रस्तुत खण्डन में धर्मकीर्ति के साथ बौद्ध दार्शनिक शान्तभद्र के मत का भी उपयोग किया गया है ।

भट्ट अकलङ्क आदि जैन दार्शनिकों ने 'मानस प्रत्यक्ष' को भी अव्यवसायात्मक होने के कारण अप्रमाण माना है । अकलङ्क कहते हैं कि इन्द्रियप्रत्यक्ष के अनन्तर उत्पन्न होने वाले एवं इन्द्रियप्रत्यक्ष के अनन्तर उत्पन्न विषय को ग्रहण करने वाले स्पष्ट ज्ञानात्मक मानस-प्रत्यक्ष तथा इन्द्रियप्रत्यक्ष में कोई भेद दिखाई नहीं देता है ।<sup>३६०</sup> बौद्ध दार्शनिक शान्तभद्र ने इन्द्रियप्रत्यक्ष एवं मानसप्रत्यक्ष में भेद प्रतिपादित करते हुए कहा है कि इन्द्रियप्रत्यक्ष सविकल्पक ज्ञान को सन्तान भेद के कारण सीधा उत्पन्न नहीं करता, मानस-प्रत्यक्ष के द्वारा विकल्प उत्पन्न होता है, इसलिए मानसप्रत्यक्ष इन्द्रिय प्रत्यक्ष से भिन्न है ।<sup>३६१</sup> अकलङ्क शान्तभद्र के मन्तव्य का निरसन करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार सविकल्पक ज्ञान से इन्द्रिय प्रत्यक्ष सन्तानभेद के कारण एकदम भिन्न है उसी प्रकार मानस प्रत्यक्ष भी संतान भेद से भिन्न है, अतः मानस प्रत्यक्ष भी विकल्पज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकता ।<sup>३६२</sup>

यदि जितने इन्द्रिय प्रत्यक्ष होते हैं, उनके अनन्तर उतने ही मानस-प्रत्यक्ष होते हैं तो उनमें यह प्रतिसन्धि नहीं हो सकेगी कि "मैं वहीं हूँ जिसने शङ्कुली (पूड़ी) का सुगन्ध लेकर भक्षण किया है" ।<sup>३६३</sup> यदि एक ही मानसप्रत्यक्ष रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि समस्त विषयों को ग्रहण कर लेता है तो फिर पांच प्रकार की इन्द्रियों का प्रतिपादन अनावश्यक हो जायेगा ।<sup>३६४</sup> यदि प्रत्येक इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के अनन्तर क्रम से मानस-प्रत्यक्ष होता है तो इन्द्रिय-प्रत्यक्षों के सहोत्पत्ति का बौद्ध मत खण्डित हो जाता है, क्योंकि इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रियप्रत्यक्ष के पश्चात् मानस प्रत्यक्ष होगा, फिर उसका विकल्प

३६०. अक्षज्ञानानुजं स्पष्टं तदनन्तरगोचरम् ।

प्रत्यक्षं मानसं चाह भेदस्तत्र न लक्ष्यते ॥ न्यायविनिश्चय, १५७-५८

३६१. (१) शान्तभद्रस्त्वाह—यद्यपि प्रत्यक्षतस्तस्य तस्माद् भेदो न लक्ष्यते, कार्यतो लक्ष्यत एव ।— ततोऽन्यदेव अक्षज्ञानात् तत् कारणम्, तदेव च मानसं प्रत्यक्षम् ।—वादिराज, न्यायविनिश्चयविवरण, पृ० ५२६

(२) द्रष्टव्य, सिद्धिविनिश्चयटीका, भाग-१, पृ० १२९

३६२. अन्तरेणेदमक्षानुभूतं चेन्न विकल्पयेत् ।

सन्तानान्तरवच्चेतः समनन्तरमेव किम् ॥—न्यायविनिश्चय, १५८-५९

३६३. शङ्कुलीभक्षणादौ चेत्तावन्त्येव मनांस्यपि ।

यावन्तीन्द्रियचेतासि प्रतिसन्धिर्न युज्यते ॥—न्यायविनिश्चय, १५९-६०

३६४. अथैकं सर्वविषयमस्तु, किं वाऽक्षबुद्धिभिः ।— न्यायविनिश्चय, १६०

होगा। तभी अन्य इन्द्रियप्रत्यक्ष हो सकेगा, अतः विभिन्न इन्द्रियप्रत्यक्षों एवं विकल्पों के मध्य मानस-प्रत्यक्ष व्यवधान उत्पन्न करेगा।<sup>३६५</sup>

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के द्वारा ही निर्णयात्मक ज्ञान हो जाता है इसलिए इन्द्रिय-प्रत्यक्ष एवं निर्णयात्मक विकल्प के बीच मानस-प्रत्यक्ष को अंगीकार करने की कल्पना व्यर्थ है। उसका प्रत्यक्ष एवं अनुमान से विरोध आता है।<sup>३६६</sup>

बौद्ध दार्शनिक शान्तभद्र ने मानस-प्रत्यक्ष को स्मृति में कारण माना है। अकलङ्क ने उसका खण्डन करते हुए प्रतिपादित किया है कि इन्द्रियप्रत्यक्ष एवं मानसप्रत्यक्ष का विषय यदि अभिन्न है तो मानस-प्रत्यक्ष भी इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की भांति सन्तान भेद के कारण स्मृति को उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि मानस-प्रत्यक्ष का विषय इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से भिन्न है तो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष स्मृति की भांति मानस-प्रत्यक्ष का उपादान या समनन्तर कारण नहीं हो सकता।<sup>३६७</sup>

मानस-प्रत्यक्ष को कुछ बौद्ध दार्शनिकों ने स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का ही एक प्रकार माना है, अतः अकलङ्क का कथन है कि जब वेदना आदि का ज्ञान करने वाले स्वसंवेदन प्रत्यक्ष में मानसप्रत्यक्ष का समावेश हो जाता है तो मानस-प्रत्यक्ष के नाम से एक भिन्न प्रमाण मानना वृथा है।<sup>३६८</sup>

यदि आगमप्रसिद्ध होने से ही मानसप्रत्यक्ष को स्वीकार किया गया है<sup>३६९</sup> तो उपयुक्त नहीं है, क्योंकि प्रमाण-शास्त्रीय ग्रंथों में इन अनावश्यक बातों को स्थान नहीं है।<sup>३७०</sup>

अकलङ्क के विवरणकार वादिराज बौद्धों की ओर से इन्द्रिय-प्रत्यक्ष एवं मानस-प्रत्यक्ष में भेद बतलाते हुए कहते हैं कि मानसप्रत्यक्ष निश्चय रूप होता है, तथा “यह नीला है” “यह पीला है” इत्यादि उल्लेखयुक्त होता है, इन्द्रियज्ञान नहीं। वादिराज इसका निरसन करते हुए कहते हैं कि इन्द्रियज्ञान को ही निश्चयरूप मानना उचित है, क्योंकि इन्द्रियज्ञान से मानसज्ञान में कोई भेद प्रतीत नहीं होता है। इन्द्रियज्ञान में जिस प्रकार संशयादि होते हैं उसी प्रकार वे मानसज्ञान में भी होते हैं। यदि मानसज्ञान में संशयादि न हों तो समारोप का निवारण करने के लिए अनुमान-प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।<sup>३७१</sup> मानसप्रत्यक्ष का खण्डन करते हुए मीमांसक कहते हैं कि यदि कोई मानसप्रत्यक्ष है तो

३६५. क्रमोत्पत्तौ सहोत्पत्तिविकल्पोऽयं विरुध्यते । -न्यायविनिश्चय, १६१

३६६. अध्यक्षदिविरोधः स्यात् तेषामनुषवात्मनः । - न्यायविनिश्चय, १६१

३६७. प्रत्यक्षान्मानसादृते बहिर्नाक्षधियः स्मृतिः ।

सत्वान्तरवच्चेत्तत् समनन्तरमस्यकम् ॥ - सिद्धिविनिश्चय, २५

३६८. वेदानादिवदितं चेत्कथं नातिप्रसज्यते । -न्यायविनिश्चय, १६२

३६९. धर्मोत्तर ने इसे आगम प्रसिद्ध कहा है । द्रष्टव्य, यही अध्याय, पादटिप्पण, .१०४

३७०. लक्षणं तु न कर्तव्यं प्रस्तावानुपयोगिषु । -न्यायविनिश्चय, १६३

३७१. नन्वयमेव तस्य तस्माद् भेदो यन्निश्चयरूपत्वम् । निश्चयरूपं हि मानसमवलोक्यते 'इदं नीलं, इदं पीतम्' इत्युल्लेखतस्तस्योपलम्भात् न तथैन्द्रियज्ञानस्येति । \_\_\_\_\_तद्विषये कथं संशयादिः निश्चयविरोधादितिचेत् ? मानस-विषयेऽपि कथं तदविशेषात् । न भवत्येवेति चेत्, किमिदानीमनुमानेन, संशयादेरनुत्पन्नस्य व्यवच्छेदासम्भवात् । - न्यायविनिश्चयविवरण, भाग-१, पृ० ५२५

लोचनविकल पुरुष को भी दिखाई देना चाहिए। इस दोष का परिहार करने के लिए धर्मकीर्ति एवं धर्मोत्तर ने मानस-प्रत्यक्ष के पूर्व इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का समनन्तर कारण के रूप में होना आवश्यक प्रतिपादित किया। वादिराज कहते हैं कि अन्धे को इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नहीं होने पर भी स्वसंवेदन के रूप में मानसप्रत्यक्ष होना चाहिए।<sup>३७२</sup>

### स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष का निरसन

बौद्ध दार्शनिकों की भांति ज्ञान का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष जैन दार्शनिकों को भी अभीष्ट है, किन्तु अन्तर यह है कि बौद्ध दार्शनिक चित्त एवं चैत में होने वाले समस्त विकल्पों का आत्मसंवेदन मानते हैं<sup>३७३</sup>, जबकि जैन दार्शनिकों के अनुसार निर्णयात्मक ज्ञान का स्वसंवेदन ही प्रमाण होता है।<sup>३७४</sup> बौद्ध दार्शनिक रागादि चित्त विकल्पों का ग्रहण स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से करते हैं तथा उस प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक मानते हुए प्रमाण स्वीकार करते हैं।<sup>३७५</sup> इसके विपरीत जैन दार्शनिक ज्ञान को स्व प्रकाशक रूप में स्वीकार करते हुए भी उसके निर्णयात्मक स्वरूप को ही प्रमाण मानते हैं।

जैन दार्शनिकों की यह विशेषता है कि वे ज्ञान एवं बाह्यार्थ दोनों को स्वीकार करते हैं। वे बाह्य अर्थ का जिस प्रकार अस्तित्व स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार ज्ञान का भी अस्तित्व स्वीकार करते हैं एवं ज्ञान को बाह्यार्थ को जानने में सक्षम मानने के साथ ही स्वयं को जानने में भी समर्थ मानते हैं। ज्ञान जिस प्रकार बाह्याभिमुख होकर बाह्य पदार्थों को जानता है उसी प्रकार आत्माभिमुख होकर अपने आपको भी जानता है। मैं यदि घट को जानता हूँ तो मुझे यह भी ज्ञान है कि मैं अपने ज्ञान से घट को जानता हूँ। इस प्रकार ज्ञान बाह्य अर्थ का निश्चायक होने के साथ साथ स्वनिश्चायक भी होता है।<sup>३७६</sup> उसकी स्वनिश्चायकता को प्रमाण के रूप में अंगीकार करने में जैनदार्शनिकों को कोई आपत्ति नहीं है। जैन दर्शन में ज्ञान के पूर्व होने वाला दर्शन भी स्वसंवेदी होता है, किन्तु उसे निर्विकल्पक एवं अव्यवसायात्मक होने के कारण जैनदार्शनिकों ने प्रमाण नहीं माना है।

बौद्ध सम्मत स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के अप्रामाण्य को लेकर जैन दार्शनिकों ने अनेक शंकाएं खड़ी की हैं। भट्ट अकलङ्कदेव यह आशंका करते हैं कि समस्त ज्ञानों एवं चैतसिक विकल्पों का स्वसंवेदन स्वीकार करने पर निद्रा एवं मूर्च्छा आदि अवस्थाओं में भी स्वसंवेदन को प्रत्यक्ष मानना होगा। निद्रा एवं मूर्च्छा आदि अवस्थाओं में यदि स्वसंवेदन नहीं होता है तो चतुःसत्य की भावनादि से विरोध

३७२. न्यायविनिश्चयविवरण, पृ० ५३०

३७३. सर्वचित्तचैतानामात्मसंवेदनम् ।— न्यायबिन्दु, १.१०

३७४. निश्चयात्मा स्वतः सिद्धयेत् ।— लघीयस्त्रय, १८

३७५. मानसं चार्थरागादि स्वसंवित्तिरकल्पिका ।— प्रमाणसमुच्चय (Dignāga, on perception) का. ६

३७६. (१) स्वोन्मुखप्रतिभासनं स्वस्यव्यवसायः । अर्थस्येव तदुन्मुखतया । घटमहमात्मना वेद्यि ।— परीक्षामुख, १.६-८

(२) स्वस्य व्यवसायः स्वाभिमुख्येन प्रकाशनं बाह्यस्येव तदाभिमुख्येन, करिकलभकमहमात्मना जानामि ।

—प्रमाणनयतत्त्वालोक, १.१६

उत्पन्न होता है, क्योंकि बौद्धों ने चतुःसत्य की भावनाओं को प्रत्येक अवस्था में स्वीकार किया है।<sup>३७७</sup> दूसरी आशंका अकलङ्कदेव ने यह उठायी है कि समस्त चित्त एवं चैतों के आत्मसंवेदन को प्रत्यक्ष मान कर हित की प्राप्ति एवं अहित का परिहार करने में प्रवृत्त पुरुषों के लिए निद्रा एवं जागृति अवस्था में कोई भेद ही नहीं रहेगा, क्योंकि तब आत्मसंवेदन के कारण निद्रावस्था में भी सम्यग्ज्ञान पूर्वक पुरुषार्थसिद्धि होने लगेगी।<sup>३७८</sup> निद्रावस्था में आत्मसंवेदन के अतिरिक्त सत् का लक्षण नहीं है, इसलिए उस अवस्था में आत्मसंवेदन रहता ही है।

वस्तुतः समस्त ज्ञानों के स्वरूप का व्यवसायात्मक स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ही प्रमाण होता है। यदि स्वसंवेदन को निर्विकल्पक स्वीकार किया जायेगा तो निर्णयात्मक ज्ञान का भी उसके द्वारा निर्णयात्मक ज्ञान के रूप में ग्रहण नहीं हो सकेगा। उसका निश्चय करने के लिए किसी अन्य निर्णयात्मक ज्ञान को स्वीकार करना होगा। फलतः अनवस्था दोष आ जायेगा और अर्थक्रिया में प्रवृत्ति करना रूप व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकेगा।<sup>३७९</sup>

### योगिप्रत्यक्ष

जैनदार्शनिकों का योगिप्रत्यक्ष से विरोध नहीं है, किन्तु उसकी निर्विकल्पकता से विरोध है। निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष में जैनदार्शनिकों ने जिन दोषों का उद्भावन किया है वे समस्त दोष योगिप्रत्यक्ष में भी आते हैं।<sup>३८०</sup>

वादिराज ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि योगी प्रत्यक्ष सविकल्पक होता है। योगिज्ञान अपनी सत्ता मात्र से विनेय लोगों के लिए प्रमाण नहीं होता है, अपितु उनको हेय, उपादेय तत्त्वों का ज्ञान देने से प्रमाण होता है।<sup>३८१</sup> इसीलिए धर्मकीर्ति कहते हैं कि ज्ञानवान् पुरुष को उसके द्वारा कथित ज्ञान को जानने के लिए खोजा जाता है।<sup>३८२</sup> वादिराज यहां पर यह स्पष्ट करते हैं कि योगिप्रत्यक्ष वाले पुरुष को निर्विकल्पक ज्ञान के कारण नहीं खोजा जाता है, अपितु उनके सविकल्पक शब्दों से अभिव्यक्त वाणी को जानने के लिए खोजा जाता है। शब्द सविकल्पक होते हैं। अतः योगिप्रत्यक्ष

३७७. अध्यक्षमात्मवित्सर्वज्ञानानामभिधीयते।

स्वापमूर्च्छाघवस्योऽपि प्रत्यक्षी नाम किं भवेत् ?

विच्छेदे हि चतुःसत्य भावनादिविरुध्यते ॥— न्यायविनिश्चय, १६३-६४

३७८. सर्वचित्तचैतानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षं हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थमिच्छतां स्वापप्रबोधयोः को विशेषः संभाव्यते यतः स्वापादौ सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिर्न भवेत् ।—सिद्धिविनिश्चय, पृ० ९६.१०-१२

३७९. (१) सर्वविज्ञानानां स्वसंवेदनं प्रत्यक्षमविकल्पकं यदि निश्चयस्यापि कस्यचित् स्वत एवाऽनिश्चयात् । निश्चयान्तरपरिकल्पनायामनवस्थानात् कुतः तत्संव्यवहारसिद्धिः ? —लघीयस्वयवृत्ति, पृ० ६-७

(२) द्रष्टव्य, सिद्धिविनिश्चय टीका भाग-१ पृ० ९६

३८०. प्रायशो योगिविज्ञानमेतेन प्रतिवर्षितम् ।— न्यायविनिश्चयविवरण, १६८

३८१. न च तत् स्वसत्तामात्रेण विनेयानां प्रमाणम्, अपितु सोपायहेयोपादेयतत्त्वोपदेशात् ।— न्यायविनिश्चयविवरण, पृ० ५३३.२५

३८२. ज्ञानवान् मृग्यते कश्चित्तदुक्तप्रतिपत्तये ।—प्रमाणवार्तिक, १.३२

को सविकल्पक मानना ही उचित है ।<sup>३८३</sup>

वादिदेवसूरि ने योगिप्रत्यक्ष की उत्पत्ति का बौद्ध दर्शनानुसार निर्देश कर उसका मिथ्यात्व घोषित किया है । भावनाओं के प्रकर्षपर्यन्त अवस्था में योगिज्ञान उत्पन्न होता है । वह भावना दो प्रकार की होती हैं-श्रुतमयी एवं चिन्तामयी । क्षणिकत्व, नैरात्म्यादि को विषय करने वाले परार्थानुमान वाक्यों को सुनकर जो भावना उत्पन्न होती है वह श्रुतमयी भावना होती है तथा वह स्वार्थानुमान लक्षणयुक्त चिन्तामयी भावना को उत्पन्न करती है । वह बढ़ती हुई प्रकर्ष पर्यन्तावस्था को प्राप्त करके योगिप्रत्यक्ष को उत्पन्न करती है । वादिदेवसूरि कहते हैं कि बौद्धों के द्वारा स्वीकृत ये दोनों भावनाएं ही मिथ्यारूप हैं अतः उनसे परमार्थ विषयक योगिप्रत्यक्ष उत्पन्न नहीं हो सकता । ये भावनाएं इसलिए मिथ्या हैं, क्योंकि इनमें क्षणिकत्व, नैरात्म्य आदि अतथाभूत वस्तुओं का विचार किया जाता है ।<sup>३८४</sup>

### सर्वज्ञता विचार

योगिप्रत्यक्ष के सन्दर्भ में जैनदार्शनिक एवं बौद्धदार्शनिकों के सर्वज्ञता विचारों का अध्ययन भी प्रासंगिक है । जैसी कि पहले चर्चा की जा चुकी है कि जैनदर्शन में अतीन्द्रिय अथवा पारमार्थिक प्रत्यक्ष के दो भेदों में सकल प्रत्यक्ष भी एक प्रकार है जो समस्त घातीकर्मों के आवरण का क्षय होने पर केवलज्ञान के रूप में प्रकट होता है । केवलज्ञान से त्रिकालवर्ती निखिल द्रव्यों एवं पर्यायों का ज्ञान किया जा सकता है । इसमें इन्द्रिय एवं मन के माध्यम की आवश्यकता नहीं होती, इसलिए यह अतीन्द्रिय भी होता है ।<sup>३८५</sup>

सूक्ष्म, दूरस्थित एवं अन्तरित पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान करने के लिए समन्तभद्र ने केवलज्ञान को समर्थ माना है तथा अनुमान से उसकी सिद्धि की है ।<sup>३८६</sup> ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, जब दोष एवं ज्ञानावरण का सम्पूर्ण क्षय हो जाता है तो केवलज्ञान प्रकट होता है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण द्रव्यों का उनकी विभिन्न पर्यायों के साथ साक्षात्कार होता है । अकलङ्क ने भी सर्वज्ञता की सिद्धि की है । वे कहते हैं कि सर्वज्ञ है, क्योंकि उसकी सिद्धि में बाधक प्रमाण का नहीं होना सुनिश्चित है ।<sup>३८७</sup> अकलङ्क यह भी प्रतिपादित करते हैं कि सर्वज्ञता को स्वीकार किये बिना अत्यन्त अपरोक्ष अर्थ ज्योतिष, नक्षत्र आदि का अविस्वादा ज्ञान होना संभव नहीं है ।<sup>३८८</sup>

जैन दार्शनिकों द्वारा सर्वज्ञता की सिद्धि में निरतिशय ज्ञान का भी हेतु दिया गया है । हेमचन्द्राचार्य

३८३. न्यायविनिश्चयविवरण, भाग-१ पृ० ५३३

३८४. क्षणिकत्वनैरात्म्यादि भावनायाः श्रुतमय्याश्चिन्तामयाश्च मिथ्यारूपत्वात् । न च मिथ्याज्ञानस्य परमार्थविषययोगि-ज्ञानजनकत्वम् । अतिप्रसक्तोः । यथा च न क्षणिकत्वनैरात्म्यादिकं वस्तुतस्तथात्रे वक्ष्यते ।- स्याद्वादरत्नाकर, पृ० ३६२

३८५. द्रष्टव्य, इसी अध्याय के जैन प्रत्यक्ष-प्रमाण विवेचन में केवलज्ञान, पृ. १३७

३८६. सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद् यथा ।

अनुमेयत्वतोऽन्यादिरितिसर्वज्ञसंस्थितिः ॥—आप्तमीमांसा, ५

३८७. अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चिततासंभवबाधकप्रमाणाऽभावात् सुखादिवत् ।- सिद्धिविनिश्चय, पृ० ५३७

३८८. धीरत्यन्तपरोक्षेऽर्थे न चेत् पुंसां कुतः पुनः ।

ज्योतिर्ज्ञानाविस्वादाः श्रुताच्चैत् साधनान्तरम् ॥— सिद्धिविनिश्चय, पृ० ४१३



कहते हैं कि परिमाण के अतिशय के समान प्रज्ञा के तारतम्य की कहीं विश्रान्ति होनी चाहिए। यह विश्रान्ति अथवा निरतिशय प्रज्ञा केवलज्ञान में होती है।<sup>३८९</sup>

इस प्रकार ज्ञानावरण के सम्पूर्णक्षय, बाधकाभाव, प्रज्ञा की निरतिशयता, अत्यन्त अपरोक्ष अर्थों का अविस्वादी ज्ञान जैनदर्शन में सर्वज्ञता की सिद्धि करते हैं।

बौद्धदर्शन के प्रवर्तक भगवान् गौतम बुद्ध स्वयं संसार के शाश्वत, अशाश्वत होने आदि अनेक प्रश्नों के उत्तर अव्याकृत छोड़ देते हैं। यही कारण है कि बौद्ध दर्शन में बुद्ध को सर्वज्ञ मानने की परम्परा जैनदर्शन की भांति बलवती नहीं रही है। धर्मकीर्ति ने बुद्ध की सर्वज्ञता की सिद्धि पर बल नहीं दिया, किन्तु प्रज्ञाकरगुप्त, शान्तरक्षित आदि ने सर्वज्ञता को महत्त्व दिया है। धर्मकीर्ति ने बुद्ध में सर्वज्ञता का प्रतिषेध तो नहीं किया, किन्तु सर्वज्ञता को महत्त्व नहीं देकर उनकी धर्मज्ञता पर बल दिया है। धर्मकीर्ति कहते हैं - "हेय एवं उपादेय तत्त्वों को साभ्युपाय जानने वाला पुरुष हमें प्रमाण रूप में इष्ट है, समस्त अर्थों को जानने वाला नहीं। हमें तो संसार-दुःख के शमन करने वाले ज्ञान का विचार करना चाहिए। उन ज्ञानवान् पुरुषों को कीड़े मकोड़ों की संख्या का ज्ञान है कि नहीं, इससे हमें क्या प्रयोजन है? कोई ज्ञानवान् पुरुष दूरवर्ती वस्तु को देखे या नहीं देखे, किन्तु उसे आर्यसत्यचतुष्टय रूप इष्ट तत्त्व का ज्ञान होना चाहिए। यदि दूरदर्शी पुरुष प्रमाण होता है तो आइए मुमुक्षुओं! हम दूरदर्शी गिद्धों की उपासना करें।"<sup>३९०</sup>

इससे स्पष्ट होता है कि धर्मकीर्ति की आस्था भगवान् बुद्ध को जगत् के समस्त पदार्थों का ज्ञाता मानने में नहीं, अपितु दुःख से मुक्ति के उपदेष्टा-धर्मज्ञ मानने में है। धर्मकीर्ति का यह मन्तव्य जैनदार्शनिकों के विरोध में जाता है, क्योंकि जैनदार्शनिक भगवान् महावीर या केवलज्ञानी पुरुषों को जगत् के समस्त अर्थों का ज्ञाता मानते हैं।

धर्मकीर्ति के अनन्तर प्रज्ञाकरगुप्त, शान्तरक्षित आदि बौद्ध दार्शनिकों ने भी संभवतः अन्यमतावलम्बियों से प्रभावित होकर बुद्ध में सर्वज्ञता का स्थापन किया है। प्रज्ञाकरगुप्त का कथन है कि साधक के वीतराग होने पर उसे समस्त अर्थों का ज्ञान हो सकता है। वीतराग पुरुष समाधियुक्त होकर समस्त अर्थों का निश्चित ज्ञान कर लेता है।<sup>३९१</sup> शान्तरक्षित ने प्रतिपादित किया है कि सर्वज्ञ पुरुष में ऐसी शक्ति होती है कि वह जिस वस्तु का ज्ञान करने की इच्छा करता है उस वस्तु का उसे

३८९. प्रज्ञातिशयविश्रान्त्यादिसिद्धेस्तत्सिद्धिः।— प्रमाणमीमांसा, १.१.१६

३९०. हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः।

यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः॥—प्रमाणवार्तिक, १.३४

तस्मादनुष्ठेयगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम्।

कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते॥— प्रमाणवार्तिक, १.३३

दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु।

प्रमाणं दूरदर्शी चेदेत गृध्रानुपास्महे॥— प्रमाणवार्तिक, १.३५

३९१. ततोऽस्य वीतरागत्वे सर्वार्थज्ञानसंभवः।

समाहितस्य सकलं चकास्ति विनिश्चितम्।— प्रमाणवार्तिकभाष्य, पृ० ३२९

ज्ञान हो जाता है। यह शक्ति वीतराग पुरुष में ज्ञेय पदार्थों के आवरण का क्षय होने पर प्राप्त होती है।<sup>३९२</sup> नागसेन ने भी शान्तरक्षित के जैसा ही मत प्रकट किया है।<sup>३९३</sup>

इस प्रकार बौद्ध एवं जैन दार्शनिक सर्वज्ञता के सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं। बौद्ध दार्शनिकों ने सर्वज्ञता को उत्तरकाल में महत्त्व दिया भी, किन्तु वीतराग पुरुष में सब पदार्थों को जानने की मात्र शक्ति बतलायी है जिससे वीतराग पुरुष जिस अर्थ को जानना चाहे, जान सकता है, जबकि जैनदार्शनिकों ने सर्वज्ञ को सदैव समस्त अर्थों का ज्ञाता प्रतिपादित किया है। यह अवश्य है कि प्राचीन जैनागम **आचाराङ्ग सूत्र** में सर्वज्ञ को त्रिलोकवर्ती जगत् के पदार्थों का ज्ञाता प्रतिपादित नहीं किया गया है। सर्वज्ञता के प्रतिपादन में **आचाराङ्ग सूत्र** में कहा गया है - “**जो एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ**”<sup>३९४</sup> अर्थात् जो एक को जानता है वह सबको जानता है एवं जो सबको जानता है वह एक को जानता है। **पं. सुखलाल संघवी** ने इसका अर्थ द्रव्यपर्यायात्मक पदार्थ को जानने से लिया है अर्थात् जो एक द्रव्य को उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक या द्रव्यपर्यायात्मक रूप में समानभाव से जानता है वह सर्वज्ञ होता है।<sup>३९५</sup> बाह्य पदार्थों की सर्वज्ञता को **पं. सुखलाल संघवी** ने अंगीकार नहीं किया है। इस प्रकार **पं. सुखलाल संघवी** के मत को स्वीकार करने पर बौद्ध एवं जैन दर्शन में प्रतिपादित सर्वज्ञता में विषय की दृष्टि से कोई भेद नहीं रह जाता है।

सर्वज्ञता का प्रश्न सदैव विवाद का विषय रहा है। जगत् के समस्त बाह्य पदार्थों की समस्त पर्यायों को हस्तामलकवत् जानना एक वीतराग या मुक्तिप्राप्त अरिहन्त के लिए निष्प्रयोजन लगता है। जिन्होंने राग-द्वेष समाप्त कर आत्मज्ञान या केवल ज्ञान प्राप्त किया है उन्हें बाह्य पदार्थों से भोग करना या उन्हें निरुद्देश्य जानते रहना उपयुक्त नहीं लगता है। यह अवश्य है कि वे बाह्य पदार्थों की विनश्वरता या उत्पादव्ययता को जानते हैं तथा वीतराग होने के पश्चात् उन्हें कुछ नया जानना भी शेष नहीं रहता है। जानना शेष न रहने के अर्थ में वीतराग को सर्वज्ञ कहा जाय तो अधिक उपयुक्त लगता है।<sup>३९६</sup> यही कारण है कि जैनाचार्य **कुन्दकुन्द** ने निश्चयनय से आत्मज्ञाता में सर्वज्ञता स्वीकार

३९२. यद् यद् इच्छति बोद्धुं वा तत्तद् वेत्ति नियोगतः । शक्तिरेवंविधा ह्यस्य प्रहीणावरणो ह्यसौ । —तत्वसङ्ग्रह, ३६२८  
३९३. भन्ते नागसेन, बुद्धो सब्बञ्जु सब्बदस्सावी ति ? आम, महाराज, भगवा सब्बञ्जु सब्बदस्सावी ति । - मिलिन्दपण्हपालि, पृ० ६०

३९४. आचाराङ्ग सूत्र, १.३.४

३९५. (१) पं० सुखलाल संघवी लिखते हैं - ‘जैन परम्परा का सर्वज्ञत्व संबंधी दृष्टिकोण मूल में केवल इतना ही था कि द्रव्य और पर्याय उभय को समानभाव से जानना ही ज्ञान की पूर्णता है।’ दर्शन और चिन्तन, द्वितीय खण्ड। पृ. ५५८  
(२) सर्वज्ञता को पं० सुखलाल जी ने इस प्रकार भी प्रकट किया है - ‘जो एक ममत्व, प्रमाद या कषाय को जानता है वह उसके क्रोधादि सभी आविर्भावों, पर्यायों या प्रकारों को जानता है और जो क्रोध, मान आदि सब आविर्भावों को या पर्यायों को जानता है वह उन सब पर्यायों के मूल और उनमें अनुगत एक ममत्व या बंधन को जानता है’ —दर्शन और चिन्तन, द्वितीय खण्ड, पृ० ५५८

३९६. इस सम्बन्ध में श्री कन्हैयालाल लोढा का लेख ‘सर्वज्ञ की सर्वज्ञता’ भी द्रष्टव्य है। वे लिखते हैं- जिसने उत्पाद, व्यय, ध्रौवरूप त्रिपदी के तथ्य को जानलिया, हृदयंगम कर लिया, उसने सब कुछ जान लिया अर्थात् उसे कुछ भी जानना शेष नहीं रहता है। - जीत अभिनन्दन ग्रंथ, द्वितीय खण्ड, पृ० १५३

की है<sup>३९७</sup> तथा बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने बुद्ध की धर्मज्ञता को महत्व दिया है।

## समीक्षण

प्रत्यक्ष की निर्विकल्पकता एवं सविकल्पकता भारतीय दर्शनों में विवाद का विषय रही है। निर्विकल्पकता एवं सविकल्पकता में स्पष्ट भेद का प्रतिपादन सर्वप्रथम बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग ने किया। प्रशस्तपाद ने प्रत्यक्ष के लिए स्वरूपालोचन, अविभक्तालोचन आदि शब्दों का प्रयोग किया है, किन्तु दिङ्नाग के अनन्तर निर्विकल्पक एवं सविकल्पक प्रत्यक्ष की चर्चा प्रमाणमीमांसा का एक महत्वपूर्ण विषय बन गयी। जिसने कुमारिल, वाचस्पतिमिश्र, गंगेश आदि को भी प्रभावित किया।<sup>३९८</sup> जैनदार्शनिक भी इस चर्चा में सम्मिलित हुए, किन्तु उन्होंने प्रत्यक्ष को सविकल्पक स्वीकार कर निर्विकल्पकता का निरसन किया है।

जैन दार्शनिकों द्वारा की गयी बौद्ध-प्रत्यक्ष की आलोचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनदार्शनिकमत में प्रत्यक्ष-प्रमाण सविकल्पकात्मक, व्यवसायात्मक एवं विशदात्मक होता है तथा वही संवादक एवं अर्थक्रिया में प्रवर्तक भी होता है। जैनों के अनुसार बौद्ध सम्मत निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में व्यवसायात्मकता नहीं है, इसलिए वह न संवादक है, न अर्थक्रिया में प्रवर्तक और न ही विशद। बौद्धों ने निर्विकल्पक ज्ञान को विधि-निषेध रूप विकल्पात्मकज्ञान का जनक होने के कारण व्यवहार का अंग माना है, किन्तु जैनों के अनुसार व्यवसायात्मकता के अभाव में निर्विकल्पक के द्वारा सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति संभव नहीं है, जिससे निर्विकल्पज्ञान व्यवहार में प्रवर्तक या संवादक सिद्ध हो सके। जो भी ज्ञान प्रतीत होता है वह सविकल्पक ही प्रतीत होता है, निर्विकल्पक ज्ञान का अनुभव नहीं होता। इसलिए निर्विकल्पक एवं सविकल्पक ज्ञान के एकत्व अध्यवसाय का भी जैनदार्शनिकों ने खण्डन किया है। इन्द्रियप्रत्यक्ष ही नहीं स्वसंवेदन एवं योगिप्रत्यक्ष भी जैनदार्शनिकों के अनुसार सविकल्पक एवं निश्चयात्मक होने पर ही प्रमाण हो सकते हैं, अन्यथा नहीं।

बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार सविकल्पज्ञान में शब्दयोजना निहित रहती है। इसलिए वह प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता। प्रत्यक्ष तो कल्पनापोढ होता है। वह अर्थ को अर्थरूप में ही विषय करता है, शब्दसन्निवेश का होना उसमें उचित नहीं है। अर्थ शब्दविविक्त होता है इसलिए उसका प्रत्यक्ष भी शब्दयोजना रहित होता है। नामयोजना अथवा शब्दयोजना काल्पनिक है, वास्तविक नहीं। दिङ्नाग ने नामयोजना के अतिरिक्त जाति, गुण, क्रिया एवं द्रव्य की योजना को भी कल्पना कहकर प्रत्यक्ष प्रमाण में उसको निराकृत किया है। बौद्धदर्शन में प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है, तथा वह अनभिधेय है, इसलिए धर्मकीर्ति ने अभिलाप के संसर्गयोग्य प्रतिभासप्रतीति को भी कल्पना कहकर उसकी प्रत्यक्ष प्रमाण में अपोढता सिद्ध की है। धर्मोत्तर ने अर्थसन्निधि से निरपेक्ष अनियताकार प्रतिभास

३९७. द्रष्टव्य, यही अध्याय, पादटिप्पण, १८०

३९८. अधिक विवरण के लिए द्रष्टव्य, धर्मन्द्रनाथ शास्त्री, Critique of Indian Realism, pp. 433-471 एवं नगीन जे० शाह, Akalaṅka's Criticism of Dharmakīrti's Philosophy, p. 236-46

को अभिलापसंसर्गयोग्य प्रतिपादित किया है तथा विकल्प को अर्थ से अनुत्पन्न कहकर उसका प्रत्यक्ष से व्यावर्तन किया है। सामान्यतः शान्तरक्षित एवं कमलशील अभिलापवती प्रतीति को कल्पना कहते हैं, जो न्याय-वैशेषिक, मीमांसादि दर्शनों को भी अभीष्ट है। कल्पना का यह अर्थ स्वीकार करने में जैनदार्शनिक भी सहमत हैं तथा वे भी प्रत्यक्ष में शब्दयोजना को अनावश्यक कहकर प्रत्यक्ष को कथञ्चित् कल्पनापोढ या निर्विकल्पक मानते हैं। जैनदार्शनिकों ने बौद्धों की ओर से कल्पना की अन्य कोटियों, यथा-अस्पष्टाकार प्रतीति, गृहीतप्राहिता, अध्यवसायात्मकता, असत् में प्रवर्तकता, समारोप की अनिषेधता, संव्यवहारानुपयोगिता, स्वलक्षणाविषयकता, शब्दजन्यता आदि को भी प्रस्तुत कर उन पर विचार किया है।

जैनदार्शनिक प्रमुखरूपेण निश्चयात्मकता, अभिलापसंसर्गयोग्यता एवं ज्ञानात्मकता के कारण प्रत्यक्ष को सविकल्पक प्रतिपादित करते हैं। जैन दार्शनिकों ने विकल्प की मुख्यतः दो विशेषताएँ स्वीकार की हैं-निश्चयात्मकता एवं जात्यादिविशिष्ट या सामान्यविशेषात्मक अर्थ की प्राहिता। निश्चयात्मकता के साथ ही वे संवादकता, संव्यवहार के लिए उपयोगिता आदि का भी ग्रहण कर लेते हैं। जैन ग्रंथों में ज्ञान को सविकल्पक एवं दर्शन को निर्विकल्पक प्रतिपादित किया गया है।<sup>३९९</sup> इनमें ज्ञान के पूर्व दर्शन होता है। दर्शन को जैनदार्शनिक बौद्धों के प्रत्यक्ष की भांति निर्विकल्पक, अनभिधेय आदि मानते हैं, किन्तु उसको अज्ञानात्मक, अर्थक्रिया में अप्रवर्तक एवं निश्चयात्मक नहीं होने के कारण प्रमाण नहीं मानते हैं।

जैनदार्शनिक मत में कोई भी ज्ञान या प्रमाण निर्विकल्पक नहीं होता है। जैनों ने बौद्ध प्रत्यक्ष को परमाणुसंघात, या स्वलक्षणसमूह में उत्पन्न होने के कारण भी सविकल्पक सिद्ध किया है। बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग धर्मकीर्ति आदि ने भी स्वलक्षणसंघात से ही प्रत्यक्ष की उत्पत्ति स्वीकार की है। जैन दार्शनिक मल्लवादी ने स्वलक्षणसमूह को सामान्य कह कर प्रत्यक्ष को सविकल्पक सिद्ध किया है। मल्लवादी कहते हैं कि प्रत्यक्ष निरूपणात्मक है इसलिए सविकल्पक है, उससे आलम्बनप्रत्यय रूप स्वलक्षण से विपरीत सामान्य नीलपीतादि परमाणुसंघात का ज्ञान होता है, इसलिए भी प्रत्यक्ष कल्पनात्मक है। मल्लवादी ने दिङ्नागीय प्रत्यक्ष का खण्डन करने हेतु जो तर्क दिये हैं उनका खण्डन किसी भी बौद्ध दार्शनिक ने नहीं किया। अकलङ्क, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र आदि दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष के विषय को सांश या सामान्यविशेषात्मक प्रतिपादित करके भी प्रत्यक्ष को सविकल्पक सिद्ध किया है।

जैनदार्शनिक प्रतिपादित करते हैं कि समस्त कल्पनाओं के संहार की अवस्था में भी स्थिर, स्थूल अर्थ का प्रतिभास होता है और वह प्रतिभास शब्दसंसर्गयोग्य होता है इसलिए वह भी सविकल्पक ही है। बौद्ध सम्मत प्रत्यक्ष को सविकल्पक सिद्ध करने के लिए जैनदार्शनिकों की ओर से एक हेतु और दिया जा सकता है, वह है प्रमाण की अर्थाकारता, या अर्थसरूपता। प्रमाण को बौद्ध दार्शनिकों

ने अर्थाकार प्रतिपादित किया है। जैनों को प्रमाण की साकारता मान्य होने पर भी अर्थाकारता मान्य नहीं है, किन्तु बौद्धमत में प्रत्यक्ष भी प्रमाण होने के कारण अर्थाकार होना चाहिए। अर्थाकारता में अर्थ का ग्रहण होने के कारण प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक कहना युक्तिसंगत नहीं लगता। ज्ञान अर्थाकार होकर भी निर्विकल्पक हो यह संभव नहीं है।

विचारणीय प्रश्न यह है कि जैन दार्शनिक प्रत्यक्ष को निश्चयात्मक प्रतिपादित करके भी उसे शब्दयोजना से विविक्त क्यों मानते हैं? न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, व्याकरण, बौद्ध आदि समस्त दर्शन निश्चयात्मकता के साथ शब्दयोजना का होना आवश्यक मानते हैं। जैनदार्शनिकों ने प्रत्यक्ष में व्यपदेश्यता अथवा अभिलापसंसर्गयोग्यतारूप प्रतिभास का होना तो स्वीकार किया है (जो बौद्धमतानुसार विकल्पात्मक है), किन्तु नाम योजना रूप कल्पना के अभाव में भी उन्होंने प्रत्यक्ष में निश्चयात्मकता अंगीकार की है। यहां नामयोजना या शब्दयोजना का अभिप्राय जैन दार्शनिकों ने संभवतः ज्ञेय अर्थ का 'वाचक शब्द' लेकर उसका निषेध किया है।<sup>४००</sup> वाचक शब्द के अभाव में भी विद्यानन्द, अभयदेव, प्रभाचन्द्र आदि सभी दार्शनिक प्रत्यक्ष की सविकल्पकता एवं निश्चयात्मकता अंगीकार करते हैं। जैनदार्शनिक केवलज्ञान जैसे अतीन्द्रियज्ञान में भी सविकल्पकता एवं निश्चयात्मकता का प्रतिपादन करते हैं। उसमें यदि वे शब्दयोजना को स्वीकार करते तो संभवतः किसी भी अर्थ का निश्चयात्मक ज्ञान होना संभव नहीं होता। दूसरी बात यह है कि यदि शब्दयोजना होने पर निश्चयात्मक ज्ञान स्वीकार किया जाता है तो अन्योन्याश्रय दोष आता है क्योंकि निश्चयात्मकता के बिना शब्द संकेत का ग्रहण नहीं हो सकता तथा शब्दसंकेत के बिना निश्चयात्मक नहीं हो सकती। इन दोषों से बचने के लिए ही जैन दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष को स्वतः व्यवसायात्मक माना है।

विकल्पात्मक एवं निश्चयात्मक होते हुए भी जो ज्ञान विशद होता है वही जैन दर्शन में प्रत्यक्ष है। विशदता का सम्बन्ध निर्विकल्पकता से नहीं है। विशदता में इदन्तया प्रतिभास होता है तथा उसमें किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती है। वह साक्षात्कारी ज्ञान होता है। स्मृति, अनुमान आदि प्रमाण विकल्पात्मक होते हुए भी प्रत्यक्ष की अपेक्षा अविशद होते हैं।

जो ज्ञान विकल्पात्मक होता है, वह निश्चयात्मक भी हो, यह आवश्यक नहीं है। यही कारण है कि जैन दार्शनिकों ने संशय, विपर्ययादि विकल्पों को प्रमाण में सम्मिलित नहीं किया है। वे समस्त विकल्पों को वितथ भी नहीं कहते, क्योंकि विकल्पात्मकता के बिना जगत् का व्यवहार नहीं हो सकता।

प्रश्न यह है कि विकल्पात्मक होकर भी जैनदर्शन में अवग्रह एवं ईहाज्ञान निश्चयात्मक नहीं होते, अवाय एवं धारणा ज्ञान निश्चयात्मक होते हैं, तब फिर अवग्रह एवं ईहाज्ञान को निश्चयात्मकता

४००. 'वाचक' शब्द का प्रयोग कर अन्य को ज्ञान कराने के लिए जैनदार्शनिक सिद्धसेन एवं वादिदेवसूरि ने परार्थ प्रत्यक्ष का प्रतिपादन किया है। (१) द्रष्टव्य, न्यायावतार, ११ (२) प्रत्यक्षपरिच्छिन्नार्थाभिधायि वचनं परार्थ प्रत्यक्षं परप्रत्यक्ष-हेतुत्वात्।— प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३, २६

के अभाव में भी प्रमाण क्यों कहा गया ? जैन दार्शनिकों के पास इसका कोई स्पष्ट उत्तर नहीं है । अवग्रह एवं ईहा जैनागमों में मतिज्ञान के भेदों में निरूपित है तथा मतिज्ञान को प्रमाण स्वीकार करने के कारण ही संभवतः जैन दार्शनिकों ने अवग्रह एवं ईहा ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण माना है । उनको प्रमाण स्वीकार करने से निश्चयात्मकता का प्रश्न उठा । यही कारण है कि पूज्यपाद देवनन्दी, अकलङ्क, विद्यानन्द, वादिदेवसूरि एवं हेमचन्द्र ने अवग्रह को निश्चयात्मक ज्ञान माना है । किन्तु उमास्वाति, जिनभद्र, सिद्धसेनगणि, यशोविजय आदि कुछ जैन दार्शनिक अवग्रह को जैनागमानुसार निश्चयात्मक ज्ञान अंगीकार नहीं करते हैं । वस्तुतः अवायज्ञान के पूर्व अवग्रह एवं ईहा ज्ञान निश्चयात्मक नहीं कहे जा सकते । अवग्रह एवं ईहा को यदि निश्चयात्मकता के अंग होने से प्रमाण स्वीकार किया जाता है तो अवग्रह के पूर्ववर्ती निर्विकल्पक दर्शन का भी प्रामाण्य स्वीकार करने का प्रसंग आता है । दर्शन से अवग्रह व ईहा में जो अन्तर है वह ज्ञानात्मकता एवं विकल्पात्मकता का है । दर्शन ज्ञान नहीं है एवं निर्विकल्पक है तथा अवग्रह एवं ईहा ज्ञानात्मक एवं विकल्पात्मक हैं । जैनागमों में अवग्रह एवं ईहा को सविकल्पकता के कारण ही संभवतः ज्ञान माना गया है । अकलङ्क ने अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा में पूर्वोत्तर क्रम से प्रमाण एवं फलरूपता स्वीकार की है, किन्तु उससे अवग्रह एवं ईहा की निश्चयात्मकता या हेयोपादेय अर्थ की ज्ञापकता प्रकट नहीं होती । इसलिए अवग्रह एवं ईहा ज्ञान को प्रमाणलक्षण की कोटि में सम्मिलित करना जैनागमों की अनुपालना मात्र सिद्ध होती है, मौलिक प्रमाणमीमांसीय चिन्तन का उसमें अभाव प्रतीत होता है ।

शुद्ध प्रत्यक्ष की दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो बौद्ध सम्मत निर्विकल्पक प्रत्यक्ष समीचीन प्रतीत होता है, किन्तु प्रमाण द्वारा अर्थ-क्रिया में प्रवृत्ति या हेयोपादेय के ज्ञान की दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो वह सर्वथा अनुपयोगी एवं अव्यवहार्य है तथा जैनसम्मत सविकल्पक प्रत्यक्ष उपयोगी एवं व्यवहार्य प्रतीत होता है । बौद्धदर्शन-सम्मत प्रत्यक्ष इसलिए अव्यवहार्य एवं काल्पनिक सिद्ध होता है, क्योंकि उसका विषय स्थूल एवं स्थिर दृष्टिगोचर होने वाले पदार्थ नहीं, अपितु निरन्तर गतिशील एवं सूक्ष्म व असाधारण स्वलक्षण परमाणु हैं, जिनका किसी भी पुरुष को प्रत्यक्ष होता हुआ दिखाई नहीं देता है । क्षणभंगवाद को मानने के कारण बौद्ध दार्शनिकों के लिए यह आवश्यक था कि वे स्वलक्षण परमाणुओं को यथार्थ, परमार्थसत् प्रतिपादित कर उनका प्रत्यक्ष-प्रमाण से ग्रहण होना स्वीकार करें । 'सञ्चितालम्बनाः पञ्चविज्ञानकायाः' 'तत्रानेकार्थजन्यत्वात् स्वार्थे सामान्यगोचरम्' आदि वाक्य स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं कि अनेक स्वलक्षण मिलकर ही दृश्य होते हैं अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति में कारण बनते हैं । स्वलक्षण परमाणुओं का संचित समुदाय होना सामान्य है । सामान्य का ग्रहण बौद्धमत में विकल्पात्मक होता है । इसलिए उसे परमार्थतः निर्विकल्पक नहीं कहा जा सकता ।



## चतुर्थ अध्याय अनुमान-प्रमाण

न्याय, वैशेषिक एवं मीमांसा दर्शनों की भांति जैनदर्शन में भी अनुमान-प्रमाण को प्रत्यक्ष के समान यथार्थ विषय का ग्राहक प्रतिपादित किया गया है, जबकि बौद्ध दर्शन में अनुमान-प्रमाण का विषय प्रत्यक्ष की भांति परमार्थसत् नहीं, अपितु अवस्तुभूत एवं कल्पित सामान्यलक्षण है। सामान्यलक्षण को विषय करने के कारण धर्मकीर्ति ने अनुमान को भ्रान्त ज्ञान कहा है।<sup>१</sup> धर्मोत्तर कहते हैं कि अनुमान अपने द्वारा गृहीत अनर्थ या अवस्तुभूत सामान्यलक्षण में परमार्थसत् स्वलक्षण वस्तु का अध्यवसाय करता है, इसलिए वह भ्रान्त है।<sup>२</sup>

विचारणीय प्रश्न यह है कि अनुमान जब भ्रान्त ज्ञान है तथा अवस्तुभूत एवं अर्थक्रियासामर्थ्य से रहित अर्थ को विषय करता है तो फिर उसे बौद्ध दर्शन में प्रमाण क्यों माना गया? धर्मकीर्ति ने अनुमान को भ्रान्त होते हुए भी प्रमाता के अभिप्राय का अविस्वादाक होने के कारण प्रमाण माना है।<sup>३</sup> धर्मकीर्ति कहते हैं कि यद्यपि परमार्थतः प्रमेय एक ही है और वह स्वलक्षण है,<sup>४</sup> किन्तु उस स्वलक्षण का प्रत्यक्ष द्वारा स्वरूप से ज्ञान होता है तथा अनुमान द्वारा पररूप अर्थात् सामान्यलक्षण अर्थ के रूप में ज्ञान होता है।<sup>५</sup> सामान्यलक्षण के ग्राहक प्रमाण द्वारा वस्तुतः अर्थक्रिया में समर्थ स्वलक्षण अर्थ का अध्यवसाय होता है इसलिए अनुमान भी प्रमाण है।<sup>६</sup> अनुमान का प्रामाण्य धर्मकीर्ति अर्थक्रिया की अविस्वादाकता के कारण स्वीकार करते हैं। समस्त भ्रान्त ज्ञान प्रमाण नहीं होते हैं, अपितु जो भ्रान्तज्ञान अविस्वादाक सिद्ध होता है वह अनुमानप्रमाण कहा गया है। अनुमान की प्रमाणता सिद्ध करने के लिए धर्मकीर्ति मणिप्रभा एवं प्रदीपप्रभा का दृष्टान्त देते हैं। मणिप्रभा एवं प्रदीपप्रभा दोनों में मणिबुद्धि होना यद्यपि भ्रान्त ज्ञान है तथापि मणिप्रभा की ओर दौड़ने वाले पुरुष को मणि की प्राप्ति होती है, एवं प्रदीप प्रभा की ओर दौड़ने वाले पुरुष को मणि की प्राप्ति नहीं होती है। उसी प्रकार जिस भ्रान्तज्ञान से स्वलक्षण अर्थ की प्राप्ति होती है, अथवा जो भ्रान्त ज्ञान अविस्वादाक सिद्ध होता है वह अनुमान-प्रमाण है,<sup>७</sup> एवं जो अविस्वादाक सिद्ध नहीं होता वह अनुमानाभास है। अनुमान-प्रमाण के लिए त्रिरूपलिङ्गता का होना भी आवश्यक है। बिना त्रिरूपलिङ्गता के कोई भी भ्रान्त ज्ञान अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता। इसीलिए शान्तरक्षित एवं कमलशील ने त्रिरूपलिङ्ग युक्त संवादाक ज्ञान को

१. अयथाभिनवेशेन द्वितीया भ्रान्तिरिष्यते ।— प्रमाणवार्तिक, २.५५
२. भ्रान्तं ह्यनुमानं स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायेन प्रवृत्तत्वात् ।—न्यायबिन्दुटीका, १.४, पृ.४०
३. अभिप्रायाविस्वादादापि भ्रान्तेः प्रमाणता ।— प्रमाणवार्तिक, २.५६
४. मेयं त्वेकं स्वलक्षणम् ।— प्रमाणवार्तिक, २.५३
५. तस्य स्वरूपाभ्यां गतेर्मैयद्वयं मतम् ।— प्रमाणवार्तिक, २.५४
६. स्वलक्षणमध्यवसितं प्रवृत्तिविषयोऽनुमानस्य ।— न्यायबिन्दुटीका, १.१२, पृ. ७२
७. इस दृष्टान्त की चर्चा द्वितीय अध्याय के अविस्वादाक प्रमाण-लक्षण में की जा चुकी है। धर्मकीर्ति कहते हैं—  
मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्यामिधावतोः ।  
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ॥  
यथा तथा यथार्थत्वेऽप्यनुमानतदाभयोः ।  
अर्थक्रियानुरोधेन प्रमाणत्वं व्यवस्थितम् ॥—प्रमाणवार्तिक, २.५७-५८

अनुमान प्रमाण कहा है।<sup>१८</sup> कमलशील का कथन है कि जो ज्ञान त्रिरूपलिङ्ग से उत्पन्न होता है वह पारम्पर्येण स्वलक्षण वस्तु से प्रतिबद्ध होता है, इसलिए वह प्रत्यक्ष के समान अविस्वादात्मक होता है।<sup>१९</sup> धर्मकीर्ति ने भी लिङ्ग एवं लिङ्गी अर्थात् हेतु एवं साध्य के ज्ञान को परम्परा से स्वलक्षण वस्तु में प्रतिबद्ध निरूपित किया है।<sup>२०</sup> इस प्रकार जो ज्ञान त्रिरूपलिङ्ग से उत्पन्न होता है वह विकल्पात्मक या भ्रान्त होकर भी अविस्वादात्मक होने के कारण बौद्धदर्शन में अनुमान-प्रमाण के रूप में अभीष्ट माना गया है।

जैन दार्शनिक अनुमान को भ्रान्त ज्ञान नहीं मानते हैं। सिद्धसेन कहते हैं कि कोई ज्ञान भ्रान्त भी हो एवं प्रमाण भी हो, यह विरोधी होने से शक्य नहीं है।<sup>२१</sup> जैनदार्शनिकों के अनुसार प्रत्यक्ष जिस प्रकार अभ्रान्त एवं संवादात्मक होता है उसी प्रकार अनुमान भी अभ्रान्त एवं संवादात्मक होता है। स्वपरनिश्चयात्मकता रूप प्रमाणलक्षण प्रत्यक्ष एवं अनुमान दोनों में समानरूपेण व्याप्त रहता है। अनुमान-प्रमाण का विषय भी उतना ही यथार्थ या वस्तुभूत है जितना प्रत्यक्ष का विषय। जैन दार्शनिक दोनों प्रमाणों का विषय सामान्यविशेषात्मक अर्थ को स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार बौद्ध सम्मत अनुमान-प्रमाण की अविस्वादात्मकता सिद्ध नहीं है। विद्यानन्द ने धर्मकीर्ति द्वारा प्रदत्त मणिप्रभा एवं प्रदीपप्रभा के दृष्टान्त का खण्डन करते हुए प्रतिपादित किया है कि मणिप्रभा से मणि की प्राप्ति रूप संवादात्मकता को प्रत्यक्ष एवं अनुमान से भिन्न प्रमाण मानना होगा, क्योंकि मणिप्रभा में मणिबुद्धि होना भ्रान्त ज्ञान है, इसलिए वह प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसे अनुमान भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मणिप्रभादर्शन में लिङ्ग और लिङ्गी के सम्बन्ध का ज्ञान नहीं है। लिङ्ग एवं लिङ्गी का ज्ञान हुए बिना अनुमान-प्रमाण प्रवृत्त नहीं हो सकता।<sup>२२</sup> जैन दार्शनिक बौद्धसम्मत अनुमान में इसलिए भी संवादात्मकता स्वीकार नहीं करते, क्योंकि उसका ग्राह्य विषय सामान्यलक्षण अध्यवसेय विषय स्वलक्षण से भिन्न माना गया है। विद्यानन्द का तो यहां तक कथन है कि अनुमान का आलम्बनप्रत्यय सामान्यलक्षण जब अवस्तु या मिथ्या है तो उससे प्राप्त स्वलक्षण वास्तविक नहीं हो सकता। यदि प्राप्य स्वलक्षण वास्तविक है तो ग्राह्य सामान्यलक्षण को भी वास्तविक अर्थ मानना चाहिए।<sup>२३</sup>

बौद्ध दार्शनिकों ने जब प्रत्यक्ष प्रमाण को निर्विकल्पक एवं अव्यवसायात्मक स्वीकार किया है तो उसके द्वारा लिङ्ग या हेतु का निश्चय नहीं हो सकता और लिङ्ग का निश्चय हुए बिना अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। धर्मोत्तर ने स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि लिङ्ग के ग्रहण एवं

८. त्रिरूपलिङ्गपूर्वत्वं ननु संवादिलक्षणम् — तत्वसङ्ग्रह, १४६७

९. यत्त्रिरूपलिङ्गं यज्ज्ञानं तत् पारम्पर्येण वस्तुनि प्रतिबद्धम्, अतोऽविस्वादात्मकं प्रत्यक्षवत् ।— तत्वसंग्रहपत्रिका, १४६७, पृ. ५२३

१०. लिङ्गलिङ्गिधयोरेव पारम्पर्येण वस्तुनि ।

प्रतिबन्धात् तदाभासशून्योरप्यवञ्जनम् ॥— प्रमाणवार्तिक, २.८२

११. भ्रान्तं प्रमाणमित्येतद् विरुद्धवचनं यतः ।— न्यायावतार, ६

१२. विस्तार से विद्यानन्द कृत खण्डन के लिए द्रष्टव्य, द्वितीय अध्याय में बौद्धों के द्वितीय प्रमाणलक्षण का खण्डन, पृ. ९२

१३. न हि तदात्मन् भ्रान्तं, प्राप्येऽपि वस्तुनि भ्रान्तत्वप्रसंगात् । प्राप्ये तस्याविस्वादात्मकत्वे स्वालम्बनेऽप्यविस्वादात्मकत्वम् ।

— अष्टसहस्री, पृ. २७८



व्याप्तिस्मरण के पश्चात् होने वाला प्रमाण अनुमान है।<sup>१४</sup> कमलशील ने लिङ्ग-निश्चय का निरूपण करते हुए प्रतिपादित किया है कि भलीभांति निश्चित किया हुआ लिङ्ग ही साध्य का गमक होता है, संदिग्ध लिङ्ग नहीं। वाष्पादि रूप में सन्दिग्धमान धूम अग्नि का निश्चायक नहीं होता है। लिङ्ग का निश्चय अभ्यास से होता है।<sup>१५</sup> बौद्धमत में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के अनन्तर उत्पन्न विकल्प को अध्यवसायात्मक माना गया है अतः वह अभ्यास द्वारा लिङ्ग निश्चायक होता है। कमलशील प्रतिपादित करते हैं कि अभ्यस्त स्वलक्षण वाले पुरुष धूमादि से वाष्पादि का व्यावर्तन कर लेते हैं तथा वाष्पादि का व्यावर्तन करके ही वे धूम से वह्नि का ज्ञान करते हैं। इसलिए जो लिङ्ग सुविवेचित होता है उसका साध्य के साथ व्यभिचार नहीं होता।<sup>१६</sup> जैन दार्शनिक लिङ्ग एवं साध्य का प्रत्यक्ष द्वारा अध्यवसाय करके भी उनकी व्याप्ति का निश्चय तर्कप्रमाण द्वारा करते हैं।

### अनुमान-लक्षण

‘अनु’ उपसर्ग पूर्वक ‘मा’ धातु से ‘ल्युट्’ प्रत्यय लगाकर ‘अनुमान’ शब्द निष्पन्न हुआ है जो किसी उत्तरवर्ती या पश्चाद्भावी ज्ञान का द्योतन करता है। अक्षुपाद गौतम ने इसीलिए अनुमान को प्रत्यक्षपूर्वक प्रतिपादित किया है।<sup>१७</sup> वात्स्यायन ने उसे प्रत्यक्ष या आगम पर आश्रित बतलाया है।<sup>१८</sup> अनुमान शब्द की निरुक्ति करते समय वात्स्यायन प्रतिपादित करते हैं कि प्रत्यक्ष-प्रमाण द्वारा ज्ञात लिङ्ग से लिङ्गी अर्थ का ज्ञान करना अनुमान है।<sup>१९</sup> धर्मोत्तर इसी प्रकार अनुमान का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि लिङ्ग के ग्रहण एवं व्याप्ति स्मरण के पश्चात् होने वाला प्रमाण अनुमान है।<sup>२०</sup> हेमचन्द्र भी अनुमान की इसी प्रकार निरुक्ति करते हुए दिखाई देते हैं।<sup>२१</sup>

साधन से साध्य का ज्ञान होना अथवा लिङ्ग से अनुमेय अर्थ का ज्ञान होना अनुमान है। अनुमानप्रमाण का यह सामान्यलक्षण जैन एवं बौद्ध दोनों दर्शनों को मान्य है,<sup>२२</sup> बौद्ध दार्शनिकों के मत में अनुमेय अर्थ का ज्ञान करने के लिए हेतु में त्रिरूपता का होना आवश्यक है। पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व एवं विपक्षासत्त्व इन तीन रूपों से सम्पन्न हेतु द्वारा जन्य अनुमेयार्थ के ज्ञान को ही वे

१४. लिङ्गग्रहणसम्बन्धस्मरणस्य पश्चात् मानमनुमानम् ।— न्यायबिन्दुटीका, १.३, पृ. ३०

१५. सुपरिनिश्चितं लिङ्गं गमकमिष्यते न सन्दिग्धम् । न हि धूमो वाष्पादिरूपेण सन्दिग्धमानो वह्नेर्निश्चायको भवति । लिङ्गनिश्चय एव कथमिति चेत् अभ्यासात् ।— तत्वसङ्ग्रहपञ्जिका, १४७४, पृ. ५२५-२६

१६. तस्माद् यतः सुविवेचितं लिङ्गं न व्यभिचरति, तेनावस्थादिभेदभिन्नानां सिद्धिर्न दुर्लभा । नापि सुविवेचिताल्लिङ्गात् परिनिश्चितोऽर्थोऽन्यथा शक्यते कर्तुम् ।— तत्वसंग्रहपञ्जिका, १४७५, पृ. ५२६

१७. अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम्— ।—न्यायसूत्र, १.१.५

१८. प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानम् ।—न्यायभाष्य, १.१.१, पृ. ८

१९. तत्पूर्वकमित्यनेन लिङ्गलिङ्गोः सम्बन्धदर्शनं—स्मृत्या लिङ्गदर्शनेन चाप्रत्यक्षोऽर्थोऽनुमीयते ।—न्यायभाष्य, १.१.५, पृ. ३३

२०. द्रष्टव्य, उपर्युक्त पादटिप्पण, १४

२१. अनुमीयतेऽनेनेति ‘अनुमानम्’ लिङ्गग्रहणसम्बन्धस्मरणयोः पश्चात् परिच्छेदनम् ।— प्रमाणमीमांसावृत्ति, १.१.७

२२. (१) साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम् ।— परीक्षामुख, ३.१०

(२) अनुमानं लिङ्गदर्थदर्शनम् ।— न्यायप्रवेश, पृ. ७

अनुमानप्रमाण की कोटि में रखते हैं, त्रिरूपता से रहित ज्ञान को अनुमानाभास प्रतिपादित करते हैं। इसके विपरीत जैन दार्शनिकों के मत में हेतु में त्रिरूपता का कोई औचित्य नहीं है। वे साध्य के साथ अविनाभावी या अन्यथानुपपन्न हेतु के द्वारा होने वाले साध्य के ज्ञान को अनुमान-प्रमाण स्वीकार करते हैं।

दिङ्नागकृत अनुमान-लक्षण उद्योतकर के न्यायवार्तिक में प्राप्त होता है, तदनुसार ज्ञात अविनाभाव सम्बन्ध द्वारा नान्तरीयक अर्थ का दर्शन ही अनुमान है।<sup>२३</sup> एक वस्तु का दूसरी वस्तु के अभाव में कभी भी न होना “नान्तरीयक” कहलाता है। नान्तरीयक को अविनाभाव भी कहते हैं। जो वस्तु नान्तरीयक अर्थात् अविनाभाव सम्बन्ध से सम्बद्ध होती है, उसे नान्तरीयक अर्थ कहते हैं। जिस पुरुष को दो वस्तुओं का अविनाभाव सम्बन्ध ज्ञात है, उसे ही नान्तरीयक एक वस्तु के दर्शन द्वारा अपर वस्तु का ज्ञान होता है। नान्तरीयक हेतु त्रिरूपता सम्पन्न होता है। लिङ्ग का अनुमेय पक्ष में होना, सपक्ष में निश्चित होना एवं विपक्ष में न रहना ही त्रिरूपता है।<sup>२४</sup> दिङ्नाग ने प्रमाणसमुच्चय में स्वार्थानुमान का लक्षण करते समय त्रिरूपलिङ्ग से जन्य ज्ञान को ही अनुमान-प्रमाण कहा है।<sup>२५</sup> धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में अनुमान-लक्षण इस प्रकार प्रतिपादित किया है- “किसी सम्बन्धी धर्म से, धर्मों के विषय में जो परोक्ष अर्थ का ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अनुमान है।<sup>२६</sup> मनोरथनन्दी ने इसकी वृत्ति करते हुए लिखा है कि अन्य-व्यतिरेक लिङ्ग द्वारा उसके आश्रय धर्मों में जो परोक्ष अर्थ की प्रतीति होती है वह अनुमान-प्रमाण है। यह अनुमान त्रिरूपलिङ्ग द्वारा उत्पन्न होता है।<sup>२७</sup>

बौद्ध दर्शन में अन्यत्र अनुमान के सामान्य-लक्षण का निरूपण नहीं करके अनुमान के स्वार्थ एवं परार्थ भेदों के पृथक् पृथक् लक्षण दिये गये हैं, किन्तु सारांशरूप में यह कहा जा सकता है कि बौद्ध दर्शन के अनुसार पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व एवं विपक्षसत्त्व रूप तीन रूपों से सम्पन्न लिङ्ग या हेतु द्वारा जो लिङ्गी या साध्य का ज्ञान होता है, वह अनुमान प्रमाण है।

जैन दर्शन में साध्य के अविनाभावी हेतु से होने वाले ज्ञान को अनुमान कहा गया है। जो हेतु साध्य के अभाव में नहीं रहता, वही साध्य का साधन होता है। समस्त जैन दार्शनिक इस संबंध में एकमत हैं। इस सरणि में न्यायावतार में सिद्धसेन ने अविनाभावी लिङ्ग द्वारा साध्य के निश्चयात्मक ज्ञान को अनुमान कहा है।<sup>२८</sup> अक्कलङ्क ने भी इसी प्रकार अविनाभूत लिङ्ग द्वारा साध्य के ज्ञान को

२३. नान्तरीयकार्षददर्शनं तद्विदोऽनुमानम् ।— न्यायवार्तिक, १.१.५, पृ. १२३

२४. अनुमेयेऽथ ततुल्ये स्वभावो नास्तित्वाऽसति ।— न्यायवार्तिक, १.१.५, पृ. १२६

२५. त्रिरूपाल्लिङ्गतोऽर्थदक् ।— प्रमाणसमुच्चय, स्वार्थानुमानपरिच्छेद, उद्धृत, द्वादशारण्यचक्र (ज), भाग-१, परिशिष्ट, पृ. १२२

२६. या च सम्बन्धिनो धर्माद् भूतिधर्मिणि ज्ञायते ।

सानुमानं परोक्षाणामेकान्तेनैव साधनम् ॥— प्रमाणवार्तिक, २.६२

२७. प्रमाणवार्तिक (म.च.), २.६२, पृ. १२०

२८. साध्याविनाभुनो लिङ्गात् साध्यनिश्चायकं स्मृतम् ।

अनुमानं तदभ्रान्तं प्रमाणत्वात् समक्षवत् ॥— न्यायावतार, ५

अनुमान प्रतिपादित किया है।<sup>२९</sup> वे साधन को साध्य का अविनाभूत मानते हैं, इसलिए सरल शब्दों में उन्होंने साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहा है।<sup>३०</sup> विद्यानन्द, माणिक्यनन्दी, हेमचन्द्र आदि समस्त जैन दार्शनिक अनुमान-लक्षण में सिद्धसेन एवं अकलङ्क का ही अनुसरण करते हैं।<sup>३१</sup> वादिदेवसूरि ने अवश्य धर्मकीर्ति का अनुसरण कर पहले अनुमान के स्वार्थ एवं परार्थ दो भेदों का निरूपण किया है, तदनन्तर उनके विशेष लक्षणों का कथन किया है।<sup>३२</sup> इस प्रकार सामान्य रूप से जैन दर्शन में साध्य के अविनाभावी लिङ्ग से अनुमेय अर्थ का ज्ञान होना अनुमान-प्रमाण है।

सारांश यह है कि लिङ्ग से लिङ्गी का अथवा हेतु से साध्य का ज्ञान होना अनुमान है, इसमें जैन एवं बौद्ध दार्शनिक एकमत हैं, किन्तु बौद्ध दार्शनिक हेतु में त्रिरूपता का होना अनिवार्य मानते हैं, जबकि जैन दार्शनिक उसका खण्डन करते हैं तथा हेतु का मात्र साध्य के साथ अविनाभावित्व स्वीकार करते हैं।

अनुमान के विशेष लक्षणों पर विचार करने से पूर्व अनुमान के भेदों को जानना आवश्यक है, अतः अब अनुमान-भेदों पर विचार किया जा रहा है।

### अनुमान - भेद

दिङ्नाग के पूर्ववर्ती बौद्ध ग्रंथ उपायहृदय में न्याय<sup>३३</sup> एवं सांख्य दर्शन<sup>३४</sup> सम्मत पूर्ववत्, शेषवत् एवं सामान्यतोदृष्ट इन तीन अनुमान-भेदों का विस्तृत निरूपण है।<sup>३५</sup> इसी प्रकार सिद्धसेन के पूर्व जैन ग्रंथ अनुयोगद्वारसूत्र में इन्हीं तीन भेदों का प्रतिपादन है।<sup>३६</sup> अन्तर यह है कि अनुयोगद्वारसूत्र में 'सामान्यतोदृष्ट' के स्थान पर 'दृष्टसाधर्म्यवत्' नाम दिया गया है, तथा उसके सामान्यदृष्ट एवं विशेषदृष्ट ये दो भेद किये गये हैं। शेषवत् अनुमान को भी कार्य, कारण, गुण, अवयव एवं आश्रय के आधार पर पांच प्रकार का निरूपित किया गया है।<sup>३७</sup> इससे ज्ञात होता है कि न्यायदर्शन

२९. लिङ्गत्साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणत्वात्।

लिङ्गधीरनुमानं— ।— लघीयस्त्रय, १२-१३

३०. साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम् ।— न्यायविनिश्चय, १७०

३१. द्रष्टव्य, प्रमाणपरीक्षा, पृ. ४५, परीक्षामुख, ३.१०, प्रमाणमीमांसा, १.२.७-९

३२. द्रष्टव्य, प्रमाणनयतत्वालोको ३.९, १०, २३

३३. अध तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च ।— न्यायसूत्र १.१.५

३४. अनुमानं विशेषतस्त्रिविधं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टञ्चेति ।— सांख्यतत्त्वकौमुदी, का.५, पृ. ५५

३५. अनुमानं त्रिविधं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं च । यथा षडंगुलि सपिडकमूर्धानं बालं दृष्ट्वा पश्चाद् वृद्धं बहुश्रुतं देवदत्तं दृष्ट्वा षडंगुलिस्मरणात् सोऽयमिति पूर्ववत् । शेषवत् यथा, सागरसलिलं पीत्वा तल्लवणरसमनुभूय शेषमपि सलिलं तुल्यमेव लवणमिति । एतच्छेषवदनुमानम् । सामान्यतोदृष्टं यथा कश्चिद्रच्छस्तं देशं प्राप्नोति । गगनेऽपि सूर्यचन्द्रमसौ पूर्वस्थां दिशयुदितौ पश्चिमायां चास्तं गतौ । तच्चेष्टायामदृष्टायामपि तद्रमनमनुमीयते । एतत्सामान्यतोदृष्टम् ।— उपायहृदय, पृ. १३-१४,

३६. (१) से किं तं अनुमाने ? स तिविधे पण्णते तं जह-पुव्ववं, सेसवं, दिट्ठसाहम्मवं ।-अनुयोगद्वारसूत्र, अनुमान प्रमाणद्वार

(२) अनुयोगद्वारसूत्र में काल की दृष्टि से भी अनुमान के तीन भेद किये गये हैं, यथा- (१) अतीत काल ग्रहण (२) प्रत्युत्पन्न काल ग्रहण (३) अनागत काल ग्रहण ।— अनुयोगद्वारसूत्र, अनुमान-वर्णन

३७. अनुयोगद्वारसूत्र में वर्णित अनुमानप्रमाण के विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य, परिशिष्ट - ग

एवं सांख्यदर्शन में प्रतिपादित पूर्ववत्, शेषवत् एवं सामान्यतोदृष्ट अनुमान-भेद प्राचीन हैं, जिनका प्रभाव तत्कालीन बौद्ध एवं जैनग्रन्थों पर भी हुआ, फलतः उन्होंने अपने ग्रंथों में इन भेदों का समावेश किया।

दिङ्नाग ने अनुमान-प्रमाण के दो भेदों का प्रतिपादन किया— (१) स्वार्थानुमान एवं (२) परार्थानुमान।<sup>३८</sup> अनुमान प्रमाण के इन दो भेदों का प्रतिपादन भारतीय दर्शन में दिङ्नाग की मौलिक देन है। वैशेषिक दर्शन में दिङ्नाग के समकालीन दार्शनिक प्रशस्तपाद ने स्वनिश्चितार्थ एवं परार्थ के रूप में अनुमान का संक्षिप्त विवेचन अवश्य किया है,<sup>३९</sup> किन्तु उन्होंने स्पष्टरूपेण स्वार्थ एवं परार्थ इन दो भागों में अनुमान को विभक्त नहीं किया। दूसरी बात यह है कि जिस बलवद्रूप में स्वार्थ एवं परार्थ अनुमान भेदों का स्थापन दिङ्नाग ने किया है, वह सबके द्वारा अनुकरणीय बना।

दिङ्नाग कृत अनुमान-भेदों को न केवल धर्मकीर्ति,<sup>४०</sup> शान्तरक्षित आदि<sup>४१</sup> बौद्ध दार्शनिकों ने अपनाया, अपितु लगभग सभी जैन दार्शनिकों ने इन भेदों को अपने ग्रंथों में स्थान दिया। यही नहीं न्याय, मीमांसा, एवं वेदान्त दर्शन भी इनसे प्रभावित हुए और उन्होंने भी स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान को अनुमान-भेदों के रूप में प्रस्तुत किया।

अनुमान के स्वार्थ एवं परार्थ विभाजन के पूर्व न्यायदर्शन में प्रतिज्ञा, हेतु आदि पांच अवयवों को अनुमान-प्रमाण के अंगों के रूप में स्थापित नहीं किया गया था। प्रमाण से 'अवयव' नामक भिन्न पदार्थ की कल्पना की गयी थी, किन्तु दिङ्नाग द्वारा परार्थानुमान का स्थापन करने के अनन्तर न्यायदर्शन में प्रतिज्ञा, हेतु आदि पांच अवयवों को परार्थानुमान में संगृहीत कर लिया गया।<sup>४२</sup> न्यायदर्शन में जयन्तभट्ट के पूर्व स्वार्थ एवं परार्थ भेदों का उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु उनके उत्तरवर्ती दार्शनिकों द्वारा, विशेषतः नव्यन्याय में अनुमान के स्वार्थ एवं परार्थ भेद पर्याप्त महत्त्व के साथ वर्णित हैं। केशवमिश्र की तर्कभाषा आदि ग्रंथ इसके निदर्शन हैं। मीमांसा दर्शन में शालिकनाथ के ग्रंथ तथा वेदान्त दर्शन में वेदान्तपरिभाषा से संभवतः स्वार्थ एवं परार्थ भेदों का उल्लेख प्रारम्भ हुआ।<sup>४३</sup>

जैनदर्शन में अनुमान के स्वार्थ एवं परार्थ भेदों के उल्लेख का प्रारम्भ सिद्धसेन दिवाकर की कृति न्यायावतार से माना जा सकता है, क्योंकि उसके पूर्व जैन-ग्रंथों में इन भेदों का उल्लेख नहीं मिलता है। सिद्धसेन दिङ्नाग के समकालीन दार्शनिक थे, उनके पूर्ववर्ती नहीं। क्योंकि दिङ्नाग ने अनुमान

३८. अनुमान द्विधा स्वार्थ परार्थ च ।—प्रमाणसमुच्चय, स्वार्थानुमान-परिच्छेद, उद्धृत, द्वादशारण्यचक्र (ज), भाग-१, परिशिष्ट, पृ. १२२

३९. इत्येतत् स्वनिश्चितार्थमनुमानम् । पंचावयवेन वाक्येन स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानम् ।— प्रशस्तपादभाष्य, अनुमानप्रकरण ।

४०. अनुमान द्विधा । स्वार्थ परार्थ च ।— न्यायबिन्दु, २.१-२

४१. स्वपरार्थविभागेन त्वनुमानं द्विधेष्यते ।— तत्त्वसङ्ग्रह, १३६१

४२. Buddhist Logic, Vol. I, p. 291

४३. भारतीयदर्शन में अनुमान, पृ. २५१-५२

को स्वार्थ एवं परार्थ भेदों में जिस आधार पर विभक्त किया है वही आधार सिद्धमेन ने अपनाया है,<sup>४४</sup> तथा दिङ्नाग कृत अनुमान भेदों को प्रत्यक्ष में भी प्रतिपादित किया है। तदनुसार उनके मत में प्रमाण के दो प्रकार हैं - स्वार्थ एवं परार्थ।<sup>४५</sup> सिद्धमेन के उत्तरवर्ती दार्शनिक अकलङ्क के सिद्धिविनिश्चय<sup>४६</sup> एवं विद्यानन्द की प्रमाणपरीक्षा<sup>४७</sup> ग्रंथों में अनुमान के स्वार्थ एवं परार्थ भेदों का उल्लेख मिलता है। परन्तु अनुमान का विवेचन वे इन भेदों के आधार पर नहीं करते हैं। डा. दरबारी लाल कोठिया के अनुसार अकलङ्क मत में हेतु के एकमात्र लक्षण अन्यथानुपपन्नत्व के कारण अनुमान का एक ही भेद है, उसके तीन, चार या पांच भेद नहीं।<sup>४८</sup> विद्यानन्द ने वीत, अवीत एवं वीतावीत के भेद से अनुमान के तीन प्रकार भी निर्दिष्ट किये हैं।<sup>४९</sup> माणिक्यनन्दी ने स्पष्टरूपेण अनुमान को स्वार्थ एवं परार्थ दो भेदों में विभक्त किया है।<sup>५०</sup> वादिदेवसूरि<sup>५१</sup> एवं हेमचन्द्राचार्य<sup>५२</sup> के ग्रंथों में भी अनुमान के वे दोनों भेद स्पष्ट निर्दिष्ट हैं। वादिदेवसूरि ने तो अनुमान को स्वार्थ एवं परार्थ भेदों में विभक्त करने के अनन्तर ही अनुमान का लक्षण निरूपित किया है, पहले नहीं।<sup>५३</sup>

अनुमान के स्वार्थ एवं परार्थ भेदों के प्रतिष्ठित होने के अनन्तर बौद्ध एवं जैन ग्रंथों में पूर्ववत्, शेषवत् एवं सामान्यतोदृष्ट भेदों को प्रायः स्थान नहीं मिला। यद्यपि पूर्ववत्, शेषवत् एवं सामान्यतोदृष्ट भेदों को स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान के उपभेदों में रखा जा सकता था, क्योंकि दोनों प्रकार के अनुमान-विभाजन की दृष्टि भिन्न है, किन्तु उन्हें उत्तरकालीन बौद्ध एवं जैन ग्रंथों में न केवल स्थान नहीं दिया गया, अपितु अभ्यदेवसूरि, वादिदेवसूरि जैसे आचार्यों ने अनुमान के इन तीन भेदों को अनुचित बतलाकर इनका खण्डन भी किया है।<sup>५४</sup>

४४. स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनं बुधैः।

परार्थं मानमाख्यातं वाक्यं तदुपचारतः ॥—न्यायावतार, १०

४५. प्रत्यक्षेणानुमानेन प्रसिद्धार्थप्रकाशनात्।

परस्य तदुपायत्वात् परार्थत्वं द्वयोरपि ॥—न्यायावतार, ११

४६. सिद्धिविनिश्चयवृत्ति, ६.२, पृ. ३१३

४७. प्रमाणपरीक्षा, पृ. ५८

४८. जैनतर्कशास्त्र में अनुमान विचार, पृ. ११४-११९

४९. द्रष्टव्य, प्रमाणपरीक्षा, पृ. ५७ एवं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१३.२०४ एवं वृत्ति।

५०. तदनुमानं द्वेधा। स्वार्थपरार्थभेदात्। १-परीक्षामुख, ३.४८-४९

५१. अनुमानं द्विप्रकारं स्वार्थं परार्थं च। १-प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.९

५२. तत् द्विधा स्वार्थं परार्थं च। १-प्रमाणमीमांसा, १.२.८

५३. द्रष्टव्य, प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.९-१०

५४. (१) द्रष्टव्य, तत्त्वबोधविधायिनी, पृ. ५५९, स्याद्वादरत्नाकर, पृ. ५२७

(२) डा. बलिराम शुक्ल ने अपनी कृति 'अनुमान-प्रमाण' के पृ. १८१ पर लिखा है कि दिङ्नाग ने नैयायिकों के पूर्ववत्, शेषवत् एवं सामान्यतोदृष्ट अनुमान-भेदों की तीव्र आलोचना की है, किन्तु उनके द्वारा प्रदत्त द्वादशारण्यचक्र के संदर्भ को देखने पर ज्ञात होता है कि दिङ्नाग ने वहां पर पूर्ववत् आदि अनुमान-भेदों की कोई आलोचना नहीं की है, अपितु "पूर्ववत्" शब्द द्वारा प्रत्यक्ष के समान अनुमान के फल का निर्देश किया है। १- द्रष्टव्य, द्वादशारण्यचक्र (ज), भाग-१ परिशिष्ट, पृ. १२२

## स्वार्थानुमान

जिस अनुमान द्वारा प्रमाता स्वयं अनुमेय अर्थ का ज्ञान करता है वह स्वार्थानुमान कहलाता है।<sup>५५</sup> अनुमान-प्रमाण में स्वार्थानुमान का महत्त्व अधिक है, क्योंकि स्वार्थानुमान के बिना परार्थानुमान नहीं हो सकता।

दिङ्नाग ने त्रिरूप लिङ्ग से होने वाले अर्थज्ञान को स्वार्थानुमान कहा है।<sup>५६</sup> धर्मकीर्ति ने भी त्रिरूपलिङ्ग से अनुमेय अर्थ में होने वाले ज्ञान को स्वार्थानुमान कहा है।<sup>५७</sup> यही मत शान्तरक्षित<sup>५८</sup>, कमलशील आदि ने प्रकट किया है। कमलशील कहते हैं कि पक्षधर्मत्व, सपक्ष में सत्त्व एवं विपक्ष से सर्वतो व्यावृत्ति युक्त त्रिरूपलिङ्ग से जो अनुमेय अर्थ का ज्ञान होता है वह स्वार्थानुमान है।<sup>५९</sup> वस्तुतः बौद्ध दर्शन में अनुमान का सामान्यलक्षण निरूपित नहीं है। धर्मोत्तर कहते हैं कि स्वार्थानुमान ज्ञानात्मक होता है एवं परार्थानुमान शब्दात्मक होता है, इन दोनों में अत्यन्त भेद होने के कारण अनुमान का सामान्य लक्षण संभव नहीं है। यही कारण है कि दिङ्नाग एवं उनके उत्तरवर्ती बौद्ध दार्शनिकों ने अनुमान के सामान्य लक्षण का निरूपण नहीं करके प्रायः स्वार्थानुमान का लक्षण दिया है। स्वार्थानुमान के लक्षण को ही अनुमान का सामान्य लक्षण माना जा सकता है। त्रिरूपलिङ्ग सम्पन्न हेतु का कथन करने पर वही परार्थानुमान हो जाता है।

इस प्रकार बौद्ध मत में पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व एवं विपक्षासत्त्व इन तीनों रूपों से युक्त लिङ्ग द्वारा अनुमेय अर्थ के विषय में जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह स्वार्थानुमान कहा जा सकता है। स्वार्थानुमान के द्वारा निश्चित अर्थ का जब हेतु एवं दृष्टान्त के द्वारा अन्य की प्रतिपित के लिए कथन किया जाता है तो वह परार्थानुमान कहलाता है।<sup>६०</sup>

जैन दर्शन में सामान्यरूपेण साध्य के अविनाभावी लिङ्ग से उत्पन्न साध्य के ज्ञान को स्वार्थानुमान कहा गया है। सिद्धसेन के न्यायावतार में अनुमान के सामान्य-लक्षण से पृथक् स्वार्थानुमान का लक्षण नहीं दिया गया है। वे साध्य के अविनाभावी लिङ्ग से साध्य के निश्चायक ज्ञान को अनुमान कहते हैं।<sup>६१</sup> यही जैनदर्शन में स्वार्थानुमान है। अकलङ्क ने भी साध्य से अविनाभूत साधन द्वारा होने वाले साध्यज्ञान को अनुमान कहा है<sup>६२</sup> एवं स्वार्थानुमान का पृथक् लक्षण नहीं दिया है। विद्यानन्द ने साधन

५५. स्वस्मादिदं स्वार्थम् ।- न्यायविन्दुटीका, २.२, पृ.९८

५६. स्वार्थं त्रिरूपात्लिङ्गतोऽर्थदृक् ।- प्रमाणसमुच्चय, उद्धृत, द्वादशारनयचक्र (ज), भाग-१, परिशिष्ट, पृ.१२२

५७. तत्र स्वार्थं त्रिरूपात्लिङ्गद्वयदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम् ।- न्यायविन्दु, २.३

५८. स्वार्थं त्रिरूपतो लिगादनुमेयार्थदर्शनम् ।- तत्वसंग्रह, १३६१

५९. तत्र स्वार्थं त्रिरूपात्लिङ्गद्वयं पक्षधर्मत्वम्, सपक्षे सत्त्वम्, विपक्षाच्च सर्वतो व्यावृत्तिः इत्येवंलक्षणादनुमेयार्थविषयं ज्ञानं तदात्मकं बौद्धव्यम् ।- तत्वसङ्ग्रहपंजिका, १३६१, पृ.४९४-९५

६०. पारार्थमनुमानं तु स्वदृष्टार्थप्रकाशनम् ।- प्रमाणसमुच्चय, उद्धृत, द्वादशारनयचक्र, (ज), भाग-१, परिशिष्ट, पृ.१२५

६१. द्रष्टव्यं, यही अध्याय पादटिप्पण, २८

६२. (१) लिङ्गात् साध्याविनाभावाधिनिबोधैकलक्षणात् । लिङ्गिधीरनुमानं ।- लघीयसूत्र, १२-१३

(२) साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम् ।- न्यायविनिश्चय, १७०

से होने वाले साध्य-ज्ञान को स्वार्थानुमान कहते हुए स्वार्थानुमान की अनेक विशेषताओं का निर्देश किया है, यथा-वह अभिनिबोध स्वरूप विशिष्ट मतिज्ञान है, वह साध्य की ओर अभिमुख एवं अन्यथानुपपन्तत्वरूप नियत लक्षण से उत्पन्न होता है तथा वह तर्कप्रमाण का फल होता है।<sup>६३</sup> प्राणिक्यनन्दी ने भी विद्यानन्द के अनुसार साधन से होने वाले साध्यज्ञान को स्वार्थानुमान कहा है।<sup>६४</sup> वादिदेवसूरि ने स्वार्थानुमान का विशेषलक्षण प्रदान किया है, तदनुसार हेतु का प्रत्यक्ष होने पर तथा हेतु एवं साध्य के अविनाभावी सम्बन्ध का स्मरण होने पर साध्य का जो ज्ञान होता है, वह स्वार्थानुमान है।<sup>६५</sup> हेमचन्द्र के मत में 'अपने द्वारा निश्चित साध्याविनाभावी रूप एक लक्षण वाले साधन से साध्य का ज्ञान होना स्वार्थानुमान है।'<sup>६६</sup>

इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार हेतु का ग्रहण होने पर साध्य एवं हेतु के अविनाभाव सम्बन्ध या व्याप्ति का स्मरण होता है। उसके अनन्तर तर्कप्रमाण के फल रूप में साध्य का निश्चायक स्वार्थानुमान प्रमाण उदित होता है।

स्वार्थानुमान अथवा अनुमान के बौद्ध एवं जैन दर्शनानुसार मुख्यतः दो अंग हैं - साध्य एवं हेतु। साध्य एवं हेतु के साथ व्याप्ति की चर्चा भी जुड़ी हुई है। व्याप्ति एवं पक्षधर्मता को नव्यन्याय युग में अनुमान का आवश्यक अंग माना गया है।<sup>६७</sup> यहां पर साध्य एवं हेतु पर विचार करने के अनन्तर व्याप्ति पर विचार किया जायेगा। पक्ष की चर्चा इस अध्याय में परार्थानुमान के प्रसंग में 'पक्षवचनविमर्श' के अन्तर्गत आगे की गई है।

### साध्य - विचार

अनुमान-प्रमाण में साध्य का अत्यधिक महत्त्व है। लिङ्ग अथवा साधन द्वारा जिसे सिद्ध किया जाता है, वह साध्य कहलाता है। साध्य को लिङ्गी, व्यापक, गम्य, नियाम्य, आपाद्य आदि भी कहा जाता है। साध्य के लिए 'अनुमेय' शब्द का भी प्रयोग होता रहा है। जैन एवं बौद्ध दर्शनों में साध्य को अनेक स्थलों पर अनुमेय कहा गया है, किन्तु पक्ष एवं साध्य में सूक्ष्म अन्तर है। साध्य किसी पक्ष में रहता है, किन्तु पक्ष साध्य में नहीं रहता है। अनुमिति के संदर्भ में साध्य के लिए अनुमेय शब्द सर्वथा उपयुक्त है। साध्यविशिष्ट पक्ष अथवा पक्ष में साध्य को सिद्ध करना अनुमेय कहा जाता है। अनुमेय शब्द साध्य का ही घोटक होता है। अनुमेय या साध्य के सम्बन्ध में लगभग सभी भारतीय दर्शनों ने विचार किया है।

न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन ने साध्य के दो प्रकार बतलाये हैं-धर्मविशिष्ट धर्म एवं

६३. तदेतत्साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम् स्वार्थमभिनिबोधलक्षणं विशिष्टमतिज्ञानम् साध्यं प्रत्यक्षमुखाभिनियमितत् साधनादुपजातस्य बोधस्य तर्कफलस्याभिनिबोध इति संज्ञाप्रतिपादनात् ।—प्रमाणपरीक्षा, पृ.५८

६४. साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम् । स्वार्थमुक्तलक्षणम् ।—परीक्षामुख, ३.१० एवं ५०

६५. तत्र हेतुग्रहणसम्बन्धस्मरणकारणकं साध्यविज्ञानं स्वार्थम् ।—प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.१०

६६. स्वार्थं स्वनिश्चितसाध्याविनाभावैकलक्षणात् साधनात् साध्यज्ञानम् ।—प्रमाणमीमांसा, १.२.१

६७. अनुमानस्य द्वे अंगे व्याप्तिः पक्षधर्मता च ।—केशविमिश्र, तर्कशास्त्र, अनुमान-निरूपण ।

धर्मविशिष्ट धर्मों। धर्मविशिष्ट धर्म का अर्थ है - धर्मों (पक्ष) से विशिष्ट धर्म (साध्य) का होना, यथा शब्द की अनित्यता। धर्मविशिष्ट धर्मों का अर्थ है - धर्म (अनित्यत्व) से विशिष्ट धर्मों (शब्द)।<sup>६८</sup> वात्स्यायन ने इनमें से मुख्यरूपेण धर्मविशिष्ट धर्मों (अनित्यः शब्दः) को साध्य रूप में स्थापित किया है। “पर्वतो वह्निमान्” साध्य का प्रसिद्ध उदाहरण है, जिसमें अग्नि रूप साध्य-धर्म से विशिष्ट, धर्मों-रूप पर्वत को सिद्ध किया जाता है। पर्वत पर अग्नि सिद्ध करना हो तो धर्मविशिष्ट धर्म अर्थात् पर्वत विशिष्ट अग्नि को साध्य माना जाता है।

दिङ्नाग ने साध्य के तीन कल्प प्रस्तुत किये हैं—(१) केवल धर्म (२) धर्म-धर्मिसम्बन्ध और (३) धर्मविशिष्ट धर्मों। दिङ्नाग ने इनमें से प्रथम दो का खण्डन कर वात्स्यायन के समान तृतीय स्वरूप को साध्य के रूप में स्वीकृत किया है।<sup>६९</sup> धर्मकीर्ति ने हेतुलक्षण का निरूपण करते समय जिज्ञासित धर्म वाले धर्मों को अनुमेय या साध्य कहा है।<sup>७०</sup> धर्मोत्तर उसी प्रसंग में स्पष्ट करते हैं कि अनुमिति के समय धर्मविशिष्ट धर्मों या धर्म-धर्मों का समुदाय अनुमेय होता है तथा व्याप्ति के निश्चयकाल में अग्नि रूप धर्म ही साध्य या अनुमेय होता है।<sup>७१</sup>

वात्स्यायन एवं बौद्ध दार्शनिकों का ही प्रभाव जैन दार्शनिकों पर दिखाई देता है। माणिक्यनन्दी एवं वादिदेवसूरि ने व्याप्तिग्रहण काल में अग्निरूप धर्म को साध्य तथा आनुमानिक प्रतिपत्ति के समय अग्निरूप धर्म विशिष्ट पर्वतरूप धर्मों को साध्य प्रतिपादित किया है। धर्मों का दूसरा नाम पक्ष है।<sup>७२</sup> इस प्रकार जैन दर्शन में अनुमान-काल में साध्यधर्म विशिष्ट पक्ष को साध्य स्वीकार किया गया है तथा व्याप्तिनिश्चयकाल में मात्र धर्म को ही साध्य माना गया है।

तात्पर्य यह है कि बौद्ध एवं जैन दर्शन में साध्य के स्वरूप को लेकर कोई विवाद नहीं है। व्याप्तिनिश्चय काल में जहां दोनों दर्शन अग्नि धर्म को साध्य मानते हैं, वहां अनुमान की प्रतिपत्ति के समय अग्निविशिष्ट पर्वत आदि धर्मों को साध्य स्वीकार करते हैं।

न्यायदर्शन में जिस प्रकार अनिर्णीत अथवा संशयित अर्थ में न्याय का प्रवृत्त होना स्वीकार किया गया है,<sup>७३</sup> तथा साध्य को प्रज्ञापनीय माना गया है,<sup>७४</sup> उसी प्रकार बौद्ध एवं जैन दर्शन में ‘साध्य’

६८. साध्यं च द्विविधं धर्मविशिष्टो वा धर्मः शब्दस्यानित्यत्वं, धर्मविशिष्टो वा धर्मो अनित्यः शब्दः इति ।— न्यायभाष्य, १.१.३६.

६९. दिङ्नाग के इन तीनों कल्पों की चर्चा न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका में हुई है ।— भारतीयदर्शन में अनुमान, पृ.४०

७०. अनुमेयोऽत्र जिज्ञासितविशेषो धर्मो ।— न्यायबिन्दु, २.६

७१. अन्यत्र तु साध्यप्रतिपत्तिकाले समुदायोऽनुमेयः । व्याप्तिनिश्चयकाले तु धर्मोऽनुमेय इति ।— न्यायबिन्दुटीका, २.६ पृ.१११

७२. (१) साध्यं धर्मः क्वचित् तद्विशिष्टो वा धर्मो । पक्ष इति यावत् । व्याप्तौ तु साध्यं धर्म एव ।— परीक्षामुख, ३.२१, २२, २८

(२) व्याप्तिग्रहणसमयापेक्षया साध्यं धर्म एव अन्यथा तदनुपपत्तेः । आनुमानिक-प्रतिपत्त्यवसरापेक्षया तु पक्षापरपर्यायस्तद्विशिष्टः प्रसिद्धो धर्मो ।— प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.१८, २०

७३. तत्र नानुपलब्धे न निर्णीतेऽयं न्यायः प्रवर्तते, किं तर्हि संशयितेऽयं ।— न्यायभाष्य, १.१.१, पृ.७

७४. प्रज्ञापनीयेन धर्मेण धर्मिणो विशिष्टस्य ।— न्यायभाष्य, १.१.३३, पृ.८१



के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए अनेक विशेषणों का प्रयोग किया गया है। बौद्धदार्शनिक दिङ्नाम अथवा शंकरस्वामी ने न्यायप्रवेश में साध्य को ईप्सित एवं प्रत्यक्षादि से अतिरुद्ध बतलाया है।<sup>७५</sup> धर्मकीर्ति ने पक्ष में पांच विशेषताओं का निरूपण किया है, जिन्हें साध्य की पांच विशेषताएं माना जा सकता है, यथा - (१) स्वयं वादी द्वारा साध्य को सिद्ध करना अभीष्ट होता है (२) वह सिद्ध नहीं रहता, (३) वह साधन नहीं होता, (४) वह शब्दों से कभी उक्त होता है एवं कभी अनुक्त रहता है तथा (५) वह प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अनिराकृत रहता है।<sup>७६</sup> जैनदार्शनिक सिद्धसेन ने साध्य अथवा पक्ष को प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अनिराकृत बतलाया है।<sup>७७</sup> अकलङ्क ने साध्य को शक्य, अभिप्रेत एवं अप्रसिद्ध निरूपित किया है।<sup>७८</sup> अर्थात् अनिर्णीत एवं संशय- विपर्यासादि से विशिष्ट अर्थ को वे साध्य के रूप में स्वीकार करते हैं।<sup>७९</sup> माणिक्यनन्दी ने अकलङ्क का अनुसरण करते हुए इष्ट, अबाधित एवं असिद्ध अर्थ को साध्य प्रतिपादित किया है।<sup>८०</sup> वादिदेवसूरि इसे अप्रतीत, अनिराकृत एवं अभीप्सित के रूप में निरूपित करते हैं।<sup>८१</sup> तथा साध्य के इन तीनों विशेषणों के औचित्य का प्रतिपादन करते हैं। वादिदेवसूरि कहते हैं कि शंकित, विपरीत एवं अनध्यवसित अर्थ को साध्य बतलाने के लिए उसे अप्रतीत कहा गया है।<sup>८२</sup> प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विरुद्ध कोई साध्य नहीं होता, इसलिए उसे अनिराकृत या अबाधित कहा गया है।<sup>८३</sup> अनभिमत अर्थ को साध्य स्वीकार नहीं किया जाता, इसलिए जैन दार्शनिक साध्य जो अभीप्सित कहते हैं।<sup>८४</sup> साध्य को इष्ट या अभीप्सित वादी की अपेक्षा से कहा गया है, प्रतिवादी की अपेक्षा से नहीं।<sup>८५</sup>

इस प्रकार साध्य का लक्षण बौद्ध एवं जैन दोनों दर्शन प्रायः एक जैसा स्वीकार करते हैं।

## हेतु-लक्षण विमर्श

अनुमान-प्रमाण का द्वितीय पहल्वपूर्ण अंग या घटक 'हेतु' है। हेतु ही साध्य का गमक होता है। भारतीयदर्शन में हेतु को लिङ्ग, साधन, व्याप्य, गमक, नियामक, आपादक आदि भी कहा गया है।

बौद्ध एवं जैन दार्शनिकों में अनुमान-प्रमाण के सम्बन्ध में सबसे अधिक विवाद हेतुलक्षण को लेकर है। बौद्ध दार्शनिक हेतु में पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व एवं विपक्षासत्त्व इन तीन रूपों का होना

७५. स्वयं साध्यत्वेनेप्सितः । प्रत्यक्षाद्यविरुद्धः ।— न्यायप्रवेश, पृ. १

७६. स्वरूपेणैव स्वयमिष्टोऽनिराकृतः पक्षः ।— न्यायबिन्दु, ३.३८ एवं द्रष्टव्य, ३.३९-४१

७७. साध्याध्युपगमः पक्षः प्रत्यक्षाद्यनिराकृतः ।— न्यायवतार, १४

७८. साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं ।— न्यायविनिश्चय, १७२ एवं प्रमाणसङ्ग्रह, २०

७९. अव्युत्पत्तिसंशयविपर्यासविशिष्टोऽर्थः साध्यः ।— प्रमाणसंग्रहवृत्ति, २०, अकलङ्कग्रन्थत्रय, पृ. १०२

८०. इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम् ।— परीक्षामुख, ३.१६

८१. अप्रतीतमनिराकृतमभीप्सितं साध्यम् ।— प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.१४

८२. शंकितविपरीतानध्यवसितवस्तूनां साध्यताप्रतिपत्यर्थमप्रतीतवचनम् ।— प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.१५

८३. प्रत्यक्षादिविरुद्धस्य साध्यत्वं मा प्रसज्यतामित्यनिराकृतग्रहणम् ।— प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.१६

८४. अनभिमतस्यासाध्यत्वप्रतिपत्तयेऽभीप्सितपदोपादानम् ।— प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.१७

८५. न चासिद्धवदिष्टं प्रतिवादिनः ।— माणिक्यनन्दी, परीक्षामुख ३.१९

आवश्यक मानते हैं। जो हेतु इन तीन रूपों से युक्त नहीं होता उसे वे असद् हेतु अथवा हेत्वाभास कहते हैं। पक्षधर्मत्व का अर्थ है धूमादि हेतु का वह्निविशिष्ट पर्वतादि पक्ष में रहना, सपक्षसत्त्व का अर्थ है धूमादि हेतु का महानस आदि सपक्ष में रहना एवं विपक्षासत्त्व का अर्थ है उस हेतु का जलाशय आदि विपक्ष में नहीं रहना।

त्रैरूप्य का प्रतिपादन वैशेषिक एवं सांख्य दर्शन में भी किया गया है।<sup>८६</sup> वे भी त्रिरूप सम्पन्न हेतु को ही सद्हेतु के रूप में प्रतिपादित करते हैं।

श्चेरत्वात्स्की के अनुसार बौद्ध दर्शन में त्रैरूप्य की कल्पना वैशेषिकों से प्राचीन है,<sup>८७</sup> जबकि पं. सुखलालसंघवी वैशेषिक दर्शन में त्रैरूप्य को प्राचीन मानते हैं।<sup>८८</sup> जो भी हो, हेतु के त्रैरूप्य लक्षण की सर्वाधिक प्रसिद्धि बौद्ध दर्शन में ही हुई है। जैन दार्शनिकों ने त्रैरूप्य का खण्डन करते समय अपना लक्ष्य बौद्धों को ही बनाया है।

न्यायदर्शन में असत्प्रतिपक्षत्व एवं अबाधितविषयत्व को मिलाकर हेतु में पांच रूपों का होना आवश्यक माना गया है।<sup>८९</sup> त्रैरूप्य हेतु के प्रतिपादक दार्शनिक जहां पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व एवं विपक्षासत्त्व से क्रमशः असिद्ध, विरुद्ध एवं अनैकान्तिक हेत्वाभासों का निराकरण करते हैं,<sup>९०</sup> वहां पांचरूप्य के प्रतिपादक नैयायिक इनके अतिरिक्त कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास का अबाधितविषयत्व द्वारा एवं प्रकरणसम हेत्वाभास का असत्प्रतिपक्षत्व द्वारा निराकरण करते हैं। नैयायिकों ने केवलान्वयी हेतु में विपक्षासत्त्व का अभाव होने से तथा केवलव्यतिरेकी हेतु में सपक्षसत्त्व का अभाव होने से उनमें चार रूप ही स्वीकार किये हैं। अन्वयव्यतिरेकी हेतु में वे पांचों रूपों का होना आवश्यक मानते हैं।<sup>९१</sup> हेतु में षड्रूप एवं सप्तरूप मानने की परम्पराओं के भी उल्लेख मिलते हैं।<sup>९२</sup>

८६. (१) वैशेषिक - यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते ।

तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम् ॥—प्रशस्तपादभाष्य, अनुमान प्रकरण ।

(२) सांख्य- द्रष्टव्य, सांख्यकारिका, ५ की माउरवृत्ति ।

८७. Buddhist Logic, p. 243-44

८८. प्रमाणमीमांसा, षाषाटिप्पण, पृ. ८१

८९. (१) पञ्चलक्षणकाल्लिङ्गाद् गृहीतानियमस्मृतेः ।

परोक्षे लिङ्गिनि ज्ञानमनुमानं प्रचक्षते ॥ न्यायमञ्जरी, पृ. १०१, उद्धृत, स्याद्वादरत्नाकर, पृ. ५२३

(२) द्रष्टव्य, केशवमिश्र, तर्कभाषा, पृ. ८६

(३) न्यायपरम्परा में हेतु को द्विलक्षण एवं त्रिलक्षण भी माना गया है।— द्रष्टव्य, न्यायवार्तिक, १.१.३४, पृ. २७६

९०. (१) बौद्ध—हेतोस्त्रिरूपि रूपेषु निर्णयस्तेन वर्णितः ।

असिद्धविपरीतार्थव्याभिवारिविपक्षतः ॥—प्रमाणवार्तिक, ३.१५

(२) वैशेषिक दर्शन में अनैकान्तिक के स्थान पर संदिग्ध शब्द का प्रयोग हुआ है, यथा- विपरीतमतो यत्स्यादेकेन द्वितयेन वा ।

विरुद्धासिद्धसंदिग्धमल्लिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत् ॥—प्रशस्तपादभाष्य, अनुमान प्रकरण ।

९१. द्रष्टव्य, केशवमिश्र, तर्कभाषा, अनुमाननिरूपण ।

९२. (१) षड्रूप मानने वाली परम्परा का उल्लेख अर्चट की हेतुबिन्दु टीका में मिलता है। यथा-षडलक्षणो हेतुरित्यपरे । त्रीणि चैतानि अबाधितविषयत्वं विवक्षितैकसंख्यत्वं ज्ञातत्वं च ।— हेतुबिन्दुटीका, पृ. २०५

(२) सप्तरूप मानने का उल्लेख वादिराज के न्यायविनिश्चय विवरण में मिलता है, यथा- अन्यथानुपपन्नादिभिश्च-तुभिः पक्षधर्मत्वादिभिश्च सप्तलक्षणो हेतुरिति त्रयेण किम् ।— न्यायविनिश्चयविवरण २.५५, पृ. १७८-८०

जैनदर्शन में त्रैरूप्य एवं पांचरूप्य का निरसन कर हेतु का एक ही लक्षण स्वीकार किया गया है, और वह है उसका साध्य के साथ निश्चित अविनाभाव। साध्य के अभाव में हेतु का न रहना ही अविनाभाव है। अविनाभाव के लिए जैन दार्शनिकों ने अन्यथानुपपत्ति शब्द का भी प्रयोग किया है। समस्त जैन दार्शनिक साध्य के साथ अविनाभाव या अन्यथानुपपत्ति को ही हेतु का एक मात्र लक्षण प्रतिपादित करते हैं। जैन दार्शनिकों का मन्तव्य है कि यदि हेतु में साध्य के साथ अविनाभावित्व है तो वह त्रैरूप्य एवं पांचरूप्य के अभाव में भी साध्य का गमक होता है और यदि उसमें अविनाभावित्व नहीं है तो त्रैरूप्य एवं पांचरूप्य के होने पर भी वह साध्य का गमक नहीं होता।

बौद्ध दार्शनिक भी हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव या प्रतिबन्ध स्वीकार करते हैं, तथा उसके अभाव में हेतुओं को हेत्वाभास कहते हैं, किन्तु वे अविनाभाव की परिसमाप्ति त्रिरूपता में करते हैं। उनका मन्तव्य है कि जो हेतु त्रिरूप सम्पन्न होता है वही साध्य का अविनाभावी होकर साध्य का ज्ञान कराता है।

### बौद्धमत में हेतु-लक्षण

बौद्ध दर्शन में हेतु के त्रैरूप्य का निरूपण सर्वप्रथम दिङ्नाग ने किया।<sup>१२अ</sup> उनके शिष्य शंकरस्वामी अथवा स्वयं दिङ्नाग की रचना न्यायप्रवेश में हेतु को त्रिरूपसम्पन्न प्रतिपादित कर पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व एवं विपक्षासत्त्व रूपों का उल्लेख किया गया है।<sup>१३</sup>

धर्मकीर्ति ने त्रैरूप्य के प्रतिपादन में कुछ नवीनता एवं मौलिकता का प्रयोग किया है। न्यायबिन्दु में वे त्रैरूप्य का प्रतिपादन अवधारणार्थक "एव" (ही) शब्द का प्रयोग करते हुए इस प्रकार कहते हैं - 'त्रैरूप्यं पुनर्लिङ्गस्यानुमेये सत्त्वम् एव, सपक्ष एव सत्त्वम्, असपक्षे चासत्त्वम् एव निश्चितम्।'<sup>१४</sup> अर्थात् (१) हेतु का अनुमेय में होना ही निश्चित हो (२) हेतु का सपक्ष में ही होना निश्चित हो तथा (३) हेतु का असपक्ष अथवा विपक्ष में नहीं होना ही निश्चित हो। धर्मकीर्ति ने हेतुलक्षण में उस धर्म को अनुमेय कहा है जिसका विशेष धर्म जानना इष्ट हो।<sup>१५</sup> साध्यधर्म की समानता रखने वाले अर्थ को सपक्ष<sup>१६</sup> तथा जो सपक्ष एवं अनुमेय नहीं होता उसे असपक्ष या विपक्ष कहा है।<sup>१७</sup> असपक्ष को वे सपक्ष से अन्य, विरुद्ध या सपक्षाभाव रूप मानते हैं।<sup>१८</sup> धर्मोत्तर ने धर्मकीर्ति प्रतिपादित त्रैरूप्य की

१२अ. त्रिरूपाल्लिङ्गतोऽर्थदक् ।—वक्ष्यमाणत्रिलक्षणकाल्लिङ्गाद् ।—प्रमाणसमुच्चय एवं वृत्ति, उद्धृत, द्वादशारनयचक्र (ज), भाग-१, परिशिष्ट, पृ. १२२

१३. हेतुलक्षणः । किं पुनस्त्रैरूप्यम्? पक्षधर्मत्वं, सपक्षे सत्त्वं, विपक्षे चासत्त्वमिति ।—न्यायप्रवेश, पृ. १

१४. (१) न्यायबिन्दु, २.४

(२) जैनाचार्य विद्यानन्द ने इसे निम्नानुसार श्रुत किया है—  
निश्चितं पक्षधर्मत्वं विपक्षोऽसत्त्वमेव च ।

सपक्ष एव जन्मत्वं तत्त्वयं हेतुलक्षणम् ॥—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १.१३.१२४

१५. अनुमेयोऽत्र जिज्ञासितविशेषो धर्मो ।—न्यायबिन्दु, २.६

१६. साध्यधर्मसामान्येन समानोऽर्थः सपक्षः ।—न्यायबिन्दु, २.७

१७. न सपक्षोऽसपक्षः ।—न्यायबिन्दु, २.८

१८. ततोऽन्यस्तद्विरुद्धस्तदभावश्चेति ।—न्यायबिन्दु, २.९

न्यायबिन्दुटीका में विस्तृत व्याख्या की है जिसका उपादान जैनदार्शनिक हेमचन्द्र ने प्रमाणमीमांसा में प्रामाणिक रूप से किया है। अतः यहाँ हेमचन्द्र कृत बौद्ध व्याख्या के आधार पर धर्मकीर्ति निरूपित त्रैरूप्यलक्षण का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

**अनुमेये सत्त्वमेव निश्चितम्**—अनुमेय धर्मी में हेतु का सत्त्व कहने से शब्द की नित्यता सिद्धि में चाक्षुषत्वादि हेतु असिद्ध हो जाते हैं। अर्थात् इनकी हेतुता का निराकरण हो जाता है। 'एव' शब्द का प्रयोग करने से पक्ष के एक देश में असिद्ध हेतु निराकृत हो जाता है, यथा "पृथ्वी आदि भूत अनित्य हैं, क्योंकि गन्धवान् हैं" इस वाक्य के पृथ्वी आदि चारों भूत पक्ष हैं, किन्तु गन्धवत्त्व हेतु केवल पृथ्वी में पाया जाता है, अन्य तीन भूतों में नहीं। अतः यह पक्षैकदेशसिद्ध हेत्वाभास है। ऐसे हेतुओं का निराकरण करने के लिए "पक्ष में सत्त्व ही हो" यह कहा गया है। 'सत्त्व' के पश्चात् 'एव' का प्रयोग करके असाधारण धर्मवाले हेतु का निराकरण किया गया है, अर्थात् जो हेतु केवल पक्ष में ही पाया जाय, सपक्ष में नहीं, वह हेतु नहीं हो सकता। यदि 'एव' (ही) का प्रयोग सत्त्व के पूर्व करके "अनुमेय एव सत्त्वम्" कहा जाता तो 'शब्द की नित्यता' में 'श्रावणत्व' हेतु बन जाता। 'निश्चित' पद के प्रयोग द्वारा सिद्धिसिद्ध हेत्वाभास का निराकरण किया गया है।<sup>१९</sup>

धर्मोत्तर ने पृथ्वी आदि भूतों की अनित्यता वाला उदाहरण नहीं देकर "एव" के प्रयोग की पुष्टि में अन्य उदाहरण दिया है, यथा—"वृक्ष चेतन हैं, क्योंकि वे सोते हैं।" यहाँ पक्षीभूत वृक्षों में से कुछ वृक्ष रात्रि में पत्रसंकोच रूप शयन नहीं करते हैं, अतः शयन करने का हेतु पक्ष के एक देश में असिद्ध होता है। "एव" का प्रयोग करके उस पक्षैकदेशसिद्ध हेतु का निराकरण किया गया है।<sup>१००</sup>

**सपक्षे एव सत्त्वम् निश्चितम्**—यह हेतु का दूसरा रूप है। सपक्ष में हेतु का सत्त्व कहने से विरुद्ध नामक हेत्वाभास का निराकरण हो जाता है। विरुद्ध हेतु सपक्ष में नहीं रहता है। 'एव' शब्द से साधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास का निरसन किया गया है। साधारण अनैकान्तिक हेतु सपक्ष में ही नहीं, अपितु विपक्ष में भी रहता है। सत्त्व से पूर्व एवं सपक्ष के अनन्तर अवधारणवाची 'एव' का प्रयोग करने से सभी सपक्षों में अव्यापी प्रयत्नान्तरीयकत्व हेतु का भी समर्थन हो गया है। यथा - 'शब्द अनित्य है, प्रयत्नान्तरीयक होने से, घट के समान' यहाँ प्रयत्नान्तरीयक हेतु सपक्ष के एक देश में विद्यमान है, घटादि में विद्यमान है, किन्तु विद्युत् आदि में नहीं। विद्युत् प्रयत्नान्तरीयक नहीं है, किन्तु अनित्य है अतः अनित्य को सिद्ध करने के लिए प्रयत्नान्तरीयक हेतु वहाँ लागू नहीं होता, फिर भी सपक्ष के पश्चात् 'एव' का प्रयोग करने से उसका सपक्ष में ही होना निर्धारित होता है, विपक्ष में नहीं। इस कारण प्रयत्नान्तरीयक हेतु सद्भूत है। यदि सत्त्व के पश्चात् 'एव' का प्रयोग होता है तो प्रयत्नान्तरीयकत्व हेतु नहीं बनता। निश्चित शब्द का ग्रहण करने से 'सिद्धिगन्धान्वय' नामक अनैकान्तिक

१९. प्रमाणमीमांसा, १.२.९ पृ. ३९

१००. एवकारेण पक्षैकदेशसिद्धो निरस्तः यथा चेतनास्तरवः स्वापाद् इति पक्षीकृतेषु तरुषु पत्रसंकोचलक्षणः स्वाप एकदेशे न सिद्धः । न हि सर्वे वृक्षा राज्ञो पत्रसंकोचभाजः, किन्तु केचिदेव । - न्यायबिन्दुटीका २.५, पृ. १०५

हेत्वाभास का निरसन होता है, यथा 'कोई सर्वज्ञ है, क्योंकि वह वक्ता है।' यहा वक्तृत्व हेतु सपक्ष सर्वज्ञ में संदिग्ध है' निश्चित नहीं।<sup>१०१</sup>

**विपक्षे असत्त्वमेव निश्चितम्**—विपक्ष में असत्त्व ही निश्चित हो, यह हेतु का तृतीय रूप है। विपक्ष में हेतु का असत्त्व कहने से विरुद्ध हेत्वाभास का निरसन हो जाता है। विरुद्ध हेतु विपक्ष में रहता है। 'एव' शब्द के प्रयोग से विपक्ष के एक देश में रहने वाले साधारण हेतु का निराकरण होता है यथा - 'शब्द प्रयत्नान्तरीयक है अनित्य होने से, घट के समान'। यहां अनित्यत्व हेतु प्रयत्नान्तरीयक साध्य के विपक्ष के एक देश विद्युत् आदि में रहता है। विद्युत् अनित्य है तथापि प्रयत्नान्तरीयक नहीं है। आकाशादि भी विपक्ष है, किन्तु उनमें अनित्यत्व हेतु नहीं रहता है। विपक्ष के एक देश में रहने से अनित्यत्व हेतु असत् है। यदि असत्त्व के पूर्व 'एव' शब्द का प्रयोग किया जाता तो उसका अर्थ होता 'जो विपक्ष में ही नहीं है वह हेतु है' अर्थात् सपक्ष में तो है ही, विपक्ष में ही नहीं है। ऐसी स्थिति में 'शब्द अनित्य है, प्रयत्नान्तरीयक होने से' इस वाक्य में प्रयत्नान्तरीयक हेतु विद्युत् आदि में भी नहीं है, अतः वह भी फिर हेतु नहीं हो सकता था। अतः 'एव' का प्रयोग 'असत्त्व' के पूर्व नहीं किया गया। निश्चित शब्द के द्वारा 'सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिक' नामक अनैकान्तिक हेतु (हेत्वाभास) का निरास किया गया है, यथा - 'यह असर्वज्ञ है क्योंकि वक्ता है' इसमें वक्तृत्व हेतु की असर्वज्ञ के विपक्ष सर्वज्ञ से व्यावृत्ति संदिग्ध है, अतः वक्तृत्व हेतु असत् है।<sup>१०२</sup>

इस प्रकार बौद्ध मत में त्रैरूप्य ही हेतु के असिद्ध, विरुद्ध एवं अनैकान्तिक दोषों का परिहार करने में समर्थ है, अतः त्रैरूप्य को ही हेतु का लक्षण अंगीकार किया गया है।

### जैनमत में हेतुलक्षण

जैनदर्शन में सर्वप्रथम सिद्धसेन के न्यायावतार में अन्यथानुपपत्ति को हेतु का लक्षण कहा गया है<sup>१०३</sup> संभव है सिद्धसेन के पूर्व भी किसी अन्य जैन आचार्य ने हेतु का लक्षण अन्यथानुपपन्नत्व या अविनाभावित्व प्रतिपादित किया हो, किन्तु उसका उल्लेख सम्प्रति अनुपलब्ध है। सिद्धसेन के अनन्तर

१०१. (१) प्रमाणमीमांसा, १.२.९ पृ. ३९-४०

(२) तुलनीय- तस्मिन् एव सत्त्वं निश्चितमिति द्वितीयं रूपम् । इहापि सत्त्वग्रहणेन विरुद्धो निरस्तः । स हि नास्ति सपक्षे । एवकारेण साधारणानैकान्तिकः । स हि न सपक्ष एव वर्तते किन्तु धयत्रापि । सत्त्वग्रहणात् पूर्वविधारणवचनेन सपक्षा-व्यापिसत्ताकस्यापि प्रयत्नान्तरीयकस्य हेतुत्वं कथितम् । पश्चाद् अवधारणे त्वयमर्थः स्यात्- सपक्षे सत्त्वमेव यस्य स हेतुरिति प्रयत्नान्तरीयकत्वं न हेतुः स्यात् निश्चितवचनेन सन्दिग्धान्वयोऽनैकान्तिको निरस्तः । यथा सर्वज्ञः कश्चिद् वक्तृत्वात् । वक्तृत्वं हि सपक्षे सर्वज्ञे सन्दिग्धम् ।— धर्मोत्तर, न्यायबिन्दुटीका, २.५ पृ. १०७

१०२. (१) प्रमाणमीमांसा, १.२.९, पृ. ४०

(२) तुलनीय- तस्मिन् असत्त्वमेव निश्चितं तृतीयं रूपम् । तत्रासत्त्वग्रहणेन विरुद्धस्य निरासः । विरुद्धो हि विपक्षेऽस्ति । एवकारेण साधारणस्य विपक्षैकदेशत्वेन निरासः । प्रयत्नान्तरीयकत्वे साध्ये ह्यनित्यत्वं विपक्षैकदेशे विद्युदादौ अस्ति । आकाशादौ नास्ति । ततो नियमेनास्य निरासः । असत्त्वशब्दाद् हि पूर्वस्मिन् अवधारणेऽयमर्थः स्यात्विपक्ष एव यो नास्ति स हेतुः । तथा च प्रयत्नान्तरीयकत्वं सपक्षेऽपि सर्वत्र नास्ति । ततो न हेतुः स्यात् । ततः पूर्व न कृतम् । निश्चितग्रहणेन सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकोऽनैकान्तिको निरस्तः ।— धर्मोत्तर, न्यायबिन्दुटीका, २.५ पृ. १०८-१०९

१०३. अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोरलक्षणमीरितम् ।- न्यायावतार, २२

पात्रस्वामी एक ऐसे दार्शनिक हुए हैं जिन्होंने बौद्धसम्मत त्रैरूप्य लक्षण का खण्डन कर अन्यथानुपपन्नत्व लक्षण का बलवत् रूप में स्थापन किया है। शान्तरक्षित जैसे बौद्ध तार्किकों को भी पात्रस्वामी के खण्डन का प्रत्युत्तर देने के लिए लेखनी उठानी पड़ी।<sup>१०४</sup> किन्तु पात्रस्वामी की वह रचना त्रिलक्षणकदर्थन सम्प्रति अनुपलब्ध है। अकलङ्क ने भी साध्य के अभाव में हेतु का होना अनुपपन्न बतलाया है।<sup>१०५</sup> अकलङ्क कहते हैं कि साध्य-अर्थ के अभाव में जिसका अभाव होना निश्चित है, ऐसे एक लक्षण वाला हेतु होता है।<sup>१०६</sup> आचार्य विद्यानन्द भी हेतु का अन्यथानुपपन्न लक्षण ही अंगीकार करते हैं<sup>१०७</sup> तथा उन्होंने जैनाचार्य कुमारनन्दी के हेतुलक्षण को भी उद्धृत किया है, जिसके अनुसार भी अन्यथानुपपत्ति स्वरूप एक लक्षण वाले हेतु को ही स्वीकार किया गया है।<sup>१०८</sup>

हेतु-लक्षण की यही सरणि माणिक्यनन्दी, देवसूरि, हेमचन्द्रादि उत्तरवर्ती जैनदार्शनिकों द्वारा भी अपनायी गयी है। इन दार्शनिकों ने अकलङ्ककृत निश्चय अथवा निश्चित शब्द के प्रयोग का भी हेतुलक्षण में आदान कर लिया है। यथा माणिक्यनन्दी एवं हेमचन्द्र के अनुसार 'जिसका साध्य के साथ अविनाभावित्व निश्चित हो वह हेतु है।'<sup>१०९</sup> देवसूरिके शब्दों में 'निश्चित अन्यथानुपपत्ति रूप एक लक्षण वाला हेतु होता है।'<sup>११०</sup>

जैनदार्शनिकों ने इसी लक्षण द्वारा हेतु के अन्वय एवं व्यतिरेक दोनों रूपों का ग्रहण कर लिया है। अन्वय का ग्रहण वे हेतु के तथोपपत्ति रूप द्वारा करते हैं तथा व्यतिरेक का ग्रहण अन्यथानुपपत्ति रूप द्वारा। साध्य के अभाव में हेतु का अभाव अन्यथानुपपत्ति प्रयोग है तथा साध्य के होने पर ही हेतु का होना तथोपपत्ति प्रयोग है।

### जैनदार्शनिकों द्वारा बौद्ध हेतु-लक्षण का खण्डन

जैन दार्शनिकों की यह दृढ़ धारणा है कि त्रिरूपता के अभाव में भी हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव हो सकता है तथा त्रिरूपता के सद्भाव में भी हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव नहीं रह पाता है, अतः त्रिरूपता को हेतुका लक्षण नहीं माना जा सकता। हेतु का एक ही लक्षण मान्य है, वह है उसका साध्य के साथ अन्यथानुपपन्नत्व अथवा अविनाभाव। यही तथ्य उनके द्वारा बौद्धों का खण्डन करने से फलित होता है। प्रमुखरूप से जैनाचार्य पात्रस्वामी, अकलङ्क, विद्यानन्द, अभयदेवसूरि, प्रभाचन्द्र, वादिदेवसूरि एवं हेमचन्द्र ने अपने ग्रंथों में बौद्ध हेतुलक्षण का निरसन किया है। पात्रस्वामी

१०४. द्रष्टव्य, तत्त्वसंग्रह, १३६३-१४२८

१०५. साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्नत्वम् ।— प्रमाणसंग्रह, २१, न्यायविनिश्चय, २६९

१०६. साध्यार्थाऽसम्भवाभावनियमनिश्चयैकलक्षणो हेतुः ।— प्रमाणसंग्रहवृत्ति, २१

१०७. तदेवमन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चय एवैकं साधनस्य लक्षणं प्रधानम् ।— प्रमाणपरीक्षा, पृ. ४९

१०८. अन्यथानुपपत्यैकलक्षणं लिङ्गमंग्यते ।— प्रमाणपरीक्षा, पृ. ४९

१०९. (१) साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः ।— परीक्षामुख, ३.११

(२) स्वनिश्चितसाध्याविनाभावैकलक्षणात् ।— प्रमाणमीमांसा, १.२.९

११०. निश्चितान्यथानुपपत्यैकलक्षणो हेतुः ।— प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.११

का ग्रन्थ अनुपलब्ध है, किन्तु बौद्धाचार्य शान्तरक्षित ने उनके मत का तत्त्वसङ्ग्रह में उपन्यास किया है, अतः उसी आधार पर पात्रस्वामी कृत खण्डन को यहां प्रस्तुत किया जा रहा है। प्रभाचन्द्र एवं वादिदेव के ग्रंथों में उनके पूर्ववर्ती आचार्यों के तर्कों का ही आलम्बन लिया गया है, अतः यहां प्रभाचन्द्र एवं वादिदेवसूरि की चर्चा नहीं की गयी है।

बौद्ध त्रैरूप्य हेतुलक्षण का खण्डन करने वाले जैन दार्शनिकों में पात्रस्वामी अथवा पात्रकेसरी को सर्वाधिक महत्त्व दिया जा सकता है, क्योंकि उन्होंने बौद्ध त्रैरूप्य का खण्डन करने के लिये 'त्रिलक्षणकदर्थन'<sup>१११</sup> नामक पृथक् ग्रंथ की रचना की जिसका प्रभाव शान्तरक्षित जैसे बौद्ध तार्किक पर भी हुआ। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि अकलङ्क, विद्यानन्द, अभयदेव, प्रभाचन्द्रादि उत्तरवर्ती जैन दार्शनिकों द्वारा किये गये त्रैरूप्य खण्डन में पात्रस्वामी कृत खण्डन मार्गदर्शक बना। बौद्ध त्रैरूप्य के खण्डनार्थ प्रयुक्त एक कारिका को उनके उत्तरवर्ती लगभग सभी जैन दार्शनिकों ने उद्धृत किया है, जिसमें यह प्रतिष्ठित किया गया है कि जहां हेतु में अन्यथानुपपन्नत्व है वहां त्रिलक्षणता का कोई प्रयोजन नहीं है तथा जिस हेतु में अन्यथानुपपन्नत्व नहीं है उस हेतु में भी त्रिलक्षणता निरर्थक है।<sup>११२</sup> वह कारिका है-

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ?

नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ?<sup>११३</sup>

सम्प्रति पात्रस्वामी विरचित ग्रन्थ त्रिलक्षणकदर्थन अनुपलब्ध है इसलिए उनके द्वारा किये गये बौद्ध त्रैरूप्य-निरसन को बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित की कृति तत्त्वसङ्ग्रह से प्रस्तुत किया जा रहा है।

अन्यथानुपपन्न हेतु ही सदहेतु है, त्रिलक्षण हेतु नहीं, क्योंकि तत्पुत्रत्वादि हेतुओं में त्रिलक्षणता के होने पर भी अन्यथानुपपन्नत्व के अभाव में सदहेतुता नहीं है, अतः त्रिलक्षणता निष्फल है।<sup>११४</sup> जिस प्रकार लोक में तीन पुत्रों के पिता को एक सुपुत्र के नाम से पुकारा जाता है उसीप्रकार तीन रूपों में भी अन्यथानुपपत्ति लक्षण से ही हेतु को जाना जाता है।<sup>११५</sup> हेतु के तीन रूपों में अविनाभाव सम्बन्ध मानना उचित नहीं है, क्योंकि साध्य के अभाव में नहीं होना मात्र एक अंग ही सद्हेतु में उपलब्ध

१११. इस ग्रन्थ के नामोल्लेखार्थ द्रष्टव्य, अनन्तवीर्य कृत सिद्धिविनिश्चयटीका, ६.२, पृ. ३७१-७२

११२. उद्धृत (१) अकलङ्क, न्यायविनिश्चय २.१५४-५५

(२) विद्यानन्द, प्रमाणपरीक्षा, पृ. ४९

(३) वादिदेवसूरि, स्याद्वादरत्नाकर, पृ. ५२१

(४) हेमचन्द्र, प्रमाणमीमांसा, पृ. ४०

११३. इस कारिका के आधार पर विद्यानन्द ने पांचरूप्य के निरसनार्थ नयी कारिका का उद्घृकन किया है-

अन्यथानुपपन्नत्वं रूपैः किं पञ्चभिः कृतम् ।

नान्यथानुपपन्नत्वं रूपैः किं पञ्चभिः कृतम् ॥- प्रमाणपरीक्षा, पृ. ४९

११४. अन्यथानुपपन्नत्वे ननु दृष्टा सुहेतुता ।

नासति त्र्यंशकस्यापि तस्मात् क्लीबाञ्जिलक्षणाः ॥- तत्त्वसंग्रह, १३६३

११५. यथा लोके त्रिपुत्रः सनेकपुत्रक उच्यते ।

तस्यैकस्य सुपुत्रत्वात् तथेहापि च दृश्यताम् ॥- तत्त्वसङ्ग्रह, १३६५

होता है।<sup>११६</sup> जिस हेतु में साध्य के साथ अन्यथानुपपन्नत्व है वही सदहेतु है उसके साथ साधर्म्य एवं वैधर्म्य दोनों के दृष्टान्त हों या न हों उनसे कोई अन्तर नहीं आता, क्योंकि वे सुहेतुता के कारण नहीं हैं।<sup>११७</sup> जिस हेतु में अन्यथानुपपन्नत्व है, उसमें त्रैरूप्य का कोई प्रयोजन नहीं है तथा जिस हेतु में अन्यथानुपपन्नत्व नहीं है उसमें भी त्रैरूप्य का होना कोई अर्थ नहीं रखता।<sup>११८</sup> वह श्यामवर्ण है उस (मैत्री) का पुत्र होने से, उसके अन्य पुत्रों के समान। उसके अन्य पुत्र भी श्याम वर्ण देखे गये हैं। यह त्रिलक्षण युक्त हेतु साध्य का निश्चय नहीं करा पाता, अतः अविनाभाव के अभाव में त्रिरूपता निरर्थक है।<sup>११९</sup>

जिसमें एक अन्यथानुपपन्नत्व युक्त पक्षधर्मत्व लक्षण है, किन्तु साधर्म्य एवं वैधर्म्य दृष्टान्त से रहित है फिर भी वह सद हेतु है, यथा 'भाव एवं अभाव कथञ्चित् सदात्मक हैं, कथञ्चित् उपलब्ध होने से।' भाव एवं अभाव में समस्त पदार्थ पक्ष बन जाते हैं, अतः सपक्षसत्त्व एवं विपक्षासत्त्व का अभाव रहता है। इस प्रकार एक पक्षधर्मत्वयुक्त अन्यथानुपपन्नत्व लक्षण से भी हेतु साध्य का गमक हो जाता है।<sup>१२०</sup>

दो लक्षण वाले हेतु भी सद्हेतु हो सकते हैं। यथा- (१) 'अचन्द्र शशलाञ्छन युक्त नहीं होता, चन्द्रमा शशलाञ्छन युक्त होता है, क्योंकि चन्द्र नाम से वह लोक में प्रसिद्ध है।' इस हेतु में शशी पक्ष है इसका कोई सपक्ष नहीं है, किन्तु लोष्ठ आदि विपक्ष में यह हेतु नहीं जाता है। (२) मेरी यह वेदना पतंगे के द्वारा काटे जाने से हुई है, क्योंकि पतंगे के स्पर्श से यह स्थान फूला हुआ है। इस हेतु का भी कोई सपक्ष नहीं है। इसलिये यह भी द्विरूप हेतु है। (३) रूप को ग्रहण करने में चक्षु अतिशयशक्तिमान् है, क्योंकि उसका देखने हेतु 'करण' के रूप में उपयोग किया जाता है। इस हेतु में चक्षु का कोई सपक्ष नहीं है, विपक्ष श्रोत्रादि में यह हेतु नहीं रहता है। इस प्रकार यह भी द्विरूप हेतु है। इस प्रकार इन तीनों हेतुओं में सपक्षसत्त्व नहीं है तथापि ये सदहेतु हैं।<sup>१२१</sup> आत्मघटादि कथञ्चित् असत्त्वरूप है, क्योंकि कथञ्चित् उपलब्ध नहीं होते हैं, खरश्रृंग के समान। कथञ्चित् शशश्रृंगादि भी सत् स्वरूप हैं, क्योंकि कथञ्चित् उपलब्ध होते हैं, जिस प्रकार कि आत्मघटादि। इन हेतुओं में

११६. अविनाभावसम्बन्धस्मिरूपेषु न जातुचित्।

अन्यथाऽसम्भवैकाङ्गहेतुष्वेवोपलभ्यते ॥— तत्त्वसङ्ग्रह, १३६६

११७. अन्यथानुपपन्नत्व यस्य तस्यैव सुहेतुता।

दृष्टान्तौ द्वावपि स्तां वा मा वा तौ हि न कारणम् ॥— तत्त्वसङ्ग्रह, १३६७

११८. अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।

नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥— तत्त्वसङ्ग्रह, १३६८

११९. स श्यामस्तस्य पुत्रत्वाद् दृष्टा श्यामा यथेतेरे।

इति त्रिलक्षणो हेतुर्न निश्चित्यै प्रवर्तते ॥— तत्त्वसङ्ग्रह, १३६९

१२०. तत्रैकलक्षणो हेतुर्दृष्टान्तद्वयवर्जितः।

कथञ्चिदुपलभ्यत्वाद् भावाभावी सदात्मकौ ॥— तत्त्वसङ्ग्रह, १३७०

१२१. तत्त्वसङ्ग्रह, १३७१-१३७३



विपक्षासत्त्व का अभाव है।<sup>१२२</sup> इसी प्रकार शब्द, दीप आदि वस्तुओं में पक्षधर्मत्व के अभाव में भी अन्यथानुपपत्ति से ही ज्ञापकता देखी गयी है।<sup>१२३</sup> इसलिए प्राधान्य के कारण एक अविनाभावित्व लक्षण वाला ही हेतु गमक है। पक्षधर्मत्व आदि अन्य लक्षणों की व्यर्थ परिकल्पना से कोई लाभ नहीं है।<sup>१२४</sup>

**भट्ट अकलङ्कदेव** ने ऐसे अनेक हेतु प्रस्तुत किये हैं जिनमें पक्षधर्मत्वादि रूपत्रय का अभाव है तथापि वे हेतु साध्याविनाभाव के कारण साध्य के गमक हैं। यथा एक मुहूर्त पश्चात् शकट नक्षत्र का उदय होगा, क्योंकि अभी कृत्तिका का उदय है।<sup>१२५</sup> कृत्तिकोदय हेतु में पक्षधर्मत्वादि का अभाव है तथापि यह शकट साध्य का पूर्वचर रूप में अविनाभावी होने से उसका गमक है। इसी प्रकार चन्द्र आदि से जल में पड़ने वाले उसके प्रतिबिम्ब का ज्ञान,<sup>१२६</sup> तुला के एक पलड़े के ऊपर उठने से उसके दूसरे पलड़े के नीचे जाने का अनुमान,<sup>१२७</sup> कल उदित होने वाले सूर्योदय का अनुमान,<sup>१२८</sup> चन्द्रादि के अर्वाक् भाग को देखकर परभाग का अनुमान<sup>१२९</sup> आदि ऐसे अनेक अनुमित-साधक हेतु हैं जिनमें पक्षधर्मत्वादि रूपत्रय का अभाव है।

**अकलङ्क** का मन्तव्य है कि अन्यथानुपपत्ति रूप एकलक्षण के सामर्थ्य से ही विरुद्ध, अनैकान्तिक, असिद्ध, अज्ञात, अकिञ्चिकर आदि समस्त हेत्वाभासों का निराकरण हो जाता है।<sup>१३०</sup> बौद्धों ने असिद्ध, विरुद्ध, एवं अनैकान्तिक रूप तीन हेत्वाभासों का निराकरण करने के लिए तीन रूपों पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व एवं विपक्षासत्त्व को आवश्यक माना है, किन्तु **अकलङ्क** का मत है कि एक अन्यथानुपपत्ति लक्षण के अभाव में पक्षधर्मत्वादि त्रिलक्षण साध्य के गमक नहीं होते।<sup>१३१</sup>

**विद्यानन्द** ने त्रिलक्षणत्व को दो कारणोंसे अनुपपन्न सिद्ध किया है। पहला तो यह है कि वह हेत्वाभास में भी पाया जाता है और दूसरा यह है कि वह हेतु का असाधारण लक्षण नहीं है।<sup>१३२</sup>

१२२. तत्त्वसंग्रह, १३७४-१३७५

१२३. अन्यथानुपपत्त्यैव शब्ददीपादिवस्तुषु।

अपक्षधर्मभावेऽपि दृष्टा ज्ञापकतापि च ॥— तत्त्वसङ्ग्रह, १३७७

१२४. (१) तैकलक्षणो हेतुः प्राधान्याद् गमकोऽस्तु नः।

पक्षधर्मादिभिस्त्वन्यैः किं व्यर्थैः परिकल्पितैः ॥— तत्त्वसङ्ग्रह, १३७८

(२) शान्तरक्षित ने पात्रस्वामी के मत का खण्डन किया है। तदर्थं द्रष्टव्यं, तत्त्वसंग्रह, १३७९-१४२८

१२५. भविष्यत्प्रतिपद्येत शकटं कृत्तिकोदयात्।— लघीयस्त्रय, १४

१२६. चन्द्रादेर्जलचन्द्रादिप्रतिपत्तिस्तथानुमा।— लघीयस्त्रय, १३

१२७. परम्पराविनाभूतौ नामौ-नामौ तुलान्तयोः।— सिद्धिविनिश्चय ६.१५ एवं न्यायविनिश्चय, २.१६९

१२८. श्व आदित्य उदेतेति ग्रहणं वा भविष्यति ॥— लघीयस्त्रय, १४

१२९. चन्द्रादेर्वाग्भागदर्शनात् परभागोऽनुमीयते।— सिद्धिविनिश्चय वृत्ति, ६.२, पृ. ३७३

१३०. एकलक्षणसामर्थ्याद् हेत्वाभासाः निवर्तिताः।

विरुद्धानैकान्तिकासिद्धाज्ञाताकिञ्चित्करादयः ॥— सिद्धिविनिश्चय, ६.३२

१३१. न ह्येकलक्षणाभावे त्रिलक्षणं गमकम्।— सिद्धिविनिश्चय, वृत्ति, पृ. ४३०

१३२. न तद्युक्तं हेत्वाभासेऽपि संभवात्।

असाधारणतापायाल्लक्षणत्वविरोधतः।— तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१३.१२५

विद्यानन्द के अनुसार त्रिलक्षण हेतु अनुपपन्न है, क्योंकि सपक्षसत्त्व, पक्षधर्मत्व एवं विपक्ष में असत्त्व ये तीनों लक्षण हेत्वाभास में भी पाये जाते हैं, यथा 'वह श्यामवर्ण है, उसका पुत्र होने से, उसके अन्यपुत्रों के समान' इस वाक्य में पक्षधर्मत्वादि तीनों रूपों का सद्भाव है तथापि यह सद्हेतु नहीं हेत्वाभास है।<sup>१३३</sup> उसके अन्य पुत्र सपक्ष, विवादाध्यासित पुत्र पक्ष तथा अश्याम अन्य पुत्र 'तत्पुत्रत्व' हेतु का विपक्ष है। यह हेतु एवं सपक्ष में रहता है, किन्तु विपक्ष में नहीं रहता। इस प्रकार त्रिरूप सम्पन्न होकर भी यह अविनाभाव के अभाव में हेत्वाभास है।

'उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात्' अर्थात् 'एक मुहूर्त पश्चात् शकट नक्षत्र का उदय होगा, क्योंकि अभी कृत्तिका नक्षत्र का उदय हुआ है' इस वाक्य में पक्षधर्मत्व का अभाव होने पर भी कृत्तिकोदय हेतु शकटोदय साध्य का गमक सिद्ध होता है।<sup>१३४</sup> यदि आकाश अथवा काल को पक्ष तथा उदय होने वाले शकट को साध्य मानकर कृत्तिकोदय हेतु में पक्षधर्मत्व अंगीकार किया जाता है<sup>१३५</sup> तो इस प्रकार तो पृथ्वी को पक्ष मानकर महोदधि अग्नि रूप साध्य को सिद्ध करने के लिए महानस के धूम को हेतु बनाया जा सकता है, क्योंकि वह धूम हेतु भी पृथ्वी रूप पक्ष में विद्यमान है।

**बौद्ध** — शकटोदय एवं कृत्तिकोदय में कारणकार्य भाव के कारण अविनाभाविता है, पूर्वचर होने के कारण नहीं।<sup>१३६</sup> शकटोदय, कृत्तिकोदय का भावी कारण है तथा कृत्तिकोदय उसका कार्य, अतः कृत्तिकोदय कार्य से शकटोदय कारण का अनुमान होता है। इसी प्रकार अतीत कारण भरण्युदय से भी कृत्तिकोदय कार्य का अनुमान शक्य है। अतीत एवं अनागत कारण का कार्य से अन्वयव्यातिरेक सम्बन्ध हो सकता है।

**विद्यानन्द** — भिन्न कालवर्ती अतीत या अनागत पदार्थ, कार्य का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वैसी प्रतीति ही नहीं होती है तथा किसी विद्यमान अर्थ का ही कार्योत्पादन में व्यापार हो सकता है, अविद्यमान या अनागत का नहीं। अतएव कृत्तिकोदय और शकटोदय में कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता है। यदि इनमें कार्यकारणभाव मान लिया जाय तो भी कृत्तिकोदय हेतु में पक्षधर्मत्व नहीं है एवं वह हेतु पक्षधर्मता के बिना भी साध्य का साधक होता है। अतः 'पक्षधर्मत्व' हेतु का लक्षण नहीं है।

इसी प्रकार सपक्ष में ही हेतु का होना निश्चित हो, यह लक्षण भी घटित नहीं होता है। सपक्षसत्त्व के अभाव में भी 'समस्त पदार्थ अनित्य हैं, सत्त्व होने से' वाक्य में सत्त्वहेतु बौद्धों के द्वारा भी सम्यक् माना गया है। 'विपक्ष में हेतु का न होना ही निश्चित हो' यह लक्षण साध्याविनाभाव रूप ही है, अतः निश्चित रूपेण साध्याविनाभाव को ही हेतु का लक्षण मानना चाहिए अन्य लक्षणों को मानने का कोई

१३३. "स श्यामः तत्पुत्रत्वात् इतरतत्पुत्रवत्" इत्यत्र साधनाभासेऽपि तद्भावसिद्धेः ।— प्रमाणपरीक्षा, पृ. ४५

१३४. उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयादित्यस्य पक्षधर्मत्वाऽभावेऽपि प्रयोजकत्वव्यवस्थितेः ।— प्रमाणपरीक्षा, पृ. ४६

१३५. धर्मकीर्ति के टीकाकार कर्णकगोमि ने कृत्तिकोदय हेतु में काल या आकाश को पक्ष बनाकर पक्षधर्मत्व घटित किया है ।— अकलङ्कग्रन्थत्रय, प्रस्तावना, पृ. ६२

१३६. भविष्यच्छकटकृत्तिकोदययोः कार्यकारणभावं साधयति ।— प्रमाणपरीक्षा, पृ. ४६

अर्थ नहीं है ।<sup>१३७</sup>

**बौद्ध** - पक्षधर्मत्व से असिद्ध हेत्वाभास, सपक्ष-सत्त्व से विरुद्ध हेत्वाभास तथा विपक्षासत्त्व से अनैकान्तिक हेत्वाभास का निराकरण होता है । अतः तीन हेत्वाभासों का निराकरण करने के लिए त्रैरूप्य हेतुलक्षण उपपन्न है ।<sup>१३८</sup>

**विद्यानन्द** - बौद्ध कथन उचित नहीं है, क्योंकि हेतु के एक लक्षण अन्यथानुपपत्ति के निश्चय से ही असिद्ध, विरुद्ध एवं अनैकान्तिक इन तीनों दोषों या हेत्वाभासों का परिहार हो जाता है । जो हेतु स्वयं असिद्ध होता है उसमें अन्यथानुपपत्ति नियम का निश्चय होना संभव नहीं है । अनैकान्तिक एवं विरुद्ध हेतुओं में भी अन्यथानुपपन्नत्व घटित नहीं होता है । अन्यथानुपपन्नत्व का ही दूसरा रूप तथोपपन्नत्व है जिसका अर्थ है-साध्य के होने पर ही हेतु का होना । इस प्रकार अन्यथानुपपत्ति लक्षण से ही असिद्धादि दोषत्रय का निराकरण हो जाता है ।

यदि पक्षधर्मत्व आदि रूपत्रय अविनाभाव नियम का विस्तार होने से हेतुलक्षण हो सकते हैं तो फिर बौद्धों के द्वारा क्यों नहीं नैयायिकों की भांति पांचरूप्य स्वीकार कर लिया जाता है ? नैयायिक पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व एवं विपक्षासत्त्व की भांति असत्प्रतिपक्षत्व एवं अबाधितविषयत्व को भी हेतुलक्षण स्वीकार करते हैं । ये पांचों रूप भी अविनाभाव नियम के ही विस्तार हैं, किन्तु पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व आदि के अभाव में भी साध्याविनाभावी हेतु साध्य का गमक होने से सद्हेतु हो सकता है । अतः यह विस्तार मानना उचित नहीं है ।<sup>१३९</sup>

**बौद्ध** - पक्षधर्मत्वादि तीन रूपों के होने पर ही हेतु में अन्यथानुपपन्नत्व या साध्य के साथ प्रतिबन्ध देखा जाता है इसलिए तीन रूप मानना आवश्यक है ।

**विद्यानन्द** - काल, आकाश आदि को भी फिर तो अविनाभाव का विस्तार माना जा सकता है, क्योंकि उनके होने पर ही अन्यथानुपपन्नत्व देखा जाता है । यदि काल, आकाश आदि हेतु-अहेतु में समान होने से हेतुलक्षण नहीं कहे जा सकते, तो पक्षधर्मत्वादि में भी यह बात समान है । पक्षधर्मत्व आदि भी हेतु-अहेतु में साधारण रूपेण पाये जाते हैं<sup>१४०</sup> तथा असाधारण स्वभाव ही लक्षण कहा जा सकता है, क्योंकि वह व्यभिचार रहित होता है, यथा अग्नि का असाधारण स्वभाव उष्णता उसका लक्षण है । त्रैरूप्य, हेतु का असाधारण स्वभाव नहीं है, क्योंकि वह हेत्वाभास में भी पाया जाता है अतः उसे हेतु का लक्षण नहीं कहा जा सकता ।<sup>१४१</sup>

१३७. प्रमाणपरीक्षा, पृ. ४७-४८

१३८. हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निर्णयस्तेन वर्णितः ।

असिद्धविपरीतार्थव्यभिचारिविपक्षतः ॥— प्रमाणवार्तिक ३.१५, उद्धृत, प्रमाणपरीक्षा, पृ. ४८

१३९. प्रमाणपरीक्षा, पृ. ४८

१४०. द्रष्टव्य, प्रमाणपरीक्षा, पृ. ४८-४९

१४१. असाधारणो हि स्वभावो भावलक्षणमव्यभिचारदग्नेरौष्ण्यवत् । न च त्रैरूप्यस्यासाधारणता तद्धेतौ तदाभासेऽपि तस्य समुद्भवात् । ततो न तद्हेतुलक्षणं युक्तं पंचरूपत्वादिवत् ॥— तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, भाग-३, पृ. २७३

अभयदेवसूरि ने भी बौद्ध हेतुलक्षण पर विचार किया है तथा उसे असम्यक् निर्धारित कर 'अन्यथानुपपन्नत्व' लक्षण वाले हेतु को सम्यक् सिद्ध किया है। अभयदेवसूरि कहते हैं कि 'जिस हेतु में साध्य के साथ अविनाभाव है, उसमें त्रिरूपता अवश्यम्भावी है, अतः त्रैरूप्य ही हेतु का लक्षण है' - बौद्धों की यह मान्यता असमीचीन है 'क्योंकि 'सब पदार्थ अनेकान्त हैं अथवा क्षणिक हैं, सत्त्व होने से' इस वाक्य में अनेकान्तता अथवा क्षणिकता की सिद्धि में दिया गया 'सत्त्व हेतु' सपक्ष रहित है तो भी वह अपने साध्य का गमक है। 'ध्वनि परिणामी अथवा क्षणिक है, श्रावण होने से' इस अनुमानवाक्य में भी श्रावणत्व हेतु अन्वय (सपक्ष) रहित है। अनित्यता के बिना श्रावणत्व संभव नहीं है, क्योंकि नित्य पदार्थ से श्रवणज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'समस्त धूम, अग्नि के बिना संभव नहीं है' इस व्याप्ति साधन में भी अन्वय (सपक्ष) संभव नहीं है, और सपक्ष के सिद्ध हुए बिना अभिमत प्रदेश में धूम से अग्नि का निश्चय सर्वत्र असंभव है और तब कार्य एवं स्वभाव हेतु अपने साध्य के गमक नहीं हो सकते।<sup>१४२</sup> यहां 'घट नहीं है, उपलब्धिलक्षण प्राप्त घट के अनुपलब्ध होने से' इस अनुपलब्धि हेतु में भी दृष्टान्त का अभाव होने से सपक्ष सिद्ध नहीं है। शशश्रृंगादि का दृष्टान्त देने पर तो अनवस्था दोष की प्रसक्ति होती है।<sup>१४३</sup>

अन्वय (सपक्ष) के बिना, अविनाभाव मात्र से हेतु को गमक मानते हैं तो बौद्धों का यह कथन कि "अन्वय के बिना व्यतिरेक साध्य का गमक नहीं होता" खण्डित हो जाता है तथा "यह जीवनयुक्त शरीर निरात्मक नहीं है, प्राणादिमान् होने से" यह व्यतिरेकी हेतु भी गमक सिद्ध होता है।<sup>१४४</sup>

पक्षधर्मत्व लक्षण के अभाव में भी हेतु साध्य का गमक होता है, यथा-"कल सूर्योदय होगा, क्योंकि आज सूर्योदय हुआ है", "समुद्र में ज्वार आया है, क्योंकि चन्द्रमा का उदय दिखाई दे रहा है" इत्यादि प्रयोगों में पक्षधर्मता का अभाव है तथापि ये हेतु अपने साध्य के गमक हैं। यदि काल अथवा देश को उनका पक्ष मानकर पक्षधर्मता स्वीकार करते हैं तो यह बौद्धों को अभीष्ट नहीं है।<sup>१४५</sup>

अभयदेवसूरि बौद्ध तत्त्वमीमांसा के आधार पर पक्षधर्मत्व लक्षण का खण्डन करते हुए कहते हैं कि बौद्धाभ्युपगत हेतु में पक्षधर्मता संभव नहीं है, क्योंकि सामान्य को अवस्तुरूप मानने के कारण वे शश श्रृंगादि के समान हेतु में पक्षधर्मता नहीं मान सकते, स्वलक्षण को हेतु मानने पर तो पक्ष ही हेतु हो जायेगा अतः उसमें भी पक्षधर्मता संभव नहीं है। स्वलक्षण के अन्यत्र अनुगम नहीं करने के कारण उसमें सपक्ष भी सिद्ध नहीं होता।<sup>१४६</sup>

जिस रूप के अनुवाद से हेतु का स्वरूप दिखाई देता है उसी का लक्षण के रूप में कथन करना

१४२. बौद्धों के अनुसार हेतु के तीन भेद हैं- १. कार्य २. स्वभाव एवं ३. अनुपलब्धि।

१४३. तत्त्वबोधविधायिनी, पृ. ५९०

१४४. तत्त्वबोधविधायिनी, पृ. ५९१

१४५. तत्त्वबोधविधायिनी, पृ. ५९१

१४६. तत्त्वबोधविधायिनी, पृ. ५९१-९२

चाहिए। अविनाभावित्व रूप के अनुवाद मात्र से हेतु का लक्षण परिसमाप्त हो जाता है। इसलिए पक्षधर्मत्वादि को हेतु का लक्षण कहना उचित नहीं है। यदि हेतु अविनाभावी होकर भी पक्षधर्मत्वादि के अभाव में साध्य का गमक नहीं होता है तो यह मंतव्य उचित नहीं है, क्योंकि यह परस्पर विरुद्ध होने से व्याहत होता है। साध्य के बिना अविनाभावित्व नहीं होता है, जबकि अगमकता साध्य के बिना भी संभव है।<sup>१४७</sup> अभयदेवसूरि के मत में सपक्षसत्त्व आदि का ज्ञान अविनाभावित्व लक्षण से ही हो जाता है।<sup>१४८</sup>

अभयदेवसूरि यह भी स्पष्ट करते हैं कि साध्यदेश में स्थित लिङ्ग ही साध्य का गमक होता है। समुद्र में दिखाई देने वाला धूम वहां अग्नि का गमक नहीं होता, क्योंकि धूम अपने देश में स्थित साध्य का ही अविनाभावी होता है, समुद्रादि में नहीं और इसकी प्रतिपत्ति हेतु के साध्याविनाभावित्व रूप से ही हो जाती है।<sup>१४९</sup>

जैनदर्शन के प्रमुख टीकाकार प्रभाचन्द्र एवं वादिदेवसूरि ने भी त्रैरूप्य का खण्डन कर निश्चित अन्यथानुपपन्नत्व नामक एक लक्षण वाले हेतु का स्थापन किया है, किन्तु उनके ग्रंथों में अकलङ्क एवं विद्यानन्द के तर्कों को ही भंग्यन्तर से प्रस्तुत किया गया है।<sup>१५०</sup> अतः यहां उन पर पृथक् विचार नहीं किया गया है।

हेमचन्द्राचार्य कहते हैं कि बौद्धों द्वारा प्रतिपादित हेतु का त्रिरूपलक्षण अयुक्त है, क्योंकि हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव निश्चित होने से ही असिद्ध, विरुद्ध एवं अनैकान्तिक दोषों का परिहार हो जाता है। अविनाभाव का अर्थ है- साध्य के अभाव में हेतु का न होना। अर्थात् अन्यथानुपपन्नत्व ही अविनाभाव है। वह अविनाभाव असिद्ध, विरुद्ध एवं अनैकान्तिक हेत्वाभासों में नहीं पाया जाता है। त्रैरूप्य के होने पर भी यदि अविनाभाव नहीं हो तो हेतु साध्य का गमक नहीं होता है। यथा-“वह श्यामवर्ण है, मैत्र का पुत्र होने से, मैत्र के अन्य पुत्रों के समान” इस वाक्य में मैत्रपुत्रत्व हेतु पक्ष “वह” में विद्यमान है, सपक्ष ‘मैत्र के अन्य पुत्रों’ में विद्यमान है तथा विपक्ष “मैत्रतर पुरुष के गौरपुत्रों” में नहीं है। तथापि यह हेतु सद्देतु नहीं है। अर्थात् साध्य का गमक नहीं है। अतः हेतु की त्रिरूपता होने मात्र से कोई हेतु साध्य का गमक नहीं होता है।

यदि विपक्ष मैत्रतर पुरुष के पुत्रों से मैत्रतनयत्व हेतु की नियमवती व्यावृत्ति नहीं है अर्थात् मैत्र के अतिरिक्त पुरुष के भी पुत्र श्याम वर्ण के हो सकते हैं, अतः वह हेतु श्याम वर्ण बालक का गमक नहीं है।<sup>१५१</sup> तो फिर बौद्ध विपक्ष से व्यावृत्ति रूप अविनाभाव को ही हेतु का लक्षण क्यों नहीं मान

१४७. तत्वबोधविधायिनी, पृ. ५९२

१४८. तत्वबोधविधायिनी, पृ. ५९३

१४९. तत्वबोधविधायिनी, पृ. ५९३

१५०. द्रष्टव्य, न्यायकुमुदचन्द्र पृ. ४३८-४४१, प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-२ पृ. ३२१-३२८ तथा स्याद्वादरत्नाकर, पृ. ५१८-५२०

१५१. तुलनीय- तस्मान् नियमवतोरैवाव्यव्यतिरेकयोः प्रयोगः कर्तव्यो येन प्रतिबन्धो गम्येत साधनस्य साध्येन । न्यायबिन्दुटीका, २.५, पृ. ११०

लेते हैं ? क्योंकि पक्षधर्मत्व एवं सपक्षसत्त्व इन रूपद्वय के होने पर भी विपक्षव्यावृत्ति रूप के अभाव में हेतु अपने साध्य का गमक नहीं होता है, अतः नियमवती विपक्षव्यावृत्ति रूप अविनाभाव ही हेतु का प्रधान लक्षण होना चाहिए । विपक्ष से नियमवती व्यावृत्ति के होने पर अन्य दोनों पक्षधर्मत्व एवं सपक्षसत्त्व रूपों की अपेक्षा किये बिना भी हेतु साध्य का गमक हो जाता है ।<sup>१५२</sup> यहां हेमचन्द्र ने नियमवती विपक्षव्यावृत्ति को जैन सम्मत अविनाभाव का एकार्थक स्वीकार किया है ।

### समीक्षण

जैन दार्शनिकों द्वारा बौद्धों के त्रैरूप्य हेतु-लक्षण की आलोचना का अध्ययन करने पर विदित होता है कि जैन दार्शनिकों को हेतु में त्रैरूप्य के सद्भाव से कोई विरोध नहीं है, किन्तु त्रैरूप्य को हेतु का लक्षण मानने से विरोध है । उनके अनुसार पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व एवं विपक्षसत्त्व रूप त्रिरूपता का सद्भाव हेत्वाभास में भी देखा जाता है, इसलिए इसको हेतु का लक्षण नहीं कहा जा सकता । दूसरी बात यह है कि त्रिरूपता हेतु का असाधारण लक्षण नहीं है, क्योंकि उसके अभाव में भी हेतु अविनाभावित्व के कारण सद्हेतु हो सकता है । इसकी पुष्टि में उन्होंने अनेक उदाहरण दिये हैं, यथा “एक मुहूर्त पश्चात् शकट नक्षत्र का उदय होगा, क्योंकि अभी कृत्तिका नक्षत्र का उदय हुआ है” इस अनुमिति वाक्य में कृत्तिकोदय हेतु पक्षधर्मत्व रहित है, तथापि शकटोदय साध्य का अव्यभिचरित रूप से गमक है ।

विचारणीय यह है कि पक्षधर्मत्व के अभाव में बौद्ध दार्शनिक किसी भी हेतु को सद्हेतु नहीं मानते हैं, किन्तु जैनदार्शनिकों ने कृत्तिकोदय हेतु से शकटोदय साध्य की सिद्धि कर तथा जलचन्द्र से नभचन्द्र की अथवा नभचन्द्र से जलचन्द्र की अनुमिति प्रस्तुत करके हुते में पक्षधर्मता होने की आवश्यकता को खण्डित कर दिया है । कृत्तिकोदय हेतु का पक्ष शकटोदय साध्य नहीं होता है तथा आकाश भी उसका पक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि वह अन्य समस्त हेतुओं के लिए भी साधारण है । इसी प्रकार जलचन्द्र द्वारा नभचन्द्र या नभचन्द्र द्वारा जलचन्द्र का अनुमान भी पक्षधर्मत्व रहित है । बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित ने कृत्तिकोदय या शकटोदय को प्रभंजन का कारण मानकर कार्य हेतु सिद्ध किया है,<sup>१५३</sup> किन्तु शान्तरक्षित कृत खण्डन उपादेय, लोकव्यवहार्य एवं वस्तुभूत नहीं लगता । शान्तरक्षित ने जलचन्द्र से नभचन्द्र या नभचन्द्र से जलचन्द्र के अनुमान को असत् बतलाया है, क्योंकि उनके मत में प्रतिबिम्ब असत् होता है ।<sup>१५४</sup>

१५२. प्रमाणमीमांसा, पृ. ४०

१५३. प्रभञ्जनविशेषश्च कृत्तिकोदयकारणम् ।

यः स एव हि सन्तत्या रोहिण्यासत्तिकारणम् ॥— तत्वसङ्ग्रह, १४२३

१५४. (i) सहैकत्र द्वयासत्त्वान्न वस्तुप्रतिबिम्बकम् ।

तत् कथं कार्यता तस्य युक्ता चेत् पारमार्थिकी ॥—तत्वसङ्ग्रह, १४२६

(ii) जैन दार्शनिक रत्नप्रथसूरि ने जलचन्द्र से नभचन्द्र की अनुमिति द्वारा अन्य देश में स्थित हेतु से अन्य देशस्थ साध्य की सिद्धि बतलायी है, (रत्नाकरव्यतारिका, भाग-२ पृ. ३५), किन्तु जल को नभ, पृष्ठी आदि की भांति साधारण होने से पक्ष बनाना उचित प्रतीत नहीं होता है ।

ज्ञान्तरिक्षित द्वारा किये गये खण्डन एवं जैन दार्शनिकों द्वारा निरूपित पक्षधर्मत्व की अनावश्यकता पर तटस्थता से चिन्तन किया जाय तो प्रश्न उठता है कि पक्षधर्मता को यदि आवश्यक नहीं माना जायेगा तो हेतु, साध्य-देश से अन्यत्र भी साध्य की सिद्धि करने लगेगा। रसोई घर में स्थित धूम से पर्वतस्थ वह्नि की सिद्धि होने लगेगी।

जैन दार्शनिक पक्षधर्मता को संभवतः हेतु का लक्षण इसलिए नहीं मानते हैं क्योंकि पक्ष या धर्मों से रहित साध्य या धर्म की भी सिद्धि अविनाभावी हेतु द्वारा होती हुई देखी गयी है। किन्तु जब साध्य का कोई पक्ष हो तो हेतु में पक्षधर्मता होने का जैन दार्शनिक निषेध नहीं करते हैं। पक्ष होने पर हेतु में पक्षधर्मता होनी ही चाहिए अन्यथा हेतु एवं साध्य की सिद्धि में अव्यवस्था हो जायेगी। जैनदार्शनिक हेतु की साध्याविनाभाविता से उसकी पक्षधर्मता को उपपन्न कर लेते हैं, क्योंकि जहां हेतु होगा, वहीं तो साध्य की सिद्धि हो सकेगी, हेतु का साध्य के अभाव में तो अवस्थान होता नहीं है। इस प्रकार पक्ष के होते हुए हेतु का पक्ष में होना जैन दार्शनिकों को अभीष्ट है, किन्तु पक्षधर्मत्व को हेतु का लक्षण नहीं मानकर वे प्रतिपादित करना चाहते हैं कि पक्षाभाव में भी हेतु अन्यथानुपपन्नरूप लक्षण के कारण साध्य का गमक होता है।

यहां पर दूसरा प्रश्न यह उठता है कि साध्य के अभाव में हेतु का अभाव होना अविनाभाव है, किन्तु कृत्तिका नक्षत्र का उदय शकट नक्षत्र के उदय के अभाव में भी रह सकता है अतः उसे शकटोदय का अविनाभावी कैसे कहा जा सकता है ? इस प्रश्न का समाधान यद्यपि प्राणिक्यनन्दी ने अविनाभाव के दो भेद क्रम-भाव एवं सहभाव करके प्रस्तुत किया है,<sup>१५५</sup> तदनुसार कृत्तिकोदय का शकटोदय के साथ क्रमभाव रूप अविनाभाव है, किन्तु सृष्टि के विनाश काल की अनिश्चितता में आवश्यक नहीं है कि कृत्तिकोदय के अनन्तर शकट नक्षत्र का उदय हो ही। यह तो संभव है कि लोकव्यवहार में विगत अनुभवों के आधार पर हम कृत्तिका के उदय को देखकर एक मुहूर्त पश्चात् किसी अन्य नक्षत्र के उदय का निषेध कर शकट नक्षत्र के उदय की बात कह दें, और वह बात अव्यभिचरित हो। इसी संभावना एवं लोक-व्यवहार के आधार पर यदि कृत्तिकोदय को शकटोदय साध्य का गमक कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी, किन्तु साध्याविनाभावित्व रूप हेतुलक्षण की कठोर अनुपालना में कृत्तिकोदय द्वारा शकटोदय की गमकता सिद्ध करना उचित प्रतीत नहीं होता है। यदि अविनाभाव का अर्थ अव्यभिचरित होना लिया जाय, जैसा कि धर्मोत्तर की न्यायबिन्दुटीका में कहा गया है - "अव्यभिचारनियमः अविनाभावनियमः"<sup>१५६</sup> तो जैनों द्वारा प्रतिपादित अविनाभाव हेतु लक्षण उपपन्न हो सकता है।

सपक्षसत्त्व का खण्डन करते हुए जैन दार्शनिक "अनित्यः शब्दः श्रावणत्वात्" के अतिरिक्त एक

१५५. सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः। पूर्वोत्तरचारिणोः सहभावः कार्यकारणयोश्च क्रमभावः।— परीक्षामुख, ३.१६, १८  
१५६. न्यायबिन्दुटीका, २.२०, पृ. ३१-३२

हेतु और प्रस्तुत करते हैं - 'सर्वमनित्यं सत्त्वात्' अर्थात् 'सब पदार्थ अनित्य हैं, क्योंकि वे सत्त्व हैं'। समस्त पदार्थों को पक्ष बना लेने के कारण सत्त्व हेतु का कोई सपक्ष नहीं रह जाता है, अतः सत्त्व हेतु सपक्षधर्मता से रहित है, तथापि यह बौद्धों को सद्हेतु के रूप में मान्य है। इससे सिद्ध होता है कि हेतु में सपक्षधर्मता का होना आवश्यक नहीं है। बौद्धों द्वारा प्रतिपादित "सपक्ष एव सत्त्वम्" नियम द्वारा यह स्पष्ट होता है कि हेतु सपक्ष में ही होना चाहिए, विपक्ष में नहीं। अर्थात् जिस हेतु का सपक्ष है तो उस हेतु को सपक्ष में ही होना चाहिए, किन्तु जिस हेतु का सपक्ष नहीं होता उसे सपक्षधर्मत्व के अभाव में भी बौद्ध दार्शनिक संभवतः सद्हेतु मानने का प्रतिषेध नहीं करते हैं। यदि घट आदि को सपक्ष बनाकर अनित्यता की सिद्धि की जाती है तो घट की अनित्यता सिद्ध करने के लिए किसी का सपक्ष में रहना निश्चित रूप से आवश्यक हो सकता है, किन्तु सपक्षाभाव में नहीं, इसलिए जैन दार्शनिकों द्वारा सपक्षसत्त्व को हेतु का असाधारण लक्षण नहीं मानने में कोई दोष प्रतीत नहीं होता है।

विपक्ष से सर्वथा असत्त्व जब तक प्रतिपादित न किया जाय तब तक वह भी जैनमत में हेतु का लक्षण नहीं हो सकता। क्योंकि 'सर्वमनित्यं सत्त्वात्' आदि अनेक ऐसे हेतु हैं जिनमें विपक्षासत्त्व का अभाव है, तथापि वे सद्हेतु हैं अतः विपक्षासत्त्वरूपता के अभाव में भी जैनदर्शनानुसार हेतु कथञ्चित् साध्य का गमक है। विपक्ष में असत्त्व न होने का निर्देश जैन दार्शनिक तब करते हैं जब किसी हेतु के साध्य का विपक्ष ही नहीं हो, अन्यथा उनके मत में साध्याविनाभाव रूप जो हेतुलक्षण है वह हेतु का सर्वथा विपक्षासत्त्व रूप होना ही है। इसलिए बौद्धों द्वारा प्रतिपादित विपक्ष से नियमवती व्यावृत्ति जैनदार्शनिकों को अभीष्ट है, क्योंकि वह अविनाभाव या अन्यथानुपपन्नत्व को ही घोषित करती है। अतः विपक्ष से नियमवती व्यावृत्ति को जैन दार्शनिक हेतुलक्षण के रूप में स्वीकार करते हुए दिखाई देते हैं।

त्रैरूप्य के निरसनार्थ जैन दार्शनिकों ने एक उदाहरण प्रस्तुत किया है - 'वह श्याम वर्ण है, उसका पुत्र होने से, उसके अन्य पुत्रों के समान (स श्यामः तत्पुत्रत्वात् इतरतत्पुत्रवत्)।' इस उदाहरण में 'तत्पुत्रत्वात्' हेतु विवादाध्यासित पुत्र रूप पक्ष, उसके अन्य पुत्र रूप सपक्ष में विद्यमान है तथा अन्य स्त्री के गौरवर्ण पुत्र रूप विपक्ष में विद्यमान नहीं है, इस प्रकार इसमें पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व एवं विपक्षासत्त्व ये तीनों रूप विद्यमान हैं तथापि साध्याविनाभाव के न होने के कारण तत्पुत्रत्व हेतु असद्हेतु है। उल्लेखनीय है कि तत्पुत्रत्व हेतु को बौद्धों ने भी असद्हेतु बतलाया है। उनके मत में तत्पुत्रत्व हेतु विपक्ष में सर्वतोव्यावृत्त नहीं है, वह विपक्ष के एकदेश में अर्थात् उस स्त्री के अन्य पुत्रों में भी विद्यमान हो सकता है। विपक्ष से सर्वतो व्यावृत्त नहीं होने के कारण वह हेत्वाभास है। धर्मोत्तर प्रतिपादित करते हैं कि हेतु का लक्षण यह नहीं है कि वह सपक्ष में रहता है एवं विपक्ष में नहीं रहता है। हेतु का लक्षण तो यह है कि हेतु सपक्ष में ही निश्चित रूप से रहता है तथा विपक्ष में उसका न रहना ही निश्चित होता है। अर्थात् वह विपक्ष के एक देश में भी नहीं रह सकता। यदि हेतु का सपक्ष में रहना एवं विपक्ष में न रहना ही हेतु लक्षण माना जाय तो 'तत्पुत्रत्वात्' हेतु भी सद्हेतु सिद्ध हो जाय,



किन्तु तत्पुत्रत्व हेतु सदहेतु नहीं है, इसलिए हेतुलक्षण में नियमवान् अन्वय-व्यतिरेक का प्रयोग किया जाता है जिससे साधन का साध्य के साथ प्रतिबंध ज्ञात हो।<sup>१५७</sup> साधन का बौद्ध दार्शनिकों ने साध्य के साथ स्वभाव-प्रतिबंध या अविनाभाव स्वीकार किया है, जिससे साधन अव्यभिचरित रूप से साध्य का गमक होता है।<sup>१५८</sup>

न्यायदर्शन में भी तत्पुत्रत्व हेतु को औपाधिक संबंध के कारण असद् हेतु या हेत्वाभास माना गया है। शाकपाकजन्यत्व उपाधि के कारण तत्पुत्रत्व हेतु श्यामवर्ण बालक की सिद्धि नहीं कर सकता। साध्य के साथ लिङ्ग का स्वाभाविक सम्बन्ध होने पर ही लिङ्ग को साध्य का गमक स्वीकार किया गया है।<sup>१५९</sup> न्यायदर्शन में प्रयुक्त 'स्वाभाविक-सम्बन्ध' शब्द बौद्धदर्शन के 'स्वभाव-प्रतिबन्ध' एवं जैनदर्शन के "अविनाभाव-सम्बन्ध" का एकार्थक प्रतीत होता है। अर्थात् न्याय एवं बौद्ध दर्शन में भी जैनदर्शन की भांति साध्य के अविनाभावी हेतु को ही साध्य का गमक स्वीकार किया गया है। धर्मकीर्ति का स्पष्ट प्रतिपादन है कि अविनाभाव नियम के कारण हेतु तीन प्रकार का है, अविनाभाव नियम के अभाव में वे हेतुओं को हेत्वाभास प्रतिपादित करते हैं। त्रैरूप्य का समापन वे अविनाभावनियम में ही मानते हैं। न्यायदर्शन में जयन्तभट्ट भी पांचरूप्य में अविनाभाव कहते हैं - "एतेषु पञ्चसु लक्षणेषु अविनाभावो लिङ्गस्य परिसमाप्यते।"

इससे सिद्ध होता है कि अविनाभाव के अभाव में कोई भी हेतु साध्य का गमक नहीं होता, इसलिए जैनदार्शनिकों ने संक्षेपरुचि से उसे ही हेतुलक्षण के रूप में स्वीकार किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जैन दार्शनिकों ने अविनाभाव या अन्यथानुपपन्नत्व को हेतु-लक्षण स्वीकार कर सूझ पूर्ण कार्य किया है, किन्तु यह लक्षण निषेधात्मक है। इसका विधिपरक या सकारात्मक पक्ष तथोपपन्नत्व है, जिसके अनुसार साध्य के होने पर ही हेतु का होना फलित होता है, और तब पक्ष एवं सपक्ष के स्वीकार करने का भी प्रश्न उठने लगता है। बौद्धों द्वारा निरूपित त्रैरूप्य लक्षण अविनाभाव के विधिपरक रूप एवं उसकी बाह्य सीमा का निबन्धन भी प्रस्तुत करता है।

## हेतु-भेद

हेतु-लक्षण में भिन्नता होने के फलस्वरूप बौद्ध एवं जैन दर्शन में हेतु-भेदों के प्रतिपादन में भी अन्तर है। बौद्ध दार्शनिक हेतु के तीन प्रकार स्वीकार करते हैं। (१) स्वभाव (२) कार्य एवं (३) अनुपलब्धि।<sup>१६०</sup> हेतु-भेदों का यह प्रतिपादन बौद्धों की अपनी देन है, क्योंकि इनके पूर्व न्याय वैशेषिक, मीमांसा आदि दर्शनों में स्वभाव एवं अनुपलब्धि को हेतु-भेदों में स्थान नहीं मिला है। जैन दार्शनिकों ने बौद्धों द्वारा निरूपित हेतुओं से भिन्न पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर एवं कारण हेतुओं का भी प्रतिपादन किया है, जो उनकी अपनी देन है। बौद्ध निरूपित हेतु-भेदों का भी उन्होंने अपने हेतु-भेदों

१५७. न्यायबिन्दुटीका २.५, पृ.११०

१५८. स्वभावप्रतिबन्धे हि सत्यर्थोऽर्थ गमयेत् । तदप्रतिबद्धस्य तदव्यभिचार-नियमाभावात् ।— न्यायबिन्दु, २.१९-२०

१५९. द्रष्टव्य, केशवमिश्र, तर्कभाषा, अनुमाननिरूपण ।

१६०. (१) त्रिरूपाणि च त्रीण्येव लिङ्गानि । अनुपलब्धिः स्वभावः कार्यं चेति ।— न्यायबिन्दु, २.१०-११

(२) पक्षधर्मस्तदशेन व्याप्तो हेतुस्त्रिधैव सः ।— हेतुबिन्दु, पृ.५२, प्रमाणवार्तिक, ३.१

में समावेश कर लिया है, तथा अनुपलब्धि के भेदों का प्रतिपादन करते समय कुछ वैशिष्ट्य प्रदर्शित किया है, जिस पर आगे विचार किया गया है। इसमें संदेह नहीं कि जैन दार्शनिक हेतु-भेदों का प्रतिपादन करते समय बौद्धों से भी प्रभावित हैं, किन्तु इसमें भी संदेह नहीं कि उन्होंने हेतु-भेदों के निर्धारण में भारतीयदर्शन को नई देन दी है। अब बौद्ध एवं जैन दर्शन में प्रतिपादित हेतुओं का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

### बौद्धदर्शन में हेतु-भेद

बौद्धों के अनुसार स्वभाव, कार्य एवं अनुपलब्धि हेतुओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

**स्वभाव हेतु** - हेतु की सत्ता मात्र से जब साध्य का ज्ञान होता है तो उसे स्वभाव हेतु कहते हैं। स्वभाव हेतु का उदाहरण है - "यह वृक्ष है, शिशपा होने से"।<sup>१६१</sup>

**कार्यहेतु** - कार्य से कारण का अनुमान कार्यहेतु है। इसका उदाहरण है - "यहां अग्नि है, क्योंकि धूम है"। धूम अग्नि का कार्य है अतः धूम के द्वारा अग्नि का अनुमान कार्य हेतु द्वारा होता है।<sup>१६२</sup>

**अनुपलब्धि हेतु** - उपलब्धि के योग्य लक्षण वाला होने पर भी जब कोई अर्थ दिखाई नहीं देता है तो उसकी अनुपलब्धि का ज्ञान अनुपलब्धि हेतु द्वारा किया जाता है। धर्मकीर्ति ने इसका उदाहरण दिया है - "प्रदेश विशेष में घट नहीं है, क्योंकि उपलब्धि के योग्य लक्षण होने पर भी वह उपलब्धि नहीं हो रहा है"।<sup>१६३</sup> बौद्धों का अनुपलब्धि हेतु के पीछे तर्क यह है कि उस घट की उपलब्धि के अन्य समस्त कारण विद्यमान होने पर स्वभावविशेष से उसे उपलब्धि होना चाहिए, किन्तु जब अन्य ज्ञानजनक कारणों के विद्यमान होने पर स्वभावविशेष से भूतलादि तो उपलब्धि होते हैं, किन्तु घट उपलब्धि नहीं होता है तो अनुपलब्धि हेतु से उसका वहां अनुपलम्भ जानना चाहिए।

स्वभाव, कार्य एवं अनुपलब्धि नामक तीन हेतुओं में प्रथम दो विधिसाधक हैं तथा अनुपलब्धि हेतु प्रतिषेध साधक है। अनुपलब्धि के हेतु-बिन्दु में तीन, प्रमाणवार्तिक में चार, न्यायबिन्दु में ग्यारह एवं मोक्षाकरगुप्त की तर्कभाषा में सोलह भेद प्रतिपादित हैं।

हेतुबिन्दु में प्रतिपादित अनुपलब्धि के तीन प्रकार ये हैं-<sup>१६४</sup>

- (१) कारणानुपलब्धि - कारण के अभाव से कार्य की अनुपलब्धि।
- (२) व्यापकानुपलब्धि - व्यापक के अभाव से व्याप्य की अनुपलब्धि।
- (३) स्वभावानुपलब्धि - दृश्य की अनुपलब्धि ही स्वभावानुपलब्धि है।

१६१. स्वभावः स्वसत्तामात्रभाविनि साध्यधर्मे हेतुः। यथा वृक्षोऽयं शिशपात्वाद् इति ।— न्यायबिन्दु, २.१५-१६

१६२. कार्यं यथा वह्निरत्र धूमादिति ।— न्यायबिन्दु, २.१७

१६३. तत्रानुपलब्धिर्यथा-न प्रदेशविशेषे क्वचिद् घटः उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरिति ।— न्यायबिन्दु, २.१२

१६४. सेयमनुपलब्धिस्त्रिधा । सिद्धे कार्यकारणभावस्य सिद्धाभावस्य कारणस्यानुपलब्धिः, व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ सिद्धाभावस्य व्यापकस्यानुपलब्धिः, स्वभावानुपलब्धिरत्र ।— हेतुबिन्दु, पृ.६८

प्रमाणवार्तिक में निम्न चार भेद प्रतिपादित हैं।<sup>१६५</sup>

(१) विरुद्धोपलब्धि - यथा - “यहां शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि अग्नि विद्यमान है।” व्यापकविरुद्धोपलब्धि का कथन भी इसके द्वारा कर दिया गया है।

(२) विरुद्धकार्योपलब्धि - यथा - “यहां शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि धूम है।”

(३) कारणानुपलब्धि - “यहां धूम नहीं है, क्योंकि अनुपलब्ध है।”

(४) स्वभावानुपलब्धि - “यहां धूम नहीं है, क्योंकि अनुपलब्ध है।”

न्यायबिन्दु में अनुपलब्धि हेतु के प्रयोग-भेद से ग्यारह प्रकार निरूपित हैं<sup>१६६</sup>

(१) स्वभावानुपलब्धि - इसमें प्रतिषेध्य के स्वभाव की अनुपलब्धि रहती है, यथा - “यहां धूम नहीं है, क्योंकि उपलब्धिलक्षण प्राप्त धूम की अनुपलब्धि है।”

(२) कार्यानुपलब्धि - इसमें प्रतिषेध्य अर्थ के कार्य की अनुपलब्धि रहती है, यथा - “यहां धूम उत्पन्न होने के अबाधित समर्थ कारण नहीं हैं, क्योंकि यहां धूम का अभाव है।”

(३) व्यापकानुपलब्धि - इसमें प्रतिषेध्य व्याप्य के व्यापक धर्म की अनुपलब्धि रहती है, यथा - “यहां शिशपा नहीं है, क्योंकि वृक्ष नहीं है।”

(४) स्वभावविरुद्धोपलब्धि - इसमें प्रतिषेध्य के स्वभाव से विरुद्ध की उपलब्धि पायी जाती है, यथा - “यहां शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि अग्नि है।”

(५) विरुद्धकार्योपलब्धि - प्रतिषेध्य से विरुद्ध के कार्य की उपलब्धि। यथा - “यहां शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि धूम है।”

(६) विरुद्धव्याप्तोपलब्धि - प्रतिषेध्य के विरुद्ध से व्याप्त धर्मान्तर की उपलब्धि, यथा - “उत्पन्न वस्तु का भी विनाश ध्रुवभावी नहीं है, क्योंकि वह हेत्वन्तर की अपेक्षा रखती है।”

(७) कार्यविरुद्धोपलब्धि - प्रतिषेध्य के कार्य के विरुद्ध की उपलब्धि, यथा “यहां शीत को उत्पन्न करने वाले अबाधित एवं समर्थ कारण नहीं हैं, क्योंकि वहि है।”

(८) व्यापकविरुद्धोपलब्धि - प्रतिषेध्य के व्यापक के विरुद्ध की उपलब्धि, यथा यहां तुषार स्पर्श नहीं है, क्योंकि वहि है।

(९) कारणानुपलब्धि - प्रतिषेध्य के कारण की अनुपलब्धि। यथा, “यहां धूम नहीं है, क्योंकि वहि का अभाव है।”

(१०) कारणविरुद्धोपलब्धि - प्रतिषेध्य के कारण के विरुद्ध की उपलब्धि। यथा - “इस पुरुष के शीतकृत रोमहर्षादि नहीं हैं, क्योंकि समीप में अग्निविशेष जल रही है।”

(११) कारणविरुद्धकार्योपलब्धि - प्रतिषेध्य के कारण के विरुद्ध कार्य की उपलब्धि, यथा - “यह प्रदेश रोमहर्षादि से युक्त पुरुष वाला नहीं है, क्योंकि यहां धूम है।”

१६५. विरुद्धकार्योः सिद्धिरसिद्धिहेतुभावयोः।

दृश्यात्मनोरभावार्थानुपलब्धिश्चतुर्विधः ॥— प्रमाणवार्तिक, ३.४

१६६. सा च प्रयोगभेदाद् एकादशप्रकारा ।— न्यायबिन्दु, २.३०

मोक्षाकरगुप्त विरचित तर्कभाषा में १६ भेद निरूपित हैं।<sup>१६७</sup> न्यायबिन्दु में निरूपित भेदों से निम्नाङ्कित विशेष हैं -

१. स्वभावविरुद्ध कार्योपलब्धि - प्रतिषेध्य के स्वभाव से विरुद्ध के कार्य की उपलब्धि, यथा “यहां तुषारस्पर्श नहीं हैं, क्योंकि धूम है।”

२. कार्यविरुद्ध कार्योपलब्धि - प्रतिषेध्य के कार्य से विरुद्ध के कार्य की उपलब्धि, यथा - “यहां पर शीत के अबाधित एवं समर्थ कारण नहीं हैं, क्योंकि धूम है।”

३. व्यापकविरुद्ध कार्योपलब्धि - प्रतिषेध्य के व्यापक के विरुद्ध के कार्य की उपलब्धि, यथा - “यहां तुषारस्पर्श नहीं है, क्योंकि धूम है।”

४. स्वभावविरुद्धव्याप्तोपलब्धि - प्रतिषेध्य के स्वभाव के विरुद्ध से व्याप्त की उपलब्धि, यथा - “यहां अग्नि नहीं है, क्योंकि तुषारस्पर्श है।”

५. व्यापक विरुद्धव्याप्तोपलब्धि - प्रतिषेध्य के व्यापक के विरुद्ध से व्याप्त की उपलब्धि। यथा - “यह नित्य नहीं है, क्योंकि कदाचित् कार्य को उत्पन्न करता है।”

### जैनदर्शन में हेतु-भेद

जैनदार्शनिकों ने बौद्धों से भिन्न रूप में हेतु-भेद प्रस्तुत किये हैं। वे हेतु के मूलतः उपलब्धि एवं अनुपलब्धि दो भेद करके दोनों को विधि एवं निषेध का साधक मानते हैं।<sup>१६८</sup> वे बौद्धों के इस मत का खण्डन करते हैं कि अनुपलब्धिहेतु केवल निषेध या अभाव साधक होता है। जैन दार्शनिकों ने पूर्वचर, उत्तरचर एवं सहचर हेतुओं की नवीन उद्भावना की है तथा कारणहेतु को भी हेतु के रूप में प्रतिपादित किया है।

जैनदर्शन में स्थानाङ्गसूत्र में हेतु के चार भेद प्रतिपादित हैं-<sup>१६९</sup>

१. विधिविधि - जिसमें साध्य और साधन दोनों सद्भावरूप हों।

२. विधिनिषेध - जिसमें साध्य विधिरूप एवं साधन निषेधरूप हो।

३. निषेधविधि - जिसमें साध्य निषेधरूप और हेतु विधिरूप हो।

४. निषेध-निषेध - जिसमें साध्य और साधन दोनों निषेध रूप हों। इन हेतुओं को माणिक्यनन्दी एवं वादिदेवसूरी ने नये नाम दिए हैं,<sup>१७०</sup> यथा - (१) अविरुद्धोपलब्धि (२) विरुद्धानुपलब्धि (३) विरुद्धोपलब्धि और (४) अविरुद्धानुपलब्धि। दरबारी लाल कोठिया ने स्थानांग सूत्र के चार हेतु-भेदों

१६७. तर्कभाषा (मोक्षाकर), पृ. १६-१८

१६८. (१) सत्त्ववृत्तिनिमित्तानि स्वसम्बन्धोपलब्ध्यः ।

तथा सद्द्वयवहाराय स्वभावानुपलब्ध्यः ।

सद्वृत्तिप्रतिषेधाय तद्विरुद्धोपलब्ध्यः ॥— प्रमाणसङ्ग्रह, २९-३०

(२) स हेतुर्द्धा उपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात् । उपलब्धिर्विधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च ।— परीक्षामुख, ३.५७-५८

(३) उपलब्धिर्विधिनिषेधयोः सिद्धिनिबन्धनमनुपलब्धिश्च ।— प्रमाणनयतत्वालोका, ३.५५

१६९. अथवा हेतु चउच्चैवे पन्नते तं जह- अत्थि तं अत्थि सो हेतु, अत्थि तं णत्थि सो हेतु, णत्थि तं अत्थि सो हेतु, णत्थि तं णत्थि सो हेतु ।— स्थानांगसूत्र, सूत्र ३३९

१७०. द्रष्टव्य, परीक्षामुख ३.५३-८५ एवं प्रमाणनयतत्वालोका ३.६७-९३

को ये ही परवर्ती नाम दिए हैं।<sup>१७१</sup>

**भद्र अकलङ्कदेव** ने साध्याविनाभाविता के बल पर (१) स्वभाव, (२) कार्य, (३) कारण, (४) पूर्वचर, (५) उत्तरचर एवं (६) सहचर इन छह हेतुओं का निरूपण किया है।<sup>१७२</sup> पूर्वचर, उत्तरचर एवं सहचर को हेतु रूप में प्रतिष्ठापित करना अकलङ्क की विशिष्ट देन है।<sup>१७३</sup> प्रमाणसङ्ग्रह में अकलङ्क ने विभिन्न हेतुओं का सोदाहरण संकलन किया है, यथा - स्वभावोपलब्धि, स्वभावकार्योपलब्धि, स्वभावकारणोपलब्धि, सहचरोपलब्धि, सहचरकारणोपलब्धि, स्वभावानुपलब्धि, कार्यानुपलब्धि, कारणानुपलब्धि, स्वभावसहचरानुपलब्धि - स्वभावविरुद्धोपलब्धि आदि।<sup>१७४</sup> इसके साथ अकलङ्क यह दर्शित करना चाहते हैं कि हेतु के अनेक भेद हो सकते हैं।

**अकलङ्क** ने स्वभाव एवं कार्यहेतु का स्वरूप बौद्धों के समान ही प्रतिपादित किया है तथा कारण, पूर्वचर, उत्तरचर एवं सहचर हेतुओं में भी साध्य के साथ अविनाभावित्व सिद्ध कर उन्हें सद्हेतु के रूप में प्रस्तुत किया है। यहां कारण, पूर्वचर, उत्तरचर एवं सहचर हेतुओं का स्वरूप दिया जा रहा है।

**कारण हेतु** - कारण से कार्य का ज्ञान करना कारणहेतु कहा गया है। यथा, वृक्ष से छाया का ज्ञान<sup>१७५</sup> या चन्द्र से जल में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब का ज्ञान।<sup>१७६</sup> यह ध्यातव्य है कि अप्रतिबंध सामर्थ्य युक्त कारण ही हेतु के रूप में मान्य होता है।

**पूर्वचर हेतु** - जब साध्य और साधन में क्रमभाव हो तथा वे परस्पर कार्यकारणभाव रूप न हों, तो उनमें पूर्वभावी को साधन मानकर अनुमान किया जाता है, तो उसे पूर्वचर हेतु कहा जाता है, क्योंकि उससे पश्चाद्भावी साध्य को सिद्ध किया जाता है। यथा - एक मुहूर्त पश्चात् शकट नक्षत्र का उदय होगा, क्योंकि अभी कृत्तिका नक्षत्र का उदय है।<sup>१७७</sup> यहां कृत्तिकानक्षत्र, शकटनक्षत्र के उदय का पूर्वचर हेतु है।

**उत्तरचर हेतु** - क्रमभावी साध्य-साधनों में जब पश्चाद्भावी को हेतु एवं पूर्वभावी को साध्य मानकर अनुमान किया जाता है तो वह हेतु उत्तरचर हेतु कहलाता है। यथा - "एक मुहूर्त पूर्व भरण का उदय हो चुका है, क्योंकि अभी कृत्तिका का उदय है।" यहां कृत्तिका नक्षत्र का उदय भरण के उदय का उत्तरचर हेतु है।

**सहचर हेतु** - साध्य एवं साधन का जब सहभाव हो तथा किसी एक से दूसरे का अनुमान किया

१७१. जैन तर्कशास्त्र में अनुमानविचार, पृ. २४

१७२. सिद्धिविनिश्चयवृत्ति, ६.९, १५, १६

१७३. कुमारिल के मीमांसा श्लोकवार्तिक में पूर्वचर हेतु का संकेत निम्नाङ्कित उदाहरण से अवश्य मिलता है, यथा- "कृत्तिकोदयमालक्ष्य रोहिण्यासत्तिवस्तुनिवत्" - श्लोकवार्तिक, अनुमानपरिच्छेद, १३

१७४. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य, प्रमाणसङ्ग्रह, २९-३१,

१७५. न हि वृक्षादिः छायादेः स्वभावः कार्यं वा । न चात्र विसंवादोऽस्ति ।- लघीयस्त्रयवृत्ति, १२

१७६. चन्द्रादेर्जलचन्द्रादिप्रतिपत्तिस्तथानुमा ।- लघीयस्त्रय, १३

१७७. भविष्यत्प्रतिपद्येत शकटं कृत्तिकोदयात् । श्व आदित्य उदेतेति ग्रहणं वा भविष्यति ।- लघीयस्त्रय, १४

जाय तो सहचर हेतु का प्रयोग होता है। यथा - तराजू के एक पलड़े को ऊपर उठा हुआ देखकर दूसरे पलड़े के नीचे झुकने का अनुमान।<sup>१७८</sup>

अकलङ्क द्वारा प्रतिपादित इन हेतु-भेदों को उत्तरवर्ती विद्यानन्द, माणिक्यनन्दी, प्रभाचन्द्र, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र आदि समस्त दार्शनिकों ने अपनाया है तथा उन्हें सदहेतु के रूप में प्रतिष्ठापित किया है, किन्तु इनको सदहेतु स्वीकार करना कहां तक उचित है, इस सम्बन्ध में आगे विचार किया जायेगा।

विद्यानन्द ने विविध प्रकार से हेतु-भेदों का निरूपण किया है। साध्य के साथ हेतु का अविनाभावित्व लक्षण होने से वे उसे एक प्रकार का कहते हैं तथा उपलम्भ (विधिसाधन) एवं अनुपलम्भ (प्रतिषेध साधन) के भेद से उसे दो प्रकार का स्वीकार करते हैं।<sup>१७९</sup> कार्य, कारण एवं अकार्यकारण के भेद से वे विधि एवं निषेध साधन के तीन-तीन प्रकार मानते हैं।<sup>१८०</sup> वे भूत-भूत, भूत-अभूत, अभूत-भूत तथा अभूत-अभूत के भेद से हेतु को चार प्रकार का भी प्रतिपादित करते हैं।<sup>१८१</sup> भूत-भूत आदि चार भेदों के वे अनेक भेद प्रतिपादित करते हैं,<sup>१८२</sup> यथा-

भूत-भूत (विधि साधन) के ६ भेद - (१) कार्यहेतु (२) कारणहेतु (३) व्याप्यहेतु (४) सहचर हेतु (५) पूर्वचरहेतु एवं (६) उत्तरचर हेतु।

अभूत-भूत (विधि द्वारा प्रतिषेध को सिद्ध करना) के ६ भेद - (१) विरुद्ध कार्य हेतु (२) विरुद्धकारण (३) विरुद्धव्याप्य (४) विरुद्ध सहचर (५) विरुद्ध पूर्वचर, एवं (६) विरुद्धोत्तरचर हेतु।

अभूत-भूत के १६ भेद - परम्परा से कार्य, कारण, व्याप्य एवं सहचर हेतुओं के चार-चार भेद करने से इनके १६ भेद भी अभूतभूत के अन्तर्गत आते हैं। ये १६ भेद हैं - (१) कारणविरुद्धकार्य (२) व्यापकविरुद्ध कार्य (३) कारणव्यापकविरुद्ध कार्य (४) व्यापककारणविरुद्ध कार्य (५) कारणविरुद्ध-कारण (६) व्यापकविरुद्ध कारण (७) कारणव्यापकविरुद्ध कारण (८) व्यापककारणविरुद्ध कारण (९) कारणविरुद्ध व्याप्य (१०) व्यापकविरुद्ध व्याप्य (११) कारणव्यापकविरुद्धव्याप्य (१२) व्यापककारणविरुद्ध व्याप्य (१३) कारणविरुद्ध सहचर (१४) व्यापकविरुद्ध सहचर (१५) कारणव्यापकविरुद्ध सहचर (१६) व्यापककारणविरुद्ध सहचर।

इस प्रकार ६ साक्षात्-विरोधी और १६ परम्परा विरोधी, कुल २२ भेद अभूत-भूत (प्रतिषेधसाधक विधि) हेतु के हैं।

१७८. परस्परविनाभूतौ नामोन्नामौ तुलान्तयोः।—सिद्धिविनिश्चय, ६.१५

१७९. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१३.२०९-१०

१८०. प्रमाणपरीक्षा, पृ. ४९ एवं ५०

१८१. वैशेषिक दर्शन में महर्षि कणाद ने भूत-भूत, भूत-अभूत एवं अभूत-भूत इन तीन प्रकार के हेतुओं का उल्लेख किया है। अतः 'अभूत-अभूत' नामक चौथा भेद विद्यानन्द की मौलिक देन है।

१८२. प्रमाणपरीक्षा, पृ. ४९-५५

भूत-अभूत - प्रतिषेध हेतु द्वारा विधि या सद्भाव को सिद्ध करना - (१) विरुद्धकार्यानुपलब्धि (२) विरुद्धकारणानुपलब्धि (३) विरुद्धस्वभावानुपलब्धि (४) विरुद्धसहचरानुपलब्धि ।

अभूत-अभूत - अभाव रूप साध्य को प्रतिषेध हेतु से सिद्ध करना - (१) कार्यानुपलब्धि (२) कारणानुपलब्धि (३) व्यापकानुपलब्धि (४) सहचरानुपलब्धि (५) पूर्वचरानुपलब्धि (६) उत्तरचरानुपलब्धि । इसी प्रकार कारण-कारणानुपलब्धि, व्यापकव्यापकानुपलब्धि आदि परम्परा प्रतिषेध साधक प्रतिषेध हेतु भी हो सकते हैं ।

इस प्रकार विद्यानन्द के मत में अनेक हेतु हो सकते हैं, तथापि उन्होंने ३८ हेतु-भेदों को सोदाहरण प्रस्तुत किया है । इनके उदाहरण यहां पर विस्तार भय से नहीं दिये गये हैं ।

विद्यानन्द के पश्चात् माणिक्यनन्दी ने हेतु-भेदों पर विशेष चिन्तन कर उन्हें व्यवस्थित रूप दिया है ।<sup>१८३</sup> माणिक्यनन्दी ने प्रारम्भ में हेतु के दो मूल भेद स्वीकार किये हैं - (१) उपलब्धि और (२) अनुपलब्धि ।<sup>१८४</sup> इन दोनों भेदों का उल्लेख अकलङ्क<sup>१८५</sup> एवं विद्यानन्द<sup>१८६</sup> के द्वारा भी किया गया है । अकलङ्क पूर्णतः उन भेदों के आधार पर विवेचन नहीं करते तथा विद्यानन्द ने इन्हें स्वीकार करते हुए भी भूत-भूत, भूत-अभूत आदि हेतु भेदों को अधिक महत्त्व दिया है । अतः माणिक्यनन्दी को उपलब्धि एवं अनुपलब्धि भेदों को महत्त्व देने वाला प्रथम जैन दार्शनिक कहा जा सकता है । प्रभाचन्द्र, लघुअनन्तवीर्य, देवसूरि, हेमचन्द्र आदि उत्तरवर्ती दार्शनिकों ने माणिक्यनन्दी का अनुसरण किया है ।

माणिक्यनन्दी ने उपलब्धि एवं अनुपलब्धि दोनों भेदों को विधि एवं निषेध-साधक के रूप में प्रस्तुत किया है । अतः वे प्रत्येक के दो-दो भेद करते हैं, यथा -

उपलब्धिहेतु — (१) अविरुद्धोपलब्धि (विधिसाधक) एवं (२) विरुद्धोपलब्धि (निषेध साधक) ।

अनुपलब्धिहेतु — (१) अविरुद्धानुपलब्धि (२) विरुद्धानुपलब्धि ।

इनमें अविरुद्धोपलब्धि के ६, विरुद्धोपलब्धि के ६, अविरुद्धानुपलब्धि के ७ तथा विरुद्धानुपलब्धि के ३ भेद करके माणिक्यनन्दी ने हेतु के कुल २२ भेदों का प्रतिपादन किया है ।<sup>१८७</sup> इन्हें वादी देवसूरि आदि के द्वारा आदृत होने से यहां संक्षेप में सोदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है-

अविरुद्धोपलब्धि (विधिसाधक विधि हेतु) के ६ भेद-

(१) अविरुद्ध व्याप्योपलब्धि - साध्य से अविरुद्ध व्याप्य का सद्भाव । यथा - “शब्द

१८३. द्रष्टव्य, परीक्षामुख, ३.५३-३.८९

१८४. स हेतुर्द्धोपलब्ध्यानुपलब्धिभेदात् ।— परीक्षामुख, ३.५३

१८५. द्रष्टव्य, प्रमाणसङ्ग्रह में प्रतिपादित भेदों में उपलब्धि एवं अनुपलब्धि शब्दों का प्रयोग, प्रमाणसङ्ग्रह, २९-३१

१८६. द्रष्टव्य, यही अध्याय, पादटिप्पण १७९

१८७. द्रष्टव्य, परीक्षामुख, ३.५५-३.८५

परिणमनशील है, क्योंकि वह कृतक है।" यहां कृतकत्व हेतु व्याप्य है तथा अपने साध्य परिणामित्व को सिद्ध करता है।

(२) अविरुद्ध कार्योपलब्धि - साध्य से अविरुद्ध कार्य का सद्भाव। यथा- "इस देही में बुद्धि है, क्योंकि इसमें बुद्धि के कार्य वचनादिक हैं।" यहां पर बुद्धि साध्य है तथा उसका अविरोधी कार्य वचनादिक हेतु है।

(३) अविरुद्ध कारणोपलब्धि - साध्याविरोधी कारण का सद्भाव। यथा- "यहां छाया है, क्योंकि छत्र है।" यहां छाया साध्य का अविरोधी छत्र कारण हेतु है।

(४) अविरुद्ध पूर्वचरोपलब्धि - यथा- "एक मुहूर्त पश्चात् शकट नक्षत्र का उदय होगा, क्योंकि अभी कृत्तिका का उदय हुआ है।" यहां कृत्तिकानक्षत्र का उदय शकटनक्षत्र के उदय का पूर्वचर हेतु है।

(५) अविरुद्धोत्तरचरोपलब्धि - यथा- "एक मुहूर्त पूर्व भरणि का उदय हो चुका है, क्योंकि अभी कृत्तिका का उदय हुआ है।" यहां कृत्तिका नक्षत्र का उदय भरणि के उदय को सिद्ध करने में उत्तरचर हेतु है।

(६) अविरुद्धसहचरोपलब्धि - यथा- "इस आम में रूप है, क्योंकि रस है।" यहां रस, रूप साध्य का सहचर हेतु है।

विरुद्धोपलब्धि (निषेधसाधक विधि) हेतु के ६ भेद —

(१) विरुद्ध व्याप्योपलब्धि - साध्य के विरोधी व्याप्य का सद्भाव। यथा- "यहां शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि उष्णता है।"

(२) विरुद्धकार्योपलब्धि - इसमें प्रतिषेधात्मक साध्य के विरोधी कार्य का सद्भाव होता है। यथा- "यहां शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि धूम है।"

(३) विरुद्धकारणोपलब्धि - यथा "इस प्राणी में सुख नहीं है, क्योंकि इसके हृदय में शल्य है।"

(४) विरुद्धपूर्वचरोपलब्धि - यथा- "एक मुहूर्त के पश्चात् रोहिणी नक्षत्र का उदय नहीं होगा, क्योंकि अभी रेवती का उदय है।" रेवती नक्षत्र अश्विनी का पूर्वचर है।

(५) विरुद्धोत्तरचरोपलब्धि - यथा- "एक मुहूर्त पूर्व भरणि का उदय नहीं हुआ है, क्योंकि अभी पुष्य नक्षत्र का उदय हुआ है।" पुष्य नक्षत्र पुनर्वसु का उत्तरचर होता है।

(६) विरुद्धसहचरोपलब्धि - यथा- "इस भित्ति में परभाग का अभाव नहीं है, क्योंकि अर्वाग्भाग दिखाई दे रहा है।"

अविरुद्धानुपलब्धि (विधि-साधक निषेध) हेतु के ७ भेद—

(१) अविरुद्धस्वभावानुपलब्धि - यथा- "इस भूतल पर घट नहीं है, क्योंकि उपलब्धिलक्षण वाला



होने पर भी वह उपलब्ध नहीं है।”

(२) अविरोद्धव्यापकानुपलब्धि - यथा - “यहां शिशपा नहीं है, क्योंकि वृक्ष की अनुपलब्धि है।” शिशपा का वृक्षत्व के साथ व्याप्य-व्यापक भाव है। वृक्ष व्यापक है, शिशपा व्याप्य है, अतः वृक्ष के अभाव में शिशपा नहीं हो सकता।

(३) अविरोद्धकार्यानुपलब्धि - यथा - “यहां अप्रतिबद्ध (अबाधित) सामर्थ्य वाली अग्नि नहीं है, क्योंकि धूम उपलब्ध नहीं है।” जो कार्य करने में अनुपहत शक्ति वाला है उसे अप्रतिबद्ध सामर्थ्य युक्त कहा जाता है।

(४) अविरोद्धकारणानुपलब्धि - यथा - “यहां धूम नहीं है, क्योंकि अग्नि नहीं है।” अग्नि, धूम का कारण है, अतः अग्नि के अभाव में धूम नहीं हो सकता।

(५) अविरोद्ध पूर्वचरानुपलब्धि - यथा - “एक मुहूर्त पश्चात् शकट नक्षत्र का उदय नहीं होगा, क्योंकि अभी कृत्तिका नक्षत्र का उदय नहीं हुआ है।”

(६) अविरोद्ध उत्तरचरानुपलब्धि - यथा - “एक मुहूर्त पहले भरणि का उदय नहीं हुआ है, क्योंकि अभी कृत्तिका का उदय नहीं हुआ है।”

(७) अविरोद्ध सहचरानुपलब्धि - यथा - “तराजू में एक पलड़ा ऊंचा नहीं है, क्योंकि दूसरा पलड़ा झुका हुआ नहीं है।

विरुद्धानुपलब्धि (विधिसाधक निषेध) हेतु के ३ भेद-

(१) विरुद्धकार्यानुपलब्धि - साध्य से विरुद्ध अर्थ के कार्य का असदभाव। यथा - “इस प्राणी में व्याधिविशेष है, क्योंकि निरामय चेष्टा नहीं है। निरामय चेष्टा का न होना हेतु है तथा व्याधिविशेष साध्य।

(२) विरुद्ध कारणानुपलब्धि - यथा - “इस प्राणी में दुःख है, क्योंकि इष्ट के संयोग का अभाव है।” इष्ट के संयोग का अभाव हेतु है तथा दुःख साध्य है।

(३) विरुद्ध स्वभावानुपलब्धि - यथा - “वस्तु अनेकान्तात्मक है, क्योंकि उसका एक स्वरूप उपलब्ध नहीं है।”

वादिदेवसूरि ने भी माणिक्यनन्दी द्वारा प्रतिपादित हेतु-भेदों का ही निरूपण किया है। किन्तु वे माणिक्यनन्दी से तीन हेतुभेदों का निरूपण अधिक करते हैं। माणिक्यनन्दी द्वारा जहां कुल २२ भेदों का प्रतिपादन किया गया है, वहां वादिदेवसूरि द्वारा २५ भेदों का निरूपण किया गया है।<sup>१८८</sup> वे जिन तीन भेदों का प्रतिपादन अधिक करते हैं वे हैं -

१८८. द्रष्टव्य, प्रमाणनयतत्वालोक ३.६७-३.१०९

(१) स्वभाव विरुद्धोपलब्धि - यथा - “सर्वथा एकान्त नहीं है, क्योंकि अनेकान्त की उपलब्धि होती है।” इसमें साध्य के विरुद्ध स्वभाव हेतु की उपलब्धि है।

(२) विरुद्धव्यापकानुपलब्धि - यथा - “यहां छाया है, क्योंकि उष्णता की उपलब्धि नहीं है।” इसमें छाया साध्य है तथा उष्णता की अनुपलब्धि उसका हेतु है।

(३) विरुद्ध सहचरानुपलब्धि - यथा - “इस पुरुष का ज्ञान मिथ्या है, क्योंकि इसके सम्यग्दर्शन का अभाव है।” यहां मिथ्याज्ञान साध्य है तथा उसके विरोधी सहचर हेतु सम्यग्दर्शन का अभाव है।

यहां यह ध्यातव्य है कि माणिक्यनन्दी के परीक्षामुख में जहां विरुद्ध व्याप्योपलब्धि भेद दिया गया है, वहां वादिदेव के प्रमाणनयतत्त्वालोक में विरुद्ध व्याप्तोपलब्धि भेद मिलता है। उसका उदाहरण है - “इस पुरुष को तत्त्वनिश्चय नहीं है, क्योंकि इसको संदेह है।”

आचार्य हेमचन्द्र ने हेतु के पांच भेद प्रस्तुत किये हैं, जो कणाद<sup>१८९</sup> एवं धर्मकीर्ति<sup>१९०</sup> से प्रभावित हैं। पांच भेद हैं - (१) स्वभाव (२) कारण (३) कार्य (४) एकार्थसमवायी और (५) विरोधी।<sup>१९१</sup> इनमें स्वभाव, कारण, कार्य एवं एकार्थसमवायी हेतु विधिसाधक हैं तथा विरोधी हेतु निषेध साधक है। जैन दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में एकार्थसमवायी एवं विरोधी हेतु नवीन हैं। दृष्ट या अदृष्ट एक ही पदार्थ में जो हेतु समवायी रूप से साध्य के साथ रहता है वह एकार्थसमवायी कहलाता है, यथा - एक ही फल में रहे हुए रूप एवं रस में, शकटोदय एवं कृत्तिकोदय में, चन्द्रोदय एवं समुद्रवृद्धि में, वृष्टि एवं अण्डों से युक्त पिपीलिकाओं के क्षोभ में, नागवल्लीदाह एवं पत्रकोथ में एकार्थसमवायी हेतु होता है। यहां ध्यातव्य है कि हेमचन्द्र ने अकलङ्क प्रणीत पूर्वचर, उत्तरचर एवं सहचर हेतुओं का समावेश एकार्थसमवायी हेतु में कर लिया है। विरोधी हेतु प्रतिषेध्य साध्य या प्रतिषेध्य साध्य के कार्य, कारण और व्यापक से विरुद्ध होता है अथवा विरुद्ध का कार्य होता है, यथा - यहां शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि अग्नि है, शीत स्पर्श नहीं है, क्योंकि अप्रतिबद्ध सामर्थ्यवाले शीत के कारण नहीं हैं, आदि।<sup>१९२</sup> ऐसा प्रतीत होता है कि हेमचन्द्राचार्य ने अनुपलब्धि हेतु को विरोधी हेतु के रूप में प्रस्तुत किया है।

### समीक्षण

हेतु-भेदों के निरूपण में बौद्ध दार्शनिकों की यह मौलिकता है कि उन्होंने ही भारतीय दर्शन में सर्वप्रथम स्वभाव एवं अनुपलब्धि को हेतु-भेदों में स्थान दिया। अनुपलब्धि या अभाव को मीमांसा दार्शनिकों ने एक पृथक् प्रमाण के रूप में प्रतिपादित किया है, जबकि बौद्ध दार्शनिक अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि हेतु द्वारा करके अभाव-प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान में कर लेते हैं। स्वभावहेतु बौद्धों का नया प्रतिपादन है, जिसे जैन दार्शनिकों ने अपनाया है।

१८९. संयोगिसमवाय्येकार्थसमवायि विरोधि च - वैशेषिकसूत्र, ३.१.८

१९०. अनुपलब्धिः स्वभावः कार्यञ्चेति ।- न्यायबिन्दु, २.११

१९१. स्वभावः कारणं कार्यमेकार्थसमवायि विरोधि चेति पंचधा साधनम् ।- प्रमाणमीमांसा, १.२.१२

१९२. प्रमाणमीमांसा, १.२.१२, पृ. ४२-४५

जैन दार्शनिकों पर हेतु-भेद निरूपण में बौद्धों का प्रभाव रहा है। यही नहीं, अपितु जैन दार्शनिकों ने न्याय, मीमांसा, वैशेषिक आदि दर्शनों में विद्यमान हेतुओं का भी अपने हेतु-भेदों में यथाशक्य समावेश कर लिया है। कारण हेतु का प्रतिपादन न्याय एवं सांख्य दर्शन में प्रतिपादित पूर्ववत् हेतु का ही संशोधित रूप है। पूर्वचरहेतु की कल्पना संभवतः मीमांसा दर्शन में प्रतिपादित “कृत्तिकोदयमालक्ष्य रोहिण्यासत्तिकलृप्तिवत्”<sup>१९३</sup> वाक्य के आधार पर की गयी है। पूर्वचर के समान उत्तरचर एवं सहचर हेतुओं के भेद की कल्पना जैन दार्शनिकों की अपनी देन है। विद्यानन्द द्वारा वैशेषिक दर्शन में प्रतिपादित भूत-भूत, भूत-अभूत आदि भेदों को तथा हेमचन्द्र के द्वारा एकार्थसमवायी, विरोधी आदि हेतुओं को अपनाया गया है। न्यायदर्शन में प्रतिपादित केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी एवं अन्वय व्यतिरेकी हेतु जैनदर्शन में प्रवेश करते हुए दिखाई नहीं दिये।

बौद्ध दार्शनिकों ने स्वभाव, कार्य एवं अनुपलब्धि इन तीन हेतु-भेदों का स्थापन करने के अनन्तर इनकी संख्या में कोई वृद्धि नहीं की, किन्तु जैनदार्शनिक हेतु के अधिकाधिक भेद करने की ओर प्रवृत्त रहे। यह अवश्य है कि बौद्ध दार्शनिकों ने अनुपलब्धि हेतु के भेदों की संख्या में निरन्तर वृद्धि की है। वे अनुपलब्धि हेतु के तीन, चार, ग्यारह एवं सोलह भेद तक प्रतिपादित करते हैं। जैन दार्शनिक अकलङ्क ने हेतु के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, कुछ हेतुओं के नाम भी लिये हैं, किन्तु उन्होंने हेतु-संख्या को सीमा में आबद्ध नहीं किया, फलतः उत्तरवर्ती दार्शनिकों द्वारा हेतु-संख्या में उन्मुक्त वृद्धि की जाती रही। विद्यानन्द, माणिक्यनन्दी एवं वादिदेवसूरि द्वारा हेतु के मूल रूप से उपलब्धि एवं अनुपलब्धि दो भेद करना तथा दोनों के अतिरुद्ध एवं विरुद्ध रूप से दो-दो भेद कर अनेक उपभेद प्रतिपादित करना उनकी अपनी सूझ-बूझ है, किन्तु उपलब्धि एवं अनुपलब्धि के रूप में विभाजन आदि के प्रेरणा-स्रोत संभव है अकलङ्क एवं विद्यानन्द के साथ धर्मकीर्ति के ग्रंथ भी रहे हों, क्योंकि धर्मकीर्ति के प्रतिपादन से माणिक्यनन्दी एवं वादिदेवसूरिकृत विभाजन में पर्याप्त साम्य है।

बौद्ध दार्शनिक जहां स्वभाव एवं कार्य हेतु को विधिसाधक तथा अनुपलब्धि हेतु को निषेधसाधक रूप में प्रतिपादित करते हैं, वहां जैन दार्शनिक समस्त हेतुओं को विधि एवं निषेध साधक के रूप में प्रस्तुत करते हैं, जो जैनदार्शनिकों की अपनी मौलिक देन है तथा वह बौद्ध-प्रतिपादन से उल्लेखनीय वैशिष्ट्य रखती है। पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर एवं कारण हेतु का प्रतिपादन भी जैनदार्शनिकों को बौद्धों से पृथक् करता है।

## जैनों द्वारा स्थापित विशिष्ट हेतु

अब उन विशिष्ट हेतुओं की चर्चा की जायेगी जिनको जैनदार्शनिकों ने बौद्ध-मान्यता के विरुद्ध पृथक् हेतुओं के रूप में स्थापित किया है। वे हेतु हैं- कारण, पूर्वचर, उत्तरचर एवं सहचर।

### कारण हेतु

बौद्ध दार्शनिक स्वभाव, कार्य एवं अनुपलब्धि के अतिरिक्त चतुर्थ हेतु स्वीकार नहीं करते हैं,

१९३. श्लोकवार्तिक, अनुमानपरिच्छेद, १३

अतः उनके मत में 'कारण' नामक हेतु स्वीकृत नहीं है। जैन दार्शनिकों ने बौद्ध मान्यता का खण्डन करते हुए 'कारण' को हेतु रूप में प्रतिष्ठित किया है। अकलङ्क, विद्यानन्द, माणिक्यनन्दी, प्रभावचन्द्र, वादिदेवसूरि एवं हेमचन्द्र के ग्रंथों में कारण हेतु पर विचार किया गया है। वादिदेवसूरि ने कारण हेतु के सम्बन्ध में बौद्ध मत को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित किया है, उसे उपयोगी समझकर यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है तथा उसके अनन्तर जैनमतानुसार कारण हेतु को प्रतिष्ठित किया गया है।

**पूर्वपक्ष** - कारण का कार्य के साथ अविनाभाव नहीं है। इसलिए कारण कार्य रूप साध्य का साधन या हेतु नहीं हो सकता। "नाऽवश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति"<sup>१९४</sup> अर्थात् कारण आवश्यक रूप से कार्य को उत्पन्न नहीं करते हैं। इसलिए कारण मात्र का हेतु होना युक्त नहीं है। विनाश, प्रतिबंध (बाधा) आदि से उसमें व्यभिचार भी देखा जाता है। अनेक कारण कार्य को बिना उत्पन्न किये ही नष्ट हो जाते हैं तथा अनेक कारणों से कार्य की उत्पत्ति में बाधा आती है। जिससे कार्य की उत्पत्ति अवश्य हो, ऐसे कारण विशेष का निर्णय विद्वान् व्यक्ति भी नहीं कर सकता। यह देखा जाता है कि प्रचण्ड एवं विद्युत् से चमकने वाले बादल भी वर्षा किये बिना ही उपरम हो जाते हैं। यदि अन्त्यदशावर्ती कारण ही लिङ्ग रूप से अंगीकार किया जाता है तो उसमें व्याप्ति का स्मरण करने के समय ही कार्य प्रत्यक्ष हो जाता है, अतः तब अनुमान व्यर्थ सिद्ध होता है।<sup>१९५</sup>

**उत्तरपक्ष**-अकलङ्क द्वारा बौद्धमत का सीधा खण्डन नहीं किया गया है, किन्तु उन्होंने 'कारण' को हेतु के रूप में स्थापित करने के लिए अनेक कारण हेतुओं के उदाहरण दिये हैं, यथा-वृक्ष से छाया का ज्ञान, चन्द्रमा से जल में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब का ज्ञान आदि। अकलङ्क का मत है कि वृक्षादि से छाया का ज्ञान होने में कोई विसंवाद नहीं है, तथा वृक्षादि छाया के ज्ञान में न स्वभाव हेतु हैं और न कार्यहेतु। वृक्षादि तो छाया के कारण हैं।<sup>१९६</sup> कारण होते हुए भी उनसे अविंसंवाद रूप से छाया का ज्ञान होता है, इसलिए वृक्षादि कारणों को भी हेतु मानना चाहिए। चन्द्रमा से जल में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब का ज्ञान भी अव्यभिचारित रूप से होता है, अतः उसे भी कारण हेतु मानना चाहिए।<sup>१९७</sup>

बौद्ध मन्तव्य का निरसन कर कारण को हेतु रूप में प्रतिष्ठित करने का महनीय कार्य विद्यानन्द ने किया है। विद्यानन्द कहते हैं कि विशिष्ट जलद की उन्नति देखकर वर्षा का अनुमान होता है तथा वृक्ष या छत्रादि को देखकर छायाविशेष का अनुमान होता है। इसलिए कारण को हेतु मानना चाहिए। समस्त अनुकूल कारण 'हेतु' नहीं होते हैं, किन्तु जो कारण कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं, जिनका सामर्थ्य प्रतिबंधित नहीं होता है वे कारण ही हेतु होते हैं। बौद्ध-सम्मत अन्त्यक्षण भी विद्यानन्द के मत में कारण हेतु नहीं है, क्योंकि उसके अग्रिम क्षण में कार्य हो जाने से अनुमान व्यर्थ हो जाता

१९४. तुलनीय- "नावश्यं कारणानि तद्वन्ति भवन्ति", प्रमाणवार्तिक, (स्ववृत्ति), पृ. ३

१९५. स्याद्वादरत्नाकर, पृ. ५८६

१९६. न हि वृक्षादिः छायादेः स्वभावः कार्यं वा । न चात्र विसंवादोऽस्ति ।— लघीयस्त्रयवृत्ति, अकलङ्कग्रन्थत्रय, पृ. ५

१९७. चन्द्रादेर्जलचन्द्रादिप्रतिपत्तिस्तथाऽनुमा ।— लघीयस्त्रय, १३

है। विद्यानन्द कारण हेतु को लोकव्यवहार के लिए उपयोगी मानते हैं, इसलिए उनका कथन है कि कारण हेतु का लोप होने पर तृप्ति आदि कार्यों की सिद्धि के लिए आहार आदि कारणों की प्रवृत्ति रूप समस्त ख्यात व्यवहार का लोप हो जायेगा। आहार आदि कारण से तृप्ति रूप कार्य का अनुमान लोकव्यवहार में प्रसिद्ध है।<sup>१९८</sup> धर्मकीर्ति ने समग्र हेतु से कार्य की उत्पत्ति के अनुमान का वाक्य कहा है,<sup>१९९</sup> वह भी कारण हेतु को ही सिद्ध करता है। बौद्ध दार्शनिक यदि इसमें अर्थान्तर की अपेक्षा नहीं होने के कारण इसे स्वभाव हेतु कहते हैं<sup>२००</sup> तो यह उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इस प्रकार कार्यहेतु को भी स्वभाव हेतु मानने का प्रसंग आता है।<sup>२०१</sup>

माणिक्यनन्दी, प्रभाचन्द्र एवं वादिदेवसूरि पर विद्यानन्द का प्रभाव है। माणिक्यनन्दी ने विद्यानन्द के मत को ही संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए कहा है कि जैनदर्शन में वही 'कारण' हेतु के रूप में स्वीकार किया गया है जो अप्रतिबंधित या अबाधित सामर्थ्य से युक्त होता है एवं अन्य सहकारी कारणों से भी युक्त होता है। समस्त कारणों के मिलने पर अबाधित सामर्थ्य वाला कारण कार्य का गमक होता ही है। रस से एक सामग्री में रूप का अनुमान करने वाले बौद्धों को भी कारण हेतु इष्ट ही है।<sup>२०२</sup> माणिक्यनन्दी ने कारण हेतु का उदाहरण दिया है- 'अस्त्यत्र छाया छात्रात्'<sup>२०३</sup> अर्थात् यहां छाया है क्योंकि छत्र है। छत्र छाया का कारण है, अतः धूप में खुले हुए छाते को देखकर अनुमान किया जा सकता है कि उसके नीचे छाया है।

बौद्धों का मन्तव्य है कि कार्य-कारण भाव के सिद्ध होने पर कार्य ही कारण का गमक होता है क्योंकि कार्य का ही कारण के साथ अविनाभाव है। कारण कार्य का गमक नहीं होता, क्योंकि कारण का कार्य के साथ अविनाभाव नहीं होता। प्रभाचन्द्र ने बौद्ध मन्तव्य का खण्डन करते हुए कहा है कि कार्य के साथ निश्चित अविनाभाव रखने वाला कारण भी कार्य का गमक होता है, यथा छाता आदि विशिष्ट कारणों से छाया आदि कार्यों का अनुमान होता देखा जाता है। विद्यानन्द के समान प्रभाचन्द्र स्पष्ट कहते हैं कि अनुकूलता रूप कारण को कारण हेतु नहीं माना गया है और न ही अन्त्यक्षण प्राप्त कारण को कारण हेतु माना गया है, क्योंकि इनमें अविनाभाव की विकलता संभव होने से व्यभिचार देखा जा सकता है। माणिक्यनन्दी द्वारा प्रस्तुत तर्क को ही प्रभाचन्द्र आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि बौद्धों के द्वारा भी आस्वाद्यमान रस से उसकी जनक सामग्री का अनुमान किया जाता है तथा सामग्री

१९८. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१३.२१८-२२३

१९९. हेतुना यः समग्रेण कार्योत्पादोऽनुमीयते ।—प्रमाणवार्तिक, ३.७

२००. अर्थान्तरानपेक्षात्वात् स स्वभावोऽनुवर्षितः ।—प्रमाणवार्तिक, ३.७

२०१. कार्यस्थापि स्वभावत्वप्रसंगादविशेषतः ।—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१३.२२६

२०२. रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छद्विधिरिष्टमेव किंचित्कारणं हेतुर्वत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये ।

—परीक्षामुख, ३.५६

२०३. परीक्षामुख, ३.६३

के अनुमान से उसके रूप का अनुमान किया जाता है।<sup>२०४</sup> सजातीय रूपक्षण अन्य सजातीय रूपक्षण को उत्पन्न करता हुआ ही विजातीय रसादि अन्य क्षण की उत्पत्ति में समर्थ होता है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार एक सामग्री के अनुमान से रूप का अनुमान करने वाले बौद्धों को भी ऐसा कारण हेतु अभीष्ट ही है जो अबाधित सामर्थ्य वाला हो तथा कारणान्तरों से युक्त हो।<sup>२०५</sup>

वाद्दिदेवसूरि कहते हैं कि सौगतों को भी कारण से कार्य का अनुमान अभीष्ट है, जैसा कि धर्मकीर्ति के 'हेतुना यः समग्रेण कार्योत्पादोऽनुमीयते' (प्रमाणवार्तिक, ३.७) वाक्य से ज्ञात होता है।

बौद्ध - जिससे उत्पन्न होता है वह उत्पाद है। उत्पाद का अर्थ यहां योग्यता है। उत्पन्न करने की योग्यता ही यहां अनुमेय है। वह योग्यता वस्तु से भिन्न नहीं होती है अतः वह स्वभाव हेतु है, कारण हेतु नहीं। धर्मकीर्ति का कथन है कि अर्थान्तर की अपेक्षा नहीं होने से कार्य को उत्पन्न करने की योग्यता रूप कारण को स्वभाव हेतु कहा गया है।<sup>२०६</sup>

वाद्दिदेवसूरि - रात्रि में आस्वाद्यमान आप्रादि फल के रस रूप कार्य हेतु से उसको उत्पन्न करने वाली सामग्री का अनुमान किया जाता है। तदनन्तर उस कारण हेतु रूप सामग्री से रूपलक्षण कार्य का अनुमान होता है।<sup>२०७</sup> पूर्व रूपलक्षण अन्य सजातीय रूपलक्षण कार्य को उत्पन्न करता है इस प्रकार रूप का अनुमान करने वाले बौद्धों के द्वारा कारण को हेतु रूप स्वीकार कर ही लिया गया है।<sup>२०८</sup> क्योंकि बौद्धमत में पूर्व रूपलक्षण (स्वलक्षण) अन्य सजातीय रूपलक्षण को अव्यभिचरित रूप से उत्पन्न करता है। अन्यथा रस के समान काल में होने वाले रूप की प्रतिपत्ति संभव नहीं है।

वाद्दिदेव ने भी विद्यानन्द की भांति अनुकूल मात्र एवं अन्त्यक्षण में प्राप्त कारण को लिङ्ग मानने का निषेध किया है, क्योंकि मणिमन्त्रादि द्वारा अनुकूल कारण के सामर्थ्य में बाधा उत्पन्न होने पर अथवा कारणान्तर के विकल होने पर कार्य में व्यभिचार उत्पन्न हो सकता है। इसी प्रकार अन्त्यक्षण के अनन्तर द्वितीयक्षण में कार्य का प्रत्यक्ष हो जाने से अनुमान निरर्थक हो सकता है।

वाद्दिदेव ने प्रतिपादित किया है कि कार्य के साथ अविनाभावी रूप से निश्चित एवं विशिष्ट उन्नत मेघादि ही वर्षा आदि कार्य के हेतु होते हैं। जिस कारण के सामर्थ्य में निश्चित रूप से बाधा उत्पन्न न हो तथा कारणान्तर की विकलता न हो उसी कारण का लिङ्ग होना जैन मत में स्वीकृत है अन्य का नहीं। विद्यानन्द के समान वाद्दिदेव कहते हैं कि यदि कारण हेतु स्वीकार नहीं करेंगे तो तृप्ति आदि के लिए भोजनादि में भी प्रवृत्ति नहीं होगी, फलस्वरूप समस्त व्यवहार का उच्छेद हो जायेगा।

२०४. तुलनीय, एकसामग्र्यधीनस्य रूपादेः रसतो गतिः — प्रमाणवार्तिक, ३.९

२०५. द्रष्टव्य, प्रमेयकमलमार्तच्छ, भाग-२, पृ. ३८९-९०

२०६. द्रष्टव्य, यही अध्याय, पादटिप्पण, २०९

२०७. तमस्विन्यामास्वाद्यमानादाप्रादिफलरसादेकसामग्र्यनुमित्या रूपाद्यनुमितिमिथमन्वमानैरभिमतमेव किमपि कारणं हेतुतया यत्र शक्तेर्यतिस्खलनमपरकारणसाकल्यञ्च — प्रमाणनवतत्वालोक, ३.७०

२०८. द्रष्टव्य, यही अध्याय, पादटिप्पण, २०४

अतः कार्य के समान कारण भी व्याप्ति सद्भाव से हेतु ही है।<sup>२०९</sup>

वादिदेव ने बौद्धों के इस कथन का खण्डन किया है कि कारण विशेष का निश्चय विपश्चित् पुरुष भी नहीं कर सकता। वादिदेव कहते हैं कि सुनिपुण प्रमाता कारण विशेष का निश्चय कर सकता है। जिस प्रकार कार्यगत विशेष का अभ्यास से अवधारण करके निपुण पुरुष कार्य से कारण का अनुमान करते हैं, उसी प्रकार कारणगत विशेष का अवधारण करके भी वे कारण से कार्य का अनुमान करते हैं।<sup>२१०</sup> क्योंकि कारण का अनुपलम्भ होने पर जिस प्रकार कार्य का अनुपलम्भ हो जाता है उसी प्रकार बोध्य के अभ्यास से कार्य का अनुपलम्भ भी कारण के अनुपलम्भ का ज्ञान कराता है।

बौद्धों के इस मंतव्य का कि अकाण्ड आड़म्बर करने वाले प्रचण्ड बादल भी अनेक बार नहीं बरसते हैं, वादिदेवसूरि निरसन करते हुए कहते हैं कि बौद्धों का कथन प्रलाप मात्र है, क्योंकि विशिष्ट उन्नति आदि धर्म समूह से युक्त बादल रूप कारण का निकट काल में होने वाली वर्षा रूप कार्य से अव्यभिचार देखा जाता है। जिन बादलों का तूफान आदि से विध्वंसन हो जाता है उन बादलों का वर्षा से यदि व्यभिचार पाया जाता है तो उन बादलों को वादिदेवसूरि भी वर्षा रूप कार्य का गमक नहीं कहते हैं। उनका कथन है कि एक स्थान पर कारण का कार्य से व्यभिचार प्राप्त होने पर सर्वत्र व्यभिचार बतलाना परीक्षकपुरुषों के लिए उचित नहीं है, अन्यथा समस्त अनुमान व्यवहार के प्रलय का प्रसङ्ग आता है। गोपालघटिका के धूम से अग्नि के साथ व्यभिचार प्राप्त होने पर यदि सर्वत्र धूम का अग्नि के साथ व्यभिचार मान लिया जाय तो पर्वत की कन्धरा में विद्यमान धूम से भी अग्नि का अनुमान नहीं हो सकेगा। बौद्धों ने समग्र हेतु से कार्य की उत्पत्ति कहते हुए भी योग्यतानुमान से उसे स्वभाव हेतु में अन्तर्भूत किया है, वह भी उचित नहीं है। साध्य एवं साधन का एकान्त तादात्म्य स्वीकार करने पर स्वभावानुमान संभव नहीं है, क्योंकि लोक समग्र कारण से कार्य का ही अनुमान करता है, योग्यता का नहीं।<sup>२११</sup>

हेमचन्द्र ने भी कारण हेतु की सिद्धि में पूर्ववर्ती विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र आदि का अनुकरण किया है। हेमचन्द्र का कथन है कि कारण को हेतु स्वीकार किये बिना कार्य में प्रवृत्ति नहीं होती। समस्त कार्यार्थी पुरुष कारण विशेष को देखकर ही कार्य में प्रवृत्त होते हैं।<sup>२१२</sup> वाष्प या मशकों की बाती के रूप में सन्दिग्ध धूम का निश्चित ज्ञान उसके कारण अग्नि द्वारा ही होता है। इसी प्रकार वर्षा का अनुमान विशिष्ट मेघोन्नति से होता हुआ देखा गया है। हेमचन्द्र भी उसी कारण को सद्हेतु मानते हैं जो निश्चित रूप से कार्य का जनक हो, जिसकी शक्ति मन्त्रादि से बाधित न हो तथा जिसमें कारणान्तरों

२०९. स्याद्वादरत्नाकर, पृ. ५८७

२१०. स्याद्वादरत्नाकर, पृ. ५८८

२११. स्याद्वादरत्नाकर, पृ. ५८८-८९

२१२. कारणविशेषाद्धि सर्वः कार्यार्थी प्रवर्तते।— प्रमाणमीमांसा, वृत्ति १.२.१२, पृ. ४२

की विकलता न हो ।<sup>२१३</sup>

## समीक्षण

जैन दार्शनिकों ने 'कारण' को हेतु रूप में मुख्यतः लोकव्यवहार के कारण स्वीकार किया है, तथा वे समस्त अनुकूल कारणों को हेतु की संज्ञा नहीं देते हैं, अपितु उसी कारण को हेतु रूप में स्वीकार करते हैं जो निश्चित रूप से कार्य को उत्पन्न करता है, जिसमें कार्य को उत्पन्न करने का सामर्थ्य बाधित नहीं होता है, तथा कारणान्तरों के सहकार की भी जिसमें विकलता नहीं होती है ।

जैन दार्शनिकों द्वारा कारण को हेतु रूप में प्रतिष्ठित करना लोक-व्यवहार के लिए उपादेय हो सकता है, तथा वह अधिकतर प्रवृत्तिशील पुरुषों के व्यवहार की व्याख्या भी कर सकता है, किन्तु कारण का कार्य की उत्पत्ति के साथ अविनाभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता । कारण, कार्य<sup>०</sup> अभाव में रह सकता है तथा अनेक कारण कार्य को उत्पन्न किये बिना विराम भी पा सकते हैं । इसलिए कारण को हेतु मानना अव्यभिचरित नहीं कहा जा सकता, तथापि जैन दार्शनिकों ने कारण को हेतु सिद्ध करते हुए उसके साथ वे सब शर्तें लागू कर दी हैं, जो उसे हेतु के रूप में प्रतिष्ठित कर सकें । इस बात का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता कि अनेक बार कारण से अव्यभिचरित कार्य का ज्ञान होता है, और हम इसलिए उन कारणों में प्रवृत्त होते हैं जो हमारा अभीष्ट कार्य सम्पन्न कर सकें । यथा—दवा रूप कारण का उपयोग करके हम बीमारी को समाप्त करना चाहते हैं, और अनेक बार अव्यभिचरित रूप से बीमारी दूर भी हो जाती है, किन्तु यह कोई निश्चितता नहीं है कि हर बार अमुक दवा से अमुक रोग दूर हो ही जाय । ऐसे उदाहरण भी देखने में आये हैं, जिनमें कारण अव्यभिचरित रूप से कार्य को उत्पन्न करता है, यथा- 'दूध मीठा है, क्योंकि इसमें निश्चित मात्रा में चीनी मिलाई गई है ।' 'गुब्बारा ऊपर उड़ेगा, क्योंकि इसमें हाइड्रोजन गैस भरी गयी है ।' 'प्रतिक्रिया होगी, क्योंकि क्रिया हुई है ।' क्रिया की प्रतिक्रिया होने का वैज्ञानिक सिद्धान्त अव्यभिचरित रूप से विज्ञान जगत् में मान्य हो गया है, जो एक प्रकार से कारण हेतु का ही रूप है ।

समर्थ कारण के कदाचित् हेतु होने का प्रतिषेध निश्चित रूप से नहीं किया जा सकता, किन्तु जैनदर्शन में प्रतिपादित हेतु-लक्षण के साथ उसका सामञ्जस्य नहीं बैठ पाता, क्योंकि जैन दार्शनिकों के अनुसार हेतु साध्य के अभाव में नहीं रहता है, जबकि कारण, कार्य की उत्पत्ति न होने तक उसके अभाव में रह सकता है, इसलिए कारण को हेतु मानने में स्पष्टतः साध्य के साथ निश्चित अविनाभाविता रूप लक्षण का उल्लंघन होता हुआ दिखाई देता है, जो विचारणीय है ।

## पूर्वचर एवं उत्तरचर हेतु

जैन दार्शनिकों ने क्रमभाव-अविनाभाव के आधार पर साध्य की सम्यक् प्रतिपत्ति कराने वाले पूर्वचर एवं उत्तरचर हेतुओं को भी प्रतिष्ठित किया है । जैन दार्शनिकों का मन्तव्य है कि दो वस्तुओं

२१३. प्रमाणमीमांसा, पृ. ४२-४३



के उदयादि का जब कोई निश्चित क्रम हो तो उनमें पूर्वभावी वस्तु द्वारा पश्चाद्भावी वस्तु का पूर्वचर हेतु के रूप में तथा पश्चाद्भावी वस्तु द्वारा पूर्वभावी वस्तु का उत्तरचर हेतु के रूप में क्रमभाव-अविनाभाव के कारण निश्चित एवं सम्यक् ज्ञान होता है। यथा—कृत्तिकोदय से शकटोदय का ज्ञान पूर्वचर हेतु का तथा कृत्तिकोदय से भरणी के उदय का ज्ञान उत्तरचर हेतु का उदाहरण है।

बौद्ध दार्शनिकों ने पूर्वचर एवं उत्तरचर हेतु को पृथक् हेतु के रूप में स्वीकार नहीं किया है। प्रज्ञाकरगुप्त ने उन्हें कार्य हेतु में सम्मिलित करने का प्रयास किया है, किन्तु जैनदार्शनिक माणिक्यनन्दी, प्रभाचन्द्र एवं वाद्विदेवसूरि उनके इस मंतव्य का खण्डन करते हुए पूर्वचर एवं उत्तरचर हेतु को पृथक् हेतुओं के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं।

बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार तादात्म्य रूप अविनाभाव से स्वभावहेतु एवं तदुत्पत्ति रूप अविनाभाव से कार्य हेतु फलित होता है, किन्तु माणिक्यनन्दी कहते हैं कि पूर्वचर एवं उत्तरचर हेतुओं में तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि इनमें काल का व्यवधान है। अतः इनका स्वभाव एवं कार्यहेतुओं में अन्तर्भाव नहीं हो सकता।<sup>२१४</sup>

प्रभाचन्द्र कहते हैं कि जिस प्रकार भविष्य में उत्पन्न होने वाले शंख नामक चक्रवर्ती के काल में असद्भूत (भूतकालीन) रावणादि का तादात्म्य या तदुत्पत्ति सम्बन्ध नहीं हो सकता, उसी प्रकार शकट नक्षत्र के उदय काल में अथवा उसके अनन्तर कृत्तिका नक्षत्र का उदय नहीं होता। अतः इनमें तादात्म्य अथवा तदुत्पत्ति सम्बन्ध नहीं है। तादात्म्य सम्बन्ध समकालीन कृतकत्व एवं अनित्यत्व आदि में होता है। तथा अग्नि एवं धूम आदि के समान परस्पर अव्यवहित काल में रहने वाले पदार्थों में तदुत्पत्ति सम्बन्ध हो सकता है, काल से व्यवहित पदार्थों में नहीं, अन्यथा अतिप्रसंग होगा।<sup>२१५</sup> आगे प्रभाचन्द्र ने प्रज्ञाकर का मंतव्य देकर उसका निरसन किया है, यथा—

प्रज्ञाकर—भावी रोहिणी या शकट का उदय कृत्तिकोदय का कार्य है, अतः रोहिणी का उदय कार्यरूप से कृत्तिकोदय का गमक होने के कारण कार्यहेतु में अन्तर्भूत हो जायेगा।

प्रभाचन्द्र—भरणी का उदय हो चुका, क्योंकि अभी कृत्तिका का उदय है, इसका अनुमान कैसे होगा ? यदि भरणी का उदय भी कृत्तिकोदय का कारण है, अतः कृत्तिकोदय से भरणी का अनुमान हो जायेगा तो यह संभव नहीं है, क्योंकि जिस स्वभाव द्वारा भरणी का उदय होने से कृत्तिका का उदय हुआ, उसी स्वभाव से यदि शकट (रोहिणी) का उदय होने से कृत्तिका का उदय हुआ है, ऐसा मानें तो भरणी के उदय के बाद जिस प्रकार कृत्तिका का उदय होता है उसी प्रकार शकट के उदय के बाद भी कृत्तिका का उदय होना चाहिए तथा जिस प्रकार रोहिणी के उदय से पूर्व कृत्तिका का उदय होता है, उसी प्रकार भरणी के उदय से पूर्व भी कृत्तिका का उदय होना चाहिए। यदि अतीत एवं अनागत कारणों का एक

२१४. न च पूर्वोत्तरचारिणोस्तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा कालव्यवधाने तदनुपलब्धेः ।— परीक्षामुख, ३.५७

२१५. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-२, पृ. ३९१

कार्य में व्यापार स्वीकार करते हैं तो इस प्रकार आस्वाद्यमान रस का हेतु अतीत का रस अथवा भावी रूप हो जायेगा। तब वर्तमान एवं अतीत रूप की प्रतीति नहीं होगी एवं धर्मकीर्ति का यह कथन भी अयुक्त हो जायेगा कि “अतीत एवं वर्तमान कालीन पदार्थों (साध्यों) का ही कार्य हेतु द्वारा बोध होता है न कि अनागतों का।”<sup>२१६</sup> यदि कृत्तिकोदय रूप हेतु भरणी-उदय और रोहिणी उदय में से किसी एक का कार्य है तो फिर भरणी एवं रोहिणी उदय में से कृत्तिकाहेतु द्वारा एक का ही ज्ञान होगा।<sup>२१७</sup>

बौद्ध इस सम्बन्ध में यह तर्क देते हैं कि काल से व्यवहित कार्यकारण रूप पदार्थ भी उपलब्ध होते हैं। निद्रा के अनन्तर अतीत जाग्रद्रोध रहता है तथा मरणादि असद्भूत होते हुए भी अरिष्ट (मृत्यु सूचक लक्षण) आदि कार्य को करते हैं अर्थात् मरणभावीकाल में होने वाला है और उसका अरिष्ट (मृत्यु सूचक लक्षण) रूप कार्य पहले होता है, अतः कारण बाद में एवं कार्य पहले भी देखा गया है। अतः कार्य हेतु से ही कारण का अनुमान होता है। इस आशंका का माणिक्यनन्दी<sup>२१८</sup> प्रभाचन्द्र<sup>२१९</sup> एवं वादिदेवसूरि ने निराकरण किया है। यहां वादिदेव कृत निराकरण प्रस्तुत है।

वादिदेवसूरि बौद्ध मंतव्य का खण्डन करते हुए कहते हैं कि अतीत की जागरित अवस्था का ज्ञान सुप्तोत्तरकालभावी वर्तमान के प्रति कारण नहीं हो सकता, क्योंकि ये दोनों कारण व्यवहित होने से व्यापार रहित हैं। व्यापार पूर्वक कार्य के प्रति कोई पदार्थ कारण बनता है। जिस प्रकार कि कुलाल की घट के प्रति कारणता सव्यापार है। सर्वत्र कार्यकारणभाव अन्वय-व्यतिरेक पूर्वक होता है और अन्वयव्यतिरेक कार्य के कारणव्यापार की अपेक्षा रखने पर ही होते हैं। जिस प्रकार कि कुम्भ अपनी उत्पत्ति में कुम्भकार के व्यापार की अपेक्षा रखता है। अनागत मरण एवं अतीत जाग्रद्दशा का क्रमशः अरिष्ट एवं वर्तमान जागरण के प्रति व्यवहित होने से कारण होना उपयुक्त नहीं, यदि फिर भी कारण माना जाय तो अतिप्रसक्ति होगी। परम्परा से व्यवहित अन्य पदार्थों को भी फिर किसी कार्य के प्रति कारण बनने से नहीं रोका जा सकता।<sup>२२०</sup>

बौद्ध प्रश्न करते हैं कि अरिष्ट और भावी मरण में कार्यकारण भाव किस प्रकार हो जाता है? प्रभाचन्द्र इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि अविनाभाव से एक को देखकर दूसरे का ज्ञान होता है। तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति लक्षण वाले प्रतिबन्ध में भी अविनाभाव से ही ज्ञान होता है। अविनाभाव के अभाव में तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति सम्बन्ध के रहते हुए भी वक्तृत्व एवं तत्पुत्रत्व हेतु असर्वज्ञत्व एवं श्यामत्व रूप साध्य के गमक नहीं होते। तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति नहीं होने पर भी केवल अविनाभाव से कृत्तिकोदय हेतु जिस प्रकार रोहिणी के उदय का ज्ञान कराता है, उसी प्रकार चन्द्रोदय हेतु से

२१६. अतीतैककालानां गतिर्नाऽनागतानां व्यभिचारात् ।— प्रमाणवार्तिक (स्ववृत्ति), १२, पृ. ५

२१७. द्रष्टव्य, प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-२, पृ. ३९२-९३

२१८. भाव्यतीतयोर्मरणजाग्रद्रोधयोरेपि नारिष्टोद्बोधौ प्रति हेतुत्वम् ।

तदव्यापाराश्रितं हि तद् भावभावित्वम् ।— परीक्षामुख, ३.६२-६३

२१९. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-२, पृ. ३९४-३९८

२२०. प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.६८-७१

समुद्रवृद्धि का, उद्गृहीताण्डकपिपीलिकोत्सर्पण (अण्डे ग्रहण कर चींटियों के गमन हेतु) से भावी वर्षा का ज्ञान होता है।<sup>२२१</sup>

## समीक्षण

पूर्वचर एवं उत्तरचर हेतुओं का स्थापन जैन दार्शनिकों की सांख्यव्यवहारिक दृष्टि का परिचायक है। आज भी हम, आज रविवार होने से, कल होने वाले सोमवार का तथा बीते हुए शनिवार का अनुमान कर लेते हैं। यह पूर्वचर एवं उत्तरचर हेतुओं का प्रयोग है। कुछ घटनाओं के घटित होने का जब निश्चित क्रम हो एवं उस क्रम से घटना निश्चित रूप से घटित हुई हो या होने वाली हो तो पूर्वचर एवं उत्तर हेतुओं का उपयोग निश्चित रूप से उपादेय है। मौसमविज्ञान की जानकारी, सिगनल से ट्रेन आने की जानकारी पूर्वचर हेतु द्वारा ही निर्धारित होती है। उत्तरचर हेतु भी इसी प्रकार दैनिक उपयोग में आता रहता है। किन्तु पूर्ण तार्किक दृष्टि से हेतु-लक्षण का विचार किया जाय तो पूर्वचर एवं उत्तरचरहेतुओं में साध्याविनाभाविता सिद्ध नहीं की जा सकती, क्योंकि पूर्वचर हेतु में तो हेतु साध्य के पूर्व होने से, उसके अभाव में भी रहता है, किन्तु सांख्यव्यवहारिक दृष्टि से क्रमभावी अविनाभाव स्वीकार कर पूर्वचर आदि को हेतुरूप में अङ्गीकार किया जा सकता है।

## सहचर हेतु

सहचर हेतु को भी जैन दार्शनिकों ने स्वभाव, कार्य एवं अनुपलब्धि से पृथक् हेतु सिद्ध किया है। अकलङ्क ने 'तुला के एक पलड़े के ऊपर उठने से उसके दूसरे पलड़ेके झुकने का अनुमान,' 'चन्द्रादि के अर्वांगभाग को देखकर उसके परभाग का अनुमान' आदि अनुमिति के अनेक ऐसे उदाहरण दिये हैं जो सहचर हेतु की उपादेयता को प्रस्तुत करते हैं।<sup>२२२</sup> माणिक्यनन्दी एवं वादिदेवसूरि ने आम्रफल में रस से रूप की अनुमिति को सहचर हेतु का उदाहरण बतलाया है।<sup>२२३</sup>

माणिक्यनन्दी ने सहचर हेतु की पृथक्ता प्रतिपादित करते हुए कहा है कि सहचारी साध्य एवं साधन में भी तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति सम्बन्ध नहीं हो सकते, क्योंकि ये सहचारी परस्पर का परिहार करके अवस्थित रहते हैं तथा साथ उत्पन्न होते हैं।<sup>२२४</sup> तादात्म्य सम्बन्ध होने पर स्वभाव हेतु तथा तदुत्पत्ति सम्बन्ध होने पर कार्यहेतु माना जा सकता है, अन्यथा नहीं। इसलिए सहचर हेतु एक भिन्न हेतु है। प्रभावन्द्र ने माणिक्यनन्दी के कथन को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो परस्पर परिहारपूर्वक

२२१. (१) प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-२, पृ. ३९७

(२) पिपीलिकोत्सर्पण, मत्स्यविकार आदि से वर्षा आदि के अनुमान को धर्मकीर्ति ने कार्य हेतु माना है। द्रष्टव्य, प्रमाणवार्तिक, (स्ववृत्ति), १२, पृ. ५

२२२. द्रष्टव्य, यही अध्याय, पादटिप्पण १२७ एवं १२९

२२३. (१) अस्त्यत्र मातुलिंगे रूपं रसात् ।- परीक्षामुख, ३.६६

(२) अस्तीह सहकारफले रूपविशेष; समास्वाद्यमानरसविशेषात्, इति सहचरस्य ।- प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.८२

२२४. (१) सहचारिणोरपि परस्परपरिहारेणावस्थानात्सहोत्पादाच्च ।- परीक्षामुख, ३.६०

(२) वादिदेवसूरि कहते हैं- सहचारिणोः परस्परस्वरूपपरित्यागेन तादात्म्यानुपपत्तेः सहोत्पादेन तदुत्पत्तिविपत्तेश्च सहचरहेतोरपि प्रोक्तेषु नानुपवेशः ।- प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.७६

अवस्थित रहते हैं उनमें तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता। यथा घट एवं पट परिहार पूर्वक अवस्थित रहते हैं, अतः उनमें तादात्म्य सम्बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार सहचारी साध्यसाधन में भी तादात्म्य सम्बन्ध नहीं होता। इनमें तदुत्पत्ति सम्बन्ध भी नहीं होता, क्योंकि ये समान काल में उत्पन्न होते हैं। जिनके उत्पन्न होने का काल एक है उनमें तदुत्पत्ति सम्बन्ध नहीं बनता, जैसे गाय के दांये एवं बांये सींग के साथ उत्पन्न होने से उनमें तदुत्पत्ति सम्बन्ध नहीं होता।

बौद्ध कहते हैं कि आस्वादन में आ रहे रस से सामग्री का अनुमान होता है। उस सामग्री के अनुमान से रूप का अनुमान होता है। अतः यह अनुमितानुमान होने से असत् है। प्रभाचन्द्र ने इसका प्रत्युत्तर देते हुए कहा है कि ऐसे व्यवहार का अभाव है। आस्वाद्यमान रस से व्यवहार करने वाले पुरुष सामग्री का अनुमान नहीं करते, अपितु रस के समकाल में रहने वाले रूप का अनुमान करते हैं। बौद्धों ने भी 'प्रामाण्यं व्यवहारेण' से व्यवहार का प्रामाण्य अंगीकार किया है, अतः व्यवहार को अधिक महत्त्व देना चाहिए।

प्रभाचन्द्र बौद्धों के प्रति नया प्रश्न खड़ा करते हुए कहते हैं कि यदि सामग्री से रूप का अनुमान होना स्वीकार करते हैं तो फिर कारण से कार्य का अनुमान होना सिद्ध हो जाता है, फलस्वरूप त्रिसंख्यात्मक हेतु में व्याघात उत्पन्न हो जाता है, और बौद्धमत में कारणहेतु को भी स्वीकृति मिल जाती है।<sup>२२५</sup>

## समीक्षण

पूर्वचर एवं उत्तरचर हेतुओं की भांति सहचर हेतु की मान्यता भी जैन दार्शनिकों की लौकिकव्यवहार के प्रति सजगता एवं व्यापक दृष्टिकोण को इंगित करती है। दैनन्दिन जीवन में सहचर हेतु से अनेक बार अनुमिति होती रहती है। सिक्के के एक पहलू को देखकर दूसरे पहलू का अनुमान, दीवार के पूर्वभाग को देखकर पश्चात् भाग का अनुमान, एक चावल को पका देखकर अन्य चावलों के पकने का अनुमान सहचर हेतु के ही उदाहरण हैं।

बौद्धों द्वारा मान्य हेतुओं पर भी जैन दार्शनिकों ने विचार किया है। स्वभाव, कार्य एवं अनुपलब्धि हेतुओं को जैन दार्शनिकों ने मान्य तो किया है,<sup>२२६</sup> किन्तु अनुपलब्धि हेतु के स्वरूप में कुछ भिन्नता प्रकट की है। कार्य हेतु को जैन एवं बौद्ध दर्शन में प्रतिपादित शेषवत् हेतु का संशोधित रूप कहा जा सकता है। स्वभाव हेतु का प्रतिपादन बौद्ध दार्शनिकों की भारतीय दर्शन को अनूठी देन है, जिसका जैन हेतु-भेदों में भी अन्तर्भाव हुआ है।

## अनुपलब्धि - हेतु पर विचार

बौद्ध दार्शनिकों ने अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि हेतु द्वारा स्वीकार किया है। मीमांसक प्रत्यक्ष,

२२५. प्रमेयकलमार्तण्ड, भाग-२, पृ. ३९९-४००

२२६. जैन दार्शनिक तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति के कारण स्वभाव एवं कार्य हेतु में अविनाभावित्व मानने का खण्डन करते हैं। द्रष्टव्य आगे 'व्याप्ति विमर्श', पृ. २५५

अनुमान आदि की भांति 'अभाव' को एक पृथक् प्रमाण मानते हैं। नैयायिकों ने अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा माना है। जैन दार्शनिक अभाव के ज्ञान को प्रत्यक्ष, अनुमान, प्रत्यभिज्ञान आदि प्रमाणों में अन्तर्भूत करते हैं।

बौद्ध दार्शनिक अनुपलब्धि हेतु द्वारा उसी घटादि अर्थ के अभाव का ज्ञान करते हैं, जो उपलब्धिलक्षण प्राप्त हो। उपलब्धिलक्षण प्राप्ति का तात्पर्य है घटादि अर्थ की उपलब्धि में चक्षु आदि सकल कारणों की सन्निधि हो तथा ज्ञायमान अर्थ में दृश्य होने का स्वभावविशेष हो। दृश्य होने के स्वभाव विशेष का तात्पर्य है कि अन्य समस्त उपलम्भप्रत्ययों के होने पर उसका प्रत्यक्ष निश्चित रूप से हो। इस प्रकार दर्शन योग्य घटादि पदार्थ के भूतल आदि पर अभाव का ज्ञान बौद्ध दार्शनिक अनुपलब्धि हेतु से करते हैं।<sup>२२७</sup> एक ज्ञान से जब अन्य भूतलादि दृश्य वस्तु की उपलब्धि हो, तथा घटादि दृश्य पदार्थों की उपलब्धि न हो तो समझना चाहिए की उसकी उपलब्धि के समस्त कारण विद्यमान हैं। तब ही अनुपलब्धि हेतु द्वारा दृश्य घटादि पदार्थों के अभाव का ज्ञान होता है, यथा- "प्रदेश विशेष में घट नहीं है, क्योंकि उपलब्धि लक्षणों के प्राप्त होने पर भी वह अनुपलब्धि है।" धर्मोत्तर कहते हैं कि इस उदाहरण में प्रतिपत्ता के द्वारा प्रत्यक्ष किया गया प्रदेश विशेष पक्ष है, घट का अभाव साध्य है तथा अनुपलब्धि हेतु है।<sup>२२८</sup>

बौद्ध दार्शनिक इस बात का दृढ़ता पूर्वक प्रतिपादन करते हैं कि दृश्य वस्तुओं के अभाव का ही ज्ञान अनुपलब्धि हेतु द्वारा संभव है, अदृश्य वस्तुओं का नहीं, क्योंकि विप्रकृष्ट आदि अदृश्य वस्तुओं का ज्ञान संशययुक्त होता है। जो वस्तु देशकाल और स्वभाव से अतीन्द्रिय होती है वह अदृश्य होती है तथा उसके अभाव को अनुपलब्धि हेतु द्वारा नहीं जाना जा सकता।<sup>२२९</sup>

जैन दार्शनिक अकलङ्क ने बौद्धों की इस मान्यता का खण्डन किया है कि जो वस्तु दर्शन योग्य (दृश्य) होती है अनुपलब्धि हेतु द्वारा मात्र उसी के अभाव का ज्ञान होता है। अकलङ्क का मन्तव्य है कि अदृश्य वस्तुओं की अनुपलब्धि का भी ज्ञान हो सकता है। दूसरे मनुष्य के मृत शरीर में अदृश्य चैतन्य के अभाव का ज्ञान लौकिक पुरुषो के अनुभव का विषय है। शरीर के आकार, विकारादि से चैतन्य के अभाव का ज्ञान होता ही है।<sup>२३०</sup>

इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि अदृश्य वस्तुओं की अनुपलब्धि का ज्ञान संशययुक्त होने के कारण अनुपलब्धि हेतु द्वारा होना संभव नहीं। दूसरे का चैतन्य ही नहीं, अपितु अपने शरीर में विद्यमान चैतन्य भी अदृश्य है, अतः वह भी किसी हेतु से सिद्ध नहीं हो सकेगा। परमार्थसत् भी

२२७. द्रष्टव्य, यही अध्याय, पादटिप्पण १६३, एवं हेतु-भेदों में कृत अनुपलब्धि हेतु का वर्णन

२२८. न्यायबिन्दुटीका २.१२, पृ. ११७

२२९. अदृश्यमानास्तु देशकालस्वभावविप्रकृष्टाः स्वभावविशेषरहिता प्रत्ययान्तरसाकल्यवन्तस्तु ।— न्यायबिन्दुटीका, २.१४, पृ. १२२

२३०. अदृश्यपरिचितादेरभाव लौकिकाः विदुः।

तदाकारविकारादेरन्यथानुपपत्तिः ॥— लघीयसूत्र, १५

अदृश्य है अतः उसके क्षणिकत्व की सिद्धि भी अनुमान द्वारा नहीं की जा सकेगी।<sup>२३१</sup> इसलिए जो वस्तु उपलब्धियोग्य कारणों के सदभाव में भी अदृश्य हो, उसकी उपलब्धि या अनुपलब्धि का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता, वह आगमादि प्रमाणान्तर से सिद्ध की जा सकती है।

जैन दार्शनिकों ने अनुपलब्धि हेतु को अपने हेतु-भेदों में स्थान तो दिया है, किन्तु वे बौद्धों की भांति उसे मात्र निषेध साधक नहीं मानते। जैन दार्शनिकों के अनुसार अनुपलब्धि हेतु विधि एवं निषेध दोनों का साधक होता है। अनुपलब्धि हेतु के जैन दार्शनिकों ने इसीलिए मूलतः दो भेद किये हैं। (१) अविरुद्धानुपलब्धि और (२) विरुद्धानुपलब्धि।<sup>२३२</sup> इनमें अविरुद्धानुपलब्धि को वे प्रतिषेध साधक मानते हैं<sup>२३३</sup> तथा विरुद्धानुपलब्धि को विधिसाधक प्रतिपादित करते हैं।<sup>२३४</sup> इनका विस्तृत वर्णन हेतु-भेदों के प्रसङ्ग में किया जा चुका है।

## व्याप्ति-विमर्श

अनुमान-प्रमाण में व्याप्ति का सर्वाधिक महत्त्व है। क्योंकि साध्य के साथ साधन की व्याप्ति हुए बिना वह साध्य का गमक नहीं हो सकता। साध्य एवं साधन का अव्यभिचारित अनिवार्य सम्बन्ध व्याप्ति है। जब तक साधन या हेतु का साध्य के साथ अव्यभिचारित अनिवार्य सम्बन्ध न हो तब तक वह साध्य का सदैव गमक नहीं हो सकता। यद्यपि हेतु का लक्षण करते समय बौद्ध दार्शनिकों ने त्रिरूपता सम्पन्न हेतु को सद हेतु कहा है तथा नैयायिकों ने पांचरूप्य सम्पन्न हेतु को सदहेतु माना है, किन्तु वे भी व्याप्ति या अविनाभाव के अभाव में हेतु को साध्य का गमक स्वीकार नहीं करते हैं।<sup>२३५</sup> न्यायदर्शन में इसीलिए हेतु को व्याप्तिबल से साध्य-अर्थ का गमक प्रतिपादित कर<sup>२३६</sup> पांचरूप्य का समापन अविनाभाव में किया है।<sup>२३७</sup> बौद्ध दार्शनिक भी हेतु को अविनाभाव नियम से सदहेतु या साध्य का गमक स्वीकार करते हैं, अन्यथा उस हेतु को हेत्वाभास मानते हैं।<sup>२३८</sup> जैन दार्शनिकों ने त्रैरूप्य एवं पांचरूप्य को आवश्यक नहीं माना, किन्तु हेतु को अविनाभाव नियम से ही साध्य का गमक स्वीकार किया है। उन्होंने हेतु का लक्षण ही साध्य के साथ निश्चित अविनाभावित्व दिया है।<sup>२३९</sup> इसलिए व्याप्ति को स्वीकार किये बिना कोई भी हेतु साध्य का गमक नहीं होता। भारतीय दर्शन में व्याप्ति के लिए जयन्तभट्ट ने अविनाभावनियम, नियम, प्रतिबन्ध, साध्याविनाभावित्व

२३१. अदृश्यानुपलब्धेः संशयैकान्ते न केवलं परचित्ताभावो न सिद्धयति अपितु स्वचित्ताभावश्च, तदनंशतत्त्वस्य अदृश्यात्मकत्वात् । तथा च कुतः परमार्थसतः क्षणभंगसिद्धिः ? तद्विपरीतस्याभेदलक्षणस्यैव स्यात् । — लघीयज्ञयवृत्ति, १५

२३२. अनुपलब्धेरपि द्वैरूप्यं - अविरुद्धानुपलब्धिः विरुद्धानुपलब्धिश्च । — प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.९३

२३३. तत्राविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधावबोधे सप्तप्रकारा । — प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.९४

२३४. विरुद्धानुपलब्धिस्तु विधिप्रतीतौ पंचधा । — प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.१०३

२३५. द्रष्टव्य, यही अध्याय, पादटिप्पण, १५८-१५९

२३६. व्याप्तिबलेनार्थगमकं लिङ्गम् । — तर्कभाषा, अनुमाननिरूपण, पृ. ७२

२३७. एतेषु पञ्चसु लक्षणेष्वाविनाभावो लिङ्गस्य परिसमाप्यते । — जयन्तभट्ट, न्यायमञ्जरी, पृ. १०१

२३८. अविनाभावनियमात्, हेत्वाभासास्ततोऽपरे । — प्रमाणवार्तिक, ३.१

२३९. साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः । — परीक्षामुख, ३.११

आदि नामों को एकार्थक स्वीकार किया है।<sup>२४०</sup> बौद्ध दर्शन में प्रयुक्त स्वभाव प्रतिबन्ध एवं जैनदर्शन में प्रयुक्त अन्यथानुपपत्तिनियम को भी व्याप्ति का पर्यायवाची माना जा सकता है। व्याप्ति एक प्रकार से साधन का साध्य के साथ अव्यभिचारित नियम है। साधन के होने पर साध्य होता ही है। इसलिए इनके साहचर्यनियम को भी व्याप्ति कहा गया है।<sup>२४१</sup> मीमांसकों ने इसे लिङ्ग धर्म का लिङ्गी के साथ सम्बन्ध रूप नियम प्रतिपादित किया है।<sup>२४२</sup> न्यायदर्शन में साहचर्यनियम के अतिरिक्त साध्य एवं साधन के स्वाभाविक सम्बन्ध को भी व्याप्ति कहा गया है।<sup>२४३</sup> जिससे आर्द्रईधन एवं धूम जैसे औपाधिक सम्बन्ध का परिहार हो जाता है। साधन एवं साध्य का साहचर्य सम्बन्ध स्वाभाविक होने पर ही उसे व्याप्ति कहा गया है। नव्यन्याय के अनुसार हेतु और उसके व्यापक साध्य का सामान्याधिकरण ही व्याप्ति है। यथा गगेश के शब्दों में जो साध्य, हेतु के प्रतियोगी व्यधिकरण तथा समान अधिकरण में विद्यमान रहने वाले अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता के अवच्छेदक धर्म से अवच्छिन्न न हो, उसके साथ हेतु सामान्याधिकरण ही व्याप्ति है।<sup>२४४</sup> व्याप्ति में साधन का साध्य के साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध अनिवार्य होता है। धूम का अग्नि के साथ नियत साहचर्य या स्वाभाविक सम्बन्ध है अर्थात् धूम की अग्नि के साथ व्याप्ति है। इसलिए धूम-हेतु अग्नि-साध्यका गमक होता है। साध्य की हेतु के साथ व्याप्ति नहीं होती है, क्योंकि उसका नियत साहचर्य नहीं है, साध्य हेतु के अभाव में भी रह सकता है। इस प्रकार सभी भारतीय दर्शनों में व्याप्ति के द्वारा हेतु को साध्य का गमक स्वीकार किया गया है।

### बौद्ध दर्शन में व्याप्ति

बौद्ध दर्शन में व्याप्ति के लिए अविनाभावनियम, स्वभाव-प्रतिबंध एवं अव्यभिचार नियम शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। धर्मकीर्ति अविनाभावनियम से हेतु को पक्षधर्म एवं उसके अंश में व्याप्त बतलाते हैं। अविनाभाव नियम के अभाव में वे हेतु को हेत्वाभास कहते हैं।<sup>२४५</sup> अविनाभावनियम का अर्थ है हेतु का साध्य के अभाव में नियमतः कभी भी न होना। साध्य के अभाव में जो हेतु नहीं होता, वही हेतु साध्य का गमक हो सकता है, अन्य नहीं। न्यायबिन्दु में धर्मकीर्ति ने व्याप्ति को स्वभाव-प्रतिबंध शब्द से प्रकट किया है। धर्मकीर्ति कहते हैं कि स्वभाव प्रतिबंध होने पर ही हेतु,

२४०. अविनाभावनियमो व्याप्तिनियमः प्रतिबन्धः साध्याविनाभावित्वमित्यर्थः ।

२४१. यत्र धूमस्तत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः ।— तर्कभाषा, अनुमाननिरूपण, पृ. ७२

२४२. (१) सम्बन्धतो व्याप्तिरिष्टात्र लिङ्गधर्मस्य लिङ्गिना ।— श्लोकवार्तिक, अनुमान परिच्छेद, ४

(२) व्याप्तिः = नियमः ।—न्यायरत्नाकर, श्लोकवार्तिक, अनुमानपरिच्छेद, ४

२४३. स्वाभाविकश्च सम्बन्धो व्याप्तिः ।—तर्कभाषा, अनुमाननिरूपण, पृ. ७६

२४४. प्रतियोग्यसमानाधिकरणयत्समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नं यत्र भवति तेन समं तस्य सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः ।— तत्त्वचिन्तामणि, उद्धृत, माथुरीपञ्चलक्षणी, भूमिका पृ. ५२

२४५. पक्षधर्मस्तदशेन व्याप्तो हेतुस्त्रिष्वैव सः ।

अविनाभावनियमात् हेत्वाभासास्ततोऽपरे ॥ —प्रमाणवार्तिक, ३.१, हेतुबिन्दु, पृ. ५३

साध्य का गमक होता है।<sup>२४६</sup> प्रश्न उठता है कि वह स्वभाव प्रतिबन्ध किसका होता है, तथा किसमें होता है? अर्थात् कौन प्रतिबद्ध होता है तथा कौन प्रतिबंध का विषय बनता है? धर्मकीर्ति ने इसका समाधान करते हुए प्रतिपादित किया है कि वह स्वभाव प्रतिबन्ध लिङ्ग का साध्य अर्थ में होता है।<sup>२४७</sup> अर्थात् लिङ्ग या हेतु साध्य अर्थ में प्रतिबद्ध होकर साध्य का गमक होता है। यदि लिङ्ग स्वभाव से साध्य में प्रतिबद्ध नहीं हो तो वह अव्यभिचारित रूप से साध्य का गमक नहीं हो सकता।<sup>२४८</sup> धर्मोत्तर कहते हैं कि लिङ्ग परायत्त होने के कारण प्रतिबद्ध होता है तथा साध्य अर्थ अपरायत्त होने के कारण प्रतिबंध का विषय होता है। जो प्रतिबद्ध होता है वह गमक होता है तथा जो प्रतिबन्ध का विषय होता है वह गम्य होता है।<sup>२४९</sup> प्रयत्नान्तरीयकता हेतु अनित्यत्व साध्य में प्रतिबद्ध है, इसलिए वह अनित्यता का गमक है। किन्तु अनित्यता प्रयत्नान्तरीयकता में प्रतिबद्ध नहीं है, इसलिए वह प्रयत्नान्तरीयकता की गमक नहीं होती है। इनमें गम्यगमकभाव अव्यभिचारनियम के कारण होता है।<sup>२५०</sup> हेतु साध्य में प्रतिबद्ध होता है, इसलिए वह साध्य के बिना नहीं होता है।

व्याप्ति को हेतुबिन्दु में परिभाषित करते हुए धर्मकीर्ति कहते हैं कि 'व्यापक के होने पर ही व्याप्य का होना तथा व्याप्य के होने पर व्यापक का होना ही, व्याप्ति है।'<sup>२५१</sup> व्यापक का अर्थ है साध्य तथा व्याप्य का अर्थ है हेतु। इस प्रकार साध्य के होने पर ही हेतु का होना तथा हेतु के होने पर साध्य का होना ही व्याप्ति कही गयी है।

व्याप्ति के इस स्वरूप को भिन्न प्रकार से भी प्रकट किया गया है, यथा 'लिङ्ग के होने पर लिङ्गी होता ही है तथा लिङ्गी के होने पर ही लिङ्ग होता है, अन्यथा नहीं।' इस नियम का विपर्यास होने पर लिङ्ग एवं लिङ्गी में सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता।<sup>२५२</sup> इस प्रकार बौद्ध मत में स्वभाव-प्रतिबन्ध, अविनाभाव-नियम अथवा व्याप्ति एकार्थक हैं। व्याप्ति के होने पर ही लिङ्ग साध्य का गमक होता है, व्याप्ति के अभाव में नहीं।

व्याप्ति या स्वभाव-प्रतिबन्ध का निमित्त बौद्ध दार्शनिकों ने तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति को स्वीकार किया है। उनके मत में साध्य के साथ हेतु का अविनाभाव तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति के द्वारा व्याप्त रहता है।<sup>२५३</sup> धर्मकीर्ति कहते हैं कि साध्य अर्थ के साथ लिङ्ग का स्वभाव-प्रतिबंध अथवा अविनाभाव दो

२४६. स्वभावप्रतिबंधे हि सत्यर्थोऽर्थ गमयेत् ।— न्यायबिन्दु, २.१९  
 २४७. स च प्रतिबंधः साध्येऽर्थे लिङ्गस्य ।— न्यायबिन्दु, २.२१  
 २४८. तदप्रतिबद्धस्य तदव्यभिचारनियमाभावात् ।— न्यायबिन्दु, २.२०  
 २४९. लिङ्ग परायत्तत्वात् प्रतिबद्धम् । साध्यस्त्वर्थोऽपरायत्तत्वात् प्रतिबंधविषयो— यत् प्रतिबद्धं तद् गमकं । यत् प्रतिबन्धविषयः तद्गम्यम् ।— न्यायबिन्दुटीका, २.२१, पृ. १३३  
 २५०. अव्यभिचारनियमाच्च गम्यगमकभावः ।— न्यायबिन्दुटीका २.२०, पृ. १३२  
 २५१. तस्य व्याप्तिर्हि व्यापकस्य तत्र भाव एव । व्याप्यस्य वा तत्रैव भावः ।— हेतुबिन्दु, पृ. ५३  
 २५२. लिङ्गे लिङ्गी भवत्येव लिङ्ग्येवेतरत् पुनः ।  
 नियमस्य विपर्यासोऽसम्बन्धो लिङ्गलिङ्गिनोः ॥— हेतुबिन्दुटीका, पृ. १८  
 २५३. (१) वस्तुतस्तादात्म्यात् तदुत्पत्तेश्च ।— न्यायबिन्दु, २.२२  
 (२) तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामविनाभावो व्याप्तः तयोस्तत्रावश्यम्भावात् ।— हेतुबिन्दुटीका, पृ. ८



कारणों से होता है, या तो लिङ्ग का साध्य से तादात्म्य रहता है अथवा फिर साध्य से उसकी उत्पत्ति होती है। जिस लिङ्ग का साध्य के साथ तादात्म्य या तदुत्पत्ति सम्बन्ध नहीं होता है वह लिङ्ग साध्य का अविनाभावी नहीं होता है, यथा प्रमेयत्व हेतु अनित्यत्व का अविनाभावी नहीं होता है, क्योंकि उसका अनित्यत्व साध्य के साथ न तादात्म्य है और न तदुत्पत्ति।<sup>२५४</sup>

जहां हेतु का साध्य के साथ तादात्म्य नहीं है अथवा हेतु साध्य से उत्पन्न (तदुत्पन्न) नहीं हुआ है वहां हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति नहीं होती। व्याप्ति के लिए आवश्यक है कि हेतु का साध्य के साथ तादात्म्य या तदुत्पत्ति सम्बन्ध हो। सहचार दर्शन मात्र से किसी हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति नहीं कही जा सकती।

बौद्धमत में हेतु के तीन प्रकार हैं—(१) स्वभाव, (२) कार्य एवं (३) अनुपलब्धि।<sup>२५५</sup> इनमें स्वभाव हेतु का अपने साध्य के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होता है तथा कार्यहेतु का अपने साध्य के साथ तदुत्पत्ति सम्बन्ध। ये दोनों हेतु विधि साधक हैं। अनुपलब्धि हेतु निषेधसाधक है। निषेध की सिद्धि दृश्यानुपलब्धि हेतु से ही हो जाती है, क्योंकि वस्तु के होने पर दृश्यानुपलब्धि का होना असम्भव है। अनुपलब्धि हेतु का स्वभाव हेतु में अन्तर्भाव कर लिया गया है अतः उसके अविनाभाव का ग्रहण भी तादात्म्य से होता है। धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक में तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति के सम्बन्ध में कहते हैं—“अविनाभाव का ग्रहण कार्यकारण भाव से होता है, अथवा नियत स्वभाव से होता है। हेतु के सपक्ष में दर्शन और विपक्ष में अदर्शन मात्र से अविनाभाव की सिद्धि नहीं होती।”<sup>२५६</sup> कार्य कारणभाव तदुत्पत्ति का द्योतक है तथा नियतस्वभाव तादात्म्य का द्योतक है। धर्मकीर्ति ने हेतु के सपक्ष में दर्शन एवं विपक्ष में अदर्शन मात्र से अविनाभाव का ग्रहण नहीं किया है, क्योंकि इनमें व्यभिचार भी हो सकता है। तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति के अतिरिक्त संयोग, समवाय आदि सम्बन्धों से हेतु में अविनाभाव का धर्मकीर्ति ने निषेध किया है।<sup>२५७</sup>

जैन दार्शनिक प्रभाचन्द्र ने इस विषय का बौद्ध ग्रंथानुसार प्रामाणिक प्रतिपादन किया है अतः उसे यहां प्रस्तुत किया जा रहा है। प्रभाचन्द्र बौद्धमत को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि अविनाभाव के बल से ही सर्वत्र हेतु साध्य का गमक होता है। वह अविनाभाव तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति से नियत होने के कारण कार्य एवं स्वभाव हेतु में ही रहता है।<sup>२५८</sup> तादात्म्य से स्वभाव हेतु में अविनाभाव होता है तथा तदुत्पत्ति से कार्यहेतु में अविनाभाव होता है। इन दो के अतिरिक्त हेतु नहीं हैं, क्योंकि

२५४. यस्य येन सह तादात्म्यतदुत्पत्ती न स्तो न स तदविनाभावी यथा प्रमेयत्वादिरनित्यत्वादिना ।— हेतुबिन्दुटीका, पृ.९

२५५. अनुपलब्धिः स्वभावः कार्यञ्चेति ।— न्यायबिन्दु, २.११

२५६. कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात् ।

अविनाभावनियमोऽदर्शान्न न दर्शनात् ।— प्रमाणवार्तिक, ३.३१

२५७. संयोग्यादिषु येष्वस्ति प्रतिबन्धो न तादृशः ।

न ते हेतव इत्युक्तं व्यभिचारस्य संभवात् ।— प्रमाणवार्तिक, ४.२०३

२५८. तुलनीय- ते च तादात्म्यतदुत्पत्ती स्वभावकार्ययोरेवेति ताभ्यामेव वस्तुसिद्धिः ।— न्यायबिन्दु, २.२४

अनुपलब्धि हेतु का भी स्वभाव हेतु में ही अन्तर्भाव हो जाता है <sup>२५९</sup> घट आदि के अभाव का अर्थ है घटादि से रहित भूतलादि का स्वभाव । अतः घट की अनुपलब्धि का अर्थ है घटविविक्त भूतल की स्वभावोपलब्धि । इस प्रकार अनुपलब्धि का स्वभाव हेतु में अन्तर्भाव मानना चाहिए ।

कार्यहेतु के अविनाभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष एवं अनुपलम्भ के पंचक से होता है । <sup>२६०</sup> प्रत्यक्ष एवं अनुपलम्भ का पंचक इस प्रकार है- (१) अग्नि एवं धूम से रहित उपलभ्यमान भूतल में अग्नि एवं धूम की अनुपलब्धि (२) तदनन्तर अग्नि की उपलब्धि एवं (३) उसके पश्चात् धूम की उपलब्धि (४) अग्नि की अनुपलब्धि एवं फिर (५) धूम की अनुपलब्धि । इस प्रकार प्रत्यक्ष एवं अनुपलम्भ के पंचक से कार्यकारणभाव का ज्ञान होता है कि 'अग्नि' का कार्य 'धूम' है । जो जिसका कार्य होता है वह उससे नियत होता है । यदि कार्य, कारण से नियत न हो तो निरपेक्ष होने के कारण कार्य या तो नित्य सत् ही होगा या असत् ही होगा । सारांश यह है कि जो जिससे उत्पन्न होता हुआ एक बार उपलब्ध होता है वह उसी से उत्पन्न होता है किसी अन्य से नहीं । <sup>२६१</sup> यदि अहेतु से भी कार्य की उत्पत्ति होने लगे तो सब कारणों से सब कार्यों की उत्पत्ति संभव है । अतः प्रत्यक्ष एवं अनुपलम्भ के पांच रूपों से कार्यहेतु की सार्वत्रिकी व्याप्ति प्रतीत होती है ।

स्वभाव हेतु की व्याप्ति तो विपक्ष में बाधक प्रमाण के सद्भाव से होती है, यथा सत्त्व की क्षणिकता के साथ । सत्त्व का लक्षण है अर्थक्रियाकारित्व । अर्थक्रिया क्रम से अथवा युगपद् हो सकती है । किन्तु अक्षणिक नित्य पदार्थ न तो क्रम से अर्थक्रिया कर सकता है और न युगपद् । क्रम से करने पर अक्षणिकता नहीं रहती तथा एक साथ करने पर भी नित्यता नहीं रह पाती । इस प्रकार नित्य अथवा अक्षणिक अर्थ में अर्थक्रिया शक्य नहीं होने से वह सत्त्व नहीं कहा जा सकता । क्षणिक पदार्थ ही अर्थक्रिया करने में समर्थ है, अतः क्षणिकता के साथ ही सत्त्व की व्याप्ति संभव है । क्षणिक एवं अक्षणिक से भिन्न कोई तृतीय प्रकार नहीं है जिसमें सत्त्व की या अर्थक्रिया की आशंका की जा सके । <sup>२६२</sup> अनुपलब्धि रूप समस्त हेतुओं का स्वभावानुपलब्धि में अन्तर्भाव हो जाता है । स्वभावानुपलब्धि एक प्रकार का स्वभाव हेतु है अतः उसका तादात्म्य से ही अविनाभाव है । <sup>२६३</sup>

२५९. तुलनीय- अनुपलब्ध्येस्तु स्वभावेऽन्तर्भावः ।— तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, १४७७, पृ.५२६

२६०. तुलनीय- प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः कार्यकारणभावः ।— हेतुबिन्दु, पृ.५३

२६१. तुलनीय- नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वाऽहेतोरन्यानपेक्षणात् ।

अपेक्षतो हि भावानां कादाचित्कत्वसंभवः ॥— प्रमाणवार्तिक, ३.३५

२६२. तुलनीय- सन् शब्दः कृतको वा, यश्चैवं स सर्वोऽनित्यः यथा घटादिरिति । अत्र व्याप्तिसाधनं विपर्यये बाधकप्रमाणो-पदर्शनम् । यदि न सर्वं सत् कृतकं वा प्रतिक्षणविनाशि स्यादक्षणिकस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियायोगादर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणमतो निवृत्तमित्यसदेव स्यात् ।— वादन्याय, पृ.७

२६३. तुलनीय- (१) स्वभावानुपलब्धिस्तु स्वभावहेतावन्तर्भावेति तस्याः तादात्म्यलक्षण एव प्रतिबन्धः ।—हेतुबिन्दु टीका, पृ.७

(२) प्रभाचन्द्र कृत प्रतिपादन के लिए द्रष्टव्य, न्यायकुमुदचन्द्र, भाग-२, पृ. ४४४-४६

## जैनदर्शन में व्याप्ति

जैनदार्शनिकों का व्याप्ति के स्वरूप को लेकर बौद्धों से कोई मतभेद नहीं है। व्याप्ति का जो स्वरूप बौद्ध दार्शनिक निरूपित करते हैं वही स्वरूप जैन दर्शन में प्रतिपादित है। जैन दार्शनिकों ने व्याप्ति को अविनाभावनियम, एवं अन्यथानुपपत्तिनियम के रूप में अभिव्यक्त किया है। माणिक्यनन्दी के पूर्व जैन दर्शन में व्याप्ति के लक्षण का स्पष्ट प्रतिपादन नहीं है। सिद्धसेन, अकलङ्क, विद्यानन्द आदि दार्शनिकों के हेतु-लक्षण का अध्ययन करने से विदित होता है कि वे साध्य एवं हेतु के अविनाभाव नियम को ही व्याप्ति मानते हैं।<sup>२६४</sup> हेतु साध्य के अभाव में निश्चित रूपसे नहीं रहता है, अर्थात् हेतु एवं साध्य के मध्य ऐसा अव्यभिचरित सम्बन्ध है कि जिससे हेतु साध्य का गमक होता है। उनके मध्य रहा हुआ अव्यभिचरित सम्बन्ध या अविनाभाव नियम ही अकलङ्क आदि के मत में व्याप्ति का स्वरूप माना जा सकता है।

माणिक्यनन्दी ने व्याप्ति का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है- “यह इसके होने पर ही होता है, इसके नहीं होने पर नहीं ही होता।” अर्थात् साध्य के होने पर ही हेतु का होना तथा, साध्याभाव में हेतु का न होना ही व्याप्ति है। यथा अग्नि के होने पर ही धूम होता है, उसके अभाव में धूम निश्चितरूप से होता ही नहीं है।<sup>२६५</sup> वादिदेवसुरि ने साध्य एवं साधन के त्रैकालिक सम्बन्ध को व्याप्ति माना है।<sup>२६६</sup> रत्नप्रभ ने गम्य-गमक रूप साध्य-साधन के अविनाभाव सम्बन्ध को व्याप्ति कहा है।<sup>२६७</sup> धर्म-भूषण ने उसे साध्य एवं साधन में गम्य-गमक भाव का प्रयोजक कहते हुए व्यभिचार-शून्य सम्बन्ध विशेष बतलाया है।<sup>२६८</sup> आचार्य हेमचन्द्र ने बौद्ध तार्किक धर्मकीर्ति के व्याप्तिलक्षण को जैन व्याप्ति लक्षण के रूप में प्रस्तुत किया है। यथा-“व्याप्य के होने पर व्यापक का होना ही तथा व्यापक के होने पर ही व्याप्य का होना व्याप्ति है।<sup>२६९</sup> अर्थात् हेतु के होने पर साध्य का निश्चित रूप से होना तथा साध्य के होने पर ही हेतु का होना व्याप्ति है। व्याप्ति का यह लक्षण ही जैनदर्शन में हेतु के लक्षण का निर्धारक बना है। जैन दर्शन का हेतुलक्षण, व्याप्ति अथवा अविनाभाव नियम के लक्षण पर आधारित है। उसमें त्रैरूप्य एवं पांचरूप्य की चर्चा नहीं करके सीधे साध्य से अविनाभावित्व स्वीकार किया गया है। अविनाभावित्व या व्याप्ति के बल से ही हेतु साध्य का गमक होता है।

जैन दार्शनिकों ने मात्र तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति से व्याप्ति का होना स्वीकार नहीं किया है। उनके अनुसार कृत्तिकोदय हेतु से शकटोदय साध्य का ज्ञान, तुला के एक पलड़े के ऊपर उठने से दूसे

२६४. साध्यार्थाऽसम्भवाभावनियमनिश्चयैकलक्षणो हेतुः ।— प्रमाणसङ्ग्रहवृत्ति, २१

२६५. इदमस्मिन् सत्येव भवत्यसति न भवत्येवेति च । यथाऽग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च ।— परीक्षामुख, ३.८-९

२६६. प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.७

२६७. कालत्रयीवर्तिनोः साध्यसाधनयोर्गम्यगमकयोः सम्बन्धोऽविनाभावो व्याप्तिः ।— रत्नाकरावतारिका, भाग-२, पृ.२०

२६८. साध्यसाधनयोर्गम्यगमकभावप्रयोजको व्यभिचारगन्धासहिष्णुः सम्बन्धविशेषो व्याप्तिरविनाभावः ।— न्यायदीपिका, पृ.६२

२६९. व्याप्तिर्व्यापकस्य व्याप्ये सति भाव एव व्याप्यस्य वा तत्रैव भावः ।— प्रमाणमीमांसा, १.२.६

पलड़े के झुकने का ज्ञान, चन्द्रमा के अर्वाक् भाग को देखकर परभाग का ज्ञान आदि अनुमिति के ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति को व्याप्ति का निमित्त नहीं कहा जा सकता, तथापि उनसे अव्यभिचारित रूप से साध्य का ज्ञान होता है। इसलिए जैन-दार्शनिक तादात्म्यलक्षण अविनाभाव एवं तदुत्पत्तिलक्षण अविनाभाव से अधिक व्यापक प्रत्यय निर्धारित करने की ओर प्रवृत्त हुए तथा उन्होंने अविनाभाव को दो प्रकार का प्रतिपादित किया—सहभाव अविनाभाव एवं क्रमभाव अविनाभाव।<sup>२७०</sup> यद्यपि सहभाव एवं क्रमभाव अविनाभाव का स्पष्ट प्रतिपादन माणिक्यनन्दी द्वारा किया गया है, किन्तु इसके बीज अकलङ्क के ग्रंथ में मिलते हैं।<sup>२७१</sup> दो सहचारी पदार्थों एवं व्याप्य व्यापक पदार्थों में सहभाव अविनाभाव होता है। इस अविनाभाव से स्वभाव, व्याप्य, एवं सहचर हेतु साध्य के गमक होते हैं। पूर्वचर, उत्तरचर, कार्य एवं कारण हेतुओं में क्रमभाव अविनाभाव होता है।<sup>२७२</sup> इन दो प्रकार के अविनाभाव से समस्त हेतु साध्य के गमक सिद्ध हो जाते हैं। तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति नियम से पूर्वचर, उत्तरचर, कारण आदि हेतुओं की साध्य के साथ व्याप्ति सिद्ध नहीं होती, जबकि क्रमभाव एवं सहभाव अविनाभाव से समस्त हेतुओं में साध्य की गमकता उत्पन्न हो जाती है।

**व्याप्ति-ग्राहक**—जैन दार्शनिकों ने तर्क को व्याप्ति का ग्राहक अथवा निश्चयक अंगीकार किया है।<sup>२७३</sup> प्रत्यक्ष, अनुमान आदि किसी अन्य ज्ञान को वे व्याप्ति ग्राहक नहीं मानते हैं। भारतीय दर्शन में व्याप्ति की ग्राहकता के सम्बन्ध में विवाद है। कुछ न्यायाचार्यों ने मानस-प्रत्यक्ष को व्याप्ति का ग्राहक माना है। कुमारिल भूयोदर्शन को व्याप्ति का ग्राहक मानते हैं। वाचस्पतिमिश्र ने तर्कसहकृत भूयोदर्शन को व्याप्ति का ग्राहक माना है, जो जैनदार्शनिक सम्मत व्याप्तिग्राहक तर्क के महत्त्व को भी ज्ञापित करता है। जयन्तभट्ट ने नियतसहचार को, श्रीधर ने उपाधिविहीन भूयोदर्शन को, गंगेश ने व्यभिचारादर्शन सहकृत सहचारदर्शन को व्याप्ति का ग्राहक माना है। बौद्धों ने तदुत्पत्ति का ज्ञान प्रत्यक्ष एवं अनुपलम्भ से तथा तादात्म्य का ज्ञान विपक्ष में बाधक प्रमाण के सद्भाव से किया है। जैन दार्शनिकों का मन्तव्य है कि प्रत्यक्ष द्वारा भूयोदर्शन होने पर भी त्रैकालिक व्याप्ति संभव नहीं है, प्रत्यक्ष द्वारा तो उस समय विद्यमान पदार्थों के सम्बन्ध का ज्ञान होता है, भूत एवं भविष्यकालीन पदार्थों की व्याप्ति का ज्ञान तर्क प्रमाण द्वारा ही संभव है। तर्कप्रमाण का उद्भव जैन दार्शनिकों ने उपलम्भ एवं अनुपलम्भ के द्वारा माना है, जो उन्हें बौद्ध दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित प्रत्यक्ष एवं अनुपलम्भ सिद्धान्त के निकट ले जाता है। अनुमान से व्याप्तिज्ञान मानने पर अनवस्था दोष आता है, क्योंकि व्याप्ति के बिना अनुमान संभव नहीं है, और अनुमान के बिना व्याप्ति ज्ञान संभव नहीं है। इसलिए

२७०. सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः।— परीक्षामुख, ३.१२

२७१. सहक्रमविदामेकं तर्कात् स्वसंवेदनम्।— सिद्धिचिन्तित्त, ६.४१

२७२. सहचारिणोऽव्याप्यव्यापकयोश्च सहभावः। पूर्वोत्तरचारिणोःकार्वकारणयोश्च क्रमभावः।— परीक्षामुख, ३.१३-१४

२७३. तर्कात्तन्निर्णयः।— परीक्षामुख, ३.१५

जैनदार्शनिकों ने बड़ी समझपूर्ण दृष्टि से तर्क को व्याप्ति का ग्राहक अंगीकार किया है। तर्क को व्याप्ति का ग्राहक प्रतिपादित करने के साथ जैनदार्शनिकों ने उसे पृथक् प्रमाण के रूप में भी प्रतिष्ठित किया है।

अकलङ्क ने प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ से होने वाले संभावनात्मक ज्ञान को तर्क कहा है।<sup>२७४</sup> माणिक्यनन्दी ने उपलम्भ एवं अनुपलम्भपूर्वक होने वाले व्याप्तिज्ञान को तर्क कहा है।<sup>२७५</sup> यहां उपलम्भ और अनुपलम्भ पदों से प्रमाणमात्र का ग्रहण किया गया है। प्रत्यक्ष से गृहीत साध्य एवं साधन ही नहीं, अपितु अनुमान और आगम के विषयभूत पदार्थों में भी अविनाभाव का निश्चय तर्क द्वारा होता है। इसलिए वादिदेवसूरि ने अपने तर्क-लक्षण में उपलम्भ एवं अनुपलम्भ से उत्पन्न, त्रैकालिक साध्यसाधन विषयक सम्बन्ध को ग्रहण करने वाले "यह इसके होने पर ही होता है" इत्यादि आकार वाले ज्ञान को तर्क प्रतिपादित किया है।<sup>२७६</sup> व्याप्ति का ग्रहण करने के कारण जैन दार्शनिकों ने तर्क को एक पृथक् प्रमाण माना है, जिसकी चर्चा पांचवें अध्याय में की गयी है।

### तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति द्वारा अविनाभाव मानने का खण्डन

जैन दार्शनिक अकलङ्क, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र एवं वादिदेवसूरि ने तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति के बिना भी हेतु में साध्य के साथ अविनाभाव या व्याप्ति की सिद्धि की है, अतः वे तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति के द्वारा अविनाभाव मानने वाले बौद्धमत का निरसन करते हैं।

भट्ट अकलङ्क कहते हैं कि तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति के बिना ही अविनाभाव सिद्ध है। ऐसे अनेक हेतु हैं जिनका अपने साध्य से न तादात्म्य सम्बन्ध है और न तदुत्पत्ति, फिर भी वे अपने साध्य के गमक हैं। तुला के एक पलड़े को झुका हुआ देखकर दूसरे पलड़े के ऊंचे होने के अनुमान में अविनाभाव तो है, किन्तु तादात्म्य या तदुत्पत्ति नहीं।<sup>२७७</sup> इसी प्रकार कृत्तिकोदय से शकटोदय के अनुमान में व्याप्ति तो है, किन्तु वहां भी तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति सम्बन्ध नहीं है।<sup>२७८</sup> चन्द्र के अर्वाक् भाग को देखकर उसके परभाग का अनुमान किया जाता है। इनमें व्याप्ति है, किन्तु कार्यकारण-भाव एवं तादात्म्य नहीं है। परभाग एवं अर्वाक् भाग के साथ-साथ रहने के कारण इनमें कार्यकारणभाव अथवा तदुत्पत्ति सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता तथा दोनों में तादात्म्य इसलिए नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दोनों भिन्न लक्षण-युक्त हैं।<sup>२७९</sup>

२७४. सम्भवप्रत्ययस्तर्क प्रत्यक्षानुपलम्भतः ।— प्रमाणसंग्रह, १२

२७५. उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ।— परीक्षामुख, ३.७

२७६. उपलम्भानुपलम्भसम्भवं त्रिकालीकलितसाध्यसाधनसम्बन्धाद्यालम्बनं "इदमस्मिन् सत्येव भवति" इत्याद्याकारं संवेदनमूहापरनामा तर्कः ।— प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.७

२७७. परस्परविनाभूतौ नामोन्नामौ तुलान्तयोः ।— सिद्धिविनिश्चय, ६.१५

२७८. भविष्यत्प्रतिपद्येत शकटं कृत्तिकोदयात् ।— लघीयसूत्र, १४

२७९. तदेतस्मिन् प्रतिबन्धनियमे कथं चन्द्रादेरर्वाग्भागदर्शनात् परभागोऽमुमीयेत ? नानयोः कार्यकारणभावः सहैव भावात् । न च तादात्म्यम् लक्षणभेदात् अलमन्यथानुपपत्तेरनवद्यमनुमानम् ।— सिद्धिविनिश्चयवृत्ति, पृ. ३७३

अकलङ्क का मत है कि अविनाभाव अथवा अन्यथानुपपन्न से ही साध्य का अव्यभिचरित ज्ञान होता है, अतः तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति की कल्पना व्यर्थ है। वे बौद्धों से कहते हैं कि तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति का ज्ञान अन्यथानुपपत्ति वितर्क के बिना नहीं किया जा सकता, अतः तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति के बिना ही अन्यथानुपपत्ति को हेतु का एक लक्षण मानना चाहिए।<sup>२८०</sup>

अकलङ्क ने रूप से रस का अनुमान करने का भी उदाहरण प्रस्तुत किया है, किन्तु इसमें कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध दिखाई देता है, क्योंकि रूप एवं रस पृथक् पृथक् होकर नहीं रहते हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि अकलङ्क को तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति सम्बन्ध से होने वाला अविनाभाव भी अभीष्ट है, किन्तु तुला के एक पलड़े के ऊपर उठने से अन्य पलड़े के झुकने आदि का अनुमान तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति रहित होता है तथापि उसमें हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति होती है।<sup>२८१</sup> इसे अकलङ्क ने दृढता-पूर्वक प्रस्तुत किया है। वे सह एवं क्रमभाव से तादात्म्यादि को स्वीकार करते हैं, तथा तर्क से व्याप्ति का निर्णय मानते हैं।<sup>२८२</sup> अकलङ्क मत में तर्क की उत्पत्ति प्रत्यक्ष एवं अनुपलम्भ से होती है। इसलिए उन्होंने प्रत्यक्ष एवं अनुपलम्भ से होने वाले संभावनात्मक ज्ञान को तर्क कहा है। तर्क के बिना वे साध्य एवं साधन की व्याप्ति का ज्ञान होना संभव नहीं मानते हैं।<sup>२८३</sup>

विद्यानन्द प्रतिपादित करते हैं कि तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति से अन्यथानुपपन्नता व्याप्त नहीं है। कृतिकोदय हेतु का शकटोदय साध्य के साथ न तादात्म्य है और न तदुत्पत्ति सम्बन्ध, तथापि वह अन्यथानुपपन्नत्व के कारण अपने साध्य का गमक है।<sup>२८४</sup> संयोगी, समवायी आदि हेतुओं में भी तत्त्वपरीक्षक दार्शनिकों के द्वारा तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति के बिना अन्यथानुपपन्नत्व माना गया है। यथा—दीवार, नदी आदि के परभाग से अर्वाक् भाग अविनाभावी है, किन्तु उनमें कोई तादात्म्य या तदुत्पत्ति सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार 'यह सास्नादिमान है, क्योंकि गौ है', 'यह गौ है क्योंकि सास्नादिमान है' इत्यादि समवायी हेतुओं में अन्योन्याश्रय भाव है। 'चंद्रोदय हुआ है, क्योंकि समुद्रवृद्धि हुई है, आदि उदाहरणों में तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति के बिना भी अविनाभाव है, अतः यह

२८०. नहि तादात्म्यतदुत्पत्ती ज्ञातुं शक्येते विनाऽन्यथानुपपत्तिवितर्केण, ताभ्यां विनैव एकलक्षणसिद्धिः ।— लघीयस्त्रयवृत्ति, १२

२८१. (i) तुलोन्नामरसादीनां तुल्यकालतया हि न ।

नामरूपादिहेतुत्वं न च तद्व्यभिचारिता ॥

तादात्म्यं तु कथञ्चित्स्यात् ततो हि न तुलान्तयोः ॥— न्यायविनिश्चय, २.३३८-३९

(ii) द्रष्टव्य, Akalaṅka's criticism of Dharmakīrti's Philosophy, p. 257.

२८२. तादात्म्यादि प्रतीभः एकलक्षणविदो वयम् ।

सहक्रमविदामेकं तर्कात् स्वसंवेदनम् ॥— सिद्धिविनिश्चय, ६.४१

२८३. (१) प्रत्यक्षानुपलम्भश्च विधानप्रतिषेधयोः ।

अन्तरेणैह सम्बन्धमहेतुरिव लक्ष्यते ॥— न्यायविनिश्चय, २.१६७-६८

(२) द्रष्टव्य, यही अध्याय, पादटिप्पण, २७४

२८४. किं न तादात्म्यतज्जन्मसम्बन्धाभ्यां विलक्षणात् ।

अन्यथानुपपन्नत्वाद् हेतुः स्यात्कृतिकोदयः ॥— तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१३.१३४

कहा जा सकता है कि तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति से अविनाभाव व्याप्त नहीं है।<sup>२८५</sup> हेतु में अविनाभाव की सिद्धि विद्यानन्द ने योग्यता सम्बन्ध से प्रतिपादित की है।<sup>२८६</sup>

प्रभाचन्द्र कहते हैं कि 'अविनाभाव, तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति से नियत है', यह बौद्ध मान्यता समीचीन नहीं है। तादात्म्य को अविनाभाव का कारण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि तादात्म्य (एकात्म्य) के होने पर भेद नहीं रहता और भेद के अभाव में सम्बन्ध नहीं हो सकता तथा सम्बन्ध के अभाव में अविनाभाव घटित नहीं होता। तादात्म्य आदि कोई भी सम्बन्ध तभी हो सकता है जब दो पदार्थ भिन्न हों। निरंश अर्थवादी बौद्धों के मत में तादात्म्य एवं भेद का होना किञ्चित् भी युक्त नहीं है। तादात्म्य का अर्थ है उसकी स्वभावता। इससे साध्य के साथ साधन की एकता प्रकट होती है। एकता होने पर साध्य-साधन का भेद नहीं रह सकता तथा भेद होने पर एकता नहीं हो सकती। इसलिए तादात्म्य सम्बन्ध से शिशपा हेतु वृक्ष का ज्ञान नहीं करा सकता। तादात्म्य से यदि वह ज्ञान कराता भी है तो हेतु के प्रहण करते समय ही उससे अभिन्न साध्य का भी ज्ञान हो जायेगा, अतः उसके अनन्तर अनुमान करना निष्फल हो जाता है। यदि विपरीत समारोप का व्यवच्छेद करने से अनुमान की सफलता है तो विपरीत समारोप कब होता है? हेतु का स्वरूप ज्ञात होने पर विपरीत समारोप होता है अथवा ज्ञात नहीं होने पर ही हो जाता है? हेतु का स्वरूप जान लेने पर तो विपरीत समारोप को अवकाश ही नहीं रहता, यथा सिर, हाथ आदि के दिखाई देने पर स्थाणु का समारोप नहीं होता तथा उसका स्वरूप न जानने पर समारोप किसका? अर्थात् हेतु का स्वरूप न जानने पर समारोप का प्रश्न ही नहीं उठता।<sup>२८७</sup>

साध्य एवं साधन में तादात्म्य मानने पर जिस प्रकार शिशपा से वृक्ष का अनुमान किया जाता है उसी प्रकार वृक्ष से भी शिशपा का अनुमान होना चाहिए, क्योंकि तादात्म्य तो दोनों में वही है। यदि शिशपा ही वृक्ष में प्रतिबद्ध है, वृक्ष, शिशपा में प्रतिबद्ध नहीं है तो फिर तादात्म्य से हेतु को साध्य का गमक कहना उचित नहीं है। अविनाभाव से ही उसे साध्य का गमक कहना चाहिए, क्योंकि तादात्म्य में अविनाभाव नियत नहीं है।<sup>२८८</sup>

२८५. नान्यथानुपपन्नत्वं ताभ्यां व्याप्तं निक्षेपणात् ।

संयोग्यादिषु लिङ्गेषु तस्य तत्त्वपरीक्षकैः ॥

अर्वाग्भागेऽविनाभावी परभागेन कस्यचित् ।

सोऽपि तेन तथा सिद्धः संयोगी हेतुरीदृशः ॥

सास्नादिमानयं गोत्वाद्गोर्वा सास्नादिमत्वतः ।

इत्यन्योन्याश्रयी भावः समवायिषु दृश्यते ॥

चंद्रोदयोऽविनाभावी पयोनिधिविबर्धनीः ।

तानि तेन विनाप्येतत्संबंधद्वितीयादिह ॥ — तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१३.१३५-३८

२८६. योग्यताख्यश्च सम्बन्धः सर्वसम्बन्धभेदगः ।

स्वादेकस्तादृशास्तिस्रभेदमेवोक्तलक्षणम् ॥ — तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१३.१४४

२८७. न्यायकुमुदचन्द्र, भाग-२, पृ. ४४६-४७

२८८. न्यायकुमुदचन्द्र, भाग-२, पृ. ४४७

तदुत्पत्ति में भी अविनाभाव नियत नहीं है, क्योंकि अग्नि से उत्पन्न धूम के गुण श्यामत्व आदि में अविनाभाव उपलब्ध नहीं होता है। इसी प्रकार अग्निसामान्य एवं धूमसामान्य में कार्यकारण भाव नहीं होता, किन्तु अग्निविशेष एवं धूमविशेष में ही कार्यकारण भाव होता है, जो रसोईघर आदि में जाना जाता है। परन्तु इन अग्निविशेष एवं धूमविशेष में गम्य-गमक भाव नहीं होता। पर्वत पर पाये जाने वाले अग्निविशेष एवं धूमविशेष में गम्य-गमक भाव होता है, किन्तु उनमें कार्यकारणभाव अज्ञात रहता है। पर्वतस्थ अग्नि एवं धूम में कार्यकारण भाव जाने बिना उनमें अविनाभाव का ग्रहण नहीं किया जा सकता। अगृहीत अविनाभाव अनुमान का अंग नहीं है। अनुमान-प्रयोग काल में कार्यकारण में अविनाभाव का ग्रहण मानते हैं, तो हेतु की प्रतिपत्ति के समय ही साध्य की प्रतिपत्ति हो जानी चाहिए, अतः तब अनुमान व्यर्थ सिद्ध होता है।<sup>२८९</sup>

प्रत्यक्ष एवं अनुपलम्भ के पञ्चक से अविनाभाव की प्रतिपत्ति मानना भी असाम्प्रत है, क्योंकि बौद्धमत में प्रत्यक्ष निर्विकल्पक होता है, अतः उससे व्याप्ति ग्रहण करना संभव नहीं है। अनुपलम्भ अर्थान्तर की उपलब्धि के स्वभाव वाला होता है एवं निर्विकल्पक होता है अतः उसमें सैंकड़ों बार प्रवृत्त होने वाले पुरुष के द्वारा भी व्याप्ति ग्रहण नहीं की जा सकती। निर्विकल्पक ज्ञान 'यह इसके होने पर ही होता है, नहीं होने पर नहीं होता' इस प्रकार का व्यापार करने में समर्थ नहीं होता, क्योंकि वह सन्निहित विषय के बल से उत्पन्न होता है एवं अविचारक होता है। निर्विकल्प से उत्पन्न विकल्प भी व्याप्ति का ग्राहक नहीं होता, क्योंकि वह बौद्ध मत में प्रमाण नहीं माना गया है।

स्वभाव हेतु की व्याप्ति विपक्ष में बाधक प्रमाण से होती है, ऐसा मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि तब यह शंका होती है कि विपक्ष में बाधक अनुमान की व्याप्ति किसी अन्य अनुमान से होती है अथवा प्रथम अनुमान से ही? यदि अन्य अनुमान से उसकी व्याप्ति सिद्ध होती है तो अनवस्था दोष आता है तथा प्रथम अनुमान से ही सिद्ध होती है तो अन्योन्याश्रय दोष आता है। इसका कारण है- विपक्ष में व्याप्ति के सिद्ध हुए बिना स्वभाव हेतु से अनुमान नहीं हो सकता तथा अनुमान के सिद्ध हुए बिना व्याप्ति नहीं हो सकती। अतः अनुमान को प्रमाण मानने के लिए व्याप्ति के ग्राहक तर्क को एक पृथक् प्रमाण मानना चाहिए। तर्क से ही व्याप्ति का ग्रहण होता है; प्रत्यक्ष, अनुमान आदि से नहीं।<sup>२९०</sup> इस प्रकार तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति के अभाव में भी अविनाभाव के बल से ही हेतु अपने साध्य का गमक होता है।

वादिदेवसूरि तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति से अविनाभाव मानने का खण्डन करने हेतु बौद्धों से प्रश्न करते हैं कि जहाँ तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति होते हैं वहाँ अविनाभाव होता है, अथवा जहाँ अविनाभाव होता है वहाँ तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति होते हैं? इनमें प्रथम पक्ष उचित नहीं है, क्योंकि तादात्म्य सम्बन्ध के होने पर भी वृक्ष का 'शिशपा ही' होने में व्यभिचार आता है। इसी प्रकार तदुत्पत्ति सम्बन्ध होने

२८९. न्यायकुमुदचन्द्र, भाग-२, पृ. ४४७-४८

२९०. न्यायकुमुदचन्द्र, भाग-२ पृ. ४४८-४९



पर भी श्यामत्व आदि धूम के धर्मस्तोम का अग्नि से व्यभिचार आता है ।

तादात्म्य से अविनाभाव सम्पन्न नहीं होता इसका निरूपण करते हुए वादिदेवसूरि कहते हैं कि शिशपा होना ही वृक्ष स्वरूप नहीं है और वृक्ष होना ही शिशपा स्वरूप नहीं है, क्योंकि खदिर, गूलर आदि में भी समानरूप से वृक्षत्व विद्यमान है ।<sup>२९१</sup> शिशपा एवं वृक्ष में एकान्त रूप से अभेद अर्थात् तादात्म्य का अभाव है । यदि खदिर, उदुम्बर आदि में समान रूप से रहने वाला ही वृक्ष है, शिशपा होना ही नहीं, तब तो शिशपा एवं वृक्ष की एकता नहीं कही जा सकती । क्योंकि इनमें स्वभाव-भेद रूप भेदलक्षण विद्यमान है ।

वादिदेवसूरि ने बौद्ध दार्शनिक प्रज्ञाकर गुप्त की ओर से पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हुए कहा है— जिस प्रकार शिशपा वृक्ष स्वरूप है, उसी प्रकार वृक्ष भी शिशपास्वरूप ही है, ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि तादात्म्य उभयगत नहीं होता है । जिसका जिसमें तादात्म्य होता है उसका उससे विभाजन नहीं होता । वृक्ष तो शिशपा के बिना भी पलाशादि रूप में विभक्त है, किन्तु शिशपा वृक्ष के बिना नहीं है, शिशपा वृक्ष से अविभक्त होकर ही वृक्ष स्वरूप का गमक होता है ।

प्रज्ञाकर की इस आशंका का देवसूरि ने समाधान करते हुए कहा है कि वृक्ष शिशपा से विभक्त रह सकता है अतः वह विभागवान् है एवं शिशपा वृक्ष से अविभक्त रहती है अतः वह अविभागवती है । इस प्रकार विभागवत्त्व एवं अविभागवत्त्व के विरोधी होने से दोनों में भेद बना ही रहता है, तादात्म्य नहीं हो पाता । तदुत्पत्ति के सम्बन्ध में यदि बौद्ध कहें कि वह्निके द्वारा धूम ही उत्पन्न किया जाता है, धूम के श्यामत्व आदि धर्म नहीं, तो उनका यह कथन भी अयुक्त है । क्योंकि उनके मत में वस्तु अविभागी होती है । अतः धूम के साथ श्यामत्व आदि की उत्पत्ति मानना चाहिए, जो अविनाभाव में बाधक है । इससे यह सिद्ध होता है कि जहां तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति है वहां अविनाभाव ही सिद्ध नहीं है ।<sup>२९२</sup>

द्वितीय पक्ष “जहां अविनाभाव होता है वहां तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति होते हैं अतः अविनाभाव के सिद्ध होने पर तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति को साध्य के गमक अंग मानना चाहिए”, भी उचित नहीं है, क्योंकि तब तो अविनाभाव को ही साध्य का गमक मानना उचित है तथा तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति की कल्पना निष्प्रयोजन है । स्वभाव स्वभाव (तादात्म्य) होकर एवं कार्य, कार्य (तदुत्पत्ति) होकर अपने साध्य का ज्ञान नहीं कराते, किन्तु उनका अविनाभावित्व ही साध्य का ज्ञान कराता है ।<sup>२९३</sup>

यदि तादात्म्य को साध्य का गमक अंग मानना इष्ट है तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि निरंशवस्तुवादी बौद्धों के यहां साध्य एवं साधन में तादात्म्य होने पर किसी भी प्रकार उनमें भेद घटित

<sup>२९१</sup>. न च शिशपात्वमेव वृक्षत्वात्मकं न वृक्षत्वं शिशपात्वात्मकं खदिरौदुम्बररदिसाधारणत्वाद् वृक्षस्येति वाच्यम् ।

—स्याद्वादरत्नाकर पृ. ५३३

<sup>२९२</sup>. स्याद्वादरत्नाकर, पृ. ५३३

<sup>२९३</sup>. स्याद्वादरत्नाकर, पृ. ५३३

नहीं हो सकता। तादात्म्य का अर्थ है-उसका स्वभाव होना। अर्थात् तादात्म्य के द्वारा साध्य के साथ साधन का ऐक्य हो जाना। ऐक्य में भेद की गन्ध भी नहीं होती है और भेद में एकता नहीं होती। अतः तादात्म्यरूप (वृक्षरूप) होने से शिशपा वृक्ष का गमक कैसे होगा? तादात्म्य से गमक होने पर तो हेतुज्ञान के समय ही साध्य का भी ज्ञान हो जाना चाहिए और तब अनुमान की आवश्यकता ही नहीं रहती।

यदि हेतु के ज्ञान की वेला में साध्य ज्ञात नहीं होता है तो फिर उनका तादात्म्य कैसे हुआ? हेतु के प्रतिपन्नत्व (ज्ञान) एवं साध्य के अप्रतिपन्नत्व (अज्ञात) रूप विशुद्ध धर्मों से आक्रान्त होने के कारण उनमें तादात्म्य नहीं कहा जा सकता।

स्याद्वादरत्नाकर में वादिदेवसूरि ने बौद्धों की ओर से इस सम्बन्ध में उत्तर-प्रत्युत्तर प्रस्तुत किए हैं जो संक्षेपतः उल्लिखित हैं-

**बौद्ध**—शिशपा को देखकर शिशपा विकल्प उत्पन्न होता है, वृक्ष विकल्प नहीं, क्योंकि तब वृक्ष शब्द की स्मृति का अभाव रहता है। शिशपा शब्द (के संस्कार के प्रबोधक) - की स्मृति से उत्पन्न विकल्प के द्वारा अशिशपा की व्यावृत्ति की जाती है, अवृक्ष की व्यावृत्ति नहीं। यदि शिशपा शब्द जन्य विकल्प द्वारा अवृक्ष की भी व्यावृत्ति की जाने लगे तो उसके समस्त विकल्पों के पर्याय होने का प्रसंग आता है अर्थात् वृक्ष की भांति अन्य अघट अपट आदि की भी व्यावृत्ति करने का प्रसंग आता है। दूसरी बात यह है कि गम्य-गमक भाव इनकी व्यावृत्तियों का होता है, वस्तुओं का नहीं, क्योंकि वस्तुओं में शिशपा एवं वृक्ष शब्द का अन्वय नहीं होता। 'शिशपा' शब्द-विकल्प के द्वारा 'अशिशपा' की व्यावृत्ति की जाती है एवं 'वृक्ष' शब्द के द्वारा 'अवृक्ष' की व्यावृत्ति की जाती है- ये दोनों व्यावृत्तियाँ परस्पर भिन्न हैं। क्योंकि इनके द्वारा व्यावृत्त वस्तुओं में भी भेद होता है। इसलिए जैनों द्वारा दिया गया यह दोष कि साधन के ज्ञान की वेला में ही साध्य का ज्ञान हो जाना चाहिए उचित नहीं ठहरता है।<sup>२९४</sup>

**वादिदेवसूरि**—यह कथन भी पूर्वापर के अनुसंधान पूर्वक नहीं कहा गया है। साध्य एवं साधनभूत व्यावृत्तियों के तादात्म्य को अनुमान का बीज (कारण) कह कर भी इन दोनों व्यावृत्तियों में परस्पर भेद बताना बौद्धों की महती परामर्शशक्ति का निदर्शन है। यदि वृक्ष एवं शिशपा के तादात्म्य के कारण अध्यवसित अवृक्षव्यावृत्ति तथा अशिशपाव्यावृत्ति के भिन्न होने पर भी यथाध्यवसाय इनका तादात्म्य है, तो यह भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष आता है। यथा-तादात्म्य के सिद्ध होने पर अशिशपाव्यावृत्ति से अवृक्ष व्यावृत्ति का अध्यवसाय होगा और अवृक्षव्यावृत्ति के अध्यवसित होने पर यथाध्यवसाय तादात्म्य की सिद्धि होगी। यदि व्याप्ति का ज्ञान करने की वेला में एकात्म रूप से अध्यवसित व्यावृत्तियों का तादात्म्य सिद्ध है, तो वह तादात्म्य काल्पनिक ही है। इस प्रकार तो अनुमान भी कल्पना से समारोपित ही होगा। दूसरी बात यह है कि व्यावृत्तियों के

एकात्म्य को स्वीकार करने में कोई हेतु नहीं है। ऐसा स्वीकार करेंगे तो प्रमेयत्व और अनित्यत्व के भी एकात्म रूप से अध्यवसित होने पर यथाध्यवसाय इनका तादात्म्य संभव होने लगेगा, जो हो नहीं सकता, क्योंकि प्रमेय तो नित्य भी हो सकता है। यदि नित्यत्व की व्यावृत्ति नहीं करने के कारण प्रमेयत्व का अनित्यत्व के साथ तादात्म्य नहीं है, तो तादात्म्य वास्तविक नहीं है। वह कल्पना से समारोपित है। तादात्म्य को वास्तविक माना जाय तो साध्य एवं साधन का तादात्म्य होने पर जिस प्रकार शिशापात्व से वृक्षत्व का अनुमान किया जाता है उसी प्रकार वृक्षत्व से भी शिशापात्व का अनुमान होने लगेगा, क्योंकि तादात्म्य सम्बन्ध के कारण दोनों में अभेद है।<sup>२९५</sup>

**बौद्ध**— सम्बन्ध अन्य है और प्रतिबन्ध अन्य है। सम्बन्ध दो में स्थित होता है। प्रतिबन्ध में एक, दूसरे के अधीन (परायत्तत्व) लक्षण वाला होता है। अतः शिशापात्व वृक्षत्व में प्रतिबद्ध है, वृक्षत्व शिशापात्व में नहीं। जिस प्रकार कि धूम का अग्नि में प्रतिबन्ध है, अग्नि का धूम में नहीं।

**वादिदेवसूरि**— बौद्ध कथन सही है, किन्तु इस प्रकार कहे जाने पर तो अविनाभाव ही स्वीकृत होता है, तादात्म्य नहीं। तादात्म्य में तो जिस प्रकार, वृक्षत्व समस्त वृक्षों में साधारण है उसी प्रकार शिशापात्व भी समस्त शिशापात्रों में साधारण होना चाहिए। जिस प्रकार शिशापात्र के बिना शिशापा दिखाई नहीं देता है उसी प्रकार वृक्षत्व भी शिशापा रहित दिखाई नहीं देना चाहिए। किन्तु खदिर आदि में शिशापात्ररहित वृक्षत्व दिखाई देता है।

यदि शिशापात्र से अभिन्न कहा गया वृक्षत्व खदिर आदि के वृक्षत्व से भिन्न है तो इस प्रकार धर्मों के भेद से धर्मों का भेद मानने पर तो अन्वय (व्याप्ति) का ग्रहण ही नहीं हो सकेगा। फलतः समस्त अनुमान उत्पाटित हो जायेगा। धूम एवं अग्नि में तो कार्यकारण का भेद होने से धूम का अग्नि में प्रतिबन्ध कहना एवं अग्नि का धूम में प्रतिबन्ध नहीं कहना उचित है, किन्तु शिशापात्र एवं वृक्षत्व के संदर्भ में साध्य एवं साधन का व्यतिरेक (भेद) नहीं होने से ऐसा नहीं कहा जा सकता। शिशापात्र का वृक्षत्व में प्रतिबन्ध है एवं वृक्षत्व का शिशापात्र में नहीं, यदि ऐसा कहेंगे तो उनमें अभेदता नहीं रहेगी। इसलिए या तो शिशापात्र एवं वृक्षत्व का सर्वथा तादात्म्य त्याग देना चाहिए या फिर वृक्षत्व से शिशापात्र का भी अनुमान कर लेना चाहिए। इनके अतिरिक्त कोई अवस्था नहीं बन सकती।<sup>२९६</sup>

**बौद्ध मत** में सामान्य 'सत्' नहीं है अतः उसको आधार बनाकर तदुत्पत्ति का भी वादिदेवसूरि ने खण्डन किया है। वादिदेवसूरि कहते हैं कि तदुत्पत्ति भी अविनाभाव का कारण नहीं है, क्योंकि दो सामान्य पदार्थों का कार्यकारण भाव नहीं होता है, किन्तु दो विशेष पदार्थों में कार्यकारणभाव होता है। इसके लिए वे प्रथाचन्द्र की भांति धूमविशेष एवं अग्निविशेष का उदाहरण देकर कहते हैं कि जिन दो विशेषों धूम एवं अग्नि का महानस आदि में कार्यकारण भाव ज्ञात होता है, उनमें गम्य-गमक भाव

२९५. स्वाहादरलाकर, पृ. ५३४-३५

२९६. स्वाहादरलाकर, पृ. ५३५

नहीं होता है, तथा पर्वत-गुफा में विद्यमान जिन धूम एवं अग्नि विशेषों में गम्य-गमक भाव है उनका कार्यकारण भाव ज्ञात नहीं है। कार्यकारण भाव के ज्ञात नहीं होने पर उनके अविनाभाव का ग्रहण नहीं किया जा सकता और अविनाभाव गृहीत हुए बिना यह अनुमान का अंग नहीं बनता। पर्वतस्थ धूम एवं अग्नि के अविनाभाव का ग्रहण होने पर तो हेतु-ज्ञान की वेला में ही साध्य का ज्ञान हो जाना चाहिए, उसके अनन्तर अनुमान निष्प्रयोजन है।

इस प्रकार वादिदेवसूरि ने तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति से अविनाभाव मानने का खण्डन किया है। वे समस्त सम्यक् हेतुओं में व्याप्त स्वयोग्यता को ही अविनाभाव में कारण मानते हैं। स्वयोग्यता से ही कोई किसी के साथ अविनाभूत है, सब सबके साथ नहीं।<sup>२९७</sup>

व्याप्ति के दो रूप प्रसिद्ध हैं- १. अन्तर्व्याप्ति और २. बहिर्व्याप्ति। जैन दार्शनिकों ने बहिर्व्याप्ति की अपेक्षा अन्तर्व्याप्ति को अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। यही नहीं वादिदेवसूरि ने अन्तर्व्याप्ति के द्वारा साध्य का ज्ञान होने या न होने, दोनों स्थितियों में बहिर्व्याप्ति को व्यर्थ माना है<sup>२९७अ</sup> पक्ष में ही साधन की साध्य के साथ व्याप्ति होने को अन्तर्व्याप्ति तथा पक्ष के बाहर व्याप्ति होने को बहिर्व्याप्ति कहा गया है।<sup>२९७आ</sup>

## समीक्षण

व्याप्ति के स्वरूप को लेकर जैनदार्शनिकों का बौद्धमत से विरोध नहीं है। दोनों दर्शनों में अविनाभावनियम को व्याप्ति स्वीकार किया गया है। यह अवश्य है कि बौद्धदर्शन में स्वभाव-प्रतिबन्ध के रूप में अविनाभावनियम का विधिपरक प्रतिपादन भी किया गया है, जबकि जैनदर्शन में व्याप्ति का प्रतिपादन मूलतः निषेधपरक है। उससे ही जैन दार्शनिकों ने उसका तथोपपन्नत्व नामक विधिपरक रूप फलित किया है। लेकिन जैन दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत तथोपपन्नत्व रूप व्याप्ति की उतनी स्पष्ट व्याख्या नहीं करता जितनी बौद्ध दर्शन में 'स्वभाव-प्रतिबंध' शब्द से की गयी है। बौद्ध एवं जैन दर्शन में प्रतिपादित अविनाभाव नियम रूप व्याप्ति का नव्य-नैयायिक गंगेश ने खण्डन किया है। गङ्गेश का कथन है कि अविनाभावनियम को व्याप्ति नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह केवलान्वयी अनुमान में अव्याप्त है।<sup>२९८</sup>

बौद्ध दार्शनिकों ने तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति द्वारा हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति स्वीकार की है। उनका मतव्य है कि जिससे जिसकी उत्पत्ति होती है उसमें उसका अव्यभिचार होता है एवं जिसमें जिसका तादात्म्य होता है उसमें भी उसका अव्यभिचार होता है। किन्तु लोकव्यवहाराभिमुख जैन दार्शनिक इन दोनों सम्बन्धों से व्याप्ति का होना स्वीकार नहीं करते हैं। उनके अनुसार पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर आदि ऐसे अनेक हेतु हैं जिनमें साध्य के साथ न तादात्म्य है और न तदुत्पत्ति, तथापि उनकी

२९७. स्याद्वादरत्नाकर, पृ. ५३५-३६

२९७अ. प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.३७

२९७आ. प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.३८

२९८. नायविनाभावः केवलान्वयिन्यभावात् ।- तत्त्वचिन्तामणि, पूर्वपक्ष, व्याप्तिप्रकरण, तिरुपति, १९८२

साध्य के साथ व्याप्ति होती है। तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति का अकलङ्क एवं विद्यानन्द ने प्रतिषेध नहीं किया है, किन्तु वे उन्हें पर्याप्त नहीं मानते हैं। इसलिए विद्यानन्द ने योग्यता सम्बन्ध से हेतु एवं साध्य में व्याप्ति स्वीकार की है। प्रभाचन्द्र एवं वादिदेवसूरि ने तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति को अपर्याप्त ही नहीं माना, अपितु उनके द्वारा व्याप्ति स्वीकार करने का खण्डन भी किया है। इन दार्शनिकों का मन्तव्य है कि तादात्म्य के कारण जिस प्रकार शिंशपा से वृक्ष का ज्ञान होता है उसी प्रकार वृक्ष से शिंशपा का ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि तादात्म्य में साध्य व साधन का भेद नहीं किया जा सकता। तदुत्पत्ति द्वारा भी व्याप्ति का होना वे खण्डित करते हैं, क्योंकि अग्नि से केवल धूम ही उत्पन्न नहीं होता, श्यामत्व आदि भी उत्पन्न होते हैं, अतः उनसे भी अग्नि की व्याप्ति होकर साध्य का ज्ञान होना चाहिए, किन्तु नहीं होता है। दूसरी बात वे यह कहते हैं कि अग्निसामान्य एवं धूम सामान्य में कार्यकारण भाव नहीं होता है, किन्तु अग्निविशेष एवं धूमविशेष में ही कार्यकारण भाव होता है। धूम एवं अग्नि के कार्यकारण भाव का ज्ञान महानस में होता है, पर्वत में नहीं। इसलिए महानस के कार्यकारणभाव या तदुत्पत्ति ज्ञान से पर्वत की अग्नि को सिद्ध नहीं किया जा सकता। जैन दार्शनिकों ने इसलिए साध्य एवं साधन में योग्यता सम्बन्ध से व्याप्ति स्वीकार की है तथा उसे सहभाव एवं क्रमभाव के रूप में विभक्त कर साध्य के गमक समस्त हेतुओं को समाहित कर लिया है, जो उनकी व्यापक एवं लौकिक व्यवहार की दृष्टि को स्पष्ट करता है।

न्यायदर्शन में स्वाभाविक सम्बन्ध रूप व्याप्ति का ग्रहण भूयः सहचार दर्शन से सामान्यलक्षण प्रत्यासत्ति के द्वारा किया जाता है, किन्तु भूयः सहचार दर्शन से धूम एवं अग्नि के कार्यकारण सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता। जबकि तर्कप्रमाण से उनके पारस्परिक अविनाभाव का ग्रहण स्वतः हो जाता है।

## परार्थानुमान

### परार्थानुमान का स्वरूप

स्वार्थानुमाता जब प्रतिज्ञा, हेतु आदि का कथन करके अन्य पुरुष को साध्य का ज्ञान कराता है, तो उसे परार्थानुमान कहा जाता है। पर के लिए प्रयुक्त होने से यह परार्थ अनुमान है।<sup>२९९</sup> प्रमाता हेतु द्वारा जब साध्य का ज्ञान करता है तो उसे स्वार्थानुमान कहा गया है तथा वही प्रमाता साध्य का ज्ञान करने के अनन्तर किसी अन्य पुरुष को हेतु आदि का कथन करके साध्य का ज्ञान कराता है तो वह परार्थानुमान कहलाता है। परार्थानुमान का यह स्वरूप बौद्ध एवं जैन, दोनों दर्शनों को मान्य है। बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग ने स्वदृष्ट अर्थ के प्रकाशन को परार्थानुमान कहकर यही तात्पर्य प्रकट किया है।<sup>३००</sup> स्वदृष्ट अर्थ का तात्पर्य यहाँ पर त्रिरूपलिङ्ग से ज्ञात अनुमेय अर्थ है। त्रिरूपलिङ्ग का कथन करके स्वदृष्ट अर्थ का प्रकाशन करना परार्थानुमान है, ऐसा जिनेन्द्रबुद्धि की विशालामलवती टीका से स्पष्ट होता है।<sup>३०१</sup> बौद्ध दर्शन में अनुमान के लिए त्रिरूपलिङ्ग का होना आवश्यक माना गया है,

२९९. परस्मायिदं परार्थम् ।— न्यायविन्दुटीका ३.१, पृ. १८६

३००. परार्थानुमानं तु स्वदृष्टार्थप्रकाशनम् ।— द्वादशारनयचक्र (ज.) भाग-१, भोट परिशिष्ट, पृ. १२५

३०१. स्वदृष्टश्चासावर्धश्चेति स्वदृष्टार्थः त्रिरूपो हेतुः स येन वचनेन प्रकाश्यते तत् परार्थमनुमानम् ।— विशालामलवती, उद्धृत, द्वादशारनयचक्र (ज.) भाग-१, भोट परिशिष्ट, पृ. १२५

इसलिए परार्थानुमान में त्रिरूपलिङ्ग का ही कथन स्वीकृत है। यही कारण है कि धर्मकीर्ति ने न्यायबिन्दु में त्रिरूपलिङ्ग का आख्यान करने को परार्थानुमान कहा है।<sup>३०२</sup> शान्तरक्षित एवं कमलशील ने भी त्रिरूपलिङ्ग के प्रकाशक वचन को परार्थानुमान कहकर यही मत प्रकट किया है।<sup>३०३</sup> एक रूप अथवा द्विरूप से युक्त हेतु का कथन करने पर वे परार्थानुमान को शक्य नहीं मानते, क्योंकि तब हेतु हेत्वाभास होता है।<sup>३०४</sup>

जैन दार्शनिक अनुमान में त्रिरूपलिङ्गता का होना आवश्यक नहीं मानते हैं, इसलिए वे त्रिरूपलिङ्गता के आधार पर परार्थानुमान का स्वरूप प्रकट नहीं करते हैं। उनके अनुसार हेतु का लक्षण साध्याविनाभाविता है। इसलिए वे साध्याविनाभावी हेतु के प्रतिपादक वचन को परार्थानुमान कहते हैं। सिद्धसेन ने साध्याविनाभावी हेतु के प्रतिपादक वचन को ही परार्थानुमान कहा है, किन्तु साथ ही वे उसे पक्षादिवचनात्मक भी प्रतिपादित करते हैं।<sup>३०५</sup> सिद्धसेन के अनुसार स्वनिश्चय के समान अन्य व्यक्तियों को निश्चय कराना परार्थ प्रमाण है।<sup>३०६</sup> वे केवल अनुमान को परार्थ नहीं मानते हैं, अपितु उसके समान प्रत्यक्ष को भी परार्थ प्रतिपादित करते हैं। उनके मत में अनुमानवाक्य का कथन करके जिस प्रकार अन्य पुरुष को हेतु द्वारा साध्य का ज्ञान कराया जा सकता है उसी प्रकार स्वदृष्ट या निर्णीत वस्तु का कथन करके भी अन्य को उसका प्रत्यक्ष कराया जा सकता है। इसलिए वे प्रत्यक्ष एवं अनुमान दोनों को परार्थ भी मानते हैं।<sup>३०७</sup> जैन दार्शनिकों ने परार्थानुमान के लिए प्रतिज्ञा (पक्ष) एवं हेतु इन दो अवयवों का कथन करना आवश्यक माना है, इसलिए सिद्धसेन ने परार्थानुमान को पक्षादिवचनात्मक भी कहा है। वादिदेवसूरि ने भी सिद्धसेन का अनुकरण करते हुए पक्ष एवं हेतु के वचन को परार्थानुमान माना है।<sup>३०८</sup> बौद्ध दार्शनिक परार्थानुमान में पक्षवचन आवश्यक नहीं मानते हैं, इसलिए उन्होंने त्रिरूपलिङ्ग के वचन को ही परार्थानुमान प्रतिपादित किया है।

यह स्पष्ट है कि परार्थानुमान को बौद्ध एवं जैन दोनों दर्शन वचनात्मक प्रतिपादित करते हैं। प्रश्न होता है कि परार्थानुमान वचनात्मक या शब्दात्मक होते हुए भी प्रमाण क्यों माना गया है? ये

३०२. त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थमनुमानम् ।— न्यायबिन्दु, ३.१

३०३. (१) त्रिरूपलिङ्गवदनं परार्थं पुनरुच्यते ।— तत्वसङ्ग्रह, १३६२

(२) यथोक्तत्रिरूपलिङ्गप्रकाशकवचनात्मकं द्रष्टव्यम् ।— तत्वसङ्ग्रहपञ्जिका, पृ. ४९५

३०४. एकैकद्विद्विरूपोऽर्थो लिङ्गाभासस्ततो मतः ।— तत्वसङ्ग्रह, १३६२

३०५. साध्याविनाभुवो हेतोर्वचो यत्प्रतिपादकम् ।

परार्थमनुमानं तत् पक्षादिवचनात्मकम् ॥— न्यायावतार, १३

३०६. स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनं बुधैः ।

परार्थं मानमाख्यातं, वाक्यं तदुपचारात् ।— न्यायावतार, १०

३०७. प्रत्यक्षेणानुमानेन प्रसिद्धार्थप्रकाशनात् ।

परस्य तदुपायत्वात्, परार्थत्वं द्वयोरपि ॥— न्यायावतार, ११

३०८. पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारात् ।— प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.२३

दोनों दर्शन प्रमाण को ज्ञानात्मक स्वीकार करते हैं, अतः इनके द्वारा अनुमान को वचनात्मक मानना संगत प्रतीत नहीं होता है। इस समस्या का समाधान बौद्ध दार्शनिकों ने कारण पर कार्य का उपचार मानकर किया है।<sup>३०९</sup> धर्मोत्तर का कथन है कि त्रिरूपलिङ्ग का कथन करने से स्मृति उत्पन्न होती है, स्मृति से अनुमान होता है इसलिए त्रिरूपलिङ्ग का वचन अनुमान रूप कार्य की उत्पत्ति में परम्परा से कारण है। त्रिरूपलिङ्ग वचन रूप कारण पर कार्य का उपचार या आरोप करके बौद्ध दार्शनिक लिङ्गवचन को भी अनुमान प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं।<sup>३१०</sup> जैनदार्शनिकों ने भी यही समाधान अपनाया है। वादिदेवसूरि ने उपचार से ही परार्थानुमान को पक्षहेतुवचनात्मक कहा है।<sup>३११</sup> माणिक्यनन्दी एवं हेमचन्द्र ने पक्ष एवं हेतुवचन को उपचार से कारण पर कार्य का आरोप मानकर परार्थानुमान स्वीकार तो किया है<sup>३१२</sup> किन्तु वे उसे ज्ञानात्मक रूप में भी प्रतिपादित करने का प्रयास करते हैं। माणिक्यनन्दी कहते हैं कि स्वार्थानुमान के विषयभूत अर्थ का परामर्श करने वाले वचनों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह परार्थानुमान है।<sup>३१३</sup> हेमचन्द्र ने भी साध्य के साथ निश्चित अविनाभाव रखने वाले साधन के कथन से उत्पन्न ज्ञान को परार्थानुमान कहा है।<sup>३१४</sup> इस प्रकार ये दोनों दार्शनिक परार्थानुमान को ज्ञानात्मक रूप में प्रतिपादित कर जैन प्रमाण-लक्षण को अव्याप्ति दोष से बचा लेते हैं। आत्यन्तिक रूप से ये भी पक्षहेतुवचन को परार्थानुमान कहने का निषेध नहीं करते हैं। पक्ष हेतुवाक्य को भी वे परार्थानुमान का जनक होने के कारण अन्य दार्शनिकों की भांति उपचार से प्रमाण मानते हैं। वादिदेवसूरि ने परार्थानुमान को श्रोता के स्वार्थानुमान का कारण माना है। उन्होंने प्रतिपादित किया है कि अनुमानवाक्य का प्रयोग करने पर श्रोता को जो साध्य का ज्ञान होता है वह स्वार्थानुमान से अर्थात् व्याप्तियुक्त हेतु से ही होता है। वक्ता के द्वारा अनुमान वाक्य 'पक्ष-हेतुवचन' का जो प्रयोग किया जाता है वह श्रोता के स्वार्थानुमान का कारण बनता है इसलिए वह परार्थानुमान माना गया है।<sup>३१५</sup> डा. दरबारी लाल कोठिया ने देवसूरि के स्थापन से सहमति प्रकट की है,<sup>३१६</sup> जो उचित है। ज्ञानतरङ्गिण ने भी तत्त्वसंग्रह में परार्थानुमान को श्रोता की अपेक्षा से प्रमाण माना है, वक्ता की अपेक्षा से नहीं।<sup>३१७</sup>

३०९. कारणे कार्योपचारात् ।— न्यायबिन्दु, ३.२

३१०. त्रिरूपलिङ्गाभिधानात् त्रिरूपलिङ्गस्मृतिरुत्पद्यते । स्मृतेश्चानुमानम् ।

तस्मात् अनुमानस्य परम्परया त्रिरूपलिङ्गाभिधानं कारणं । तस्मिन् कारणे वचने कार्यस्य अनुमानस्योपचारः समारोपः क्रियते । ततः समारोपात् कारणं वचनं अनुमानशब्देनोच्यते ।—न्यायबिन्दुटीका ३.२, पृ. १८७

३११. द्रष्टव्य, उपर्युक्त पादटिप्पण, ३०८

३१२(१) तद्वचनमपि तद्वेतुत्वात् ।— परीक्षामुख, ३.५२

(२) वचनमुपचारात् ।— प्रमाणमीमांसा, २.१२

३१३. परार्थं तु तदर्थपरामर्शवचनाज्जातम् ।— परीक्षामुख, ३.५१

३१४. यद्योक्तसाधनाभिधानजः परार्थम् ।— प्रमाणमीमांसा, २.११

३१५. स्याद्वादरत्नाकर, ३.२३, पृ. ५४८-४९

३१६. जैन तर्कशास्त्र में अनुमानविचार, पृ. १२४

३१७. यत्परार्थानुमानत्वमुक्तं तच्छ्रोत्रपेक्षया ।— तत्त्वसंग्रह, १४७८

इस प्रकार परार्थानुमान के स्वरूप को लेकर जैन एवं बौद्ध दर्शनों में कोई विवाद नहीं है। दोनों ही उसे वचनात्मक मानते हैं। उनका प्रथम विवाद हेतु के त्रैरूप्य को लेकर है, जिसकी चर्चा हेतुलक्षण में की जा चुकी है। दूसरा विवाद पक्ष-वचन को लेकर है। बौद्ध दार्शनिक परार्थानुमान में पक्षवचन का प्रतिषेध करते हैं, जबकि जैन दार्शनिक हेतु के साथ पक्ष का कथन करना भी आवश्यक मानते हैं। परार्थानुमान के भेद- बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने प्रयोग भेद से परार्थानुमान के दो प्रकार बताए हैं। १. साधर्म्यवत् एवं २. वैधर्म्यवत्।<sup>३१८</sup> साधर्म्यवत् में दृष्टान्त-धर्मी एवं साध्यधर्मी में हेतु के द्वारा सादृश्य कहा जाता है तथा वैधर्म्यवत् में दृष्टान्तधर्मी एवं साध्यधर्मी में हेतु के द्वारा वैसादृश्य का कथन किया जाता है। जिस परार्थानुमान में हेतु वाक्य का साधर्म्य कहा जाता है वह साधर्म्यवत् होता है तथा जिसमें वैधर्म्य कहा जाता है वह वैधर्म्यवत् होता है।<sup>३१९</sup> ये दोनों प्रकार त्रिरूपलिङ्ग का आख्यान करते हैं। अतः इनमें अर्थतः कोई भेद नहीं है।<sup>३२०</sup> प्रयोग की दृष्टि से ही भेद है। न्यायदर्शन में प्रयुक्त अन्वय एवं व्यतिरेक प्रयोग यहां क्रमशः साधर्म्य एवं वैधर्म्य से साम्य रखते हैं।

जैन दार्शनिक हेमचन्द्र ने भी परार्थानुमान के इसी प्रकार दो भेद किये हैं—(१) तथोपपत्ति एवं (२) अन्यथानुपपत्ति।<sup>३२१</sup> हेमचन्द्र के पूर्व सिद्धसेन, वादिदेवसूरि आदि के ग्रंथों में तथोपपत्ति एवं अन्यथानुपपत्ति के रूप में द्विविध हेतु प्रयोग निरूपित किये गये हैं,<sup>३२२</sup> उन्हीं हेतु प्रयोगों को हेमचन्द्राचार्य ने परार्थानुमान के भेदों के रूप में प्रस्तुत किया है। तथोपपत्ति का अर्थ है, साध्य के होने पर ही हेतु का होना एवं अन्यथानुपपत्ति का अर्थ है साध्य के अभाव में हेतु का अभाव होना।<sup>३२३</sup> तथोपपत्ति एवं अन्यथानुपपत्ति के तात्पर्य में कोई भेद नहीं है, दोनों के द्वारा ही साध्य के साथ अविनाभाव प्रकट किया जाता है।<sup>३२४</sup> अतः दोनों में से एक का ही प्रयोग उपादेय है, क्योंकि एक के प्रयोग से ही साध्य का ज्ञान हो जाता है।<sup>३२५</sup>

### परार्थानुमान के अवयव

बौद्ध दर्शन में परार्थानुमान के अवयवों पर विचार करने के अनन्तर विदित होता है कि बौद्ध

३१८. तद् द्विविधम् । प्रयोगभेदात् । साधर्म्यवद् वैधर्म्यवच्चेति ।— न्यायबिन्दु, ३.३.४,५

३१९. दृष्टान्तधर्मिणा सह साध्यधर्मिणः सादृश्यं हेतुकृतं साधर्म्यमुच्यते । असादृश्यं च हेतुकृतं वैधर्म्यमुच्यते ।— धर्मोत्तर, न्यायबिन्दुटीका, ३.५, पृ. १९०

३२०. (१) नानयोरर्थतः कश्चिद् भेदः ।— न्यायबिन्दु, ३.६

(२) द्वाभ्यामपि त्रिरूपं लिङ्गं प्रकाशयत एव ।— न्यायबिन्दुटीका, ३.६, पृ. १९२

३२१. तद् द्वेधा । तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभेदात् ।— प्रमाणमीमांसा, २.१.३,४

३२२. (१) हेतोस्तथोपपत्त्या वा स्यात्प्रयोगोऽन्यथापि वा ।

द्विविधोऽन्यतरेणापि साध्यसिद्धिर्भवेदिति ॥न्यायावतार, १७

(२) हेतुप्रयोगस्तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्यां द्विप्रकारः ।— प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.२९

३२३. सत्येव साध्ये हेतोरुपपत्तिस्तथोपपत्तिः, असति साध्ये हेतोरुपपत्तिरेवान्यथानुपपत्तिः ।— प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.३०

३२४. नानयोस्तात्पर्यभेदः ।— प्रमाणमीमांसा, २.१.५

३२५. अत एव नोभयोः प्रयोगः ।— प्रमाणमीमांसा, २.१.६



दार्शनिक न्यायदर्शन में प्रतिपादित प्रतिज्ञा, उपनय एवं निगमन का खण्डन करते हैं। उनके मत में पंचावयव परम्परा अंगीकृत नहीं है। स्थूल रूप से बौद्ध दर्शन में परार्थानुमान के अवयवों के सम्बन्ध में चार प्रकार के उल्लेख मिलते हैं—

१. **तीन अवयव** — न्यायप्रवेश में पक्ष, हेतु एवं दृष्टान्त को परार्थानुमान का अवयव प्रतिपादित किया गया है। न्यायप्रवेशकार का मत है कि पक्ष, हेतु एवं दृष्टान्त वचनों से प्राश्निकों को अप्रतीत अर्थ का ज्ञान कराया जाता है।<sup>३२६</sup>

२. **दो अवयव** — (१) धर्मकीर्ति आदि दार्शनिकों ने न्यायप्रवेश में प्रतिपादित तीन अवयवों में से पक्ष को निकालकर शेष दो अवयवों को उपादेय माना है।<sup>३२७</sup> धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित आदि ने पक्ष को अथवा प्रतिज्ञा को अनुमान का अवयव मानने का विस्तार से खण्डन किया है। धर्मकीर्ति कहते हैं कि साधर्म्य एवं वैधर्म्य दोनों प्रकार के अनुमानों में पक्ष का निर्देश करना आवश्यक नहीं है।<sup>३२८</sup>

(२) मोक्षाकरगुप्त ने तर्कभाषा में व्याप्ति एवं पक्षधर्मता को अनुमान का अंग कहा है।<sup>३२९</sup> मोक्षाकरगुप्त प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण उपनय एवं निगमन इन पांचों अवयवों का खण्डन कर व्याप्ति एवं पक्षधर्मता को परार्थानुमान के आवश्यक अवयव मानते हैं।<sup>३३०</sup> नव्यन्याय सरणि में तथा केशवमिश्र की तर्कभाषा में भी व्याप्ति एवं पक्षधर्मता को ही अनुमान का अंग माना गया है।<sup>३३१</sup>

३. **एकावयव** — धर्मकीर्ति विशिष्ट व्युत्पन्न अधिकारी के लिए केवल एक ही अवयव 'हेतु' को आवश्यक मानते हैं, उसके लिए वे दृष्टान्त वचन की भी आवश्यकता नहीं मानते।<sup>३३२</sup>

जैन दार्शनिकों में पक्ष एवं हेतु को अनुमान का अवयव मानने की धारणा बलवती रही है। सिद्धसेन, माणिक्यनन्दी, प्रभाचन्द्र, देवसूरि, हेमचन्द्र आदि समस्त जैन दार्शनिक इसका प्रतिपादन एवं समर्थन करते हैं। जैन दर्शन के सम्पूर्ण वाङ्मय पर दृष्टिपात किया जाय तो इसमें प्रतिपाद्य पुरुष के अनुसार अवयवों की कल्पना की गयी है। प्रमुख रूप से अवयवों के सम्बन्ध में निम्न उल्लेख मिलते हैं।

१- श्वेताम्बर जैनाचार्य भद्रबाहु ने दशवैकालिकसूत्र की निर्युक्ति में दो, पांच एवं दश अवयवों का

३२६. पक्षहेतुदृष्टान्तवचनैर्हि प्राश्निकानामप्रतीतोऽर्थः प्रतिपाद्यत इति ।— न्यायप्रवेश, पृ. १

३२७. धर्मकीर्ति ने उदाहरण एवं उपनय इन दो अवयवों को स्वीकार किया है ।— भारतीय दर्शन में अनुमान, पृ. २९१

३२८. द्वयोरप्यनयोः प्रयोगयोर्नावश्यं पक्षनिर्देशः ।— न्यायबिन्दु, ३.३४

३२९. व्याप्तिपक्षधर्मतासंज्ञकं द्वयवयवमेव साधनवाक्यं सौगतानाम् ।— तर्कभाषा (मोक्षाकर), पृ. १४

३३०. तर्कभाषा (मोक्षाकर), पृ. १४

३३१. अनुमानस्य द्वे अंगे व्याप्तिः पक्षधर्मता च ।— केशवमिश्र, तर्कभाषा, अनुमाननिरूपण ।

३३२. (१) तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः ।

ख्याप्येते, विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः ॥— प्रमाणवार्तिक, ३.२७

(२) त्रिरूपो हेतुरुक्तः । तावता चार्थप्रतीतिरिति न पृथग्दृष्टान्तो नाम साधनवाक्यः कश्चित् तेन नास्य लक्षणं पृथक् उच्यते गतार्थत्वात् ।— न्यायबिन्दु, ३.१२१

उल्लेख किया है।<sup>३३३</sup> दो अवयवों में वे प्रतिज्ञा एवं हेतु को अथवा प्रतिज्ञा एवं उदाहरण को सम्मिलित करते हैं। पंचावयवों में उन्होंने न्यायदर्शन की भांति प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपसंहार एवं निगमन का समावेश किया है। दशावयवों का उल्लेख वे दो प्रकार से करते हैं। प्रथम प्रकार में १ प्रतिज्ञा २. प्रतिज्ञाविशुद्धि ३. हेतु ४. हेतुविशुद्धि ५. दृष्टान्त ६. दृष्टान्तविशुद्धि ७. उपसंहार ८. उपसंहारविशुद्धि ९. निगमन एवं १०. निगमनविशुद्धि को स्वीकार करते हैं तथा द्वितीय प्रकार में १. प्रतिज्ञा, २. प्रतिज्ञाविभक्ति, ३. हेतु, ४. हेतुविभक्ति, ५. विपक्ष, ६. विपक्षप्रतिषेध, ७. दृष्टान्त, ८. आशंका, ९. आशंकाप्रतिषेध एवं १०. निगमन को निरूपित करते हैं।<sup>३३४</sup>

२-दो अवयव- सिद्धसेन,<sup>३३५</sup> अकलङ्क,<sup>३३६</sup> विद्यानन्द,<sup>३३७</sup> माणिक्यनन्दी,<sup>३३८</sup> देवसूरि,<sup>३३९</sup> हेमचन्द्र<sup>३४०</sup> आदि ने पक्ष एवं हेतु इन दो अवयवों का विशद प्रतिपादन किया है। जैनदार्शनिकों ने व्युत्पन्न प्रतिपाद्य के लिए ही इन दो अवयवों को स्वीकार किया है, अव्युत्पन्नों के लिए नहीं। बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति आदि पक्ष को अनुमान का अवयव नहीं मानते हैं। उनकी इस मान्यता का जैनदार्शनिकों ने बलपूर्वक खण्डन किया है तथा पक्ष को भी अनुमान का अवयव सिद्ध किया है।

३- पंचावयव - यदि प्रतिपाद्य पुरुष अव्युत्पन्न हो तो उसके लिए प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय एवं निगमन इन पांचों अवयवों का उपादान किया जा सकता है। माणिक्यनन्दी एवं देवसूरि के ग्रंथों में इसका स्पष्ट प्रतिपादन है।<sup>३४१</sup>

इनके अतिरिक्त एक एवं तीन अवयवों को मानने के भी संकेत मिलते हैं। वादिदेवसूरि ने स्याद्वादरत्नाकर में, बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति की भांति अत्यन्त व्युत्पन्न प्रतिपाद्य पुरुष के लिए एक अवयव 'हेतु' को ही पर्याप्त माना है।<sup>३४२</sup> दरबारी लाल कोठिया ने गृह्यपिच्छ एवं सिद्धसेन के मत में तीन अवयवों पक्ष, हेतु एवं दृष्टान्त को प्रस्तुत किया है।<sup>३४३</sup>

३३३. दशवैकालिकनियुक्ति, गाथा ८९-१३७ एवं गाथा ४९  
 ३३४. वात्स्यायन के न्यायशास्त्र में भी दश अवयवों का उल्लेख मिलता है, किन्तु उनमें कुछ भिन्नता है। पाँच तो गौतम प्रणीत प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन हैं तथा अन्य पाँच में जिज्ञासा, संशय, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन एवं संशयव्युदास हैं।-द्रष्टव्य, न्यायशास्त्र, १.१.३२, पृ.८०  
 ३३५. द्रष्टव्य, न्यायावतार, १३-१६ एवं २०  
 ३३६. जैनतर्कशास्त्र में अनुमान विचार, पृ. १६३  
 ३३७. साध्यनिर्देशसहितस्यैव हेतोः प्रयोगार्हत्वसमर्थनात्।- पत्रपरीक्षा, पृ. ९  
 ३३८. एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम्।-परीक्षामुख, ३.३७  
 ३३९. पक्षहेतुवचनलक्षणमवयवद्वयमेव परप्रतिपत्तेरंगं न दृष्टान्तादिवचनम्।- प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.२८  
 ३४०. प्रमाणमीमांसा, २.१.८ व ९  
 ३४१. (१) बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्रयोगगमे शास्त्र एवासौ, न वादेऽनुपयोगात्।- परीक्षामुख, ३.४२  
 (२) मन्दमतौस्तु व्युत्पादयितुं दृष्टान्तोपनयनिगमनान्यपि प्रयोज्यानि।- प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.४२  
 ३४२. अतिव्युत्पन्नमतिप्रतिपाद्यापेक्षया पुनर्धूमोऽत्र दृश्यत इत्यादि हेतुमात्रवचनात्मकमपि तदभवति।- स्याद्वादरत्नाकर, ३.२३, पृ. ५४८  
 ३४३. द्रष्टव्य, जैन तर्कशास्त्र में अनुमानविचार, पृ. १५९-१६२

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जैन दार्शनिकों ने प्रतिपाद्य पुरुष के अनुसार अनुमान के अवयवों को अंगीकार किया है, <sup>३४४</sup> तथापि सर्वाधिक प्रसिद्धि पक्ष एवं हेतु इन दो अवयवों को मानने की हुई।

जैन दार्शनिकों ने परार्थानुमान के समय प्रतिज्ञा का कथन करना या पक्ष का निर्देश करना आवश्यक माना है, किन्तु धर्मकीर्ति आदि दार्शनिक इसे आवश्यक नहीं मानते हैं। धर्मकीर्ति आदि दार्शनिकों के मत का जैन दार्शनिकों ने निरसन किया है, अतः अब पक्ष-वचन पर विचार किया जा रहा है।

### पक्ष-वचन-विमर्श

पक्ष या पक्षवचन शब्द का अर्थ यहां प्रतिज्ञा है। गौतम, वात्स्यायन आदि न्यायदार्शनिकों ने पंचावयव में प्रतिज्ञा शब्द का प्रयोग किया है। <sup>३४५</sup> उसके स्थान पर ही बौद्ध, जैन एवं उत्तरवर्ती न्यायदर्शन में पक्षवचन शब्द का प्रयोग हुआ है। <sup>३४६</sup>

बौद्ध दार्शनिक हेतु का पक्ष में रहना (पक्षधर्मता) अनिवार्य मानते हैं, <sup>३४७</sup> किन्तु परार्थानुमान के समय पक्ष का कथन करना आवश्यक नहीं मानते। धर्मकीर्ति कहते हैं कि साधर्म्य एवं वैधर्म्य दोनों प्रकार के अनुमानों में पक्ष का निर्देश करना आवश्यक नहीं है। <sup>३४८</sup> जैन दार्शनिक इस मत के ठीक विपरीत प्रतिपादन करते हैं। वे हेतु का पक्ष में रहना आवश्यक नहीं मानते हैं, किन्तु परार्थानुमान के समय पक्ष का कथन करना आवश्यक मानते हैं। <sup>३४९</sup> बौद्ध दार्शनिक परार्थानुमान के समय पक्ष का निर्देश करना संभवतः इसलिए आवश्यक नहीं मानते हैं, क्योंकि वे हेतु के द्वारा ही पक्षधर्मता का ग्रहण कर लेते हैं। बौद्धमत में वही हेतु सद्हेतु है जिसमें पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व एवं विपक्षासत्त्व रूप त्रैरूप्य हो। जैन दार्शनिकों ने हेतुलक्षण में पक्षधर्मता को स्वीकार नहीं किया है। इसलिए वे परार्थानुमान के समय प्रतिज्ञा के रूप में उसका कथन करना आवश्यक मानते हैं।

पक्षवचन के प्रयोग की आवश्यकता या अनावश्यकता पर विचार करने के पूर्व यह जानना आवश्यक है कि 'पक्ष' शब्द का प्रयोग बौद्ध एवं जैनदार्शनिकों ने किन-किन अर्थों में किया है।

दिङ्नाग के शिष्य शङ्करस्वामी की रचना न्यायप्रवेश में पक्ष का स्वरूप इस प्रकार दिया गया है 'पक्षः प्रसिद्धो धर्मी प्रसिद्धविशेषण विशिष्टतया स्वयं साध्यत्वेनेप्सितः। प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध इति

३४४. प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः ।- कुमारनन्दी, उद्धृत, प्रमाणपरीक्षा, पृ. ७२

३४५. प्रतिज्ञाहेतुदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः ।- न्यायसूत्र, १.१.३२

३४६. (१) पक्षः प्रसिद्धो धर्मी ।- न्यायप्रवेश, पृ. १

(२) साध्याभ्युपगमः स पक्षः ।- न्यायावतार, १४

३४७. अनुमेये सत्वमेव निश्चितम् ।- न्यायबिन्दु, २.५

३४८. द्वयोरप्यनयोः प्रयोगयोर्नावश्यं पक्षनिर्देशः ।- न्यायबिन्दु, ३.३४

३४९. पक्षप्रयोगोऽप्यवश्यमाप्रथितव्यः ।- प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.२४

वाक्यशेषः ।<sup>३५०</sup> अर्थात् पक्ष प्रसिद्ध धर्मो होता है जो प्रसिद्ध (साध्य रूप) विशेषण से विशिष्ट होकर स्वयं साध्य के रूप में इष्ट होता है तथा प्रत्यक्षादि से अविरुद्ध होता है । न्यायप्रवेशकार के कथन से इंगित होता है कि वे पक्ष को साध्य धर्म से युक्त मानते हैं तथा साथ ही पक्ष को साध्य के रूप में भी स्वीकार करते हैं ।

धर्मकीर्ति प्रणीत हेतुलक्षण के प्रसंग में धर्मोत्तर ने 'अनुमेय' शब्द की विविध व्याख्याएँ की हैं, तदनुसार वे हेतुलक्षण का निश्चय करते समय धर्मो को अनुमेय, साध्य का ज्ञान करते समय धर्म एवं धर्मो के समुदाय को अनुमेय, तथा व्याप्तिनिश्चयकाल में धर्मो को अनुमेय प्रतिपादित करते हैं ।<sup>३५१</sup> धर्मो शब्द का अर्थ प्रायः 'पक्ष' किया जाता है क्योंकि वह साध्य रूप धर्म से विशिष्ट होता है । परार्थानुमान के प्रसंग में धर्मोत्तर के अनुसार धर्मकीर्ति ने पक्ष एवं साध्य में कोई अन्तर नहीं किया है ।<sup>३५२</sup> धर्मकीर्ति पक्ष के स्वरूप का निर्देश करते हुए कहते हैं- 'स्वरूपेणैव स्वयमिष्टोऽनिराकृतः इति ।<sup>३५३</sup> पक्ष के इस लक्षण द्वारा धर्मकीर्ति ने पक्ष की पांच विशेषताओं को प्रकाशित किया है- १. वह सिद्ध नहीं रहता २. साधन नहीं होता ३. स्वयं वादी द्वारा सिद्ध करना अभीष्ट होता है ४. शब्दों से कभी उक्त होता है एवं कभी अनुक्त तथा ५. प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अनिराकृत रहता है ।<sup>३५४</sup> इन पांच विशेषताओं से युक्त साध्य को ही धर्मकीर्ति ने पक्ष कहा है, अन्यथा होने पर वे उसे पक्षाभास मानते हैं । यद्यपि धर्मकीर्ति पक्ष को अनुमान का अवयव नहीं मानते हैं तथापि साध्य एवं असाध्य के विवेक के लिए उन्होंने पक्षलक्षण का निरूपण किया है ।<sup>३५५</sup>

जैन दार्शनिक सिद्धसेन के अनुसार साध्य का अभ्युपगम ही पक्ष है । वह पक्ष प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से अनिराकृत होता है एवं हेतु के विषय का प्रकाशक होता है ।<sup>३५६</sup> सिद्धसेन का यह पक्षलक्षण जैन दार्शनिक प्रमाण-मीमांसा की दृष्टि से उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें किसी धर्मो का निर्देश नहीं किया गया है । धर्मो में हेतु का होना जैन दार्शनिक आवश्यक नहीं मानते हैं । अकलङ्क ने साध्य को पक्ष कहा है । परार्थानुमान के अवयवों की अकलङ्क ने कहीं विशद चर्चा नहीं की है, उसी क्रम में वे साध्य एवं पक्ष में भेद का निर्देश भी नहीं करते हैं । साध्य का लक्षण देते हुए अकलङ्क ने कहा है- 'जो शक्य (अबाधित, अनिराकृत). अभिप्रेत एवं अप्रसिद्ध होता है तथा साधन का विषय बनता है वह साध्य है ।<sup>३५७</sup> अकलङ्क ने धर्मकीर्ति की भांति धर्मो को पक्ष नहीं माना है तथा धर्मकीर्ति के द्वारा

३५०. न्यायप्रवेश, पृ. १

३५१. अत्र हेतुलक्षणे निश्चेतव्ये धर्मो अनुमेयः । अन्यत्र तु साध्यप्रतिपत्तिकाले समुदायोऽनुमेयः । व्याप्तिनिश्चयकाले तु धर्मोऽनुमेय इति । — न्यायबिन्दुटीका, २.६, पृ. १११

३५२. पक्षस्य साध्यत्वान् नापरमस्ति रूपम् । — न्यायबिन्दुटीका, ३.३९, पृ. २३७

३५३. न्यायबिन्दु, ३.३८

३५४. द्रष्टव्य, न्यायबिन्दुटीका, ३.५४, पृ. २५९

३५५. साध्यासाध्यविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थं पक्षलक्षणमुक्तम् । — न्यायबिन्दुटीका, ३.३८, पृ. २३६

३५६. साध्याभ्युपगमः पक्षः प्रत्यक्षाद्यनिराकृतः । — न्यायावतार, १४

३५७. साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं ततोऽपरम् ।

साध्याभासं विरुद्धादि साधनाविषयत्वतः ॥ — न्यायविनिश्चय, १७२-७३

उपचार से धर्मी को पक्ष मानने<sup>३५८</sup> का खण्डन किया है।<sup>३५९</sup> विद्यानन्द ने अकलङ्क की भांति साध्यधर्म को पक्ष स्वीकार किया है। उनका मत है कि हेतु का अविनाभाव साध्य के साथ है, अतः साध्य धर्म ही अनुमेय या पक्ष है।<sup>३६०</sup> माणिक्यनन्दी, धर्मकीर्ति से प्रभावित हैं, अतः उन्होंने व्याप्तिनिश्चय काल में धर्म को साध्य माना है एवं अनुमिति काल में धर्मविशिष्ट धर्मी को साध्य कहा है। धर्मविशिष्ट धर्मी का पर्याय शब्द वे पक्ष को मानते हैं, किन्तु पक्ष का पर्याय साध्य को नहीं।<sup>३६१</sup> माणिक्यनन्दी का ही अनुसरण वादिदेवसूरि ने किया है।<sup>३६२</sup> हेमचन्द्र अभीष्ट, असिद्ध एवं अबाधित साध्य को ही पक्ष कहते हैं।<sup>३६३</sup> इस प्रकार जैन दर्शन में असिद्ध, अनिराकृत एवं अभीप्सित साध्य को पक्ष कहा गया है अथवा साध्यविशिष्ट धर्मी को पक्ष माना गया है, जो बौद्ध दार्शनिकों की मान्यता से कोई विरोध नहीं रखता।

परार्थानुमान के समय पक्षवचन अथवा प्रतिज्ञा को अनावश्यक मानने वाले बौद्ध मत की जैनदार्शनिक सिद्धसेन, माणिक्यनन्दी, प्रभाचन्द्र एवं वादिदेवसूरि ने आलोचना की है तथा पक्षनिर्देश की उपादेयता प्रतिपादित की है।

सिद्धसेन दिवाकर ने पक्ष-प्रयोग को हेतु के विषय का दीपक बतलाकर उसकी उपादेयता सिद्ध की है।<sup>३६४</sup> सिद्धसेन का कथन है कि जिस प्रकार धनुर्धारी द्वारा बिना लक्ष्यनिर्देश के बाण चलाने पर दर्शक पुरुष उसके लक्ष्यवेध की प्रवीणता को भी दोष एवं अप्रवीणता को भी गुण समझ सकता है, इसी प्रकार बिना पक्षनिर्देश के वादी के अभीष्ट हेतु को भी प्रतिवादी विषय की अस्पष्टता के कारण भ्रान्त होकर उसे विरुद्ध हेतु समझ सकता है, इसलिए अभीष्ट पक्ष का निर्देश करना आवश्यक है।<sup>३६५</sup>

माणिक्यनन्दी प्रतिपादित करते हैं कि साध्य के गम्यमान होने पर भी उसका कथन करना आवश्यक है। साध्यधर्म के आधार रूप पक्ष का यदि कथन नहीं किया जाय तो उसके विषय में कोई सन्देह रह सकता है, अतः उसके निवारणार्थ पक्ष का कथन करना समुचित है।<sup>३६६</sup> पक्षवचन के प्रयोग

३५८. पक्षो धर्मी अवयवे समुदायोपचारात् ।— हेतुबिन्दु, पृ. ५२

३५९. पक्षो धर्मीत्युपचारे तद्धर्मतापि न सिद्धा ।— सिद्धिविनिश्चय, ६.२, पृ. ३७३

३६०. साध्य एव पक्ष इति प्रतिपत्तव्यं तद्धर्मत्वस्यैवाविनाभावित्वनियमादित्युच्यते ।— तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१३.१६१, पृ. २९६

३६१. (१) साध्यं धर्मः क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी । पक्ष इति यावत् ।— परीक्षामुख, ३.२१.२२

(२) व्याप्तौ तु साध्यं धर्म एव ।— परीक्षामुख, ३.२८

३६२. व्याप्तिग्रहणसमयापेक्षया साध्यं धर्म एव । अन्यथा तदनुपपत्तेः । आनुमानिकप्रतिपत्त्यवसरापेक्षया तु पक्षापरपर्याय-स्तद्विशिष्टः प्रसिद्धो धर्मी ।— प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.१८.२०

३६३. सिषाधयिषितमसिद्धमबाध्यं साध्यं पक्षः ।— प्रमाणमीमांसा, १.२.१३, पृ. ४५

३६४. तत्रयोगोऽत्र कर्तव्यो हेतोगोचरदीपकः ।— न्यायावतार, १४

३६५. अन्यथा वाद्यभिप्रेतहेतुगोचरमोहिनः ।

प्रत्याय्यस्य भवेद् हेतु विरुद्धारेकितो यथा ॥

धानुष्कगुणसंप्रेक्षिजनस्य परिविध्यतः ।

धानुष्कस्य विना लक्ष्यनिर्देशन गुणेतरी ॥— न्यायावतार, १५.१६

३६६. साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम् ।— परीक्षामुख, ३.३०

की आवश्यकता बतलाते हुए **माणिक्यनन्दी** कहते हैं कि साध्यधर्म से युक्त धर्मी में साधनधर्म का ज्ञान कराने के लिए जिस प्रकार न्यायदर्शन में पक्षधर्म के उपसंहार रूप उपनय का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार साध्य का धर्मी के साथ सम्बन्ध बताने के लिए भी पक्ष का प्रयोग करना आवश्यक है।<sup>३६७</sup> बौद्धों पर आक्षेप करते हुए **माणिक्यनन्दी** कहते हैं कि कौन ऐसा वादी अथवा प्रतिवादी होगा जो स्वभाव, कार्य एवं अनुपलब्धि के भेद से तीन प्रकार के हेतु का कथन करके उनका समर्थन करता हुआ भी पक्ष का प्रयोग न करे? अर्थात् पक्ष-प्रयोग नितान्त आवश्यक है।<sup>३६८</sup> हेतु के असिद्धादि दोषों का परिहार कर साध्य को सिद्ध करने हेतु पक्ष का आलम्बन लेना ही पड़ता है। **माणिक्यनन्दी** के इन तर्कों का प्रयोग **वादिदेवसूरि** ने भी किया है तथा अनुमानवाक्य में पक्षप्रयोग की आवश्यकता प्रतिपादित की है।<sup>३६९</sup>

**प्रभावन्द्र** पक्षवचन की आवश्यकता का प्रतिपादन करने हेतु बौद्धों से प्रश्न करते हैं कि बौद्ध दार्शनिक पक्षवचन का प्रयोग आवश्यक क्यों नहीं मानते हैं? साध्य की सिद्धि में प्रतिबंधक होने के कारण अथवा प्रयोजन का अभाव होने से? वे इन दोनों प्रश्नों का प्रत्युत्तर देते हुए कहते हैं कि पक्षवचन, साध्य की सिद्धि में बाधक नहीं है, क्योंकि वादी के द्वारा जब साध्य के अविनाभावी हेतु से अपने पक्ष की सिद्धि की जाती है तो पक्ष का प्रयोग साध्य की सिद्धि में बाधक नहीं हो सकता, अपितु उससे प्रतिपक्ष असिद्ध हो जाता है। द्वितीयपक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि पक्ष प्रयोग प्रयोजन युक्त है। पक्ष-प्रयोग से प्रतिपाद्य पुरुष को प्रतिपत्ति होती है तथा पक्ष प्रयोग नहीं करने पर मन्दबुद्धि लोगों को प्रकृत अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं हो पाती है। जो व्युत्पन्न लोग पक्षप्रयोग के बिना भी प्रकृत साध्य अर्थ की प्रतिपत्ति कर लेते हैं उनके लिए तो पक्षप्रयोग न करना जैनों को भी अभीष्ट है, जैसा कि कहा है - 'प्रतिपाद्य पुरुष के अनुसार परार्थानुमान के अवयवों का प्रयोग करना चाहिए।'<sup>३७०</sup> अतः गम्यमान पक्ष का भी प्रयोग करना उचित है, अन्यथा शास्त्र के प्रारम्भ में भी प्रतिज्ञा का प्रयोग करना संभव नहीं हो सकता। बौद्ध-शास्त्रों में नियतकथा के प्रसंग में 'यहां अग्नि है, धूम होने से, यह वृक्ष है, शिशपा होने से' आदि वाक्यों में पक्ष का प्रयोग उपलब्ध होता ही है, अतः उसका प्रतिषेध नहीं किया जा सकता। यदि शास्त्र में प्रतिपाद्य के अनुग्रहार्थ प्रतिज्ञा प्रयोगयुक्त है तो वाद में भी प्रतिज्ञा (पक्ष) प्रयोग को युक्त मानना चाहिए। त्रिविध हेतु का कथन कर बौद्ध उसका समर्थन करते हैं अतः यह कैसे हो सकता है कि वे पक्षप्रयोग को अंगीकार न करें। हेतु का कथन पक्षवचन के बिना संभव नहीं है, यदि गम्यमान पक्ष में हेतु का प्रवर्तन होता है तो इसी प्रकार गम्यमान हेतु का भी समर्थन होना चाहिए। अर्थात् हेतु का कथन करने की भी आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। यदि मन्दमति को समझाने के

३६७. साध्यधर्मिणि साधनधर्मावबोधाय पक्षधर्मोपसंहारवचनवत् ।— परीक्षामुख, ३.३१

३६८. को वा त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानो न पक्षयति ।— परीक्षामुख, ३.३२

३६९. (१) साध्यस्य प्रतिनियतधर्मिधर्महेतोरुपसंहारवचनवत् पक्षप्रयोगोऽप्यवश्यमाश्रयितव्यः ।— प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.२४(२) त्रिविधं साधनमभिधायैव तत्समर्थनं विदधानः कः खलु न पक्षप्रयोगमङ्गीकुरुते ।— प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.२५

३७०. द्रष्टव्य, यही अध्याय, पाटटिप्पण ३४४

लिए गम्यमान हेतु का भी कथन करना पड़ता है तो इसी प्रकार मंदमति की प्रतिपत्ति के लिए पक्षवचन का भी प्रयोग करना उचित है।<sup>३७१</sup>

वादिदेवसूरि ने बौद्ध मत का पूर्वपक्ष में उपन्यास कर उसका विधिवत् खण्डन किया है। माणिक्यनन्दी एवं प्रभाचन्द्र के तर्कों को भी वादिदेव ने अपनाया है, किन्तु यहां उनके नवीन तर्क उपस्थापित हैं।

**बौद्ध** — पक्ष का ज्ञान विवाद से ही हो जाता है, अतः परार्थानुमान में पक्ष का कथन करना अनुपपन्न हैं। विरुद्ध वाद को विवाद कहते हैं, यथा एक ने कहा - 'शब्द नित्य है,' दूसरे ने कहा 'शब्द अनित्य है,' यह विवाद है। विवाद का प्रसंग होने पर अनुमान में पक्ष प्रतीत होता ही है, अतः बिना प्रयोजन पक्ष का कथन करना अनुचित है।

यदि पक्ष साध्य अर्थ का प्रतिपादन करने रूप प्रयोजन से युक्त है अतः उसका कथन आवश्यक है तो ऐसा मानना अनुचित है, क्योंकि अकेला पक्ष-वचन साध्य अर्थ का प्रतिपादन करता है अथवा हेतु से समन्वित होकर वह साध्य अर्थ का प्रतिपादन करता है? अकेला पक्षवचन साध्य अर्थ का प्रतिपादन नहीं करता अन्यथा हेतु का कथन करना व्यर्थ हो जायेगा। यदि हेतु से युक्त होकर ही पक्ष साध्य अर्थ का प्रतिपादन करता है, तो उसमें हेतु का ही सामर्थ्य मानना उचित है। अतः पक्षवचन का प्रयोग अनावश्यक है।<sup>३७२</sup>

**वादिदेवसूरि**— विवाद से पक्ष का ज्ञान हो जाता है, अतः पक्ष का कथन अनुचित है, बौद्धों की यह मान्यता अयुक्त है। विवाद से पक्ष की प्रतीति दो प्रकार से होती है—(१) वादी या प्रतिवादी के किसी वचन से विरोध होने पर एवं (२) प्रस्तुत अनुमान से वाक्यावयवान्तरों में एकवाक्यता प्राप्त होने के कारण उत्पन्न विवाद से। इनमें यदि प्रथम पक्ष के अनुसार अतिव्युत्पन्न बुद्धि वाले पुरुष को विवाद से प्रतीति हो जाय तो भी अन्य पुरुषों को उनसे पक्ष की प्रतीति नहीं होती है, अतः उनके लिए पक्ष का कथन करना आवश्यक है। द्वितीय पक्ष जैन दार्शनिकों को भी अभीष्ट है, क्योंकि दूसरे के द्वारा (प्रतिवादी द्वारा) स्वीकृत पक्ष के विपरीत पक्ष को रखकर उसकी सिद्धि करने के लिए हेतु आदि अन्य अवयवों का कथन करना जैन दार्शनिक भी स्वीकार करते हैं।

पक्ष-वचन के प्रयोजन का अभाव बतलाना अनुचित है, क्योंकि उसके प्रयोजन का अभाव असिद्ध है। पक्षवचन का प्रयोजन है प्रतिपाद्य पुरुष को पक्ष का ज्ञान कराना। प्रतिपाद्य पुरुष भी दो प्रकार के होते हैं—(१) कुण्ठमति (मन्दमति) पुरुष और (२) तीक्ष्णमति पुरुष। कुण्ठमति पुरुष को पक्ष का प्रयोग किये बिना प्रकृत (साध्य) अर्थ का ज्ञान नहीं होता है। तीक्ष्णमति पुरुष को पक्षप्रयोग के

३७१. (१) प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-२ सूत्र ३.३५, पृ. ३७५-७७ (२) वादिदेवसूरि ने भी इसी प्रकार के तर्क दिये हैं। द्रष्टव्य, स्याद्वादरत्नाकर, ३.२३, पृ. ५५०-५१(३) द्रष्टव्य, न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. ४३५-४३८

३७२. स्याद्वादरत्नाकर, ३.२३, पृ. ५४९-५०

बिना भी प्रकृत (साध्य) अर्थ का ज्ञान होना उचित है, अतः जैन मत में भी तीक्ष्णमति पुरुष के लिए पक्ष प्रयोग को अंगीकार नहीं किया जाता, किन्तु मन्दमति पुरुषों के लिए पक्षवचन का प्रयोग उपादेय है।<sup>३७३</sup>

बौद्धों का यह प्रश्न कि पक्षवचन अकेला साध्य अर्थ का ज्ञान कराता है, अथवा हेतु से युक्त होकर साध्य अर्थ का ज्ञान कराता है, अयुक्त है। क्योंकि इनमें अकेला पक्षवचन साध्य अर्थ का ज्ञान नहीं कराता है, द्वितीय विकल्प जैनों को इष्ट है। पक्ष, हेतु से समन्वित होकर साध्य का ज्ञान कराता है इसलिए उसमें हेतु का ही सामर्थ्य मानकर पक्ष-कथन को व्यर्थ बतलाना अयुक्त है, क्योंकि इस प्रकार तो साध्य की सिद्धि में कारणभूत रूप से उपपन्न हेतु भी दृष्टान्त के समर्थन की अपेक्षा रखता है, अतः हेतु-कथन नहीं करने का भी प्रसंग आता है, जो बौद्धों को इष्ट नहीं है।<sup>३७४</sup>

### समीक्षण

जैन दार्शनिक पक्ष-वचन या प्रतिज्ञा का कथन करना साध्य धर्म में रहे हुए संदेह का निवारण करने के लिए आवश्यक मानते हैं। प्रतिज्ञा का कथन किये बिना हेतु का कथन करना उनके मत में उचित नहीं है। यह अवश्य है कि अतिव्युत्पन्न पुरुषों के लिए वे पक्ष-वचन के बिना भी बौद्धों की भांति सीधे हेतु से ही साध्य का परार्थ अनुमान शक्य मानते हैं।

वस्तुतः पक्ष-वचन अथवा प्रतिज्ञा का कथन करना अभीष्ट साध्य की सिद्धि करने के लिए उपादेय अवश्य है, किन्तु बौद्ध दार्शनिक हेतु में पक्षधर्मत्व का प्रतिपादन कर पक्ष-वचन की आवश्यकता का निराकरण कर देते हैं। उनके अनुसार प्रतिज्ञा का कथन किये बिना भी हेतु एवं दृष्टान्त या मात्र 'हेतु' द्वारा भी परार्थानुमान शक्य है। जैन दार्शनिक हेतु में पक्षधर्मत्व का होना आवश्यक नहीं मानते हैं, अतः उनके द्वारा परार्थानुमान में पक्ष-वचन को आवश्यक मानना युक्तिसंगत है।

### पक्षाभास

बौद्ध एवं जैन दर्शन में पक्षाभास की भी चर्चा हुई है, किन्तु दोनों दर्शनों का उसके स्वरूप में कोई मतभेद नहीं है। पक्षाभासों की गणना में थोड़ा भेद अवश्य रहा है तथा कालक्रम से उसके भेदों में संशोधन होता रहा है। बौद्ध ग्रंथ न्यायप्रवेश में पक्षाभास के आठ भेद निरूपित हैं- प्रत्यक्षविरुद्ध, अनुमानविरुद्ध, आगमविरुद्ध, लोकविरुद्ध, स्ववचनविरुद्ध, अप्रसिद्धविशेषण, अप्रसिद्धविशेष्य और अप्रसिद्धोभय। धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु में चार ही भेद प्रतीपादित हैं- प्रत्यक्षनिराकृत, अनुमाननिराकृत, प्रतीतिनिराकृत और स्ववचन निराकृत। जैनदार्शनिक सिद्धसेन ने सिद्ध और बाधित ये दो भेद करके बाधित के चार प्रकार बतलाये हैं- प्रत्यक्षबाधित, लिङ्गबाधित, लोकबाधित एवं स्ववचनबाधित। वादिराज द्वारा तीन भेद प्रतिपादित किये गये हैं- प्रत्यक्षनिराकृत, अनुमाननिराकृत, और आगम निराकृत। माणिक्यनन्दी ने अनिष्ट एवं बाधित दो भेद करके बाधित के पांच प्रकार

३७३. स्याद्वादरत्नाकर, ३.२३ पृ. ५५०

३७४. स्याद्वादरत्नाकर, पृ. ५५७



बतलाए हैं-प्रत्यक्ष बाधित, अनुमान बाधित, आगम बाधित, लोकबाधित और स्ववचनबाधित। वादिदेवसूरि ने इसमें संशोधन करते हुए पक्षाभास के मूलतः तीन भेद किये हैं- प्रतीत साध्यधर्मविशेषण, निराकृतसाध्यधर्मविशेषण और अनभीप्सित साध्यधर्म विशेषण। निराकृत के पांच भेद किये हैं, यथा - प्रत्यक्षनिराकृत, अनुमाननिराकृत आगमनिराकृत, लोकनिराकृत और स्ववचनबाधित। पक्षाभास के भेद अनेक प्रकार के हो सकते हैं, किन्तु उन सबके द्वारा असत्, निराकृत या बाधित पक्ष का ही निरूपण किया जाता है। जैन दार्शनिकों पर पक्षाभास के भेद-निरूपण में बौद्धों का प्रभाव रहा हो, यह कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी।

## दृष्टान्त और दृष्टान्ताभास

दृष्टान्त को परार्थानुमान का पृथक् अवयव बौद्ध एवं जैन दोनों दर्शन नहीं मानते हैं। बौद्धों ने उसका समावेश हेतुलक्षण में ही कर लिया है, तथा जैन दार्शनिक व्युत्पन्न पुरुषों के लिये पक्ष एवं हेतु के अतिरिक्त दृष्टान्त के पृथक् कथन की आवश्यकता स्वीकार नहीं करते हैं।<sup>३७५</sup> उन्होंने दृष्टान्त का अंतर्भाव हेतु में भी नहीं माना है, क्योंकि वे सपक्षसत्त्व एवं विपक्षासत्त्व रूपों का होना आवश्यक नहीं मानते हैं। दूसरी बात यह है कि जैन दार्शनिक अन्तर्व्याप्ति से ही साध्य की सिद्धि स्वीकार करते हैं, अतः उदाहरण या दृष्टान्त को वे परार्थानुमान का अवयव होना आवश्यक नहीं मानते हैं।<sup>३७६</sup> बौद्धदर्शन के ग्रंथ न्यायप्रवेश में यद्यपि दृष्टान्त को स्पष्टरूपेण अनुमान का अवयव प्रतिपादित किया गया है<sup>३७७</sup> तथा दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय में दृष्टान्त को एवं दृष्टान्ताभास को लेकर एक पृथक् परिच्छेद लिखा गया है, किन्तु धर्मकीर्ति ने न्यायबिन्दु में दृष्टान्त एवं दृष्टान्ताभास का वर्णन नहीं करने का कारण बतलाते हुए कहा है कि त्रिरूप हेतु का कथन कर दिया गया है, उसी से अनुमेय अर्थ का ज्ञान हो जाता है, इसलिए दृष्टान्त पृथक् रूप से साधन-वाक्य का अवयव नहीं है। गतार्थ होने से उसका पृथक् लक्षण नहीं कहा गया है।<sup>३७८</sup> धर्मकीर्ति ने आगे चलकर फिर भी दृष्टान्ताभासों का निरूपण किया है।

अक्षपाद के अनुसार लौकिक एवं परीक्षक जिस अर्थ में एकमत हों वह दृष्टान्त है।<sup>३७९</sup> जैनदार्शनिकों के अनुसार साध्य एवं साधन की व्याप्ति ग्रहण करने का आस्पद दृष्टान्त है।<sup>३८०</sup> दृष्टान्त के साधर्म्य एवं वैधर्म्य भेद दोनों दर्शनों में समान रूप से स्वीकृत हैं। दृष्टान्ताभास के भेदों में यथाकाल कुछ परिवर्तन होता रहा है। न्यायप्रवेश में जहां पांच साधर्म्य एवं पांच वैधर्म्य इस प्रकार दश

३७५. पक्षहेतुवचनमवयवद्वयमेव परप्रतिपत्तेरंगं, न दृष्टान्तादिवचनम् ।—प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.२८

३७६. जैन दार्शनिकों ने पक्षीकृत विषय में साधन की साध्य के साथ व्याप्ति को अन्तर्व्याप्ति एवं अन्यत्र उसे बहिर्व्याप्ति कहा है ।—प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.३८

३७७. पक्षहेतुदृष्टान्तवचनैर्हि प्राश्निकानामप्रतीतोऽर्थः प्रतिपाद्यते ।—न्यायप्रवेश, पृ. १

३७८. द्रष्टव्य, यही अध्याय, पादटिप्पण, ३३२

३७९. लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः ।—न्यायसूत्र, १.१.२५

३८०. प्रतिबन्धप्रतिपत्तेरास्पदं दृष्टान्तः ।—प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.४३

दृष्टान्ताभासों का निरूपण है<sup>३८१</sup> वहाँ धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु में साधर्म्य एवं वैधर्म्य दृष्टान्ताभासों के नौ-नौ भेद सोदाहरण निरूपित हैं। साधर्म्य दृष्टान्ताभास के नौ भेद यथा- (१) साध्यधर्मविकल, (२) साधनधर्मविकल, (३) उभयधर्मविकल, (४) सन्दिग्धसाध्यधर्मा, (५) सन्दिग्धसाधनधर्मा, (६) सन्दिग्धोभयधर्मा, (७) अनन्वय, (८) अप्रदर्शितान्वय, और (९) विपरीतान्वय। इसी प्रकार वैधर्म्य दृष्टान्ताभास के नौ भेद हैं, यथा- (१) असिद्धसाध्यव्यतिरेक, (२) असिद्धसाधनव्यतिरेक, (३) असिद्धोभयव्यतिरेक, (४) सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेक, (५) सन्दिग्धसाधनव्यतिरेक, (६) सन्दिग्धोभयव्यतिरेक, (७) अव्यतिरेक, (८) अप्रदर्शितव्यतिरेक और (९) विपरीतव्यतिरेक। जैन दर्शन में सिद्धसेन ने साधर्म्य एवं वैधर्म्य दृष्टान्त दोषों के छह भेद निरूपित किये हैं।<sup>३८२</sup> अकलङ्क ने दृष्टान्त दोषों का स्पष्ट निरूपण नहीं किया है, किन्तु उनके टीकाकार वादिराज ने बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति द्वारा प्रतिपादित साधर्म्य एवं वैधर्म्य दृष्टान्त-दोषों के नौ- नौ भेदों को ही अपना लिया है।<sup>३८३</sup> माणिव्यन्दी ने अन्वयदृष्टान्ताभास एवं व्यतिरेकदृष्टान्ताभास के रूप में दो भेद कर उनके चार- चार भेदों का निरूपण किया है।<sup>३८४</sup> वादिदेवसूरि ने बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति द्वारा निरूपित दृष्टान्त दोषों को ही आदृत किया है,<sup>३८५</sup> किन्तु उनके उदाहरणों को स्वमतानुरूप बदल दिया है। यथाप्रसंग उन्होंने बौद्धों का खण्डन भी किया है, यथा सन्दिग्धसाधन व्यतिरेक दृष्टान्ताभास के उदाहरण में शौद्धोदनि में रागादि की निवृत्ति को संदेहास्पद बतलाया है।<sup>३८६</sup>

सारांश यह है कि दृष्टान्त के स्वरूप, भेद एवं दृष्टान्ताभासों की संख्या को लेकर बौद्ध एवं जैन दार्शनिकों में कोई विवाद नहीं है। दृष्टान्त को परार्थानुमान का अवयव मानने में कुछ मतभेद अवश्य है। बौद्ध दार्शनिकों ने हेतुलक्षण में ही दृष्टान्त का समावेश कर लिया है, जबकि जैन दार्शनिक उसका हेतुलक्षण में समावेश नहीं करते हैं तथा उसे पृथक् अवयव भी नहीं मानते हैं, किन्तु दृष्टान्ताभासों के उदाहरणों में यथावसर उन्होंने बौद्धों का खण्डन किया है।

## हेत्वाभास

जो हेतु नहीं होता, किन्तु हेतु के सदृश प्रतीत होता है उसे भारतीय दर्शन में हेत्वाभास कहा गया है। बौद्ध दार्शनिकों ने त्रिरूप हेतु को सदहेतु कहा है इसलिए वे उन तीन रूपों में से एक रूप का कथन न करने पर भी उसे हेत्वाभास मानते हैं।<sup>३८७</sup> जैन दार्शनिकों ने हेतु का एक ही लक्षण स्वीकार किया है - साध्य के साथ निश्चित अविनाभाव। उसका अभाव होने पर वे हेतु को हेत्वाभास मानते

३८१. द्रष्टव्य, न्यायप्रवेश, पृ. ५-६

३८२. साधर्म्येणात्र दृष्टान्तदोषा न्यायविदीरिताः। अपलक्षणहेतुत्वाः साध्यादिविकलादयः ॥

वैधर्म्येणात्र दृष्टान्तदोषा न्यायविदीरिताः। साध्यसाधनयुग्मानामनिवृत्तेश्च संशयात् ॥—न्यायावतार, २४-२५

३८३. द्रष्टव्य, न्यायविनिश्चयविवरण, भाग-२, पृ. २४०-४१

३८४. परीक्षामुख, ६.४०-४५

३८५. प्रमाणनयतत्त्वालोक, ६.५८-७९

३८६. प्रमाणनयतत्त्वालोक, ६.७५

३८७. तत्र त्रयाणां रूपाणामेकस्यापि रूपस्यानुक्तौ साधनाभासः।—न्यायबिन्दु, ३.५५

हैं।<sup>३८८</sup>

अनुमान-प्रमाण में जो महत्त्व हेतु का है, वही हेत्वाभास का भी है। हेत्वाभास से होने वाला अनुमान सम्यक् नहीं होता। हेत्वाभास को न्यायदर्शन में गौतम ने षोडश पदार्थों में एक पदार्थ माना है तथा सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और कालातीत नाम से पांच हेत्वाभासों का प्रतिपादन किया है।<sup>३८९</sup> वैशेषिक दर्शन में प्रशस्तपाद ने चार हेत्वाभासों का कथन किया है-असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक (संदिग्ध) एवं अनध्यवसित।<sup>३९०</sup> बौद्ध दर्शन में शङ्करस्वामी से लेकर मोक्षाकरगुप्त तक तीन प्रकार के हेत्वाभासों का निरूपण है -१. असिद्ध २. विरुद्ध और ३. अनैकान्तिक।<sup>३९१</sup> तीन प्रकार के हेत्वाभासों का निराकरण करने के लिए ही बौद्धदार्शनिकों ने हेतु में त्रैरूप्य (पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व एवं विपक्षासत्त्व) स्वीकार किया है। धर्मकीर्ति ने असिद्ध आदि हेत्वाभासों का न्यायबिन्दु में विस्तृत निरूपण किया है।<sup>३९२</sup> उनके अनुसार हेतु का पक्ष में होना असिद्ध या संदिग्ध होने पर असिद्ध हेत्वाभास होता है। जब हेतु का सपक्षसत्त्व एवं विपक्षासत्त्व असिद्ध या संदिग्ध हो तो वह विरुद्ध हेत्वाभास एवं सपक्षसत्त्व तथा विपक्षासत्त्व इन दोनों रूपों में से यदि एक असिद्ध हो और दूसरा संदिग्ध हो अथवा दोनों संदिग्ध हों तो वहां अनैकान्तिक हेत्वाभास होता है।

जैन दर्शन में हेतु का अन्यथानुपपन्नत्व रूप एक लक्षण माना गया है, अतः उसके अभाव में एक ही हेत्वाभास होना चाहिए, किन्तु जैन दार्शनिकों ने अन्यथानुपपन्नत्व के अभाव से ही असिद्ध, विरुद्ध एवं अनैकान्तिक हेत्वाभासों को फलित कर लिया है। सिद्धसेन, वादिदेवसूरि आदि ने इन्हीं तीन हेत्वाभासों का निरूपण किया है।<sup>३९३</sup> अकलङ्क ने मूलतः एक हेत्वाभास स्वीकार करते हुए भी उसके चार भेद फलित किये हैं।<sup>३९४</sup> चौथा भेद अकिञ्चित्कर हेत्वाभास के रूप में प्रतिपादित है, शेष तीन भेदों में वे असिद्ध, विरुद्ध एवं अनैकान्तिक (संदिग्ध) का ही निरूपण करते हैं। अकलङ्क का अनुसरण कर माणिक्यनन्दी, प्रभाचन्द्र आदि ने भी ये ही चार प्रकार के हेत्वाभास निरूपित किये हैं।<sup>३९५</sup> माणिक्यनन्दी ने जिस हेतु की पक्ष में सत्ता सिद्ध न हो अथवा जिसका पक्ष में रहना निश्चित न हो

३८८. हेत्वाभासत्वमन्यथानुपपत्तिकैकल्यात् ।-न्यायविनिश्चयविवरण, २.१९६, पृ. २२५

३८९. सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्वाभासाः ।-न्यायसूत्र १.२.४

३९०. एतेनासिद्धविरुद्धसंदिग्धानध्यवसितवचनानामनपदेशत्वम् ।- प्रशस्तपादभाष्य, हेत्वाभासप्रकरण, पृ. १८९

३९१. न्यायप्रवेश, पृ. ३, तर्कभाषा (मोक्षाकर), पृ. २७-८८

३९२. द्रष्टव्य, न्यायबिन्दु ३.५५-१२०

३९३. (१) असिद्धस्त्वप्रतीतो यो योऽन्यैवोपपद्यते ।

विरुद्धो योऽन्यथाप्यत्र युक्तोऽनैकान्तिकः ॥-न्यायावतार, २३

(२) असिद्धविरुद्धानैकान्तिकारूपयो हेत्वाभासाः ।-प्रमाणनयतत्त्वालोक, ६.४७

३९४. (१) तस्य चैकविधत्वात् तदाभासानामप्येकविधत्वमेव प्राप्नोति ।- न्यायविनिश्चयविवरण, २.१९९, पृ. २२५

(२) विरुद्धासिद्धसंदिग्धा अकिञ्चित्करविस्तराः ।- न्यायविनिश्चय, १.१०१-१०२

३९५. हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्कराः ।-परीक्षामुख, ६.२१

द्रष्टव्य, प्रमेयकमलेमार्तण्ड, भाग-३ पृ. ५३५

उसे असिद्ध हेत्वाभास कहा है।<sup>३९६</sup> साध्य से विपरीत (विपक्ष) के साथ जिस हेतु का अविनाभाव हो उसे विरुद्ध<sup>३९७</sup> तथा जो हेतु पक्ष और सपक्ष में रहता हुआ विपक्ष में भी रहता हो उसे अनैकान्तिक हेत्वाभास कहा है।<sup>३९८</sup> साध्य के सिद्ध हो जाने पर अथवा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से साध्य के बाधित होने पर वे हेतु को अकिञ्चित्कर हेत्वाभास कहते हैं।<sup>३९९</sup> अकिञ्चित्कर नामक हेत्वाभास का प्रतिपादन यद्यपि अकलङ्क की नवीन देन है, तथापि अकलङ्क स्वयं इसके प्रतिपादन में सुदृढ़ नहीं हैं। कभी वे विरुद्ध, असिद्ध और अनैकान्तिक को अकिञ्चित्कर का विस्तार बतलाते हैं<sup>४००</sup> तथा कभी अन्यथानुपपत्ति से रहित त्रिलक्षण को अकिञ्चित्कर कहते हैं।<sup>४०१</sup> महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य का मत है कि अकलङ्क समस्त हेत्वाभासों को सामान्य से अकिञ्चित्कर या असिद्ध संज्ञा देते हैं तथा अकिञ्चित्कर को स्वतन्त्र हेत्वाभास मानने का सुदृढ़ विचार नहीं रखते हैं।<sup>४०२</sup>

इस प्रकार हेत्वाभासों की संख्या की दृष्टि से बौद्ध एवं जैन दर्शन में कोई मत-भेद नहीं रह जाता है। दोनों दर्शनों में असिद्ध, विरुद्ध एवं अनैकान्तिक भेद मान्य हैं, किन्तु इन हेत्वाभासों की पुष्टि में दिये गये उदाहरण एक दूसरे पर आक्षेप करते हैं। यथा बौद्धों ने असिद्ध हेत्वाभास का उदाहरण देते हुए कहा है - 'वृक्ष चेतन हैं, क्योंकि उनकी समस्त त्वचा को हटा देने पर उनकी मृत्यु हो जाती है' यह जैन दार्शनिकों द्वारा दिया गया हेतु प्रतिवादी बौद्धों के लिए असिद्ध है, क्योंकि वे विज्ञान, इन्द्रिय तथा आयु के निरोध होने को मृत्यु कहते हैं और वह मृत्यु वृक्षों में सम्भव नहीं है।<sup>४०३</sup> जैन दार्शनिकों ने वृक्षों को सचेतन माना है, इसलिए उन्होंने बौद्ध मंतव्य को हेत्वाभास में रखा है, यथा - 'वृक्ष अचेतन हैं, क्योंकि उनमें विज्ञान, इन्द्रिय एवं आयु का निरोध रूप मरण नहीं पाया जाता।' जैन दार्शनिकों ने इसे प्रतिवाद्यसिद्ध अथवा अन्यतरासिद्ध हेत्वाभास कहा है, क्योंकि यह जैनदार्शनिकों को इष्ट नहीं है।<sup>४०४</sup>

असिद्ध, विरुद्ध एवं अनैकान्तिक हेत्वाभासों के भी बौद्ध एवं जैन दर्शन में विविध प्रकार निरूपित हैं तथा उन्हें सोदाहरण समझाया गया है। विस्तारभय से उनका यहाँ निरूपण नहीं किया जा रहा है,

३९६. असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः ।- परीक्षामुख, ६.२२

३९७. विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्दकृतकत्वात् - परीक्षामुख, ६.२९

३९८. विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः ।- परीक्षामुख, ६.३०

३९९. सिद्धे प्रत्यक्षबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः ।- परीक्षामुख, ६.३४

४००. विरुद्धासिद्धसन्दिग्धैरकिञ्चित्करविस्तैः ।- न्यायविनिश्चय, २.१९७

४०१. अन्यथानुपपन्नत्वरहिता ये त्रिलक्षणाः ।

अकिञ्चित्कारकान् सर्वास्तान् वयं संगिरामहे ॥- न्यायविनिश्चय २.२०२

४०२. (१) अकलङ्कग्रन्थत्रय, प्रस्तावना, पृ. ६३-६४

(२) डा. दरबारी लाल कोठिया ने असिद्ध शब्द का प्रयोग हेत्वाभाससामान्य के लिए मानने का प्रतिषेध किया है ।

-जैन तर्कशास्त्र में अनुमानविचार, पृ. २३८

४०३. चेतनास्तरव इति साध्ये सर्वत्वगपहरणे मरणं प्रतिवाद्यसिद्धम्, विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणस्य मरणस्यानेनाभ्युपगमात्, तस्य च तरुष्वसंभवात् ।- न्यायबिन्दु, ३.५९

४०४. अन्यतरासिद्धो यथा-अचेतनास्तरवो विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणमरणरहितत्वात् ।- प्रमाणनयतत्त्वालोक, ६.५१

किन्तु यह ज्ञातव्य है कि उन भेदों के प्रतिपादन में बौद्धों का प्रशस्तपाद के निरूपण से साम्य है एवं जैन दार्शनिकों ने बौद्धों का अनुसरण किया है। उत्तरवर्ती ग्रंथों में न्याय-वैशेषिक दार्शनिक भास्वर्ज की रचना न्यायसार का भी उपयोग किया है। हेत्वाभासों का निरूपण भास्वर्ज ने जितने विस्तार से भेदोपभेद पूर्वक किया है, संभवतः उतना अन्य किसी भारतीय दार्शनिक द्वारा नहीं किया गया। इसलिए जैन दार्शनिकों द्वारा उससे प्रभावित होना स्वाभाविक था।

## निग्रहस्थान

भारतीय दर्शन में जय-पराजय की व्यवस्था के लिए निग्रहस्थानों का निरूपण किया गया है। न्यायदर्शन में तत्त्वनिर्णय के लिए वाद तथा तत्त्वसंरक्षण के लिए जल्प एवं वितण्डा को कथा का आवश्यक अंग माना गया है। वाद में स्वपक्ष-स्थापन तथा परपक्षदूषण प्रमाण एवं तर्क पर आधारित होते हैं, जबकि जल्प और वितण्डा में छल, जाति और निग्रहस्थान जैसे असदुत्तरों को भी स्थान दिया गया है। बौद्ध एवं जैनदर्शन में छल, जाति आदि के प्रयोग को अन्याय्य बतलाया गया है। अतः इन दोनों दर्शनों में जल्प एवं वितण्डा का कोई महत्त्व नहीं रह गया है। ये दोनों दर्शन वाद को ही कथा के रूप में स्वीकार करते हैं, नैयायिकों की भांति जल्प एवं वितण्डा को कथा का अंग नहीं मानते हैं।

जय-पराजय व्यवस्था के लिए निग्रहस्थानों को बौद्धों ने स्वीकार किया है। न्यायसूत्र में विप्रतिपत्ति एवं अप्रतिपत्ति को निग्रहस्थान कहा गया है।<sup>४०५</sup> विप्रतिपत्ति का अर्थ है - कुत्सित अथवा विपरीत प्रतिपत्ति होना तथा अप्रतिपत्ति का अर्थ है पक्ष को स्वीकार करके उसका स्थापन नहीं करना तथा प्रतिवादी के द्वारा स्थापित पक्ष का निषेध नहीं करना अथवा प्रतिवादी के द्वारा वादी का पक्ष निषिद्ध करने पर उसका पुनः परिहार नहीं करना।

न्यायदर्शन में २२ निग्रहस्थानों का निरूपण है। बौद्ध तार्किक धर्मकीर्ति ने इन निग्रहस्थानों को निरर्थक सिद्ध कर अपने ग्रंथ वादन्याय में असाधनांगवचन एवं अदोषोद्भावन नामक दो निग्रहस्थानों को प्रतिष्ठित किया है। वे कहते हैं कि असाधनांगवचन एवं अदोषोद्भावन इन दो के अतिरिक्त अन्य निग्रहस्थान का होना उचित प्रतीत नहीं होता।<sup>४०६</sup> असाधनांगवचन को वे वादी का निग्रहस्थान तथा अदोषोद्भावन को प्रतिवादी का निग्रहस्थान मानते हैं। बौद्धमत में त्रिरूप लिङ्ग साधन है, उसका कथन करना साधनांगवचन है, किन्तु जब तीन रूपों में से पक्षधर्मत्वादि किसी एक का भी कथन न किया जाय तो वह हेतु असाधनांगवचन है जो वादी का निग्रहस्थान है।<sup>४०७</sup> त्रिरूपसाधन का जो अंग नहीं है ऐसे प्रतिज्ञा, उपनय, निगमन आदि का साधन-वाक्य में कथन करना भी वादी का निग्रहस्थान

४०५. विप्रतिपत्तिप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् ।— न्यायसूत्र, १.२.१९

४०६. असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः ।

निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तमिति नेष्यते ॥—वादन्याय, पृ. ४

४०७. साध्यते येन परेषामप्रतीतोऽर्थ इति साधनम् त्रिरूपहेतुवचनसमुदायः तस्याङ्गं पक्षधर्मादिवचनम् तस्यैकस्याप्यवचनमसाधनांगवचनम् तदपि वादिनो निग्रहस्थानम् ।— वादन्याय, पृ. ५९

है, क्योंकि उसका कथन व्यर्थ है।<sup>४०८</sup> साधन रूप सिद्धि का जो अंग नहीं है यथा असिद्ध विरुद्ध अथवा अनैकान्तिक हेत्वाभास, इनका कथन करना भी धर्मकीर्ति के अनुसार वादी का निग्रहस्थान है।<sup>४०९</sup>

आदोषोद्भावन प्रतिवादी का निग्रहस्थान है। वादी के द्वारा साधन का प्रयोग किये जाने पर जब प्रतिवादी उत्तरपक्ष को स्वीकार करके वादी के विषय में दोष प्रकट नहीं करता है तब वह अदोषोद्भावन नामक निग्रहस्थान द्वारा पराजित होता है।<sup>४१०</sup> साधन के दोषों की परिगणना करते हुए धर्मकीर्ति ने अनेक दोषों का कथन किया है, यथा न्यूनता, असिद्धि, अनैकान्तिकता, वादी को इष्ट साध्य अर्थ का विपर्यय साधन और अठारह प्रकार के दृष्टान्ताभास। वादी के इन दोषों को जब प्रतिवादी प्रकट नहीं करता है तो वह पराजित समझा जाता है।<sup>४११</sup>

जैन दर्शन में अकलङ्क, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र एवं हेमचन्द्र ने निग्रहस्थानों पर विचार किया है तथा वादी के द्वारा स्वपक्षसिद्धि को ही प्रतिवादी के निग्रहस्थान के रूप में प्रतिष्ठित किया है। उन्होंने न्याय एवं बौद्ध दर्शन सम्मत निग्रहस्थानों का निरसन किया है। जैन मान्यता के अनुसार स्वपक्ष सिद्धि ही एक मात्र प्रतिवादी का निग्रह है। दूसरे शब्दों में वादी की स्वपक्षसिद्धि से ही प्रतिवादी का निग्रह हो जाता है। अतः उनके अनुसार असाधनांगवचन एवं अदोषोद्भावन नामक दो निग्रहस्थान मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।<sup>४१२</sup>

असाधनांगवचन का खण्डन करने हेतु प्रभाचन्द्र बौद्धों से प्रश्न करते हैं कि वादी एवं प्रतिवादी में से कोई एक अपने पक्ष की सिद्धि करता हुआ असाधनांगवचन अथवा अदोषोद्भावन से दूसरे का निग्रह करता है, अथवा स्वपक्ष की सिद्धि करता हुआ ही वह दूसरे का निग्रह कर देता है? प्रथमपक्ष में अर्थात् स्वपक्ष की सिद्धि करने से यदि अन्य की पराजय होती है तो दोषोद्भावन करना व्यर्थ है तथा स्वपक्ष को सिद्ध किये बिना ही पर का निग्रह होता है, ऐसा मानें तो असाधनांगवचनादि के प्रकट करने पर भी किसी की जय नहीं होगी, क्योंकि उससे किसी की पक्षसिद्धि नहीं होती।

बौद्ध त्रिरूप हेतु का साध्य का गमक मानते हैं। उनके मत में पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व एवं विपक्षासत्त्व ये तीनों साधन के अंग हैं। इनमें से किसी का भी कथन न होने पर असाधनांगवचन के

४०८. तस्यैव साधनस्य यन्नाङ्गं प्रतिज्ञोपनयनिगमनादि तस्यासाधनांगस्वसाधनवाक्ये उपादानं वादिनो निग्रहस्थानम्, व्यर्थाभिधानात् ।—वाद-न्याय, पृ. ५९

४०९. साधनस्य सिद्धेर्यन्नांगम् असिद्धो, विरुद्ध अनैकान्तिको वा हेत्वाभासः तस्यापि वचनं वादिनो निग्रहस्थानम्, असमर्थोपादानात् ।—वाद-न्याय, पृ. ६४

४१०. वादिना साधने प्रयुक्तेऽप्युपगतोत्तरपक्षो यत्र विषये प्रतिवादी यदा न दोषमुद्भावयति, तदा पराजितो वक्तव्यः ।—वाद-न्याय, पृ. ६

४११. द्रष्टव्य, वाद-न्याय, पृ. ६७

४१२. स्वपक्षसिद्धेरकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः

नासाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः ॥ — उद्धृत, प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-३, पृ. ६४०, किन्तु यह पद्य मूलतः कुमारनन्दी के अनुपलब्ध 'वाद-न्याय' से लिया गया प्रतीत होता है।

कारण वादी का निग्रह हो जाता है। प्रभाचन्द्र बौद्धों की इस मान्यता का खण्डन करने हेतु नैयायिकों द्वारा सम्मत पांचरूप्य का आश्रय लेते हैं एवं कहते हैं कि बौद्धों के समान पंचावयवप्रयोगवादी नैयायिक भी कह सकते हैं कि साधन रूप सिद्धि का अंग पांच अवयवों का प्रयोग है। यदि बौद्ध इन पांच अवयवों का प्रयोग नहीं करता है तो उसका भी निग्रह समझना चाहिए।<sup>४१३</sup> नैयायिकों के अनुसार अनुमानवाक्य के पांच अवयव हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन। बौद्ध इनमें से हेतु को ही अनुमान वाक्य का अंग मानता है। अतः अन्य के प्रयोग को आवश्यक न मानने के कारण वह नैयायिक द्वारा पराजित समझा जा सकता है।

बौद्ध प्रत्युत्तर देते हुए प्रतिपादित करते हैं कि पंच अवयवों का कथन करने पर भी निग्रह नहीं होगा, क्योंकि प्रतिज्ञा एवं निगमन का पक्षधर्म के उपसंहार की सामर्थ्य से ज्ञान हो जाता है। जब वे दोनों पक्षधर्मोपसंहार के सामर्थ्य से गम्यमान हैं तो इनका कथन करने पर पुनरुक्ता दोष आता है। इनका प्रयोग करने पर भी यदि हेतु प्रयोग न किया जाय तो साध्य अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि प्रतिज्ञा से साध्य सिद्धि होती है तो हेतु आदि का कथन व्यर्थ है, और यदि प्रतिज्ञा से साध्यसिद्धि नहीं होती है तो उसको साध्यसिद्धि का अंग नहीं मानना चाहिए।

प्रभाचन्द्र कहते हैं कि बौद्ध मत में भी यदि हेतु से साध्य की सिद्धि हो जाती है तो दृष्टान्त का प्रयोग निरर्थक है। यदि हेतु से साध्यसिद्धि नहीं होती है तो उसे भी साध्यसिद्धि का अंग नहीं मानना चाहिए। यदि बौद्धों के अनुसार साध्य और साधन की व्याप्ति दिखाने वाला होने से दृष्टान्त का प्रयोग निरर्थक नहीं है तथा साध्य-साधन की व्याप्ति नहीं दिखाई जाने पर हेतु साध्य का गमक नहीं हो सकता है तो प्रभाचन्द्र इसका निरसन करते हुए कहते हैं कि बौद्ध कथन असंगत है, क्योंकि “सर्व क्षणिकं सत्त्वात्” इस हेतु में सबको अनित्य सिद्ध करने पर दृष्टान्त का अभाव होने से सत्त्वादि हेतु भी अगमक हो जायेगा। यदि सत्त्व हेतु विपक्ष (नित्य) से व्यावृत्त है अतः विपक्षव्यावृत्ति के कारण साध्य का गमक बन जाता है तो इस प्रकार सभी हेतु साध्य के गमक बन जायेंगे और दृष्टान्त व्यर्थ सिद्ध हो जाएगा। विपक्ष की व्यावृत्ति से हेतु का समर्थन करते हुए भी प्रतिज्ञा का निराकरण करना उचित नहीं है क्योंकि प्रतिज्ञा के अभाव में साध्य एवं हेतु कहाँ रहेंगे? यदि प्रतिज्ञा गम्यमान रहती है तो उसमें रहा हेतु भी गम्यमान होना चाहिए। यदि गम्यमान हेतु का मंदमति पुरुषों के लिए कथन किया जाता है तो इसी प्रकार प्रतिज्ञा का भी मंदमति पुरुषों के लिए कथन करना चाहिए।

‘असाधनांग’ शब्द का भिन्न प्रयोग प्रस्तुत करते हुए प्रभाचन्द्र ने इसे बौद्धग्रन्थ वादन्याय से पुष्ट किया है—“साधर्म्यपूर्वक हेतु का कथन करने में वैधर्म्य कथन गम्यमान रहता है तथा वैधर्म्यपूर्वक हेतु का कथन करने पर साधर्म्य कथन गम्यमान रहता है, अतः साधर्म्य का कथन करने पर पुनः वैधर्म्य का कथन करना एवं वैधर्म्य का कथन करने पर पुनः साधर्म्य का कथन करता पुनरुक्ततादोष युक्त

है। अतः यह साधनांग नहीं है।”

जैन दर्शन के अनुसार हेतु सम्यक् एवं स्वपक्ष को सिद्ध करने वाला होना चाहिए, उसमें साधर्म्य प्रयोग के पश्चात् वैधर्म्य एवं वैधर्म्य प्रयोग के पश्चात् साधर्म्य प्रयोग से कोई अन्तर नहीं आता है। साध्यसिद्धि के अप्रतिबंधक हेतु के अधिक कहने मात्र से निग्रह होना शक्य नहीं है। प्रभाचन्द्र के अनुसार वादी अथवा प्रतिवादी के द्वारा स्वपक्षसिद्धि करना आवश्यक है। हेतु में साधर्म्य एवं वैधर्म्य प्रयोग से वचनाधिक्य मानकर निग्रह करना सर्वथा अनुचित है।<sup>४१४</sup>

अदोषोद्भावन निग्रहस्थान का भी जैन दार्शनिकों ने खण्डन किया है तथा यह सिद्ध किया है कि वादी के दोषों का उद्भावन करने से प्रतिवादी का निग्रह नहीं होता है। प्रतिवादी का निग्रह उसके द्वारा अपने पक्ष की सिद्धि न किये जाने पर निर्भर करता है। अदोषोद्भावन के प्रभाचन्द्र ने दो अर्थ प्रकट किये हैं। प्रथम अर्थ के अनुसार प्रसज्य प्रतिषेध द्वारा दोषों के उद्भावन का अभावमात्र अदोषोद्भावन होता है तथा द्वितीय अर्थ के अनुसार पर्युदास प्रतिषेध द्वारा दोषाभासों या अन्य दोषों का उद्भावन करना अदोषोद्भावन होता है।<sup>४१५</sup>

सारांश यह है कि बौद्ध तार्किक धर्मकीर्ति ने न्यायदर्शन में प्रतिपादित २२ निग्रहस्थानों को अनुपयोगी सिद्ध कर दो निग्रहस्थानों का प्रतिपादन किया है, किन्तु जैन दार्शनिकों ने उन दो निग्रहस्थानों का भी खण्डन किया है। धर्मकीर्ति के द्वारा प्रतिपादित निग्रहस्थानों के विषय में पं. सुखलाल संघवी लिखते हैं कि धर्मकीर्ति ने जो असाधनांगवचन और अदोषोद्भावन द्वारा जय-पराजय की व्यवस्था की है उसमें इतनी जटिलता और दुरूहता आ गयी है कि अनेक प्रसंगों में सरलता से यह निर्णय करना ही असंभव हो गया कि असाधनांगवचन तथा अदोषोद्भावन है या नहीं? इस जटिलता और दुरूहता से बचने एवं सरलता से निर्णय करने की दृष्टि से अकलङ्क ने धर्मकीर्तिकृत जय-पराजय व्यवस्था का संशोधन किया। पंडित सुखलालजी के मत में अकलङ्ककृत संशोधन में धर्मकीर्ति सम्मत सत्य का तत्त्व तो निहित है ही, इसके अतिरिक्त उसमें अहिंसासमभाव का जैन प्रकृतिसुलभभाव भी निहित है।<sup>४१६</sup> अकलङ्क आदि जैन दार्शनिकों का यह सुनिश्चित मत है कि किसी एक पक्ष की सिद्धि दूसरे पक्ष की असिद्धि के बिना हो ही नहीं सकती। ■

४१४. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-३, पृ. ६४२-४४

४१५. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-३, पृ. ६४८

४१६. प्रमाणमीमांसा, भाषा टिप्पण, पृ. १२२



## पंचम अध्याय

# स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क एवं आगम का प्रामाण्य तथा अपोह-विचार

### प्रमाण-संख्या

बौद्ध एवं जैन दोनों दर्शन संख्या की दृष्टि से यद्यपि दो ही प्रमाण स्वीकार करते हैं, तथापि उनमें गहरा मतभेद है। बौद्धों के अनुसार प्रत्यक्ष एवं अनुमान ये दो प्रमाण हैं<sup>१</sup>, जबकि जैन दार्शनिक प्रत्यक्ष एवं परोक्ष के रूप में प्रमाण-द्वय का कथन करके<sup>२</sup> परोक्ष-प्रमाण के अन्तर्गत स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान एवं आगम इन पांच प्रमाणों का समावेश कर लेते हैं<sup>३</sup>, इस प्रकार जैन मत में प्रत्यक्ष सहित प्रमाणों की संख्या छह हो जाती है। इनमें प्रत्यक्ष एवं अनुमान तो दोनों सम्प्रदायों को स्वीकृत हैं, किन्तु स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क का प्रामाण्य जैन दार्शनिकों को अभीष्ट है बौद्धों को नहीं। आगम या शब्द का प्रामाण्य बौद्धों ने भी स्वीकार किया है<sup>४</sup> किन्तु वे इसका अनुमान-प्रमाण में ही अन्तर्भाव कर लेते हैं, पृथक् प्रमाण के रूप में स्थान नहीं देते<sup>५</sup>। जैन दार्शनिकों ने आगम को अनुमान से पृथक् प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है।

बौद्ध एवं जैन न्याय का विकास गौतम प्रणीत न्यायसूत्र के अनन्तर हुआ है। यही कारण है कि बौद्ध ग्रंथ उपायहृदय<sup>६</sup> में तथा जैनागम अनुयोगद्वार, भगवती एवं स्थानाङ्ग सूत्र में गौतम द्वारा निरूपित प्रमाण के चार भेदों को ही अपनाया गया है।<sup>७</sup> वे चार भेद हैं - प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।<sup>८</sup> बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग के ग्रंथों में प्रमाण के स्पष्ट रूप से दो भेद निरूपित हैं - प्रत्यक्ष एवं अनुमान। दिङ्नाग के उत्तरवर्ती धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित, कमलशील आदि बौद्ध दार्शनिकों ने इन्हीं दो भेदों को अपनाया है। जैनदर्शन में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष भेदों का कथन नन्दीसूत्र<sup>९</sup>, उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्र,<sup>१०</sup> सिद्धसेन के न्यायावतार,<sup>११</sup> आदि में मिलता है, किन्तु परोक्ष प्रमाण के स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान

१. प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणं द्विलक्षणम् ।—दिङ्नाग, प्रमाणसमुच्चय, १.२

२. (१) तत्रप्रमाणे । आद्ये परोक्षम् । प्रत्यक्षमन्यत् ।—तत्त्वार्थसूत्र, १.१०-१२

(२) तद् द्विभेदं प्रत्यक्षं च परोक्षं च ।—प्रमाणनयतत्त्वालोक, २.१

३. स्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदतस्तत् पंचप्रकारम् ।—प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.२

४. शाब्देऽप्यभिप्रायनिवेदनात् । प्रामाण्यं तत्र शब्दस्य ।—प्रमाणवार्तिक, १.३-४

५. न प्रमाणान्तरं शाब्दमनुमानात् तथा हि सः ।—दिङ्नाग, उद्धृत, तत्त्वसंग्रहपत्रिका, पृ० ५३९

६. चतुर्विधं प्रमाणम् । प्रत्यक्षमनुमानमुपमानागमश्चेति ।—उपायहृदय, पृ० १३

७. (१) द्रष्टव्य, अनुयोगद्वार सूत्र, ज्ञानगुण प्रमाणद्वार । (२) प्रमाणे चउच्चिहे पण्णते, तं जहा पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवम्मे, आगमे ।—भगवतीसूत्र, ५.३.१९२ (३) अहवा हेऊ चउच्चिहे पण्णते तंजहा पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवम्मे, आगमे ।—स्थानांगसूत्र, ४३० (४) द्रष्टव्य, अध्याय २, पादटिप्पण ४९-५०

८. प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ।—न्यायसूत्र, १.१.३

९. नन्दीसूत्र में ज्ञान को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दो भागों में विभक्त किया गया है, यथा - तं समासओ दुविहं पण्णत्तं, तंजहा-पच्चक्ख च परोक्खं च ।—नन्दीसूत्र, २

१०. द्रष्टव्य, उपर्युक्त पादटिप्पण, २

११. प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्विधा मेयविनिश्चयात् ।—न्यायावतार, १

एवं आगम के रूप में पांच भेद जैनदार्शनिक **भट्ट अकलङ्क** से प्रारम्भ हुए दिखाई देते हैं।<sup>१२</sup> **अकलङ्क** ने ही जैनन्याय को व्यवस्थित रूप देते समय इन भेदों का युक्तिपुरस्सर प्रणयन किया है।

### प्रमाणव्यवस्था एवं प्रमाणसंप्लव

बौद्ध दार्शनिक प्रमाणव्यवस्थावादी हैं। वे प्रत्येक प्रमेय के लिए भिन्न प्रमाण का होना आवश्यक मानते हैं। न्याय, मीमांसा एवं जैन दार्शनिकों की भांति वे प्रमाणसंप्लववादी नहीं हैं। प्रमाणसंप्लव के अनुसार एक प्रमेय को एक से अधिक प्रमाणों के द्वारा जाना जाता है। यथा - आगम एवं अनुमान से जानने के पश्चात् किसी प्रमेय को प्रत्यक्ष से भी जाना जा सकता है, अर्थात् एक प्रमेय को जानने के लिए एक से अधिक प्रमाणों का अवलम्बन लेना प्रमाणसंप्लव है। बौद्ध दार्शनिक ऐसा नहीं मानते हैं। इसीलिए बौद्ध दार्शनिक **दिङ्नाग** ने स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है कि प्रमाण दो ही हैं, कम एवं अधिक नहीं, क्योंकि प्रमेय भी दो ही हैं - स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण।<sup>१३</sup> स्वलक्षण प्रमेय प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय है तथा सामान्यलक्षण अनुमान-प्रमाण का विषय। स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण से भिन्न प्रमेय नहीं है। इसलिए प्रत्यक्ष एवं अनुमान ये दो ही प्रमाण हैं, इनके अतिरिक्त कोई अन्य प्रमाण नहीं है।<sup>१४</sup>

जैन दार्शनिकों ने प्रमेय के आधार पर प्रमाणों की संख्या का निर्धारण नहीं किया, क्योंकि वे 'सामान्यविशेषात्मक' रूप में एक ही प्रकार का प्रमेय मानते हैं,<sup>१५</sup> वे उस प्रमेय को जानने के लिए ही प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि प्रमाणों का अवलम्बन लेते हैं। दूसरे शब्दों में कहे तो जैन दार्शनिक प्रमाणसंप्लववादी हैं, अतः उन्हें प्रमेय के आधार पर प्रमाणों के व्यवस्थापन की आवश्यकता नहीं हुई।

### बौद्धमत की आलोचना

जैन दार्शनिकों ने बौद्ध प्रमाण-संख्या की आलोचना करते हुए प्रतिपादित किया है कि प्रमेयद्वित्व के आधार पर प्रमाण-द्वय का अवधारण नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रमेय-द्वित्व का निश्चय किसी भी प्रमाण से संभव नहीं है। यदि प्रमाण-द्वित्व से प्रमेय-द्वित्व का निश्चय किया जाता है तो अन्योन्याश्रय दोष आता है। जैन दार्शनिकों द्वारा किये गये एतद्विषयक आलोचन के कुछ बिन्दु आगे प्रस्तुत हैं।

१. जैनदार्शनिक बौद्धों से प्रश्न करते हैं कि प्रमेय-द्वित्व ज्ञात होकर प्रमाणद्वित्व का कारण बनता

१२. लघीयस्वय, अकलङ्कग्रंथत्रय, पृ० ४-५

१३. अत्र प्रमाणं द्विविधमेव । कुतश्चेत् । द्विलक्षणं प्रमेयं । स्वसामान्यलक्षणाभ्यां भिन्नलक्षणं प्रमेयान्तरं नास्ति ।—प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, १.२, पृ० ४

१४. स्वलक्षणविषयं प्रत्यक्षमेव । सामान्यलक्षणविषयकमनुमानमेव । प्रमाणान्तरं नास्ति ।—जिनेन्द्रबुद्धि, विशालामलवती, प्रमाणसमुच्चय, पृ० ६

१५. सामान्यविशेषात्मा तदर्थां विषयः ।—परीक्षामुख, ४.१

है या अज्ञात रहकर ? यदि अज्ञात रहकर प्रमाण-द्वित्व का कारण बनता है तब तो सबको समान रूप से उसकी प्रतिपत्ति होनी चाहिए, विप्रतिपत्ति का प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता। यदि ज्ञात होकर वह प्रमाण-द्वित्व का कारण बनता है तो उसका ज्ञान किस प्रमाण से होता है ? प्रत्यक्ष से तो प्रमेय-द्वित्व का ज्ञान हो नहीं सकता, क्योंकि वह मात्र स्वलक्षण प्रमेय को विषय करता है तथा इसी प्रकार अनुमान मात्र सामान्यलक्षण प्रमेय को विषय करता है, अतः उससे भी प्रमेयद्वित्व का ज्ञान नहीं हो सकता।<sup>१६</sup>

२. यदि प्रत्यक्ष-प्रमाण से ही प्रमेय-द्वैविध्य की सिद्धि हो जाती है तो प्रत्यक्ष-प्रमाण को सविकल्पक मानना पड़ेगा तथा विषय-सांकर्य का भी दोष आयेगा। इसी प्रकार अनुमान-प्रमाण द्वारा भी प्रमेय-द्वित्व का ज्ञान मानने पर विषय-सांकर्य दोष आता है तथा दो प्रमाण मानने का आधार भी खण्डित हो जाता है, क्योंकि जब एक ही प्रमाण स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण दोनों प्रमेयों को जान सकता है तब प्रमेय-द्वित्व के आधार पर प्रमाण-द्वित्व का स्थापन नहीं किया जा सकता।<sup>१७</sup>

३. यदि प्रत्यक्ष एवं अनुमान दोनों प्रमाण मिलकर प्रमेय-द्वय की सिद्धि करते हैं तो भी प्रमेय-द्वय का ज्ञान प्रमाण-द्वित्व को सिद्ध नहीं करता, क्योंकि ऐसी स्थिति में देवदत्त एवं यज्ञदत्त के द्वारा ज्ञात धूमद्वित्व से अग्निद्वित्व की सिद्धि होना चाहिए, जबकि ऐसा होता नहीं है। दूसरी बात यह है कि प्रमाणद्वित्व से प्रमेय-द्वित्व को तथा प्रमेयद्वित्व से प्रमाण-द्वित्व को सिद्ध करने पर अन्योन्याश्रय दोष आता है।<sup>१८</sup>

४. बौद्ध यदि लिङ्ग से अनुमित सामान्यलक्षण द्वारा ही स्वलक्षण का ज्ञान होना स्वीकार करते हैं तो भी उपयुक्त नहीं है, क्योंकि सामान्यलक्षण द्वारा स्वलक्षण की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती। सामान्यलक्षण के साथ स्वलक्षण का कोई अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है। यदि सामान्य के द्वारा स्वलक्षण सामान्यरूप से जाना जाता है तो इस प्रकार सामान्य से स्वलक्षण का नहीं, अपितु अपरसामान्य आदि का ज्ञान होगा। इस प्रकार लिङ्ग से अनुमिति के द्वारा भी प्रमेय-द्वित्व का ज्ञान नहीं होता, तब भला उससे प्रमाण-द्वय का व्यवस्थापन कैसे हो सकता है ?<sup>१९</sup>

जैन दार्शनिकों की मान्यता है कि प्रमेय एक ही प्रकार का है और वह सामान्य-विशेषात्मक है। अतः प्रमेय के आधार पर दो प्रमाणों का व्यवस्थापन उचित नहीं है।

जैन दार्शनिक परम्परा में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क एवं आगम का पृथक् प्रामाण्य स्थापित किया गया है। बौद्ध दार्शनिकों ने उनमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क को अप्रमाण माना है एवं आगम का अपोह द्वारा अनुमान में अन्तर्भाव किया है।

प्रत्यक्ष एवं अनुमान नामक दो ही प्रमाणों को स्वीकार करने वाले बौद्धों का खण्डन करते हुए

१६. (१) प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-२, पृ० ४८३ (२) स्याद्वादरत्नाकर, पृ० २७०-७१

१७. (१) प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-२, पृ. ४८३ (२) स्याद्वादरत्नाकर, पृ० २७१

१८. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-२, पृ० ४८४ (२) स्याद्वादरत्नाकर, पृ० २७१

१९. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-२, पृ० ४८१-८२

जैनन्याय के प्रमुख आचार्य अकलङ्क ने कहा है कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क आदि को पृथक् प्रमाण मानना आवश्यक है, क्योंकि "जितना भी कोई धूम है वह कालान्तर अथवा देशान्तर में अग्नि का ही कार्य है अन्य अर्थ का नहीं" इतना व्यापार प्रत्यक्ष-प्रमाण नहीं कर सकता, क्योंकि वह बौद्ध मत में सन्निहित विषय के बल से उत्पन्न होने के कारण निर्विकल्पक होता है। अनुमानान्तर से भी यह व्यापार नहीं हो सकता, क्योंकि उस अनुमान के लिङ्ग-लिङ्गी सम्बन्ध को जानने में भी अन्य अनुमान की कल्पना करनी होगी। सम्पूर्ण रूप से लिङ्ग एवं लिङ्गी की व्याप्ति के असिद्ध रहने से कोई अनुमान-प्रमाण व्याप्ति-ज्ञान करने में समर्थ नहीं होता। इसलिए 'प्रत्यक्ष एवं अनुमान दो ही प्रमाण हैं' यह मानना उचित नहीं है, क्योंकि लिङ्ग एवं लिङ्गी ज्ञान के लिए स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क नामक अन्य प्रमाणों को भी स्वीकार करना आवश्यक है।<sup>२०</sup>

### भारतीय दर्शन को जैन न्याय की अनूठी देन

जैन नैयायिकों का भारतीय दर्शन को यह अनूठा अवदान है कि उन्होंने स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क को पृथक् प्रमाणों के रूप में प्रतिष्ठित किया। भारतीय दर्शन के प्रायः समस्त प्रस्थानों में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क की चर्चा मिलती है, किन्तु वे इन्हें पृथक् प्रमाणों के रूप में प्रतिष्ठित नहीं करते हैं, जबकि लोक-व्यवहार एवं अनुमान-प्रक्रिया में इन तीनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। बौद्धों ने भी इन तीनों को प्रमाण नहीं माना है एवं आगमप्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव कर लिया है। जैनों ने इसका निरसन कर इन चारों का पृथक् प्रामाण्य स्थापित किया है।

अब जैनों द्वारा मान्य स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क एवं आगम प्रमाण पर चर्चा करने के साथ बौद्ध मान्य 'अपोह' पर भी विचार किया जाएगा।

## स्मृति-प्रमाण

### स्मृति का स्वरूप

जैन दार्शनिकों ने स्मृति को प्रत्यक्ष एवं अनुमान से पृथक् प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित किया है। तत्त्वार्थसूत्र में मतिज्ञान के पर्यायवाची शब्दों में स्मृति को भी गिनाया गया है, यथा- 'मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।'<sup>२१</sup> ऋद्ध अकलङ्क ने मतिज्ञान के इन पर्यायवाची शब्दों को आधार बनाकर ही क्रमशः स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क प्रमाणों को स्थापित किया है। 'स्मृति' शब्द से उन्होंने स्मृति प्रमाण, 'संज्ञा' शब्द से प्रत्यभिज्ञान प्रमाण एवं 'चिन्ता' शब्द से तर्क प्रमाण का विकास किया।

२०. अविकल्पाधिया लिङ्गं न किञ्चित्सम्प्रतीयते।

नानुमानादसिद्धत्वात् प्रमाणान्तरमाज्ञसम् ॥—लघीयल्लय, ११-१२

न हि प्रत्यक्षं "यावान् कश्चिद् धूमः कालान्तरे देशान्तरे च पावकस्यैव कार्यं नार्थान्तरस्य इतीयतो व्यापारान् कर्तुं समर्थं सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वात्। नाप्यनुमानान्तरम्; सर्वज्ञाऽविशेषात्। न हि साकल्येन लिङ्गस्य लिङ्गिना व्यापेरसिद्धौ क्वचित् किञ्चिदनुमानं नाम। तन्नाप्रत्यक्षमनुमानव्यतिरिक्तं प्रमाणम्" इत्ययुक्तम्, लिङ्गप्रतिपत्तेः; प्रमाणान्तरत्वात्।—लघीयल्लयवृत्ति, अकलङ्कग्रन्थत्रय, पृ० ५

२१. तत्त्वार्थसूत्र, १.१३

‘अभिनिबोध’ शब्द से उन्होंने अनुमानप्रमाण का ग्रहण किया है। इसके साथ ही उन्होंने स्मृति को प्रत्यभिज्ञान का, प्रत्यभिज्ञान को तर्क का एवं तर्क को अनुमान का कारण माना है।<sup>२२</sup>

भट्ट अकलङ्क से पूर्व जैनदर्शन में स्मृति को प्रमाण-भेदों में स्थान नहीं मिला था। उनके पूर्ववर्ती सिद्धसेन दिवाकर ने ‘न्यायावतार’ में परोक्ष प्रमाण के दो ही भेद किए हैं - अनुमान एवं आगम। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क की चर्चा सिद्धसेन नहीं करते हैं। इस दृष्टि से जैनन्याय को अकलङ्क का यह महान् अवदान है। भट्ट अकलङ्क के पश्चात् लगभग समस्त दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दार्शनिकों ने इन तीनों प्रमाणों की अविस्वादिता सिद्ध कर इन्हें प्रमाण कोटि में रखा है तथा अन्य दर्शन-प्रस्थानों के द्वारा अप्रमाण माने जाने पर उनका खण्डन किया है।

स्मृति को प्रमाण रूप में प्रतिष्ठित करने वाले भट्ट अकलङ्क ने शब्द योजना के पूर्व इसे मतिज्ञान में तथा शब्दयोजना के पश्चात् श्रुतज्ञान में सम्मिलित किया है।<sup>२३</sup> विद्यानन्द ने “तत्” (वह) आकार वाले एवं अनुभूत अर्थ को विषय करने वाले ज्ञान को स्मृति कहा है।<sup>२४</sup> माणिक्यनन्दी के अनुसार संस्कार की जागृति से “तत्” (वह) आकारक ज्ञान स्मृति है।<sup>२५</sup> संस्कार को जैन दर्शन में “धारणा” भी कहा गया है। निर्णित या अनुभूत अर्थ के ज्ञान का दृढतापूर्वक गृहीत होना धारणा अथवा संस्कार है। संस्कार से स्मृति का जन्म होता है। इसलिए अकलङ्क ने स्मृति को धारणा-प्रमाण का फल कहा है। स्मृति भी प्रमाण है, क्योंकि उसका फल प्रत्यभिज्ञान है।<sup>२६</sup> बिना स्मृति के प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता। स्मृति के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए वादिदेवसूरि कहते हैं कि संस्कार की जागृति से उत्पन्न, अनुभूत अर्थ को विषय करने वाला, एवं तत् (वह) आकार वाला ज्ञान स्मृति है।<sup>२७</sup> हेमचन्द्र सूरि के अनुसार वासना अर्थात् संस्कार के उद्बोध से उत्पन्न तत् (वह) आकार ज्ञान स्मृति है।<sup>२८</sup> वैशेषिक दर्शन में कणाद ने आत्मा एवं मन के संयोगविशेष संस्कार से उत्पन्न ज्ञान को स्मृति प्रतिपादित किया है।<sup>२९</sup> प्रशस्तपाद ने स्मृति को विद्या का एक प्रकार माना है। वे चार प्रकार की विद्याओं का निरूपण करते हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति एवं आर्षज्ञान।<sup>३०</sup> प्रशस्तपाद ने स्मृति को दृष्ट, श्रुत एवं अनुभूत अर्थों में शेषानुव्यवसाय (अनुमेय ज्ञान), इच्छा, अनुस्मरण एवं द्वेष का हेतु बतलाया

२२. स्मृतिः संज्ञायाः प्रत्यवमर्शस्य (प्रत्यभिज्ञानस्य)। संज्ञा चिन्तायाः तर्कस्य। चिन्ता अभिनिबोधस्य अनुमानादेः ।- लघीयस्त्रयवृत्ति, अकलङ्कग्रन्थत्रय, पृ० ५

२३. ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता वाऽभिनिबोधकम् ।

प्राह्णामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ॥- लघीयस्त्रय, १०-११

२४. तदित्याकारानुभूतार्थविषया स्मृतिः ।- प्रमाणपरीक्षा, पृ. ४२

२५. संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः ।- परीक्षामुख, ३.३

२६. अविस्वादिस्मृतेः फलस्य हेतुत्वात् प्रमाणं धारणा । स्मृतिः संज्ञायाः ।- लघीयस्त्रयवृत्ति, अकलङ्कग्रन्थत्रय, पृ० ५

२७. तत्र संस्कारप्रबोधसम्भूतं, अनुभूतार्थविषयं, तदित्याकारं वेदनं स्मरणम् ।- प्रमाणनयतत्त्वालोको, ३.३

२८. वासनोद्बोधहेतुका तदित्याकारा स्मृतिः ।- प्रमाणमीमांसा, १.२.३

२९. आत्मनः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः ।- वैशेषिकसूत्र, ९.२.६

३०. विद्यापि चतुर्विधा । प्रत्यक्षलौकिकस्मृत्यार्थलक्षणा ।- प्रशस्तपादभाष्य, प्रत्यक्षप्रकरण, पृ० १५३

है तथा उसे अतीत विषयों को ग्रहण करने वाला प्रतिपादित किया है।<sup>३१</sup> योगसूत्र में पतञ्जलि ने स्मृति को प्रमाण, विपर्यय, विकल्प एवं निद्रा की भांति एक चित्तवृत्ति माना है, तथा अनुभूत विषय के असम्प्रमोष को स्मृति कहा है।<sup>३२</sup> न्यायदर्शन के अनुसार एक ही ज्ञाता पूर्वकाल में ज्ञात विषय का जब पुनः ग्रहण करता है तो वह स्मरण कहलाता है।<sup>३३</sup> न्यायसूत्र में स्मरण को आत्मा का गुण कहा गया है<sup>३४</sup> तथा स्मृति की उत्पत्ति में प्रणिधान, निबन्ध, अभ्यास आदि अनेक हेतुओं की गणना की गई है।<sup>३५</sup> न्यायवार्तिक में उद्योतकर ने प्रत्यक्ष ज्ञान का निरोध होने पर उसके विषय का अनुसंधान करने वाले प्रत्यय को स्मृति कहा है। ब्रह्मसूत्र के शाङ्करभाष्य में भी स्मृति-अधिकरण में स्मृति की चर्चा है। समुदायाधिकरण में शाङ्कर ने वैनाशिक बौद्धों का खण्डन करते हुए द्रष्टा एवं स्मर्ता का एककर्तृत्व अङ्गीकार किया है।<sup>३६</sup>

बौद्धदर्शन में धर्मकीर्ति ने उत्पद्यमान सदृश अपर अपर भावों में भेद की प्रतीति न होने से 'स एवायम्' (यह वही है) इस आकार वाले विकल्प को स्मरण कहा है।<sup>३७</sup> उनके मत में स्मृति अतीत अर्थ में होती है, अगृहीत में नहीं।<sup>३८</sup> वह अनुभव से उत्पन्न होती है, बिना अनुभव या प्रत्यक्ष के नहीं होती, तथा अर्थाकार से रहित होती है।<sup>३९</sup> इस प्रकार सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में स्मृति की चर्चा हुई है, किन्तु पृथक् प्रमाण के रूप में इसका स्थापन जैनदार्शनिकों द्वारा ही किया गया है।

### स्मृति 'प्रमाण' क्यों नहीं ?

भारतीय संस्कृति में वेदों के अनन्तर स्मृतियों को ही प्रमाण माना गया है। वेदों के लुप्त ज्ञान का प्रतिपादन स्मृतियों द्वारा हुआ है, इसलिए स्मृतियां लोक-व्यवहार में प्रमाणभूत हैं। तथापि वैदिक दर्शन-प्रस्थानों में स्मृति को एक पृथक् प्रमाण क्यों स्वीकार नहीं किया गया, इस सम्बन्ध में पं. सुखलाल संघवी ने अपना अभिमत प्रस्तुत करते हुए कहा है कि वैदिक-परम्परा में श्रुति अर्थात् वेद का ही मुख्य प्रामाण्य है तथा स्मृति का प्रामाण्य श्रुति के अधीन है। यही कारण है कि मीमांसा आदि वैदिक-दर्शनों में स्मृति ज्ञान को अनुभव या प्रत्यक्ष के अधीन होने के कारण प्रमाण नहीं माना है।<sup>४०</sup>

३१. प्रशस्तपादभाष्य, स्मृतिप्रकरण ।

३२. प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः । अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ।— योगसूत्र, १.६, एवं ११

३३. न्यायसूत्र (वात्स्यायन भाष्य), ३.२.१८

३४. स्मरणं त्वात्मनो ज्ञस्वाभावात् ।— न्यायसूत्र, ३.२.४०

३५. न्यायसूत्र, ३.२.४१

३६. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, २.२.२५

३७. प्रमाणवार्तिक, २.४९८-९९

३८. स्मृतिर्भवेदतीते च साऽगृहीते कथं भवेत् ।— प्रमाणवार्तिक, २.१७९

३९. स्मृतिश्चेदृग्विधं ज्ञानं तस्याश्चानुभवाद् भवः ।

स चार्थाकाररहितः सेदानीं तद्वती कथम्?— प्रमाणवार्तिक, २.३७४

४०. प्रमाणमीमांसा, भाषाटिप्पण, पृ. ७३

मीमांसा दर्शन स्मृति को प्रमाण नहीं मानता, क्योंकि स्मृति अन्य प्रमाण द्वारा गृहीत अर्थ का ही ज्ञान कराती है और मीमांसादर्शन के अनुसार प्रमाण अनधिगत अर्थ का ग्राही होता है।<sup>४१</sup> वैशेषिकदर्शन में स्मृति को विद्या का एक प्रकार प्रतिपादित करते हुए भी उसे पृथक् प्रमाण की संज्ञा नहीं दी गयी, इसका कारण श्रीधर बतलाते हैं कि स्मृति पूर्वानुभूत विषय के ही उपदर्शन से अर्थ का निश्चय कराती है इस लिए वह पूर्वानुभव के परतन्त्र होने से प्रमाण नहीं कही जा सकती।<sup>४२</sup>

न्यायदर्शन में स्मृति को न प्रमाण कहा गया है और न ही प्रमा, तथापि क्षणिकवादी बौद्धों का खण्डन कर आत्मा को नित्य सिद्ध करते हुए स्मृति को हेतु बनाया गया है, वात्स्यायन कहते हैं कि निरात्मक क्षणिक विज्ञानधारा मात्र को आत्मा मानने पर एक ही ज्ञाता के द्वारा अनुभव और स्मरण की सिद्धि नहीं होती। अतः नित्य आत्मा मानना आवश्यक है।<sup>४३</sup> इस प्रकार आत्मा की नित्यता सिद्ध करने हेतु नैयायिकों ने स्मृति को साधकतम हेतु के रूप में प्रयुक्त किया है।

जयन्तभट्ट ने स्मृति को अर्थजन्य नहीं होने के कारण अप्रमाण माना है। उनके अनुसार स्मृति गृहीतग्राही ज्ञान होने से अप्रमाण नहीं है, अपितु पदार्थ से उत्पन्न नहीं होने के कारण अप्रमाण है।<sup>४४</sup> यह उल्लेखनीय है कि नैयायिकों ने धारावाहिक ज्ञान को गृहीतग्राही होने पर भी प्रमाण माना है तथा मीमांसकों के अनधिगतार्थग्राही प्रमाण-लक्षण का खण्डन किया है। वाचस्पतिमिश्र ने न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका में स्मृति को प्रमा नहीं माना है, क्योंकि वे शब्द एवं अर्थ के सम्बन्ध को लोकाधीन मानते हैं।<sup>४५</sup> उदयनाचार्य का मत है कि महर्षियों और अभियुक्तों ने स्मृतिज्ञान के लिए प्रमाण शब्द का प्रयोग नहीं किया है, इसलिए स्मृतिज्ञान अप्रमाण है।

### बौद्धमत में स्मृति का अप्रामाण्य

स्मृति को प्रमाण न मानने का सबसे प्रबल पक्ष बौद्ध दार्शनिकों का है। बौद्ध दार्शनिक स्मृति को अग्राङ्कित कारणों से प्रमाण नहीं मानते हैं - (१) स्मृति प्रत्यक्षादि द्वारा गृहीत अर्थ का ज्ञान करती है। गृहीत अर्थ का ज्ञान करने से उसका कोई प्रमाण व्यापार नहीं होता। (२) स्मृतिज्ञान अर्थ से उत्पन्न नहीं होता। जो ज्ञान अर्थ से उत्पन्न होता है वही अर्थ का अव्यभिचरित ज्ञान करने से प्रमाण होता है। (३) स्मृति को प्रमाण मानने पर इच्छा, द्वेष आदि को भी प्रमाण मानना होगा फलतः अव्यवस्था होगी (४) स्मृतिज्ञान विसंवादक है। (५) स्मृतिज्ञान अर्थ से उत्पन्न नहीं होने के कारण अर्थाकार भी नहीं होता। इसलिए भी वह अप्रमाण है।

४१. प्रमिते च प्रवृत्तत्वात् स्मृतेर्नास्ति प्रमाणता।

परिच्छेदफलत्वाद्भिः प्रामाण्यमुपजायते ॥ श्लोकवार्तिक, शब्दपरिच्छेद, १०४, पृ. ३०६

४२. अत एव न प्रमाणं तस्याः पूर्वानुभवविषयत्वोपदर्शनार्थं निश्चिन्वत्या अर्थपरिच्छेदे पूर्वानुभवपरतन्त्र्यात्।

— न्यायकन्दली, पृ. ६२७

४३. न्यायसूत्र (वात्स्यायनशाब्ध), ३.२.३९

४४. न स्मृतेरप्रमाणत्वं गृहीतग्राहिताकृतम्।

अपित्वनर्धजन्यत्वं तदप्रामाण्यकारणम् ॥— न्यायपञ्जरी, पृ. २१ (काशी संस्कृत ग्रन्थमाला)

४५. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, पृ. २१

दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय में स्मृतिज्ञान को अनवस्थादोष के कारण प्रमाण नहीं माना गया। दिङ्नाग का तर्क है कि यदि सभी ज्ञानों का प्रामाण्य स्वीकार किया जाय तो इच्छा, द्वेष आदि को भी प्रमाण मानना होगा इससे प्रमाण की अनवस्था आ जाती है।<sup>४६</sup> वैसे दिङ्नाग के मत में अज्ञात अर्थ के ज्ञापक ज्ञान को प्रमाण माना गया है, इसलिए भी स्मृति उनके मत में प्रमाण नहीं उठरती है, क्योंकि स्मृति ज्ञात अर्थ को ही जानती है। धर्मकीर्ति को भी स्मृति का प्रामाण्य अभीष्ट नहीं है, क्योंकि स्मृति अतीत अर्थ में प्रवृत्त होती है, अगृहीत अर्थ में नहीं।<sup>४७</sup> स्मृति के प्रामाण्य का एक कारण वे यह देते हैं कि स्मृति अर्थ से उत्पन्न नहीं होती, वह तो अनुभव से उत्पन्न होती है।<sup>४८</sup> अर्थ से उत्पन्न नहीं होने के कारण वह अर्थाकार भी नहीं होती।<sup>४९</sup> प्रमाणज्ञान अर्थाकार होता है। बौद्धों के अनुसार प्रमाण का एक लक्षण अर्थसारूप्य है। स्मृति में अर्थसरूपता नहीं होने के कारण स्मृति प्रमाण नहीं होती। स्मृति में अर्थाकारता के अभाव में अविस्वादाकता भी सिद्ध नहीं होती, इसलिए धर्मकीर्ति के मत में भी स्मृति अप्रमाण है। ज्ञानरक्षित, कमलशील आदि आचार्यों ने भी गृहीतप्राही आदि हेतुओं से स्मृति को अप्रमाण माना है।<sup>५०</sup>

## जैनों द्वारा स्मृति-प्रमाण का प्रतिष्ठापन

जैनदार्शनिक अकलङ्क एवं उनके अनन्तर किञ्चानन्द, प्रभाचन्द्र एवं वादिदेवसूरि ने स्मृति ज्ञान को पृथक् प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

### भट्ट अकलङ्क द्वारा स्मृति-प्रमाण का स्थापन

भट्ट अकलङ्क ने स्मृति को पृथक् प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए अनेक तर्क उपस्थापित किये हैं।

(१) अविस्वादी ज्ञान होने से—स्मृति प्रमाण है क्योंकि वह अविस्वादी ज्ञान है।<sup>५१</sup> प्रत्यक्ष भी अविस्वादी होने से प्रमाण है, अर्थाकार होने से नहीं। यदि प्रत्यक्ष को अर्थाकार होने से प्रमाण माना जायेगा तो व्यवस्था नहीं बन सकेगी, क्योंकि प्रत्यक्ष का ग्राह्य एवं प्राप्य अर्थ भिन्न होता है।<sup>५२</sup> उसके द्वारा अर्थक्रिया में विस्वादा उत्पन्न नहीं होता, इसलिए प्रत्यक्ष को प्रमाण कहा जाता है।<sup>५३</sup> स्मृति के द्वारा भी अर्थक्रिया में विस्वादा उत्पन्न नहीं होता, अतः उसे भी प्रत्यक्ष की भांति प्रमाण

४६. यदि सर्वेषां ज्ञानानां प्रमाणत्वमिष्यते प्रमाणानवस्था प्रसज्यते ।—प्रमाणसमुच्चय, वृत्ति, पृ. ११

४७. द्रष्टव्य, यही अध्याय, पादटिप्पण, ३८

४८. नार्थाद् भावस्तदाभावात् ।— प्रमाणवार्तिक, २.३७५

४९. स चार्थाकाररहितः सेदानीं तद्वती कथम् ।— प्रमाणवार्तिक, २.३७४

५०. यद् गृहीतप्राहि ज्ञानं न तत्प्रमाणम्, यथा स्मृतिः ।—तत्त्वसङ्ग्रहपञ्जिका, १.२९७ पृ. ४७४-७५

५१. प्रमाणमविस्वादात् ।— सिद्धिविनिश्चय, ३.२

५२. (१) प्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्यमविस्वादात् न पुनर्थाकारानुकारितया अतिप्रसंगात् ।— सिद्धिविनिश्चयवृत्ति, ३.२, पृ. १७५

(२) प्रमाणमर्थसंवादात् प्रत्यक्षान्वयिनी स्मृतिः ।— प्रमाणसंग्रह, का १०, अकलङ्कग्रन्थत्रय, पृ. ९९

५३. अर्थक्रियानुरोधेन प्रमाणत्वं व्यवस्थितम् ।— प्रमाणवार्तिक, २.५८



मानना चाहिए।<sup>५४</sup> जब स्मृति विसंवादयुक्त होती है तो वह अप्रमाण या प्रमाणाभास कही जाती है।<sup>५५</sup>

(२) कथञ्चित् अगृहीतग्राही होने से - प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत विषय का ग्राही होने से यदि स्मृति को अप्रमाण कहा जाता है, तो यह उचित नहीं है, क्योंकि स्मृति को प्रमाण मानने का प्रत्यक्ष से भिन्न प्रयोजन है।<sup>५६</sup> प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञात अर्थ के सदृश आकार एवं भेद विशेषों की उत्तरोत्तर पर्यायविशेष की अर्थक्रिया को सिद्ध करने की अभिलाषा होने पर स्मृति का प्रामाण्य अविरोध रहता है।<sup>५७</sup> स्मृति के द्वारा भी प्रत्यक्ष की भांति अज्ञात का निवारण होता है तथा अपने विषय में प्रवृत्ति होती है।<sup>५८</sup> इसलिए स्मृति प्रमाण है। दूसरी बात यह है कि स्मृति में कालादि के भेद से ज्ञान अगृहीत ग्राही ही रहता है, अन्यथा अनधिगत अर्थ की अधिगति रूप प्रत्यक्ष की प्रमाणता भी नहीं मानी जा सकती।<sup>५९</sup>

(३) स्मृति के बिना व्याप्तिज्ञान नहीं होने से - अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति कब होती है? यदि लिङ्ग एवं लिङ्गी की समस्त क्षेत्र एवं काल में व्याप्ति जानने के पश्चात् अनुमेय का ज्ञान करने के लिए अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति होती है तो यह व्याप्तिज्ञान स्मृति के बिना असिद्ध है।<sup>६०</sup> 'जितना भी कोई धूमवान् प्रदेश है वह सब अग्निमान् है' यह व्याप्ति सिद्ध नहीं होने पर अनुमेय अर्थ का ज्ञान होना शक्य नहीं है। यदि व्याप्तिज्ञान के सिद्ध हुए बिना ही अनुमान हो जाता है तो वह स्मृत्यन्तर से भिन्न नहीं है। इसलिए लिङ्ग एवं लिङ्गी ज्ञान के प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य की व्यवस्था स्मृति के बिना भंग हो जाती है। स्वयं अनुभव किये बिना साकल्य से व्याप्ति नहीं हो सकती। यदि देशादि से रहित सामान्य धूमादि को विषय करने वाली व्याप्ति से पर्वतादि विशिष्ट अग्नि आदि का ज्ञान हो जाता है तो फिर पूर्व अनुभूत स्मृति से भी उस प्रकार की व्याप्ति हो जाती है।<sup>६१</sup>

(४) अज्ञान की निवृत्ति करने एवं (५) विषय में प्रवर्तक होने से भी अकलङ्क के मत में स्मृति प्रमाण है। षट् अकलङ्क कहते हैं कि स्मृति प्रमाण है तथा उसका फल प्रत्यभिज्ञा है। बिना स्मृति के प्रत्यभिज्ञा रूप फल नहीं हो सकता। अकलङ्क के मत में स्मृति का प्रामाण्य स्मृतिज्ञान से ही हो जाता है।<sup>६२</sup>

५४. न हि तथाऽर्थ परिच्छिद्य अर्थक्रियायां विसंवाद्यते ।— सिद्धिविनिश्चयवृत्ति, १.९, पृ. ३८

५५. मिथ्या तद्विपर्ययात् ।— सिद्धिविनिश्चय, ३.२

५६. गृहीतग्रहणान्नो चेन्न प्रयोजनभेदतः ।—सिद्धिविनिश्चय, ३.२

५७. क्वचित् सदृशकारभेदविशेषाणामुत्तरोत्तरपर्यायविशेषसाध्यार्थक्रियावाञ्छयां तथैव प्रामाण्यविरोधात् ।—सिद्धिविनिश्चयवृत्ति, ३.२ पृ. १७५

५८. अनन्तवीर्य, सिद्धिविनिश्चयटीका, पृ. १७६

५९. अन्यथा कालादिभेदेन अनधिगतार्थाधिगतेरपि प्रमाणतानप्युपगमात् ।— सिद्धिविनिश्चयवृत्ति, ३.२ पृ. १७५

६०. साकल्येनादितो व्याप्तिः पूर्वं चेत्सिद्धलिङ्गिणोः ।

अनुमेयस्मृतिः सिद्धा न प्रमाणं विशेषवत् ॥—सिद्धिविनिश्चय, ३.३

६१. यावान् कश्चिद् धूमवान् प्रदेशः स सर्वोऽपि अग्निमानिति व्याप्तावसिद्धायामनुमेयप्रतिपत्त्यनुपपत्तेः । सिद्धौ एवमनुमानं स्मृत्यन्तरान् विशेष्येत् । ततो लिङ्गलिङ्गिज्ञानयोः प्रमाणेतरव्यवस्था व्यतिकीर्येत । स्वयमनुभूताद् व्यतिरेके पुनरनवयवेन व्याप्तिसिद्धेऽयोगात् । सामान्यविषया व्याप्तिस्तद्विशिष्टानुमितेः इति चेत्; पूर्वानुभूतस्मृतेरपि तथाविधविशेषानिराकरणत् यत्किञ्चिदेतत् ।— सिद्धिविनिश्चयवृत्ति, ३.३, पृ. १७७

६२. प्रत्यभिज्ञा फलं तस्याः प्रामाण्यं प्रतिपत्तितः ।—प्रमाणसंग्रह, १०

इस प्रकार भट्ट अकलङ्क अर्थक्रिया में अविश्ववादक होने से, काल विशेष की दृष्टि से अनधिगतप्राही होने से तथा अनुमानप्रमाण की प्रवृत्ति में लिङ्ग-लिङ्गी ज्ञान का ग्राहक होने से स्मृतिज्ञान को प्रमाण मानते हैं।

### विद्यानन्द के द्वारा स्मृति-प्रमाण की स्थापना

(१) स्मृति के अभाव में प्रमाण-प्रमेय शून्यता - विद्यानन्द स्मृति को प्रमाण रूप में प्रतिष्ठित करते हुए कहते हैं कि स्मृति को अप्रमाण मानने पर प्रत्यभिज्ञान की प्रमाणता शक्य नहीं है। प्रत्यभिज्ञान के अप्रमाण होने पर तर्क की व्यवस्था नहीं होती। तर्क के प्रतिष्ठित नहीं होने पर अनुमान की प्रवृत्ति अशक्य है। अनुमान के प्रवृत्त नहीं होने पर प्रत्यक्ष का प्रामाण्य अवस्थित नहीं रहता है। इस प्रकार समस्त प्रमाणों के शून्य होने पर प्रमेय भी शून्य हो जाता है। अर्थात् स्मृति को अप्रमाण मानने पर समस्त प्रमाणों एवं प्रमेयों के अभाव का प्रसंग आता है, किन्तु यह शून्यवाद भी बिना प्रमाण के सिद्ध नहीं होता। अतः स्मृति को प्रमाण मानना चाहिए।<sup>६३</sup>

(२) स्मृति भी विशिष्ट ज्ञानयुक्त - विद्यानन्द कहते हैं कि यदि गृहीतप्राही होने से स्मृति में प्रामाण्य नहीं माना जाता है तो धारावाही इन्द्रियज्ञान में भी प्रामाण्य संभव नहीं है। यदि धारावाही इन्द्रियप्रत्यक्ष में भी बौद्धों ने विशिष्ट उपयोग के अभाव में प्रमाणता नहीं मानी है तो जैन भी विशिष्ट उपयोग (ज्ञान) के अभाव में स्मरण को प्रमाण नहीं मानते हैं। वस्तुतः स्मरण के द्वारा भी प्रत्यक्ष की भांति विशिष्ट अर्थ की ज्ञप्ति होती है, अतः उसका भी प्रामाण्य सिद्ध है। स्मरण के द्वारा स्व और अर्थ का ज्ञान होने पर प्रवृत्ति में कोई बाधा नहीं देखी जाती है, जिससे विचारशील लोगों की स्मृति से प्रवृत्ति का निवारण किया जाय। अतः विचारशीलों को उसका प्रामाण्य अंगीकार करना चाहिए।<sup>६४</sup>

(३) प्रत्यक्ष पूर्वक होने से स्मृति अप्रमाण नहीं होती - स्मरण प्रत्यक्षपूर्वक होता है, इसलिए उसे अप्रमाण कहा जाता है तो भी उपयुक्त नहीं है, क्योंकि अनुमान भी प्रत्यक्षपूर्वक होता है, तथापि अनुमान का प्रामाण्य बौद्धों को इष्ट है। स्मरण को प्रत्यक्षपूर्वक होने के कारण अप्रमाण मानने पर तो अनुमान को भी प्रमाण मानना शक्य नहीं है<sup>६५</sup> अतः उस स्थिति में चार्वाक की भांति बौद्धों को भी

६३. स्मृतेः प्रमाणताऽपाये संज्ञायाः न प्रमाणता ।

तदप्रमाणतायां तु चिन्ता न व्यवतिष्ठते ।

तदप्रतिष्ठितौ क्वानुमानं नाम प्रवर्तते ।

तदप्रवर्तनेऽध्यक्षप्रामाण्यं नावतिष्ठते ॥

ततः प्रमाणशून्यत्वात्प्रमेयस्यापि शून्यता ।—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१३. ९-११.

६४. गृहीतग्रहणात्तत्र न स्मृतेः श्रेयत्वप्रमाणता ।

धारवाहाद्यक्षविज्ञानस्यैवं लभ्येत केन सा ॥

विशिष्टस्योपयोगस्या भावे सापि न चेन्मता ॥

तद्भावे स्मरणोऽप्यक्षज्ञानवन्मानताऽस्तु नः ॥

स्मृत्या स्वार्थं परिच्छिद्य प्रवृत्तौ न च बाध्यते ।

येन प्रेक्षावतां तस्याः प्रवृत्तिर्विनिवार्यते ॥—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १.१३.१५-१७

६५. व्यवहारप्रवृत्तेर्हेतोः प्रत्यक्षमूलस्मरणस्यापि प्रमाणतां प्रत्याचक्षीत सोऽनुमानमपि प्रत्यक्षात्पृथक् प्रमाणं मामन्तस्तस्य प्रत्यक्षमूलत्वात् ।—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१३.१८ वृत्ति, पृ. २०७

एक ही प्रमाण मानना चाहिए ।

स्व एवं अर्थ का प्रकाशक होने से यदि अनुमान को प्रमाण कहा जाता है तो स्मृति भी स्व एवं अर्थ की प्रकाशक होती है, अतः उसे भी प्रमाण मानना चाहिए । अभिलाप आदि स्व एवं अर्थ के प्रकाशक नहीं होते हैं अतः उनका प्रामाण्य जैनों को भी अभीष्ट नहीं है ।<sup>६६</sup>

(४) स्मृति भी समारोप की व्यवच्छेदक होती है - समारोप का व्यवच्छेद करने के कारण यदि अनुमान प्रमाण है तो स्मृति भी समारोप का व्यवच्छेद करती है अतः उसे भी प्रमाण मानना चाहिए ।<sup>६७</sup> संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय को जैन दार्शनिक समारोप कहते हैं । अनुमान-प्रमाण जिस प्रकार इस समारोप से रहित होता है उसी प्रकार स्मृतिज्ञान भी इससे रहित होने के कारण प्रमाण है । स्मृतिज्ञान लिङ्ग से उत्पन्न ज्ञान नहीं है अर्थात् अनुमान से भिन्न ज्ञान है, क्योंकि यह लिङ्ग ज्ञान के अभाव में भी हो सकता है, साध्य एवं साधन के व्याप्ति-सम्बन्ध की स्मृति के समान । यदि व्याप्ति सम्बन्ध की स्मृति को लिङ्गजन्य अनुमान-प्रमाण मानेंगे तो उस अनुमान-प्रमाण के लिए अन्य अनुमान की आवश्यकता होगी और इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायेगा ।<sup>६८</sup>

(५) स्मृति से साध्य एवं साधन में अविनाभाव - विद्यानन्द कहते हैं कि स्मृति को प्रमाण माने बिना साध्य एवं साधन में अविनाभाव सम्बन्ध सिद्ध नहीं किया जा सकता । यदि अप्रमाणभूत स्मृति से साध्य एवं साधन में अविनाभाव सम्बन्ध मानते हैं तो समस्त प्रमेय पदार्थों का निर्णय करने के लिए प्रमाणज्ञान निरर्थक हो जाता है ।<sup>६९</sup> क्योंकि अप्रमाण से प्रमेय के सिद्ध होने पर प्रमाण की उपयोगिता नहीं रहती । अप्रमाण से यदि व्याप्तिज्ञान आदि कुछ प्रमेय सिद्ध हो जाते हैं तथा कुछ नहीं, तो अर्धजरतीन्याय ठीक नहीं है ।

यदि स्मृति के समय अर्थ (पदार्थ) विद्यमान नहीं रहने से स्मृति अप्रमाण है तो यह भी मानना समीचीन नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष-प्रमाण में भी जिस स्वलक्षण का प्रत्यक्ष होता है वह प्राप्त नहीं होता । अतः उसे भी स्मृति के समान अप्रमाण मानने का प्रसंग आता है ।<sup>७०</sup>

यदि स्मृति ज्ञान अर्थ से उत्पन्न नहीं होता है इसलिए अप्रमाण है तो प्रत्यक्ष भी अर्थ से उत्पन्न नहीं होता है । अर्थ स्वलक्षण के समाप्त होने पर प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न होता है अतः वह भी अर्थ से

६६. स्वार्थप्रकाशकत्वेन प्रमाणमनुमा यदि ।

स्मृतिरस्तु तथा नाभिलाषादिस्तदभावतः ॥—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१३.२०

६७. समारोपव्यवच्छेदसमः स्मृत्यनुमानतः ।

स्वार्थे प्रमाणता तेन नैकत्रापि निवार्यते ॥— तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१३.२१

६८. स्मृतिर्न लैङ्गिकं लिङ्गज्ञानाभावेपि भावतः ।

सम्बन्धस्मृतिवन्न स्यादनवस्थानमन्यथा ॥— तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१३.२२

६९. नाप्रमाणात्मनो स्मृत्या सम्बन्धः सिद्धिमुच्छति ।

प्रमाणानर्थकत्वस्य प्रसंगात्सर्ववस्तुनि ॥—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१३.२४

७०. स्मृतिस्तदिति विज्ञानमर्थातीते भवत्कथम् ।

स्यादर्धवदिति स्वेष्टं याति बौद्धस्य लक्ष्यते ॥—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१३.२५

उत्पन्न नहीं कहा जा सकता।<sup>७१</sup> जैन दार्शनिकों ने बौद्धों की अर्थाकारता का प्रबल खण्डन किया है। इसकी चर्चा षष्ठ अध्याय में की गयी है।

इस प्रकार विद्यानन्द स्मृति ज्ञान में प्रमाण की समस्त विशेषताओं का आपादन कर उसे लोक व्यवहार के लिए उपयोगी, कथञ्चित् अगृहीतग्राही, स्व एवं अर्थ का प्रकाशक, समारोप का व्यवच्छेदक, व्याप्तिज्ञान की ग्राहकता में प्रमाणभूत एवं अविसंवादक प्रतिपादित करते हैं।

### प्रभाचन्द्र के द्वारा स्मृति-प्रमाण का स्थापन

प्रभाचन्द्र ने स्मृति के प्रामाण्य का प्रतिष्ठापन करने से पूर्व स्मृति को प्रमाण न मानने वाले बौद्धादि के मत को पूर्वपक्ष में रखा है एवं तदनन्तर उसका निरसन किया है।

**पूर्वपक्ष**—स्मृति में अविसंवाद मानना अनुपपन्न है। 'स्मृति' शब्द का वाच्यार्थ ज्ञाता होता है, या ज्ञान ? ज्ञाता होना युक्त नहीं है क्योंकि पूर्वोत्तर ज्ञान के बिना किसी का ज्ञाता होना संभव नहीं है। यदि स्मृति का वाच्यार्थ ज्ञान है तो ज्ञानमात्र उसका वाच्यार्थ है या अनुभूतविषयक ज्ञान ? प्रथम विकल्प के अनुसार तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों को भी स्मृति मानना होगा, क्योंकि वे भी ज्ञानरूप हैं। यदि अनुभूत अर्थ में होने वाले ज्ञान को स्मृति कहा जाता है, तो अनुभूत अर्थ में ज्ञान हुआ यह कैसे प्रतीत होता है ? प्रत्यक्ष से, स्मृति से अथवा दोनों से ? प्रत्यक्ष से तो यह ज्ञात नहीं होता, क्योंकि तब स्मृति नहीं रहती है। असत् स्मृति को प्रत्यक्ष विषय नहीं करता। यथा खरविषाण असत् होने से प्रत्यक्ष द्वारा नहीं जाने जाते। इसी प्रकार स्मृति भी प्रत्यक्षकाल में असत् होने से प्रत्यक्ष द्वारा जानी नहीं जा सकती। प्रत्यक्ष द्वारा स्मृतिज्ञान न होने से यह नहीं कहा जा सकता कि प्रत्यक्ष अनुभूत पदार्थ की स्मृति को जानता है। स्मृति से भी उसका ज्ञान नहीं होता, क्योंकि स्मृति प्रत्यक्ष एवं उसके अर्थ को विषय नहीं करती। स्मृति के द्वारा यह ज्ञान नहीं होता कि "मैं अनुभूत अर्थ में उत्पन्न हुई हूँ।" यदि अनुभूतता प्रत्यक्षगम्य होती तो स्मृति भी यह जान सकती थी कि मैं अनुभूत अर्थ में उत्पन्न हुई हूँ, किन्तु प्रत्यक्ष का विषय अनुभूतता नहीं अनुभूयमानता है। प्रत्यक्ष एवं स्मृति दोनों से भी स्मृतज्ञान को नहीं जाना जा सकता, क्योंकि इनमें पृथक् रूपेण जो दोष आते हैं वे इन दोनों के मिलने पर भी आते हैं। अतः स्मृति की स्वरूपतः व्यवस्था नहीं है।

स्मृति का विषय क्या है ? अर्थमात्र उसका विषय है या अनुभूतता से विशिष्ट अर्थ उसका विषय है ? अर्थमात्र उसका विषय नहीं हो सकता, क्योंकि तब समस्त प्रमाण स्मृतिरूप हो जायेंगे। अनुभूतता से विशिष्ट पदार्थ भी उसका विषय नहीं हो सकता, क्योंकि तब देवदत्त के द्वारा अनुभूत पदार्थ में यज्ञदत्त के ज्ञान एवं धारावाही प्रत्यक्ष को स्मृति मानना होगा। अनुभूत अर्थ के विषय में भी स्मृति प्रमाण नहीं है, क्योंकि उसका विषय विद्यमान नहीं रहता है। जिसका विषय विद्यमान नहीं होता, उसे

७१. नार्थाज्जन्मोपपद्येत प्रत्यक्षस्य स्मृतेरिव ।

तद्वत्स एव तद्भावादन्वया न क्षणक्षयः ॥— तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१३.२७

प्रमाण नहीं कहा जा सकता, यथा आकाश में केशपाश का ज्ञान ।

अर्थक्रियार्थी पुरुषों के लिए जो अर्थक्रिया में समर्थ अर्थ का प्रापक होता है वह प्रमाण है ।<sup>७२</sup> स्मृति असत् अर्थ को विषय करती है, इसलिए वह अर्थप्रापक नहीं हो सकती । अर्थप्रापक नहीं होने से स्मृति को प्रमाण नहीं कहा जा सकता ।<sup>७३</sup>

**उत्तरपक्ष** - प्रभाचन्द्र प्रत्युत्तर देते हुए प्रतिपादित करते हैं कि स्मृति का वाच्य ज्ञान है, ज्ञाता नहीं । वह ज्ञानमात्र का भी द्योतक नहीं है, जिससे समस्तज्ञानों को स्मृति कहने का दोष आ सके । स्मृति ज्ञानविशेष का द्योतक है जो संस्कार विशेष से उत्पन्न होता है तथा 'तत्' (वह) इस आकार में अनुभूत अर्थ को विषय करता है । वह कारण, स्वरूप एवं विषय के भेद से प्रत्यक्षादि अन्य ज्ञानों से भिन्न है । प्रत्यक्षादि ज्ञानों का कारण जहां चक्षु आदि इन्द्रिया हैं वहां स्मृति का कारण पटुतर संस्कार है । प्रत्यक्षादि ज्ञानों का उल्लेख 'इदम्' (यह) आदि शब्दों द्वारा किया जाता है वहां स्मृति का उल्लेख 'तत्' (वह) शब्द द्वारा होता है । विषय भी दोनों का भिन्न है । प्रत्यक्ष का विषय वर्तमान पदार्थ होता है जबकि स्मृति का विषय पूर्व में अनुभूत अर्थ होता है । इस प्रकार स्मृति ज्ञान कारण, स्वरूप एवं विषय में प्रत्यक्षादि ज्ञानों से भिन्न है ।<sup>७४</sup>

"अनुभूत पदार्थ की स्मृति होती है, ऐसा न प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है, न स्मृति से और न इन दोनों से," बौद्धों का यह कथन असमीचीन है, क्योंकि त्रिकालानुयायी प्रमाता के द्वारा उसकी प्रतीति की जा सकती है । त्रिकालानुयायी प्रमाता को प्रभाचन्द्र ने अन्यत्र सिद्ध किया है । वे कहते हैं तीनों कालों का प्रमाता स्मृति की सहायता से पदार्थ की अनुभूतता को जानता है तथा प्रत्यक्ष की सहायता से अनुभूयमानता को जानता है, अतः उसके द्वारा दोनों को पृथक् रूपेण जानने में कोई बाधा नहीं आती है ।<sup>७५</sup> प्रभाचन्द्र ने अन्यत्र मतिज्ञान की अपेक्षा से स्मृति एवं प्रत्यक्ष के द्वारा अनुभूत एवं अनुभूयमान पदार्थों के ज्ञान का एक ही आत्मा में होना स्वीकार किया है तथा उसके लिए उदाहरण दिया है- जिस प्रकार बौद्धों के यहां चित्राकार एवं चित्रज्ञान दोनों का एक विज्ञान में युगपद् होना स्वीकार किया गया है, उसी प्रकार जैनमत में भी एक आत्मा में क्रम से अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति आदि का होना अभीष्ट है ।<sup>७६</sup>

प्रभाचन्द्र एवं वादिदेवसूरि ने स्मृति ज्ञान को विविध प्रकार से प्रमाण सिद्ध किया है तथा बौद्धों की ओर से उसके अप्रामाण्य की आशंकाएं खड़ी कर उनका निवारण किया है । वे बौद्धों से प्रश्न करते हैं कि आप स्मृति को किस कारण से अप्रमाण मानते हैं ? (१) गृहीतप्राही होने के कारण (२) परिच्छिन्ति विशेष का अभाव होने से (३) अविद्यमान (असत्) एवं अतीत अर्थ में प्रवर्तक होने से (४)

७२. तुलनीय- ततोऽर्थक्रियासमर्थवस्तुप्रदर्शकं सम्यग्ज्ञानम् ।- न्यायबिन्दुटीका, १.१, पृ. १६

७३. न्यायकुमुदचन्द्र, भाग-२, पृ. ४०५-४०६ एवं प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-२, पृ. २७७

७४. न्यायकुमुदचन्द्र, भाग-२, पृ. ४०६-७

७५. न्यायकुमुदचन्द्र, भाग-२, पृ. ४०७

७६. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-२, पृ. २७८

अर्थ में उत्पन्न नहीं होने के कारण, (५) विसंवादक होने से (६) समारोप का व्यवच्छेदक नहीं होने के कारण अथवा (७) प्रयोजन का साधन नहीं होने से ?<sup>७७</sup>

इन समस्त आशंकाओं का प्रभाचन्द्र ने क्रमशः निराकरण कर स्मृति का प्रामाण्य प्रतिष्ठित किया है।<sup>७८</sup>

१- गृहीत अर्थ के अधिगम मात्र से स्मृति को अप्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनुमान के द्वारा गृहीत अग्नि का उत्तरकाल में प्रत्यक्ष होने पर उसे भी अप्रमाण नहीं माना जाता। यदि अधिगत अर्थ का अधिगम करने पर भी प्रत्यक्ष के द्वारा अपूर्व अर्थांश का ज्ञान होना संभव है, अतः वह प्रमाण है, तो स्मृति को भी इस आधार पर अप्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह भी वर्तमानकाल में ज्ञात अर्थ का अतीतकाल के रूप में ज्ञान कराने से अपूर्व अर्थांश का ज्ञान कराती है। अतः वह भी प्रमाण है। संक्षेप में कहें तो स्मृति प्रमाण है, क्योंकि प्रमाणान्तर से ज्ञात अर्थ का भी वह किसी अंश से अपूर्व अर्थ के रूप में ज्ञान कराती है। वादिदेवसूरि ने गृहीतग्राही स्मृति ज्ञान को भी स्वपर व्यवसायी एवं अविसंवादक होने से प्रमाण माना है।<sup>७९</sup>

२- परिच्छित्तिविशेष के अभाव से भी स्मृति को अप्रमाण कहना उचित नहीं है, क्योंकि कहीं रखी हुई वस्तु, विचारित वस्तु एवं अधीत वस्तु आदि का ज्ञान स्मरण से ही होता है, अन्य किसी ज्ञान से नहीं, अतः उसमें परिच्छित्ति विशेष का अभाव नहीं है।

३- अविद्यमान अतीत अर्थ में प्रवर्तक होने से स्मृति अप्रमाण है, यह भी मान्यता असंगत है। अतीत अर्थ की स्वकाल में अविद्यमानता होती है या स्मृतिकाल में? स्वकाल में तो उसकी अविद्यमानता होती नहीं है, क्योंकि तब वह विद्यमान रहता है। स्मृतिकाल में स्मृति के ग्राह्य अर्थ की असत्ता, अप्रमाणता का अंग नहीं है, क्योंकि उस स्थिति में बौद्ध मत में प्रत्यक्ष के भी अप्रामाण्य का प्रसंग आता है। प्रत्यक्ष के ग्राह्यविषय की भी प्रत्यक्षज्ञान काल में सत्ता नहीं रहती, क्योंकि बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष का ग्राह्य क्षण भिन्न एवं प्राप्यक्षण भिन्न माना गया है।<sup>८०</sup>

४- अर्थ से उत्पन्न नहीं होने के कारण भी स्मृति को अप्रमाण कहना अयुक्त है, क्योंकि हम (जैन) प्रत्यक्ष का भी अर्थ से उत्पन्न होना स्वीकार नहीं करते हैं। जैन मत में ज्ञान की उत्पत्ति में अर्थ

७७. न्यायकुमुदचन्द्र, भाग-२, पृ. ४०७-४०८

७८. वादिदेवसूरि ने भी स्याद्वादरत्नाकर में इन समस्त आशंकाओं को उठाकर निराकरण किया है। द्रष्टव्य, स्याद्वादरत्नाकर, पृ. ४८६-४८८

७९. गृहीतार्थग्राहित्वेनापि ज्ञानस्य प्रामाण्यम् ।— स्याद्वादरत्नाकर, पृ. ४८७, ४

८०. इस प्रसंग में प्रभाचन्द्र ने धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक का एक श्लोक उद्धृत किया है, यथा-

भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः ।

हेतुत्वमेव युक्तिज्ञास्तदाकारार्पणक्षमम् ॥—

उद्धृत, न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. ४०९, प्रमाणवार्तिक, २. २४७

कारण नहीं होता है।<sup>८१</sup>

५- स्मरण का विसंवादक होना भी असिद्ध है, क्योंकि वह अपने ज्ञात अर्थ में अविसंवादक होता है। गृहीत अर्थ की प्राप्ति होना अथवा प्रमाणान्तर में प्रवृत्ति होना अविसंवादकता है। यह दोनों प्रकार की अविसंवादकता स्मृति से प्रतिपन्न स्वयंधारण किये गये द्रव्यादि अर्थों में होती ही है। जिस स्मृति में विसंवाद होता है वह स्मृत्याभास कहलाता है, तथा जिस स्मृति में अविसंवाद होता है वह प्रमाण होता है।

६- स्मृति को समारोप का अव्यवच्छेदक भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्मृति के द्वारा गृहीत पदार्थ में विपरीत आरोप का प्रवेश नहीं होता। फलतः स्मृति समारोप की व्यवच्छेदक होती है। जो समारोप का व्यवच्छेदक होता है वह प्रमाण होता है, यथा अनुमान। स्मृति भी समारोप की व्यवच्छेदक होने से प्रमाण है। प्रभाचन्द्र ने इस सन्दर्भ में प्रमेयकमलमार्तण्ड में प्रतिपादित किया है कि साध्य एवं साधन के नियत सम्बन्ध का स्मरण करने के लिए ही अनुमान काल में दृष्टान्त का कथन किया जाता है। बौद्ध परार्थानुमान में दृष्टान्त का कथन करना अभीष्ट मानते हैं। दृष्टान्त का कथन नहीं किये जाने पर उन्हें साध्य-साधन के सम्बन्ध में विस्मरण, संशय एवं विपर्ययरूप समारोप की आशंका रहती है। अतः उस समारोप का व्यवच्छेद करने के लिए वे दृष्टान्त का कथन करते हैं। दृष्टान्त का कथन स्मृति के बिना नहीं होता। अतः इस प्रकार समारोप की व्यवच्छेदक होने से स्मृति प्रमाण है।<sup>८२</sup>

७- स्मृति प्रयोजन की भी साधक है। अतः उसे प्रयोजन का असाधक मानकर अप्रमाण कहना युक्त नहीं है। अनुमान में प्रवृत्ति कराना रूप साध्य ही स्मृति का प्रयोजन है। अनुमान साध्य से प्रतिबद्ध हेतु से प्रवृत्त होता है। साध्य से हेतु का प्रतिबन्ध, सत्तामात्र से अनुमान की प्रवृत्ति का अंग होता है, या ज्ञात होकर, अथवा स्मृति के द्वारा अंगीकृत होकर? प्रथम पक्ष में नालिकेर द्वीप से आये हुए पुरुष को जिसे अग्नि एवं धूम का अविनाभाव सम्बन्ध ज्ञात नहीं है, उसे धूमदर्शन से अग्नि की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती। द्वितीयपक्ष में बाल्यावस्था में ज्ञात अग्नि एवं धूम सम्बन्ध के वृद्धावस्था में विस्मृत हो जाने पर भी धूम दर्शन से अग्नि का ज्ञान हो जाना चाहिए, किन्तु धूम एवं अग्नि का सम्बन्ध विस्मृत हो जाने से धूम दिखाई देने पर भी अग्नि का ज्ञान नहीं हो सकता। तृतीय पक्ष में तो स्मृति की प्रमाणता का निषेध नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह अनुमान की प्रवृत्ति का अंग है। जो ज्ञान अनुमान की प्रवृत्ति का अंग है वह प्रमाण है यथा प्रत्यक्ष। स्मरण भी अनुमान की प्रवृत्ति का अंग है, अतः वह भी प्रमाण है।<sup>८३</sup>

इस प्रकार प्रभाचन्द्र ने अकलङ्क एवं विद्यानन्द की भाँति स्मृतिज्ञान को अविसंवादक, समारोप

८१. ज्ञान की अर्थसे उत्पत्ति नहीं होती है, इसका प्रतिपादन अर्थाकारता का निरसन करते समय षष्ठ अध्याय में किया गया है। द्रष्टव्य, पृ. ३६८

८२. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-२, पृ. २८२

८३. न्यायकुमुदचन्द्र, भाग-२, पृ. ४०८-११

का व्यवच्छेदक एवं कथञ्चित् अगृहीत अर्थ का ग्राहक स्वीकार किया है। वे उसे प्रत्यक्ष की भांति ही प्रमाण मानते हैं। स्मृति अर्थ से उत्पन्न नहीं होती, असत् अर्थ को विषय करती है, इसलिए बौद्ध दार्शनिक उसे अप्रमाण मानते हैं, किन्तु प्रभाचन्द्र के अनुसार कोई भी ज्ञान अर्थ से उत्पन्न नहीं होता है एवं बौद्धों द्वारा प्रतिपादित प्रत्यक्ष भी असत्भूत अर्थ में ही प्रवर्तक होता है, इसलिए स्मृति को इन हेतुओं से अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। स्मृतिज्ञान प्रयोजनभूत है, उसके बिना अनुमान संभव नहीं है। वह परिच्छित्तिविशेष का प्रतिपादक है, इसलिए भी वह प्रत्यक्ष-प्रमाण की भांति प्रमाण है।

### हेमचन्द्रसूरि द्वारा स्मृति-प्रमाण का स्थापन

वादिदेवसूरि एवं हेमचन्द्रसूरि ने भी इसी प्रकार स्मृति में प्रामाण्य सिद्ध किया है, किन्तु ये दोनों दार्शनिक स्मृति को गृहीतग्राही होने पर भी प्रमाण मानते हैं।<sup>८४</sup> आचार्य हेमचन्द्र ने तो स्मृति में प्रामाण्य सिद्ध करते हुए ज्यन्तभट्ट के इस मन्तव्य का भी उल्लेख किया है कि गृहीतग्राही होने से स्मृति का अप्रामाण्य नहीं है, अपितु अर्थ से उत्पन्न नहीं होने के कारण इसका अप्रामाण्य है।<sup>८५</sup> हेमचन्द्र इसका उत्तर देते हुए बौद्धों एवं नैयायिकों से कहते हैं कि जिस प्रकार दीपक अपनी सामग्री (तेल, बाती आदि) से उत्पन्न होकर तथा घटादि से अनुत्पन्न रहकर भी घटादि को प्रकाशित करता है उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम तथा इन्द्रिय एवं मन के बल से उत्पन्न स्मृति ज्ञान भी विषय का अवभासक होता है। प्रमाण को अर्थजन्य मानने पर मरुमरीचिका आदि में जलज्ञान भी अर्थजन्य होने से प्रमाण माना जाने लगेगा। इसलिए स्मृति अर्थजन्य नहीं होने पर भी प्रमाण है। योगिज्ञान भी अतीत एवं अनागत अर्थ को विषय करता है, किन्तु वह अर्थ से उत्पन्न नहीं होता, फिर भी उसे प्रमाण माना जाता है।<sup>८६</sup>

स्मृति ज्ञान का प्रामाण्य तो उसकी अविश्वस्यता से है तथा अपने विषय की प्रकाशकता से है।<sup>८७</sup> हेमचन्द्र कहते हैं कि यदि स्मृति को प्रमाण नहीं माना जाय तो अनुमान को भी जलाञ्जलि देनी होगी, अर्थात् उसे भी अप्रमाण मानना होगा। सभी वादी यह स्वीकार करते हैं कि ("लिङ्गग्रहणसम्बन्ध स्मरणपूर्वकमनुमानमिति") लिङ्ग एवं लिङ्गी के सम्बन्ध के स्मरण पूर्वक अनुमान होता है। अतः अनुमान का होना स्मरण के आश्रित है। इसलिए स्मरण को प्रमाण माने बिना अनुमान को प्रमाण नहीं माना जा सकता।<sup>८८</sup>

### समीक्षण

स्मृति को परोक्ष-प्रमाण के भेदों में एक पृथक् प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित कर जैन दार्शनिकों ने

८४. ग्रहीष्यमाणग्राहिण इव गृहीतग्राहिणोऽपि नाऽप्रामाण्यम् ।— प्रमाणमीमांसा, १.१.४

८५. न स्मृतेरप्रमाणत्वं गृहीतग्राहिताकृतम् ।

अपित्वनर्थजन्यत्वं तदप्रामाण्यकारणम् ॥— न्यायमञ्जरी, पृ. २१, उद्धृत, प्रमाणमीमांसा, पृ. ५

८६. प्रमाणमीमांसा, पृ. ३४

८७. प्रमाणमीमांसा, पृ. ३३

८८. प्रमाणमीमांसा, पृ. ३४



“प्रामाण्यं व्यवहारेण”<sup>८९</sup> सिद्धान्त को चरितार्थ किया है। यह सिद्धान्त यद्यपि बौद्ध दार्शनिकों ने दिया है, तथापि (१) असत् अर्थ को विषय करने के कारण (२) अर्थ से अनुत्पन्न होने के कारण (३) अनवस्था दोष की प्रसक्ति होने के कारण (४) विसंवादक होने के कारण तथा (५) अर्थाकार नहीं होने के कारण स्मृति ज्ञान को उन्होंने नहीं माना है। किन्तु लौकिक व्यवहार या अर्थक्रिया में प्रवर्तकता को लेकर विचार किया जाय तो स्मृतिज्ञान के प्रामाण्य का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता। क्योंकि हमारा समस्त व्यवहार स्मृति पर आधारित है। भाषा का प्रयोग, लेन-देन का समस्त व्यवहार, पूर्वदृष्ट या ज्ञात वस्तु का प्रत्यभिज्ञान स्मृति के बिना नहीं हो सकता। स्मृति के अभाव में व्यक्ति किसी निश्चित कार्य के लिए निश्चित समय पर प्रवृत्त भी नहीं हो सकता। यदि हमें शब्द एवं अर्थ के संकेत का स्मरण नहीं है तो हम समुचित भाषा का प्रयोग करने में भी सक्षम नहीं हो सकते। यही नहीं घर, परिवार, पिता-पुत्र आदि को पहचानने से भी मना कर सकते हैं। इसलिए व्यवहार में स्मृतिज्ञान प्रमाण है।

बौद्ध दार्शनिकों का मतव्य है कि स्मृति को प्रमाण मानने पर इच्छा, द्वेष आदि को भी प्रमाण मानना होगा, किन्तु जैनमतानुसार इच्छा, द्वेष आदि अप्रमाण हैं, क्योंकि वे अविस्वादाक एवं ज्ञानात्मक नहीं हैं। स्मृति अविस्वादाक ज्ञान है। जैन दार्शनिकों ने प्रमाण को ज्ञानात्मक माना है, इसलिए वे इच्छा, द्वेष आदि का प्रामाण्य अंगीकार नहीं करते हैं। स्मृति को जैन दार्शनिकों ने उसी प्रकार प्रमाण माना है, जिस प्रकार वे प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते हैं। प्रमाण का सामान्य लक्षण दोनों में समान रूप से घटित होता है।

स्मृति की उपादेयता न्याय, मीमांसा, वैशेषिक आदि दर्शन भी स्वीकार करते हैं, क्योंकि इसके बिना व्याप्तिज्ञान एवं अनुमान नहीं हो सकता, फिर भी वे उसे स्वतंत्र रूप से ज्ञान का प्रतिपादक नहीं होने के कारण अथवा प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों द्वारा गृहीत अर्थ का ग्राही होने के कारण प्रमाण नहीं मानते हैं। जयन्त षट्ट ने उसे अनर्थजन्यता के कारण प्रमाण नहीं माना है।

स्मृतिज्ञान को प्रमाण मानने का यह अर्थ नहीं है कि जैनमत में सभी स्मृतियां प्रमाण हैं। जैन दार्शनिक उन्हीं स्मृतियों को प्रमाण मानते हैं, जो अविस्वादाक हों, व्यवहार में उपयोगी हों, स्व एवं अर्थ की निश्चायक हों, तथा जिनका फल प्रत्यभिज्ञान हो। अकल्मष ने यद्यपि स्मृति का प्रामाण्य स्मृति की प्रतिपत्ति से ही माना है, किन्तु स्मृति की सबको अनुभूति होने के पश्चात् भी स्मृति के यथाभूत अर्थ का ज्ञान कराने में अनेक बार विसंवादकता देखी जाती है। उस विसंवादकता का निराकरण स्मृति द्वारा संभव नहीं है। स्मृति तो संस्कार के अनुरूप होती है। पहले प्रत्यक्ष-प्रमाण द्वारा जिस अर्थ का ज्ञान हुआ है, संस्कार यदि सुदृढ या सम्यक् नहीं है, अथवा दीर्घकालिक व्यवधान के कारण संस्कार धूमिल हो गया है तो स्मृति-ज्ञान संवादक या सम्यक् नहीं हो सकता। स्मृति अपने आप में अपनी संवादकता का निर्णय करने में समर्थ नहीं हो सकती। स्मृति की संवादकता का ज्ञान

प्रत्यक्ष या प्रत्यभिज्ञान द्वारा होना संभव है ।

स्मृति को वैशेषिक दर्शन में प्रत्यक्षादि ज्ञानों के परतन्त्र होने से पृथक् प्रमाण नहीं माना गया, किन्तु परतन्त्रता तो अनुमान में भी रहती है । अनुमान भी पूर्वप्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात लिङ्ग-लिङ्गी ज्ञान के आश्रित होता है । जैनदार्शनिक कहते हैं कि लिङ्ग एवं लिङ्गी की स्मृति के बिना अनुमान प्रमाण प्रवृत्त नहीं हो सकता । इसलिए स्मृति को प्रमाण स्वीकार किये बिना अनुमान को प्रमाण नहीं माना जा सकता । ऐसा कोई दार्शनिक नहीं हो सकता जो स्मृति का प्रामाण्य स्वीकार किये बिना लिङ्ग द्वारा लिङ्गी का ज्ञान कर सके । यह अवश्य है कि स्मृति के समय प्रमाता के समक्ष अर्थ विद्यमान नहीं रहता, एवं स्मृति प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात अर्थ में वैशिष्ट्य भी नहीं लाती, किन्तु स्मृति को स्व एवं अर्थ का प्रकाशक होने से, अर्थक्रिया में प्रवर्तक होने से, अविस्वादाक व्यवहार का कारण होने से तथा व्यवसायात्मक ज्ञान रूप होने से प्रमाण माना जा सकता है । यद्यपि अकल्ङ्क, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र आदि दिगम्बर जैन दार्शनिकों ने काल-भेद से स्मृति को कथञ्चित् अपूर्व अर्थ का ग्राही प्रतिपादित किया है, किन्तु याद्विदेवसूरि, हेमचन्द्र आदि श्वेताम्बर जैन दार्शनिक स्मृति के गृहीतग्राही होने पर भी उसे प्रमाण स्वीकार करते हैं । वस्तुतः स्मृति का प्रामाण्य प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत अर्थ का तथाभूत ज्ञान कराने में ही उचित प्रतीत होता है नवीन या अपूर्व अर्थांश के ज्ञान की दृष्टि से स्मृति को प्रमाण मानना हमारे दैनिक व्यवहार में भी अव्यवस्था उत्पन्न कर सकता है । स्मृति ज्ञान में अविस्वादाकता भी तभी घटित हो सकती है, जब वह प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाणों द्वारा ज्ञात अर्थ का तथाभूत ज्ञान करा सके ।

## प्रत्यभिज्ञान-प्रमाण

### जैनदर्शन में प्रत्यभिज्ञान

जैन दार्शनिकों ने स्मृति की भांति प्रत्यभिज्ञान को भी परोक्ष प्रमाण स्वीकार किया है । प्रत्यभिज्ञान का स्वरूप है कि वह स्मृति एवं प्रत्यक्ष का संकलनात्मक ज्ञान होता है । अकल्ङ्क ने प्रत्यभिज्ञान के लिए संज्ञा, संज्ञान एवं प्रत्यभिज्ञा शब्दों का भी प्रयोग किया है । विद्यानन्द ने दो प्रकार के प्रत्यभिज्ञान का निरूपण किया है- एकत्व प्रत्यभिज्ञान एवं सादृश्य प्रत्यभिज्ञान । एकत्व प्रत्यभिज्ञान में पूर्वज्ञात अर्थ का प्रत्यक्ष होने पर "वही यह है" इस प्रकार एकता या एकरूपता का ज्ञान होता है । सादृश्यप्रत्यभिज्ञान में पूर्वज्ञात अर्थ के सदृश अन्य अर्थ का प्रत्यक्ष होने पर "उसके सदृश यह है" इस प्रकार का सादृश्य ज्ञान होता है ।<sup>१०</sup>

माण्डव्यनन्दी ने दर्शन (प्रत्यक्ष) एवं स्मृति से उत्पन्न संकलित ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहकर उसके अनेक उदाहरण दिये हैं, यथा- (१) यह वही देवदत्त है (२) गवय गाय के सदृश है (३) भैंस गाय से विलक्षण है (४) यह इससे दूर है आदि । इनमें प्रथम उदाहरण एकत्व प्रत्यभिज्ञान का तथा द्वितीय उदाहरण सादृश्य प्रत्यभिज्ञान का बोधक है । न्याय एवं मीमांसा दर्शनों में प्रतिपादित उपमान प्रमाण

१०. द्विविधं हि प्रत्यभिज्ञानं - तदेवेदमित्येकत्वनिबन्धनम् तादृशमेवेदमिति सादृश्यनिबन्धनं च ।-प्रमाणपरीक्षा, पृ. ४२

का जैनदार्शनिकों ने इसी सादृश्य प्रत्यभिज्ञान में समावेश कर लिया है। इन दोनों प्रत्यभिज्ञानों के अतिरिक्त वे वैलक्षण्य (वैसादृश्य) एवं प्रातियौगिक प्रत्यभिज्ञान का भी कथन करते हैं, तृतीय एवं चतुर्थ उदाहरण क्रमशः इन प्रत्यभिज्ञानों का बोध कराते हैं।<sup>११</sup> इस प्रकार दो वस्तुओं में पारस्परिक एकता, सादृशता, विलक्षणता एवं दूर-निकट आदि के व्यवहार का ज्ञान माणिक्यनन्दी के अनुसार प्रत्यभिज्ञान से होता है।

प्रत्यभिज्ञान के लक्षण का सर्वाधिक विकास वादिदेवसूरि के प्रमाणनयतत्त्वालोक में देखा जाता है। वादिदेवसूरि ने अनुभव एवं स्मृति से उत्पन्न तथा तिर्यक् सामान्य व ऊर्ध्वता सामान्य को विषय करने वाले संकलनात्मक ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहा है।<sup>१२</sup> इस लक्षण में प्रत्यभिज्ञान के कारण, उसके विषय एवं स्वभाव का निर्देश हो गया है। इसके पूर्व माणिक्यनन्दी के द्वारा निरूपित लक्षण में प्रत्यभिज्ञान के कारण एवं स्वरूप का निर्देश तो हुआ है, किन्तु विषय का निर्देश नहीं था। वादिदेव ने तिर्यक् सामान्य एवं ऊर्ध्वता सामान्य को जो विषय बतलाया है वह एकत्व प्रत्यभिज्ञान एवं सादृश्य प्रत्यभिज्ञान में लागू होता है। 'आदि' पद से अन्य विषयों का ग्रहण हो जाता है। विभिन्न अर्थों में जो सादृश्य परिणति होती है वह तिर्यक् सामान्य एवं एक ही पदार्थ की विभिन्न पर्यायों या अवस्थाओं में जो सादृशता होती है उसे जैन दर्शन में ऊर्ध्वता सामान्य कहा गया है।<sup>१३</sup> एक ही व्यक्ति में बचपन युवावस्था एवं वृद्धावस्था में जो एकत्व प्रत्यभिज्ञान होता है वह ऊर्ध्वता सामान्य विषय से होता है तथा विभिन्न मनुष्यों में जो सादृश्य का प्रत्यभिज्ञान होता है वह तिर्यक् सामान्य विषय से प्रतीत होता है। हेमचन्द्र सूरि ने प्रमाणमीमांसा में दर्शन (प्रत्यक्ष) एवं स्मरण से उत्पन्न संकलनात्मक ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान निरूपित करते हुए उसे एकत्व, सादृश्य, वैलक्षण्य एवं तत्प्रतियोगी इत्यादि भेद वाला माना है।

### अन्य दर्शनों में प्रत्यभिज्ञान

प्रत्यभिज्ञा अथवा प्रत्यभिज्ञान शब्द का प्रयोग काश्मीर शैव दर्शन में आत्म-प्रत्यभिज्ञान के लिए हुआ है। आत्मा प्रकाशित होने पर भी बौद्धिक विकल्पों से विच्छिन्न हो जाता है, उसका सर्वतोभावेन अनुसंधान पूर्वक साक्षात् ज्ञान ही शैवदर्शन में प्रत्यभिज्ञा है। सीधे शब्दों में कहें तो ज्ञात आत्मा को भूलकर पुनः पहचान लेना प्रत्यभिज्ञान है। जैनदर्शन में प्रत्यभिज्ञान को जिस प्रकार एकत्व, सादृश्य, आदि अनेक प्रकार का निरूपित किया गया है, शैवदर्शन में वैसा प्रतिपादन नहीं है। शैवदर्शन में एकत्व के आधार पर प्रत्यभिज्ञा स्वीकार की गयी है, सादृश्य के आधार पर नहीं। सादृश्य ज्ञान से

११. (१) दर्शनस्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानम् । तदेवेदं तत्सदृशं, तद्विलक्षणं, तत्प्रतियोगीत्यादि ।—परीक्षामुख, ३.५  
(२) यथा स एवायं देवदत्तः, गोसदृशो गवयः, गोविलक्षणो महिष इदमस्माद् दूरम्, वृक्षोऽयमित्यादि ।—परीक्षामुख, ३.६

१२. अनुभवस्मृतिहेतुर्कं तिर्यगूर्ध्वतासामान्यादिगोचरं, संकलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् ।—प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.५

१३. प्रतिव्यक्ति तुल्या परिणतिस्तिर्यक्सामान्यं । पूर्वापरपरिणामपसाधारणं द्रव्यमूर्ध्वतासामान्यं ।—प्रमाणनयतत्त्वालोक, ५.४

एकता का अवगम नहीं होता, इसलिए वहां सादृश्य प्रत्यभिज्ञा नहीं है।<sup>१४</sup> प्रत्यभिज्ञान को शैवदर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द प्रमाणों का मूल माना गया है,<sup>१५</sup> परन्तु जैनदर्शन की प्रत्यभिज्ञा स्मृति एवं प्रत्यक्ष पर आधारित है। त्रिकदर्शन में प्रत्यभिज्ञा आत्माभिमुख है तो जैनदर्शन में वह बाह्य अर्थाभिमुख है।

न्यायदर्शन में प्रत्यभिज्ञान का समावेश प्रत्यक्ष-प्रमाण में किया गया है। जयन्तभट्ट प्रत्यभिज्ञान को अर्थजन्य होने से प्रमाण मानते हैं तथा प्रत्यभिज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि अतीतकाल से विशिष्ट वर्तमान कालावच्छिन्न अर्थ का अवभासन प्रत्यभिज्ञा में होता है।<sup>१६</sup> वे कहते हैं कि जिस प्रकार सौ फलों की गणना करने में ९९ फल अतिक्रान्त हो जाने पर भी सौ की प्रतीति में हेतु होते हैं उसी प्रकार अतीतकाल का सम्बन्ध भी प्रत्यभिज्ञा में निमित्त बनता है।<sup>१७</sup> प्रत्यभिज्ञान प्रमाण तो है, किन्तु इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से उत्पन्न होने के कारण प्रत्यक्ष है। वैसे यह केवल इन्द्रिय से नहीं, संस्कार सहकृत इन्द्रिय के सामर्थ्य से उत्पन्न होता है।<sup>१८</sup> जयन्तभट्ट ने प्रत्यभिज्ञान को मानसज्ञान मानने का भी विकल्प दिया है,<sup>१९</sup> किन्तु वाचस्पतिमिश्र ने उसे बहिरिन्द्रिय से जन्य प्रत्यक्ष माना है।<sup>१००</sup>

वैशेषिक दर्शन में श्रीधर ने प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्ष माना है तथा उसे संस्कार एवं इन्द्रिय-जन्य स्वीकार किया है।<sup>१०१</sup> मीमांसकों ने प्रत्यभिज्ञान को अगृहीयाही प्रतिपादित कर उसे प्रत्यक्ष प्रमाण में सम्मिलित किया है। कुमारिलभट्ट ने प्रत्यभिज्ञान को इन्द्रिय व्यापार के कारण प्रत्यक्ष माना है।<sup>१०२</sup> बौद्धदार्शनिक ज्ञानरक्षित ने तत्त्वसंग्रह में मीमांसकों के मत का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार प्रत्यभिज्ञा में 'स एव अयम्' (यह वही है) में 'अयम्' (यह) पद स्मृति से अतिरिक्त ज्ञान का बोधक है। अतः प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है।<sup>१०३</sup> सांख्य एवं वेदान्त में भी प्रत्यभिज्ञान का अप्रामाण्य नहीं है। वेदान्त में तो "तत्त्वमसि" महावाक्य में 'सोऽयं देवदत्तः' का उदाहरण देकर जो प्रत्यक्ष घटित किया

१४. विस्तार के लिए द्रष्टव्य, डा. आर. सी. द्विवेदी, काश्मीर की तांत्रिक परम्परा : साहित्य, दर्शन और साधना, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

१५. प्रत्यक्षानुमानागममूलां प्रत्यभिज्ञामाश्रित्य ।—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, खण्ड २, पृ. १९५

१६. न्यायमञ्जरी, भाग-२, पृ. ३१

१७. न्यायमञ्जरी, भाग-२, पृ. ३२

१८. न्यायमञ्जरी, भाग-२, पृ. ३३

१९. मानसी प्रत्यभिज्ञा ।—न्यायमञ्जरी, भाग-२ पृ. ३३

१००. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, १.१.४., पृ. १३९

१०१. द्रष्टव्य, न्यायकन्दली, पृ. २७६-२७७

१०२. प्रमाणं प्रत्यभिज्ञानं दृढेन्द्रियतयोच्यते ।—श्लोकवार्तिक, शब्दनित्यत्वाधिकरण, श्लोक ३७२

१०३. ननु च प्रत्यभिज्ञानं स एवेत्युपजायते ।

अक्षव्यापारसद्भावे निष्कम्पबाधितम् ।—तत्त्वसङ्ग्रह, ४४४

है वह प्रत्यभिज्ञा का ही रूप है ।

इस प्रकार न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त आदि वैदिक-दर्शनों को प्रत्यभिज्ञान का प्रामाण्य मान्य है, किन्तु ये सब इसे प्रत्यक्ष-प्रमाण में समाविष्ट करते हैं ।

### बौद्धदर्शन में प्रत्यभिज्ञान का अप्रामाण्य

बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार स्मृति की भांति प्रत्यभिज्ञान भी प्रमाण नहीं है । क्योंकि प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण मानने पर स्मृति की भांति अनेक दोष आते हैं, यथा (१) प्रत्यभिज्ञान प्रमाण नहीं है, क्योंकि उसे प्रमाण मानने पर अनवस्था दोष आता है ।<sup>१०४</sup> (२) वह गृहीतग्राही होता है ।<sup>१०५</sup> (३) उसका अपना कोई विषय नहीं है ।<sup>१०६</sup> (४) इसमें स्मृति एवं प्रत्यक्ष दो भिन्न ज्ञान हैं । इसलिए प्रत्यभिज्ञान को भ्रान्तज्ञान माना गया है । (५) निर्विषय होने से संवादकता का इसमें प्रश्न ही नहीं उठता है ।

दिङ्नाग कहते हैं कि जो प्रत्यभिज्ञात्मक विशेषदृष्ट ज्ञान है वह प्रमाण नहीं होता है । उनके मत में ज्ञान एवं प्रत्यभिज्ञान में वस्तुतः भेद नहीं है, फिर भी प्रमाण एवं फल का भेद करने पर ज्ञान प्रत्यभिज्ञेयार्थ से भिन्न हो जाता है । प्रत्यभिज्ञान तो गृहीत का ग्रहण करता है । यहाँ पर वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत रूपादि के अनित्य होने का जो ग्रहण है वह भी प्रमाण नहीं होता है । वे प्रत्यभिज्ञान को अप्रमाण मानने के जिस कारण का निर्देश करते हैं वह है अनवस्था दोष । वे कहते हैं कि यदि सभी ज्ञानों को प्रमाण माना जाय तो अनवस्था दोष आता है ।<sup>१०७</sup> धर्मकीर्ति ने प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्ष मानने वाले दार्शनिकों का खण्डन कर उसे प्रत्यक्ष से भिन्न प्रतिपादित किया है । धर्मकीर्ति का मत है कि 'यह वही है' इस प्रकार की एकत्वविषयक प्रत्यभिज्ञान नामक कल्पना को प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष एवं प्रत्यभिज्ञान का विषय भिन्न है । प्रत्यक्ष में स्पष्ट अवभास होता है, किन्तु प्रत्यभिज्ञान में उसका भ्रम होता है । काटे हुए केशों एवं नवीन उत्पन्न केशों में, जादूगर के द्वारा प्रदर्शित गोलों में, तथा प्रतिक्षण नये जल रहे दीपक आदि में यह वही दीपक है के रूप में जो प्रत्यभिज्ञान होता है, वह स्पष्टावभासी प्रत्यक्ष से भिन्न है, इसलिए प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता । ऐसे प्रत्यभिज्ञान से वर्णादि में एकत्व का निश्चय नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष एवं प्रत्यभिज्ञान दोनों भिन्न हैं । प्रत्यभिज्ञान में पूर्वानुभूत अर्थ के धर्म का स्मरण होने से वर्तमान

१०४. नाऽपि पुनः प्रत्यभिज्ञानवस्था स्यात्स्मृतादिवत् ।— प्रमाणसमुच्चय, १.३

१०५. गृहीतग्रहणं प्रत्यभिज्ञानम् ।— प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, पृ. १०

१०६. प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययो भ्रान्त एव निर्विषयत्वात् ।— तर्कभाषा (मोक्षकरगुप्त), पृ. ३२, पङ्क्ति २३

१०७. प्रत्यभिज्ञात्मकं यद्विशेषदृष्टज्ञानं तत्रप्रमाणं न भवतीत्यर्थः । यद्यपि ज्ञानप्रत्यभिज्ञानयोर्वस्तुतः भेदो नास्ति । तथापि प्रमाणफलयोर्भेदकल्पने ज्ञानं प्रत्यभिज्ञेयार्थविजातीयम् । गृहीतग्रहणं प्रत्यभिज्ञानम् । अपिशब्देन प्रत्यक्षेण गृहीतमपि पुनश्च रूपादिकमनित्यमिति यद्ग्रहणं तदपि प्रमाणं न भवतीति दिश्यते । यदि सर्वेषां ज्ञानानां प्रमाणत्वमिष्यते प्रमाणानवस्था प्रसज्यते स्मृतादिवत् ।— प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, पृ. १०

अर्थ पर आरोप किया जाता है, ऐसा आरोप प्रत्यक्ष में नहीं होता ।<sup>१०८</sup>

ज्ञानरक्षित का मत है कि दो भिन्न ज्ञानों में अभेद के अध्यवसाय से प्रवृत्त होने के कारण प्रत्यभिज्ञान भ्रान्त है, प्रत्यक्ष उससे विलक्षण होता है ।<sup>१०९</sup> प्रत्यक्ष कल्पनापोढ होता है जबकि प्रत्यभिज्ञान साभिलाप होता है ।<sup>११०</sup> रत्नकीर्ति ने कारण भेद, विषय भेद, एवं स्वभाव भेद के कारण प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्ष से भिन्न निरूपित किया है ।<sup>१११</sup> मोक्षाकर गुप्त ने प्रत्यभिज्ञान को निर्विषय होने के कारण भ्रान्त बतलाया है ।<sup>११२</sup>

इस प्रकार बौद्धदर्शन ने न्याय, मीमांसा आदि दर्शनों की मान्यता का खण्डन कर प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्ष से भिन्न प्रतिपादित किया है तथा उसे निर्विषय होने के कारण भ्रान्त बतलाया है । बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग जहां अनवस्था के कारण प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण नहीं मानते वहां अन्य बौद्ध दार्शनिकों ने उसके अप्रामाण्य पर अधिक प्रकाश नहीं डाला है ।

वस्तुतः प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण मानने पर बौद्धों के क्षणिकवाद की सिद्धि नहीं हो सकती, इसलिए बौद्धमत में यह अप्रमाण है । क्षणिकवाद में प्रत्यभिज्ञान का विषय ही नहीं होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष से दृष्ट विषय तो दूसरे क्षण रहता ही नहीं है ।

## जैनों द्वारा प्रत्यभिज्ञान प्रमाण का प्रतिष्ठापन

जैन दार्शनिकों ने प्रत्यभिज्ञान को पृथक् प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित किया है । अकलङ्क, विद्यानन्द एवं प्रभाचन्द्र के द्वारा दिये गये तर्क यहां प्रस्तुत हैं, जिनमें विशेषतः बौद्ध मान्यता का खण्डन किया गया है ।

### अकलङ्क द्वारा प्रत्यभिज्ञान-प्रमाण का स्थापन

भट्ट अकलङ्क ने प्रत्यभिज्ञान को अविस्वादादक ज्ञान होने से प्रमाण माना है । वे स्मृति प्रमाण का फल प्रत्यभिज्ञान को तथा प्रत्यभिज्ञान प्रमाण का फल तर्क को निरूपित करते हैं ।<sup>११३</sup> अकलङ्क के

१०८. एतेन यः समक्षेऽर्थे प्रत्यभिज्ञानकल्पनाम् ॥

स्पष्टावभासां प्रत्यक्षां कल्पयेत् सोऽपि वारितः ।

केशगोलकदीपादावपि स्पष्टावभासनात् ॥

प्रतीतभेदेऽप्यध्यक्षा धीः कथं तादृशी भवेत् ।

तस्मान्न प्रत्यभिज्ञानाद् वर्षाद्येकत्वनिश्चयः ॥

पूर्वानुभूतस्मरणात् तद्धर्मोपपन्नाद विना ।

स एवायमिति ज्ञानं नास्ति तच्चाक्षजे कुतः ॥— प्रमाणवार्तिक, २.५०३-५०६

१०९. भ्रान्तं च प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यक्षं तद्विलक्षणम् ।

अभेदाध्यवसायेन भिन्नरूपेऽपि वृत्तितः ॥— तत्त्वसङ्ग्रह, ४४७

११०. न खलु प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यक्षमुपपद्यते ।

वस्तुस्वरूपमनिर्देश्यं साभिलापं च तद्यतः ॥— तत्त्वसङ्ग्रह, ४४६

१११. नन्विदमेकमेव न भवति कारणभेदात्, विषयभेदात् स्वभावविरोधाच्च ।— रत्नकीर्तिनिबन्धावलि, पृ. ११३

११२. द्रष्टव्यं, यही अध्याय, पादटिप्पण, १०६

११३. अविस्वादादस्मृतेः फलस्य हेतुत्वात् प्रमाणं धारणा । स्मृतिः संज्ञायाः प्रत्यवमर्शस्य । संज्ञा चिन्तायाः तर्कस्य ।

— लघीयस्वयवृत्ति, अकलङ्कग्रन्थत्रय, पृ. ५.१

अनुसार शब्द संकेत द्वारा जो अर्थ ग्रहण किया जाता है वह भी स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञान के आधार पर ग्रहण किया जाता है।<sup>११४</sup> वे स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञान आदि का विषय काल्पनिक नहीं, अपितु परमार्थ मानते हैं।<sup>११५</sup> उनका कथन है कि जब पूर्वानुभूत अतीत अर्थ का पुनः प्रत्यक्ष होता है तो पुरुष उसका प्रत्यभिज्ञान करता है। दूर-निकट आदि का प्रतिभास भेद प्रत्यभिज्ञान द्वारा ही होता है।<sup>११६</sup> प्रत्यभिज्ञान को पृथक् प्रमाण के रूप में स्थापित करते हुए अकलङ्क उपमान का अन्तर्भाव प्रत्यभिज्ञान में कर लेते हैं तथा प्रत्यभिज्ञान के अनेक उदाहरण देते हैं।<sup>११७</sup>

### विद्यानन्द द्वारा स्थापन

विद्यानन्द ने दो प्रकार के प्रत्यभिज्ञान का निरूपण किया है- एकत्व प्रत्यभिज्ञान एवं सादृश्य प्रत्यभिज्ञान। 'वही यह है' इस प्रकार का ज्ञान एकत्व प्रत्यभिज्ञान तथा 'वैसा ही यह है' एवंविध ज्ञान सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है।<sup>११८</sup> वे इन दोनों प्रकार के प्रत्यभिज्ञानों को स्मृति एवं प्रत्यक्ष से भिन्न प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं।

प्रत्यभिज्ञान के इन दोनों प्रकारों को प्रमाण नहीं मानने वाले प्रतिपक्षी बौद्ध दार्शनिकों का कथन है कि एकत्व प्रत्यभिज्ञान का जो स्वरूप 'वही यह है' के रूप में निर्दिष्ट किया गया है उसमें "वही" पद अतीत का ज्ञान कराने से स्मृतिरूप है तथा 'यह' पद वर्तमान का ज्ञान कराने से प्रत्यक्षरूप है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान कोई पृथक् प्रमाण नहीं है, अपितु इसमें प्रत्यक्ष एवं स्मृति दो ज्ञान हैं। सादृश्य प्रत्यभिज्ञान में भी इसी प्रकार 'वैसा ही' यह स्मृति का विषय है तथा 'यह है' यह प्रत्यक्ष का विषय है, इसलिए प्रत्यभिज्ञान को पृथक् प्रमाण मानने की कल्पना व्यर्थ है।<sup>११९</sup>

विद्यानन्द ने प्रतिपक्षी का उत्तर देते हुए प्रतिपादित किया है कि स्मरण और प्रत्यक्ष से जन्य तथा अतीत और वर्तमान में अवस्थित एक द्रव्य को विषय करने वाला प्रत्यभिज्ञान सुप्रतीत है। स्मृति के द्वारा 'वह' का ज्ञान होता है तथा प्रत्यक्ष के द्वारा 'यह' का ज्ञान होता है जबकि प्रत्यभिज्ञान इन दोनों के संकलनात्मक रूप एकत्व 'वही यह है' का बोधक होता है। 'जो मैं बालक था, कुमार हुआ, युवा हुआ, मध्यम हुआ वही मैं अभी वृद्ध हूँ, ऐसी प्रतीति सबको होती है।'<sup>१२०</sup> प्रत्यभिज्ञान को स्वीकार किये बिना पूर्वोत्तर क्षणों में सन्तान की एकता भी सिद्ध नहीं की जा सकती। इसी प्रकार पूर्वापर

११४. तदयं शब्दार्थो स्मृत्या संकलय्य संकेते पुनः शब्दप्रतिपत्तौ तदर्थं प्रत्येति । लघीयस्त्रयवृत्ति, ४५

११५. स्मृतिप्रत्यभिज्ञानादेरपि परमार्थविषयत्वात् ।-लघीयस्त्रयवृत्ति, ४५, अकलङ्कग्रन्थत्रय, पृ. १५.२९

११६. (१) प्रतिभासाभिदेकार्ये दूरसन्नाक्षबुद्धिवत् ॥-लघीयस्त्रय, ४५

(२) इदमल्पं महदूरमासन्नं प्रांशुं नेति वा ।

व्यपेक्षातः सम्पक्षेऽर्थे विकल्पः साधनान्तरम् ॥-लघीयस्त्रय, २१

११७. सिद्धिविनिश्चयवृत्ति, पृ. १७९

११८. द्विविधं हि प्रत्यभिज्ञानं तदेवेदमित्येकत्वनिबन्धनम्, तादृशमेवेदमिति सादृश्यनिबन्धनञ्च ।-प्रमाणपरीक्षा, पृ. ४२

११९. प्रमाणपरीक्षा, पृ. ४२

१२०. बालकोऽहं य एवासं स एव च कुमारकः ।

युवको मध्यमो वृद्धोऽधुनास्मीति प्रतीतितः ॥-तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१३.४६

वस्तुओं में सादृश्य का ज्ञान करने के लिए प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण रूप में स्वीकार करना आवश्यक है।<sup>१२१</sup>

बौद्धों का मन्तव्य है कि प्रत्यभिज्ञान गृहीत अर्थ का ग्रहण करता है, अतः गृहीतग्राही होने से वह अप्रमाण है। विद्यानन्द इस मन्तव्य का निरसन करते हुए प्रतिपादित करते हैं कि प्रत्यभिज्ञान कथञ्चित् अपूर्व अर्थ का ग्राही होता है। प्रत्यभिज्ञान का विषयभूत एक द्रव्य न तो स्मृति से गृहीत होता है और न ही प्रत्यक्ष से, अतः प्रत्यभिज्ञान को गृहीतग्राही नहीं माना जा सकता। यदि स्मरण द्वारा गृहीत अतीत पर्याय और प्रत्यक्ष द्वारा गम्यमान वर्तमान पर्याय से द्रव्य का तादात्म्य होने के कारण प्रत्यभिज्ञान पूर्वार्थग्राही कहा जाता है तो इस प्रकार तो अनुमानप्रमाण भी सर्वथा अपूर्व अर्थ का ग्राही नहीं कहा जा सकता, फलतः प्रत्यभिज्ञान की भांति उसे भी अप्रमाण मानना होगा। व्याप्तग्राही ज्ञान के द्वारा समस्त साध्यों का सामान्य रूप से ज्ञान हो जाता है, अनुमान के द्वारा उन्हीं ज्ञात साध्यों में से किसी देशविशिष्ट या कालविशिष्ट साध्य का ज्ञान किया जाता है, अतः अनुमान भी सर्वथा अपूर्वार्थ का ग्राही नहीं कहा जा सकता।<sup>१२२</sup>

बाधक प्रमाण का सद्भाव होने से यदि प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण नहीं माना जाता है तो विद्यानन्द के अनुसार यह मन्तव्य भी सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान का बाधक प्रमाण असंभव है। प्रत्यक्ष प्रमाण को प्रत्यभिज्ञान का बाधक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति प्रत्यभिज्ञान के विषय में नहीं होती है। जो जिसके विषय में प्रवृत्त नहीं होता है वह न उसका साधक होता है और न बाधक। जिस प्रकार रूपज्ञान के विषय में रसज्ञान प्रवृत्त नहीं होने से वह रूपज्ञान का न साधक होता है और न बाधक। प्रत्यभिज्ञान का विषय पूर्वदृष्ट एवं दृश्यमान पर्यायों में एकत्व या सादृश्य होता है, जबकि प्रत्यक्ष का विषय मात्र दृश्यमान अर्थ की पर्याय होता है। अनुमान भी प्रत्यभिज्ञान का बाधक नहीं है, क्योंकि वह भी प्रत्यभिज्ञान के विषय में प्रवृत्त नहीं होता है। अनुमान की प्रवृत्ति तो अनुमेयमात्र में होती है। अतः प्रत्यभिज्ञान सकलबाधक प्रमाणों से रहित होने के कारण प्रमाण है।

एकत्व प्रत्यभिज्ञान के समान ही सादृश्य प्रत्यभिज्ञान भी बाधकाभाव के कारण प्रमाण है। जो प्रत्यभिज्ञान अपने विषय में बाधित होता है वह प्रत्यभिज्ञानाभास है, अप्रमाण है। कभी कभी अपने काटे हुए नाखूनों के पश्चात् नये उत्पन्न नाखूनों में भी “ये वे ही नाखून हैं” इस प्रकार एकत्व प्रत्यभिज्ञान होता देखा गया है, वह अप्रमाण है, क्योंकि नये नाखूनों में पूर्व नाखूनों से सादृश्य है, एकत्व नहीं, अतः पूर्वापर नाखूनों में सादृश्य प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है तथा एकत्व प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण। अतः अबाधित एकत्व एवं सादृश्य रूप प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है, बाधित प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण।<sup>१२३</sup>

१२१. प्रमाणपरीक्षा, पृ. ४३

१२२. प्रमाणपरीक्षा, पृ. ४३

१२३. (१) द्रष्टव्य, प्रमाणपरीक्षा, पृ. ४३-४४

(२) द्रष्टव्य, अष्टसहस्री, पृ. २०३-२०७



संक्षेप में कहा जाए तो विद्यानन्द के अनुसार वही प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है जो अर्थ का ज्ञान होने के पश्चात् अर्थक्रिया में अविस्वादी होता है।

प्रत्यभिज्ञान अनुमान से पृथक् प्रमाण है। प्रत्यभिज्ञान के द्वारा लिङ्ग का प्रत्यवमर्श होता है। लिङ्ग प्रत्यवमर्श के बिना अनुमान नहीं किया जा सकता। अतः प्रत्यभिज्ञान, अनुमान से पृथक् प्रमाण है। यदि प्रत्यभिज्ञान को अनुमान कहा जायेगा तो उस अनुमान में लिङ्ग प्रत्यवमर्श किससे होगा, यदि लिङ्ग प्रत्यवमर्श के लिए भिन्न अनुमान की कल्पना की जायेगी तो अनवस्था दोष होगा। अतः प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्ष एवं अनुमान से भिन्न प्रमाण मानना उपयुक्त है।<sup>१२४</sup>

इस प्रकार विद्यानन्द एकत्व एवं सादृश्य प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्ष, स्मृति एवं अनुमान से पृथक् प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं तथा उसे अविस्वादक एवं लिङ्ग प्रत्यवमर्श का ग्राहक प्रमाण मानते हैं।

### प्रभाचन्द्र और वादिदेवसूरि द्वारा स्थापन

प्रभाचन्द्र एवं वादिदेवसूरि ने अनेक तर्क उपस्थापित कर प्रत्यभिज्ञान का पृथक् प्रामाण्य सिद्ध किया है। उनके तर्क लगभग समान हैं। उन्होंने बौद्ध पक्ष को उपस्थापित करते हुए कहा है कि बौद्ध दार्शनिक प्रत्यभिज्ञान में 'वह' एवं 'यह' के विरुद्ध धर्मों का अध्यास होने से उसे प्रमाण नहीं मानते हैं। बौद्धों का कथन है कि "वह" के रूप में अस्पष्ट तथा 'यह' के रूप में स्पष्ट दो विरुद्ध धर्मों का प्रत्यभिज्ञान में अभेद होना युक्त नहीं है। 'वह' एवं 'यह' यदि दोनों आकार एक दूसरे में प्रविष्ट होकर प्रतीत होते हैं तो दोनों में से एक ही आकार का प्रतिभास होना चाहिए तथा प्रविष्ट नहीं होने पर 'यह' एवं 'वह' दोनों की पृथक् प्रतीति होनी चाहिए। दूसरी बात यह है कि विरुद्ध धर्मों के कारण इनका एक अधिकरण भी नहीं हो सकता। तीसरी बात यह है कि बौद्ध दार्शनिक प्रत्यभिज्ञान की उत्पत्ति के कारण एवं उसके विषय का भी अभाव प्रतिपादित करते हैं।<sup>१२५</sup>

प्रभाचन्द्र एवं वादिदेवसूरि ने बौद्ध मंतव्य का खण्डन करते हुए प्रतिपादित किया है कि विरुद्ध धर्माध्यास से प्रत्यभिज्ञान को असंभव कहना उचित नहीं है। धर्मों का धर्मों के साथ विरोध नहीं होता है, क्योंकि धर्मों में धर्मों की प्रतीति होती है। जो जिसमें प्रतीत होता है वह उससे विरुद्ध नहीं होता है, यथा चित्रज्ञान में नीलादि आकार प्रतीत होते हैं, अतः वे चित्रज्ञान के विरोधी नहीं होते हैं। इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान में 'वही' एवं 'यह' ये दोनों आकार प्रतीत होते हैं अतः वे प्रत्यभिज्ञान के विरोधी नहीं होते हैं। यदि इन धर्मों में पारस्परिक विरोध है तो उससे धर्मों में कोई परिवर्तन नहीं आता है जिससे प्रत्यभिज्ञान संभव न हो। प्रत्यभिज्ञान तो होता ही है। 'वह' एवं 'यह' इन दो आकारों का

१२४. लिङ्गप्रत्यवमर्शेण विना नास्त्येव लैङ्गिकम्।

विभिन्नः सोनुमानाञ्चेत्प्रमाणान्तरमागतम् ॥— तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१३.५९

१२५. (१) न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. ४११-१३

(२) स्याद्वादेरलाकर, पृ. ४९१-९२

प्रत्यभिज्ञान में प्रवेश नहीं होता, यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि इनका प्रत्यभिज्ञान में प्रवेश स्वरूप सांकर्य के रूप में नहीं होता है, अपितु प्रत्यभिज्ञान में इनकी निर्बाध प्रतीति होती है, जिसे स्वीकार करना चाहिए। नील के निर्बाध प्रतीति होने से जिस प्रकार बौद्ध उसे नील रूप में स्वीकार करते हैं उसी प्रकार 'वह' एवं 'यह' इन दो आकारों से समन्वित एक प्रत्यभिज्ञान की निर्बाध प्रतीति होने से उसे स्वीकार करने में कोई दोष नहीं है, अन्यथा बौद्धमत में चित्रज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकेगी, क्योंकि नीलादि ज्ञानों का परस्पर अनुप्रवेश न मानने पर भिन्न सन्तान वाले नीलादि प्रतिभासों के अत्यन्त भिन्न होने से चित्रता सिद्ध नहीं हो सकती। एक चित्रज्ञान रूप अधिकरण में नीलादि प्रतिभासों की प्रत्यक्षतः प्रतीति मानते हैं तो प्रत्यभिज्ञान में भी आकारद्वय की प्रतीति मानने में कोई बाधा नहीं है। अतः विरुद्ध धर्मों के अध्यास से प्रत्यभिज्ञान का अभाव नहीं कहा जा सकता।

कारणों का अभाव होने से प्रत्यभिज्ञान संभव नहीं है, ऐसा मानना भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष एवं स्मरण ये दोनों प्रत्यभिज्ञान के कारण हैं। प्रत्यभिज्ञान के लक्षण में ही इनको स्थान दिया गया है। यदि यह कहा जाय कि प्रत्यक्ष एवं स्मरण के विषय एवं आकार भिन्न-भिन्न हैं, अतः ये प्रत्यभिज्ञान के कारण नहीं हो सकते तो प्रभाचन्द्र कहते हैं कि दर्शन (प्रत्यक्ष) और स्मरण का प्रत्यभिज्ञान के साथ अन्वय एवं व्यतिरेक सम्बन्ध है। जो जिसका अन्वय-व्यतिरेक विधायी होता है वह उसका कारण होता है, यथा बीजादि के होने पर ही अंकुर उत्पन्न होता है, बीज के अभाव में अंकुर उत्पन्न नहीं होता। अतः बीज अंकुर का कारण है। इसी प्रकार दर्शन और स्मरण के होने पर ही प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है, अन्यथा नहीं। इसलिए वे दोनों प्रत्यभिज्ञान के कारण हैं। कारणों का सद्भाव होने से बौद्ध आशंका मिथ्या सिद्ध होती है। दूसरी बात यह है कि प्रत्यभिज्ञान कार्य है। कार्य प्रतीत होता हुआ अपने कारण के सद्भाव का बोध कराता है अतः प्रत्यभिज्ञान के कारण का अभाव नहीं कहा जा सकता।

विषयाभाव के कारण प्रत्यभिज्ञान को अप्रमाण मानना सर्वथा अनुचित है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान का विषय पूर्व एवं उत्तर काल में रहने वाला एक द्रव्य होता है। प्रत्यक्षादि से प्रत्यभिज्ञान का स्वरूप भिन्न है अतः उसका विषय भी भिन्न है। प्रत्यक्ष का विषय वर्तमान काल से अवच्छिन्न होता है तथा स्मरण का विषय अतीतकाल से अवच्छिन्न होता है, जबकि प्रत्यभिज्ञान का विषय दोनों कालों से अवच्छिन्न द्रव्यविशेष होता है। क्षणभंगवाद के कारण यदि द्रव्यविशेष का होना असंभव है तो यह मानना भी अनुचित है, क्योंकि एकान्त क्षणिकवाद ही सिद्ध नहीं है।<sup>१२६</sup>

प्रभाचन्द्र प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण रूप में प्रतिष्ठित करने हेतु बौद्धों से प्रश्न करते हैं कि फिर प्रत्यभिज्ञान को अप्रमाण क्यों माना जाता है? (१) गृहीतग्राही होने से (२) स्मरण के अनन्तर उत्पन्न

१२६. (१) न्यायकुमुदचन्द्र, भाग-२, पृ. ४१४-१८

(२) स्याद्वादरत्नाकर, पृ. ४९२-९६

होने से (३) शब्दाकार को धारण करने से अथवा तो (४) बाधित होने से ?

प्रत्यभिज्ञान का विषय स्मृति एवं प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत नहीं है, अतः प्रत्यभिज्ञान को गृहीतग्राही नहीं कहा जा सकता। अतीत एवं वर्तमान अर्थ की पर्यायों में एकत्व या सादृश्य का ज्ञान प्रत्यभिज्ञान के अतिरिक्त अन्य प्रमाण से नहीं होता। यदि प्रत्यभिज्ञान का विषय अतीत और वर्तमान पर्यायों में तादात्म्य सम्बन्ध के कारण कथञ्चित् पूर्वार्थ है तो भी उसे अप्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनुमान का विषय भी सर्वथा अपूर्वार्थ नहीं है।

स्मरण के अनन्तर उत्पन्न होने से भी प्रत्यभिज्ञान को अप्रमाण नहीं कह सकते, क्योंकि रूप-स्मरण के अनन्तर रस की सन्निधि में उत्पन्न रसज्ञान बौद्धों द्वारा अप्रमाण नहीं माना गया है। स्मरण के अनन्तर उत्पन्न होने से प्रत्यभिज्ञान के प्रामाण्य का निषेध करने पर तो अनुमान के प्रामाण्य को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह भी साध्य एवं साधन के अविनाभाव सम्बन्ध का स्मरण होने के पश्चात् उत्पन्न होता है। स्मरण के अभाव में दृष्टान्त का कथन भी शक्य नहीं है, जबकि बौद्धों ने दृष्टान्त को अनुमान का अंग स्वीकार किया है।

शब्दाकार को धारण करने से (शब्द योजना युक्त होने से) प्रत्यभिज्ञान को यदि अप्रमाण कहा जाता है तो भी उपयुक्त नहीं है, क्योंकि जैन मत में ज्ञान को शब्दाकार (शब्द योजना युक्त ही) नहीं माना गया है। शब्द से विविक्त भी ज्ञान जैनमत में अभीष्ट है। प्रत्यक्ष-प्रमाण को जैनदार्शनिकों ने सविकल्पक मानकर भी शब्द-योजना से रहित माना है।

प्रत्यभिज्ञान बाधित होता है इसलिए अप्रमाण है, ऐसा मन्तव्य भी असम्यक् है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान न प्रत्यक्ष से बाधित होता है और न अनुमान से। प्रत्यक्ष एवं अनुमान की प्रवृत्ति प्रत्यभिज्ञान के विषय में नहीं होती है। जो जिसके विषय में प्रवृत्त नहीं होता है वह न उसका साधक होता है और न बाधक। अनुमान-प्रमाण भी प्रत्यभिज्ञान के विषय में प्रवृत्त नहीं होता है, अतः वह भी प्रत्यभिज्ञान का बाधक नहीं है। यदि अनुमान कदाचित् उसके विषय में प्रवृत्त होता है तो भी वह प्रत्यभिज्ञान के विषय का सर्वथा बाधक नहीं है, इसलिए प्रत्यभिज्ञान सकल बाधकों से रहित होने से प्रमाण है।

एकत्व प्रत्यभिज्ञान की भांति “गवय गौ के सदृश होता है” आदि सादृश्य प्रत्यभिज्ञान भी बाधकाभाव के कारण तथा संवादक होने से प्रमाण होते हैं। सादृश्य प्रत्यभिज्ञान से ही महानस के धूम दर्शन के पश्चात् पर्वत-धूम को धूम रूप में जाना जाता है और उसके अनन्तर अनुमान प्रमाण होना संभव होता है, अन्यथा नहीं। इसलिए प्रत्यभिज्ञान संवादक होने से प्रमाण है।<sup>१२७</sup>

नैयायिकों के उपमान-प्रमाण में सादृश्य प्रत्यभिज्ञान का अन्तर्भाव हो सकता है, किन्तु उसमें एकत्व, वैलक्षण्य, प्रतियोगी आदि प्रत्यभिज्ञानों का अन्तर्भाव होना शक्य नहीं है, अतः प्रत्यभिज्ञान

को पृथक् प्रमाण मानना उचित है। नैयायिक एवं मीमांसा सम्मत उपमान-प्रमाण का अन्तर्भाव प्रत्यभिज्ञान प्रमाण में हो जाता है।

इस प्रकार प्रभाचन्द्र एवं वादिदेवसूरि के अनुसार प्रत्यभिज्ञान प्रमाण प्रत्यक्ष एवं स्मृति रूप कारणों से उत्पन्न होता है तथा पूर्व एवं उत्तरकाल में अवस्थित एक पदार्थ को विषय करता है। वह प्रत्यक्ष, स्मृति आदि ज्ञानों की भांति अविश्ववादक होता है। कथञ्चित् अपूर्व अर्थ का ग्रहण करता है, क्योंकि उसका विषय किसी अन्य प्रमाण से गृहीत नहीं है। वह प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण से बाधित भी नहीं है। प्रत्यभिज्ञान के बिना व्याप्तिज्ञान नहीं हो सकता तथा व्याप्तिज्ञान के बिना अनुमान प्रवृत्त नहीं हो सकता। प्रत्यभिज्ञान के द्वारा एकत्व, सादृश्य, विलक्षणता एवं प्रतियोगिता का ज्ञान होता है, जो अन्य किसी प्रमाण से नहीं होता, इसलिए प्रत्यभिज्ञान एक पृथक् प्रमाण है।

### हेमचन्द्र सूरि द्वारा स्थापन

आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने बौद्धों, मीमांसकों एवं नैयायिकों के मन्तव्यों का संक्षेप में खण्डन करते हुए प्रत्यभिज्ञान का पृथक् प्रामाण्य सिद्ध किया है। उन्होंने भी प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्ष एवं स्मरण से भिन्न सिद्ध कर प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्ष मानने का खण्डन किया है। उन्होंने मीमांसकों से कहा है कि आपके यहां सम्बद्ध तथा वर्तमान वस्तु को ही चक्षु आदि इन्द्रियों से ग्रहण करना स्वीकार किया गया है, स्मरण को ग्रहण करना नहीं। इसलिए अतीत एवं वर्तमान विषयों के एकत्व का ग्रहण इन्द्रिय से नहीं हो सकता। नैयायिकों ने स्मरण सहकृत इन्द्रिय से एकत्व का ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष को स्वीकार किया है। उनके इस मन्तव्य का खण्डन करते हुए हेमचन्द्र सूरि कहते हैं कि इन्द्रिय अपने विषय में नियत रहती है, वह सैंकड़ों सहकारी होने पर भी अन्य विषयों में प्रवृत्त नहीं होती। सुगन्ध के स्मरण की सहायता पाकर भी चक्षु इन्द्रिय गन्धादि को नहीं जान सकती। अतीत एवं वर्तमान अवस्था में रहने वाला एक द्रव्य इस प्रकार इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय नहीं बनता। यहां पर नैयायिकों का यह तर्क है कि जिस प्रकार अंजन आदि के संयोग से चक्षु इन्द्रिय अतिशययुक्त होती है, इसी प्रकार स्मरणसहकृत इन्द्रिय भी एकत्व का ज्ञान करा देती है। हेमचन्द्र यहां उत्तर देते हैं कि इन्द्रियों का अतिशय अपने विषय को ग्रहण करने में होता है, विषयान्तर को ग्रहण करने में नहीं।<sup>१२८</sup>

विसंवाद का अभाव होने से प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है। प्रत्यभिज्ञान को यदि प्रमाण न माना जाय तो आत्मा के एकत्व का अभाव होने से बन्ध एवं मोक्ष की व्यवस्था ही न बन सकेगी। हेमचन्द्र कहते हैं कि जो बद्ध होता है वही मुक्त होता है। बद्ध व्यक्ति अपने को दुःखी समझकर मुक्ति का सुख प्राप्त करने के लिए जो प्रयास करता है उससे प्रत्यभिज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध है। यदि पूर्वोत्तर पर्याय में एकत्व न माना जाय तो दुःखी कोई अन्य होगा और प्रयास कोई अन्य करेगा एवं सुखी अन्य ही होगा। इसलिए समस्त दृष्ट एवं अदृष्ट व्यवहार के एकत्व का मूल होने से एकत्व निश्चायक

प्रत्यभिज्ञान को एक पृथक् प्रमाण मानना चाहिए ।<sup>१२९</sup>

### समीक्षण

सारांश यह है कि जैन दार्शनिक प्रत्यभिज्ञान को अविश्ववादक, वास्तविक अर्थ का ग्राहक, स्व एवं अर्थ का निश्चायक तथा बाधक प्रमाण का अभाव होने से प्रमाण मानते हैं। अकलङ्क, विद्यानन्द एवं प्रभाचन्द्र ने प्रत्यभिज्ञान को कथञ्चित् अपूर्व अर्थ का ग्राही भी प्रतिपादित किया है। प्रत्यभिज्ञान के द्वारा जैन दार्शनिकों ने एकत्व, सादृश्य विलक्षणता एवं प्रतियोगिता के ज्ञान का प्रकाशन स्वीकार किया है। जो उपमान-प्रमाण द्वारा संभव नहीं है। उपमानप्रमाण से मात्र सादृश्य या संज्ञा संज्ञिसंबंध ही गृहीत होता है।

प्रत्यभिज्ञान स्मृति एवं प्रत्यक्ष पूर्वक होता है, इसलिए वह स्मृति एवं प्रत्यक्ष दोनों से भिन्न है। प्रायः हम जिन पदार्थों का प्रत्यक्ष करते हैं, वह प्रत्यभिज्ञान ही होता है, यथा पुस्तक, कलम, धर, पिता, पुत्र, पत्नी, आदि का प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञानात्मक ही होता है। पूर्व स्मृति भी उसमें कार्य करती है। यदि स्मृति का अंश न रहे तो उस प्रत्यक्ष द्वारा सम्यक् प्रवृत्ति होना शक्य न हो। व्यवहार में प्रत्यक्ष एवं प्रत्यभिज्ञान में हम अन्तर ही नहीं कर पाते हैं। प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष जैसा ही भासता है, किन्तु प्रत्यक्ष से प्रत्यभिज्ञान का यही अन्तर है कि प्रत्यभिज्ञान में स्मृति निहित रहती है, जबकि प्रत्यक्ष में स्मृति का अंश नहीं होता।

### तर्क-प्रमाण

तर्क को प्रमाण की श्रेणि में प्रतिष्ठित करना भी जैन दार्शनिकों का भारतीय न्याय को अनुठ योगदान है। न्याय, वैशेषिक एवं बौद्ध दर्शनों ने तर्क को प्रमाण का उपग्राहक स्वीकार करके भी उसे प्रमाण नहीं माना है, किन्तु जैनदार्शनिकों ने तर्क की पृथक् प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठा करने के साथ उसके स्वरूप का भी विकास किया है। सांख्य, मीमांसा एवं अद्वैत दर्शनों ने तर्क को पृथक् प्रमाण तो नहीं माना है, किन्तु उन्हें उसका अनुमान अथवा अर्थापत्ति प्रमाण में अन्तर्भाव अभीष्ट है।

### जैनदर्शन में तर्क का स्वरूप

जैनदर्शन में तर्क को व्याप्ति का ग्राहक एवं अवधारणात्मक ज्ञान स्वीकार किया गया है। भट्ट अकलङ्क के पूर्व जैनदर्शन में तर्क की पृथक् प्रमाण के रूप में स्थापना दिखाई नहीं देती। उपाख्याति के तत्त्वार्थसूत्र में मतिज्ञान के पर्यायार्थक शब्दों में जिस 'चिन्ता' शब्द की गणना की गई है<sup>१३०</sup> उसे ही अकलङ्क ने आगे चलकर लघीयस्वय, न्यायविनिश्चय आदि ग्रन्थों में तर्कप्रमाण के रूप में विकसित एवं प्रतिष्ठित किया है। उन्होंने तर्क (चिन्ता) को प्रत्यभिज्ञान प्रमाण का फल माना है तथा तर्क को प्रमाण मानकर अनुमान को उसका फल कहा है।<sup>१३१</sup> अष्टशती में उन्होंने लिङ्गलिङ्गिसम्बन्ध ज्ञान को

१२९. प्रमाणमीमांसा, १.२.४ की वृत्ति

१३०. मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ।- तत्त्वार्थसूत्र, १.१३

१३१. संज्ञा चिन्तायाः तर्कस्य । चिन्ता अभिनिबोधस्य अनुमानादेः ।- लघीयस्वयवृत्ति, अकलङ्कग्रन्थत्रय, पृ. ५

अनुमान की भांति प्रमाण माना है।<sup>१३२</sup> यहां लिङ्गलिङ्गी-सम्बन्धज्ञान से उनका अभिप्राय तर्कप्रमाण ही प्रतीत होता है। प्रमाणसङ्ग्रह नामक कृति में अकलङ्क ने प्रत्यक्ष एवं अनुपलम्भ से होने वाले सम्भव प्रत्यय को तर्क कहा है।<sup>१३३</sup> यह सम्भव प्रत्यय व्याप्तिग्राहक ज्ञान ही है, जो साकल्य से अविनाभाव सम्बन्ध का ग्रहण करता है।

विद्यानन्द ने प्रमाणपरीक्षा में तर्क का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है “जितना भी कोई धूम है वह सब अग्नि से उत्पन्न होता है। अग्नि के अभाव में धूम की उत्पत्ति नहीं होती है। इस प्रकार सकल देश एवं सकल काल की व्याप्ति से साध्य एवं साधन के सम्बन्ध का जो ऊहापोह ज्ञान होता है वह तर्क है।”<sup>१३४</sup> तर्क का दूसरा नाम ऊह भी है।<sup>१३५</sup> अकलङ्क ने तत्त्वार्थसूत्र का अनुसरण करते हुए इसके लिए चिन्ता शब्द का भी प्रयोग किया है।<sup>१३६</sup>

माणिक्यनन्दी ने उपलम्भ एवं अनुपलम्भ से उत्पन्न व्याप्तिज्ञान को तर्क कहा है।<sup>१३७</sup> उपलम्भ का अर्थ है साध्य के होने पर साधन का होना तथा साध्य के नहीं होने पर साधन का नहीं होना। वादिदेवसूरि ने उपलम्भ एवं अनुपलम्भ से अन्य तीन कालों की व्याप्ति को जानने वाले ज्ञान को तर्क कहा है।<sup>१३८</sup> उपलम्भ शब्द से यहां प्रत्यक्ष, आगम आदि प्रमाणों का ग्रहण किया गया है। हेमचन्द्राचार्य कहते हैं कि उपलम्भ शब्द प्रमाणमात्र का ग्राहक है मात्र प्रत्यक्ष का ही नहीं।<sup>१३९</sup>

अकलङ्क के पूर्व जैनदर्शन में मतिज्ञान के भेद ईहा के लिए षट्खण्डागम में ऊहा एवं तत्त्वार्थाधिगमभाष्य में ऊहा एवं तर्क शब्द का भी प्रयोग हुआ है,<sup>१४०</sup> किन्तु अकलङ्क के द्वारा ऊह अथवा तर्क को परोक्ष प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित करने के पश्चात् ईहा के लिए ऊह या ऊहा का प्रयोग किसी भी जैन दार्शनिक ने नहीं किया है। आचार्य हेमचन्द्र ने तो इन दोनों में स्पष्ट भेद का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि ऊह अर्थात् तर्क तो परोक्ष प्रमाण का भेद है तथा साध्य एवं साधन की त्रैकालिक व्याप्ति का ग्रहण करता है जबकि ईहाज्ञान वर्तमान कालिक विषयों को ग्रहण करता है एवं वह प्रत्यक्ष प्रमाण का भेद है।<sup>१४१</sup>

१३२. अष्टशती (अष्टसहस्री), पृ. २८०

१३३. सम्भवप्रत्ययस्तर्कः प्रत्यक्षानुपलम्भतः।—प्रमाणसङ्ग्रह, १२

१३४. यावान् कश्चिद्दुमः स सर्वः पावकजन्मीवापावकजन्मा वा न भवतीति सकलदेशकालव्याप्त्या साध्यसाधनसम्बन्धोहापोहलक्षणो हि तर्कः प्रमाणयितव्यः।—प्रमाणपरीक्षा, पृ. ४४-४५

१३५. प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.७ एवं परीक्षामुख, ३.७

१३६. लघीयस्त्रय, का. ४९

१३७. उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः।—परीक्षामुख, ३.७

१३८. उपलम्भानुपलम्भसम्भवं त्रिकालीकलितसाध्यसाधनसम्बन्धाद्यालम्बनं “इदमस्मिन् सत्येव भवति” इत्याद्याकारं संवेदनमूहापरनामा तर्कः।—प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.७

१३९. प्रमाणमीमांसा, वृत्ति १.२.५

१४०. (१) ईहा ऊहा अपोहा मगणा गवेसणा मीमांसा।—षट्खण्डागम, ५.५. ३८

(२) ईहा ऊहा तर्कः परीक्षा विचारणा जिज्ञासेत्यनर्थान्तरम्।—तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, १.१.१५

१४१. प्रमाणमीमांसा, वृत्ति १.१.२७

### वैदिक दर्शन-प्रस्थानों में तर्क का स्वरूप

न्यायदर्शन में तर्क को षोडश पदार्थों में स्थान दिया गया है, उसे बाद एवं निर्णय के लिए उपयोगी भी माना गया है।<sup>१४२</sup> किन्तु उसे प्रमाण-रूप स्वीकार नहीं किया गया। गौतम के अनुसार अज्ञात अर्थ का वास्तविक ज्ञान करने के लिए कारणों की उपपत्ति से जो ऊह किया जाता है वह तर्क है।<sup>१४३</sup> वात्स्यायन कहते हैं कि तर्क में तत्त्व का अवधारण नहीं होता है, इसलिए वह तत्त्वज्ञान नहीं होता, तत्त्वज्ञान के लिए वह उपादेय होता है।<sup>१४४</sup>

एकदेशीय नैयायिकों ने तर्क, हेतु, अनुमान एवं अन्वीक्षा को पर्यायार्थक माना है, किन्तु उद्योतकर ने इसका खण्डन किया है।<sup>१४५</sup> नैयायिकों ने तर्क को अनुमान, संशय एवं निर्णय से भिन्न माना है।<sup>१४६</sup> सम्पूर्ण न्यायदर्शन का अवलोकन करने पर उसमें तर्क के दो स्वरूप उभर कर आते हैं। एक प्राचीन स्वरूप है जिसके अनुसार तर्क को संभावनात्मक प्रत्यय के रूप में अंगीकार किया गया है।<sup>१४७</sup> तथा परवर्ती ग्रन्थों में उसे अनिष्टप्रसंग स्वरूप निरूपित किया गया है।<sup>१४८</sup> नव्य नैयायिक आचार्य गङ्गेश ने भी उसे अनिष्ट प्रसंग स्वरूप ही माना है। वरदराज ने तार्किकरक्षा में अनिष्ट प्रसंग का तर्कलक्षण के रूप में निरूपण कर उसके दो भेद किए हैं- प्रामाणिक का परित्याग और अप्रामाणिक का स्वीकार।<sup>१४९</sup>

न्यायदर्शन में निरूपित तर्क से जैन दार्शनिकों का तर्क भिन्न है क्योंकि न्यायदर्शन में वह अवधारणात्मक या तत्त्वज्ञानात्मक नहीं होता, जबकि जैनदर्शन में तर्क को व्याप्ति का अवधारणात्मक ज्ञान माना गया है। जैनदार्शनिकों का मतव्य है, कि बिना तर्क के व्याप्तिज्ञान नहीं हो सकता और व्याप्ति ज्ञान के बिना अनुमान नहीं हो सकता। तर्क के द्वारा त्रैकालिक व्याप्ति का ग्रहण होता है। प्रत्यक्ष, भूयोदर्शन आदि के द्वारा दृष्ट पदार्थों में ही साध्य-साधन भाव का ग्रहण किया जा सकता है, अदृष्ट अर्थों में नहीं जबकि तर्क दृष्ट एवं अदृष्ट पदार्थों के आधार पर सर्वत्र व्याप्ति का ग्रहण कर सकता है।

१४२. प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः—वादः।—न्यायसूत्र, १.२१

१४३. अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः।—न्यायसूत्र, १.४०

१४४. कथं पुनरयं तत्त्वज्ञानार्थो न तत्त्वज्ञानमेवेति अनवधारणात्। तत्त्वज्ञानमुत्पद्यत इत्येवं तत्त्वज्ञानार्थ इति।—न्यायभाष्य, १.१.४०

१४५. न्यायवार्तिक, १.१.४०

१४६. न्यायवार्तिक १.१.४०

१४७. यथा - (१) विमृश्यमानयोर्धर्मयोरेकतरं कारणोपपत्त्या अनुजानाति, संभवत्यस्मिन् कारणं प्रमाणं हेतुरिति। कारणोपपत्त्या स्यादेवमेतत् नेतरदिति।—न्यायभाष्य, १.१.४०

(२) कारणोपपत्तित इति प्रमाणोपपत्तितः। उपपत्तिः संभवः। संभवति एतस्मिन्नर्थे प्रमाणमिति भवेदयमर्थ इति।—न्यायवार्तिक, १.१.४०

१४८. वाचस्पतिमिश्र की तात्पर्यटीका में 'तर्केण हि प्रसंगापरनाम्ना' के द्वारा यह स्वरूप दिखाई देता है जिसे आगे भी नैयायिकों ने अपनाया है।—न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, १.१.४०

१४९. तार्किकरक्षा, मेडिकल हॉल, वाराणसी, पृ. १८५

वैशेषिक दर्शन में तर्क को न्यायदर्शन की भांति कोई पदार्थ नहीं माना गया तथा वैशेषिकसूत्र एवं प्रशस्तपादभाष्य में तर्क की कोई चर्चा भी प्राप्त नहीं होती है। व्योमशिव की व्योमवती में अवश्य तर्क का निरूपण है। उन्होंने उसे निश्चयरूप माना है। व्योमशिव के अनुसार संशय के पश्चात् तुरगविहार भूमि में स्थाणुपक्ष का प्रतिषेध होने पर यह पुरुष होना चाहिए इस प्रकार की जो संभावना प्रतीति रूप तर्क है वह तद्दान में तत्प्रकारक होने के कारण निश्चयरूप ही है।<sup>१५०</sup> डॉ. गणेशीलाल सुथार ने अपने एक शोध-पत्र में प्रतिपादित किया है कि व्योमशिव ने अनिष्ट प्रसंग तर्क की चर्चा नहीं की है, इसका अर्थ है कि व्योमशिव के काल तक न्यायदर्शन में अनिष्ट प्रसंग के रूप में तर्क की चर्चा प्रवृत्त नहीं हुई थी।<sup>१५१</sup> उदयनाचार्य ने अनिष्ट प्रसंग स्वरूप तर्क के आत्माश्रय, इतरेतराश्रय, चक्रक, अनवस्था एवं प्रमाणवादितार्थ प्रसंग ये पाँच प्रकार माने हैं<sup>१५२</sup> तथा उन्होंने प्रमाणों के अंगभूत तर्क की प्रमाण के फल से ही फलवत्ता स्वीकार की है। उन्होंने भासर्वज्ञ पर आक्षेप करते हुए कहा है कि तार्किक का अभिमान रखते हुए भी तर्क की गणना नहीं करना अश्वारूढ व्यक्ति के द्वारा अश्व के विस्मरण के समान है।<sup>१५३</sup>

सांख्यदर्शन में ईश्वरकृष्ण ने अष्ट सिद्धियों में ऊह की भी गणना की है।<sup>१५४</sup> सांख्यतत्वकौमुदीकार ने उस ऊह के लिए तर्क शब्द का प्रयोग किया है तथा उसे आगम की अविरोधी युक्ति से आगमार्थ (श्रुत्यर्थ) का परीक्षण करना कहा है।<sup>१५५</sup> वाचस्पतिमिश्र के इस कथन से तर्क का प्रामाण्य सिद्ध होता है, किन्तु सांख्याचार्यों ने इसका किसी भी स्वीकृत प्रमाण में समावेश नहीं किया है। संभवतः वह अनुमान में ही समाविष्ट हो सकता है।

मीमांसकों ने युक्ति से प्रयोग निरूपण को तर्क कहा है।<sup>१५६</sup> तर्क को प्रमाण मानकर उसका अन्तर्भाव उन्होंने अनुमान या शब्द प्रमाण में किया है, ऐसा जयन्तभट्ट की न्यायमञ्जरी में मीमांसकों की आलोचना से ज्ञात होता है।<sup>१५७</sup> मनुस्मृति में 'यस्तर्केणानुसन्धते' वाक्य में जो तर्क शब्द प्रयुक्त हुआ है वह भी अनुमान-प्रमाण का ही बोधक है।

द्वैतवेदान्त में तर्क शब्द अनुमान अथवा अर्थापत्ति प्रमाण के लिए प्रयुक्त हुआ है। कठोपनिषद् में 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' वाक्य में तर्क शब्द का प्रयोग एक प्रमाण का ही बोध कराता

१५०. व्योमवती, पृ. ५३३

१५१. नैयायिकवैशेषिकजैनतार्किकाणां तर्क विप्रतिपत्तिः, Proceedings AIOC, 31st Session, Jaipur 1982, p. 584

१५२. न्यायवार्तिकतात्पर्यपरिशुद्धि, १.१.४०

१५३. किरणावली, पृ. १७२

१५४. ऊहः शब्दोऽध्ययनं ।—सांख्यकारिका, ५१

१५५. ऊहः तर्कः आगमाविरोधिन्यायेनागमार्थपरीक्षणम् । परीक्षणञ्च संशयपूर्वपक्षनिराकरणेनोत्तरपक्षव्यवस्थापनम् । —सांख्यतत्वकौमुदी, ५१

१५६. जैमिनीयास्तु बुवते-युक्त्या प्रयोगनिरूपणमूह इति ।— न्यायमञ्जरी, द्वितीय भाग, पृ. १४६

१५७. द्रष्टव्य, न्यायमञ्जरी, द्वितीय भाग पृ. १४७-१४८



है। माध्व सम्प्रदाय के व्यासतीर्थ ने तर्क का निरूपण करने हेतु 'तर्कताण्डव' नामक ग्रन्थ की रचना कर तर्क को अनुमान प्रमाण सिद्ध किया है। उन्होंने नव्य नैयायिकों के मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि उनके अनुसार व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप तर्क है और वह प्रमाणों का अनुग्राहक तो अवश्य होता है, किन्तु प्रमाण नहीं। इस मत का खण्डन करते हुए व्यासतीर्थ ने कहा है कि तर्क को प्रमाण न मानने वाले नैयायिकों के मत में तर्क का उपयोग संभव नहीं है।<sup>१५८</sup>

### बौद्धदर्शन में तर्क का स्वरूप

बौद्धदर्शन में तक्क, विमंसी आदि शब्दों का प्रयोग अवश्य हुआ है,<sup>१५९</sup> किन्तु तर्क की पृथक् चर्चा नहीं मिलती है। प्रोफेसर सातकड़ि मुकजी के शब्दों में- We have not come across any speculation on tarka in any Buddhist work.<sup>१६०</sup> बौद्ध न्याय की परम्परा में प्रसंग, प्रसंग साधन, प्रसंगापादन, प्रसंगानुमान आदि शब्दों का अवश्य व्यवहार हुआ है जो तर्क के ही निरूपक हैं। वैसे बौद्धन्याय में व्याप्ति का ग्रहण करने के लिए जो उपलम्भ एवं अनुपलम्भ के पञ्चक का निरूपण किया गया है<sup>१६१</sup> वह जैनदर्शन में प्रतिपादित तर्कप्रमाण का ही मार्ग प्रशस्त करता है। जैनों ने भी उपलम्भ एवं अनुपलम्भ के निमित्त से उत्पन्न होने वाले व्याप्तिग्राहक ज्ञान को तर्क कहा है। बौद्धों ने इस व्याप्तिज्ञान के लिए तर्क शब्द का प्रयोग नहीं किया है, किन्तु वे इसे अनुमान प्रमाण के लिए उपयोगी अवश्य मानते हैं। जैनों ने इसे तर्क शब्द देकर अनुमान में उपकारक तो माना ही है, किन्तु पृथक् प्रमाण की संज्ञा भी दी है। जैन एवं बौद्ध मान्यता में यही सूक्ष्म भेद है कि बौद्ध जिस व्याप्तिग्राहक ज्ञान (तर्क) को पृथक् प्रमाण नहीं मानते हैं वहां जैन दार्शनिकों ने इसे प्रबल तर्कों का आश्रय लेकर पृथक् प्रमाण सिद्ध किया है।

### जैनदार्शनिकों द्वारा बौद्धों का खण्डन एवं तर्क का प्रमाण रूप में स्थापन

जैन दार्शनिकों ने तर्क को जो पृथक् प्रमाण के रूप में स्थापित किया है, उसमें उन्होंने बौद्धों का ही खण्डन अधिक किया है। इसका तात्पर्य है कि बौद्धों ने तर्क के स्वरूप का प्रतिपादन तो किया था किन्तु उसे प्रमाण नहीं माना था। व्याप्ति के लिए जिस उपलम्भानुलम्भ पञ्चक का बौद्धों ने प्रतिपादन किया है उसका भी जैनों ने निरसन किया है। अकलङ्क, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, वादिदेवसूरि के द्वारा बौद्धों के विरुद्ध दिए गए तर्कों से 'तर्क' का प्रामाण्य सिद्ध होता है। यहां पर प्रायः वे ही तर्क प्रस्तुत हैं जो इन दार्शनिकों ने बौद्धों के विरुद्ध प्रस्तुत किए हैं।

१५८. तर्कताण्डव (चतुर्थसंपुट), मैसूर विश्वविद्यालय, १९४३, पृ. १४०-१४१

१५९. द्रष्टव्य, प्रथम अध्याय, पादटिप्पण, ३३

१६०. The Buddhist Philosophy of Universal Flux, p. 396

१६१. द्रष्टव्य, चतुर्थ अध्याय, व्याप्ति-विमर्श, पृ. २५९

## अकलङ्क की युक्तियां

भट्ट अकलङ्क प्रथम जैन दार्शनिक हैं जिन्होंने तर्क को पृथक् प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित किया। वे तर्क के पृथक् प्रामाण्य का स्थापन करते हुए अनेक युक्तियां प्रस्तुत करते हैं। अकलङ्क कहते हैं कि तर्क के द्वारा साध्य एवं साधन की व्याप्ति का साकल्य से ज्ञान किया जाता है। उसके द्वारा गृहीत विषय किसी अन्य प्रमाण से ग्रहण नहीं किया जाता है। अतः तर्क को पृथक् प्रमाण मानना आवश्यक है।<sup>१६२</sup> दूसरी बात यह है कि अनुमान-प्रमाण तर्क की अपेक्षा रखता है, क्योंकि तर्क से ही अविनाभाव सम्बन्ध का साकल्य से निर्धारण होता है; तर्क के अभाव में अनुमान-प्रमाण नहीं हो सकता, इसलिए वस्तु बल से तर्क भी प्रमाण है।<sup>१६३</sup> बौद्धों के द्वारा अनुमान किया जाता है कि “भूत, भव्य एवं वर्तमान समस्त पदार्थ क्षणिक हैं, सत् होने से”, किन्तु कालों के समस्त पदार्थों में क्षणिकता की व्याप्ति में न प्रत्यक्ष प्रमाण समर्थ है और न अनुमान। कोई भी पुरुष सकल पदार्थों में कहीं भी कभी भी प्रत्यक्ष से व्याप्तिज्ञान नहीं कर सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष से प्रथम तो समस्त पदार्थों का सन्निधि के अभाव में ज्ञान नहीं हो सकता। यदि समस्त पदार्थों का प्रत्यक्ष हो भी जाय तो बौद्धमत में उसके निर्विकल्पक अथवा अविचारक होने के कारण उससे व्याप्तिज्ञान संभव नहीं है। अनुमान प्रमाण से भी व्याप्तिज्ञान शक्य नहीं है, क्योंकि लिङ्ग-लिङ्गी का व्याप्ति-ज्ञान हुए बिना अनुमान प्रवृत्त नहीं हो सकता और अनुमान के बिना व्याप्तिज्ञान नहीं हो सकता। इस प्रकार अनुमान से व्याप्तिज्ञान मानने पर अनवस्था दोष आता है। अतः व्याप्तिज्ञान के लिए प्रत्यक्ष एवं अनुमान से भिन्न ‘तर्क’ का प्रामाण्य अंगीकार करना चाहिए।<sup>१६४</sup>

## विद्यानन्द के तर्क

विद्यानन्द ने अकलङ्क की युक्ति का अधिक प्रबल शब्दों में उपपादन करते हुए कहा है कि सत्त्व एवं क्षणिकता तथा धूम और अग्नि का साकल्य से व्याप्तिज्ञान करने में प्रत्यक्ष प्रमाण समर्थ नहीं होता है, क्योंकि वह सन्निहित अर्थों को ही विषय करता है। इन्द्रिय, मानस, स्वसवेदन एवं योगी ये चारों प्रकार के (बौद्ध सम्मत) प्रत्यक्ष निर्विकल्पक होने से साध्य एवं साधन के सम्बन्ध की परीक्षा नहीं कर सकते। अनुमान-प्रमाण द्वारा भी साकल्य से व्याप्तिज्ञान करना समीचीन नहीं, अन्यथा अनवस्था दोष आता है। इसलिए प्रत्यक्ष एवं अनुमान इन दोनों से भिन्न तर्क नामक व्यवस्थापक प्रमाण को स्वीकृत

१६२. व्याप्तिसाध्येन हेतोः स्फुटयति न विना चिन्तयैकत्र दृष्टिः ।

साकल्येनैष तर्कोऽनधिगतविषयः तत्कृतायैकदेशे ॥—लघीयसूत्र, ४९

१६३. सत्यप्यन्वयविज्ञाने स तर्कपरिनिष्ठितः ।

अविनाभावसम्बन्धः साकल्येनावधार्यते ॥

सहदृष्टैश्च धर्मैस्तत्र विना तस्य संभवः ।

इति तर्कमपेक्षेत नियमेनैव लैङ्गिकम् ॥

तस्माद् वस्तुबलादेव प्रमाणं मतिपूर्वकम् ॥—न्यायविनिश्चय, ३२९-३३१

१६४. भूताः भव्याः सर्वे सन्तो भावाः क्षणक्षयाः ।

इति व्याप्तौ प्रमाणं ते न प्रत्यक्षं न लैङ्गिकम् ॥ सिद्धिविनिश्चय, ३.८

करना आवश्यक है। तर्क की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में **विद्यानन्द** कहते हैं कि प्रत्यक्ष एवं अनुपलम्भ से उत्पन्न होने के कारण प्रत्यक्ष की भांति तर्क भी स्वयोग्यता से ही अपने विषय में प्रवृत्त होता है।<sup>१६५</sup>

बौद्धमत में गृहीतग्राही होने से यदि तर्क अप्रमाण है तो **विद्यानन्द** कहते हैं कि गृहीतग्राही होने से तर्क को अप्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह कथञ्चित् अपूर्वार्थग्राही है। प्रत्यक्ष एवं अनुपलम्भ से तो साध्य एवं साधन के सम्बन्ध का देशतः ज्ञान हो सकता है, जबकि तर्क के द्वारा उसका समस्त रूपेण ज्ञान होता है अतः अपूर्वार्थग्राही होने से तर्क प्रमाण है।<sup>१६६</sup> **विद्यानन्द** को तर्क के कथञ्चित् गृहीतग्राही होने पर भी उसको प्रमाण मानने में कोई आपत्ति नहीं है।<sup>१६७</sup>

संवादक होने से भी तर्क ज्ञान प्रमाण है। तर्क के द्वारा ज्ञात साध्य एवं साधन का व्याप्तिसम्बन्ध अर्थक्रिया में अविशंवादी होता है<sup>१६८</sup> यदि तर्कज्ञान अविशंवादी न हो तो अनुमान-प्रमाण भी अविशंवादी नहीं हो सकता, क्योंकि अनुमान प्रमाण तर्काश्रित होता है।<sup>१६९</sup> तर्क के संवादकत्व में संदेह होना उचित नहीं, क्योंकि उसके अभाव में अनुमिति ज्ञान निःशंकित नहीं हो सकता।<sup>१७०</sup>

समारोप का व्यवच्छेदक होने से भी तर्क का अनुमान-प्रमाण की भांति प्रामाण्य है। साध्य एवं साधन के सम्बन्ध में किसी भी प्रमाता को कभी समारोप हो तो उसका तर्क के द्वारा व्यवच्छेद हो जाता है।<sup>१७१</sup> तर्क के प्रामाण्य में अन्य कोई बाधक प्रमाण भी नहीं है। प्रत्यक्ष तर्क में बाधक नहीं है, क्योंकि वह उसके विषय में प्रवृत्त नहीं होता है, अनुमान के समान। जहां प्रत्यक्ष या अनुमानप्रमाण तर्क का बाधक होता है वह तर्क नहीं तर्काभास होता है, अतः उसका प्रामाण्य इष्ट नहीं है।<sup>१७२</sup>

इस प्रकार **विद्यानन्द** तर्क को साकल्य से व्याप्तिज्ञान का ग्राहक, कथञ्चित् अगृहीतग्राही, अविशंवादक, एवं समारोप का व्यवच्छेदक होने से प्रमाण मानते हैं तथा उसके प्रामाण्य में बाधक प्रमाण का अभाव भी स्वीकार करते हैं।

१६५. अष्टसहस्री, पृ. २८०

१६६. गृहीतग्रहणात्कौऽप्रमाणमिति चेन्न वै।

तस्यापूर्वार्थवेदित्वादुपयोगविशेषतः

प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां सम्बन्धो देशतो गतः।

साध्यसाधनयोस्तर्कात्साप्तमस्येनेति चिन्तितम् ॥—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१३.९३-९४

१६७. प्रामाण्यं च गृहीतार्थग्राहित्वेऽपि कथञ्चन ॥—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१३.९५

१६८. प्रमाणपरीक्षा, पृ. ४५

१६९. तर्कस्याविसंवादानुमा संवादानादपि।

विसंवादे हि तर्कस्य जातु तन्नोपपद्यते ॥—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१३.९०

१७०. तर्कसंवादसंदेहे निःशंकानुमितिः क्व ते ॥—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१३.९१

१७१. समारोपव्यवच्छेदात्त्वार्थे तर्कस्य मानता।

लौगिकज्ञानवन्नैव विरोधमनुभावति ॥

प्रवृत्तश्च समारोपः साध्यसाधनयोः क्वचित्।

सम्बन्धे तर्कतो मातृव्यवच्छेद्ये कस्यचित् ॥—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१३.९८-९९

१७२. न हि तर्कस्य प्रत्यक्षं बाधकं, तद्विषये तस्याऽप्रवृत्तेः, अनुमानवत्। यस्य तु तद्बाधकं स तर्काभासो न प्रमाणमितीदं शिष्टैः।—प्रमाणपरीक्षा, पृ. ४५

## प्रभाचन्द्र द्वारा स्थापन

तर्क अप्रमाण क्यों ? (१) गृहीत ग्राही होने से (२) विसंवादक होने से अथवा (३) प्रमाण के विषय का परिशोधक होने से ।<sup>१७३</sup> इन तीन प्रश्नों का सटीक उत्तर देकर प्रभाचन्द्र ने तर्क के प्रामाण्य का व्यवस्थापन किया है । यद्यपि इनमें गृहीतग्राहित्व एवं विसंवादकत्व का खण्डन अकलङ्क तथा विद्यानन्द ने भी किया है, तथापि प्रभाचन्द्र इनका विस्तृत एवं विशदरूपेण निरसन करते हैं ।

**तर्क व्याप्ति का ग्राहक होने से गृहीतग्राही नहीं**—प्रभाचन्द्र प्रतिपादित करते हैं कि तर्क गृहीतग्राही नहीं है । उसके विषय का ग्रहण न प्रत्यक्ष प्रमाण से शक्य है और न अनुमान प्रमाण से । प्रत्यक्ष में भी न इन्द्रिय प्रत्यक्ष से तर्क का ग्रहण होता है, न मानस प्रत्यक्ष से और न योगिप्रत्यक्ष से ।<sup>१७४</sup> इन्द्रियप्रत्यक्ष से व्याप्ति का ज्ञान संभव नहीं, क्योंकि यह नियत देशकाल आदि में जिस अर्थ से सम्बद्ध होता है, उसी का प्रकाशक होता है, व्याप्ति का प्रकाशक नहीं होता । व्याप्ति तो सकल देश एवं काल में व्याप्त अर्थों में सर्वोपसंहार से व्याप्त रहती है । मानसप्रत्यक्ष से भी व्याप्तिज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि बाह्य इन्द्रियों से निरपेक्ष मन बाह्यार्थ में प्रवृत्त नहीं होता है ।<sup>१७५</sup> व्याप्ति बाह्य पदार्थों में होती है । योगिप्रत्यक्ष भी अविचारक होने से व्याप्तिज्ञान नहीं कर सकता । यदि योगिप्रत्यक्ष से योगी के व्याप्तिज्ञान का होना स्वीकार कर भी लिया जाय तो उसके लिए अनुमान करने का कोई औचित्य नहीं दिखाई देता, क्योंकि योगी को समस्त साध्य एवं साधनों का प्रत्यक्ष से स्पष्ट ज्ञान हो जाता है । जो पदार्थ प्रत्यक्ष से स्पष्ट रूपेण ज्ञात हो जाता है उसे अनुमान से जानना निष्फल है । यदि दूसरों को ज्ञान कराने के लिए योगी अनुमान करता है तो वह व्याप्ति का ग्रहण किए बिना दूसरों को कैसे समझ सकता है ? व्याप्ति का ग्रहण वह स्वसंवेदन, इन्द्रिय, मानस प्रत्यक्ष से तो कर नहीं सकता, क्योंकि व्याप्तिज्ञान इनका विषय नहीं है तथा योगि-प्रत्यक्ष से व्याप्तिग्रहण मानने पर अनुमान निरर्थक हो जाता है । व्याप्तिग्रहण किये बिना परार्थानुमान करना शक्य नहीं है ।<sup>१७६</sup> प्रत्यक्ष पृष्ठभावी विकल्प के द्वारा भी व्याप्तिज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि वह भी सन्निहित विषयमात्र का ही अध्यवसाय करता है अतः विप्रकृष्ट एवं अतीत के विषयों का उपसंहार करके व्याप्तिज्ञान नहीं कर सकता ।

**बौद्धः** धूम, अग्नि का कार्य है यह प्रत्यक्ष एवं अनुपलम्भ द्वारा कार्यधर्म की अनुवृत्ति से निश्चित होता है । यदि धूम कार्य अग्नि कारण के अभाव में भी देखा जाय तो उसे अग्नि का हेतु नहीं कहा जा सकता ।<sup>१७७</sup> धूमहेतु से हम अग्नि साध्य का ज्ञान करते हैं अथवा दोनों की व्याप्ति निश्चित करते

१७३. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-२, पृ० ३०७

१७४. न्यायकुमुदचन्द्र, भाग-२, पृ० ४२९

१७५. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ४३१

१७६. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-२, पृ० ३११-१२ एवं न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ४३२-३३

१७७. तुलनीय-कार्य धूमो हुतभुजः कार्यधर्मानुवृत्तितः ।

सम्भवस्तदभावेऽपि हेतुपत्तां विलंघयेत् ॥— प्रमाणवार्तिक, ३.३४, उद्धृत, प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-२, पृ.

३०९

है, क्योंकि धूम अग्नि के सदभाव में ही पाया जाता है, अग्नि के अभाव में नहीं। स्वभावहेतु में भी इसी प्रकार भाव मात्र का अनुबन्ध करने वाले स्वभाव में अविनाभाव होता है। अनुबन्ध के कारण स्वभाव का अभाव होने पर स्वभाववान् पदार्थ का भी अभाव हो जाता है।<sup>१७८</sup>

**प्रभाचन्द्र** : प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ज्ञान होने पर केवल उस प्रत्यक्ष काल में उपलब्ध व्यापक के साथ व्याप्य की व्याप्ति सिद्ध हो सकती है, उसके सदृश अन्य धूमाग्नि आदि व्याप्य-व्यापक की व्याप्ति सिद्ध नहीं हो सकती। यदि अन्य व्याप्य के साथ भी व्याप्ति का ग्रहण होना स्वीकार किया जाय तो उस व्याप्ति ग्राहक विकल्पज्ञान को अगृहीतग्राही भी मानना चाहिए।<sup>१७९</sup> अनुमान से भी व्याप्तिज्ञान शक्य नहीं है, क्योंकि उससे अनवस्था दोष आता है तथा उसी अनुमान से व्याप्तिज्ञान मानने पर अन्योन्याश्रय दोष आता है।

**तर्क विसंवादक नहीं** - तर्क विप्रकृष्ट अर्थों को विषय करता है इसलिए उसकी संवादकता निश्चित नहीं है, प्रभाचन्द्र के अनुसार ऐसी बौद्ध आशंका भी उचित नहीं है, क्योंकि तर्क की संवादकता में सन्देह करने पर निस्संदेह अनुमान का उदय नहीं हो सकता। तर्क के संवादक होने पर ही अनुमान प्रमाण संवादक हो सकता है। साध्य एवं साधन के अविनाभाव का निश्चय करने में तर्क की अविसंवादकता प्रसिद्ध है।<sup>१८०</sup>

**प्रमाण-विषय का परिशोधक होने से तर्क अप्रमाण नहीं** - प्रमाण के विषय का परिशोधक होने से तर्क प्रमाण नहीं है, नैयायिकों का ऐसा मानना भी अयुक्त है, क्योंकि प्रमाणविषय का परिशोधक अप्रमाण नहीं होता है। जो प्रमाण नहीं होता वह प्रमाण-विषय का परिशोधक नहीं होता, यथा मिथ्याज्ञान एवं प्रमेय पदार्थ। जो प्रमाणविषय का परिशोधक होता है वह प्रमाण होता है। तर्क भी प्रमाणविषय का परिशोधक होने से प्रमाण है।<sup>१८१</sup>

**तर्क के प्रामाण्य हेतु अन्य तर्क** - प्रभाचन्द्र ने तर्क को प्रमाण सिद्ध करने के लिए अन्य हेतु भी दिये हैं, यथा वह अन्य प्रमाणों का अनुग्राहक होने से प्रमाण है। प्रभाचन्द्र का कथन है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञात एक देश के साध्यसाधन सम्बन्ध का दृढतर निश्चय तर्क प्रमाण द्वारा ही होता है। अनुमान के समान यह सम्बन्ध अन्य ज्ञान से उत्पन्न नहीं होता, अतः इसके लिए अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती, जिससे अनवस्था दोष आ सके। प्रत्यक्ष की भांति तर्क प्रमाण योग्यता विशेष से ही प्रतिनियत अर्थ का व्यवस्थापक होता है।<sup>१८२</sup>

१७८. तुलनीय-स्वभावेऽप्यविनाभावो भावमात्रानुबन्धिनि ।

तदभावे स्वयं भावस्याभावः स्यादभेदतः ॥ प्रमाणवार्तिक, ३.३९, उद्धृत, प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-२, पृ. ३०९

१७९. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-२ पृ. ३१०

१८०. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-२, पृ. ३१४

१८१. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-२, पृ. ३१५

१८२. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग २, पृ. ३१५-१६

इस प्रकार प्रभाचन्द्र के मत में तर्क अगृहीतग्राही, संवादक एवं प्रमाण के विषय का परिशोधक होने से प्रमाण है। प्रभाचन्द्र कहते हैं कि तर्क के अभाव में साकल्य से व्याप्तिज्ञान नहीं हो सकता तथा अनुमान प्रमाण की संवादकता तर्क प्रमाण की संवादकता पर निर्भर करती है, इसलिए तर्क एक पृथक् प्रमाण है। तर्क को उन्होंने अन्य प्रमाणों का अनुग्राहक एवं अपनी योग्यता विशेष से प्रतिनियत अर्थ का व्यवस्थापक होने से भी प्रमाण माना है।

### वादिदेवसूरि की नई युक्तियां

वादिदेवसूरि ने प्रभाचन्द्र एवं उनके पूर्ववर्ती जैन दार्शनिकों के तर्कों का अनुसरण करते हुए भी कुछ नवीन आशंकाएं उठायी हैं तथा उनका युक्तियुक्त निरसन कर तर्क के प्रामाण्य का बलवत् समर्थन किया है।

**सविकल्पक होने से तर्क अप्रमाण नहीं** – बौद्धों के अनुसार तर्क विकल्पमात्र है, इसलिए उसे प्रमाण मानना युक्त नहीं है। वादिदेवसूरि इस बौद्ध मत का निरसन करते हुए बौद्धों से प्रश्न करते हैं कि विकल्पमात्र का क्या अर्थ है? अर्थ के आलम्बन के बिना ज्ञान होना विकल्पमात्र है अथवा अप्रत्यक्ष ज्ञान विकल्प मात्र है। इनमें प्रथम पक्ष असिद्ध है, क्योंकि साध्य एवं साधन का सम्बन्ध तर्कप्रमाण का आलम्बन है अतः उसे निरालम्ब नहीं कहा जा सकता। द्वितीयपक्ष में कोई हानि नहीं है, क्योंकि तर्क को परोक्षप्रमाण का भेद होने से जैन भी अप्रत्यक्षरूप मानते हैं, किन्तु तर्क के अप्रत्यक्ष होने से उसे अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि बौद्ध एवं जैन दोनों को अनुमानप्रमाण के अप्रत्यक्षज्ञान रूप होने पर भी उसका प्रामाण्य इष्ट है। यदि तर्क को विकल्प मात्र कहने का आशय उसको सविकल्पकज्ञान स्वरूप बतलाना है तो भी अनुमान के समान तर्क का प्रामाण्य बना रहता है। समस्त प्रमाण कथञ्चित् सविकल्पक होते हैं, अतः सविकल्पकता तर्क के अप्रामाण्य में निमित्त नहीं है। १८३

**व्याप्ति का ग्राहक होने से तर्क का प्रामाण्य** – जैनमत में तर्क प्रमाण से साध्य-साधन में व्याप्ति का ग्रहण माना गया है, जबकि बौद्ध इसे प्रत्यक्ष एवं अनुपलम्भ के पंचक से स्वीकार करते हैं। वादिदेवसूरि ने बौद्धमत को उपस्थापित कर उसका विस्तार से खण्डन किया है तथा तर्क को विशिष्ट प्रमाण सिद्ध किया है। बौद्धों के अनुसार तीन प्रकार के हेतु मान्य हैं- (१) कार्य हेतु (२) स्वभाव हेतु एवं (३) अनुपलम्भि हेतु। इन तीनों हेतुओं में व्याप्ति ज्ञान किस प्रकार होता है यह बौद्ध पक्ष वादिदेवसूरि के स्याद्वादरत्नाकर से यहां प्रस्तुत है।

**बौद्ध पक्ष** – कार्यहेतु में व्याप्ति का ज्ञान प्रत्यक्ष एवं अनुपलम्भ पञ्चक से होता है। प्रत्यक्ष एवं अनुपलम्भ पंचक है- (१) अग्नि एवं धूम से रहित दृश्यमान भूतलादि में पहले धूम का अनुपलम्भ। (२) तदनन्तर अग्नि का उपलम्भ (३) तदनन्तर धूम का उपलम्भ (४) तदनन्तर अग्नि का अनुपलम्भ

(५) उसके पश्चात् धूम का भी अनुपलम्भ।<sup>१८४</sup> इस प्रकार प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चक से एक व्यक्ति में कार्यकारणभाव का ज्ञान होता है कि अग्नि का कार्य धूम है। जो जिसका कार्य होता है वह उसके साथ नियत होता है। यदि कार्य, कारण के साथ नियत नहीं हो तो कारण से निरपेक्ष होने के कारण वह या तो सदैव रहेगा या कभी नहीं रहेगा।

स्वभाव हेतु में तो अविनाभाव की प्रतीति विपक्ष में बाधक अनुमान से होती है। यथा “जो सत् है वह क्षणिक है” इस अनुमान के विपक्ष में बाधक क्रम एवं यौगपद्य हैं। जो अर्थक्रियाकारी होता है वह सत्त्व होता है, यह सत्त्व का लक्षण है। अक्षणिक में अर्थक्रिया क्रम एवं युगपद दोनों प्रकार से नहीं हो सकती। अतः क्षणिक अर्थ में ही सत्त्व घटित होता है।

अनुपलब्धि हेतु का स्वभाव हेतु में ही अन्तर्भाव होने से उसके पृथक् अविनाभाव-ग्राहक प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

वादिदेवसूरि द्वारा उत्तर— कार्यहेतु में व्याप्ति का ज्ञान प्रत्यक्ष एवं अनुपलम्भ पंचक से मानना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि उपलम्भ एवं अनुपलम्भ दोनों प्रकार के स्वभाव वाले प्रत्यक्ष का विषय सन्निहित मात्र अर्थ होता है, अतः उससे अन्य देशादि में स्थित पदार्थों का ज्ञान नहीं होता। दूसरी बात यह है कि (बौद्धमत में) प्रत्यक्ष निर्विकल्प होने से अविचारक होता है अतः वह “जितना भी कोई धूम, है चाहे वह देशान्तर में हो या ालान्तर में अग्नि से उत्पन्न होता है, अन्य किसी से नहीं” इस प्रकार का व्यापार करने में असमर्थ होता है, अतः उससे व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो सकता है।

यदि प्रत्यक्ष पुरः सन्निहित अर्थों में व्याप्ति का ज्ञान करके सर्वोपसंहार से अन्यत्र भी व्याप्ति का ज्ञान कराता है, ऐसा मानते हैं तो भी असमीचीन है, क्योंकि अपने अविषयभूत अर्थों में प्रत्यक्ष का सर्वोपसंहार नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष का पृष्ठभावी विकल्प भी प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत अर्थ का ही अध्यवसाय करता है अतः उसके द्वारा भी सर्वोपसंहार से व्याप्ति ग्रहण नहीं की जा सकती और साध्य के साथ अनिशिचत प्रतिबन्ध वाला हेतु देशान्तर में साध्य का ज्ञान नहीं करा सकता है।<sup>१८५</sup>

वादिदेवसूरि ने भी प्रभाचन्द्र आदि की भांति तर्क को प्रत्यक्ष से अधिकग्राही किंवा अगृहीतग्राही माना है। वे प्रत्यक्ष एवं अनुपलम्भ से कार्यहेतु के व्याप्तिज्ञान का खण्डन करते हुए प्रतिपादित करते हैं कि तर्क द्वारा ही कार्यहेतु में व्याप्तिग्रहण संभव है, अन्यथा नहीं।

स्वभाव हेतु में अविनाभाव की प्रतीति विपक्ष में बाधक अनुमान से होती है, यह बौद्ध मन्तव्य भी वादिदेवसूरि के अनुसार खण्डित होता है, क्योंकि विपक्ष में बाधक अनुमान भी प्रसिद्ध अविनाभाव के होने पर ही अपने साध्य की सिद्धि कर सकता है, उसके अभाव में नहीं। उसका अविनाभाव अन्य

१८४. धूमाधीर्वहनिविज्ञानं धूमज्ञानमधीस्तयोः।

प्रत्यक्षानुपलम्भाध्यायमिति पंचभिरन्वयः ॥ उद्धृत, स्याद्वादरत्नाकर, पृ. ५१४

१८५. स्याद्वादरत्नाकर, पृ० ५१४

अनुमान से सिद्ध होता है तो अनवस्था दोष आता है तथा उसी अनुमान से अविनाभाव की सिद्धि मानने पर अन्योन्याश्रय दोष की आपत्ति आती है।<sup>१८६</sup> अतः अविनाभाव अर्थात् व्याप्ति की सिद्धि में न प्रत्यक्ष प्रमाण समर्थ है और न अनुमान प्रमाण। मात्र तर्कप्रमाण ही व्याप्ति की सिद्धि करने में समर्थ है।<sup>१८७</sup>

अनुपलब्धि हेतु के व्याप्तिग्रहण का खण्डन स्वभाव हेतु के व्याप्ति-ग्रहण खण्डन से ही हो जाता है, क्योंकि बौद्धों के अनुसार अनुपलब्धि हेतु का अन्तर्भाव स्वभाव हेतु में हो जाता है।

स्याद्वादरत्नाकर का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि वादिदेवसूरि ने भी तर्क को अकल्पक, विद्यानन्द, एवं प्रभाचन्द्र की भांति अविश्ववादक, कथञ्चित् अगृहीतग्राही, एवं समारोप का व्यवच्छेदक स्वीकार किया है।<sup>१८८</sup> तथा उसके विकल्पमात्रत्व का खण्डन कर उसे साकल्य से व्याप्तिज्ञान का ग्राहक स्वीकार कर पृथक् प्रमाणरूप में प्रतिष्ठित किया है।

### हेमचन्द्र सूरि का मत

हेमचन्द्रसूरि ने भी पूर्ववर्ती जैनाचार्यों के अनुसार बौद्धमत का खण्डन कर तर्क का प्रामाण्य सिद्ध किया है। व्याप्तिग्रहण के लिए उन्होंने प्रत्यक्ष एवं अनुमान को असमर्थ प्रतिपादित किया है। उनका कथन है कि 'जितना भी कोई देशान्तर एवं कालान्तर में धूम है वह अग्नि का कार्य है। अन्य अर्थ का नहीं' इतना व्यापार प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं कर सकता, क्योंकि वह बौद्धमत में सन्निहित विषय के बल से उत्पन्न होता है तथा उसमें (निर्विकल्पक होने से) विचार करने की क्षमता भी नहीं होती। अनुमान से भी व्याप्ति का ग्रहण संभव नहीं है, क्योंकि व्याप्ति के ग्रहण काल में प्रमाता योगी की भांति हो जाता है, किन्तु अनुमान में ऐसा सामर्थ्य नहीं है। कदाचित् इतना सामर्थ्य अनुमान में स्वीकार कर लिया जाय तो प्रकृत अनुमान व्याप्तिग्राहक होता है या अन्य अनुमान? प्रकृत अनुमान से व्याप्तिग्रहण मानने पर तो इतरेतराश्रय दोष आएगा, क्योंकि व्याप्तिग्रहण से अनुमान होगा तथा अनुमान के होने पर व्याप्तिग्रहण होगा। यदि अनुमानान्तर से व्याप्तिग्रहण किया जाता है तो अनवस्था दोष आता है, क्योंकि वह भी व्याप्ति को ग्रहण करके ही प्रवृत्त होगा एवं अन्य अनुमान से उसकी व्याप्ति का ग्रहण माना जाय तो सहस्रयुगों में भी व्याप्ति का ग्रहण होना संभव नहीं है।<sup>१८९</sup>

इसी प्रकार प्रत्यक्ष पृष्ठभावी विकल्प से भी वे व्याप्ति का ग्रहण नहीं मानते, क्योंकि बौद्धमत में वह विकल्प प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत विषय का ही ग्रहण करता है। यदि विकल्प का विषय प्रत्यक्ष से भिन्न है तो हेमचन्द्र कहते हैं वह विकल्प प्रमाण है या अप्रमाण? यदि विकल्प प्रमाण है तो उसे प्रत्यक्ष

१८६. स्याद्वादरत्नाकर, पृ० ५१५

१८७. तत्प्रत्यक्षं नाविनाभावसिद्धौ धत्ते प्रौढिं लैङ्गिकी नापि बुद्धिः।

एकस्तर्कस्तत्र सामर्थ्यमुद्रां निश्चयपूर्वां हन्त तस्माद्विपत्तिः ॥—स्याद्वादरत्नाकर, श्लो. ४८२, पृ० ५१५

१८८. स्याद्वादरत्नाकर, पृ० ५१५-१६

१८९. प्रमाणमीमांसा, १.२.५ की वृत्ति, पृ. ३६-३७



एवं अनुमान से भिन्न (तर्क) प्रमाण मानना चाहिए। यदि वह अप्रमाण है तो उससे व्याप्तिग्रहण मानना षण्ठ से संतान की कामना करने जैसा है। इससे 'अनुपलम्भात् कारणव्यापकानुपलम्भाच्च कार्यकारणव्याप्यव्यापकभावात्प्रगमः' बौद्ध पंक्ति का खण्डन हो जाता है।<sup>१९०</sup>

हेमचन्द्रसुरि ने वैशेषिकों एवं नैयायिकों (यौगों) के द्वारा स्वीकृत व्याप्तिग्रहणोपाय का भी निर्देश कर उनका निरसन किया है। हेमचन्द्र ने कहा है कि वैशेषिक प्रत्यक्षप्रमाण के फलरूप ऊहापोह विकल्प ज्ञान से व्याप्ति का ज्ञान मानते हैं,<sup>१९१</sup> किन्तु प्रत्यक्ष का फल प्रत्यक्ष एवं अनुमान ही हो तो उनसे सार्वत्रिक एवं त्रैकालिक व्याप्ति नहीं बन सकती। यदि उसका फल इन दोनों से भिन्न है तो तृतीय प्रमाण (तर्क) मानना पड़ेगा।

उन्होंने उल्लेख किया है कि न्याय दार्शनिक (यौग) तर्कसहित प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ग्रहण मानते हैं,<sup>१९२</sup> किन्तु तर्कसहकृत प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ग्रहण मानने की अपेक्षा तर्क से ही व्याप्ति का ग्रहण मानने में तर्क का यश सुरक्षित रहता है। यदि तर्क प्रमाण नहीं है, इसलिए प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ग्रहण माना गया है तो हेमचन्द्र कहते हैं तर्क प्रमाण क्यों नहीं है? उसमें भी अन्य प्रमाणों की भांति अव्यभिचार है, व्याप्ति उसका विषय है, अतः वह निर्विषय भी नहीं है। इसलिए प्रमाणान्तर से अगृहीत व्याप्ति का ग्राहक होने से तर्क को प्रमाण मानना चाहिए।<sup>१९३</sup>

## समीक्षण

नव्यन्यायदार्शनिकों ने व्याप्ति का ग्रहण सामान्यलक्षण नामक अलौकिक सन्निकर्ष से माना है। प्राचीन नैयायिक मानस-प्रत्यक्ष, इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष अथवा तर्कसहकृत प्रत्यक्ष से व्याप्ति ज्ञान मानते रहे हैं। बौद्धों ने प्रत्यक्ष एवं अनुपलम्भ के पञ्चक से व्याप्तिग्रहण स्वीकार किया है, किन्तु जैन दार्शनिक व्याप्ति ग्राहक के रूप में तर्क को स्वीकार करते हैं। स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञान की भांति तर्क भी उनके मत में प्रमाण है। तर्क प्रमाण का फल अनुमान है। 'तर्क' द्वारा व्याप्तिज्ञान स्वीकार करने से दृष्ट एवं अदृष्ट समस्त साध्य व साधन में व्याप्ति का ग्रहण किया जा सकता है जो भूयोदर्शन या प्रत्यक्षानुपलम्भ से संभव नहीं है। इसलिए "तर्क" द्वारा व्याप्तिज्ञान स्वीकार करना जैन दार्शनिक चिन्तन की गहनता को स्पष्ट करता है, तथा इसका पृथक् प्रमाण के रूप में स्थापन भारतीय न्याय को उनकी अनूठी देन है।

## आगम-प्रमाण

भारतीय दर्शन में न्याय, मीमांसा, वेदान्त, सांख्य एवं जैन सम्प्रदाय शब्द अथवा आगम को पृथक् प्रमाण मानते हैं। चार्वाकमत में अनुमान की भांति आगम का भी प्रामाण्य इष्ट नहीं है। बौद्ध

१९०. प्रमाणमीमांसा, १.२.५ की वृत्ति, पृ० ३७

१९१. वैशेषिकास्तु प्रत्यक्षफलनोहापोहविकल्पज्ञानेन व्याप्तिप्रतिपत्तिरित्याहुः। — प्रमाणमीमांसा, पृ. ३७

१९२. यौगास्तु तर्कसहितात् प्रत्यक्षादेव व्याप्तिग्रह इत्याहुः। — प्रमाणमीमांसा, पृ. ३७

१९३. प्रमाणमीमांसा, पृ० ३७

एवं वैशेषिक दो ऐसे दर्शन हैं जिनमें शब्द का प्रामाण्य अंगीकार करते हुए भी उसे पृथक् प्रमाण की कोटि में नहीं रखकर अनुमानप्रमाण में समाविष्ट कर लिया गया है।

बौद्धों ने शब्द से वक्ता की विवक्षा का अनुमान स्वीकार किया है। वे शब्द से अर्थ का ज्ञान अन्यापोह के द्वारा स्वीकार करते हैं। अतः शब्द प्रमाण की चर्चा के अनन्तर अपोह पर विचार किया जाएगा।

### बौद्धदर्शन में शब्द का अनुमान-प्रमाण में अन्तर्भाव

शब्द या आगम-प्रमाण को बौद्ध दार्शनिक अनुमान से भिन्न प्रमाण नहीं मानते हैं। वे इसका अनुमान-प्रमाण में ही अन्तर्भाव कर लेते हैं।<sup>१९४</sup> वैशेषिकों ने शब्द का अनुमान प्रमाण में अन्तर्भाव समान विधि के कारण किया है।<sup>१९५</sup> जिस प्रकार लिङ्गदर्शन से व्याप्ति स्मरण होता है एवं फिर अनुमेय अर्थ का ज्ञान होता है उसी प्रकार शब्द से संकेतस्मरण द्वारा वाच्य अर्थ का ज्ञान होता है, इसलिए शब्द प्रमाण अनुमान से भिन्न प्रमाण नहीं है। बौद्ध कहते हैं कि शब्द का वाच्य वस्तु के साथ न तादात्म्यलक्षण प्रतिबंध है और न तदुत्पत्ति लक्षण प्रतिबंध।<sup>१९६</sup> शब्द के साथ अर्थ का कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है, इसलिए शब्द द्वारा अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। धर्मकीर्ति कहते हैं कि शब्दों का बाह्य अर्थ के साथ अविनाभाव नहीं है। इसलिए शब्द से अर्थ का ज्ञान नहीं होता। शब्द तो वक्ता के अभिप्राय के सूचक होते हैं।<sup>१९७</sup> वक्ता के अभिप्राय का अविस्वादी ज्ञान होने से शब्द का प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है, अन्यथा शब्द के साथ अर्थ का कोई निबन्धन नहीं है।<sup>१९८</sup> वक्ता के अभिप्राय अर्थात् विवक्षा का शब्दों के द्वारा अनुमान किया जाता है। शान्तरक्षित ने इसका स्पष्ट प्रतिपादन करते हुए कहा है कि समस्त वचनों से विवक्षा का ही अनुमान किया जाता है।<sup>१९९</sup> प्रत्यक्ष एवं अनुपलम्भ से शब्द-हेतु के द्वारा विवक्षा ही निश्चित की जाती है। शब्द से विवक्षा का अन्वय-व्यतिरेक रहता है। कमलशील कहते हैं कि शब्दों से यदि किसी श्रोता को वक्ता की विवक्षा का ज्ञान नहीं होता है तो इसमें शब्द-लिङ्ग का दोष नहीं है, यह तो प्रमाता पर निर्भर करता है कि वह शब्द-लिङ्ग द्वारा वक्ता की विवक्षा का अनुमान करता है या नहीं।<sup>२००</sup>

शान्तरक्षित ने शब्द को कार्य हेतु तथा विवक्षा को साध्य बनाकर उसमें त्रैरूप्य हेतुलक्षण को

१९४. न प्रमाणान्तरं शब्दमनुमानात् तथा हि सः।—दिङ्नाग, उद्धृत तत्त्वसंग्रहपत्रिका, पृ० ५३९

१९५. शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भावः समानविधित्वात्।—प्रशस्तपाद भाष्य, अनुमानप्रकरण, पृ० १७३

१९६. न हि वाच्यैर्वस्तुभिः सह कश्चित् तादात्म्यलक्षणः तदुत्पत्तिलक्षणो वा प्रतिबंधो वचसामस्ति।—तत्त्वसंग्रहपत्रिका, १५१२, पृ० ५३८

१९७. नान्तरीयकता भावाच्छब्दानां वस्तुभिः सह।

नार्थसिद्धिस्ततस्ते हि वक्त्रभिप्रायसूचकाः।—प्रमाणवार्तिक, ३.२१३-२१४

१९८. शब्देऽप्यभिप्रायनिवेदनात्। प्रामाण्यं तत्र शब्दस्य नार्थतत्त्वनिबन्धनम्।—प्रमाणवार्तिक, १.३-४

१९९. वचोभ्यो निखिलेभ्योऽपि विवक्षैषानुमीयते।

प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां तदहेतुः सा हि निश्चिता।—तत्त्वसङ्ग्रह, १५१४

२००. ये पुनस्तासु लिङ्गभूतासु गीर्षु विशेषं नावधारयन्ति, तेषामयं दोषः न तु लिङ्गस्य।—तत्त्वसङ्ग्रहपत्रिका, १५१७, पृ० ५४१

भी सिद्ध किया है। पुरुष अथवा प्रदेश विशेष में शब्द का रहना पक्षधर्मत्व तथा तत्सदृश संतान में रहना सपक्षसत्त्व एवं विवक्षाविहीनपुरुषादि में शब्द का न रहना विपक्षासत्त्व है। इस प्रकार शब्द हेतु में त्रैरूप्य लक्षण घटित किया गया है।<sup>२०१</sup>

आप्तपुरुष के वचनों को भी बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने अविस्वादा सामान्य के कारण अनुमान प्रमाण ही माना है।<sup>२०२</sup> दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार शब्द पौरुषेय है। उन्होंने मीमांसकों द्वारा प्रतिपादित वेद के नित्यत्व एवं अपौरुषेयत्व का अपने ग्रंथों में विस्तृत एवं प्रबल खण्डन किया है।

बौद्ध कहते हैं कि शब्दों द्वारा विवक्षा का अनुमान संकेत की अपेक्षा से होता है। शब्द बाह्यार्थ में संकेतित नहीं होते हैं, तथा असंकेतित अर्थ का शब्द द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसलिए शब्द का संकेत ग्रहण पुरुषाश्रित होता है।<sup>२०३</sup> संकेत द्वारा ही शब्द विवक्षा का अनुमान कराने में समर्थ होते हैं। इसलिए शब्दज्ञान में संकेतभेद के कारण भेद देखा जाता है।<sup>२०४</sup>

संक्षेप में कहा जाय तो बौद्ध मत में शब्द बाह्यार्थ के अभिधायक नहीं होते हैं, क्योंकि उनका बाह्यार्थ के साथ तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति रूप प्रतिबन्ध नहीं होता है। वे अन्यापोह द्वारा वक्ता के अभिप्राय का अनुमान मात्र करते हैं।

## जैनदर्शन में आगम प्रमाण

जैनदार्शनिक शब्द अथवा आगम को अनुमान से पृथक् प्रमाण मानते हैं। आगम-प्रमाण का जैन दर्शन में क्या स्वरूप रहा है इस पर विचार अपेक्षित है।

जैन दर्शन में आप्तपुरुष के वचनादि से आविर्भूत अर्थज्ञान को आगमप्रमाण कहा गया है।<sup>२०५</sup> उपचार से आप्तपुरुष के वचनों को भी आगम माना गया है।<sup>२०६</sup> क्योंकि उन वचनों से ही अर्थज्ञान प्रकट होता है। आप्त पुरुष को परिभाषित करते हुए वादिदेवसूरि ने कहा है कि जो अभिधेय वस्तु को यथावस्थित रूप से जानता हो तथा जैसा जानता हो वैसा कहता हो वह आप्त है।<sup>२०७</sup> आप्त पुरुष का वचन अविस्वादी होता है।<sup>२०८</sup> उसमें धोखा या वंचना नहीं होती।

२०१. विवक्षायां च गम्यायां विस्पष्टैव त्रिरूपता ।

पुंसि धर्मिणि सा साध्या कार्येण वचसा यतः ॥— तत्त्वसङ्ग्रह, १५२०

२०२. आप्तवादाविस्वादासामान्यादनुमानता ।— प्रमाणवार्तिक, ३.२१७

२०३. अर्थज्ञापनहेतुर्हि संकेतः पुरुषाश्रयः ।— प्रमाणवार्तिक, ३.२२७

२०४. शब्दप्रतिपत्तिभेदस्तु संकेतभेदात् ।— प्रमाणवार्तिक (स्ववृत्ति), पृ० २१८

२०५. आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः ।— प्रमाणनयतत्त्वालोक, ४.१

२०६. उपचारदाप्तवचनं च ।— प्रमाणनयतत्त्वालोक, ४.२

२०७. अभिधेयं वस्तु यथावस्थितं यो जानीते, यथाज्ञानं चाभिधेते स आप्तः ।— प्रमाणनयतत्त्वालोक, ४.४

२०८. तस्य हि वचनमविस्वादि भवति ।— प्रमाणनयतत्त्वालोक, ४.५

आप्तपुरुष दो प्रकार के होते हैं - लौकिक एवं लोकोत्तर ।<sup>२०९</sup> पिता, माता, गुरुजन आदि लौकिक आप्त हो सकते हैं तथा तीर्थकर अथवा केवलज्ञानी पुरुष लोकोत्तर आप्त कहे गये हैं ।<sup>२१०</sup> तीर्थकरों द्वारा प्ररूपित वाणी को जैनदर्शन में 'आगम' कहा गया है । ये आगम जैनदर्शन में प्रमाण रूप में प्रतिष्ठित हैं । लौकिक व्यवहार में जिस पुरुष का वचन अविश्ववादी होता है, उसे भी प्रमाण मानने में जैनदार्शनिकों को आपत्ति नहीं है । बौद्ध आदि अन्य भारतीय दार्शनिकों की भांति जैन दार्शनिकों ने भी मीमांसासम्मत वेद के अपौरुषेयत्व एवं आगमत्व का खण्डन किया है । न्यायदर्शन में प्रतिपादित शब्द प्रमाण के स्वरूप से जैन दार्शनिकों का विरोध नहीं है, क्योंकि न्यायदर्शन में आप्तपुरुष के उपदेश को शब्द प्रमाण माना गया है ।<sup>२११</sup>

'आगम' शब्द के स्थान पर अकलङ्क के ग्रंथों में 'श्रुत' शब्द का भी प्रयोग हुआ है । वे श्रुतज्ञान को अविश्ववादी होने से प्रमाण मानते हैं ।<sup>२१२</sup> जैन दर्शन में मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव एवं केवल इन पांच ज्ञानों का वर्णन हुआ है । अकलङ्क ने मतिज्ञान को इन्द्रिय प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क एवं अनुमान प्रमाणों के रूप में प्रस्तुत किया है, अवधि, मनःपर्यव एवं केवल ज्ञान को अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है । श्रुतज्ञान का भी प्रामाण्य प्रतिपादन आवश्यक था । श्रुतज्ञान को वे शब्दात्मक सम्यग्ज्ञान के रूप में स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं, क्योंकि उन्होंने श्रुतज्ञान के तीन भेद किये हैं- १ प्रत्यक्षनिमित्तक, २ अनुमाननिमित्तक एवं ३ आगमनिमित्तक ।<sup>२१३</sup> श्रुतज्ञान की उत्पत्ति प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा आगम में किसी से भी हो सकती है । वे मति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध आदि ज्ञानों को शब्द का संयोजन होने पर श्रुतज्ञान मानते हैं ।<sup>२१४</sup> इससे प्रतीत होता है कि अकलङ्क द्वारा प्रयुक्त 'श्रुतज्ञान' शब्द शब्दयुक्त ज्ञान के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिसमें आगम-प्रमाण भी समाविष्ट है । नय, सप्तभङ्गी एवं स्याद्वाद भी श्रुतज्ञान के ही फलित हैं । प्रमाण के द्वारा जाने गए विषय के एक अंश को नय के द्वारा जाना जाता है । प्रमाण सकलादेश एवं नय विकलादेश होता है । नयवाक्य का कथन सप्तभङ्गी एवं स्यात् के रूप में किया जाता है ।

जैन दार्शनिकों ने शब्द को अर्थ का वाचक स्वीकार किया है । वे शब्द में अर्थ का वाचक होने की सहज योग्यता मानते हैं तथा शब्दों को अर्थज्ञान कराने में संकेतक मानते हैं ।<sup>२१५</sup> शब्द अपने संकेतित अर्थ के ही प्रकाशक होते हैं । एक शब्द से समस्त अर्थों का ज्ञान नहीं होता । भिन्न-भिन्न

२०९. स च द्वेषा - लौकिको लोकोत्तरश्च ।- प्रमाणनयतत्त्वालोक, ४, ६

२१०. लौकिको जनकादि; लोकोत्तरस्तु तीर्थकरादि: ।- प्रमाणनयतत्त्वालोक, ४, ७

२११. आप्तोपदेश: शब्द: ।- न्यायसूत्र, १.१.७

२१२. प्रमाणं श्रुतमर्थेषु ।- लघीयस्त्रय, २६

२१३. (१) त्रिधा श्रुतमविप्लवम् ।- प्रमाणसंग्रह, १.२

(२) श्रुतम् अविप्लवम् प्रत्यक्षानुमानागमनिमित्तम् ।- प्रमाणसंग्रह, वृत्ति, १.२

२१४. ज्ञानमाद्यं मति: संज्ञा चिन्ता वाभिनिबोधिकम् ।

प्राङ्नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ।- लघीयस्त्रय, १०

२१५. सहजयोग्यतासंकेतवशाद्भिः शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतव: ।- परीक्षामुख, ३.९६

शब्दों द्वारा भिन्न-भिन्न अर्थों अथवा पदार्थों का बोध होता है। शब्द एवं अर्थ (पदार्थ) में स्वाभाविक वाचक-वाच्य सम्बन्ध होता है, अर्थात् शब्द अपनी योग्यता अथवा स्वभाव से ही अर्थ के वाचक होते हैं। कुत्रचित् अर्थाभाव में शब्द उपलब्ध होने से सर्वत्र उनमें व्यभिचार नहीं कहा जा सकता। जैन दार्शनिकों ने जिस अर्थ को शब्द का वाच्य माना है वह मात्र स्वलक्षण या सामान्यलक्षण नहीं, अपितु सामान्यविशेषात्मक है।

### बौद्ध मान्यता का खण्डन

जैनदार्शनिकों ने आगम अथवा शब्द को अनुमान से पृथक् प्रमाण माना है तथा बौद्ध दार्शनिकों द्वारा उसका अनुमान में अन्तर्भाव करने का खण्डन किया है। यहां पर अकलङ्क, प्रभाचन्द्र, एवं वादिदेवसूरि द्वारा किया गया खण्डन प्रस्तुत है।

### अकलङ्क की युक्तियां

अकलङ्क ने श्रुतज्ञान अथवा आगम का अनुमान से पृथक् प्रामाण्य स्थापित किया है तथा बौद्धमत का सबल खण्डन करते हुए कहा है कि 'विवक्षा' से अन्यत्र भी शब्द का प्रामाण्य है। बाह्य द्वीप, देश, नदी, पर्वत, आदि का बौद्धों द्वारा प्रतिपादित स्वभाव हेतु एवं कार्यहेतु से ज्ञान नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनमें कभी इन हेतुओं का प्रत्यक्ष नहीं हुआ है तथापि देशान्तर में स्थित इन द्वीप, नदी, पर्वत आदि का अविस्वादी ज्ञान प्रसिद्ध है।<sup>२१६</sup> यह अविस्वादी ज्ञान श्रुतज्ञान अथवा शब्द के प्रमाण मानने पर ही सिद्ध हो सकता है। यदि कहीं बाह्य अर्थ के अभाव में भी शब्द का प्रयोग होने से सभी शब्दों को व्यभिचारी कहा जाता है तो उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इस प्रकार तो प्रत्यक्ष एवं अनुमान में भी कुत्रचित् व्यभिचार या विस्वाद पाया जाता है।<sup>२१७</sup> बौद्धदर्शन में जिस प्रकार अभ्रान्त या अव्यभिचारी विशेषण का प्रयोग किये बिना इन्द्रिय प्रत्यक्ष को प्रमाण नहीं कहा जाता है, इसी प्रकार अविस्वादी अथवा अव्यभिचारी श्रुतज्ञान को प्रमाण कहने में क्या बाधा है?<sup>२१८</sup> कुत्रचित् व्यभिचार पाये जाने से समस्त शब्दों के प्रामाण्य पर अविश्वास करना उचित नहीं है।

तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति रूप प्रतिबन्ध के अभाव में भी जिस प्रकार कृत्तिका नक्षत्र के उदय से शकट नक्षत्र के उदय का अव्यभिचारित अनुमान कर लिया जाता है उसी प्रकार अर्थ एवं शब्द में

२१६. प्रमाणं श्रुतमर्थेषु सिद्धं द्वीपान्तरादिषु ।

अनाश्वासं न कुर्वीरं कुर्वित् तदव्यभिचारतः ॥-लघीयस्त्रय, २६

श्रुतज्ञानं वक्त्राभिप्रायादर्थान्तरेऽपि प्रमाणम् । कथमन्यथाद्वीपदेशनदीपर्वतादिकमदृष्टस्वभावकार्यं दिग्बिभागेन देशान्तरस्थं प्रतिपत्तुमर्हति निरारोकमविस्वादं च ॥-लघीयस्त्रयवृत्ति का. २६, अकलङ्कग्रन्थत्रय, पृ. ९

२१७. प्रायः श्रुतेर्विस्वादात् प्रतिबन्धमपश्यताम् ।

सर्वत्र चेदनाश्वासं सोऽक्षलिङ्गभिर्ध्यां समः ॥-लघीयस्त्रय, २७

२१८ न हि इन्द्रियज्ञानम् अभ्रान्तमव्यभिचारीति वा विशेषणमन्तरेण प्रमाणम् अतिप्रसंगात् । तथाविशेषणे श्रुतज्ञाने कोऽपरितोषः ? —लघीयस्त्रयवृत्ति, २७, अकलङ्कग्रन्थत्रय, पृ. ९

तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति प्रतिबन्ध के अदृष्ट होने पर भी शब्द से अर्थ का अविश्ववादी ज्ञान होता है, इसलिए शब्द अथवा श्रुतज्ञान को प्रमाण मानना चाहिए।<sup>२१९</sup> यदि क्वचित् व्यभिचार होने से समस्त शब्दों का अर्थ के साथ अप्रामाण्य माना जाता है तो ऐसा व्यभिचार तो वक्ता के अभिप्राय अर्थात् 'विवक्षा' का अनुमान करने में भी संभव है, वक्ता का अभिप्राय भिन्न होने पर भी वह न चाहते हुए भी भिन्न शब्दों का उच्चारण कर सकता है, अतः शब्दों से वक्ता के अभिप्राय का अनुमान करना भी दोषयुक्त होने से अप्रमाण सिद्ध होगा।<sup>२२०</sup>

यदि हेतुवादरूप शब्द के द्वारा अर्थ का निश्चय न हो तो साधन और साधनाभास की व्यवस्था नहीं हो सकती। इसी प्रकार आप्त के वचन के द्वारा बाह्यार्थ का निश्चय न हो तो आप्त और अनाप्त की व्यवस्था भी नहीं हो सकती।<sup>२२१</sup> सुगत एवं तदितरकपिल आदि में आप्त एवं अनाप्त की व्यवस्था के लिए स्वयं बौद्धों ने साधनाङ्ग एवं असाधनाङ्ग का निरूपण किया है, जो शब्द के प्रामाण्य को पुष्ट करता है।

यदि पुरुष के अभिप्रायों में विचित्रता होने के कारण शब्द अर्थ का व्यभिचारी हो सकता है, अथवा तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति प्रतिबन्ध के असिद्ध होने से सर्वत्र शब्द के प्रामाण्य में विश्वास नहीं होता है तो अकलङ्कदेव कहते हैं कि तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति के बिना भी परोक्ष अर्थ का अविश्ववादी ज्ञान होता है। "यह वृक्ष है, शिशपा होने से" तथा "यहां अग्नि है, धूम होने से" इन अनुमानवाक्यों में स्वभाव एवं कार्यहेतु सर्वथा अव्यभिचारित नहीं है, क्योंकि शिशपा कहीं लता भी हो सकती है, तथा अग्नि कहीं मणि आदि से भी उत्पन्न हो सकती है। तब "धूम अग्नि से ही उत्पन्न होता है, अन्य पदार्थ से नहीं" यह नियम कैसे बन सकता है। जिस प्रकार कार्य एवं स्वभावहेतु का प्रामाण्य स्वीकार किया गया है उसी प्रकार शब्द का अपने अर्थ को अविश्ववादकरूप से प्रकाशित करने के कारण प्रामाण्य मानना चाहिए।<sup>२२२</sup>

अकलङ्क बौद्ध मंतव्य का निरसन करते हुए कहते हैं कि यदि शब्द विवक्षामात्र के वाचक माने जाते हैं तो उनमें सत्यत्व एवं मिथ्यात्व की व्यवस्था नहीं हो सकती, क्योंकि दोनों ही प्रकार के (सत्य एवं मिथ्या) शब्द अपनी अपनी विवक्षा का अनुमान कराते हैं।<sup>२२३</sup> शब्द में सत्य एवं असत्य की

२१९. यथा कृतिकादेः शकटादिज्ञानं स्वभावप्रतिबन्धमन्तरेण तथैवादृष्टप्रतिबन्धाधीनं ज्ञानमविविवादाकम् ।-लघीयस्त्रयवृत्ति, २७, अकलङ्कग्रन्थत्रय, पृ. ९

२२०. (१) क्वचिद् व्यभिचारे साकल्येनाऽनाशवासो वक्त्रभिप्रायेऽपि वाचः कथमनाशवासो न स्यात् तत्रापि व्यभिचारसम्भवात् । तथानिच्छतः श्रुतिकल्पनादुद्घादेः उच्चारणात् ।-लघीयस्त्रयवृत्ति २७, अकलङ्कग्रन्थत्रय, पृ. ९

(२) द्रष्टव्य, लघीयस्त्रय, ६४-६५

२२१. आप्तोक्तेहेतुवादाच्च बहिरर्थाविनिश्चये । सत्येतरव्यवस्था का साधनेतरता कुतः ॥-लघीयस्त्रय, २८

२२२. लघीयस्त्रयवृत्ति, २९, अकलङ्कग्रन्थत्रय, पृ. १०

२२३. (१) वाक्यानामविशेषेण वक्त्रभिप्रेतवाचिनाम् ।

सत्यानृतव्यवस्था स्यातत्वमिथ्यादर्शनात् ॥-सिद्धिविनिश्चय, ९, २८

(२) वक्त्रभिप्रायाद्भिन्नस्थार्थस्य वाचकाः शब्दाः सत्यानृतव्यवस्थान्यथानुपपत्तेः ।-लघीयस्त्रयवृत्ति, ६४, अकलङ्कग्रन्थत्रय, पृ. २२, १४

व्यवस्था अर्थप्राप्ति एवं अप्राप्ति पर निर्भर करती है विवक्षा पर नहीं।

बौद्ध स्वलक्षण में संकेत ग्रहण नहीं मानते हैं।<sup>२२४</sup> अकलङ्क ने जैन मतानुसार निरूपण करते हुए प्रतिपादित किया है कि सामान्यविशेषात्मक अर्थ में ही शब्दों द्वारा संकेत ग्रहण किया जाता है मात्र सामान्य एवं स्वलक्षण अर्थों में नहीं। क्योंकि केवल सामान्य में यदि संकेत ग्रहण किया जाय तो विशेष व्यक्तियों में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। केवल मात्र विशेष में भी संकेत ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि अनन्त विशेष हमारे ज्ञान के विषय नहीं बनते हैं। पदार्थों में रहे हुए सदृश धर्मों की अपेक्षा से शब्द का अर्थ में संकेत होता है।<sup>२२५</sup> जिस शब्द व्यक्ति में अर्थव्यक्ति का संकेत ग्रहण किया जाता है वह भले ही व्यवहार काल तक न रहे पर तत् सदृश दूसरे शब्द से तत् सदृश दूसरे अर्थ का बोध होने में कोई बाधा नहीं है। एक घट शब्द का एक घट अर्थ में संकेत ग्रहण करने के पश्चात् तत्सदृश यावत् घट शब्दों की घट अर्थों में प्रवृत्ति होती है।

संकेत ग्रहण करने के पश्चात् शब्दार्थ का स्मरण कर व्यवहार किया जाता है, अतः शब्द को अर्थ का संकेतग्राही मानकर प्रमाण मानने में कोई बाधा नहीं है।

### प्रभाचन्द्र एवं वादिदेवसूरि के तर्क

प्रभाचन्द्र एवं वादिदेवसूरि द्वारा आगम का पृथक् प्रामाण्य स्थापित करते हुए बौद्ध मत का खण्डन करने हेतु जो तर्क दिये गये हैं उनमें विशेष अन्तर नहीं है। इन दार्शनिकों का मतव्य है कि शब्द का अनुमान-प्रमाण में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता, क्योंकि शब्द एवं अनुमान-प्रमाण के विषय भिन्न-भिन्न हैं। शब्द का विषय अर्थमात्र है जबकि अनुमान-प्रमाण का विषय साध्यधर्मविशिष्ट धर्मों है। शब्द एवं अनुमान-प्रमाण की सामग्री भी भिन्न है। अनुमान में पक्षधर्मत्वादि त्रिरूपता संभव है जबकि वह शब्द में संभव नहीं है। शब्द में पक्षधर्मता संभव नहीं है, क्योंकि उसमें धर्मों का अभाव है। यदि शब्द ही धर्मों है तो हेतु क्या होगा? शब्द को ही हेतु एवं धर्मों मानने पर प्रतिज्ञातार्थैकदेशत्व दोष का प्रसंग आता है। शब्द एवं अर्थ में अन्वय एवं व्यतिरेक भी संभव नहीं है, क्योंकि जिस देश में शब्द रहता है वहां अर्थ नहीं होता। शब्द तो मुख में उपलब्ध होता है जबकि अर्थ भूमि पर। व्यवहारी पुरुष भी जहां जहां पिण्डखजूर शब्द को सुनता है वहां वहां पिण्डखजूर अर्थ के अस्तित्व को नहीं मानता है, जबकि अनुमान में जहां धूम होता है वहां अग्नि अवश्य होती है। शब्द एवं अर्थ में अन्वय-सम्बन्ध नहीं है तो व्यतिरेक भी नहीं होता, क्योंकि अन्वयपूर्वक ही व्यतिरेक होता है। यदि जो शब्द जिस अर्थ में देखा जाता है, वह उसका वाचक होता है तथा जिस अर्थ में नहीं देखा जाता है वह उसका वाचक नहीं होता इस प्रकार का अन्वयव्यतिरेक मानते हैं तो वह जैनों को भी अभीष्ट है। किन्तु इस प्रकार का अन्वयव्यतिरेक होने से शब्द को अनुमान में समाविष्ट नहीं किया

२२४. शब्दाः संकेतितं प्राहुर्व्यवहाराय स स्मृतः ।

तदा स्वलक्षणे नास्ति संकेतस्तेन तत्र न ॥—प्रमाणवार्तिक, ३.९२

२२५. समानपरिणामार्थे संकेताच्छब्दवृत्तितः ।—प्रमाणसंग्रह, ६४

जा सकता, क्योंकि इस प्रकार का अन्वयव्यतिरेक तो प्रत्यक्ष-प्रमाण में भी उपलब्ध होता है। जहां घट होता है वहां उसका प्रत्यक्ष होता है तथा जहां घट नहीं होता वहां उसका प्रत्यक्ष भी नहीं होता।<sup>२२६</sup>

शब्द में अर्थ को प्रकाशित करने की योग्यता होती है, अतः शब्द प्रमाण है। उसका अनुमान में अन्तर्भाव करना उचित नहीं है, क्योंकि वह अनुमिति क्रिया के बिना भी अर्थ का प्रकाशन करता है। बौद्ध जिस प्रकार अर्थाभाव में शब्द के विद्यमान होने से अर्थ के साथ शब्द का व्यभिचार मानते हैं उसी प्रकार विवक्षा के साथ भी शब्द का व्यभिचार देखा जाता है। किसी को पुकारते समय गोत्र स्वलन आदि होने पर विवक्षा से अन्य शब्दों का प्रयोग दिखाई देता है अतः विवक्षा के साथ भी शब्दों का व्यभिचार है। यदि सुविवेचित कार्य जिस प्रकार कारण के साथ व्यभिचरित नहीं होता है<sup>२२७</sup> उसी प्रकार विचार पूर्वक प्रयुक्त शब्दों का विवक्षा के साथ व्यभिचार नहीं पाया जाता है तो यह नियम तो संकेत आदि से युक्त शब्द द्वारा बाह्यार्थ के वाच्य होने में भी लागू होता है। इसीलिए भली प्रकार सोच समझकर प्रयुक्त किये गये शब्दों का सामान्यविशेषात्मक बाह्यार्थ के साथ व्यभिचार दिखाई नहीं देता है।

शब्द का अनुमेय विवक्षा को या विवक्षा में अधिरूढ अर्थ को मानना उचित नहीं है, क्योंकि उससे बाह्यार्थ की प्रतिपत्ति, उसमें प्रवृत्ति एवं प्राप्ति नहीं होती है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान से प्रतिपत्ता को अर्थ की प्रतिपत्ति होती है उसी प्रकार संकेतसापेक्ष शब्दों से अर्थ की प्रतिपत्ति होती है।

प्रभाचन्द्र बौद्धों से प्रश्न करते हैं कि विवक्षा किसे कहते हैं? शब्द के उच्चारण करने की इच्छा मात्र विवक्षा है, अथवा 'इस शब्द से यह अर्थ कहूंगा' इस प्रकार अभिप्राय विवक्षा है? प्रथमपक्ष में तो वक्ता एवं श्रोता की शास्त्रादि में प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि कोई भी सजग वक्ता और श्रोता शब्दोच्चारण की इच्छा मात्र के लिए शास्त्र या वाक्यान्तर का प्रणयन या श्रवण करने के लिए प्रवृत्त नहीं होता है। फिर तो 'दशदाडिम' आदि निरर्थक वाक्यों एवं अन्य सार्थक वाक्यों में कोई भेद ही नहीं रह जायेगा। यदि 'इस शब्द से यह अर्थ कहूंगा' इस अभिप्राय को विवक्षा कहते हैं तथा शब्दों द्वारा विवक्षा का अनुमान होता है तो यह मान्यता भी उचित नहीं है, क्योंकि शुकसारिका एवं उन्मत्तादि पुरुषों के शब्द विवक्षा का कथन नहीं करते हैं।<sup>२२८</sup>

सारांश यह है कि बौद्ध दार्शनिक जहां शब्द के द्वारा मात्र वक्ता की विवक्षा का अनुमान होना स्वीकार करते हैं वहां जैन दार्शनिक शब्द के साथ अर्थ का संकेत सम्बन्ध स्वीकार करते हुए शब्द या आगम को पृथक् प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। जैन दार्शनिकों का मन्तव्य है कि जो शब्द अविस्वादाक रूप से अर्थ का कथन करते हैं वे प्रमाण हैं। विवक्षा से अन्यत्र भी शब्द का प्रामाण्य है तथा विवक्षा भी शब्द से व्यभिचरित हो सकती है, इसलिए विवक्षा के कारण शब्द का अनुमानप्रमाण

२२६. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. ५३२-५३५ एवं स्याद्वादरत्नाकर, पृ. ६२०-६२२

२२७. तुलनीय, सुविवेचित लिङ्गान व्यभिचरति - तत्त्वसङ्ग्रहपञ्जिका, पृ. ५२६

२२८. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ. ५७४-७७



में अन्तर्भाव करना उचित नहीं है।

## अपोह - विचार

बौद्ध दर्शन में शब्द से अर्थ का वाच्य अन्यापोह है। अतः अब अन्यापोह अथवा अपोह पर विचार अपेक्षित है।

### बौद्धदर्शन में अपोह

बौद्धों की यह मान्यता है कि शब्द बाह्यार्थ को प्रकाशित नहीं कर सकते। बाह्य अर्थ स्वलक्षणरूप होता है जो क्षणिक एवं निरंश होता है अतः शब्द स्वलक्षण में संकेतग्राही नहीं होता है।<sup>२२९</sup> दिङ्नाग ने स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि शब्द विकल्प से उत्पन्न होते हैं तथा विकल्प शब्द से उत्पन्न होते हैं, वे दोनों परस्पर कार्यकारण रूप में सम्बद्ध हैं तथा शब्द स्वलक्षण अर्थ का स्पर्श करने में भी समर्थ नहीं हैं।<sup>२३०</sup> शब्द एवं अर्थ दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं तथा उनका परस्पर न तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध है और न तदुत्पत्तिलक्षण सम्बन्ध। शब्द को श्रोत्र से सुना जाता है जबकि अर्थ को चक्षु आदि से देखा जाता है। इसलिए इनमें तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध नहीं है।<sup>२३१</sup> अर्थ से शब्द उत्पन्न नहीं होता है, अर्थाभाव में भी शब्द देखा जाता है इसलिए इनमें तदुत्पत्तिलक्षण सम्बन्ध भी नहीं है।<sup>२३२</sup> 'दाह' शब्द को सुनने पर जलने का अनुभव नहीं होता,<sup>२३३</sup> इससे सिद्ध होता है कि शब्द से अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं है। शब्द के द्वारा सामान्य या जाति को भी विषय नहीं किया जाता, क्योंकि यह बौद्ध मत में असत् है। बौद्धों ने स्वलक्षण से भिन्न एक सामान्यलक्षण प्रमेय की कल्पना अवश्य की है, किन्तु वह नैयायिकों के सामान्य से भिन्न है। वह सामान्यलक्षण अर्थ ही अन्यापोह के रूप में शब्द का विषय बनता है।

अन्यापोह का संक्षिप्त नाम अपोह है। अन्यापोह का अर्थ है अतद्व्यावृत्ति। 'गौ' शब्द गोभिन्न (अगो) की व्यावृत्ति (निषेध) करके अपना अर्थ (अभिप्राय) प्रकट करता है।<sup>२३४</sup> अर्थात् जो वैसा (तत्) नहीं है उसकी व्यावृत्ति करना अन्यापोह है। 'अन्यापोह' के सिद्धान्त का सर्वप्रथम प्रणयन दिङ्नाग ने किया था।<sup>२३५</sup> प्रमाणसमुच्चय का पंचम परिच्छेद अपोह से ही सम्बद्ध है, किन्तु आज वह संस्कृत

२२९. तत्र स्वलक्षणं तावन्न शब्दैः प्रतिपाद्यते ।-तत्त्वसङ्ग्रह, ८७१

२३०. विकल्पयोनयः शब्दाः विकल्पाः शब्दयोनयः ।

कार्यकारणता तेषां नार्थ शब्दाः स्पृशन्त्यपि ॥-दिङ्नाग, उद्धृत Buddhist Logic, Vol.2, p.405, F.N.1

२३१. श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दो गृह्यते, अर्थस्तु चक्षुरादिना ।-तत्त्वसङ्ग्रहपञ्जिका, १५१२, पृ. ५३८

२३२. नापि तदुत्पत्तिलक्षणसम्बन्धः, व्यभिचारात् ।-तत्त्वसङ्ग्रहपञ्जिका, १५१२, पृ. ५३९

२३३. अन्यथैवाग्निसम्बन्धाद् दाहं दग्धोऽभिमन्यते ।

अन्यथा दाहशब्देन दाहाद्यर्थः प्रतीयते ॥-वाक्यपदीय, काण्ड-२ श्लोक ४१८ । यह श्लोक बौद्धमत की पृष्टि में अनेकत्र उद्धृत किया गया है।

२३४. स्वार्थमन्यापोहेन षाषते ।-प्रमाणसमुच्चय ५.१, उद्धृत, तत्त्वसङ्ग्रहपञ्जिका, ५२९

२३५. (i) Buddhist Logic, Vol. 2, p. 404

(ii) The Buddhist Philosophy of Universal flux, p.131

(iii) The Differentiation Theory of Meaning in Indian Logic, p.25

में अनुपलब्ध है।

प्रायः अपोह का स्वरूप निषेधात्मक अथवा अभावात्मक होता है, क्योंकि इसमें अतद् का निषेध किया जाता है। अतद् का निषेध करने पर भी वह अपोह, आधार, वासना आदि भेदों से अनेक प्रकार का होता है।<sup>२३६</sup>

शान्तरक्षित के तत्त्वसङ्ग्रह में सामान्य रूप से अपोह के दो भेद प्रतिपादित हैं- पर्युदास एवं प्रसज्य। पर्युदास अपोह भी दो प्रकार का है बुद्ध्यात्मा एवं अर्थात्मा।<sup>२३७</sup> इनमें बुद्ध्यात्मा पर्युदास ही प्रमुख अपोह है, जो बुद्धि में अर्थप्रतिबिम्ब के रूप में रहता है।<sup>२३८</sup> जिस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान में अर्थाकारता होती है उसी प्रकार बुद्ध्यात्मा अपोह में अर्थ प्रतिबिम्ब बनता है।<sup>२३९</sup> 'अर्थात्मा' पर्युदास अपोह 'स्वलक्षण' अर्थरूप है जो अन्य अर्थों से उसकी व्यावृत्ति का बोध कराता है। प्रसज्य नामक अपोह भाव का अभाव रूप में ज्ञान कराता है, यथा 'गो' का अर्थ है 'अगो' का प्रतिषेध।<sup>२४०</sup> इन तीनों प्रकार के अपोहों में मुख्य रूप से बुद्ध्यात्मा अपोह को ही शब्दों के द्वारा प्रतिपादित किया जाता है। शब्द के द्वारा बुद्धि में अर्थ प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है जो विकल्पान्तर अर्थों का अपोह करता है। शब्द से उत्पन्न होने के कारण अपोह रूप अर्थप्रतिबिम्ब वाच्य होता है तथा शब्द वाचक होता है। दूसरे शब्दों में शब्द कारण होता है तथा अर्थप्रतिबिम्ब कार्य होता है।<sup>२४१</sup> साक्षात् शब्द से जन्य होने के कारण प्रतिबिम्बलक्षण अपोह मुख्य शब्दार्थ है।<sup>२४२</sup> अन्य दोनों अपोह गौण रूप से शब्दार्थ हैं।

कमलशील कहते हैं कि अर्थप्रतिबिम्ब रूप में जो बौद्धदर्शन में अपोह प्रतिपादित किया गया है वह भी एक विशेष प्रकार का निषेध मात्र है उसे भावात्मक नहीं जानना चाहिए।<sup>२४३</sup> अर्थप्रतिबिम्ब

२३६. तत्र केचिद् बौद्धाः परिहारमाहुः—न खल्वपोहभेदाद्, आधारभेदाद् वा अपोहानां भेदः, वासनाभेदाद् भेदः सद्रूपता चापोहानां भविष्यति ।— तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, १५९, पृ. ३७६

२३७. तथाहि द्विविधोऽपोहः पर्युदासनिषेधतः ।

द्विविधः पर्युदासोऽपि बुद्ध्यात्मार्यात्म्यभेदतः ॥—तत्त्वसङ्ग्रह, १००३

२३८. When a word is spoken, it is the thought image of an object which is directly evoked in our mind, and therefore that is the principal meaning of a word.—D.N., Shastri, Critique of Indian Realism, p. 358

२३९. यज्ज्ञाने भात्यर्थप्रतिबिम्बकम् ।—तत्त्वसंग्रह, १००५

२४०. प्रसज्यप्रतिषेधश्च गौरगौरं भवत्ययम् ।

अतिविस्पष्ट एवायमन्यापोहोऽवगम्यते ॥—तत्त्वसंग्रह, १००९

२४१. तत्रायं प्रथमः शब्दरपोहः प्रतिपाद्यते ।

बाह्यार्थाध्यवसायिन्या बुद्धेः शब्दात् समुद्भवात् ॥

तद्रूपप्रतिबिम्बस्य धियः शब्दाच्च जन्मनि ।

वाच्यवाचकभावोऽयं जातो हेतुफलात्मकः ॥—तत्त्वसङ्ग्रह, १०१०-११

२४२. एवं तावत् प्रतिबिम्बलक्षणोऽपोहः साक्षाच्छब्दैरुपजन्यमानत्वात् मुख्यः शब्दार्थ इति ।—तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, १०१२, पृ. ३९३

२४३. But one should not forget that according to the Buddhist, even the thought-image is not positive, but is only a kind of special negation (pariyudasa). Critique of Indian Realism, p. 359

के रूप में शान्तरिक्षित ने उसे भावात्मक भी प्रतिपादित किया है। जिनेन्द्रबुद्धि ने अपोहवाद के पोषण में प्रतिपादित किया है कि हम अतद् का निषेध किये बिना तद् को नहीं जान सकते। भावात्मक रूप में भी हम 'गो' को जानना चाहें तो गौ से भिन्न अश्ववादि की व्यावृत्ति करना आवश्यक हो जाता है।<sup>२४४</sup> बौद्ध दार्शनिक रत्नकीर्ति (१० वीं शती) का मत है कि अपोह के द्वारा शब्द का केवल विधि रूप अर्थ अभिप्रेत नहीं है और न केवल अन्यव्यावृत्त रूप अर्थ अभिप्रेत है, अपितु अन्यव्यावृत्ति विशिष्ट विधि अर्थ अभिप्रेत है।<sup>२४५</sup>

शब्द के अतिरिक्त लिङ्ग (हेतु) द्वारा भी अपोह का ही प्रतिपादन किया जाता है, ऐसा दिङ्नाग का निर्देश है।<sup>२४६</sup> धर्मकीर्ति ने स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि शब्द एवं विकल्प का विषय वस्तु नहीं हो सकता। उसका विषय सामान्यरूप में अन्यापोह होता है।<sup>२४७</sup>

बौद्ध दार्शनिक वस्तुवादी दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित जाति, जातिवाद आदि का खण्डन कर 'अपोह' की स्थापना करते हैं, तथापि जाति की कुछ विशेषताएं अपोह में भी आ गयी है, यथा-एकत्व, नित्यत्व, प्रत्येक, परिसमाप्ति आदि।<sup>२४८</sup> विभिन्न दार्शनिकों के मन्तव्यों से डी. एन. शास्त्री प्रतिपादित करते हैं कि 'जाति' की कल्पना भावात्मक है तथा 'अपोह' की कल्पना अभावात्मक अथवा निषेधात्मक, किन्तु दोनों के द्वारा अनुवृत्ति एवं व्यावृत्ति प्रतीति होने में कोई बाधा नहीं है।<sup>२४९</sup>

बौद्ध दर्शन के अपोहवाद का खण्डन न्याय, मीमांसा, वैशेषिक आदि समस्त वस्तुवादी दर्शनों द्वारा किया गया है। कुमारिल, वाचस्पतिमिश्र, जयन्त एवं श्रीधर के ग्रंथों में 'अपोह' सिद्धान्त का विस्तृत खण्डन किया गया है।<sup>२५०</sup> सर्वाधिक चर्चा कुमारिल भट्ट के श्लोकवार्तिक में मिलती है।<sup>२५१</sup>

## जैनदर्शन में अपोहवाद का निरसन

जैनदर्शन में अपोहवाद का खण्डन यूं तो अकलङ्क, हरिभद्र, विद्यानन्द, अभयदेव, प्रभाचन्द्र

२४४. द्रष्टव्य, जिनेन्द्रबुद्धि की प्रमाणसमुच्चयटीका के अंश का अनुवाद, Buddhist Logic, Vol. 1, p. 461

२४५. नास्माभिरपोहशब्देन विधरेव केवलो ऽभिप्रेतः नाप्यन्यव्यावृत्तिमात्रम् । किन्त्वन्यापोहविशिष्टो विधिः शब्दानामर्थः ।  
-रत्नकीर्तिनिबन्धावलि, पृ. ५४

२४६. अपोहः शब्दलिङ्गभ्यां प्रतिपाद्यते ।— प्रमाणवार्तिक (मनोरथनन्दिवृत्ति), पृ. २९९ पर उद्धृत

२४७. तेनान्यापोहविषयाः प्रोक्ताः सामान्यगोचराः ।

शब्दाश्च बुद्ध्यश्वेव वस्तुन्येषामसम्भवात् ।—प्रमाणवार्तिक, ३.१.३४-३५

२४८. आचार्य दिङ्नागेनोक्तम् - "सर्वत्राभेदादाश्रयस्यानुच्छेदात् कृत्स्नार्थपरिसमाप्येष्ट यथाक्रमं जातिधर्मा एकत्वप्रत्येक-परिसमाप्तिलक्षणा अपोह एवावतिष्ठन्ते ।- तत्त्वसङ्ग्रहपञ्जिका, पृ. ३८९

२४९. Critique of Indian Realism, p. 368

२५०. द्रष्टव्य, (१) मीमांसाश्लोकवार्तिक, अपोहवादपरिच्छेद

(२) न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, कलकत्ता संस्कृत सीरीज, पृ. ६८३-८६

(३) न्यायमञ्जरी, बनारस, १९३६ पृ. २७९

(४) न्यायकन्दली, पृ. ७५६-७६५

२५१. (1) The refutation given by Kumarila is the longest and, perhaps the most intricate, D.N. Shastri, Critique of Indian Realism, p. 363.4

(2) द्रष्टव्य, The Buddhist Philosophy as presented in Mīmāṃsā slokavārtika, Chapter VII.

आदि दार्शनिकों के ग्रंथों में मिलता है, किन्तु व्यवस्थित खण्डन प्रभाचन्द्र एवं वादिदेवसूरि के ग्रंथों में प्राप्त होता है। यहां पर अकलङ्क, विद्यानन्द, अभयदेव, प्रभाचन्द्र एवं वादिदेवसूरि कृत खण्डन प्रस्तुत है।

### अकलङ्क द्वारा निरसन

भट्ट अकलङ्क ने बौद्ध सम्मत अन्यापोह को पूर्व पक्ष में रखकर उसका विधिवत् खण्डन किया है।

**पूर्वपक्ष (बौद्धमत)** -शब्द स्वलक्षण में संकेत ग्रहण नहीं करते हैं, क्योंकि स्वलक्षण में शब्दों द्वारा संकेत ग्रहण करना निष्फल रहता है। निष्फल इसलिए रहता है, क्योंकि जिस स्वलक्षण में संकेत ग्रहण किया जाता है वह स्वलक्षण पुनः इन्द्रियगोचर नहीं होता, अतः संकेत ग्रहण करना सार्थक नहीं रह पाता। शब्द स्वयं भी स्वलक्षण संकेत ग्रहण करने में अशक्त हैं, क्योंकि शब्द एवं स्वलक्षण अर्थ भिन्न-भिन्न इन्द्रियों से गृहीत होते हैं, अतः इनमें संकेतग्रहण होना संभव नहीं है<sup>२५२</sup> सामान्य में भी संकेत गृहीत नहीं हो सकता, क्योंकि सामान्य इन्द्रिय से दृष्टिगोचर नहीं होता है एवं वह अवस्तुरूप है अतः अर्थक्रिया में समर्थ नहीं है।<sup>२५३</sup> शब्द असंकेतित अर्थ को भी नहीं कहते हैं।<sup>२५४</sup> इसलिए शब्द संकेत अन्यापोह विषयक होता है। अन्यापोहविषयक शब्दज्ञान द्वारा पुरुष दृश्य स्वलक्षण एवं विकल्प्य शब्दज्ञानाकार को एकीभूत करके प्रमवश व्यवहार में प्रवृत्त होता है।<sup>२५५</sup>

**उत्तरपक्ष-** एक ओर बौद्ध स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण में शब्द द्वारा संकेत ग्रहण करने का प्रतिषेध करते हैं तो दूसरी ओर शब्द द्वारा असंकेतित अर्थ को कहने का भी निषेध करते हैं।<sup>२५६</sup> जब शब्द असंकेतित अर्थ को नहीं कह सकता तथा स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण संकेत भी ग्रहण नहीं करता तो बौद्धों के द्वारा दिये गये सारे हेतु संकेताभाव में अनैकान्तिक सिद्ध होते हैं।<sup>२५७</sup>

यदि स्वलक्षण अर्थों के असाधारण स्वभाव में संकेत ग्रहण करना संभव नहीं है तो उसी प्रकार स्वलक्षण अर्थ के असाधारण रूप का प्रत्यक्ष करना भी संभव नहीं है, क्योंकि जो असाधारण स्वलक्षण-क्षण प्रत्यक्षज्ञान का कारण बनता है वह कालभेद के कारण दृष्टि का विषय नहीं बनता, पूर्व

२५२. अफलत्वादशक्तेश्च न संकेत्येन स्वलक्षणे ।-सिद्धिविनिश्चय, ९.२२

२५३. सामान्येऽपि सुतरां न संकेतः । तस्य दृष्टावप्रतिभासनात् सतोऽप्यर्थक्रियाऽसामर्थ्यात् ।-सिद्धिविनिश्चयवृत्ति, पृ. ६३३.७

२५४. वाचोऽसंकेतितं वाह ।-सिद्धिविनिश्चय, ९.२२

२५५. तदपोहविषयः संकेतः । तद्विषयं शब्दज्ञानं विप्रमवशात् दृश्यविकल्प्यावेकीकृत्य पुरुषं व्यवहारे नियुञ्जते ।-सिद्धिविनिश्चय वृत्ति, ९.२२, पृ. ६३३.८

२५६. तुलनीय-न चागृहीतसंकेतो गम्यतेऽन्य इव ध्वनेः ।-तत्त्वसङ्ग्रह, ८७३

२५७. सिद्धिविनिश्चय, ९.२२

स्वलक्षण-क्षण का सदृश अन्य स्वलक्षण-क्षण ही दृष्ट होता है।<sup>२५८</sup>

अर्थक्रिया में समर्थ होने से संकेत को निष्फल नहीं कहा जा सकता, क्योंकि व्यवहारकाल में शब्द संकेत से प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, आदि का अविस्वादी ज्ञान देखा जाता है।<sup>२५९</sup> अपोह खपुष्य के समान नीरूप है, अतः अपोह में शब्द संकेत मानना उचित नहीं है।<sup>२६०</sup> शब्द संकेत तो सामान्यविशेषात्मक अर्थ में होता है। शब्द को यदि बौद्ध संकेताभास के कारण निरर्थक एवं अप्रमाण मानते हैं तो यह उचित नहीं है, क्योंकि तब तो उन्हें प्रत्यक्ष एवं अनुमान को भी निरर्थक मानना होगा। स्वलक्षण अर्थ को प्रत्यक्ष एवं अनुमान का कारण मानने पर व्यवहार काल में वह स्वलक्षण क्षण विद्यमान नहीं रहता, अतः अक्षणिकता की आपत्ति आती है। विकल्प से कल्पित दृश्य एवं प्राप्य का एकत्व अवस्तु है अतः उससे अर्थक्रिया सिद्ध करना उचित नहीं ठहरता है।

**अकलङ्क** प्रतिपादित करते हैं कि अर्थ एवं शब्द में स्वतः कथञ्चित् वाच्यवाचक सम्बन्ध है। यदि वाच्य-वाचक सम्बन्ध न होता तो “इसने क्या कहा है” इस प्रकार की वाच्यविशेष शंका नहीं होती।<sup>२६१</sup>

बौद्ध दार्शनिक मानते हैं कि बुद्धि से अपोह युक्त अर्थों में सामान्य की प्रतिपत्ति होती है तथा अतदहेतुफल का अपोह होता है, किन्तु बौद्धों की यह मान्यता उचित नहीं है, क्योंकि वैसी प्रतिपत्ति होती हुई नहीं देखी गयी है।<sup>२६२</sup> विधिरूप में ही सामान्यविशेषात्मक अर्थ का बोध होता है। एक अर्थ में संकेत ग्रहण करके तत्समान परिणामी द्रव्यों में संकेत का व्यवहार किया जाता है। शब्द के द्वारा वस्तुभूत सामान्यविशेषात्मक अर्थ का ग्रहण किया जाता है न कि काल्पनिक अपोह का।

**अकलङ्क** ने जैनदर्शनानुसार प्रतिपादित किया है कि किसी एक वस्तु में संकेत ग्रहण करके तत्सदृश अन्य वस्तुओं में भी उसका व्यवहार किया जाता है,<sup>२६३</sup> यथा एक घट वस्तु में ‘घट’ शब्द का संकेत ग्रहण कर तत्सदृश अन्य घटों में भी ‘घट’ शब्द का व्यवहार किया जाता है, समस्त घटों में

२५८. अशक्यसमयं रूपं यथार्थानामन्यथाक् ।

अशक्यदर्शनं रूपं तथार्थानामन्यथाक् ॥-सिद्धिविनिश्चय, ९.२३

यथा अर्थरूपं तथैव द्रष्टुमशक्यं कारणस्यापि दृष्टेरदृश्यत्वात् कलभेदात् तत्समानाकारदर्शनात् ।

— सिद्धिविनिश्चयवृत्ति (टीका सहित), ९.२३, पृ. ६३५

२५९. द्रष्टव्य, सिद्धिविनिश्चय टीका, पृ. ६३८

२६०. (१) न पुनर्व्यावृत्तौ नीरूपत्वात् खपुष्यवत् ।-सिद्धिविनिश्चयवृत्ति, पृ. ६३८.२

(२) कुमारिल षट्ठे ने भी अपोह को नीरूपाख्य, अवस्तु, अभाव आदि शब्दों से द्योतित किया है। द्रष्टव्य, श्लोकवार्तिक, अपोहवादपरिच्छेद, श्लोक १५, ४५, ९१, १६३ आदि

२६१. वाच्यवाचकसम्बन्धः स्वतः शंकाऽन्यथा कथम्

असंकेतितानन्तवाच्यभेदेऽपि गिरां श्रुतौ ॥ —सिद्धिविनिश्चय, ९.३०

२६२. सामान्यं चेदपोहिनां बुद्ध्या सन्दर्श्यते यथा ।

अतदहेतुफलापोहः न तथा प्रतिपत्तितः ।-न्यायविनिश्चय, १९४-१९५

२६३. तत्रैकमाभिसन्धाय समानपरिणामिभुः ॥

समयः तत्रकारेषु प्रवर्ततेति साध्यते ।-न्यायविनिश्चय, १९८-१९९

पृथक् पृथक् रूप से 'घट' शब्द का संकेत ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं रहती । प्रत्येक वस्तु सदृशासदृशात्मक होती है, वह तज्जातीय द्रव्यों के सदृश तथा विजातीय द्रव्यों से विसदृश होती है, यथा 'घट' वस्तु तत्सदृश घटों के सदृश तथा पटआदि से विसदृश होती है । उसकी अन्य वस्तुओं से सदृशता सामान्य है तथा विसदृशता विशेष है । सामान्य, विशेष से पृथक् वस्तु में नहीं रहता तथा इसी प्रकार विशेष भी सामान्य से पृथक् वस्तु में नहीं होता, दोनों की प्रतीति एक ही वस्तु में होती है । हमें जो भी ज्ञान होता है वह सामान्यविशेषात्मक वस्तु का ही ज्ञान होता है । इसलिए सामान्यविशेषात्मक वस्तु में ही संकेत ग्रहण होता है ।<sup>२६४</sup>

### विद्यानन्द द्वारा निराकरण

विद्यानन्द अपोहवाद का निराकरण करते हुए कहते हैं कि यदि 'गौ' शब्द गोभिन्न की व्यावृत्ति करता है तो इसका अर्थ है कि वह गोत्व सामान्य का ही विधान करता है । इसलिए 'गौ' शब्द को अन्यापोह का विषय मानना उचित नहीं है ।<sup>२६५</sup> यदि 'गौ' शब्द 'अगोनिवृत्ति' को भी 'अन्यनिवृत्ति' के रूप में प्रतिपादित करता है तो 'गौ' शब्द का कोई अभिधेय नहीं हो सकेगा एवं अनवस्था दोष का प्रसंग आ जायेगा । विद्यानन्द के कथन का तात्पर्य है कि 'गौ' शब्द के द्वारा जिस प्रकार 'अगोनिवृत्ति' का कथन किया जाता है, क्या उसी प्रकार 'अगोनिवृत्ति' का 'अनगोनिवृत्ति' के रूप में अभिधान किया जाता है । यदि यह क्रम जारी रहता है तो अनवस्था दोष आ जाता है । यदि यह क्रम बंद हो जाता है तो किसी शब्द का विध्यर्थ अवश्य मानना होगा ।<sup>२६६</sup>

विद्यानन्द कहते हैं कि शब्द को बाह्यार्थ का वाचक नहीं मानकर विवक्षा का प्रतिपादक माना जाता है तो "समस्त शब्द अन्यापोह का कथन करते हैं," बौद्धों का यह कथन खण्डित हो जाता है ।<sup>२६७</sup>

शब्द का विषय अन्यापोह मानने पर शब्द से जनसाधारण की अर्थ में प्रवृत्ति नहीं हो सकती । शब्द किसी अन्य कार्य में प्रवृत्त करने के लिए कहे जायें तथा प्रवृत्ति किसी अन्य कार्य में हो सकती है ।<sup>२६८</sup>

२६४. तत्समानासमानेषु तत्प्रवृत्तिनिवृत्तये ।

संक्षेपेण क्वचित् कश्चिच्छब्दः संकेतमश्नुते ॥-न्यायविनिश्चय, २.१४

२६५. (१) यदि गौरित्ययं शब्दो विधत्तेऽन्यनिवर्तनम् ।

विदधीत तदा गोत्वं तन्ान्यापोहगोचरः ॥- तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.५.४२

(२) ऐसा ही खण्डन कुमारिल भट्ट द्वारा किया गया है-

अगोनिवृत्तिः सामान्य वाच्यं यैः परिकल्पितम् ।

गोत्वं वस्त्वेव तैरुक्तमगोपोहगिरा स्फुटम् ॥-श्लोकवार्तिक, अपोहवादपरिच्छेद, १

२६६. अगोनिवृत्तिमध्यन्यनिवृत्तिमुखतो यदि ।

गोशब्दः कथयेन्नूनमनवस्था प्रसज्यते ॥-तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.५.४३

२६७. वक्तुरिच्छां विधत्तेऽसौ बहिरर्थं न जातुचित् ।

शब्दोऽन्यापोहकत्सर्वः यस्य बाध्यविजृम्भितम् ॥-तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.५.४४

२६८. अन्यापोहे प्रतीते च कथमर्थं प्रवर्तनम् ।

शब्दात्सिध्येज्जनस्यास्य सर्वथातिप्रसंगतः ॥-तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.५.४५

## अभयदेवसूरि का योगदान

सिद्धसेन के टीकाकार अभयदेवसूरि ने अपोहवाद का न्याय, मीमांसा, व्याकरण आदि विभिन्न दृष्टियों से पर्याप्त आलोडन-विलोडन किया है तथा उसका विकास-क्रम से उपस्थापन कर जैनदृष्टि से परीक्षण किया है। शब्दार्थ-सम्बन्ध के विषय में जितना चिन्तन अभयदेवसूरि ने किया है, संभवतः उतना किसी भी अन्य जैन दार्शनिक ने नहीं। सन्मतितर्कटीका का द्वितीय-भाग पूर्णरूपेण शब्दार्थ-मीमांसा से सम्बद्ध है,<sup>२६९</sup> जो पृथक् रूप से शोध-प्रबन्ध का विषय बन सकता है।

अभयदेवसूरि ने प्रकट किया है कि मीमांसा-दार्शनिक कुमारिल भट्ट ने अपोहवाद का जो खण्डन किया है वह अपोह को 'निषेधमात्र' मानकर ही किया है, किन्तु अपोह निषेध-मात्र नहीं है, क्योंकि शान्तरक्षित ने कुमारिल का खण्डन करते हुए उसे अर्थ-प्रतिबिम्ब रूप में प्रस्तुत किया है। अर्थ-प्रतिबिम्ब को निषेधमात्र नहीं कहा जा सकता।<sup>२७०</sup> शब्दों को सुनने पर बुद्धि में अर्थ का प्रतिबिम्ब बनता है जो अन्य अर्थ-प्रतिबिम्बों का अपोह करने के कारण शब्द का वाच्य या कार्य कहा जाता है।<sup>२७१</sup> पर्युदास एवं प्रसज्य दो प्रकार के अपोहों में यह बुद्ध्यात्म नामक पर्युदास ही शब्द का मुख्यार्थ कहा गया है, अन्य अपोह गौण है। अभयदेवसूरि कहते हैं कि बौद्ध मत में शब्द का वाच्यार्थ के साथ जो वाच्यवाचक भाव या कार्यकारण भाव है वह सांवृतिक है, पारमार्थिक नहीं। इसी प्रकार सामान्यलक्षण अपोह में संकेत ग्रहण करना भी सांवृतिक है, पारमार्थिक नहीं है।<sup>२७२</sup> क्योंकि परमार्थतः बाह्यार्थ का शब्द से कथन नहीं किया जा सकता।

अर्थ दो प्रकार का होता है- बाह्य एवं बुद्धयारूढ। बाह्य अर्थ का शब्द के साथ पारमार्थिक रूप से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः बाह्यार्थ का परमार्थतः शब्द द्वारा अभिधान शक्य नहीं है। केवल बाह्यार्थ के अध्यवसायी विकल्प को उत्पन्न करने के कारण उपचार से शब्द को अर्थ का वाचक कहा जाता है।<sup>२७३</sup> बुद्धयारूढ अर्थ (बौद्धार्थ) का ही शब्द के द्वारा मुख्यतः कथन किया जाता है।<sup>२७४</sup>

अगोनिवृत्ति के रूप में जो गाय का अभिधान किया जाता है वह उसका अश्वादि से अन्यत्व प्रतिपादन करने के लिए किया जाता है। परमार्थतः गौ आत्मगतरूप है।<sup>२७५</sup> शान्तरक्षित आदि के अनुसार शब्दों का परमार्थतः विधिरूप में कोई वाच्य अर्थ नहीं है, किन्तु सांवृत रूप में शब्दार्थ विधिरूप

२६९. द्रष्टव्य, तत्त्वबोधविधायिनीटीका, पृ. १६९-२७०

२७०. तुलनीय-निषेधमात्र नैवेह शब्दे ज्ञानेऽवभासते ।— तत्त्वसङ्ग्रहपञ्जिका, पृ. ३९३

२७१. तत्त्वबोधविधायिनी, पृ. २०३.१२

२७२. (१) तत्त्वबोधविधायिनी, पृ. २१२

(२) न वाच्यं वाचकं चास्ति परमार्थेन किञ्चन ।— तत्त्वसंग्रह, १०८९

२७३. द्विविधो ह्यर्थः बाह्यो बुद्धयारूढश्च । तत्र बाह्यस्य न परमार्थतोऽभिधानं शब्दैः, केवलं तदध्यवसायविकल्पोत्पादनादुपचारादुक्तम् "शब्दोऽर्थानाह" इति ।— तत्त्वबोधविधायिनी, पृ. २१३

२७४. यस्तु बुद्धयारूढोऽर्थस्तस्य मुख्यत एव शब्दैरभिधानम् ।— तत्त्वबोधविधायिनी, पृ. २१३.६

२७५. अगोनिवृत्तियों गौरभधीयते सोऽश्वादिभ्यो यदन्यत्वं तत्त्वभावैव नान्या ।— तत्त्वबोधविधायिनी, पृ. २१३.२०

है। २७६

कुमारिल भट्ट ने अपोहवाद का निरसन एवं सामान्य का स्थापन करते हुए कहा है कि शाबलेय व्यक्ति का ज्ञान होने मात्र से बाहुलेय आदि में “गौ” प्रतिपत्ति नहीं हो सकती, इसलिए “गोत्व” नामक सामान्य मानना होगा, क्योंकि उसी से बाहुलेय आदि को भी हम “गौ” रूप में जानते हैं। उन्होंने बौद्ध प्रतिपादित ‘अगोनिवृत्ति’ में ‘गौ’ शब्द को शाबलेय बाहुलेय आदि विभिन्न गायों में सामान्य ‘गोत्व’ का प्रतिपादक माना है अन्यथा शाबलेय में संकेत ग्रहण करने पर ‘अगोनिवृत्ति’ शब्द के प्रयोग द्वारा बाहुलेय आदि गायों की भी निवृत्ति होने लगेगी। इसलिए यह कहा जा सकता है कि बौद्धों ने अगोनिवृत्ति के रूप में जो ‘गौ’ शब्द का वाच्य माना है वह ‘गोत्व’ सामान्य से भिन्न नहीं है। २७७

अभयदेवसूरि ने कुमारिल, बौद्ध एवं व्यक्तिवादी (वैशेषिक) दार्शनिकों के मत का खण्डन करते हुए शब्द का वाच्य सामान्यविशेषात्मक अर्थ को सिद्ध किया है। २७८ वे कहते हैं कि गोत्व सामान्य शाबलेय, बाहुलेयादि व्यक्तियों के बिना संभव नहीं है तथा शाबलेय, बाहुलेय आदि में भी कोई न कोई समानधर्म पाये जाने के कारण उनमें गोत्व की प्रतिपत्ति होती है।

### प्रभाचन्द्र का चिन्तन

जैन दार्शनिक प्रभाचन्द्र ने भी अन्यापोह को पूर्वपक्ष में रखकर उसका विधिरूपेण निरसन किया है। उन्होंने अन्यापोह के निरसन में मीमांसा दार्शनिक कुमारिल भट्ट के श्लोकवार्तिक का यत्रतत्र आलम्बन लिया है।

**पूर्वपक्ष (बौद्धमत)**— जो शब्द, अर्थ के सद्भाव में दिखाई देते हैं, वे अर्थ के अभाव में भी दिखाई देते हैं। अतः शब्दों की विधिपूर्वक अभिधायकता मानना उचित नहीं है। उनके द्वारा तो मात्र अन्यापोह का कथन किया जाता है। जैसा कि कहा है— “शब्द एवं लिङ्ग के द्वारा अपोह का कथन किया जाता है, विधिपूर्वक वस्तु का नहीं।” २७९

शब्द का विषय न स्वलक्षण है और न सामान्य। स्वलक्षण में शब्द संकेत ग्रहण नहीं कर पाते, क्योंकि स्वलक्षण व्यवहार-काल में नहीं रहता। २८० स्वलक्षण अर्थ का शब्द के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि शब्द के प्रतिभासित होने पर अर्थ प्रतिभासित नहीं होता। ‘दाह’ शब्द को सुनने पर

२७६. तत्वतस्तु न किंचिद् वाच्यमस्ति शब्दानामिति विधिरूपस्तात्त्विको निषिध्यते, तेन सांवृतस्य विधिरूपस्य शब्दार्थस्येष्टत्वात् ।- तत्वबोधविधायिनी, पृ. २१७६

२७७. (१) अगोनिवृत्तिः सामान्यं वाच्यं यैः परिकल्पितम् ।

गोत्वं वस्तुवैधेयैरुक्तमगोपोहगिरा स्फुटम् ।-श्लोकवार्तिक, अपोहपरिच्छेद, १

(२) न शाबलेयविज्ञानमगोव्यावृत्तिबन्धनम् ।-श्लोकवार्तिक, अपोहपरिच्छेद, ५

२७८. तत्वबोधविधायिनी, पृ. २३७-२६५

२७९. अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां न वस्तु विधिनोच्यते ।-दिङ्नाग, उद्धृत, न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. ५५१

२८० तुलनीय-

तत्र स्वलक्षणं तावन्न शब्दैः प्रतिपाद्यते ।

संकेतव्यवहाराप्तकालव्याप्तिवियोगतः ॥-तत्वसङ्ग्रह, ८७१



जलने का अनुभव नहीं होता, अतः स्वलक्षण को शब्द का विषय नहीं कहा जा सकता। स्वलक्षण यदि शब्द का विषय होता तो शब्द के प्रतिभासित होने पर स्वलक्षण अर्थ भी प्रतिभासित होता।

सामान्य को भी शब्द का विषय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सामान्य का होना ही असंभव है। यदि सामान्य की सत्ता मानी जाय तो नित्य स्वभाव सामान्य द्वारा क्रम से एवं युगपद् अर्थक्रिया नहीं हो सकती, इसलिए शब्द का विषय अर्थ नहीं अन्यापोह है।

अपोह का अर्थ निषेध है। वह दो प्रकार का है - पर्युदास एवं प्रसज्य। पर्युदास भी दो प्रकार का है बुद्धयात्मा और अर्थात्मा। शब्द इनमें मुख्यतः प्रथम प्रकार के अपोह (बुद्धयात्मा) का वाचक होता है।<sup>२८१</sup> शब्द एवं अपोह का वाचकवाच्यभाव कार्यकारणभाव रूप है। शब्द से बुद्धि में प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है और वह शब्द का वाच्य होता है।<sup>२८२</sup>

**उत्तरपक्ष (प्रभाचन्द्र)** - शब्द एवं लिङ्ग का विषय अपोह को मानना उचित नहीं, क्योंकि वह किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। जो किसी प्रमाण से सिद्ध न हो उसे विषय बनाना उपपन्न नहीं है। अपोह की सिद्धि न प्रत्यक्ष प्रमाण से होती है और न अनुमान प्रमाण से। प्रत्यक्ष से 'अपोह' सिद्ध नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है। अनुमान से भी वह सिद्ध नहीं है, क्योंकि अपोह की सिद्धि में कोई अविनाभावी लिङ्ग नहीं है। अपोह अर्थात् अन्यव्यावृत्ति के साथ तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति सम्बन्ध घटित नहीं होता है अतः बौद्ध मत से भी उसमें अविनाभाव नहीं हो सकता। अन्यापोह नीरूप है, अतः उसके साथ किसी का तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति सम्बन्ध घटित नहीं होता।<sup>२८३</sup>

यदि 'गो' शब्द के द्वारा मुख्यतः 'अगो' शब्द की निवृत्ति का प्रतिपादन किया जाता है तो 'गो' शब्द सुनने के पश्चात् श्रोता को पहले 'अगौ' की प्रतिपत्ति होनी चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता है। 'गौ' शब्द से 'गौ' का ही प्रतिभास होता है, 'अगौ' का नहीं। इसी प्रकार गवय, हस्ती, वृक्ष इत्यादि शब्दों से विधिरूप ज्ञान होता है, निषेधरूप नहीं।<sup>२८४</sup>

जिस प्रकार स्वलक्षणादि में संकेत संभव नहीं होने से शब्दार्थता घटित नहीं हो पाती, उसी प्रकार 'अपोह' में भी संकेत का अभाव होने से शब्दार्थता घटित नहीं होती।<sup>२८५</sup> 'इस शब्द का यह अर्थ है', इस प्रकार निश्चय करने वाला ज्ञाता ही संकेत का प्रयोग करता है। जबकि अपोह का किसी के द्वारा इन्द्रियादि से निश्चय नहीं होता है, क्योंकि 'अपोह' अवस्तरूप है, जबकि इन्द्रियों का विषय वस्तरूप होता है। अतः इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा अपोह का निश्चय करना अशक्य है। अनुमानप्रमाण द्वारा भी अपोह का निश्चय नहीं किया जा सकता, क्योंकि सामान्य को वस्तुभूत स्वीकार किये बिना अनुमान

२८१. बुद्धयात्मा पर्युदास के विवरण हेतु द्रष्टव्य, पृ. ३३९

२८२. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. ५५१-५५७

२८३. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. ५५७-५५८

२८४. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-२, पृ. ५३६-५३७

२८५. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-२, पृ. ५४३

प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

शब्द का अर्थ 'अन्योपोह' स्वीकार करने पर इतरेतराश्रय दोष भी आता है।<sup>२८६</sup> क्योंकि इसमें अगो का व्यवच्छेद करने पर ही 'गौ' की प्रतिपत्ति हो सकती है तथा 'अगो' का ज्ञान 'गौ' का निषेधात्मक रूप है, अतः 'गौ' का ज्ञान हुए बिना उसका निषेध नहीं किया जा सकता।<sup>२८७</sup> दूसरे शब्दों में 'नञ्' द्वारा जिस 'गौ' का प्रतिषेध किया जाता है उसका स्वरूप जाने बिना 'अगौ' से निवृत्ति नहीं की जा सकती। संक्षेप में कहा जाय तो 'गौ' का ज्ञान हुए बिना गोभिन्न पदार्थों से 'गौ' की निवृत्ति नहीं की जा सकती, अतः अपोह की कल्पना दोषपूर्ण है, एवं गोशब्द से होने वाला 'अगोव्यावृत्ति' रूप अपोहज्ञान अन्योन्याश्रय युक्त है।<sup>२८८</sup> यदि 'अगौ' शब्द के द्वारा जिस 'गौ' का निषेध किया जाता है वह विधिरूप है तो 'समस्त शब्दों का अर्थ अपोह है' यह बौद्ध सिद्धान्त खण्डित हो जाता है, क्योंकि उनके द्वारा शब्द का विधिरूप अर्थ भी स्वीकार कर लिया गया है।

दिङ्नाग कहते हैं कि नीलोत्पल आदि शब्द अर्थान्तर की निवृत्तिरूप विशिष्ट अर्थों का कथन करते हैं<sup>२८९</sup> किन्तु दिङ्नाग का कथन अयुक्त है, क्योंकि जिसका जिसके साथ वास्तव सम्बन्ध सिद्ध है वही उसके साथ विशिष्ट कहा जा सकता है। नील एवं उत्पल क्रमशः अनील एवं अनुत्पल के व्यवच्छेदक होने से अभाव रूप हैं, नीरूप हैं, अतः इनमें आधार एवं आधेय सम्बन्ध नहीं हो सकता।<sup>२९०</sup> संयोग, समवाय, एकार्थसमवाय आदि सम्बन्ध भी अनील एवं अनुत्पल आदि की व्यावृत्ति रूप नीरूप पदार्थों में संभव नहीं है। नील एवं उत्पल में वास्तविक सम्बन्ध नहीं होने से इनमें उत्पल को नीलविशिष्ट नहीं कहा जा सकता। दूसरी बात यह है कि गौ, अश्वादि की बुद्धि से अपोह का अध्यवसाय नहीं होता, वस्तु का अध्यवसाय होता है, और अज्ञात अपोह किसी का विशेषण नहीं हो सकता। यदि अपोह का ज्ञान होना स्वीकार किया भी जाय तो भी अपोहकार ज्ञान का सद्भाव देखा नहीं जाता है, अतः तब भी अपोह ज्ञान किसी का विशेषण नहीं बन सकता।<sup>२९१</sup>

यदि शब्द और लिङ्ग से केवल 'अपोह' की प्रतीति होती है तो सारे शब्द अपोहमात्र का कथन करने के कारण पर्यायवाची हो जायेंगे। ऐसी स्थिति में विशेषण-विशेष्य में भेद, अतीत-अनागत

२८६. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-२, पृ. ५४४-५४५

२८७. सिद्धश्चागौरपोद्धेत गोनिषेधात्मकश्च सः ।

तत्र गौरैव वक्तव्यो नजा यः प्रतिषिध्यते ॥—श्लोकवार्तिक, अपोहवाद, ८३, उद्धृत प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-२ पृ. ५४५

२८८. (१) स चेदगोनिवृत्त्यात्मा भवेदन्योन्यसंश्रयः ।

सिद्धश्चेद् गौरपोहयार्थं वृथापोहप्रकल्पना ॥—श्लोकवार्तिक, अपोहवाद, ८४

(२) गव्यसिद्धे त्वगौर्नास्ति तदभावे च गौः कुतः ।— श्लोकवार्तिक, अपोहवाद, ८५

२८९. दिङ्नागेन विशेषणविशेष्यभावसमर्थनार्थम् "नीलोत्पलादिशब्दा अर्थान्तरनिवृत्तिविशिष्टानर्थानाहुः ।"—इत्युक्तम् ।

— प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-२, पृ. ५४६

२९०. नाधाराधेयवृत्त्यादिसम्बन्धश्चाप्यभावयोः ।—श्लोकवार्तिक, अपोहवाद, ८५

२९१. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-२, पृ. ५४६-४८

आदि काल में भेद, स्त्री-पुरुष-नपुंसक लिङ्ग में भेद तथा एकवचन, द्विवचन, बहुवचन आदि में भेद करना दुष्कर हो जायेगा। लिङ्ग शब्द के वाच्य एवं लिङ्ग के वाच्य में कोई अन्तर नहीं रहेगा, क्योंकि दोनों अपोहमात्र के वाचक हैं।<sup>२९२</sup>

यदि बौद्धमत में अपोह भी अनेक प्रकार का होता है, अतः विशेषण-विशेष्यादि में भेद करना शक्य है तो अपोह के भेद किस आधार पर होते हैं ? १. अपोह्य के भेद से ? २. वासनाभेद से ? ३. विभिन्न सामग्री से उत्पन्न होने के कारण ? ४. विभिन्न कार्यों को करने के कारण ५. आश्रय-भेद से अथवा ६. स्वरूप भेद से ?<sup>२९३</sup>

अपोह्य के भेद से अपोह में भेद बतलाना उचित नहीं है, क्योंकि 'सर्व' 'प्रमेय' आदि शब्दों में अपोह्य भेद नहीं होने के कारण अपोह्य भेद नहीं हो सकता। सर्व से भिन्न 'असर्व' और प्रमेय से भिन्न 'अप्रमेय' नहीं है जिनके अपोह से 'सर्व' 'प्रमेय' आदि को सिद्ध किया जा सके। इसी प्रकार सत्त्व, कृतकत्व आदि हेतु भी सिद्ध नहीं हो सकते, क्योंकि असत् एवं अकृतक का जगत् में अस्तित्व नहीं है, जिनके अपोह से सत्त्व, कृतकत्व आदि को सिद्ध किया जा सके। अपोह्यभेद से अपोह्य भेद बतलाने में अन्योन्याश्रय दोष भी आता है, क्योंकि अपोह्यभेद के सिद्ध होने पर अपोह्य में भेद सिद्ध हो तथा अपोह्य में भेद सिद्ध होने पर अपोह्य भेद सिद्ध हो। इसलिए अपोह्यभेद के आधार पर अपोह्य में भेद नहीं किया जा सकता।

वासनाभेद के आधार पर भी अपोह्य में भेद नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वासना-भेद अनुभव-भेद के आधार पर होता है एवं अपोह्य के एक रूप होने के कारण अनुभव में भेद नहीं बताया जा सकता।

भिन्न-भिन्न सामग्री से उत्पन्न होने के कारण भी अपोह्य में भेद नहीं हो सकता, क्योंकि अपोह्य कल्पित है अतः उसकी सामग्रीविशेष से उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि उसे सामग्रीविशेष से उत्पन्न माना जाता है तो अपोह्य काल्पनिक नहीं है। अपोह्य को विभिन्न कार्य करने वाला भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह खपुष्प के समान असत् होने के कारण विभिन्न कार्यों को करने में असमर्थ है। यदि अपोह्य विभिन्न कार्यों के करने में समर्थ है तो उसे परमार्थ सत् मानना होगा। इसी प्रकार आश्रय भेद और स्वरूपभेद से भी अपोह्य के भेदों का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता, क्योंकि जो अवस्तरूप है उसका न कोई आश्रय भेद हो सकता है और न कोई स्वरूप भेद। स्वरूपभेद होने पर तो अपोह्य को स्वलक्षण की भांति परमार्थसत् मानना होगा।

बौद्धमत में शब्दों के द्वारा स्वरूप से भिन्न पर्युदास एवं प्रसज्यरूप अपोह्य का कथन किया जाता

२९२. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. ५६१-५६२

२९३. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. ५६२-६३

है। २९४ उनमें पर्युदासलक्षण अपोह का कथन जैनमत से विरुद्ध नहीं है। २९५ गौ शब्द के द्वारा बौद्ध जिस अगोनिवृत्ति सामान्य का कथन करते हैं उसे जैन 'गोत्व' सामान्य के रूप में 'गौ' शब्द का वाच्य मानते हैं जो एक प्रकार से बौद्धों के अभावात्मक कथन का भावान्तरात्मक रूप है। २९६ बौद्धमत में 'गौ' शब्द द्वारा 'गौ' स्वलक्षण का अभिधान नहीं होता, क्योंकि वह विकल्प का विषय नहीं है। अश्वदि की निवृत्ति करने वाले शाबलेय आदि गोव्यक्ति विशेष को गौ शब्द से अभिहित करते हैं तो वह बाहुलेय आदि गो व्यक्तियों में अन्वित नहीं हो सकेगा, इसलिए समस्त सजातीय शाबलेयादि पिण्डों में जो गोबुद्धि होती है वह 'गोत्व' नामक सामान्य ही है। २९७

शब्द का वाच्य प्रसज्यरूप अपोह मानने पर शब्द के द्वारा कोई भी वस्तु सीधी वाच्य नहीं हो सकेगी। मात्र निषेध का ही कथन हो सकेगा, जो उपयुक्त नहीं है। २९८ दूसरो को ज्ञान कराने के लिये शब्द का प्रयोग किया जाता है। दूसरा व्यक्ति नील का ज्ञान करना चाहता है, मात्र अनीलनिषेध का नहीं। अजिज्ञासित अर्थ का प्रतिपादक पुरुष बुद्धिमान् नहीं कहा जा सकता एवं मात्र निषेध का कथन करने पर नील एवं उत्पल शब्द में सामानाधिकरण्य भी नहीं बतलाया जा सकता। वस्तुतः नञ् की ही पर्युदासवृत्ति एवं प्रसज्यवृत्ति होती है। गो शब्द 'नञ्' नहीं है अतः उसकी विधिरूप से ही प्रवृत्ति मानना चाहिए। २९९

**बौद्ध** - जो अर्थाकार प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है, वही मुख्य अन्यापोह है और वह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से सिद्ध है।

**प्रभाचन्द्र** - ज्ञान में अर्थाकारता का हम खण्डन करते हैं। यदि अर्थाकार प्रतिबिम्ब को स्वीकार कर भी लिया जाय तो वह प्रतिबिम्ब किसका है ? स्वलक्षण अर्थ का है अथवा सामान्य का ? स्वलक्षण का तो वह प्रतिबिम्ब हो नहीं सकता, क्योंकि स्वलक्षण अन्य समस्त अर्थों से व्यावृत्ताकारवान् होता है। प्रतिबिम्ब में अनुगत एकरूपता होती है, अतः स्वलक्षण में भी अनुगत एक रूपता स्वीकार करनी पड़ेगी, फलतः स्वलक्षण की व्यावृत्तता ही नष्ट हो जाएगी। यदि ज्ञान में सामान्य का प्रतिबिम्ब बनता है तो यह भी अयुक्त है, क्योंकि बौद्ध मत में सामान्य असत् है अतः उसका प्रतिबिम्ब नहीं बन सकता। यदि शब्दविकल्प को ही अपने प्रतिबिम्ब का निश्चायक माना जाता है तो इससे बाह्यार्थ में प्रवृत्ति

२९४. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. ५६३

२९५. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-२ पृ., ५३८

२९६. (१) अगोनिवृत्ति : सामान्यं वाच्यं यैः परिकल्पितम् ।

गोत्वं वस्त्वेव तैरुक्तमगोपोहगिरा स्फुटम् ॥-श्लोकवार्तिक, अपोहवाद, १, उद्धृत, प्रमेयकमलमार्तण्ड भाग-२ पृ. ५३९

(२) जैन दार्शनिकों ने पर्युदास के बुद्ध्यात्मरूप अर्थप्रतिबिम्बकता का खण्डन किया है, द्रष्टव्य आगे षष्ठ अध्याय में अर्थाकारता का खण्डन, पृ. ३६८

२९७. तस्मात्सर्वेषु यद्रूपं प्रत्येकं परिनिष्ठितम् ।

गोबुद्धिस्तन्निमित्ता स्याद् गोत्वादन्यच्च नास्ति तत् ॥-श्लोकवार्तिक, अपोहवाद, १०

२९८. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. ५६३-५६४

नहीं हो सकेगी। यदि शब्द विकल्प द्वारा अनर्थ में अर्थ का अध्यवसाय करने से बाह्यार्थ में प्रवृत्ति होती है तो यह अर्थाध्यवसाय क्या है ? बाह्यार्थ को ग्रहण करना अध्यवसाय है तो यह पर मत को सिद्ध करता है, क्योंकि बौद्धों को तो शब्दज्ञान द्वारा बाह्य अर्थ का ग्रहण अभीष्ट नहीं है। यदि अर्थाध्यवसाय का अर्थ कारण है तो यह भी अनुपपन्न है, क्योंकि अर्थ तो अपनी सामग्री से उत्पन्न होते हैं, ज्ञान से नहीं। यदि ज्ञानमात्र से ही अर्थ उत्पन्न होने लगे तो सबको समस्त अर्थ प्राप्त हो जायें और व्यक्ति अदरिद्र हो जाय। यदि स्वाकार को बाह्यार्थ से जोड़ना अध्यवसाय है तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि ऐसी प्रतीति नहीं होती है। यदि बाह्यार्थ को स्वाकार में आरोपित करना अध्यवसाय है तो यह भी अनुचित है, क्योंकि बाह्यार्थ एवं स्वाकार का पृथक् पृथक् ज्ञान हुए बिना एक का दूसरे पर आरोप नहीं हो सकता। दोनों का ज्ञान न निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से हो सकता है और न सविकल्पक से। अतः शब्दविकल्प बाह्यार्थ का स्वाकार में अथवा स्वाकार का बाह्यार्थ में आरोप नहीं कर सकता।<sup>३००</sup>

**बौद्ध** – शब्द के द्वारा बुद्धि में अर्थ का प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है। वह प्रतिबिम्ब शब्द का वाच्य होता है। दूसरे शब्दों में शब्द कारण होता है तथा अर्थप्रतिबिम्ब कार्य होता है। अतः वाच्यवाचक भाव को कार्यकारण रूप मानना चाहिए।

**प्रभाचन्द्र** – गो, घट, पट आदि विशिष्ट शब्द संकेतों से बाह्य गो, घट, पट आदि का ज्ञान होता देखा गया है, ज्ञान होने के पश्चात् इनमें प्रवृत्ति एवं प्राप्ति भी देखी गयी है। अतः शब्द के द्वारा बाह्यार्थ को वाच्य मानना ही उचित है, अर्थप्रतिबिम्ब मात्र विकल्प को नहीं, क्योंकि ज्ञान में अर्थप्रतिबिम्ब की शब्द से वाच्य के रूप में प्रतीति नहीं होती है। शब्द को अर्थप्रतिबिम्ब रूप विकल्प का कारण एवं वाचक मानने पर परम्परा से स्वलक्षण को भी उसका कारण एवं वाचक मानना होगा जो बौद्धों को इष्ट नहीं है।<sup>३०१</sup>

इस प्रकार बौद्धों की यह मान्यता खण्डित हो जाती है कि बुद्धि में अर्थ प्रतिबिम्ब का होना मुख्य अन्यापोह है तथा विजातीय से व्यावृत्ति एवं अन्य स्वलक्षणों से व्यावृत्ति औपचारिक अन्यापोह है, क्योंकि शब्द का वाच्य सामान्यविशेषात्मक बाह्यार्थ होता है, अन्यापोह नहीं। प्रतिनियत शब्दों से प्रतिनियत अर्थ की प्रतीति एवं प्रवृत्ति देखी गयी है। अतः शब्द-ज्ञान का विषय सामान्यविशेषात्मक रूप वस्तुभूत अर्थ है। जैन दर्शन में 'सामान्य' नामक कोई पृथक् तत्त्व नहीं है, जो सभी व्यक्तियों में अन्वित हो, अपितु व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न सदृश गुणधर्म ही सामान्य हैं जो प्रत्येक व्यक्ति या विशेष में विद्यमान रहते हैं। दीपक से लेकर आकाश तक समस्त पदार्थ जैन दर्शन में सामान्यविशेषात्मक हैं, केवल सामान्य या केवल विशेष नहीं, क्योंकि समस्त वस्तुओं का ज्ञान सामान्य विशेषात्मक रूप

३००. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. ५५८-५६०

३०१. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-२, पृ. ५५७-५५८

में ही होता है।

## समीक्षण

अपोहवाद बौद्ध दर्शन का चर्चित सिद्धान्त है। धीरेन्द्र शर्मा,<sup>३०२</sup> सात्कड़ि मुकर्जी<sup>३०३</sup> के कुंजनी राज,<sup>३०४</sup> गोविन्द चन्द्र पाण्डे<sup>३०५</sup> आदि आधुनिक चिन्तकों ने भी अपोहवाद पर विचार किया है। बौद्ध दर्शन में प्रतिपादित अपोह उद्योतकर, कुमारिल भट्ट, वाचस्पतिमिश्र, उदयन आदि के ग्रंथों में खण्डित हुआ है, फलस्वरूप इसमें यथाकाल संशोधन एवं परिवर्तन भी होता रहा है। रत्नकीर्ति द्वारा शब्द को अपोहविशिष्ट विधि का वाचक मानना इसका स्पष्ट निदर्शन है।

अपोहवाद के निरसनार्थ जैन दार्शनिकों ने जो तर्क दिये हैं वे कुमारिलभट्ट, वाचस्पतिमिश्र आदि से प्रभावित हैं, तथापि जैन दार्शनिकों का शब्द एवं अर्थ के सम्बन्ध में इन दर्शनों से भिन्न मन्तव्य है। मीमांसा दर्शन में शब्द व अर्थ का नित्य एवं वास्तविक सम्बन्ध माना गया है। नैयायिकों ने इसे संकेतग्राही एवं अनित्य सम्बन्ध माना है जबकि जैन दार्शनिकों ने शब्द का अर्थ के साथ योग्यता सम्बन्ध स्वीकार किया है। शब्द से अर्थ को जानने के सम्बन्ध में जैन दार्शनिकों ने नय एवं निक्षेप का भी विस्तृत प्रतिपादन किया है।

यह मानना अधिक उपयुक्त होगा कि प्रत्येक शब्द जिस प्रकार विधि अर्थ का वाचक होता है, उसी प्रकार वह उससे अन्य का अपोह भी करता है, तथा अन्य का अपोह या अतद्व्यावृत्ति करता हुआ विधि या तद् का वाचक भी होता है, क्योंकि मात्र अन्यापोह से शब्द द्वारा विवक्षा का ज्ञान नहीं हो सकता। अन्यापोह में अनवस्था दोष आता है, और कहीं न कहीं जाकर शब्द का वाच्य अर्थ मानना आवश्यक हो जाता है। विधिपरक अर्थ भी पर्याप्त नहीं है, क्योंकि तदभिन्न की व्यावृत्ति करके ही कोई शब्द अपने वाच्य अर्थ का सम्यक् ज्ञान करा सकता है, अन्यथा नहीं। ■

३०२. The Differentiation theory of Meaning in Indian Logic.

३०३. The Buddhist Philosophy of Universal flux, pp. 107-49

३०४. Theory of Meaning according to the Buddhist Logicians, अडयार लाइब्रेरी, बुलेटिन ।

३०५. अपोहसिद्धि

## प्रमेय, प्रमाणफल और प्रमाणाभास

गत अध्यायों में प्रमाण के स्वरूप एवं भेदों पर विचार करने के अनन्तर इस अध्याय में प्रमाण के विषय, फल एवं प्रमाणाभास पर संक्षेप में विचार किया जा रहा है। प्रमाण के विषय का दूसरा नाम प्रमेय है। 'प्रमातुं योग्यं प्रमेयम्' (प्र उपसर्ग + मा धातु एवं यत् प्रत्यय से निष्पन्न 'प्रमेय') व्युत्पत्ति के अनुसार प्रमाण द्वारा जानने योग्य पदार्थ को प्रमेय कहा जाता है। संख्या की दृष्टि से प्रमेय अनन्त हैं, क्योंकि जगत् में जितने भी द्रव्य या पदार्थ हैं, वे प्रमेय हैं। किन्तु प्रमेय का विभाजन वस्तुओं/द्रव्यों/पदार्थों की संख्या के आधार पर नहीं, अपितु उनकी स्वरूपगत विशेषताओं के आधार पर किया जाता है। इस दृष्टि से जैन एवं बौद्ध दर्शन में मौलिक मतभेद है। स्वरूप के आधार पर बौद्धदर्शन में जहां स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण के भेद से दो प्रमेय प्रतिपादित हैं वहां जैन दर्शन में सामान्यविशेषात्मक रूप में एक ही प्रमेय मान्य है। जगत् की वस्तुओं को संख्या की दृष्टि से अनन्तानन्त स्वीकार करके भी जैन दार्शनिक स्वरूप की दृष्टि से उन्हें 'सामान्यविशेषात्मक' ही मानते हैं। आकाश, अग्नि, पृथ्वी, टेबिल, कुर्सी आदि समस्त प्रमेय जैन दर्शन में सामान्यविशेषात्मक एवं नित्यानित्यात्मक हैं, जबकि बौद्ध दर्शन में स्वलक्षण प्रमेय परमार्थसत् है एवं वह प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय है तथा सामान्यलक्षण प्रमेय संवृतिसत् है एवं न्यायवैशेषिकों के सामान्य से भिन्न है। वह अनुमानप्रमाण का विषय है। प्रत्यक्ष एवं अनुमान से भिन्न कोई प्रमाण बौद्ध दर्शन में मान्य नहीं है। जैन दर्शन में मान्य प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण के समस्त भेदोपभेदों के लिए प्रमेय का एक ही स्वरूप है-सामान्यविशेषात्मक। अपेक्षा विशेष से इसे भेदाभेदात्मक, नित्यानित्यात्मक, भावाभावात्मक आदि शब्दों से भी अभिहित किया गया है। अब बौद्ध एवं जैन दर्शन में प्रतिपादित प्रमेय के स्वरूप का संक्षेप में विवेचन किया जा रहा है।

### बौद्ध दर्शन में द्विविध प्रमेय

बौद्ध दार्शनिक मत में दो प्रमाणों की भांति दो ही प्रकार के प्रमेय मान्य हैं। दो प्रकार के प्रमेय हैं— १. स्वलक्षण और २. सामान्यलक्षण। प्रत्यक्षप्रमाण का विषय स्वलक्षण है तथा अनुमानप्रमाण का विषय सामान्यलक्षण है। स्वलक्षण अर्थ परमार्थसत् एवं सामान्यलक्षण संवृतिसत् कहलाता है। सामान्यलक्षण के द्वारा भी स्वलक्षण की ही प्राप्ति होती है, इसलिए धर्मकीर्तिके अनुसार वस्तुतः प्रमेय एक ही प्रकार का है, और वह एक प्रमेय 'स्वलक्षण' अर्थ है। एकमात्र स्वलक्षण को प्रमेय मानने का कारण यह है कि वही अर्थक्रिया सामर्थ्य से युक्त होता है, और जो अर्थक्रिया में समर्थ है वही बौद्ध मत में सत् है। अर्थक्रियार्थी पुरुष अर्थक्रिया की सिद्धि के लिए स्वलक्षण के सत्त्व एवं असत्त्व का ही विचार करते हैं। उस एक प्रमेय के ही स्वरूप (स्वलक्षण) एवं पररूप (सामान्य लक्षण) की दृष्टि से दो भेद हो जाते हैं। यथा—

तस्मादर्थक्रियासिद्धेः सदसत्ताविचारणात् ।

तस्य स्वपररूपाभ्यां, गतेर्मयद्वयं मतम् ॥ प्रमाणवार्तिक, २.५४

सामान्यलक्षण पररूप भेद है। उसके द्वारा अर्थक्रिया सम्पन्न नहीं होती, इसलिए उसे अवस्तु कहा गया है, किन्तु वह स्वलक्षण- प्राप्ति में सहायक होने के कारण प्रमेय माना गया है अथवा संवृतिसत् कहा गया है।

### स्वलक्षण

जो अर्थक्रिया करने में समर्थ होता है वही स्वलक्षण है।<sup>१</sup> स्वलक्षण को ही धर्मकीर्ति ने परमार्थसत् कहा है।<sup>२</sup> वही वस्तु भी है, क्योंकि वस्तु ही अर्थक्रिया करने में समर्थ होती है।<sup>३</sup> अर्थक्रिया-सामर्थ्य क्या है ? इसका धर्मोत्तर ने स्पष्ट प्रतिपादन करते हुए कहा है कि जिसकी अर्थना की जाती है वह अर्थ है। वह हेय एवं उपादेय के रूप में दो प्रकार का होता है। हेय अर्थ को छोड़ा जाता है तथा उपादेय अर्थ को ग्रहण किया जाता है। हान एवं उपादान रूप प्रयोजन की क्रिया या निष्पत्ति अर्थक्रिया है तथा उसमें शक्तियुक्त होना अर्थक्रियासामर्थ्य कहलाता है।<sup>४</sup> स्वलक्षण, अर्थक्रिया में समर्थ होता है, इसलिए वह वस्तु एवं परमार्थसत् कहा जाता है।<sup>५</sup>

स्वलक्षण को बाह्यार्थ के रूप में स्वीकार करते हुए धर्मकीर्ति ने न्यायबिन्दु में उसे इस प्रकार परिभाषित किया है - 'जिस अर्थ के सन्निधान अथवा असन्निधान से ज्ञान के प्रतिभास में स्फुटता या अस्फुटता का भेद होता है वह स्वलक्षण है।'<sup>६</sup> धर्मोत्तर कहते हैं कि स्वलक्षण, वस्तु का असाधारण स्वरूप होता है।<sup>७</sup> मोक्षाकरगुप्त ने स्वलक्षण को देश, काल एवं आकार में नियत बतलाया है<sup>८</sup> तथा कहा है कि जो उदक लाने में समर्थ घटादि अर्थ हैं वे देश, काल एवं आकार में नियत रहकर प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत होकर प्रवृत्ति का विषय बनते हैं तथा वे नित्यत्व आदि धर्मों से उदासीन रहकर विजातीय (पटादि) एवं सजातीय (घटादि) अर्थों से व्यावृत्त होते हैं, अतः स्वलक्षण कहे जाते हैं।<sup>९</sup> मोक्षाकरगुप्त के द्वारा प्रदत्त यह स्वलक्षणस्वरूप बौद्ध-चिन्तन में उत्तरकाल की परिणति है अतः बौद्धमत में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

शान्तरक्षित ने प्रतिपादित किया है कि स्वलक्षण अर्थ सजातीय एवं विजातीय अर्थों से व्यावृत्त

१. तत्र यदर्थक्रियासमर्थं तदेव वस्तु स्वलक्षणमिति ।— प्रमाणसमुच्चयटीका, पृ. ६

२. अर्थक्रियासमर्थं यत् तदत्रपरमार्थसत् ।— प्रमाणवार्तिक, २.३

३. अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद् वस्तुनः ।— न्यायबिन्दु, १.१५

४. अर्थ्यत् इत्यर्थः । हेय उपादेयश्च । हेयो हि हातुमिष्यते, उपादेयश्चोपादानुम् । अर्थस्य प्रयोजनस्य क्रिया निष्पत्तिः । तस्यां सामर्थ्यं शक्तिः । तदेव लक्षणं रूपं यस्य वस्तुनः तद् अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणम् ।— न्यायबिन्दुटीका, १.१५, पृ. ७८

५. वस्तुशब्दः परमार्थपर्यायः ।— न्यायबिन्दुटीका, पृ. ७८

६. यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदस्तत् स्वलक्षणम् ।— न्यायबिन्दु, १.१३

७. स्वमसाधारणलक्षणं तत्त्वं स्वलक्षणम् ।— न्यायबिन्दुटीका, १.१२, पृ. ६९

८. स्वलक्षणमित्यसाधारणं वस्तुरूपं देशकालाकारनियतम् ।— तर्कभाषा (मोक्षाकर), पृ. ११.१०

९. घटादिरुदकाद्याहरणसमर्थोऽर्थो देशकालाकारनियतः पुरः प्रकाशमानोऽनित्यत्वाद्यनेकधर्मोदासीनप्रवृत्तिविषयो विजातीयसजातीयव्यावृत्तः स्वलक्षणमित्यर्थः ।— तर्कभाषा (मोक्षाकर), पृ. ११.११



होने के कारण विशेषण से विशिष्ट होकर गृहीत नहीं होता है।<sup>१०</sup> धर्मकीर्ति के वृत्तिकार मनोरथनन्दी ने धर्मकीर्ति कृत सामान्यलक्षण-वर्णन के आधार पर स्वलक्षण को अनभिधेय, असाधारण, संकेतस्मरण से रहित, अर्थक्रियाक्षम आदि कहा है।<sup>११</sup> वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका में देशतः अनुगमन नहीं करने के कारण इसे परमार्थ एवं कालतः अनुगमन नहीं करने के कारण क्षणिक कहा है।

संक्षेप में स्वलक्षण के स्वरूप को निम्नाङ्कित बिन्दुओं में रखा जा सकता है।

१. यह सजातीय एवं विजातीय अर्थों से व्यावृत्त होने के कारण असाधारण होता है।
२. देश एवं काल में अनुगत नहीं होता। इसका देश में विस्तार नहीं होने से यह परमार्थसत् एवं काल में विस्तार नहीं होने से क्षणिक होता है।
३. यह अर्थक्रिया-सामर्थ्य से युक्त होता है।
४. यह शब्द द्वारा अनभिधेय एवं संकेतस्मरण से रहित होता है।

### सामान्यलक्षण

न्याय-वैशेषिक दर्शन में 'सामान्य' को वास्तविक एवं प्रत्यक्ष-योग्य एक पृथक् पदार्थ माना गया है। बौद्ध दार्शनिक इसका खण्डन करते हैं। बौद्धदर्शन में प्रतिपादित 'सामान्यलक्षण' अर्थ काल्पनिक एवं अवस्तुरूप है। यह अनुमान-प्रमाण का ग्राह्य विषय होता है। इसके माध्यम से स्वलक्षण अर्थ को प्राप्त किया जा सकता है अथवा अविश्ववादी व्यवहार किया जा सकता है, इसलिए इसे संवृतिसत् कहा गया है। सामान्यलक्षण अर्थ स्वयं अर्थक्रिया में समर्थ नहीं होता, इसलिए इसे अवस्तु, अनर्थ आदि शब्दों से भी कहा गया है।<sup>१२</sup>

सामान्यलक्षण प्रमेय को धर्मकीर्ति ने तीन प्रकार का प्रतिपादित किया है। (१) भावाश्रय (२) अभावाश्रय एवं (३) उभयाश्रय।<sup>१३</sup> रूपादि भावों के आधार पर कृतकत्वादि शब्दों द्वारा वाच्य लिङ्ग भावाश्रय सामान्य है। उपलब्धिलक्षण प्राप्त की अनुपलब्धि होना आदि अभावाश्रय सामान्य है। भाव एवं अभाव में साधारण रहने वाले ज्ञेयत्व आदि उभयाश्रय सामान्य हैं।

धर्मकीर्ति प्रतिपादित करते हैं कि परमार्थसत् रूप से प्रमेय एक ही है - स्वलक्षण। किन्तु उसका ज्ञान स्वरूप से प्रत्यक्ष द्वारा एवं अनुमान से पररूप द्वारा होने के कारण प्रमेय को दो प्रकार का माना

१०. सजातीयविजातीयव्यावृत्तार्थग्रहणमतः ।

विशिष्टविषयो बोधो न विशेषणमङ्गले ॥—तत्त्वसङ्ग्रह, १२७०

११. द्रष्टव्य, मनोरथनन्दिवृत्ति, प्रमाणवार्तिक, २.५१, पृ. ११६

१२. (१) सामान्यलक्षणं च ततो विपरीतम् ।— प्रमाणसुच्चय, पृ. ६

(२) अन्यत् संवृतिसत् प्रोक्तम् ।— प्रमाणवार्तिक, २.३

१३. सामान्यं त्रिविधम्, तच्च भावाभावोभयाश्रयात् ।— प्रमाणवार्तिक, २.५१

गया है - स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण ।<sup>१४</sup> सामान्यलक्षण विषय के द्वारा भी स्वलक्षण अर्थ को उसी प्रकार प्राप्त किया जा सकता है जिस प्रकार कि मणिप्रभा को मणि समझकर उसकी ओर दौड़ने वाला पुरुष वहां पर मणि को प्राप्त करने में सफल होता है ।<sup>१५</sup> संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सामान्यलक्षण प्रमेय के द्वारा भी अर्थक्रियासामर्थ्य से युक्त स्वलक्षण अर्थ को प्राप्त किया जाता है, इसलिए सामान्यलक्षण भी संवृत्तिसत् रूप में एक प्रमेय है ।

सामान्यलक्षण की प्रतीति निर्विकल्पक नहीं होती । वह अवस्तु रूप होता है, क्योंकि वह शब्दों द्वारा अभिधेय होता है ।<sup>१६</sup> घट, वह्नि आदि शब्दों का प्रयोग सामान्यलक्षण अर्थ में ही होता है, स्वलक्षण अर्थ में नहीं । वस्तुतः स्वलक्षण-सन्तान में रहा हुआ साधारणरूप ही सामान्यलक्षण प्रमेय है । यह स्वलक्षण सन्तान में साधारणरूपेण आरोपित किया जाता है, आरोपित होने से तथा सकल अग्नि में या समस्त घटों में साधारण होने के कारण इसे सामान्यलक्षण कहा गया है । सामान्यलक्षण अर्थ के सन्निधान या असन्निधान से ज्ञान के प्रतिभास में स्फुटता के रूप में भेद नहीं होता है ।<sup>१७</sup>

### स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण में भेद

स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण विषयों में मुख्य रूप से निम्नाङ्कित भेद किये जा सकते हैं-<sup>१८</sup>

१. स्वलक्षण विषय अर्थक्रिया में समर्थ होता है , इसलिए वह परमार्थसत् है । सामान्यलक्षण विषय अर्थक्रिया में समर्थ नहीं होता है तथापि व्यवहार में अविस्वादक होने से वह संवृत्तिसत् है ।
२. स्वलक्षण विषय का शब्दों के द्वारा कथन नहीं किया जा सकता , जबकि सामान्यलक्षण विषय का शब्दों के द्वारा कथन किया जा सकता है । घट, वह्नि आदि शब्दों का प्रयोग सामान्यलक्षण में ही होता है, स्वलक्षण में नहीं ।
३. स्वलक्षण विषय सर्वतो व्यावृत्त होने से असदृश अथवा असाधारण होता है, जबकि सामान्यलक्षण विषय में विजातीयव्यावृत्ति होने से सदृशता पायी जाती है ।
४. विषय से भिन्न निमित्त के मिलने पर भी सामान्यलक्षण का ज्ञान हो सकता है, किन्तु स्वलक्षण का नहीं ।

१४. (i) मेयं त्वेकं स्वलक्षणम् ।- प्रमाणवार्तिक, २.५३

(ii) तस्य स्वपररूपाभ्यां गतेर्मेयद्वयं मतम् ।- प्रमाणवार्तिक, २.५४

१५. प्रमाणवार्तिक, २.५७, द्रष्टव्य, द्वितीय अध्याय, पादटिप्पण, ३६

१६. न तद् वस्त्वभिधेयत्वात् ।- प्रमाणवार्तिक, २.११

१७. तस्य समारोपितस्य सन्निधानाद् असन्निधानाच्च ज्ञानप्रतिभासस्य न भेदः स्फुटत्वेनास्फुटत्वेन वा ।- न्यायबिन्दुटीका, १.१६, पृ. ७९

१८. (१) शक्त्यशक्तिः अर्थक्रियायाम् ।- प्रमाणवार्तिक, २.१

(२) सदृशासदृशत्वाच्च विषयाविषयत्वतः ।

शब्दस्यान्यनिमित्तानां भावे धीसदसत्त्वतः ॥- प्रमाणवार्तिक, २.२

(३) द्रष्टव्य, प्रमाणवार्तिक २.३, २७-२८, ५०-५१ भी ।

५. स्वलक्षण अर्थ प्रत्यक्ष का विषय होता है जबकि सामान्यलक्षण अर्थ अनुमान प्रमाण का विषय बनता है।

६. स्वलक्षण अर्थ संकेतस्मरण से अनपेक्ष प्रतिपत्ति वाला होता है, जबकि सामान्यलक्षण की प्रतिपत्ति संकेतस्मरण के सापेक्ष होती है।

७. स्वलक्षण अर्थ सन्निधान एवं असन्निधान से स्फुट या अस्फुट रूप प्रतिभास भेद का जनक होता है जबकि सामान्यलक्षण अर्थ इस भेद का जनक नहीं होता।

### विज्ञानवाद में प्रमाण, प्रमेय एवं फल-व्यवस्था

दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि दार्शनिक मूलतः विज्ञानवादी विचारधारा के दार्शनिक थे। अतः उन्होंने प्रमाण-प्रमेय की व्यवस्था को विज्ञानवाद में भी घटित करने का प्रयास किया है। धर्मकीर्ति ने दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय पर प्रमाणवार्तिक की रचना करते हुए यह स्पष्ट प्रतिपादित किया है कि अर्थ एवं ज्ञान के सहोपलम्भ नियम<sup>१९</sup> के आधार पर विज्ञानवाद में भी अर्थाकारता एवं ज्ञानाकारता इन दोनों रूपों की सिद्धि हो जाती है। ज्ञान ही विकल्प वासना के कारण ग्राह्य एवं ग्राहक भेद को ग्रहण कर लेता है।<sup>२०</sup> परमार्थतः ज्ञान अविभागी है तथापि उसमें बाह्यार्थ प्रत्यक्ष की भांति प्रमाण, प्रमेय एवं फल की व्यवस्था की जा सकती है।<sup>२१</sup> मनोरथनन्दी कहते हैं कि ज्ञान का ग्राह्याकार रूप प्रमेय होता है, ग्राहकाकाररूप प्रमाण होता है तथा ज्ञान फलरूप होता है।<sup>२२</sup>

जैन दार्शनिकों ने विज्ञान से पृथक् बाह्यार्थ की सत्ता स्वीकार की है, अतः वे ज्ञान में स्वसंवेदन स्वीकार करते हुए भी ज्ञान को आत्मप्रकाशक की भांति अर्थप्रकाशक भी स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि जैनदार्शनिकों ने विज्ञानवाद एवं उसमें प्रतिपादित प्रमाण, प्रमेय एवं फलव्यवस्था का मूलोच्छेदन किया है। अकलङ्क, विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, वादिराज, अभयदेव, प्रभाचन्द्र, वादिदेवसूरि आदि सभी मूर्धन्य जैनदार्शनिकों ने विज्ञानवाद के निरसनार्थ लेखनी चलायी है, जो स्वतन्त्र रूप से एक शोध-प्रबन्ध का विषय बन सकती है, किन्तु विस्तार भय से इसकी चर्चा यहां करना संभव नहीं है।<sup>२३</sup>

१९. (१) द्रैरूप्यं सहसंवित्तिनियमात् तच्च सिध्यति ।—प्रमाणवार्तिक, २.३९८

(२) विज्ञानवाद की सिद्धि में नील एवं नीलज्ञान के सहोपलम्भ का प्रतिपादक एक वाक्य प्रसिद्ध है, जो बौद्धेतर ग्रंथों में भी अनेकत्र उद्धृत है—सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्द्वयोः।

२०. अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मविपर्यासितदर्शनैः।

ग्राह्यग्राहकसंविधिभेदानिव लक्ष्यते ॥—प्रमाणवार्तिक, २.३५४

२१. यथानुदर्शनं चेयं मेयमानफलस्थितिः।

क्रियते विद्यमानापि ग्राह्यग्राहकसंविदाम् ॥—प्रमाणवार्तिक, २.३५७

२२. ग्राह्याकारो मेयः, ग्राहकाकारो मानम्, संवित्तिः फलमिति व्यवस्थाप्यते ।—मनोरथनन्दिवृत्ति, प्रमाणवार्तिक, २.३५७, पृ. २०६

२३. द्रष्टव्यं, अनेकान्तजयपताका, भाग-२, पृ. १-२०, सिद्धिविनिश्चयटीका, भाग-२, पृ. ४१६, ७४३, प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-१, पृ. २१४-२५०, न्यायविनिश्चयविवरण, पृ. ३५-३९, स्याद्वादमञ्जरी, पृ. १७६ अकलङ्कग्रन्थत्रय, प्रस्तावना, पृ. ७८ आदि।

## जैन दर्शन में प्रमेय

जैन दर्शन में समस्त प्रमाणों का विषय सामान्यविशेषात्मक अथवा द्रव्यपर्यायात्मक अर्थ है।<sup>२४</sup> बौद्धों की भांति जैन दार्शनिकों ने अलग-अलग प्रमाणों के लिए अलग-अलग प्रमेय की व्यवस्था नहीं की। वे तो सर्वसम्पत्ति से प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान एवं आगम इन सभी प्रमाणों का विषय सामान्यविशेषात्मक अर्थ को ही मानते हैं। जैन दार्शनिक कहते हैं कि हमें किसी भी प्रमेय का बोध सामान्य-विशेषात्मक रूप में ही होता है, केवल सामान्य अथवा केवल विशेष के रूप में नहीं। इसलिए प्रमेय अर्थ सामान्य-विशेषात्मक होता है।

प्रमेय अर्थ के लिए जैन दर्शन में सामान्य-विशेषात्मक शब्द के अतिरिक्त द्रव्य-पर्यायात्मक, भेदाभेदात्मक, सदृशासदृशात्मक, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक, नित्यानित्यात्मक, आदि विभिन्न शब्दों का प्रयोग हुआ है।<sup>२५</sup> कुछ शब्द तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से दिये गये हैं तथा कुछ ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से। तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से जैन दर्शन में अर्थ अथवा सत् का लक्षण है 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'।<sup>२६</sup> अर्थात् जो उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य से युक्त होता है वह 'सत्' अथवा 'अर्थ' कहा जाता है। 'सत्' ही प्रमेय बनता है। इसलिए प्रमेय के लिए उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक, नित्यानित्यात्मक, द्रव्य-पर्यायात्मक आदि शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से प्रमेय सदृशासदृशात्मक, भेदाभेदात्मक, सामान्यविशेषात्मक अथवा द्रव्यपर्यायात्मक प्रतीत होता है। प्रमीयमाण अर्थ अन्य पदार्थों से अथवा अपनी ही पूर्वापर पर्यायों से सदृश अथवा असदृश रूप में ज्ञात होता है। यदि वह अन्य पदार्थों से अथवा अपनी पूर्वापर पर्यायों से सदृश एवं विसदृश रूप में ज्ञात न हो तो हम किसी भी प्रमेय का भलीभांति सम्यक् ज्ञान नहीं कर सकते। जैसे हमारा प्रमेय 'घट' है। 'घट' का ज्ञान अन्य घट पदार्थों में अन्वित होने के कारण सामान्यात्मक तथा उस विशिष्ट (व्यक्ति) घट का ज्ञान विशेषात्मक होता है, फलतः 'घट' का ज्ञान सामान्यविशेषात्मक होता है। यदि 'घट' का सामान्य रूप में ही ज्ञान हो तो कभी विशेष 'घट' का ग्रहण नहीं किया जा सकेगा तथा विशेष 'घट' का ही ज्ञान हो तो उसे अन्य सदृश घटों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकेगा। विशेष रूप में अन्य अर्थों से भिन्न अथवा सामान्य रूप में अन्य अर्थों से अभिन्न रूप में प्रमेय की प्रमिति होने के कारण उसे भेदाभेदात्मक भी कहा गया है। जब एक ही पदार्थ का विभिन्न अवस्थाओं में ज्ञान किया जाता है तो वह प्रमेय द्रव्यपर्यायात्मक रूप में ही ज्ञात होता है, यथा-किसी पुरुष का शैशव, यौवन एवं वार्धक्य में होने वाला ज्ञान। पुरुष द्रव्यरूप में एक तथा शैशवादि पर्यायों में भिन्न ज्ञात होता है। पर्यायों की भिन्नता होते हुए भी एक ही द्रव्य में

२४. (१) सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः ।—परीक्षामुख, ४.१

(२) तद् द्रव्यपर्यायात्माधो बहिरन्तः ।— लघीयसूत्र, ७, अकलङ्कसूत्र, पृ. ३

(३) तस्य विषयः सामान्यविशेषाद्यनेकान्तात्मकं वस्तु ।— प्रमाणनयतत्त्वालोका, ५.१

(४) प्रमाणस्य विषयो द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु ।— प्रमाणमीमांसा, १.१.३०

२५. द्रष्टव्य, अकलङ्कसूत्र, पृ. ३, १०, ११, ७१, ८० आदि।

२६. तत्त्वार्थसूत्र, ५.२९

जो सादृश्य है उसे जैन दर्शन में तिर्यक् सामान्य तथा भिन्न-भिन्न पर्यायों को विशेष मानकर जैन दार्शनिकों ने प्रमाण का एक ही विषय सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ कहा है।

### सामान्य-विशेषात्मक प्रमेय का स्वरूप

जैन दर्शन में उस सामान्यविशेषात्मक प्रमेय का क्या स्वरूप है, इस पर संक्षिप्त विचार किया जा रहा है। जैन दर्शन में सामान्य एवं विशेष नामक पदार्थों के पृथक् अस्तित्व की मान्यता नहीं है। जैनदार्शनिक प्रत्येक वस्तु में अनन्त अथवा अनेक धर्मों की सहावस्थिति को स्वीकार करते हैं। उन समस्त धर्मों को वे सादृश्य एवं वैसादृश्य के आधार पर सामान्य एवं विशेष नाम देते हैं। वस्तु के जो धर्म अन्य वस्तुओं से अथवा उसी वस्तु की पूर्व एवं उत्तर पर्यायों से सादृश्य ज्ञापित करते हैं वे सामान्य तथा जो धर्म अन्य वस्तुओं से अथवा उस वस्तु की अन्य पर्यायों से विसदृशता ज्ञापित करते हैं वे विशेष कहे गये हैं। **भट्ट अकलङ्क** ने स्पष्ट कहा है—‘समानभावः सामान्यं विशेषोऽन्यव्यपेक्षया’।<sup>२७</sup> वस्तु के अनेक धर्मों में रही हुई सदृशता या अनुगतरवभाव सामान्य है तथा व्यावृत्तस्वभाव विशेष है। विशेष एवं सामान्य का पृथक् अस्तित्व नहीं है, अपितु ये एक ही वस्तु या अर्थ में रहे हुए समान एवं असमान धर्म हैं, जिनका हमें उस वस्तु में ज्ञान होता है।

जैनदार्शनिकों ने सामान्य को दो प्रकार का प्रतिपादित किया है—१. तिर्यक् सामान्य एवं २. ऊर्ध्वतासामान्य।<sup>२८</sup> अनेक व्यक्तियों में रही हुई समान परिणति को तिर्यक् सामान्य कहा गया है, यथा शबल, शाबलेय, बाहुलेय आदि अनेक पिण्डों में ‘गाय’ (गोत्व) नामक सामान्य।<sup>२९</sup> एक ही व्यक्ति, या वस्तु के पूर्वापर परिणामों में रहा हुआ सदृश द्रव्य ऊर्ध्वता सामान्य कहा गया है, यथा कटक, कंगन, आदि में रहा हुआ ‘स्वर्ण’।<sup>३०</sup> इस प्रकार कोई भी वस्तु सामान्य से रहित नहीं हो सकती, क्योंकि वह अपनी पूर्वापर पर्यायों के सादृश्य से नहीं बच सकती।

गुण एवं पर्याय के भेद से विशेष भी दो प्रकार का कहा गया है।<sup>३१</sup> गुण एवं पर्याय के कारण ही द्रव्य, अन्य द्रव्यों एवं अपनी पर्यायों से व्यावृत्ति का बोध कराता है। द्रव्य का लक्षण है—‘गुणपर्यायवद् द्रव्यम्’।<sup>३२</sup> जो गुण एवं पर्यायों से युक्त होता है उसे जैन दर्शन में द्रव्य कहा गया है। गुण एवं पर्यायों में भेद है या नहीं, यह जैन दार्शनिकों के मध्य विवाद का विषय रहा है। सिद्धसेन

२७. न्यायविनिश्चय, ११२, अकलङ्कधत्रय, पृ. ४५

२८. सामान्यं द्वेषा तिर्यगूर्ध्वताभेदात् ।— परीक्षामुख, ४.३

२९. प्रतिव्यक्ति तुल्या परिणतिस्तिर्यक्सामान्यम्, शबलशाबलेयादिपिण्डेषु गोत्वं यथा ।— प्रमाणनयतत्त्वालोक, ५.४

३०. पूर्वापरपरिणामसाधारणं द्रव्यमूर्ध्वतासामान्यं, कटककंकणाद्यनुगामिकांचनवत् ।— प्रमाणनयतत्त्वालोक, ५.५

३१. (१) विशेषोऽपि द्विरूपो - गुणः पर्यायश्च ।— प्रमाणनयतत्त्वालोक, ५.६

(२) माणिक्यनन्दी ने गुण के स्थान पर व्यतिरेक शब्द का प्रयोग किया है, यथा— विशेषश्च पर्यायव्यतिरेकभेदात् ।— परीक्षामुख, ४.६-७

३२. (१) तत्त्वार्थसूत्र, ५.३७

(२) गुणाणामासओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा ।

लक्खणं पज्जवाणं तु, उभओ अस्सिया भवे ॥—उत्तराध्ययनसूत्र, २८.६

दिवाकर ने जहां गुण एवं पर्याय में अभेद स्थापित किया है<sup>३३</sup> वहां भट्ट अकलङ्क एवं उनके अनुवर्ती दार्शनिकों ने उनमें भेद प्रतिपादित किया है।<sup>३४</sup> यहां पर यह समझना अधिक उपयुक्त होगा कि द्रव्य में जो सदैव उपस्थित रहते हैं अथवा द्रव्य के जो सहभावी हैं वे गुण कहे गये हैं, यथा आत्मा में रहा हुआ ज्ञान उसका गुण है, क्योंकि वह आत्मा के साथ सदैव रहता है।<sup>३५</sup> द्रव्य में क्रमभावी परिणाम को पर्याय कहा गया है, जो प्रतिक्षण उत्पन्न होती है एवं नष्ट होती है। यथा आत्मा में रहे हुए सुख, दुःख आदि।<sup>३६</sup> उत्पाद एवं व्यय पर्याय का होता है गुण एवं द्रव्य का नहीं। गुण एवं द्रव्य मूलतः ध्रुव हैं, किन्तु पर्याय की परिणति से वे भी परिवर्तित दिखाई देते हैं। गुणों के कारण एक द्रव्य का अन्य द्रव्यों से भेद दिखाई देता है तथा पर्याय के कारण एक ही द्रव्य में विभिन्न कालों में भेद दिखाई देता है। इस प्रकार गुण एवं पर्याय दोनों से व्यावृत्ति का बोध होता है, इसलिए ये विशेष कहे गये हैं।

इसीलिए अकलङ्क कहते हैं कि द्रव्यपर्यायात्मक एवं उत्पादव्ययध्रुव से युक्त सत् ही वास्तविक प्रमेय होता है, क्योंकि उसके विषय में प्रमाण एवं प्रमाणाभास की व्यवस्था होती है।

### बौद्ध सम्मत प्रमेय का खण्डन एवं सामान्यविशेषात्मक प्रमेय की सिद्धि

अकलङ्क, विद्यानन्द, माणिक्यनन्दी, प्रभाचन्द्र, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र आदि जैनदार्शनिकों ने प्रमाण-विषय पर गहन चिन्तन कर बौद्ध प्रमाण-विषयों को अनुपपन्न ठहराया है तथा सामान्यविशेषात्मक अथवा द्रव्यपर्यायात्मक अर्थ को प्रमाण का विषय सिद्ध किया है। जैन दार्शनिक अकलङ्क, विद्यानन्द, माणिक्यनन्दी एवं वादिदेवसूरि के प्रमुख तर्क यहां दिये जा रहे हैं।

अकलङ्क कहते हैं कि बौद्धों को अभीष्ट प्रत्यक्ष-प्रमाण का विषय स्वलक्षण कथञ्चित् असाधारण होने पर भी सदृश रूप में ही प्रतिभासित होता है, असदृश अथवा असाधारण रूप में नहीं। हमें इन्द्रिय ज्ञान में वस्तु का सावयव एवं स्थूल एक आकार ज्ञात होता है जिसका पूर्व एवं अपर ज्ञान में स्पष्ट रूपेण बिना खलना के अन्वय होता है। स्वलक्षण अर्थ चक्षुगोचर नहीं हो पाता, हम स्वलक्षणों के सामान्य रूप का ही चक्षु द्वारा ग्रहण कर पाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय स्वलक्षण विशेष नहीं, अपितु सामान्य-विशेषात्मक अर्थ है, जिसमें हम वस्तु के सदृश एवं असदृश धर्मों का ज्ञान करते हैं। इसमें सामान्य व्यापक है तथा विशेष व्याप्य है।<sup>३७</sup>

अकलङ्क का कथन है कि हम कहीं पर भी मात्र सामान्य को नहीं देखते हैं और न मात्र स्वलक्षण

३३. सम्मतितर्कप्रकरण, ३.९-१४

३४. गुणपर्याययोर्नैक्यमिति सूत्रे द्वयग्रहः ।—न्यायविनिश्चय, ११३, अकलङ्कग्रन्थत्रय, पृ. ४५

३५. गुणः सहभावी धर्मो, यथा - आत्मनि विज्ञानव्यक्तिशक्त्यादयः ।— प्रमाणनयतत्त्वालोक, ५.७

३६. पर्यायस्तु क्रमभावी, यथा तत्रैव सुखदुःखादि ।— प्रमाणनयतत्त्वालोक, ५.८

३७. अभिमतस्वलक्षणानां कथञ्चिदसाधारणत्वेऽपि सदृशात्मनैव प्रतिभासनात् । अक्षबुद्धौ स्वावयवस्वभावं स्ववीयांसमेकमाकारं प्रतिभासमानं पूर्वापरान्वयि परिस्फुटमस्खलद्वृत्ति संपश्यामः । अन्यथा परिस्फुटनं नावभासेत् ।  
— सिद्धिविनिश्चयवृत्ति, पृ. १२३

को देखते हैं, अपितु सर्वत्र सामान्य-स्वलक्षणात्मक अथवा सामान्य-विशेषात्मक वस्तु को देखते हैं। वर्ण, संस्थान आदि से युक्त जात्यन्वित-विशेष का ही हमें ज्ञान होता है।<sup>३८</sup> अन्य का व्यवच्छेद करना अथवा अन्य से सदृशता या अभेद बतलाना सामान्य है एवं अन्य से व्यावृत्त होना स्वलक्षण है, इन दोनों को यथार्थ मानने पर ही सारी लोक-व्यवस्था चल सकती है। 'काक मयूर की भांति नाचता है' यह कथन तभी किया जा सकता है जब काक एवं मयूर में नृत्यक्रिया का सादृश्य एवं व्यक्ति-व्यावृत्तता के कारण वैसादृश्य ज्ञात हो।<sup>३९</sup>

सौत्रान्तिकों के स्वलक्षण रूप बाह्यार्थ तथा विज्ञानवादियों के विज्ञान रूप आन्तरिक अर्थ का एक साथ खण्डन करते हुए अकलङ्क कहते हैं कि हमें अपने ज्ञान में द्रव्यपर्यायात्मक अर्थ का प्रतिभास होता है इसलिए तात्त्विक रूप से बाह्य एवं अन्तः प्रमेय द्रव्यपर्यायात्मक है।<sup>४०</sup> स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण बाह्य एवं अन्तः रूप में एक-दूसरे से भिन्न रूप में प्रतीति के विषय नहीं बनते हैं। बौद्ध दर्शन में भी स्वलक्षण को दृश्य माना गया है, किन्तु प्राप्ति सामान्यलक्षण की मानी गई है। इसी प्रकार अनुमान का ग्राह्य विषय सामान्यलक्षण तथा प्राप्य विषय स्वलक्षण स्वीकारा गया है। वस्तुतः हमें भेदाभेदात्मक रूप में ही किसी अर्थ का ज्ञान हो पाता है। 'द्रव्य' शब्द अभेद का द्योतक है क्योंकि यह विभिन्न पर्यायों में अन्वित होता है तथा 'पर्याय' शब्द भेद या विशेष का द्योतक होता है, क्योंकि पर्याय सर्वतो व्यावृत्त होता है।<sup>४१</sup>

बौद्ध दार्शनिकों ने उसी ज्ञान को अविश्ववादक माना है जो अर्थक्रियासामर्थ्य से युक्त स्वलक्षण अर्थ की प्राप्ति करा सके, अथवा उसको प्रदर्शित करे, किन्तु अकलङ्क का कथन है कि स्वलक्षण रूप क्षणिक अर्थ में अर्थक्रिया नहीं हो सकती। इसलिए स्वलक्षण को प्रमेय मानना उचित नहीं है। वे बौद्धों की भांति एकान्त नित्य अर्थ में भी अर्थक्रिया होने का खण्डन करते हैं तथा एकान्त क्षणिक अर्थ में भी।

जिस प्रकार अर्थ को नित्य मानने पर उसमें न क्रम से अर्थक्रिया संभव है और न युगपद्, क्योंकि क्रम से अर्थक्रिया करने पर उसकी नित्यता भंग हो जाती है तथा युगपद् अर्थक्रिया करने पर अगले क्षण वह अकिञ्चित्कर हो जाता है; उसी प्रकार अर्थ को क्षणिक मानने पर उसमें क्रम से अर्थक्रिया संभव नहीं है, क्योंकि वह एक क्षण ठहरने के कारण अर्थक्रिया का न कारण बन सकता है और न कार्य। युगपद् भी उसमें अर्थक्रिया संभव नहीं है, क्योंकि क्षणिक अर्थ में अनेक वस्तुओं को उत्पन्न

३८. न पश्यामः क्वचित् किञ्चित् सामान्यं वा स्वलक्षणम् ।

जात्यन्तरं तु पश्यामः ततोऽनेकान्तहेतवः ॥— सिद्धिविनिश्चय, २.१२

३९. अन्वयोऽन्यव्यवच्छेदो व्यतिरेकः स्वलक्षणम् ।

ततः सर्वा व्यवस्थेति नृत्येत्काको मयूरवत् ॥— न्यायविनिश्चय, १.२३

४०. तद्द्रव्यपर्यायात्माद्यो बहिरन्तश्च तत्त्वतः ।— लघीयस्वयं, ७ अकलङ्कप्रथम, पृ. ३

४१. भेदाभेदैकान्तयोरनुपलब्धेः अर्थस्य सिद्धिरनेकान्तात् । नान्तर्बाहिर्वा स्वलक्षणं सामान्यलक्षणं वा परस्परानात्मकं प्रमेयं यथा मन्यते परैः, द्रव्यपर्यायात्मनोऽर्थस्य बुद्धौ प्रतिभासनात् ।— लघीयस्वयं, ७, अकलङ्कप्रथम, पृ. ३-४

करने के नाना स्वभाव नहीं हो सकते ।<sup>४२</sup>

**विद्यानन्द** कहते हैं कि प्रमाण का विषय द्रव्यपर्यायात्मक ही हो सकता है , अन्य नहीं । प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण या मात्र पर्याय को मानना उचित नहीं है , क्योंकि प्रत्यक्ष से स्वलक्षण की प्राप्ति नहीं होती है । इसी प्रकार अनुमान का विषय भी सामान्यलक्षण या द्रव्यमात्र को मानना उचित नहीं है , क्योंकि वह अनुमान आदि से प्राप्त नहीं होता है ।<sup>४३</sup> यहां **विद्यानन्द** , **धर्मोत्तर** के द्वारा प्रस्तुत ब्राह्म एवं अध्यवसेय (प्राप्य) विषय की ओर ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं । **धर्मोत्तर** ने प्रतिपादित किया है कि प्रत्यक्ष का ब्राह्म विषय स्वलक्षण तथा प्राप्यविषय सामान्यलक्षण होता है एवं अनुमान का ब्राह्म विषय सामान्यलक्षण तथा प्राप्यविषय स्वलक्षण होता है । **धर्मोत्तर** के इस मन्तव्य का खण्डन करते हुए **विद्यानन्द** ने कहा है कि स्वलक्षण एवं सामान्य-लक्षण को प्रमाण का विषय मानना उपयुक्त नहीं है । प्रमाण का विषय तो सामान्यविशेषात्मक ही हो सकता है , क्योंकि प्रमाण से सामान्यविशेषात्मक एवं द्रव्यपर्यायात्मक जात्यन्तर विषय की ही उपलब्धि होती है । वही प्रवृत्ति एवं प्राप्ति का विषय बनता है , अन्यथा अर्थक्रिया सम्पन्न नहीं हो सकती । सामान्यलक्षण को बौद्ध दार्शनिक अर्थक्रिया में जिस प्रकार समर्थ नहीं मानते उसी प्रकार स्वलक्षण भी क्रम से एवं युगपद् अर्थक्रिया करने में समर्थ नहीं होता है । स्वलक्षण अर्थ में क्रम से एवं युगपद् रूप से अर्थक्रिया इसलिए संभव नहीं है , क्योंकि स्वलक्षण में परिणमन का अभाव है , वह प्रतिक्षण निरंश रूप से नष्ट होकर नया उत्पन्न होता है । क्रम एवं युगपद् रूप से अर्थक्रिया परिणमनशील अर्थ में ही हो सकती है । सर्वथा अपरिणामी क्षणिक एवं नित्य पदार्थों में क्रम से एवं युगपद् रूप से अर्थक्रिया संभव नहीं है , क्योंकि नित्य पदार्थ में जिस प्रकार क्रम एवं युगपद् रूप से अर्थक्रिया मानने में विरोध आता है उसी प्रकार क्षणिक अर्थ में भी विरोध आता है । सामान्यविशेषात्मक अर्थ परिणमनशील है , नित्यानित्यात्मक है । द्रव्य रूप से नित्य एवं पर्यायरूप से वह अनित्यात्मक होता है । इसलिए उसमें अर्थक्रिया संभव है ।<sup>४४</sup>

आचार्य **माणिक्यनन्दी** ने स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण के प्रमाण विषयत्व का सीधा खण्डन नहीं करके यह प्रतिपादित किया है कि सामान्यविशेषात्मक अर्थ ही प्रमाण का विषय हो सकता है । सामान्यविशेषात्मक अर्थ को प्रमाण का विषय मानने के पीछे **माणिक्यनन्दी** ने दो हेतु दिये हैं—(१) सामान्यविशेषात्मक अर्थ में ही अनुवृत्ति एवं व्यावृत्तिपरक ज्ञान हो सकता है । (२) सामान्यविशेषात्मक

४२. अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयोः ।

क्रमाक्रमार्थ्या भावानां सा लक्षणतया मता ॥— लघीयस्य ८

४३. द्रव्यपर्यायात्मकः प्रमाणविषयः प्रमाणविषयत्वान्यथानुपपत्तेः ।— न हि प्रत्यक्षतः स्वलक्षणं पर्यायमात्रं स-मात्रमिवो-पलभामहे । नाथनुमानादेः सामान्यं द्रव्यमात्रं विशेषमात्रमिव प्रतिपद्येमहि , सामान्यविशेषात्मनो द्रव्यपर्यायात्मकस्य जात्यन्तरस्योपलब्धेः , प्रवर्तमानस्य च तत्प्राप्तेः , अन्यथाऽर्थक्रियानुपपत्तेः ।—प्रमाणपरीक्षा, पृ. ६५

४४. न हि स्वलक्षणमर्थक्रियासमर्थं , क्रमयौगपद्यविरोधात् , सामान्यवत् । न तत्र क्रमयौगपद्ये सम्भवतः , परिणामाभावात् । क्रमाक्रमयोः परिणामेन व्याप्तत्वात् , सर्वथाऽप्यपरिणामिनः क्षणिकस्य नित्यस्य वा तद्विरोधसिद्धेः ।—प्रमाणपरीक्षा, पृ. ६५-६६



अर्थ में ही अर्थ क्रिया का होना उपपन्न है, क्योंकि यह उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य से युक्त होता है अतः पूर्व आकार का परिहार, उत्तर आकार की प्राप्ति एवं द्रव्य रूप में अवस्थित आदि परिणामों के रूप में अर्थक्रिया का होना सामान्यविशेषात्मक अर्थ में ही संभव है।<sup>४५</sup>

वादिदेवसूरि प्रतिपादित करते हैं कि सामान्यविशेषात्मक अर्थ प्रमाण का विषय होता है, यह प्रत्यक्ष से प्रतिपन्न है ही, किन्तु अनुमान से भी यह सिद्ध है, क्योंकि अनुवृत्ति एवं व्यावृत्ति प्रत्यय की अबाधित प्रवृत्ति सामान्यविशेषात्मक अर्थ में ही हो सकती है, अन्यत्र नहीं।<sup>४६</sup>

## समीक्षण

बौद्ध दार्शनिकों ने स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण के रूप में जिन दो प्रमेयों की स्थापना की, उनके स्वरूप का खण्डन करना जैन दार्शनिकों का मुख्य प्रतिपाद्य नहीं रहा, किन्तु बौद्धों द्वारा जिन आधारों पर प्रमाण का विषय स्वीकार किया गया उनका खण्डन करना जैन दार्शनिकों के लिए अभिप्रेत रहा। स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण के पृथक् प्रमेयत्व का खण्डन भी जैन दार्शनिकों का विषय रहा तथा उन्होंने यह बलपूर्वक प्रतिपादित किया कि प्रमाण का विषय सामान्यविशेषात्मक अथवा द्रव्यपर्यायात्मक अर्थ होता है न कि स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण अर्थ।

स्वलक्षण को बौद्ध दार्शनिक अर्थक्रियाकारी होने से परमार्थसत् मानते हैं तथा उसे ही प्रमुख प्रमेय के रूप में प्रतिपादित करते हैं, किन्तु जैन दार्शनिक स्वलक्षण के क्षणिक होने के कारण उसमें अर्थक्रिया सामर्थ्य का प्रतिषेध करते हैं। जैनदार्शनिकों का मन्तव्य है कि उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक अथवा सामान्यविशेषात्मक अर्थ में ही अर्थक्रिया का होना संभव है, एकान्त क्षणिक स्वलक्षण में नहीं। क्षणिक स्वलक्षण में क्रम से एवं युगपद् दोनों प्रकार से अर्थक्रिया का होना संभव नहीं है, क्योंकि उसमें हेतुफलभाव नहीं बन पाता तथा अक्षणिकता का दोष भी आता है।

बौद्ध दार्शनिकों का मन्तव्य है कि स्वलक्षण क्षणों का निर्हेतुक विनाश होता है अतः उनकी क्षणिकता में अन्य निमित्त की आवश्यकता नहीं है। स्वलक्षण-क्षणों में अर्थक्रिया किस प्रकार होती है, इसे बौद्धदार्शनिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि स्वलक्षण-क्षण स्वयं समाप्त होकर नये स्वलक्षण क्षण को जन्म दे जाते हैं, यही उनकी अर्थक्रिया है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में जिस प्रकार के पृथक् अस्तित्व वाले 'सामान्य' नामक पदार्थ का प्रतिपादन हुआ है वैसे 'सामान्य' पदार्थ न बौद्ध दार्शनिकों को मान्य है और न जैन-दार्शनिकों को। बौद्ध दार्शनिकों ने 'सामान्य' या 'जाति' के खण्डनार्थ-पर्याप्त चिन्तन कर प्रबल तर्क प्रस्तुत किये हैं, तथा अतदव्यावृत्तिस्वरूप 'अपोह' से सामान्यलक्षण अर्थ को सिद्ध किया है। बौद्धदार्शनिक क्षणिकवादी हैं, वे स्वलक्षण-क्षण को ही परमार्थसत् मानने वाले हैं। स्वलक्षण-क्षण एक दूसरे से

४५. अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्, पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च ।—परीक्षामुख, ४. २  
४६. स्याद्वाद्दरलाकर, पृ. ७२६ .

अत्यन्त व्यावृत्त रहते हैं। इस प्रकार बौद्ध मत में अनुगताकार की प्रतीति कराने वाले 'सामान्य' नामक पदार्थ को मानना एकदम असंभव एवं अनुचित था। स्वलक्षण क्षणों में ही अपोह के कारण सादृश्य का बोध उन्होंने स्वीकार किया है, किन्तु उस सादृश्य ज्ञान को भ्रान्त माना है। भ्रान्त मानते हुए भी कभी कभी उस सदृशतायुक्त सामान्यलक्षण अर्थ से अर्थक्रियासमर्थ स्वलक्षण की प्राप्ति की जा सकती है, इसलिए उसे बौद्धदार्शनिकों ने संवृतिसत् के रूप में स्वीकार भी किया है। धर्मकीर्ति आदि दार्शनिक कहते हैं कि स्वलक्षण क्षणों की सन्तान में एकत्व या सादृश्य का ज्ञान होने लगता है जो वस्तुतः असत् है।

जैन दार्शनिक बौद्धदार्शनिकों के अपोहवाद से सहमत नहीं हैं तथा न्याय-वैशेषिकों के सामान्य को भी पृथक् पदार्थ के रूप में स्वीकार करने के लिए तत्पर नहीं हैं तथापि वे विभिन्न वस्तुओं या एक ही वस्तु की पर्यायों (अवस्थाओं) में समानधर्मों के कारण होने वाली समानता के ज्ञान का प्रतिषेध नहीं करते हैं। वे 'सामान्य' नामक पृथक् पदार्थ का अस्तित्व स्वीकार न करते हुए तथा समान गुणधर्मों को प्रत्येक वस्तु में स्वीकार करते हुए 'समानता' का ज्ञान कर लेते हैं।

महत्त्वपूर्ण विचारणीय बिन्दु यह है कि बौद्धदार्शनिकों ने जिस स्वलक्षण को अर्थक्रियासमर्थ होने से परमार्थसत् कहा है तथा जिसे प्रत्यक्ष-प्रमाण का विषय प्रतिपादित किया है उसकी सिद्धि अनुमानप्रमाण का अवलम्बन लिये बिना नहीं की जा सकती। अनुमान प्रमाण से ही क्षणभंगवाद अथवा स्वलक्षण-क्षण की सिद्धि की जा सकती है, इन्द्रिय प्रत्यक्ष आदि से स्वलक्षण-क्षण को नहीं जाना जा सकता। स्वलक्षण के दृश्य एवं प्राप्य क्षण के एकत्व का अध्यवसाय करने पर ही उसका प्रमाणत्व सिद्ध होता है जो निर्विकल्पक नहीं रह पाता है।

संवृतिसत् को स्वीकार किये बिना परमार्थसत् का प्रतिपादन करना संभव नहीं था। परमार्थसत् स्वलक्षण को बौद्ध दार्शनिकों ने शब्द के द्वारा अनभिधेय कहा है, अतः संवृतिसत् के द्वारा ही परमार्थसत् का अभिधान किया गया है। इस प्रकार बौद्ध दार्शनिकों ने संभवतः 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते' वाक्य को सार्थक किया है।

## प्रमाण-फल

प्रमाण के साथ उसके फल की चर्चा भी अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई है। वैदिक एवं श्रमण सभी दर्शन प्रमाण के साथ फल की भी चर्चा करते हैं।

## बौद्ध दर्शन में प्रमाण-फल

जैन एवं बौद्ध दोनों दर्शन प्रमाण एवं उसके फल को ज्ञानरूप मानते हैं। प्रमाण एवं प्रमिति (फल) दोनों को ज्ञानात्मक स्वीकार करने पर यह समस्या उठती है कि प्रमाण एवं फल दोनों जब ज्ञानात्मक हैं तो उनमें फिर क्या भेद है? बौद्ध दार्शनिकों ने प्रमाण एवं प्रमिति के स्वरूप में भेद

स्थापित करते हुए ज्ञान में रहे हुए अर्थसारूप्य को प्रमाण<sup>४७</sup> तथा अर्थाधिगति को फल<sup>४८</sup> कहकर दोनों में भिन्नता का प्रतिपादन किया है। यद्यपि ज्ञान एक है, तथापि उसके दो पहलू हैं—एक प्रमाणात्मक तथा दूसरा प्रमाण-फलात्मक। जब हम किसी बाह्य अर्थ का ज्ञान करते हैं तो हमारे ज्ञान में बाह्य अर्थ का आकार गृहीत होता है अथवा हमारा ज्ञान बाह्य अर्थ से सारूप्य रखता है, तभी हमें बाह्य अर्थ का वास्तविक ज्ञान हो पाता है। बाह्य अर्थ का ज्ञान होना प्रमाण का फल है तथा उसके आकार का ज्ञान में प्रतिभास होना प्रमाण है।

बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग ने ज्ञान के व्यापारात्मक स्वरूप को प्रमाण कहकर<sup>४९</sup> उसके विषयाभास स्वरूप की ओर ही संकेत किया है। दिङ्नाग कहते हैं कि जब बाह्य अर्थ प्रमेय होता है तो ज्ञान की विषयाकारता ही प्रमाण कही जाती है, क्योंकि उस प्रमेय का ज्ञान विषयाकारता से होता है।<sup>५०</sup> जैसे जैसे अर्थ का आकार शुक्लादि रूप से ज्ञान में प्रतिभासित होता है वैसे वैसे वह अर्थ शुक्लादि रूप में प्रतीत होता जाता है।<sup>५१</sup>

धर्मकीर्ति ने भी न्यायबिन्दु में ज्ञान को प्रमाण एवं फल स्वीकार करते हुए उसके द्वारा होने वाली अर्थप्रतीति को प्रमाण का फल तथा अर्थ-सारूप्य को प्रमाण कहा है।<sup>५२</sup> प्रमाणवार्तिक में उन्होंने विषयाकारता को प्रमाण तथा अर्थ-संविद् को प्रमाण-फल प्रतिपादित करते हुए उनका बाह्यार्थवाद के साथ विज्ञानवाद में भी व्यवस्थापन किया है। धर्मकीर्ति की रचना 'न्यायबिन्दु' पूर्णरूपेण सौत्रान्तिक मत को ज्ञापित करती है जबकि 'प्रमाणवार्तिक' में विज्ञानवाद का भी सम्यक् प्रतिपादन हुआ है। विज्ञानवाद के अनुरूप प्रमाण, प्रमेय एवं प्रमिति का व्यवस्थापन दिङ्नाग ने भी किया है,<sup>५३</sup> किन्तु धर्मकीर्ति ने उसको भलीभांति प्रतिष्ठित किया है।<sup>५४</sup> धर्मकीर्ति कहते हैं 'इष्ट या अनिष्ट बाह्य अर्थ अपने सरूप ज्ञान का कारण होता हुआ उस ज्ञान का विषय बनता है, तब उस ज्ञान में इष्ट या अनिष्ट आकार के रूप में बाह्य अर्थ का अनुभव होता है। इस ज्ञान में विषय का सारूप्य प्रमाण तथा बाह्यार्थ

४७. अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम् ।— न्यायबिन्दु, १.२०

४८. अर्थप्रतीतिरूपत्वात् ।— न्यायबिन्दु, १.१९

४९. सव्यापारप्रतीतत्वात् प्रमाणं फलमेव सत् ।— प्रमाणसमुच्चय, १.९

५०. विषयाकारतैवास्य प्रमाणं तेन मीयते ।— प्रमाणसमुच्चय, १.१०

५१. यथा यथा ह्यर्थस्याकारः शुभ्रादित्वेन ज्ञाने प्रतिभाति ततद्रूपः स विषयः प्रतीयते ।— दिङ्नाग वाक्य, उद्धृत Dignāga, on perception, p. 104.44 एवं तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, भाग-१, पृ. ४८३-४४

५२. द्रष्टव्य, उपर्युक्त पादटिप्पण ४७-४८

५३. यदाभासं प्रमेयं तत्रमाणमथ तत्फलम् ।

ग्राहकाकारसंवित्ति त्रयं नातः पृथक् कृतम् ॥— प्रमाणसमुच्चय, १.११

५४. द्रष्टव्य, प्रमाणवार्तिक २.३२० से २.३७३, एक कारिका यथा

अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मविषयसितदर्शनैः ।

ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥— प्रमाणवार्तिक, २.३५४

का ज्ञान फल है।<sup>५५</sup> इसी प्रकार 'जब ज्ञानांश में विप्लव के कारण अर्थ की व्यवस्थिति का ज्ञान होता है तो ज्ञान को सविषय जानना चाहिए। तब उस ज्ञान में रही हुई विषयाकारता प्रमाण है तथा ज्ञानाकारता के अनुभव रूप जो अर्थ का निश्चय है, वह प्रमाण फल है।<sup>५६</sup> इस प्रकार विषयाकारता या अर्थसारूप्य प्रमाण तथा विषयाधिगति या अर्थाधिगति फल है।

शान्तरक्षित, कमलशील आदि ने विज्ञानवाद के पक्ष में स्वसंवित्ति को फल तथा स्वसंवेदन की योग्यता को प्रमाण कहा है तथा बाह्यार्थ के पक्ष में विषयाधिगति को प्रमाणफल तथा विषय-सारूप्य को प्रमाण स्वीकार किया है।<sup>५७</sup>

इस प्रकार ज्ञान को प्रमाण एवं फल दोनों रूपों में स्वीकार करते हुए भी बौद्धदार्शनिक आपेक्षिक दृष्टि से उसमें कथञ्चित् भेद का प्रतिपादन करते हुए दोनों का व्यवस्थापन करते हैं।

### व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक भाव

अर्थ-सारूप्य को प्रमाण एवं अर्थाधिगति को फल प्रतिपादित करते हुए बौद्ध दार्शनिकों ने उनमें व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक भाव से साधन एवं साध्य का द्योतन किया है, जन्य-जनक भाव से नहीं।<sup>५८</sup> मीमांसकों एवं नैयायिकों ने प्रमाण तथा फल में जन्य-जनकभाव स्वीकार किया है। बौद्ध दार्शनिकों ने एक ही ज्ञान में प्रमाण एवं फल की व्यवस्था करने के लिए अर्थसारूप्य को प्रमाण कह कर उसे व्यवस्थापक तथा अर्थाधिगति को फल कह कर उसे व्यवस्थाप्य प्रतिपादित किया है,<sup>५९</sup> तथा इससे प्रतिकर्म या प्रतिनियत व्यवस्था का संचालन माना है।

### तदुत्पत्ति, तद्रूपता एवं तदध्यवसाय

प्रमाण एवं फल में व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक भाव स्वीकार करने के साथ ही बौद्ध दर्शन में तदुत्पत्ति, तद्रूपता एवं तदध्यवसाय शब्दों का आगमन हुआ। मैं जिस वस्तु का ज्ञान कर रहा हूँ उसका ज्ञान वस्तुसरूप अर्थात् तद्रूप कैसे हो जाता है? इसका समाधान करने के लिए बौद्ध दार्शनिक कहते हैं कि अमुक ज्ञान अमुक वस्तु से उत्पन्न होता है। ज्ञान की उत्पत्ति में वस्तु अर्थात् 'अर्थ' कारण है। अर्थ से उत्पन्न होने के कारण ही ज्ञान में अर्थ का सारूप्य किंवा ताद्रूप्य आता है, और ताद्रूप्य आने

५५. यदा निष्पन्नतन्द्राव इहाऽनिष्टोऽपि वा परः ।

विज्ञप्तिहेतुविषयस्तस्याऽज्ञानुभवस्तथा ॥— प्रमाणवार्तिक, २.३३८

५६. यदा सविषयं ज्ञानं ज्ञानांशोऽर्थव्यवस्थितेः ।

तदा य आत्मानुभवः स एवार्थविनिश्चयः ॥— प्रमाणवार्तिक, २.३३९

५७. विषयाऽधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते ।

स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा ॥—तत्त्वसङ्ग्रह, १.३४३

५८. (१) न चात्र जन्यजनकभावनिबन्धनः साध्यसाधनभावः, येनैकस्मिन् वस्तुनि विरोधः स्यात्, अपितु व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावेन ।— धर्मोत्तर, न्यायबिन्दुटीका, १.२१ पृ. ८८

(२) द्रष्टव्य व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावेन साध्यसाधनव्यवस्था नोत्पाद्योत्पादकभावेन ।— तत्त्वसङ्ग्रहपञ्जिका, १.३४५, पृ. ४८८

५९. व्यवस्थापनहेतुर्हि सारूप्यं तस्य ज्ञानस्य । व्यवस्थाप्यं च नीलसंवेदनरूपम् ।— न्यायबिन्दुटीका, १.२१, पृ. ८८

पर वस्तु का अध्यवसाय होता है। समासतः कहे तो तदुत्पत्ति से ताद्रूप्य एवं ताद्रूप्य से तदध्यवसाय होता है। जिस नीलवस्तु से ज्ञान की उत्पत्ति होती है वह ज्ञान नील वस्तु के सरूप होता है तथा नीलाकार होने से नील वस्तु का नीलरूप में अध्यवसाय होता है।<sup>६०</sup> वस्तुतः तदुत्पत्ति एवं ताद्रूप्य से ही प्रतिनियत व्यवस्था शक्य होती है।

## जैन दर्शन में प्रमाण-फल

जैन दर्शन में ज्ञान का आविर्भाव ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम अथवा क्षय से माना गया है। उसमें अर्थ, आलोक आदि को कारण नहीं माना गया।<sup>६१</sup> जैन दार्शनिकों का मन्तव्य है कि हमें अर्थ की उपस्थिति में भी उसका ज्ञान नहीं होता है, यदि तत्सम्बद्ध ज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम नहीं हो तो।<sup>६२</sup> इसलिए जैन दार्शनिकों ने विषयाधिगति को सीधा प्रमाण-फल नहीं कहकर तत्सम्बद्ध अज्ञाननिवृत्ति को प्रमाण का फल कहा है।<sup>६३</sup> हमें 'घट' का ज्ञान हुआ है। इसका अर्थ है घट सम्बन्धी अज्ञान की निवृत्ति हुई है। अज्ञाननिवृत्ति के रूप में प्रमाण-फल का कथन संभवतः जैनागमों से संगति बिठाने के लिए किया गया है, अन्यथा स्व एवं अर्थ का निश्चय करना भी प्रमाण का फल है।<sup>६४</sup>

प्रमाण-फल को जैन दर्शन में दो प्रकार का निरूपित किया गया है - (१) अनन्तर अथवा साक्षात् फल तथा (२) परम्परा फल<sup>६५</sup>। प्रत्यक्ष, अनुमान आदि समस्त प्रमाणों का साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्ति है।<sup>६६</sup> परम्पराफल को पुनः दो भागों में विभक्त किया गया है। केवलज्ञान का परम्परा-फल उपेक्षाबुद्धि है<sup>६७</sup> तथा अन्य समस्त ज्ञानों या प्रमाणों का परम्परा फल हान, उपादान एवं उपेक्षा बुद्धि है।<sup>६८</sup> इस प्रकार जैनदार्शनिकों ने प्रमाण-फल से अज्ञाननिवृत्ति के रूप में प्रमेय का ज्ञान होना तो स्वीकार किया ही है साथ ही उस प्रमितार्थ के ग्रहण करने, त्यागने अथवा उपेक्षा बुद्धि रखने को भी

६०. प्रमाणवार्तिक, २.३२०-३२५

६१. नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात् तमोवत् ।— परीक्षामुख, २.६

६२. जैनदर्शनानुसार मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम (कमी) से इन्द्रियजन्य ज्ञान होता है।

६३. (१) प्रमाणस्य फलं साक्षादज्ञानविनिवर्तनम् ।— सिद्धसेन, न्यायावतार, २८

(२) स्वार्थव्यवसितौ व्याप्तिप्रमाणं हि प्रमाणमज्ञाननिवृत्तिं साधयेत् ।— विद्यानन्द, प्रमाणपरीक्षा, पृ. ६६.२२

(३) वेदान्त में प्रमाण की फलव्याप्यता स्वीकार नहीं की गयी है। ब्रह्मज्ञान में प्रमाण या शास्त्र की उपयोगिता नहीं है, किन्तु प्रमाण या शास्त्र अज्ञाननिवृत्ति में उपयोगी है, यथा- फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम् ।

ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्यापिरपेक्षिता ॥ सुरेश्वराचार्य, उद्धृत, वेदान्तसार, पृ. २३३

६४. प्रमाणस्य फलं साक्षात्सिद्धिः स्वार्थविनिश्चयः ।— अकलङ्क, सिद्धिविनिश्चय, १.३

६५. तद् द्विविधमानन्तर्येण पारम्पर्येण च ।— प्रमाणनयतत्त्वालोको, ६.२

६६. तत्रानन्तर्येण सर्वप्रमाणानामज्ञाननिवृत्तिः फलम् ।— प्रमाणनयतत्त्वालोको, ६.३

६७. पारम्पर्येण केवलज्ञानस्य तावत्फलमौदासीन्यम् ।— प्रमाणनयतत्त्वालोको, ६.४

६८. (१) शेषप्रमाणानां पुनरुपादानहानोपेक्षाबुद्धयः ।— प्रमाणनयतत्त्वालोको, ६.५

(२) समन्तभद्राचार्य ने समस्त प्रमाणों के फलों का इस प्रकार निरूपण किया है - उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः ।

पूर्वा वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वर्गोचरे ॥— आप्तमीमांसा, १.०२

प्रमाण-फल में समाविष्ट कर लिया है, जो न्यायदर्शन से साम्य रखता है। इसी प्रकार अकलङ्क ने अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा में क्रमशः पूर्व पूर्व को प्रमाण तथा उत्तर उत्तर को फल रूप में प्रस्तुत किया है।<sup>६९</sup>

बौद्ध दार्शनिकों के समान जैनदार्शनिकों ने भी प्रमाण एवं उसके फल को ज्ञानात्मक स्वीकार किया है। जैनदार्शनिकों के सामने भी बौद्धों की भांति प्रमाण एवं फल में भेद स्थापित करने की समस्या उठी तो जैन दार्शनिकों ने उन्हें कथञ्चित् भिन्न एवं कथञ्चित् अभिन्न सिद्ध किया।<sup>७०</sup> जैनदार्शनिक कहते हैं कि यद्यपि प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्ति स्वपरव्यवसायी ज्ञान से अभिन्न प्रतीत होता है, किन्तु प्रमाण साधन एवं अज्ञाननिवृत्ति स्वपरव्यवसिति रूप साध्य है। इनमें साध्य-साधन की प्रतीति होने से ये दोनों कथञ्चित् भिन्न हैं।<sup>७१</sup> इसी प्रकार हान, उपादान एवं उपेक्षा बुद्धि प्रमाण से भिन्न प्रतीत होती है तथापि एक ही प्रमाता द्वारा प्रमाण एवं हानोपादानोपेक्षाबुद्धि रूप फल की प्रतीति होती है, इसलिए उनमें कथञ्चित् अभेद भी है।<sup>७२</sup> एक ही प्रमाता आत्मा का प्रमाणरूप परिणमन होने के पश्चात् फलरूप परिणमन प्रतीत होता है, इसलिए फल एवं प्रमाण का कथञ्चित् अभेद माना जा सकता है।<sup>७३</sup> तथा प्रमाण की करण रूप में, फल की साध्य रूप में एवं प्रमाता की कर्ता रूप में प्रतीति होती है, इसलिए वे कथञ्चित् भिन्न भी हैं।<sup>७४</sup> विद्यानन्द<sup>७५</sup>, वादिदेवसूरि<sup>७६</sup> आदि का मन्तव्य है कि यदि प्रमाण एवं फल कथञ्चित् भिन्न एवं कथञ्चित् अभिन्न न हों तो प्रमाण एवं फल की व्यवस्था नहीं बन सकती। जैनदर्शन में प्रमेय दो प्रकार का माना गया है-स्व एवं पर। जब ज्ञान ही प्रमेय हो तो वह 'स्व' तथा जब बाह्य अर्थ प्रमेय हो तो उसे 'पर' कहा गया है। ज्ञान को पर प्रकाशक मानने के साथ उसका स्वप्रकाशक होना भी आवश्यक माना गया है। इसलिए कभी ज्ञान भी प्रमेय रूप हो सकता है। ज्ञान को प्रमेय मान लेने पर प्रमेय, प्रमाण, प्रमिति एवं प्रमाता सभी ज्ञानात्मक हो जाते हैं। तथापि जैन दार्शनिक व्यवस्था की दृष्टि से साध्य, साधन, कार्य एवं कर्ता के रूप में उनमें

६९. (१) पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं फलं स्यादुत्तरोत्तरम् ।-लघीयस्त्रय, ७

(२) पौर्वापर्येण सम्प्राप्तप्रमाणफललक्षणाः ।-सिद्धिविनिश्चय, २.१५

(३) न्यायदर्शन में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष, इन्द्रिय प्रमाण का फल तथा सविकल्पक प्रत्यक्ष का प्रमाण है, आदि ।-तर्क भाषा (केशवमिश्र), प्रत्यक्ष निरूपण ।

७०. (१) प्रमाणफलयोः क्रमभेदेऽपि तादात्म्यमभिन्नविषयत्वञ्च प्रत्येयम् ।-लघीयस्त्रयवृत्ति, ६, अकलङ्कग्रंथत्रय, पृ० ३

(२) प्रमाणादभिन्नमभिन्नं च ।-परीक्षामुख, ५.२

(३) प्रमाणपरीक्षा, पृ० ६६

(४) प्रमाणनयतत्त्वालोक, ६.६

७१. (१) तस्यापि कथञ्चित् भेदप्रसिद्धेः प्रमाणफलयोः साधनभेदात् ।-प्रमाणपरीक्षा, पृ० ६६

(२) प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग ३, पृ० ५०२-५१३

७२. तस्यैकप्रमातृतादात्म्येन प्रमाणादभेदव्यवस्थितिः ।- प्रमाणनयतत्त्वालोक, ६.८

७३. प्रमाणतया परिणतस्यैवात्मनः फलतया परिणतिप्रतीतेः ।-प्रमाणनयतत्त्वालोक, ६.९

७४. साध्यसाधनभावेन प्रमाणफलयोः प्रतीयमानत्वात् ।- प्रमाणनयतत्त्वालोक, ६.१४

७५. प्रमाणात्फलं कथञ्चित् भिन्नमभिन्नं च, प्रमाणफलत्वानुपपत्तेः ।-प्रमाणपरीक्षा, पृ० ६६

७६. इतरथा स्वपरयोः प्रमाणफलव्यवस्थाविप्लवः प्रसज्येत ।- प्रमाणनयतत्त्वालोक, ६.११

कथञ्चित् भेद स्वीकार करते हैं।<sup>७७</sup> हेमचन्द्राचार्य ने अवश्य धर्मकीर्ति के अनुसार प्रमाण एवं फल में व्यवस्थाप्य एवं व्यवस्थापक भाव बतलाया है।<sup>७८</sup> किन्तु हेमचन्द्राचार्य के पूर्व जैनदार्शनिकों ने इसका खण्डन किया है। जैन दार्शनिकों ने बौद्ध सम्मत साकारवाद, अर्थाकारवाद अथवा सारूप्यवाद का प्रबल खण्डन कर उसे प्रतिकर्मव्यवस्था के लिए वृथा सिद्ध किया है।

## अर्थाकारणता एवं अर्थाकारता (अर्थसारूप्य) का निरसन

जैन दार्शनिकों ने ज्ञान को साकार मानकर भी<sup>७९</sup> उसे अर्थाकार स्वीकार नहीं किया है। वे अर्थ को ज्ञान की उत्पत्ति में कारण भी नहीं मानते हैं, तथा अर्थाकारता अर्थात् अर्थसारूप्य को प्रतिनियत-व्यवस्था में प्रमाण भी स्वीकार नहीं करते हैं। जैनदार्शनिकों का मन्तव्य है कि ज्ञानावरण के क्षयोपशम से स्वयं ज्ञान में ऐसी योग्यता होती है कि वह प्रतिनियत अर्थ का प्रकाशक होता है।<sup>८०</sup> जिस प्रकार दीपक घट के आकार को ग्रहण किये बिना घट को प्रकाशित करता है उसी प्रकार ज्ञान भी बाह्य अर्थ का आकार ग्रहण किये बिना ही उसका प्रकाशन कर देता है।<sup>८१</sup> अर्थ का आकार ग्रहण न करने की दृष्टि से जैन दार्शनिकों ने ज्ञान को निराकार कहा है। ज्ञानावरण कर्म का पूर्णक्षय होने पर जैनदर्शन के अनुसार बिना इन्द्रियों के, जगत् के समस्त पदार्थों का स्वतः ज्ञान हो जाता है<sup>८२</sup> तथा क्षयोपशम (पूर्णक्षय नहीं) होने पर इन्द्रियादि के माध्यम से पुरोवर्ती बाह्यार्थ का ज्ञान होता है<sup>८३</sup> उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि ज्ञान में बाह्य अर्थ का आकार प्रतिबिम्बित हो। इसलिए जैन दार्शनिक बौद्ध सम्मत साकारज्ञानवाद को प्रमाण एवं प्रमितिके व्यवस्थापन के लिए आवश्यक नहीं मानते हैं।

जैनदार्शनिक अकलङ्क, विद्यानन्द, वादिराज, अभयदेवसूरि, एवं प्रभाचन्द्र द्वारा किया गया साकारवाद या अर्थाकारता के खण्डन की चर्चा यहां संक्षेप में प्रस्तुत है।

**अकलङ्कः**—अकलङ्क ने यह प्रतिपादित किया है कि ज्ञान स्वयं अपनी शक्ति से अर्थ का प्रतिनियत व्यवस्थापक होता है, उसके लिए अर्थ को कारण मानना आवश्यक नहीं है। वे ज्ञान की अर्थाकारता का तो निरास करते ही हैं, साथ ही ज्ञान के उत्पन्न होने में उसकी कारणता का भी निरसन करते हैं।

७७. द्रष्टव्य, न्यायविनिश्चयविवरण, भाग-१, पृ० ९

७८. एकज्ञानगतत्वेन प्रमाणफलयोरभेदो, व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावात्, भेद इति भेदाभेदरूपः।—प्रमाणमीमांसावृत्ति, १.१.३७, पृ० ३०

७९. जैनागमों में एवं दर्शनग्रन्थों में ज्ञान को साकार एवं दर्शन को निराकार कहा गया है, यथा-

(१) सागरे से जाणे भवति अणागरे से दंसणे भवति।—प्रज्ञापनासूत्र, पद ३०, सूत्र ६६३

(२) साकारं ज्ञानमनाकारं दर्शनमिति।—सर्वार्थसिद्धि, २.९

८०. (१) स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति।—परीक्षामुख, २.९

(२) प्रत्यर्थमावरणविच्छेदापेक्षया ज्ञानस्य परिच्छेदकत्वात्।—लघीयस्त्रयवृत्ति, ५६, अकलङ्कयंत्रय, पृ० १९.२०

८१. अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकं प्रदीपवत्।—परीक्षामुख, २.८

८२. सर्वप्रकाशसामर्थ्यं ज्ञानावरणसंक्षयात्।—न्यायविनिश्चय, ३५९

८३. (१) तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्।—तत्त्वार्थसूत्र, १.१४

(२) यथास्वं कर्मक्षयोपशमापेक्षिणीं करणमनसी निमित्तं विज्ञानस्य न बहिरर्थादयः।—लघीयस्त्रयवृत्ति, ५७, अकलङ्कयंत्रय, पृ० १९.२६

अकलङ्क के अनुसार ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम या क्षय से उत्पन्न हुआ ज्ञान स्वयं नियत अर्थ का प्रकाशक होता है।<sup>८४</sup> अर्थ के प्रकाशन में वे इन्द्रिय, मन आदि को निमित्त स्वीकार करते हैं, किन्तु बाह्य अर्थादि को नहीं।<sup>८५</sup> इन्द्रिय, मन आदि को निमित्त स्वीकार करना आगमापेक्ष तो है ही, किन्तु व्यावहारिक भी है। क्योंकि इन्द्रिय, मन आदि के निमित्त से ही मतिज्ञान अथवा बाह्य अर्थों का ज्ञान संभव होता है।

अकलङ्क ने प्रतिपादित किया है कि ज्ञान अर्थ से उत्पन्न नहीं होता है, अतः उसे अर्थाकार मानना युक्ति संगत नहीं है। ज्ञान की अर्थकारणता एवं अर्थाकारता का प्रतिषेध करने हेतु अकलङ्क ने अनेक तर्क दिए हैं तथा क्षायोपशमिक ज्ञान को ही नियत प्रमेय का प्रकाशक सिद्ध किया है। अकलङ्क कहते हैं कि ज्ञान में अर्थ को जानने की स्वतः योग्यता होती है।<sup>८६</sup> वह अर्थ से उत्पन्न होकर अर्थ को नहीं जानता, क्योंकि अर्थ ज्ञान का विषय है। जिस प्रकार प्रदीप घट से उत्पन्न हुए बिना घट का प्रकाशक होता है। उसी प्रकार ज्ञान भी अर्थ से उत्पन्न न होते हुए भी अर्थ का प्रकाशक होता है। ज्ञान की उत्पत्ति में अर्थ कारण नहीं है, क्योंकि ज्ञान, इन्द्रिय एवं मन के निमित्त से उत्पन्न होता है।<sup>८७</sup> 'यह अर्थ है' ऐसा तो हमें ज्ञान होता है, किन्तु यह ज्ञान अर्थ से उत्पन्न हुआ है, ऐसा ज्ञान नहीं होता।<sup>८८</sup> इसलिए ज्ञान को अर्थ से उत्पन्न बतलाना युक्तिसंगत नहीं है। यदि ज्ञान अर्थ से उत्पन्न होता तो कुलाल आदि के द्वारा घट की उत्पत्ति के समान इसकी उत्पत्ति में भी विवाद न होता। यदि अर्थ ज्ञान की उत्पत्ति में कारण होता तो किसी को कभी विपरीत प्रतिपत्ति अथवा भ्रान्तज्ञान नहीं होता। फिर श्वेतशंख में पीताकार शंख की प्रतीति नहीं हो सकती थी तथा मरने के इच्छुक पुरुष को अर्थ के सद्भाव में भी विपरीत ज्ञान नहीं हो सकता था।<sup>८९</sup> यदि अर्थ के साथ ज्ञान की उत्पत्ति का अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध होता तो संशयादि की उत्पत्ति भी संभव नहीं थी।<sup>९०</sup>

अर्थ को ज्ञान की उत्पत्ति में इसलिए भी कारण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अर्थ ज्ञानोत्पत्ति रूप कार्य के पहले ही निवृत्त हो जाता है, तथा ज्ञान अर्थ के निवृत्त होने पर भी या अभाव में भी देखा जाता है।<sup>९१</sup> दूसरी बात यह है कि ज्ञान की उत्पत्ति के पूर्व अर्थ अज्ञात रहता है, अतः अज्ञात अर्थ को

८४. द्रष्टव्य, यही अध्याय, पादटिप्पण, ८०(२)

८५. द्रष्टव्य, यही अध्याय, पादटिप्पण ८३(२)

८६. अर्थग्रहण योग्यतालक्षणम् ।—लघीयस्त्रयवृत्ति, ५, अकलङ्कग्रंथत्रय, पृ० २.२४

८७. अर्थस्य तदकारणत्वात्, तस्य इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वात् । अर्थस्य विषयत्वात् । न हि तत्परिच्छेदोऽर्थः, तत्कारणतामात्मसात् कुर्यात् प्रदीपस्येव घटादिः ।— लघीयस्त्रयवृत्ति, ५२, अकलङ्कग्रंथत्रय, पृ० १८.१२-१३

८८. अयमर्थ इति ज्ञानं विद्वान्नोत्पत्तिमर्थतः ।

अन्यथा न विवादः स्यात् कुलालादिघटादिवत् ॥—लघीयस्त्रय, ५३

८९. काचाद्युपहितेन्द्रियाणां शंखादौ पीताद्याकारज्ञानोत्पत्तेः मुमूर्षाणां यथासम्भवमर्थं सत्यपि विपरीतप्रतिपत्तिसद्भाववात् नार्थादयः कारणं ज्ञानस्येति स्थितम् ।—लघीयस्त्रयवृत्ति, ७, अकलङ्कग्रंथत्रय, पृ० २०.२

९०. अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थश्चेत् कारणं विदः ।

संशयादिविदुत्पादः कौतस्कुत इतीक्ष्यताम् ॥—लघीयस्त्रय, ५४

९१. नार्थः कारणं विज्ञानस्य कार्यकालमप्राप्य निवृत्तेः अतीततमोवत् ।—लघीयस्त्रयवृत्ति, ५८, अकलङ्कग्रंथत्रय, पृ० २०.८



ज्ञानोत्पत्ति में कारण कैसे माना जा सकता है।<sup>१२</sup> इसलिए अर्थ को या अर्थसन्निकर्ष को ज्ञानोत्पत्ति में कारण कहना उचित नहीं है। जिस प्रकार अर्थ अपने कारणों से उत्पन्न होकर स्वतः परिच्छेद्य बनता है उसी प्रकार ज्ञान भी अपने क्षयोपशमादि कारणों से उत्पन्न होकर अर्थ का स्वतः परिच्छेदक होता है।<sup>१३</sup> ज्ञान में ही ऐसी योग्यता है कि वह अर्थ का प्रतिनियत ज्ञान कर सकता है। इसलिए तदुत्पत्ति (अर्थोत्पन्नता) के अभाव में भी ग्राह्य-ग्राहक भाव की सिद्धि हो जाती है।<sup>१४</sup>

**अकलङ्क** कहते हैं कि ज्ञान में अर्थसारूप्य या अर्थाकारता नहीं होती, क्योंकि ज्ञान अमूर्त होता है एवं अर्थ मूर्त होता है। मूर्त दर्पण आदि को मूर्त मुखादि का प्रतिबिम्ब धारण करते हुए देखा जा सकता है, किन्तु अमूर्त ज्ञान मूर्त पदार्थ के प्रतिबिम्ब को धारण नहीं कर सकता। ज्ञान अमूर्त है, क्योंकि उसमें मूर्तता के लक्षणों का अभाव है। इसलिए ज्ञान अर्थसारूप्य-युक्त नहीं होता।<sup>१५</sup> जिस प्रकार बौद्ध दार्शनिक शब्द में अर्थ स्वीकार नहीं करते हैं तथा शब्द को अर्थात्मक भी नहीं मानते हैं; उसी प्रकार ज्ञान में भी अर्थ नहीं होता है और ज्ञान अर्थात्मक भी नहीं होता है, जिससे अर्थ के प्रतिभासित होने पर ज्ञान प्रतिभासित हो।<sup>१६</sup>

इस प्रकार जैन दार्शनिकों के अनुसार तदुत्पत्ति, तदाकारता एवं तदध्वयसाय को प्रमाण-व्यवस्था का कारण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ये सब मिलकर भी प्रामाण्य के कारण नहीं हैं तथा पृथक् पृथक् भी प्रामाण्य के कारण नहीं है।<sup>१७</sup> **अकलङ्क** कहते हैं कि जो दोष बौद्ध दार्शनिक 'सामान्य' में देते हैं तथा सामान्य को स्वीकार नहीं करते हैं, वे ही दोष 'सारूप्य' में भी आते हैं, क्योंकि वह सारूप्य भी असत् एवं काल्पनिक है।<sup>१८</sup>

बौद्धमत का निरसन करते हुए **अकलङ्क** कहते हैं कि अर्थसारूप्य या प्रतिबिम्ब के बिना भी ज्ञान में अर्थ को प्रकाशित करने की स्वतः योग्यता है। ताद्रूप्य के बिना भी अर्थ में ग्राह्य एवं ज्ञान में ग्राहकभाव सम्पादित हो जाता है।<sup>१९</sup> विषयज्ञान का ज्ञान भी ताद्रूप्य के बिना ही संभव होता है।<sup>१००</sup>

१२. प्राग्विज्ञानोत्पत्तेरर्थमनवबुद्धयमानाः कारणमकारणं वा कथं ब्रूयुः।—लघीयस्त्रयवृत्ति, अकलङ्कग्रंथत्रय, पृ० १९.१०

१३. स्वहेतुजनितोऽप्यर्थः परिच्छेद्यः स्वतो यथा।

तथा ज्ञानं स्वहेतूत्वं परिच्छेदात्मकं स्वतः ॥—लघीयस्त्रय, ५९

१४. ततस्तदुत्पत्तिमन्तरेणापि ग्राह्यग्राहकभावसिद्धिः स्वभावतः स्यात्।—लघीयस्त्रयवृत्ति, अकलङ्कग्रंथत्रय, पृ० २०.१९

१५. नार्थसारूप्यभृद्विज्ञानम् अमूर्तत्वात्। मूर्ता एव हि दर्पणादयः मूर्तमुखादिप्रतिबिम्बधारिणो दृष्टाः नामूर्त मूर्तप्रतिबिम्बभृत् अमूर्तं च ज्ञानं मूर्तिधर्माभावात्।—लघीयस्त्रयवृत्ति, अकलङ्कग्रंथत्रय, पृ० २०.९-११

१६. न हि ज्ञानेऽर्थोऽस्ति तदात्मको वा येन तस्मिन् प्रतिभासमाने प्रतिभासेत शब्दवत्।—लघीयस्त्रयवृत्ति, अकलङ्कग्रंथत्रय, पृ० २०.११-१२

१७. न तज्जन्म न ताद्रूप्यं न तदव्यवसितिः सह।

प्रत्येकं वा भजन्तीह प्रामाण्यं प्रति हेतुताम् ॥—लघीयस्त्रय, ५८

१८. सारूप्येऽपि समन्वेति प्रायः सामान्यदूषणम्।—न्यायविनिश्चय, १.२८

१९. प्रकाशनियमो हेतोर्बुद्धेर्न प्रतिबिम्बतः।

अन्तरेणापि ताद्रूप्यं ग्राह्यग्राहकयोः सतोः ॥—न्यायविनिश्चय, १.३३

१००. विषयज्ञानतज्ज्ञानविशेषोऽनेन वेदितः।

ग्राह्यभेदो न संविति भिन्नत्याकारभङ्गयपि ॥—न्यायविनिश्चय, १.३८

**धर्मकीर्ति** के द्वारा दिया गया पितृरूप हेतु भी उचित नहीं है, क्योंकि गर्भ एवं उसकी उत्पत्ति साक्षात् पिता के रूप में अनुकरण नहीं करती है ।<sup>१०१</sup>

अर्थसारूप्य को प्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अर्थसारूप्य के होने पर भी प्रामाण्य में व्यभिचार आता है । विषय या अर्थ को कारण मानने पर ज्ञान में कोई वैशिष्ट्य नहीं आता है, यदि कोई वैशिष्ट्य आता है तो नील अर्थ की नीलाकारता के समान ज्ञान में जडाकारता का भी सारूप्य स्वीकारना चाहिए ।<sup>१०२</sup> **अकलङ्क** कहते हैं कि जिस अर्थ का सारूप्य ग्रहण किया जाता है, वह सारूप्य उस अर्थ की एवं तत्सदृश अर्थों की अनेक सन्तानों में संभव है, अतः अर्थ से उत्पन्न सारूप्य में व्यभिचार आता है । जब सारूप्य में व्यभिचार आता है तो उस सारूप्य से प्रतिनियत अर्थ का अध्यवसाय नहीं किया जा सकता ।<sup>१०३</sup>

**विद्यानन्द**—विद्यानन्द ने प्रतिपादित किया है कि सारूप्य को प्रमाण तथा अधिगति को फल मानते हुए इनको एकान्ततः अभिन्न नहीं माना जा सकता ।<sup>१०४</sup> **विद्यानन्द** बौद्धों से कहते हैं कि यदि इनमें काल्पनिक भेद प्रतिपादित किया जाता है तो निरंश ज्ञान में प्रमाण एवं फल ये दो रूप कल्पित करने का कोई विशेष हेतु संभव नहीं है ।<sup>१०५</sup> यदि असारूप्य की व्यावृत्ति से सारूप्य तथा अनधिगतव्यावृत्ति से अधिगत की कल्पना की जाती है तो इस प्रकार दरिद्र पुरुष में अराज्य की व्यावृत्ति होने से राज्य तथा अनिन्द्र की व्यावृत्ति होने से इन्द्र की भी कल्पना की जा सकती है ।<sup>१०६</sup>

यदि प्रतिकर्मव्यवस्था की दृष्टि से सारूप्य की कल्पना की गयी है तो उचित नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों में जो अर्थसारूप्य माना गया है उससे अर्थ में क्षणिकता का व्यवस्थापन नहीं होता । जिस प्रकार नीलाकार होने से ज्ञान नील अर्थ का व्यवस्थापक होता है उसी प्रकार उसे क्षणक्षयादि का भी व्यवस्थापक होना चाहिए, जिसे बौद्ध स्वीकार नहीं करते हैं ।<sup>१०७</sup>

**विद्यानन्द** का मत है कि प्रमाण जिस प्रकार योग्यता मात्र से स्वयं को जानता है उसी प्रकार अर्थ को भी जान लेता है । इसमें प्रतीति का उल्लंघन नहीं है ।<sup>१०८</sup>

१०१. (i) तद्रूपानुकृतौ हेतुः तत्साक्षाज्जन्मतैव न ।

परिणामाविनाभावात् गर्भपित्रादिरूपवत् ॥—सिद्धिविनिश्चय, ९.२५

(ii) धर्मकीर्ति के द्वारा दिए गए हेतु के लिए द्रष्टव्य, यही अध्याय, पादटिप्पण, १३१

१०२. तन्पुनः नीलतयेव जडात्मनापि सुतरां सारूप्यम् ।—सिद्धिविनिश्चयवृत्ति, ११.२२, पृ० ७२७

१०३. तज्जन्मसारूप्यलक्षणं व्यभिचरति समानार्थदर्शनानैकसन्तानेषु संभवात् । तदध्यवसायहेतुत्वं च ।—सिद्धिविनिश्चयवृत्ति, ११.२२, पृ० ७२७

१०४. तन्न सारूप्यमस्य प्रमाणमधिगतिः फलमेकान्ततोऽनर्धान्तरम् ।—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, भाग-२, पृ० ३९३

१०५. तन्न युक्तं निरंशायाः संवित्तेद्वयं रूपताम् ।—तात्वार्थश्लोकवार्तिक, १.६.३१

१०६. विना हेतुविशेषेण नान्यव्यावृत्तिमात्रतः ।

कल्पितोऽर्थोऽर्थसंसिद्धयै सर्वथातिप्रसंगतः ॥—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.६.३२

१०७. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.६.३३-३४

१०८. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.६.३५

**वादिराज** - अकलङ्क के विवरणकार **वादिराज** ने भी बौद्ध सम्मत साकार ज्ञानवाद का निरसन किया है। उनका कथन है कि जड़ता नील अर्थ से भिन्न नहीं है। अर्थ की जड़ता का ज्ञान भी यदि साकार रूप में होता है तो ज्ञान जड़ हो जायेगा तथा यदि जड़ता का ज्ञान अतदाकार रूप से गृहीत हो सकता है तो फिर उसी प्रकार नीलज्ञान को भी नीलाकार हुए बिना स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार अर्थाकारता की कल्पना व्यर्थ सिद्ध होती है।<sup>१०९</sup>

**धर्मकीर्ति** कहते हैं कि ज्ञान यदि अतदाकार हो, तो उसकी स्मृति नहीं हो सकती।<sup>११०</sup> **दिङ्नाग** के अनुसार विषयज्ञान का ज्ञान उसे विषयाकार स्वीकार किये बिना नहीं हो सकता। इसका तात्पर्य है कि ज्ञान यदि अर्थाकार न हो तो स्मरण में अर्थ का 'यह नील' आदि रूप से नियमतः स्मरण नहीं हो सकता। किन्तु बौद्धों ने जिस प्रकार अर्थाकारता को स्मृति में कारण माना है उसी प्रकार आलोकाकारता को क्यों नहीं?<sup>१११</sup> यदि नील अर्थ के ज्ञान में आलोकाकार का आकार नहीं आता है तो नील अर्थ दिखाई कैसे देता है? यदि आलोकाकार का ग्रहण हुए बिना ही नील अर्थ दिखाई दे जाता है तो **वादिराज** कहते हैं कि नील अर्थ में भी आकार की कल्पना व्यर्थ है। उसका भी ज्ञान आकार ग्रहण किये बिना हो जाना चाहिए।<sup>११२</sup>

ज्ञान को विषयाकार मानने पर भी नीलसंकलित ज्ञान का ही स्मरण होता है आलोकादिसंकलित ज्ञान का नहीं, इसके पीछे ज्ञान में उस प्रकार की शक्ति स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है।<sup>११३</sup> यदि ज्ञान में विषयाकार को ग्रहण करने की ही शक्ति है, आलोकाकार आदि को ग्रहण करने की नहीं, तो फिर ज्ञान में विषय का आकार ग्रहण करने की शक्ति मानने की भी क्या आवश्यकता है? ज्ञान में ही अर्थविशेष को जानने एवं स्मरण रखने की स्वतः शक्ति क्यों नहीं मान ली जाती?

**वादिराज** बौद्धों से प्रश्न करते हैं कि सारूप्य का ज्ञान कैसे होता है? यदि सारूप्य को जिस ज्ञान ने ग्रहण किया है उसी ज्ञान से सारूप्य गृहीत होता है तो वह ज्ञान पुनः सारूप्य को ग्रहण किये बिना ही उसका ज्ञान कर लेता है या सारूप्य को ग्रहण करके। यदि पुनः सारूप्य को ग्रहण किये बिना ही सारूप्य का ज्ञान कर लेता है तो सारूप्य की कल्पना व्यर्थ है। यदि वह सारूप्य को ग्रहण करता है तो अन्योन्याश्रय दोष आता है, क्योंकि अर्थ का ज्ञान हुए बिना सारूप्य का ज्ञान नहीं हो सकता तथा सारूप्य के बिना अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। सारूप्यान्तर की कल्पना करने पर अनवस्था

१०९. अतदाकारया वित्वा जाड्यस्य यदि वेदनम्।

नीलत्यापि तयैवेति व्यर्थमाकारकल्पनम् ॥—न्यायविनिश्चयविवरण, ६७७

११०. अन्यथा ह्यतदाकारं कथं ज्ञानेऽधिरोहति ॥—प्रमाणवार्तिक, २.३८०

१११. यदि नीलस्य तज्ज्ञानाकारत्वात्तस्मृतौ स्मृतिः।

आलोकोऽपि तदाकारस्तस्याप्येषा न किं भवेत् ॥—न्यायविनिश्चयविवरण, ७२५

११२. नीलज्ञानमनालोकाकारं चेतद्दृशिः कथम्।

तथापि तद्दृशौ व्यर्थं नीलेऽप्याकारकल्पनम् ॥—न्यायविनिश्चयविवरण, ७२६

११३. न्यायविनिश्चयविवरण, भाग-१, पृ० २८९.१५-१७

दोष आता है । यदि प्रत्यक्ष के पृष्ठभावी विकल्प के द्वारा सारूप्य का ज्ञान होता है, तो वह विकल्प भी अवस्तुरूप होने से वस्तुभूत सारूप्य का ज्ञान नहीं कर सकता । यदि सारूप्य भी अवस्तुभूत है तो प्रत्यक्ष भी अवस्तुभूत सिद्ध होगा, क्योंकि अर्थसारूप्य के बिना प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । इसलिये सारूप्य की कल्पना व्यर्थ है ।<sup>११४</sup>

वादिरात्र साकारवाद के निरसन का निष्कर्ष देते हुए प्रतिपादित करते हैं कि बौद्ध तार्किक धर्मकीर्ति द्वारा प्रमेयाधिगति के साधन मेयरूपता (विषयाकारता) को प्रमाण कहना उचित नहीं है, क्योंकि प्रमाण निर्णयात्मक होता है,<sup>११५</sup> और निर्णयात्मक ज्ञान में अर्थ का ज्ञान पृथक् रूप से ही होता है । समस्त प्राणियों का यह अनुभव है कि उन्हें प्रत्यक्षज्ञान द्वारा नील आदि अर्थ बाहर दिखाई देते हैं ।<sup>११६</sup> वस्तुतः अर्थसारूप्यवाद की कल्पना उसी प्रकार बाधित होती है जिस प्रकार अग्नि को शीतल कहना ।<sup>११७</sup> प्रतिकर्मव्यवस्था निराकार ज्ञान से भी संभव है । जिस प्रकार प्रकाश अर्थ का आकार ग्रहण किये बिना अर्थ को प्रकाशित करता है उसी प्रकार ज्ञान भी अर्थ सारूप्य को ग्रहण किये बिना अर्थ का ज्ञान करा देता है । इसलिये सारूप्य को सिद्ध करने का धर्मकीर्ति का प्रयास व्यर्थ है ।<sup>११८</sup>

अभयदेवसूरि-सिद्धसेन के टीकाकार अभयदेवसूरि ने अपने ग्रंथ तत्त्वबोधविधायिनी में वैभाषिक बौद्धों के निराकारवाद का सौत्रान्तिक बौद्धों द्वारा खण्डन प्रस्तुत किया है एवं सौत्रान्तिक बौद्धों के साकारवाद का निराकार ज्ञानवादियों के द्वारा निराकरण किया है । अभयदेवसूरि कहते हैं कि जो जिसके आकार का नहीं है वह उसका ग्राहक नहीं होता है, ऐसी कोई व्याप्ति सिद्ध नहीं है ।<sup>११९</sup> आकार तो पूर्वनीलक्षण का उत्तरनीलक्षण में भी पाया जाता है, किन्तु वह पूर्वनीलक्षण का ग्राहक नहीं होता है । यदि ज्ञान नीलाकार अनुभव में आता है इसलिये अर्थ को नील रूप में व्यवस्थापित किया जाता है तो त्रिलोक में विद्यमान समस्त नील अर्थों का एक साथ ज्ञान हो जाना चाहिये, क्योंकि वह सारूप्य समस्त नील अर्थों में समान है । यदि नीलाकारता के समान होने पर भी कोई प्रतिनियम हेतु है जिससे पुरोवर्ती नीलादि का ही ज्ञान होता है तो अनाकार ज्ञान में भी उस प्रतिनियम हेतु से प्रतिनियत अर्थ की व्यवस्था संभव हो जायेगी ।<sup>१२०</sup> इस प्रकार ज्ञान में अर्थाकारता की कल्पना वृथा है ।

११४. न्यायविनिश्चयविवरण, भाग-१, पृ० २२५

११५. तस्मात्प्रमेयाधिगतेः साधनं मेयरूपता ।

विदुषा न वक्तव्या, वक्तव्या निर्णयात्मता ॥—न्यायविनिश्चयविवरण, १२२१

११६. प्रसिद्धानुभवं हीदं यन्नीलादिबाहिरगतम् ।

प्रत्यक्षे प्रतिभातीति सर्वप्राणभृतामपि ॥—न्यायविनिश्चयविवरण, १२२३

११७. प्रत्यक्षेण स बाध्येत पावकानुष्णवादवत् ।—न्यायविनिश्चयविवरण, १२२४

११८. सारूप्यमन्तरेणपि तत्रार्थनिबन्धस्थितेः ।

तस्साधनप्रयासोऽयं धर्मकीर्तरेतोवृथा ॥—न्यायविनिश्चयविवरण, ६६६

११९. न च "यद् यदाकारं तत् तस्य ग्राहकम्" इति व्याप्तिसिद्धिः ।— तत्त्वबोधविधायिनी, पृ० ४६४.३२

१२०. तत्त्वबोधविधायिनी, पृ० ४६५.२-५

**प्रभाचन्द्र** — प्रभाचन्द्र ने बौद्धों के साकारवाद को पूर्वपक्ष<sup>१२१</sup> में रखकर उसका विधिवत् खण्डन किया है। वे प्रमेयकमलमार्तण्ड एवं न्यायकुमुदचन्द्र में विविध प्रकार से ज्ञान की अर्थाकारणता एवं उसके अर्थ सारूप्य का निराकरण करते हैं।

**पूर्वपक्ष**—बौद्धों का मंतव्य है कि आकार के अभाव में एक ज्ञान का दूसरे ज्ञान से व्यावर्तन नहीं हो सकता। इसलिये यह नील अर्थ का ज्ञान है, यह पीत अर्थ का ज्ञान है इत्यादि प्रतिकर्मव्यवस्था के लिये ज्ञान में अर्थाकारता का होना आवश्यक है। नियत कर्म वाली अधिगति के लिये अर्थाकारता ही प्रमाण है, क्योंकि उसी से प्रतिकर्म व्यवस्था शक्य होती है।<sup>१२२</sup> निराकार ज्ञान सब अर्थों के प्रति समान होता है। उससे समस्त अर्थों का ज्ञान एक साथ होने की आपत्ति आती है। फलतः निराकार ज्ञान से प्रतिकर्मव्यवस्था घटित नहीं होती है। वस्तुतः अर्थाकारता के बिना ज्ञान को प्रतिनियत अर्थ से योजित नहीं किया जा सकता। इसलिये प्रमेय की अधिगति का साधन जो प्रमेयाकारता है वह प्रमाण कही गयी है।<sup>१२३</sup>

**उत्तरपक्ष**—प्रभाचन्द्र बौद्धमत का खण्डन करते हुए प्रतिपादित करते हैं कि अर्थ से ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। वस्तुतः योग्यतालक्षण से ही ज्ञान समकालीन अथवा भिन्नकालीन अर्थ को ग्रहण करता है। ज्ञान के साकार होने का प्रत्यक्ष से विरोध आता है। प्रत्येक पुरुष को प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा विषयाकारता से रहित घटादि का ग्राहक ज्ञान ही अनुभव में आता है, दर्पणादि के समान प्रतिबिम्बित नहीं। अनुमान-प्रमाण द्वारा भी ज्ञान की अर्थाकारता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि जो जिसका ग्रहण करता है वह उस रूप नहीं होता यथा स्तम्भादि की जड़ता को ग्रहण करने वाला ज्ञान जड़रूप नहीं होता। इसी प्रकार अपने से भिन्न नीलादि अर्थ का ग्राहक ज्ञान नीलाद्याकार नहीं होता है।<sup>१२४</sup>

यदि ज्ञान विषय के आकार को धारण करता है तो दूर-निकट आदि का व्यवहार नहीं हो सकता। क्योंकि जब दूर- निकट स्थित समस्त वस्तुओं का आकार ज्ञान में विद्यमान है तो उस ज्ञान में उन वस्तुओं की दूरी या निकटता का अन्तर नहीं रह जाता। दूसरी बात यह है कि ज्ञान में वस्तु का आकार गृहीत होने पर कालव्यवधान के कारण वह वस्तु दूर प्रतीत होनी चाहिये, क्योंकि उस वस्तु के आकार के अनन्तर ज्ञान में अन्य वस्तुओं का आकार भी गृहीत हो गया है।<sup>१२५</sup>

**प्रभाचन्द्र** बौद्धों से प्रश्न करते हैं कि ज्ञान की साकारता से क्या आशय है ? स्वसंविद्रूपता को साकारता कहते हो, या ज्ञान का वैशद्यादि स्वभाव साकारता है, या अर्थ के आकार का उल्लेख करना

१२१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० १६५-१६६

१२२. तत्रानुभवमात्रेण ज्ञानस्य सदृशात्मनः।

भाव्यं तेनात्मना येन प्रतिकर्मं विभज्यते ॥—प्रमाणवार्तिक, २.३०२

१२३. अर्थेन षट्यत्वेनां न हि मुक्त्वाध्वरूपताम्।

तस्मात् प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता ॥—प्रमाणवार्तिक २.३०५-३०६

१२४. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० १६७ एवं प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-१, पृ० २७७

१२५. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-१, पृ०. २७७-७८

साकारता है, अथवा तो अर्थ के आकार को धारण करना साकारता है ? इनमें प्रथम तीन विकल्प सिद्धसाध्य हैं । ये जैनों को भी अभीष्ट है क्योंकि इनमें से एक का भी अभाव होने पर ज्ञान को ज्ञान नहीं कहा जा सकता । किन्तु ज्ञान में अर्थ का आकार धारण किया जाना उपपन्न नहीं है । क्योंकि नीलादि आकार ज्ञान में संक्रमित नहीं होते हैं । नीलादि अर्थ जड़ हैं । जड़ का धर्म ज्ञान में संक्रमित नहीं होता है ।<sup>१२६</sup>

अकल्मशू ने ज्ञान में अर्थाकारता का प्रतिषेध करते हुए एक यह तर्क दिया है कि जिस प्रकार ज्ञान में नील अर्थ का नील आकार गृहीत होता है उसी प्रकार उसकी जड़ता क्यों नहीं गृहीत होती ? उसे भी गृहीत होना चाहिये । अकल्मशू के इस तर्क को प्रभाचन्द्र ने आगे बढ़ाया है । वे कहते हैं कि एक ज्ञान नीलार्थ की नीलता का ग्रहण करने के साथ यदि जड़ता का भी ग्रहण करता है तो वह ज्ञान भी उत्तरक्षण की उत्पत्ति के नियम से जड़ हो जायेगा । यदि नीलता का ग्रहण स्वीकार करें एवं जड़ता का नहीं तो नीलता से जड़ता को भिन्न मानना पड़ेगा । फलस्वरूप एक अर्थ निरंश सिद्ध नहीं हो सकेगा एवं अनेकान्तवाद को स्वीकार करना होगा । यदि नीलता का ग्रहण तदाकार ज्ञान से होता है एवं जड़ता का ग्रहण अतदाकार ज्ञान से होता है तो जड़ता के समान नीलता की प्रतीति भी अतदाकार ज्ञान से हो सकती है । क्योंकि दोनों ही ग्राह्य विषय हैं । दूसरी बात यह है कि नीलाकार ज्ञान ही यदि अतदाकार होकर जड़ता का ज्ञान करता है तो 'अर्धजरती न्याय' का दोष आता है । यदि जड़ता का ज्ञान भिन्न ज्ञान से होता है तो वह यदि उसे तदाकार होकर जानता है तो वह ज्ञान भी जड़ हो जायेगा और यदि वह उसे अतदाकार होकर जानता है, तो अर्थाकारता या अर्थसारूप्य की कल्पना ही व्यर्थ सिद्ध हो जाती है ।<sup>१२७</sup>

प्रभाचन्द्र कहते हैं कि अर्थाकारता के नियमानुसार यदि बुद्ध भगवान् भी दूसरों के रागादि का वेदन करते समय उनसे तदाकार हो जाते हैं तो वीतराग कैसे कहे जा सकेंगे ? वे विधूतकल्पनाजाल कैसे हो सकेंगे ? इसलिए तदाकारता का नियम उचित नहीं है ।<sup>१२८</sup>

धर्मकीर्ति कहते हैं 'अर्थेन घटयत्येनां नहि मुक्त्वार्थरूपताम्'<sup>१२९</sup> अर्थात् अर्थाकारता के अभाव में अर्थ का व्यवस्थापन नहीं किया जा सकता । प्रभाचन्द्र के अनुसार धर्मकीर्ति का यह कथन उपयुक्त नहीं है । वे प्रश्न करते हैं कि 'अर्थेन घटयति' इत्यादि में घटयति शब्द का क्या अर्थ है ? विवक्षित ज्ञान को अर्थ से सम्बन्धित कराना उसका अर्थ है अथवा अर्थ से सम्बद्धज्ञान का निश्चय कराना अर्थ है ? इनमें प्रथम पक्ष अयुक्त है, क्योंकि अर्थरूपता विवक्षित ज्ञान को अर्थ से सम्बन्धित नहीं करती है, ज्ञान स्वयं ही अपने कारणों द्वारा अर्थ से सम्बद्ध ही उत्पन्न होता है । ज्ञान उत्पन्न होकर अर्थ से

१२६. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० १६७

१२७. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-१, पृ० २७८-८० एवं न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० १६८

१२८. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० १६८

१२९. प्रमाणवार्तिक, २.३०५

सम्बद्ध नहीं होता और अर्थरूपता भी उसे अर्थ से सम्बद्ध करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि ज्ञान के साथ अर्थरूपता का तादात्म्य नहीं है। द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं ठहरता है, क्योंकि अर्थ से सम्बद्ध ज्ञान के साथ ज्ञानगत अर्थरूपता रहती हुई उपलब्ध नहीं होती है। ज्ञान का अर्थ से इतना ही सम्बन्ध है कि वह विशिष्ट विषय का ज्ञान करता है।<sup>१३०</sup>

प्रभाचन्द्र का कथन है कि ज्ञान की उत्पत्ति में अर्थ के समान इन्द्रियां, आलोक आदि और भी अनेक कारण होते हैं, फिर ज्ञान अर्थ का ही आकार क्यों ग्रहण करता है, इन्द्रियादि का क्यों नहीं? इसके उत्तर में धर्मकीर्ति कहते हैं कि जिस प्रकार आहार, काल आदि अनेक कारणों के होने पर भी संतान, माता या पिता में से किसी एक के आकार को धारण करती है, उसी प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियों के समानरूप से कारण होने पर भी ज्ञान नील अर्थ के ही आकार को ग्रहण करता है, अन्य के आकार को नहीं<sup>१३१</sup> किन्तु धर्मकीर्ति का यह उत्तर ज्ञान की योग्यता का ही आश्रय लेता है। ज्ञान में ही ऐसी योग्यता की कल्पना करनी पड़ती है कि जिससे वह अर्थ का आकार ग्रहण कर पाता है। प्रभाचन्द्र के अनुसार ज्ञान की योग्यता निराकार ज्ञान में भी संभव है। निराकार ज्ञान भी इन्द्रियादि निमित्तों के होने पर क्षयोपशम जन्य योग्यता के कारण पुरोवर्ती नीलादि अर्थ को नियत रूप से जान सकता है।<sup>१३२</sup>

धर्मकीर्ति द्वारा दिये गये पुत्रोत्पत्ति उदाहरण में एक दोष और आता है, क्योंकि उसके अनुसार पुत्र अपने उपादान कारणभूत पिता या माता में से किसी एक के आकार को धारण करता है उसी प्रकार ज्ञान को भी अर्थ के आकार को ग्रहण नहीं करके उसके उपादान कारणभूत पूर्व क्षणवर्ती ज्ञान के आकार को ग्रहण करना चाहिए।<sup>१३३</sup>

ज्ञान में अर्थाकारता का प्रतिषेध करते हुये प्रभाचन्द्र ने एक तर्क यह भी दिया है कि ज्ञान प्रमाणरूप है। उसमें यदि प्रमेय का आकार गृहीत होता है तो प्रमाण भी प्रमेय बन जायेगा एवं उस प्रमेय का ज्ञान करने के लिये एक भिन्न प्रमाण की आवश्यकता होगी तथा प्रमाण के स्वरूप में भी व्याघात होगा। प्रमाण की प्रतीति अन्तर्मुख रूप से तथा प्रमेय की प्रतीति बहिर्मुख रूप से होती है, अतः ये दोनों भिन्न हैं।<sup>१३४</sup>

प्रभाचन्द्र ने अर्थाकारता का प्रतिषेध करने के लिये बौद्धों से प्रश्न किया है कि ज्ञानगत नीलादि आकार से उसके क्षणिकत्वादि आकार भिन्न हैं या अभिन्न? यदि भिन्न हैं तो नीलादि आकारों को

१३०. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-१, पृ० २८५-८६ एवं न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० १७१

१३१. यथैवाहारकालादेः समानेऽपत्यजन्मनि।

पित्रोस्तदेकमाकारं धत्ते नान्यस्य कस्यचित् ॥—प्रमाणवार्तिक, २.३६९

१३२. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-१, पृ० २८१-२८२

१३३. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-१, पृ० २८९

१३४. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-१, पृ० २८३

अक्षणिक या नित्य मानना होगा । यदि ज्ञानगत नील आदि आकार से क्षणिकत्वादि आकार अभिन्न हैं तो जो ज्ञान नीलाकार होकर नीलादि को जानता है वही उससे अभिन्न क्षणिकत्व को भी जान लेगा । फलतः क्षणिकता की सिद्धि के लिए 'सर्व क्षणिकं सत्त्वात्' अनुमान वाक्य वृथा सिद्ध होता है ।<sup>१३५</sup>

बौद्ध दार्शनिकों का मन्तव्य है कि जो ज्ञानोत्पत्ति में कारण है वही अर्थ ज्ञान का ग्राह्य या परिच्छेद्य होता है, किन्तु उनका यह मन्तव्य उचित नहीं है, क्योंकि इस स्थिति में योगियों के द्वारा मात्र पुरोवर्ती अर्थों का ही ज्ञान हो सकेगा । वर्तमान कालीन एवं भूतकालीन पदार्थ अनुपलब्ध होने से ज्ञान की उत्पत्ति के कारण नहीं बन सकेंगे, अतः योगियों द्वारा इनका ज्ञान नहीं हो सकेगा और इस प्रकार बौद्ध सम्मत सर्वज्ञ की भी सिद्धि संभव नहीं होगी ।<sup>१३६</sup>

प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रत्येक स्वलक्षण परमाणु अपना आकार ज्ञान में पृथक् पृथक् रूप से समर्पित करते हैं अथवा संघात रूप से ? पृथक् पृथक् रूप से तो स्वलक्षण परमाणुओं का ज्ञान में अवभासन होता नहीं है । यदि संघात रूप से आकार समर्पित करते हैं तो स्वलक्षण स्वरूप का परित्याग हो जाता है । ज्ञान में स्थूलादि आकार का प्रतिभास होता है, किन्तु परमाणु स्थूल आदि आकार से रहित होने के कारण ऐसा आकार प्रदान नहीं कर सकते । यदि समुदित परमाणुओं का ही प्रत्यक्ष होता है तो परमाणु संघात के समान ज्ञान में त्रिकोणता, चतुष्कोणता, दीर्घता, ह्रस्वता, परिमण्डल, सम-विषमादि आकार भी गृहीत होने चाहिए तथा जलधारण करना, लाना आदि अर्थक्रियाकारित्व एवं बाह्य इन्द्रियप्रत्यक्षता भी उस ज्ञान में घटित होनी चाहिए ।<sup>१३७</sup>

ज्ञान को निराकार स्वीकार करने पर भी प्रतिनियतार्थग्राहक-व्यवस्था संभव है । निराकार ज्ञान अपना एवं अर्थ का नियत प्रकाशक होता है । उसका स्वरूप ही एक ज्ञान को दूसरे ज्ञान से व्यावृत्त करता है । स्वगत धर्म की अपेक्षा से ही पदार्थों में व्यावृत्ति का होना उचित है, अन्य अर्थ के धर्म की अपेक्षा से नहीं । ज्ञान का आकार उसकी स्वपरप्रकाशकता है, नीलादिपना नहीं । ज्ञान में ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जन्य ऐसा सामर्थ्य है कि जिससे ज्ञान निराकार रहकर भी नियत अर्थों का व्यवस्थापक बन जाता है । यह दूर है, निकट है, यह घट है, यह पट है आदि समस्त व्यवहार नियत रूप से सम्पन्न हो जाते हैं । यह क्षयोपशमजन्य योग्यता ही पुरोवर्ती समस्त अर्थों का व्यवस्थायुक्त ज्ञान करने में समर्थ है । ज्ञान को निराकार मानने पर समस्त अर्थों का ज्ञान एक साथ हो जायेगा, ऐसी आशंका करना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि निराकार ज्ञान भी इन्द्रियों के द्वारा पुरोवर्ती अर्थ को ही जानने

१३५. (१) प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-१, पृ० २९१

(२) बौद्ध दार्शनिक क्षणिकता की सिद्धि प्रत्यक्ष से नहीं अनुमान से करते हैं ।

१३६. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-२, पृ० १३

१३७. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० १६९



में प्रवृत्त होता है, समस्त अर्थों को नहीं।<sup>१३८</sup> जिस प्रकार दीपक घटादि अर्थ के आकार को ग्रहण किये बिना पुरोवर्ती घटादि का प्रकाशक होता है उसी प्रकार निराकार ज्ञान भी पुरोवर्ती अर्थों का प्रकाशन करने में समर्थ होता है। ज्ञान पुरोवर्ती अर्थों का प्रकाशन अपनी तथाविध योग्यता के कारण करता है। साकार ज्ञान में भी अर्थ का ही आकार आता है, इन्द्रियादि का नहीं, अतः उसमें भी अर्थाकारता की योग्यता स्वीकार की गयी है तथा योग्यता से ही घटाकार ज्ञान के द्वारा एक घट का ही ज्ञान स्वीकार किया गया है, ब्रह्माण्ड के समस्त घटों का नहीं। जैन यह योग्यता निराकार ज्ञान में ही स्वीकार करते हैं।<sup>१३९</sup>

### जैनमत में साकार ज्ञान

जैनागमों में ज्ञान को साकार बतलाया गया है। प्रज्ञापना सूत्र में स्पष्ट कथन है कि ज्ञान साकार होता है एवं दर्शन निराकार होता है।<sup>१४०</sup> जैनागमों में ही नहीं पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि में भी दर्शन को अनाकार तथा ज्ञान को साकार कहा है।<sup>१४१</sup> अकलङ्क ने भी प्रत्यक्षलक्षण में प्रमाण को स्पष्ट कहने के साथ साकार कहा है।<sup>१४२</sup> किन्तु जैनागम एवं जैनदर्शन में प्रतिपादित ज्ञान की साकारता का वह आशय नहीं है जो बौद्ध दर्शन में प्रतिपादित है। बौद्ध दर्शन में प्रतिपादित साकारता का अर्थ अर्थाकारता या अर्थसारूप्य है। जिसके अनुसार ज्ञान अर्थ से उत्पन्न होकर अर्थ का आकार ग्रहण कर लेता है। विज्ञानवादी दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान में अर्थाभास होता है। इसलिये ज्ञान अर्थाकार कहा गया है। वस्तुतः वह अर्थ से उत्पन्न न होकर भी योग्यता के कारण वासना विप्लव से अर्थाकार प्रतीत होता है। जैन दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान की साकारता इस अर्थ में है कि ज्ञान विशेषणादि से विशिष्ट वस्तु का ग्रहण करता है, तथा ग्राह्य- ग्राहक भेद का उसमें प्रतिभास होता है। यह नहीं कि अर्थ का प्रतिबिम्ब या अर्थ का आकार ज्ञान में आ जाता है। जैन दार्शनिक ज्ञान की उत्पत्ति अर्थादि ग्राह्य पदार्थों से नहीं मानते हैं। उनके अनुसार ज्ञानावरण कर्म की कमी या क्षय के कारण, इन्द्रिय, मन अथवा आत्मा के द्वारा बाह्य अर्थों का ग्राह्य रूप में ज्ञान होता है। ग्राह्य रूप में विशेषणादि से विशिष्ट, सामान्य-विशेषात्मक अर्थ का ज्ञान होना ही जैन दार्शनिकों के ज्ञान की साकारता है। अर्थाकारता की दृष्टि से ज्ञान निराकार ही होता है। सिद्धसेन दिवाकर ने प्रतिपादित किया है कि सामान्य का ग्रहण दर्शन है तथा विशेष का ग्रहण ज्ञान है।<sup>१४३</sup> दर्शन के द्वारा सामान्य का ग्रहण निराकार उपयोग तथा ज्ञान के द्वारा विशेष का ग्रहण साकार उपयोग माना गया है।<sup>१४४</sup> वादिराज का कथन है कि दर्शन को

१३८. केवलज्ञानी सर्वज्ञ पुरुष समस्त अर्थों को एक साथ जानते हैं।

१३९. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० १७०-७१ एवं प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-१, पृ० २८१, २८६

१४०. सागारे से जाणे भवति, अजागारे से दंसणे भवति।—प्रज्ञापनासूत्र, पद ३०, सूत्र ६६३

१४१. साकारं ज्ञानमनाकारं दर्शनमिति।—सर्वार्थसिद्धि, २.९

१४२. प्रत्यक्षलक्षणं ग्राह्यः स्पष्टं साकारमज्ञसा।

द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम् ॥—न्यायविनिश्चय, ३

१४३. ज्ञं सामान्यग्रहणं दंसणमेयं विशेषसियं जाणं।—सन्मतितर्कप्रकरण, २.१

१४४. सन्मतितर्कप्रकरण, २.१४

प्रमाण से पृथक् प्रतिपादित करने के लिए प्रमाण को साकार कहा गया है । १४५

## समीक्षण

जैन दार्शनिकों ने ज्ञान में अर्थकारणता एवं अर्थाकारता का पर्याप्त निरसन किया है, तथा बौद्ध दार्शनिकों ने इनका सबल स्थापन किया है । प्रश्न यह होता है कि क्या जैन दार्शनिकों ने उसी आशय को समझ कर इनका निरसन किया है, जिस आशय से बौद्ध दार्शनिकों ने इनका स्थापन किया है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहना होगा कि जैन दार्शनिकों ने बौद्धों द्वारा प्रतिपादित अर्थकारणता का आशय तो वही ग्रहण किया है जो बौद्ध दार्शनिक प्रतिपादित करते हैं, किन्तु अर्थाकारता का बौद्ध दर्शन में संभवतः मूलरूप में वह स्वरूप नहीं है जो जैन दार्शनिकों ने समझा है । बौद्ध दार्शनिकों ने अर्थकारणता (तदुत्पत्ति) एवं अर्थाकारता (तदाकारता) का प्रतिपादन ज्ञान की अविश्ववादिता, प्रतिकर्मव्यवस्था एवं व्यवस्थाप्य- व्यवस्थापकभाव की दृष्टि से किया है । किन्तु जैन दार्शनिक इसे ज्ञान की स्वयोग्यता से ही उपपन्न कर लेते हैं, इसलिए वे तदुत्पत्ति, एवं तदाकारता का सैद्धान्तिक दृष्टि से खण्डन करते हैं ।

बौद्ध दार्शनिक कहते हैं कि हमें प्रमेय का जो अधिगम होता है वह ज्ञान में रही हुई प्रमेयाकारता के कारण होता है, तथा ज्ञान में प्रमेयाकारता प्रमेय से उत्पन्न होने के कारण होती है । इसलिए तदध्यवसाय के लिए तदुत्पत्ति एवं तदाकारता को स्वीकार करना आवश्यक है ।

जैन दार्शनिकों का प्रमाणशास्त्रीय चिन्तन, प्रायः आगमापेक्ष रहा है । वे आगमों में स्थापित सिद्धान्तों के आधार पर ही प्रमाणशास्त्रीय परिकल्पनाओं का स्थापन या संयोजन करते हैं । जैनागमों में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय नामक आठ कर्मों का प्रतिपादन है । इनमें से ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम (कमी) से ज्ञान का प्रकट होना बतलाया गया है । ज्यों ज्यों ज्ञानावरण कर्म में क्षयोपशम होता है त्यों त्यों ज्ञान उसी प्रकार प्रकट होता जाता है, जिस प्रकार बादलों से ढके सूर्य का बादलों के हटने पर प्रकाशन हो जाता है । एक स्थिति ऐसी भी होती है जब ज्ञानावरण कर्म का सम्पूर्ण क्षय हो जाता है तथा जिसके होते ही केवलज्ञान प्रकट हो जाता है अथवा सर्वज्ञता आ जाती है । यह बात विचारणीय है कि आगमों में केवलज्ञान या सर्वज्ञता का प्रतिपादन बाह्य वस्तुओं का ज्ञान होने के आशय से किया गया है अथवा आत्मज्ञता या तत्त्वज्ञता के प्रकट होने के आशय से । सिद्धसेन, समन्तभद्र एवं तदुत्तरवर्ती जैन दार्शनिकों ने उस ज्ञान का सम्बन्ध बाह्य अर्थों की जानकारी से जोड़कर प्रस्तुत किया है । तदनुसार सर्वज्ञ को तीनों लोकों एवं तीनों कालों की समस्त वस्तुओं एवं उनकी पर्यायों को साक्षात् जानने वाला प्रतिपादित किया है । इस सिद्धान्त के आधार पर ज्ञान के प्रकट होने का कारण ज्ञानावरण कर्म में रहे आवरण का हटना मात्र सिद्ध होता है, तब बाह्य अर्थों से ज्ञान की उत्पत्ति का कोई सम्बन्ध नहीं रह पाता है । बाह्य अर्थ तो अपने स्थान पर विद्यमान रहते हैं, वे न तो ज्ञान पर आये आवरण को हटाने में समर्थ हैं और न ही ज्ञान

को उत्पन्न कर सकते हैं। इसलिए ही संभवतः जैन दार्शनिक बाह्य अर्थ एवं आलोक को ज्ञान के प्रकट होने में कारण नहीं मानते हैं। इन्द्रिय एवं मन को उन्होंने बाह्य अर्थों का ज्ञान करने में कारण अवश्य माना है, क्योंकि ज्ञान के पांच भेदों में मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान ये दोनों इन्द्रिय एवं मन की सहायता से ही हो सकते हैं।

यहां चिन्तनीय विषय यह है कि जब मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान जिनका जिनषट्त्रय एवं अक्कलङ्क ने सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष में समावेश किया है, इन्द्रिय एवं मन के बिना नहीं होते हैं, तब इन्द्रिय आदि की बाह्य अर्थों को जानने के अतिरिक्त क्या उपयोगिता है? ऐसा तो है नहीं कि इन्द्रियादि के द्वारा आत्मा बाह्य अर्थ के अभाव में भी उसका ज्ञान कर ले। यदि बाह्य अर्थ के अभाव में भी इन्द्रियादि के द्वारा ज्ञान कर लिया जाता है तो वह ज्ञान मिथ्या समझा जायेगा, उस ज्ञान को जैन दार्शनिक वस्तुवादी होकर प्रमाणकोटि में नहीं रख सकते। इसका अर्थ है कि इन्द्रियादि के द्वारा जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान किया जाता है वह प्रमेय या विषय भी विद्यमान होना चाहिए। विषय के अभाव में होने वाले ज्ञान को अक्कलङ्क आदि जैन दार्शनिकों ने केशोपदुकज्ञान की भांति अप्रमाण ठहराया है।

यह सत्य है कि हमें इन्द्रियादि के माध्यम से बाह्य अर्थ का ज्ञान होता है, किन्तु यह भी सत्य है कि बाह्य अर्थ, ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकते, क्योंकि बाह्य अर्थ की सत्ता ज्ञाता से भिन्न है। बाह्य अर्थ तो क्या, जैन दार्शनिक इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष को भी ज्ञान को उत्पन्न करने वाला नहीं मानते हैं। ज्ञान ज्ञाता को होता है, वह जब देखना चाहे देखे, सुनना चाहे सुने। देखना न चाहने पर घट द्रष्टा के ज्ञान को उत्पन्न नहीं करता। शब्द श्रोता के ज्ञान को उत्पन्न नहीं करता। ये तो जड़ पदार्थ हैं, किन्तु एक चेतन प्राणी भी अन्य चेतनप्राणी में ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकता। तब फिर समस्या होती है कि बाह्य अर्थ का ज्ञान किस प्रकार होता है। इसके लिए जैनागम एवं दर्शनग्रंथों में विशद विवेचन मिलता है। इन्द्रियां दो प्रकार की कही गयी हैं-द्रव्येन्द्रिय एवं भावेन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय के भी दो भेद हैं-निर्वृत्ति एवं उपकरण। भावेन्द्रिय भी दो प्रकार की है- लब्धि एवं उपयोग। जब तक भावेन्द्रिय में उपयोग रूप इन्द्रिय कार्य नहीं करती तब तक इन्द्रियों के द्वारा भी बाह्य अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। बाह्य अर्थ के ज्ञान की प्रक्रिया यह है कि चक्षु इन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियां अर्थ को प्राप्त करके या अर्थ का सन्निकर्ष करके ही अर्थ का ज्ञान करती हैं, जबकि चक्षु इन्द्रिय अर्थ से दूर रहकर भी अर्थ का ज्ञान कर सकती है। न तो चक्षु इन्द्रिय अर्थ तक पहुंचती है और न ही अर्थ चक्षुइन्द्रिय तक पहुंचता है। चक्षु इन्द्रिय में ऐसी योग्यता है कि वह पुरोवर्ती अर्थ का प्रत्यक्ष करा सकती है। जैन दार्शनिकों ने अपने मन्तव्य की पुष्टि में अधिक नहीं कहा, अब वैज्ञानिकों द्वारा यह सिद्ध कर दिया गया है कि चक्षु इन्द्रिय में अर्थ का प्रतिबिम्ब बनता है, उस प्रतिबिम्ब के बनने की सूचना मस्तिष्क केन्द्र में पहुंचती है तब हमें उस बाह्य अर्थ का ज्ञान होता है। यहां यह स्पष्ट कर देना उचित रहेगा कि अर्थ का प्रतिबिम्ब ज्ञान में नहीं चक्षु में विद्यमान लेन्स में बनता है जबकि बौद्ध मान्यता के अनुसार वह प्रतिबिम्ब ज्ञान

में बनता है। दूसरी बात यह है कि विज्ञान में भी प्रतिबिम्ब बनने का कार्य चक्षु इन्द्रिय में ही होता है, अन्य इन्द्रियों में नहीं।

यहां पर यह भी तर्क दिया जा सकता है कि बौद्ध दार्शनिक चक्षु एवं श्रोत्र को अर्थ का अप्राप्यकारी मानते हैं। इन दोनों इन्द्रियों को अर्थ का अप्राप्यकारी मानकर यह कैसे कहा जा सकता है कि ज्ञान अर्थ से उत्पन्न हुआ है, अथवा ज्ञान अर्थाकार है? ज्ञान या इन्द्रियां भी जब अर्थ तक नहीं पहुंचती एवं अर्थ भी इन्द्रियों तक नहीं पहुंचता तब वह ज्ञान अर्थ का आकार कैसे ग्रहण कर सकता है?

यहां पर यह समाधान प्रतीत होता है कि ज्ञान में अर्थ का आकार ग्रहण करने का प्रतिपादन बौद्ध दार्शनिक वस्तुभूत रूप में नहीं, अपितु व्यावहारिक रूप में प्रमिति एवं प्रमाण का व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक भाव बतलाने के लिए करते हैं। बौद्धों के अनुसार प्रमेय का अधिगम सव्यापार प्रतीत होता है। वह व्यापार ज्ञान में अर्थसारूप्य अथवा विषयाभास है। दो प्रकार के आभास वाले ज्ञान उत्पन्न होते हैं - स्वाभास एवं विषयाभास। स्वाभास ज्ञान स्वप्रकाशकता का द्योतक है तथा विषयाभास ज्ञान विषय के सारूप्य का द्योतक है। ज्ञान में विषयाभास न हो तो विषय का अधिगम शक्य नहीं है और विषयाभास की उत्पत्ति में विषय या अर्थ कारण होता है। वस्तुतः यहां बौद्ध दार्शनिक एक ज्ञान में होने वाले प्रमाण एवं प्रमेयाधिगम रूप फल में किञ्चित् भेद का व्यवस्थापन कर रहे हैं। दूसरी बात यह भी है कि बौद्ध दार्शनिक प्रमाण को अविश्ववादी मानते हैं, उसका अविश्ववादित्व यही है कि हमने जिस अर्थ को प्रमेय बनाया है उसी का अधिगम किया गया है। यह अविश्ववादित्व अर्थसारूप्य से भलीभांति घटित हो जाता है।

‘अर्थसारूप्य’ का तात्पर्य यह नहीं हो सकता कि अर्थ ज्ञान में उसी आकार का प्रतिबिम्बित होता है। यदि अर्थ ज्ञान में उसी आकार का प्रतिबिम्बित होता है तो उस ज्ञान को स्थूल, मूर्त एवं दीर्घकाय दर्पण की भांति मानना होगा, जो सर्वथा अशक्य है, एवं लोक-विरुद्ध है। अर्थसारूप्य को झुंठलाने के साथ यह भी विचार करना आवश्यक है कि हमें बिना प्रतिबिम्ब के अर्थ का रंग, आकार आदि के रूप में ज्ञान कैसे होता है? समस्या त्वक् रसना, घ्राण एवं श्रोत्र के सम्बन्ध में कम है, किन्तु चक्षु के सम्बन्ध में अधिक है, क्योंकि रंग, आकार आदि का ज्ञान चक्षु इन्द्रिय द्वारा अथवा स्मृतिज्ञान से संभव होता है। शब्द, गंध, रस एवं स्पर्श से रंग का बोध नहीं होता। आकार का बोध त्वक् से अवश्य हो सकता है। किन्तु वह उतना स्पष्ट नहीं हो पाता जितना चक्षु इन्द्रिय के माध्यम से होता है। अर्थ के प्रतिबिम्ब या सारूप्य को ग्रहण करने की जो समस्या उठी है वह संभवतः चक्षु इन्द्रिय के द्वारा किये जाने वाले प्रत्यक्ष से अधिक सम्बद्ध है और चक्षु इन्द्रिय द्वारा प्रकाश की उपस्थिति में ही अर्थ का प्रतिबिम्ब ग्रहण किया जाता है, उस प्रतिबिम्ब के द्वारा मस्तिष्क अर्थ को उस रंग, आकार आदि से युक्त जानता है। ज्ञान में विविधता है। ज्ञान का एक प्रकार ऐसा है जिसमें पूर्वदृष्ट या अनुभूत वस्तुओं

के सम्बन्ध में जानकारी संकलित हो जाती है, तथा समय पर उसका स्मृति के द्वारा हम पुनः ज्ञान कर लेते हैं।

यह कहना अधिक संगत एवं उपयुक्त होगा कि ज्ञान अर्थ को आकार, वर्ण आदि से विशिष्ट जानता है, किन्तु वह अर्थाकार नहीं होता। ज्ञान की उत्पत्ति अर्थ से नहीं होती है, तथापि अर्थ के सद्भाव में होने वाला अविस्वादी ज्ञान ही प्रमाण होता है।

बौद्ध दर्शन में प्रतिपादित अर्थसारूप्य का सिद्धान्त व्यवस्थाप्य - व्यवस्थापक दृष्टि से संगत प्रतीत होता है, किन्तु व्यावहारिक एवं तर्क संगत दृष्टि से उसमें बाधाएं खड़ी होती हैं। जैन दार्शनिकों का प्रतिपादन आगमापेक्ष दृष्टि के अधिक निकट है, तथापि अर्थ का व्यवस्थित एवं अविस्वादी ज्ञान करने के लिए जैन दार्शनिक ज्ञान को विशेषण-विशेष्यादि से युक्त एवं अभिलाष्य होने के कारण कथञ्चित् साकार स्वीकार करते हैं।

### प्रमाणाभास

सभी दर्शन अपने प्रमाणलक्षण से इतर प्रमाणस्वरूप को प्रमाणाभास की श्रेणी में रखते हैं। यही कार्य बौद्ध एवं जैन दार्शनिकों ने भी किया है। जैन दार्शनिक **वादिदेवसूरि** ने प्रमाणाभास को स्वरूप, संख्या विषय एवं फल के आधार पर चार प्रकार का प्रतिपादित किया है।<sup>१४६</sup> **माणिक्यनन्दी** ने अस्वसंविदित, गृहीतार्थ, दर्शन (निर्विकल्पक ज्ञान) एवं संशय आदि को स्वरूप से प्रमाणाभास कहा है।<sup>१४७</sup> इनके प्रमाणाभास होने का वे कारण मानते हैं कि ये अपने विषय का निश्चय नहीं करा पाते हैं।<sup>१४८</sup> जिस प्रकार दूसरे पुरुष का ज्ञान अपने विषय का ज्ञान नहीं कराता उसी प्रकार अस्वसंविदित अर्थात् अस्व-प्रकाशक ज्ञान अपने विषय का निश्चय नहीं करता है। **माणिक्यनन्दी** दिगम्बर जैन दार्शनिक हैं तथा वे प्रमाण-लक्षण में स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण कहते हैं, इसलिए उनके मत में गृहीतार्थग्राही ज्ञान भी प्रमाणाभास की श्रेणी में आता है। श्वेताम्बर जैन दार्शनिक इसे प्रमाण ही मानते हैं, प्रमाणाभास नहीं। **माणिक्यनन्दी** ने निर्विकल्पक दर्शन को प्रमाणाभास कहा है क्योंकि वह अपने विषय का निश्चय नहीं करता। संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय को भी वे अपने विषय का निश्चयक नहीं होने के कारण प्रमाणाभास मानते हैं। **वादिदेवसूरि** ने स्वरूप की दृष्टि से अज्ञान अनात्मप्रकाशक ज्ञान, स्वमात्रप्रकाशक ज्ञान, निर्विकल्पक ज्ञान एवं समारोप अर्थात् संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय को प्रमाणाभास कहा है,<sup>१४९</sup> क्योंकि इनसे स्व एवं पर का व्यवसाय नहीं होता।<sup>१५०</sup>

१४६. प्रमाणस्य स्वरूपादिचतुष्टयाद्विपरीतं तदाभासम् ।—प्रमाणनयतत्त्वालोक, ६.२३

१४७. अस्वसंविदितगृहीतार्थदर्शनसंशयादयः प्रमाणाभासाः ।—परीक्षामुख, ६.२

१४८. स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात् ।

पुरुषान्तरपूर्वार्थगच्छत्तृणस्पर्शस्थानपुरुषादिज्ञानवत् ।—परीक्षामुख, ६.३-४

१४९. अज्ञानात्मकानात्मप्रकाशकस्वमात्रावभासकनिर्विकल्पकसमारोपाः प्रमाणस्य स्वरूपाभासाः ।—प्रमाणनयतत्त्वालोक, ६.२४

१५०. तेभ्यः स्वपरव्यवसायस्यानुपपत्तेः ।—प्रमाणनयतत्त्वालोक, ६.२६

अज्ञान शब्द के द्वारा वे इन्द्रियार्थसन्निकर्ष, कारकसाकल्य आदि को, अनात्मप्रकाशक ज्ञान के द्वारा वे नैयायिकादि के द्वारा कल्पित मात्र परप्रकाशक ज्ञान को, स्वमात्रप्रकाशकज्ञान के द्वारा वे विज्ञानवादियों के ज्ञान को, निर्विकल्पक ज्ञान के द्वारा बौद्धसम्मत चतुर्विध प्रत्यक्ष को प्रमाणाभास कहते हैं। समारोप के अन्तर्गत वे संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय को रखकर उन्हें भी प्रमाणाभास कहते हैं। **वादिदेवसूरि** ने जैनदर्शन में प्रतिपादित 'दर्शन' को भी अज्ञानात्मक होने के कारण अप्रमाण या प्रमाणाभास कहा है।<sup>१५१</sup>

स्वरूपाभास के रूप में प्रमाणाभास जहां प्रमाण के स्वरूप पर आधृत है वहां संख्याभास के रूप में वह प्रमाण की संख्याओं पर आधृत है। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दो ही प्रमाण होते हैं। इनसे भिन्न प्रमाण-संख्या मानना संख्याभास के अन्तर्गत सम्मिलित होता है।<sup>१५२</sup> बौद्धदर्शन में संख्या की दृष्टि से यद्यपि दो ही प्रमाण मान्य हैं - प्रत्यक्ष एवं अनुमान, किन्तु अनुमान में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क एवं आगम प्रमाणों का समावेश नहीं होता है, परोक्ष प्रमाण में हो जाता है इसलिए बौद्ध मान्य दो प्रमाण भी जैन दृष्टि से संख्याभास से दूषित हैं। प्रमाण का विषय जैन दर्शन में सामान्यविशेषात्मक वस्तु है। इससे भिन्न केवल सामान्य, केवल विशेष अथवा दोनों को भिन्न-भिन्न विषय मानना विषयाभास रूप प्रमाणाभास है।<sup>१५३</sup> इस दृष्टि से बौद्धदर्शन में मान्य दो विषय स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण भी जैनमत में विषयाभास के दोष से ग्रस्त हैं। स्वरूप, संख्या एवं विषय के समान फल पर आधृत आभास फलाभास है। जैन दार्शनिक प्रमाण एवं उसके फल को एक दूसरे से कथञ्चित् भिन्न एवं कथञ्चित् अभिन्न मानते हैं। बौद्ध दार्शनिक दोनों को प्रायः अभिन्न मानते हैं, नैयायिक आदि भिन्न मानते हैं इसलिए जैनों के अनुसार बौद्ध एवं नैयायिकादि की मान्यता फलाभास है।<sup>१५४</sup>

जिस प्रकार प्रमाण की तरह प्रतीत होने वाले अप्रमाण को प्रमाणाभास कहा गया है उसी प्रकार प्रत्यक्षाभास, अनुमानाभास, आगमाभास, स्मरणाभास, प्रत्यभिज्ञानाभास, तर्काभास आदि आभासों को भी उपपन्न कर लिया जाता है। जैन दार्शनिक **माणिक्यनन्दी** एवं **वादिदेवसूरि** ने इनका सोदाहरण विवेचन किया है।<sup>१५५</sup> **माणिक्यनन्दी** ने बौद्धमान्य निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को अविशद होने से प्रत्यक्षाभास कहा है। **वादिदेवसूरि** ने सांख्यवहारिक एवं पारमार्थिक प्रत्यक्षाभास के पृथक् पृथक् लक्षण किए हैं। वस्तुतः सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष न होने पर भी मेघों में गन्धर्वनगर की भांति जो सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष रूप प्रतीत हो, वह सांख्यवहारिक प्रत्यक्षाभास है। इसी प्रकार जो पारमार्थिक

१५१. यथा सन्निकर्षाद्यस्वसंविदितपरानवभासकज्ञानदर्शनविपर्ययसंशयानध्यवसायाः ।—प्रमाणनयतत्त्वालोक, ६.२५

१५२. प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि संख्यानं तस्य संख्याऽऽभासम् ।—प्रमाणनयतत्त्वालोक, ६.८५

१५३. सामान्यमेव, विशेष एव, तद् द्वयं वा स्वतन्त्रमित्यादिस्तस्य विषयाभासः ।—प्रमाणनयतत्त्वालोक, ६.८६

१५४. अभिन्नमेव भिन्नमेव वा प्रमाणात् फलं तस्य तदाभासम् ।—प्रमाणनयतत्त्वालोक, ६.८७

१५५. द्रष्टव्य, परीक्षामुख एवं प्रमाणनयतत्त्वालोक के षष्ठ परिच्छेद ।

प्रत्यक्ष न होने पर भी पारमार्थिक प्रत्यक्ष जैसा प्रतीत हो उसे पारमार्थिक प्रत्यक्षाभास कहा गया है, यथा शिव नामक राजर्षि को हुआ असद् अवधिज्ञान (विभङ्गज्ञान)। शिव राजर्षि को अपने ज्ञान में असंख्यात द्वीप-समुद्रों के स्थान पर सात द्वीप-समुद्र ही सत्य प्रतीत हुए।

स्मरणाभास का लक्षण देते हुए वादिदेवसूरि ने कहा है कि अननुभूत (अज्ञात) वस्तु की 'वह है' इस तरह पूर्वज्ञात की भांति स्मृति होना स्मरणाभास है। सदृश पदार्थ में यह वही है, एक पदार्थ में यह उसके सदृश है आदि ज्ञान प्रत्यभिज्ञानाभास है। व्याप्ति के न होने पर भी व्याप्ति का आभास होना तर्काभास है। अनुमानाभास के लिए कहा गया है कि पक्षाभास आदि से उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनुमानाभास है। अनाप्तपुरुष के वचन से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को आगमाभास कहा गया है।

बौद्ध दर्शन के अनुसार विसंवादक एवं ज्ञात अर्थ का ग्राहक ज्ञान प्रमाणाभास है, ऐसा उनके द्वारा प्रदत्त प्रमाणलक्षणों (प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्<sup>१५६</sup> एवं 'अज्ञातार्थाज्ञापकमिति प्रमाणसामान्य लक्षणम्'<sup>१५७</sup> से विदित होता है। बौद्ध दर्शन में प्रतिपादित प्रत्यक्षाभास का विवेचन तृतीय अध्याय में किया जा चुका है।<sup>१५८</sup>

हेत्वाभास, पक्षाभास एवं दृष्टान्ताभास की चर्चा इस ग्रन्थ के चतुर्थ अध्याय में बौद्ध एवं जैन दर्शनों के अनुसार तुलनात्मक रूप में की जा चुकी है। अतः इसके लिए वह अध्याय द्रष्टव्य है।

१५६. प्रमाणवार्तिक, १.३

१५७. प्रमाणसमुच्चयटीका, पृ. ११

१५८. द्रष्टव्य, तृतीय अध्याय, पृ. १२१

## परिशिष्ट (द्वितीय अध्याय) -क

पादटिप्पण - ९८

अज्ञातार्थप्रकाशश्चेल्लक्षणं परमार्थतः ।  
 गृहीतग्रहणान्न स्यादनुमानस्यानुमानता ॥६८ ॥  
 प्रत्यक्षेण गृहीतेऽपि क्षणिकत्वादिवस्तुनि ।  
 समारोपव्यवच्छेदात्प्रामाण्यं लैङ्गिकस्य चेत् ॥६९ ॥  
 स्मृत्यादिवेदनस्यातः प्रमाणत्वमपीष्यताम् ।  
 मानद्वैविध्यविध्वंसनिबन्धनमबाधितम् ॥७० ॥  
 मुख्यं प्रामाण्यमध्यक्षेऽनुमाने व्यावहारिकम् ।  
 इति बुवन्न बौद्धः स्यात् प्रमाणे लक्षणद्वयम् ॥७१ ॥

-विद्यानन्द, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१०.६८-७१

पादटिप्पण - १०१

अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वं किमभिधीयते ? ज्ञानान्तरेणानधिगतमर्थं यदधिगच्छति तत्रमाण-  
 मिति चेत् तर्हि तज्ज्ञानान्तरं परकीयं स्वकीयं वा । तद्यदि परकीयम्, तदयुक्तम्, सर्वज्ञज्ञानस्य  
 सकलार्थगोचरतया सर्वप्राकृतलोकज्ञानानामधिगतार्थाधिगन्तृत्वेनाप्रामाण्यप्रसङ्गात्, तदर्थग्राहिज-  
 नान्तरदर्शनसंभवाच्च । अथ स्वकीयं, तत्रापि सोऽधिगम्योऽर्थः किं द्रव्यमुत पर्यायो वा । द्रव्यवि-  
 शिष्टपर्यायः पर्यायविशिष्टं वा द्रव्यमिति । तथा किं सामान्यमुत विशेषः । आहोस्वित्  
 सामान्यविशिष्टो विशेषः विशेषविशिष्टं वा सामान्यम् । इत्यष्टौ पक्षाः । तत्र यद्याद्यमुररीकुरुषे,  
 तदयुक्तम्, द्रव्यस्य नित्यत्वैकत्वाभ्यामनधिगतत्वांशाभावात् । अथ द्वितीयम्, तदप्यचारु, पर्यायस्य  
 प्राचीनसंवेदनोदयसमयध्वस्तस्य संवेदान्तरप्रभवकालं यावत्प्रतीक्षणासंभवेन विशेषणानर्थ-  
 क्त्वात् । उत तृतीयम्, तदप्यसाधीयः, विकल्पद्वयानतिक्रमात् । स हि द्रव्यविशिष्टः पर्यायः समकाल-  
 भाविना ज्ञानेनानधिगतोऽधिगम्यते, यद्वा कालान्तरभाविनेति । न तावत्समकालभाविना,  
 तत्संभवाभावेन विशेषणवैफल्यात् । न हि संभवोऽस्त्येकस्य प्रमातुरेककालं द्रव्यक्रोडीकृतैकपर्या-  
 यविषय-संवेदनद्वयप्रवृत्तेः, तथानुभवाभावात्, परस्परमधिगतार्थाधिगन्तृत्वेनाप्रामाण्यप्रसंगाच्च ।  
 नापि कालान्तरभाविना, गृह्यमाणपर्यायस्य कालान्तरानास्कन्दनात्, पूर्वोत्तरक्षणत्रुटितवर्तमानक्षण-  
 मात्रसंबंधत्वात्तस्य । एतेन पर्यायविशिष्टद्रव्यपक्षोऽपि प्रतिव्यूढः, समानयोगक्षेमत्वात् । अथ  
 सामान्यं, तदप्यसंबद्धम्, तदेकतया प्रथमज्ञानेन साकल्यग्रहणादुत्तरेषां सामान्यज्ञानानामधिगतार्थ-  
 गोचरतयाप्रामाण्यप्रसंगात् । अथ विशेषः स नित्योऽनित्यो वेति वक्तव्यम् । नित्यश्चेत्, एवं  
 सत्याद्यसंवेदनेनैव तस्य सामस्त्यग्रहणादुत्तरेषां तद्विषयाणामधिगतगोचरत्वेनाप्रामाण्यप्रसक्तिः ।  
 अनित्यश्चेत्, पर्यायदूषणेन प्रतिक्षिप्तः । अर्थसामान्यविशिष्टो विशेषः । कास्य विशिष्टता, किं  
 तादात्म्यमुत तत्सन्निधिमात्रम् । तादात्म्यं चेत्, प्रथमज्ञानेन सामान्यवत्तस्यापि ग्रहणात्, अन्यथा



तादात्म्यक्षतेः, तद्विषयान्यज्ञानानामप्रामाण्यं प्रसज्येत । तत्सान्निध्यपक्षेऽपि द्वयोरपि परस्परं विश-  
कलितरूपत्वात् पक्षद्वयोदितं दूषणं पश्चाल्लग्नं धावति । विशेषविशिष्टसामान्यपक्षे पुनरेतदेव  
विपरीतं योज्यम् । तन्न, अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वं ज्ञानस्य कथञ्चिद् विचारभारगौरवं सहत इत्यल-  
क्षणमिति स्थितम् ।—सिद्धार्थिगणि, न्यायावतारविवृति, का०-१, पृ० ३६-३७

### पादटिप्पण - १२७

सम्यग्ज्ञानत्वं ह्यविसंवादकत्वेन व्याप्तम्, तदभावे तदसंभवात् तदप्यर्थप्रापकत्वेन अर्थाप्राप-  
कस्याविसंवादित्वाभावात्, निर्विषयज्ञानवत् । तदपि प्रवर्तकत्वेन व्याप्तम्, अप्रवर्तकस्यार्थाप्रापक-  
त्वात् तद्वत् । प्रवर्तकत्वमपि स्वविषयोपदर्शकत्वेन व्याप्तम्, स्वविषयमुपदर्शयतः  
प्रवर्तकव्यवहारविषयत्वसिद्धेः । न हि पुरुषं हस्ते गृहीत्वा ज्ञानं प्रवर्तयति । स्वविषयं तूपदर्शयतु  
प्रवर्तकमुच्यते अर्थाप्रापकं चेत्यविसंवादकं सम्यग्वेदनं प्रमाणम्, तद्विपरीतस्य मिथ्याज्ञानत्वप्रसिद्धेः,  
संशयादिवत्, इति धर्मोत्तरमतम् ।— विद्यानन्द, प्रमाणपरीक्षा, पृ० ५-६

### पादटिप्पण - १२८

तत्राव्यवसायात्मकस्य चतुर्विधस्यापि समक्षस्य सम्यग्वेदनत्वं न व्यवतिष्ठते, तस्य स्वविष-  
योपदर्शकत्वासिद्धेः । तत्सिद्धौ वा नीलादाविव क्षणक्षयादावपि तदुपदर्शकत्वप्रसक्तेः । ततो  
यदव्यवसायात्मकं ज्ञानं न तत्स्वविषयोपदर्शकम्, यथा गच्छतृणस्पर्शसंवेदनमनध्यवसायि प्रसि-  
द्धम्, अव्यवसायात्मकं च सौगताभिमतं दर्शनमिति व्यापकानुपलब्धिः सिद्धा । व्यवसायात्मक-  
त्वस्य व्यापकस्याभावे तद्व्याप्यस्य स्वविषयोपदर्शकत्वस्याननुभवात् ।—प्रमाणपरीक्षा, पृ० ६

### पादटिप्पण - १३०

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतः ।

मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ॥

यथा तथाऽयथार्थत्वेऽप्यनुमानावभासयोः ।

अर्थक्रियानुरोधेन प्रमाणत्वं व्यवस्थितम् ॥— प्रमाणवार्तिक, २५७-५८

इति, मणिप्रदीपप्रभादृष्टान्तोपि स्वपक्षघाती, मणिप्रदीपप्रभादर्शनस्यापि संवादकत्वेन प्रमाण-  
प्राप्त्या प्रमाणान्तर्भावविघटनात् कथं प्रमाणे एवेत्यवधारणं घटते ? न हि तत्रत्यक्षं स्वविषये  
विसंवादानात् शुक्तिकादर्शनवद्भ्रजतभ्रान्तौ । तत्राप्रतिपन्नव्यभिचारस्य यदेव मया दृष्टं तदेव मया  
प्राप्तमित्येकत्वाध्यवसायाद्विसंवादानाभावात्मणिप्रभायां मणिदर्शनस्य प्रत्यक्षत्वे तिमिराशुभ्रमण-  
नौयानसंक्षोभाद्याहितविभ्रमस्यापि धावद्वादितरुदर्शनस्य प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गाद्भ्रान्तमिति विशेषणम-  
ध्यक्षस्य न स्यात् । ..... इति न तत् प्रत्यक्षं स्यात् । नापि लैङ्गिकं, लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धाप्रतिपत्तेरन्यथा  
दृष्टान्तेतरयोरेकत्वात् किं केन कृतं स्यात् ? ..... स्वयमसिद्धेन दृष्टान्तेन साध्यसिद्धेकरणात् । कदा-

चित्संवादात् प्रत्यक्षत्वेनैव मणिप्रभायां मणिदर्शनस्य दृष्टान्तत्वमयुक्तं, कादाचित्कार्थप्राप्तेरारेका-  
देरपि संभवात् प्रत्यक्षत्वप्रसक्तेः ।—अष्टसहस्री, पृ० २७७-७८

पादटिप्पण - १३१

न हि मिथ्याज्ञानस्य संवादनैकान्तः संभवति, विरोधात् । नन्वनुमानस्य संभवत्येवावस्तुविष-  
यत्वेन मिथ्याज्ञानस्यापि सर्वदा संवादं लिङ्गज्ञानवत् पारम्पर्येण वस्तुनि प्रतिबन्धात् । तदुक्तम्—

लिङ्गलिङ्गिधियोरेवं पारम्पर्येण वस्तुनि ।

प्रतिबन्धात्तदाभासं शून्ययोरप्यवञ्चनम् ॥ प्रमाणवार्तिक, २.८२

—अष्टसहस्री, पृ० २७८

पादटिप्पण - १३३

तथा न लैङ्गिकं सर्वथैवाविसंवादकत्वात् । नहि तदालम्बनं भ्रान्तं, प्राप्येऽपि वस्तुनि भ्रान्तत्व-  
प्रसङ्गात् । प्राप्ये तस्याविसंवादकत्वे स्वालम्बनेप्यविसंवादकत्वम् ।—अष्टसहस्री, पृ० २७८

पादटिप्पण- १३४

प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमित्युपवर्ण्यते ।

कैश्चित् तत्राविसंवादो यद्याकांक्षानिवर्तनम् ॥

तदा स्वप्नादिविज्ञानं प्रमाणमनुषज्यते ।

ततः कस्यचिदर्थेषु परितोषस्य भावतः ॥

अर्थक्रियास्थितिः प्रोक्ता विमुक्तिः सा न तत्र चेत् ।

शाब्दादाविव तद्भावोऽस्त्वाभिप्रायनिवेदनात् ॥

—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१०.५९-६१

पादटिप्पण - १३५

अविसंवादकत्वमधुना विचार्यते तर्कि प्रदर्शितार्थप्राप्त्या उत प्राप्तियोग्यार्थोपदर्शकत्वेन  
आहोस्विदविचलितार्थविषयत्वेन भवान् ज्ञानस्य प्रामाण्यं कथयति । यदि प्रथमः कल्पः तदयुक्तम्,  
जलबुद्बुदादिमुर्षुपदार्थोत्पादितसंवेदनस्याप्रमाणतोत्पत्तेः, प्राप्तिकाले तस्य ध्वस्तत्वात् । अथ  
द्वितीयः, तदप्यचारु, प्राप्ययोग्यदेशस्थितग्रहनक्षत्रादिगोचरज्ञानस्याप्रामाण्यप्रसक्तेः, अनुचितदेशा-  
वस्थानेनैव प्राप्यनर्हत्वात्तेषाम् । अथ तृतीयः पक्षः, तत्राप्यविचलितविषयतां कथमवैषि । ज्ञानान्त-  
रेण तद्विषयनिराकरणभावादिति चेत्, एतदेवास्माभिरुदितं किं भवतः परुषमाभाति ।

—सिद्धर्षिगणि, न्यायावतारविवृति, १, पृ० ३७

पादटिप्पण - १३७

सौगतैस्तु “प्रमाणमविसंवादिज्ञानम्” इति वचनात् अविसंवादकत्वं प्रमाणलक्षणमुक्तम् ।

अविसंवादकत्वं च प्राप्तिनिमित्तप्रवृत्तिहेतुभूतार्थक्रियाप्रसाधकार्यप्रदर्शकत्वं यतोऽर्थक्रियार्थी पुरुषस्तन्निर्वर्तनक्षममर्थमवाप्तुकामः प्रमाणमप्रमाणं वा अन्वेषते यदेव चार्थक्रियानिर्वर्तकवस्तुप्रदर्शकं तदेव तेनान्विष्यते । प्रत्यक्षानुमाने एव च तथाभूतार्थप्रदर्शके न ज्ञानान्तरमिति ते एव च लक्षणार्हे तयोश्च द्वयोरप्यविसंवादकत्वमस्ति लक्षणम् । प्रत्यक्षेण ह्यर्थक्रियासाधनं दृष्टतयाऽवगतं प्रदर्शितं भवति अनुमानेन तु दृष्टलिङ्गाव्यभिचारितयाऽध्यवसितम् इत्यनयोः प्रदर्शकत्वमेव प्रापकत्वं न ह्याभ्यां प्रदर्शितेऽर्थे प्रवृत्तौ न प्राप्तिरिति नान्यत् प्रदर्शकत्वव्यतिरेकेण प्रापकत्वं तच्च शक्तिरूपम् । उक्तं च - “प्रापणशक्तिः प्रामाण्यं तदेव च प्रापकत्वमन्यथा ज्ञानान्तरस्वभावत्वेन व्यवस्थितायाः प्राप्तेः कथं प्रवर्तकज्ञानशक्तिस्वभावता ? तत्र यद्यपि प्रत्यक्षं वस्तुक्षणग्राहि तद्ग्राहकत्वं च तस्य प्रदर्शकत्वं तथापि क्षणिकत्वेन तस्याप्राप्तेः तत्सन्तान एव प्राप्यत इति सन्तानाध्यवसायोऽध्यक्षस्य प्रदर्शकव्यापारो द्रष्टव्यः अनुमानस्य तु वस्त्वग्राहकत्वात् तत्प्रापकत्वं यद्यपि न संभवति तथापि स्वाकारस्य बाह्यवस्त्वध्यवसायेन पुरुषप्रवृत्तौ निमित्तभावोऽस्तीति तस्य तत्प्रापकमुच्यते ।” एतदुक्तं भवति-प्रत्यक्षस्य हि क्षणो ग्राह्यः स च निवृत्तत्वान्न प्राप्तिविषयः सन्तानस्त्वध्यवसायेन प्रवृत्तिपूर्विकायाः प्राप्तेर्विषय इति तद्विषयं प्रदर्शितार्थप्रापकत्वमध्यक्षस्य प्रामाण्यम् अनुमानेन त्वारोपितं वस्तु गृहीतं स्वाकारो वा तयोर्द्वयोरप्यवस्तुत्वान्न प्रवृत्तिविषयतेति न तद्विषयं तस्य प्रापकत्वमपित्वारोपितबाह्ययोरभेदाध्यवसायेन वस्तुन्येव प्रवर्तकत्वप्रापकत्वे अस्य द्रष्टव्ये । तेनानुमानस्य ग्राह्योऽनर्थः । प्राप्यस्तु बाह्यः स्वाकाराऽभेदानाध्यवसित इति तद्विषयमस्यापि प्रदर्शितार्थप्रापकत्वं प्रामाण्यम् । उक्तं च - “ततोऽपि विकल्पात् तदध्यवसायेन वस्तुन्येव प्रवृत्तेः प्रवृत्तौ च प्रत्यक्षेणाभिन्नयोगक्षेमत्वात् ।” तथाऽपरमप्युक्तम्- “न ह्याभ्यामर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानोऽर्थक्रियायां विसंवाद्यते” इति । अत्र च प्रत्यक्षानुमानयोर्द्वयोरपि परिच्छेदः सन्तानविषयोऽध्यवसायो द्रष्टव्यः, तथा प्रामाण्यं वस्तुविषयं द्वयोरिति च । उक्तमत्रापि “सन्तानविषयत्वेन वस्तुविषयत्वं द्वयोरुक्तम्”, लौकिकं चैतदविसंवादकत्वं प्रामाण्यम् यत्तो लोके प्रतिज्ञातमर्थं प्रापयन् पुरुषः संवादकः प्रमाणमुच्यते तद्बदत्रापि द्रष्टव्यम् । न च क्षणिकस्य ज्ञानस्यार्थप्राप्तिकालं यावदनवस्थितेः कथं प्रापकतेत्याशङ्कनीयम् प्रदर्शकत्वव्यतिरेकेण तस्यास्तत्रासंभवादित्युक्तत्वात् । न चान्यस्य ज्ञानान्तरस्य प्राप्तौ सन्निकृष्टत्वात् तदेव प्रापकमित्याशङ्कनीयम् यतो यद्यप्यनेकस्मात् ज्ञानक्षणात् प्रवृत्तावर्थप्राप्तिस्तथापि पर्यालोच्यमानमर्थप्रदर्शकत्वमेव ज्ञानस्य प्रापकत्वं नान्यत्, तच्च प्रथमज्ञानक्षणसंपन्नमिति । प्रदर्शितप्रापकत्वलक्षणं प्रामाण्ये पीतशंखादिग्राहिज्ञानानामपि प्रापकत्वात् प्रामाण्यप्रसक्तिर्न भवति । न हि तानि प्रदर्शितमर्थं प्रापयन्ति यदेशकालाकारं वस्तु तैः प्रदर्शितम् न तत् तथा प्राप्यते यच्च यथा प्राप्यते न तैस्तत् तथा प्रदर्शितम् देशादिभेदेन वस्तुभेदस्य निश्चितत्वान्न तेषां प्रदर्शितार्थप्रापकता । एवमपि प्रदर्शितार्थप्रापकत्वे जलादिप्रदर्शकस्य मरीच्यादिवस्त्वन्तर-

प्राप्तौ प्रदर्शितार्थप्रापकत्वेन प्रामाण्यप्रसक्तिरिति न किञ्चिदप्रमाणं भवेत् । प्रमाणद्वयव्यतिरिक्तं च ज्ञानं न नियतप्रदर्शितार्थप्रापकम् । तेन हि भावाभावसाधारणोऽनियतोऽर्थः प्रदर्शितः । स च तथाभूतोऽसत्त्वात्र प्राप्तुं शक्य इति न तत् प्रदर्शितार्थप्रापकत्वेन प्रमाणम् । अनियतार्थप्रदर्शकत्वं च शाब्दादेः साक्षात् पारम्पर्येण वा प्रतिपाद्यादर्थादनुत्पत्तेः ।

तत् स्थितं प्रापणशक्तिस्वभावमविसंवादकत्वं प्रामाण्यं द्वयोरेव । प्रापणशक्तिश्च प्रमाण-  
स्यार्थाविना भावनिमित्ता दर्शनपृष्ठभाविना विकल्पेन निश्चीयते । तथाहि दर्शनं यतोऽर्थादुत्पन्नं  
तद्दर्शकमात्मानं स्वानुरूपावसायोत्पादनात् निश्चिन्वदर्थाविनाभावित्वं प्रापणशक्तिनिमित्तं  
प्रामाण्यं स्वतो निश्चिनोतीत्युच्यते न पुनर्ज्ञानान्तरं तन्निश्चायकमपेक्षतेऽर्थानुभूताविव ततोऽवि-  
संवादकत्वमेव प्रमाणलक्षणं युक्तम् ।—**तत्त्वबोधविधायिनी (संमतितर्कटीका)**, पृ. ४६७-६९

### पादटिप्पण - १४६

एतदप्ययुक्तम् यतो नार्थप्रदर्शकत्वमेव प्रापकत्वम् पुरुषेच्छाधीनप्रवृत्तिनिमित्तत्वात् सति  
वस्तुन्यर्थप्राप्तेः । एतच्च प्राक् प्रतिपादितम् ।—**तत्त्वबोधविधायिनी**, पृ० ४६७-४६९

प्रवृत्तेस्तु पुरुषेच्छानिबन्धनत्वात् तदभावे नोक्तफलजनस्य प्रमाणत्वव्याघातः । न च पुरुषार्थ-  
साधनप्रदर्शकत्वमेव तस्य प्रवर्तकत्वं तत्सद्भावेऽपि “प्रवर्तितोऽहमनेनात्र” इति तद्ग्रहणेच्छाभावे  
प्रतिपत्त्यनुपपत्तेः ।—**तत्त्वबोधविधायिनी**, पृ० ४६७

### पादटिप्पण - १४७

तन्न प्रदर्शकत्वमेव प्रापकत्वम् । न च बौद्धाभ्युपगमेन प्रदर्शितार्थप्रापकत्वं क्वचिदपि ज्ञाने  
संभवति । तद्धि संतानाश्रयेण सौगतैः परिकल्प्यते । न च संतानः संभवति - स हि स्वरूपेण वा वस्तु  
सन् भवेत् सन्तानिरूपेण वा ? न तावत् स्वरूपेण सन्तानिव्यतिरेकेण तस्य वस्तुसतोऽनभ्युपगमात्  
अभ्युपगमे वा क्षणिकवादहानिप्रसक्तिः सामान्यानभ्युपगमश्च निर्निबन्धनो भवेत् इति न तस्य  
स्वरूपेण प्रवृत्त्यादिविषयता । सन्तानिरूपेणापि तस्य सत्त्वे सन्तानिन एव तथाभूता न तदव्यतिरिक्तः  
सन्तानः प्रवृत्त्यादिविषयः सन्तानिनां चोत्पत्त्यनन्तरर्ध्वंसित्वात् न तद्विषयस्य विज्ञानस्य प्रदर्शितार्थ-  
प्रापकत्वम् दृश्य-प्राप्ययोः क्षणयोरत्यन्तभेदात् ।—**तत्त्वबोधविधायिनी**, पृ० ४७०

### पादटिप्पण - १४८

यत्र हि देशकालाऽऽकारभेदादभेदेन प्रतीयमानस्यापि वस्तुनो भेदोऽभ्युपगम्यते तत्र स्वरूपेण  
भिन्नयोः पूर्वोत्तरक्षणयोः कथमभेदः येन प्रदर्शितार्थप्रापकत्वं साधननिर्भासिज्ञानस्य युक्तिस-  
ङ्गतम् ?—**तत्त्वबोधविधायिनी**, पृ० ४७०

### पादटिप्पण - १५०

अथ संवृत्या संतानस्य स्वरूपसिद्धेः पूर्वोक्तमदूषणम् । तथा च प्रतिपादितम् “सांव्यवहारिकस्य च प्रमाणस्यैतल्लक्षणम्” नन्वेवं लोकव्यवहारानुरोधेन यदि प्रदर्शितार्थप्रापकत्वं प्रमाणस्याभ्युपगम्यते तदा नित्यानित्यवस्तुप्रदर्शकस्य तद् अभ्युपगम्यताम् लोकव्यवहारस्य तत्रैवोपपत्तेः । न च तथाभूततद्ग्राहकस्य युक्तिबाधितत्वान्निर्विषयत्वं सन्तानविषयस्यैव पूर्वोक्तन्यायेन युक्तिबाधितत्वोपपत्तेः ।—**तत्त्वबोधविधायिनी**, पृ० ४७०

### पादटिप्पण - १५१

तन्नाध्यवसितार्थप्रापकं प्रत्यक्षं पराभ्युपगमेन संभवति । तथाहि-यदेवाध्यक्षेणोपलब्धं तदेव तेनाध्यवसितम् न च सन्तानस्तेन पूर्वमुपलब्ध इति कथमसावध्यवसीयते ? न हि क्षणमात्रभाविनां सन्तानिनां दर्शनविषयत्वे तत्पृष्ठभाविनाऽध्यवसायेन तददृष्टस्यैव विषयीकरणम् । न चान्यथा भूतवस्तुग्रहणेऽन्यथाभूताध्यवसायिनः प्रदर्शितार्थप्रापकत्वं प्रामाण्यं युक्तम् तथाभ्युपगमे शुक्तिकायां रजताध्यवसायिनोऽपि तत् स्यात् । अथात्र प्रवृत्तेन रजतं न प्राप्यत इति न प्रदर्शितार्थप्रापकत्वम् । अथात्र सन्तान एव प्राप्यते तर्हि स एव वस्तुसन् भवेदिति न सामान्यधर्माः स्वरूपेणासन्तोऽभ्युपगन्तव्याः अक्षणिकस्य च वस्तुनः सिद्धेः ।

—**तत्त्वबोधविधायिनी**, पृ० ४७०-७१

### पादटिप्पण - १५२

यदुक्तं भवदिभः - “दर्शनेन क्षणिकाक्षणिकत्वसाधारणस्यार्थस्य विषयीकरणात् कुतश्चिद् भ्रमनिमित्तादक्षणिकत्वारोपेऽपि न दर्शनमक्षणिकत्वे प्रमाणम् किन्तु प्रत्युताप्रमाणं विपरीतावसायाः क्रान्तत्वात् क्षणिकत्वेऽपि न तत् प्रमाणं अनुरूपाध्यवसायाऽज्जननात् नीलरूपे तु तथाविधनिश्चयकरणात् प्रमाणम्” ।—**तत्त्वबोधविधायिनी**, पृ० ४७१

### पादटिप्पण - १५३

तदेतद् विरुध्यते । किञ्च, एवंवादिन एकस्यैव दर्शनस्य क्षणिकत्वाक्षणिकत्वयोरप्रामाण्यं नीलादौ तु प्रामाण्यं प्रसक्तमित्यनेकान्तवादाभ्युपगमो बलादापतति ।

—**तत्त्वबोधविधायिनी**, पृ० ४७१

### पादटिप्पण - १५४

न च क्षणग्रहणे तद्विपरीतसन्तानावसायोत्पत्तौ दर्शनस्य प्रामाण्यं युक्तं मरीचिकास्वलक्षणग्रहणे जलाध्यवसायिन इव, यतो “यदेव मया तत्त्वतो दृष्टं तदेव प्राप्तम्” इत्यध्यवसाये तस्य प्रामाण्यं व्यवस्थाप्यते । न च दृष्टस्य क्षणिकसन्तानिस्वरूपेण सन्तानस्य प्राप्तिरिति प्राक् प्रतिपादितम्

स्वरूपेण तु तस्याऽसत्त्वात् प्राप्त्यविषयतैवेति न धर्मोत्तरमतपर्यालोचनया किञ्चित् परमार्थतः प्रदर्शितार्थप्रापकं प्रमाणं संभवति अतः संवादकत्वमपि तन्मतेन प्रमाणलक्षणमयुक्तम् ।

—तत्त्वबोधविधायिनी, पृ० ४७१

पादटिप्पण - १५५

तथाहि ते प्राहुः - प्रमाणमविसंवादिविज्ञानमिति । अविसंवादकत्वं चार्थप्रापकत्वमुच्यते । तच्च प्रत्यक्षानुमानयोरुभयोरप्यस्तीति सामान्यलक्षणम् । तत्र प्रत्यक्षस्य स्वप्रदर्शितस्वलक्षणक्षणस्य क्षणिकत्वेन प्राप्त्यसम्भवेऽपि तत्सन्तानप्राप्तेः सम्भवात् सन्तानाध्यवसायजननमेव प्रापकत्वम् । द्विविधो हि प्रत्यक्षस्य विषयो ग्राह्योऽध्यवसेयश्च । तत्र ग्राह्यक्षण एकः सकलसजातीयविजातीयव्यावृत्तः । स्वलक्षणाख्यस्य तत्र परिस्फुरणात् । इदमेव ग्राह्यत्वमर्थस्य यत् स्वाकारज्ञानजनकत्वम् । इदमेव च ग्राहकत्वं ज्ञानस्य यदर्थाकारतयात्मलाभः । अध्यवसेयः पुनः सन्तानः । बहवश्च स्वलक्षणलक्षणा उपादानोपादेयभावमापन्नाः सन्तानः । तस्य चाध्यवसेयत्वमगृहीतस्यापि प्रवृत्तिविषयत्वम् । अध्यवसेयार्थसन्तानापेक्षयैव च प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यव्यवस्था स्वलक्षणस्य प्रापयितुमशक्यत्वात् । \_\_\_\_\_तस्मात् सन्तानाध्यवसाये सत्यविसंवादकत्वेन प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यम् । \_\_\_\_\_प्रत्यक्षजन्यविकल्पेन सन्तानाध्यवसितत्वात् प्रत्यक्षेणाध्यवसितः स इत्यभिधीयते ।

अनुमानस्य पुनरपारमार्थिकसामान्यविषयतया भ्रान्तत्वेऽपि प्रणालिकया मूलवस्तु लक्षणप्रभवत्वान्मणिप्रभायां मणिबुद्धिरिव वस्तुप्राप्त्या प्रापकत्वम् । यतस्तस्यापि ग्राह्याध्यवसेयतया विषयो द्विविधः । तत्राध्यवसेयं स्वलक्षणम् । \_\_\_\_\_ग्राह्यस्तुविषयो सामान्यमेव । तत्पुनर्बहिस्तादात्म्येनाध्यवसीयमानो बुद्ध्यकारो वा । अलीकबाह्यं वाऽन्तर्बहिरूपम् । परमार्थतस्तु न कश्चिदनुमानविषयः । \_\_\_\_\_स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायेन प्रवृत्तत्वात् भ्रान्तं च । अनुमानं हि स्वात्मनि प्रतिभातेऽनर्थे सामान्यस्वरूपेऽर्थत्वं स्वलक्षणरूपतामारोप्य प्रवर्तत इति भ्रान्तम् । तथापि स्वभावकार्यलिङ्गदर्शनजन्यतया पारम्पर्येण स्वभाविनि कारणे च प्रतिबद्धत्वात् तत्रापकतयार्थाविसंवादकत्वेन प्रमाणम् । तदुक्तम् - “अतस्मिस्तद्ग्रहो भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमा” इति । अनुमानविकल्पान्तराणां नियतार्थप्रतिबन्धाभावादप्रापकत्वेनाविसंवादकत्वानुपपत्तेरप्रामाण्यम् । यथाध्यवसितप्रापकं च प्रमाणम् । अतः पीतशंखादिग्राहिज्ञानानां शंखमात्रादिप्राप्तौ सत्यामपि न प्रामाण्यं यथाध्यवसितस्याप्राप्तेः । अध्यवसितो हि पीतः शंखः प्राप्यते न तु श्वेतः । तस्माद् यथाध्यवसितार्थप्रापकमविसंवादिज्ञानं प्रमाणमिति स्थितम् ।

—चादिदेवसूरि, स्याद्वादरत्नाकर, पृ० ३६-३७

पादटिप्पण - १५७

एतदध्यवसिताखिलवस्तुप्रापकत्वमविसंवेदनं यत् ।

व्याहृतं सकलमानसमानं लक्ष्म तन्न घटनामुपयाति ॥

अध्यवसायस्य सुगतशासने वस्तुविषयत्वाभावात् । अवस्तुनश्च प्राप्तुमशक्यत्वात् । तदुक्तम् “यथाध्यवसायमतत्वात् यथातत्त्वं चानध्यवसायात्” इति । मूलभूतवस्तुप्राप्तिः पुनरंधकंठकीयन्यायमनुसरति । नहि तदन्यतरेणापि प्रमाणेन दृष्टं यद्गत्वा प्राप्यते । सन्तानप्राप्त्या तत्राप्यतिरिच्यपि न पेशलम् । क्षणक्षयिपरम्परातः पृथग्भूतस्य पारमार्थिकस्य सन्तानस्य ताथागतैरस्वीकरणात् । अथापारमार्थिकेऽपि सन्ताने सति संवृतिमाहात्म्यात् प्रमाणलक्षणमिदं निर्वक्ष्यति । यथोक्तम् “सांव्यावहारिकस्य चैतत् प्रमाणस्य लक्षणं । वस्तुतस्त्वनाद्यविद्यावासनारोपितग्राह्यप्राहकादिभेदप्रपञ्चं ज्ञानमात्रमेवेदमिति किं प्राप्यते किं वा प्रापयति” इति । तदिदं स्वसमयोद्घोषणमात्रं न कञ्चन प्राकरणिकमर्थं समर्थयते । अविचारितरम्या हि प्रतीतिः संवृतिरिति सम्मतं सौगतानाम् । या च न विचारगोचरे विचरति । तथापि प्रमाणलक्षणनिर्वहणमिति महत्कैतवम् । अविद्यावासनानिर्मितश्च न ग्राह्यप्राहकादिव्यवहारः । किन्तु तात्त्विक एवेति ज्ञानाद्वैतविषयप्रघट्टके प्रकटयिष्यते । यदि चापरमुत्तरप्रकारमनवधारयद्भिः सांवृत एव संतानः परिकल्प्यते, हन्त तर्हि नैयायिकादिसम्मता जात्यवयविसमवायप्रभृतयोऽपि संवृतिनिर्मितमूर्तयः किमिति न परिकल्प्यन्ते । वृत्तिविकल्पादिबाधकविधुरीकृतत्वादिति यदि मतं तर्हि भेदादिविकल्पैः सन्तानस्य प्रतिहन्यमानत्वात् तत्रापि तुल्यः पन्थाः । एवं च सति—

विसंवादापेतं यदिह किमपि ज्ञानमखिलम् ।

प्रमाणं तद्वैरभिहितमिदं तु प्रतिहतम् ॥

—वादिदेवसूरि, स्याद्वादरत्नाकर, पृ० ३७-३८

पादटिप्पण - १६०

संवृत्या लक्ष्यलक्षणभाव इति चेत् केयं संवृतिर्नाम । उपचार इति चेत् अस्ति तर्हि मुख्यः क्वचिल्लक्ष्यलक्षणभावः । क्वचिन्मुख्यस्यासत्तायामुपचारस्याऽप्रवृत्तेः । विचारतोऽनुपपद्यमाना विकल्पबुद्धिः संवृतिरिति चेत् कथं तथा लक्ष्यलक्षणभावः । तस्य तत्रावभासनादिति चेत् । सिद्धस्तर्हि बौद्धो लक्ष्यलक्षणभावस्तद्बौद्धोऽपि किं न सिध्येत् । विकल्पाद्बहिर्भूतस्य तस्यासम्भवादिति चेत् । न तस्यासम्भवे तादृग्विकल्पविषयत्वायोगात् । न च सकलो विकल्पविषयोऽसम्भवन्नेव । \_\_\_\_\_सर्वो विकल्पोऽसम्भवद् विषयो विकल्पत्वात् मनोराज्यादिविकल्पवदिति चेत् । सर्वं प्रत्यक्षमसम्भवद्विषयं, प्रत्यक्षत्वात् केशोन्दुकप्रत्यक्षवदिति किं न स्यात् । प्रत्यक्षाभासोऽसम्भवद्विषयो दृष्टो न प्रत्यक्षमिति चेत् । तर्हि विकल्पाभासोऽसम्भवद्विषयो न विकल्प इति समानः परिहारः । \_\_\_\_\_यतः प्रवर्तमानोऽर्थक्रियायां न विसंवाद्यते तत्सम्यक्प्रत्यक्षमिति चेत् । यतो विकल्पादर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानोऽर्थक्रियायां न विसंवाद्यते स सत्य इति किं नानुम-

न्यसे । \_\_\_ यथा च विशिष्टं पादपादिरूपं स्वार्थक्रियां निर्वर्तयति तथा पादपादिसामान्यरूपमपि प्रतिपत्तुः परितोषकरणं हि यद्यर्थक्रिया तदा तत्सामान्यस्यापि सा समस्त्येव कस्यचित्तावता परितोषात् । अथ स्वविषयज्ञानजनकत्वमर्थक्रिया तदपि सामान्यस्यास्त्येव । \_\_\_ तत्र यथा विसदृशपरिणामाद्विशेषाद्विसदृशपरिणामस्तथा सदृशपरिणामात् सामान्यात् सदृशपरिणाम इति । \_\_\_ ततो वस्तुवेव सामान्यं विशेषवत् तत्र च प्रवर्तमानो विकल्पो वस्तुनिर्भासः संवादकत्वादनुपप्लव एव प्रत्यक्षवत् । तादृशाच्च विकल्पाल्लक्ष्यलक्षणभावो व्यवस्थाप्यमानो न बुद्ध्यारूढ एव । यतः सांवृतः स्यादिति सिद्धः पारमार्थिको लक्ष्यलक्षणभाव इति ।— स्याद्वादरत्नाकर, पृ० ३२-३३



## परिशिष्ट (तृतीय अध्याय) - ख

पादटिप्पण - २२०

सा द्विविधा समासतः यादृच्छिकी नैमित्तिकी च । नामग्रहणाद् यादृच्छिकी जात्यादिग्रहणाच्च नैमित्तिकी गृहीता । निमित्तनिरपेक्षं नाम यादृच्छिकं “डित्यो डवित्यः” इत्यादि । अक्षाधिपत्यो-  
त्पन्नमिति-

रूपालोकमनस्कारचक्षुर्भ्यः सम्प्रवर्तते ।

विज्ञानं मणिसूर्यांशुगोशकृद्भ्य इवानलः ॥

चक्षुःप्रतीत्य रूपं च आलोकं च बाह्यं समनन्तरनिरुद्धं मनःसंज्ञितं चित्तं चित्तान्तरावकाशदाना-  
त्मकं प्रतीत्य चक्षुर्विज्ञानमुत्पद्यते, चतुर्भिश्चित्तचैताः (अभिधर्मकोश २/६४) इति सिद्धान्तात् ।  
तथापि च अधिपतिना चक्षुषा व्यपदिश्यते ‘चक्षुर्विज्ञानम्’ इति, असाधारणकारणत्वात्, यथा यवाङ्कुर  
इति बीजर्तुवारिमारुताकाशसंयोगे सत्यपीति ।

- सिंहसूरि, न्यायागमानुसारिणी, द्वादशारनयचक्र (ज), भाग - १, पृ० ६०

पादटिप्पण - २२१

घटादिकल्पनापोढं प्रत्यक्षम् । अथ का कल्पना ? नामजातिगुणक्रियाद्रव्यस्वरूपापन्नवस्त्व-  
न्तरनिरूपणानुस्मरणविकल्पना । ततोऽपोढमक्षाधिपत्योत्पन्नमसाधारणार्थविषयमभिधानगोचरा-  
तीतं प्रत्यात्मसंवेद्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम् । “चक्षुर्विज्ञानसमङ्गी नीलं विजानाति नो तु नीलम्” इति  
अधिधर्मागमोऽपि । प्रकरणपादेऽप्युक्तम्-

नीलः स नाम नीलं न नीलार्थोऽनक्षरः स च ।

नीलमिति भाषमाणो नीलस्यार्थं न पश्यति ॥

एतस्यैवार्थस्य भावना तु - अर्थेऽर्थसंज्ञी, न त्वर्थे धर्मसंज्ञी (अभिधर्मपिटक) । अर्थे रूपादिके  
स्वरूपसंज्ञी, अर्थस्वरूपविशेषमात्रालम्बनया संज्ञया निर्विकल्पया सम्प्रयुक्तं स्वलक्षणविषयमस्य  
सन्तानस्येति । न त्वर्थे रूपादिके यदच्छादिनामसंज्ञी । एवमभिधर्मे उक्तम् - धर्मो नामोच्यते  
नामकायः पदकायो व्यञ्जनकायः । - मल्लवादी, द्वादशारनयचक्र (ज), भाग-१, पृ० ५९-६२

पादटिप्पण - २२३

कल्पितमपि त्विदमफलमलौकिकत्वात् । स्ववचनव्यपेक्षाक्षेपदुस्तरविरोधपरिहारं त्वद्वि-  
वदेवेदमप्रत्यक्षम्, कल्पनात्मकत्वान्निरूपणविकल्पात्मकत्वादात्मलम्बनविपरीतप्रतिपत्त्यात्मकत्वा-  
ध्यारोपात्मकत्वात् सामान्यरूपविषयत्वात् तदतदविषयवृत्तित्वात् सदसदभेदपरिग्रहात्मकत्वात्  
सर्वथा साधारणार्थत्वादेः, अनुमानादिज्ञानवत् । - द्वादशारनयचक्र (ज) भाग-१, पृ० ६३

पादटिप्पण - २२४

तत्र प्रतिविविक्तरूपान्तराविविक्तस्वतत्त्वे रूपसंघाते इन्द्रियसन्निकृष्टे आलम्बनविपरीता येयं

प्रतिपत्तिरव्यपदेश्यैकात्मकनीलरूपविषया ननु हेत्वपदेशव्यपदेश्यैव सा । यतः सञ्चयग्रहणापदेशेन व्यपदेश्यं धूमेनेवाग्निरिव गृह्यते ततोऽन्यत् कल्पितमेकं सामान्यं नीलरूपं तद्द्वारेण ।

— द्वादशारनयचक्र (ज), भाग-१, पृ० ६५

### पादटिप्पण - २२८

तिष्ठतु तावत् प्रत्यक्षविधिविधानाभ्युपगमेन स्वलक्षणमात्रविषयप्रत्यक्षत्वस्य विरोधः प्रत्यक्षविषयत्वाभ्युपगमविरोधः । “चक्षुर्विज्ञानसमङ्गिनीलविज्ञानम्” इत्येतदेव तु न घटते प्रत्यक्षलक्षणोदाहरणम् ।

एवं ते सञ्चयस्य रूपमात्रत्वात् तद्ग्रहणे तत्रत्यक्षत्वात् सञ्चितालम्बनकल्पनावैयर्थ्यादतन्मात्रत्वे संवृतिसत्त्वादरूपत्वाच्च चक्षुर्नैव चक्षुः स्यात्, उभयथापि रूपाग्राहित्वात्, घटादिवत् ।

विज्ञानमपि न विज्ञानं स्यात्, अन्यथार्थप्रतिपत्तेः, अलातचक्रादिविज्ञानवत् । न च चक्षुर्विज्ञानं समङ्गित्, रूपादन्यत्रासम्भवात् । ... नीलविज्ञानसम्बन्धी न भवति तत्संतानः तदाकारज्ञानोत्पत्तिहेत्वभावात्, अदग्धस्य दाहाज्ञानवत् । ... नीलं च सञ्चयं च प्रत्येकसमुदितकारणत्वाद् विज्ञास्यतीति चेत् न, युगपज्ज्ञानाऽसंभवात्, ज्ञानस्य क्रियावैधर्म्यात् । ... तयोरेकज्ञानत्वादेकज्ञेयत्वे इतरेतरत्वे सर्वसर्वात्मवादिता । ...

यत्कृतं नो नीलमिति एतदेवैकं संवदति, कदाचिदपि नीलपरमाण्वाकारनियतज्ञानोत्पत्तिहेत्वभावात्, समुदायस्यानीलत्वात् । भेदतत्त्वाभिमतप्रत्येकसमुदायपरिग्रहेऽपि तेषामितरेतरनीलत्वेनानीलत्वादतद्रूपत्वाज्जात्याकारादिना अनन्यत्वकरस्यानुपपत्तेरत्यन्तव्यावृत्तार्थत्वाद् द्रव्यसद्रूपत्वाद् ग्रहणाभावान् नीलं विजानाति । ...

अतएव प्रत्यक्षविधवाक्यस्यैषोऽर्थः आपद्यते-चक्षुर्विज्ञानसमङ्गी सञ्चितालम्बनः सन्तानः सञ्चयं संवृतिसन्तं नीलं विजानाति, तस्यासतश्चक्षुषा ग्रहणात् । नो तु नीलमेवं भवति, परमार्थसत्परमाणुनीलत्वात् । — द्वादशारनयचक्र (ज), भाग-१, पृ. ७०-७७

### पादटिप्पण - २२९

भावना त्वस्य - अनर्थेऽर्थसंज्ञी, न च कदाचित् कश्चिदप्यर्थे धर्मसंज्ञी । अनर्थे संवृतिसति समुदाये द्रव्यसन्नीलसंज्ञी, न त्वर्थेऽर्थसंज्ञी न त्वर्थे एव द्रव्यसति अर्थसंज्ञी तस्यातीन्द्रियत्वात् । न च कदाचित् कश्चिदप्यर्थे धर्मसंज्ञी, अतीन्द्रियत्वादत्यन्तं सर्वकालमग्राह्यत्वात् । अनर्थे एव धर्मसंज्ञी, अनर्थे एवासति नामादिधर्मसंज्ञयपि, सञ्चयस्य नामादीनां च कल्पनात्मकत्वात् कल्पनापोहासम्भवात् । ततः शून्यशून्यप्रत्युत्पादनावदसद्विषयत्वान्निर्मूलकल्पनामात्रसत्यता ।

— द्वादशारनयचक्र (ज), भाग-१, पृ. ७७-७८

## पादटिप्पण - २३०

प्रत्यक्षस्याप्रत्यक्षत्वसाधने च द्वे लेशेनोन्नीते त्वयैव त्वदधिमतप्रत्यक्षमनेकार्थजन्यत्वादानुमानवत् । अनुमानमपि हि पक्षधर्माद्यनेकार्थजन्यम् । ज्ञापकः स हेतुरिति चेत्, कारकादपि अनेकस्मादर्थज्जायते सञ्चयसाधनधर्मान्वयैकान्तवतः । न, असञ्चितानेकार्थजन्यत्वादानुमाने । ननु धूमादिरपि सञ्चय एव गृहीतोऽग्न्यादिमणूनिव गमयति ।

तथा स्वार्थे सामान्यगोचरत्वादानुमानवदप्रत्यक्षम् । अनुमानं वा प्रत्यक्षं स्यात्, अनेकार्थजन्यत्वात् स्वार्थे सामान्यगोचरत्वात्, प्रत्यक्षवत् । द्वयमप्येतदेकमेव, एकलक्षणत्वात् ।

- द्वादशशारनयचक्र (ज), भाग-१, पृ. ९४-९५

## पादटिप्पण - २३१

किं तत् सर्वथा कल्पनापोढम्, उताहो कथञ्चिदिति । यदि सर्वथा 'अस्ति प्रमाणं ज्ञानं कल्पनापोढम्' इत्येवमादिकल्पनाभ्योऽप्यपोढमिति, अस्त्यादिवचनव्याघातः । अथ अस्त्यादिकल्पनाभ्योऽनपोढमिष्यते; 'सर्वथा कल्पनापोढम्' इति वचनव्याघातः । अथ कथञ्चित्कल्पनापोढम् एकान्तवादत्यागात् पुनरपि स्ववचनव्याघात एव । - अकलङ्क, तत्त्वार्थवार्तिक, पृ. ५५

## पादटिप्पण - २३४

न वै ज्ञानमेव प्रमाणम्, अतिप्रसङ्गात्, संव्यवहारानुपयोगिनः संशयविपर्यासकारणस्य अकिञ्चित्करस्य च ज्ञानस्य भावाऽविरोधात् । - अकलङ्क, लघीयस्त्रय, अकलङ्कग्रंथत्रय, पृ. १-२

यतः प्रभृति प्रेक्षापूर्विका पुरुषप्रवृत्तिः तस्य मुख्यतः प्रमाणत्वोपपत्तिः । स्वेक्षितेऽन्यानपेक्षस्य अविशंवादैकभवनस्य विकल्पविषयस्य च तत्त्वतः, यतोऽयमस्त्रलङ्घतिः हिताहितप्राप्तिपरिहारयोः संकरव्यतिकरव्यतिरेकेण प्रवर्तेत । - सिद्धिविनिश्चयटीका, पृ. ९७

विषदर्शनवदज्ञस्य दर्शनमविकल्पकम् ।

न स्यात्प्रमाणं सर्वमविसंवादहानितः ॥ - सिद्धिविनिश्चय, १.२४

विषमालोक्य तत्र अज्ञ इव प्रमाणयति न पुनः व्यवसायात्मकं प्रमाणमविसंवादकमिति लक्षयति चेति विपरीतलक्षणप्रज्ञो देवानांप्रियः । सर्वमेव दर्शनमविकल्पकं कथं प्रत्यक्षं विसंवादकं अज्ञस्य विषदर्शनमिव । व्यवसायात्मकस्यैवाविसंवादकत्वोपपत्तेः । तदितरस्याव्यवसायात्मकत्वेन विसंवादात् । - सिद्धिविनिश्चयटीका, पृ. १०८

## पादटिप्पण - २३५

ननु अविकल्पकं सुखादिनीलादिनिर्भासिज्ञानमविसंवादकम्, न च तदविसंवादकम् अपि तु विकल्पमेव व्यवसायात्मकत्वात् । तदविसंवादिनः प्रत्यक्षस्य निर्विकल्पकत्वे क्षणक्षयादिवत् साध-

नान्तरमपेक्षते अनिशिचयादिति ।- सिद्धिविनिश्चयटीका, पृ. १०८

पादटिप्पण - २३६

कल्पनापोढमभ्रान्तमपि दर्शनं विसंवादयत्येव यथादर्शनं निर्णयायोगात् ।... तस्मान्नायम-  
विकल्पोऽनुभवः स्वलक्षणग्राही यथार्थनिर्भासं व्यवसाययितुं समर्थोऽविसंवादको नाम । न चावि-  
कल्पितेन स्वभावेन स्वलक्षणव्यवस्थापनं युक्तमद्वैतवदिति भेदाभावात् ।

-सिद्धिविनिश्चयटीका, पृ. १०८

पादटिप्पण - २३८

स्वसंवेद्यं विकल्पानां विशदार्थावभासनम् ।

संहताशेषचिन्तायां सविकल्पावभासनात् ॥-लघीयस्त्रय, २३

सर्वतः संहतश्चिन्तां स्तिमितान्तरात्मना स्थितोऽपि चक्षुषा रूपं संस्थानात्मकं स्थूलात्मकमेकं  
सूक्ष्मानेकस्वभावं पश्यति न पुनः असाधारणैकान्तं स्वलक्षणम् ।

-लघीयस्त्रय, अकलङ्कग्रन्थत्रय, पृ. ८

पादटिप्पण - २४०

प्रतिसंविदितोत्पत्तिव्ययाः सत्योऽपि कल्पनाः ।

प्रत्यक्षेषु न लक्ष्येरंस्तत्त्वलक्षणभेदवत् ॥-लघीयस्त्रय, अकलङ्कग्रन्थत्रय, पृ. ९

सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भात् तद्विशेषादर्शिनोऽनवधारणम् असमीक्षिताभिधानम्, सर्वथा  
तत्सादृश्यानिष्टेः । प्रतिसंहारैकान्तः संभवति न वेति चिन्त्यमेतत् । कथं च प्रत्यक्षबुद्ध्यः सर्वथा  
विकल्पाः पुनर्विकल्पेरन् ।- लघीयस्त्रयवृत्ति, अकलङ्कग्रन्थत्रय, पृ. ९

पादटिप्पण - २४२

अविकल्पकमभ्रान्तं प्रत्यक्षाभं पटीयसाम् ।

अविसंवादनियमादक्षगोचरचेतसाम् ॥

सर्वथा वितथार्थत्वं सर्वेषामभिलापिनाम् ।

ततस्तत्त्वव्यवस्थानं प्रत्यक्षस्येति साहसम् ॥-न्यायविनिश्चयविवरण, पृ. ५२०-२२

पादटिप्पण - २४३

किञ्चित्केनचिद्विशिष्टं गृह्यमाणं विशेषणविशेष्यतत्सम्बन्धादिग्रहणमन्तरेण न भवितुमर्हति ।  
ततः प्रत्यक्षसदृशार्थाभिधानस्मृतिरनाभिलापिनी अभिलापादिविषया सिद्धा । अभिलापसंसर्गयो-  
ग्यप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पनेति विशेषणाददोषश्चेत् स्वार्थसन्निकर्षनिर्भासविशेषवैकल्यरूपव्य-  
तिरेकेण न तद्विशेषणार्थमुत्प्रेक्षामहे ।

पश्यन् स्वलक्षणान्येकं स्थूलमक्षणिकं स्फुटम् ।

यद्व्यवस्यति वैशद्यं तद्विद्धि सदृशस्मृतेः ॥ ९ ॥

स्वलक्षणानि स्वयमभिमतक्षणक्षयपरमाणुलक्षणानि पश्यतोऽपि केवलमेको हि ज्ञानसन्नि-  
वेशी स्थवीयानाकारः परिस्फुटमवभासते । - सिद्धिविनिश्चयटीका, पृ. ३७-३८

पादटिप्पण - २४५

प्रत्यक्षमविभागं चेच्चित्तं भागीव किं बहिः ।

नान्तस्तदेव प्रत्यक्षं कल्पनापोढमञ्जसा ॥१४ ॥

कल्पनापोढस्याभ्रान्तस्यापि विकल्पभ्रान्तिसंभवे प्रत्यक्षतदाभासयोः किं कारणमाश्रित्य भेदं  
लक्षयेदिति प्रत्यक्षस्य लक्षणान्तरं शक्यं वक्तुम्, चन्द्रमेकं पश्यतोऽपि द्विचन्द्रभ्रान्तिः मानसी  
स्वयमविभागबुद्धौ कल्पनारचितग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदसंवेदनवत् ।

- सिद्धिविनिश्चयटीका, पृ. ७०

पादटिप्पण - २४६

व्यवसायात्मनो दृष्टेः संस्कारः स्मृतिरेव वा ।

दृष्टे दृष्टसजातीये नान्यथा क्षणिकादिवत् ॥४ ॥

दर्शनाभ्यासपाटवप्रकरणादेः दृष्टसजातीयसंस्कारस्मृतिप्रबोधे स्वभावव्यवसायमन्तरेण क्षण-  
भङ्गादावपि लिङ्गानुसरणमनुपपन्नं तदविशेषात्रीलादिवत् । - सिद्धिविनिश्चयटीका, पृ. २६

सर्वस्यैव निर्विकल्पकज्ञानस्य समारोपव्यवच्छेदाकाङ्क्षिणः प्रामाण्यं न स्यात् ।

- लघीयस्त्रयवृत्ति, अकलङ्कयंत्रय, पृ. ३

वैशद्यमत एव स्यात् व्यवसायात्मनः स्मृतेः ।

असंस्कारप्रमोहे हि संज्ञानं नापि पश्यताम् ॥

व्यवसायात्मनः संस्कारप्रबोधस्य कारणसामग्र्या स्वतो वैशद्यमनुभवतः को विरोधः ? :

- सिद्धिविनिश्चय, पृ. ३५

पादटिप्पण - २४८

बुवन् प्रत्यक्षमभ्रान्तं बहिरन्तरसंभवम् ।

अनुमानबलादध्यक्षमनात्मज्ञस्तथागतः ॥२२ ॥

स्वभावनैरात्यं सर्वथा सर्वभावानां बुवन् प्रत्यक्षमभ्रान्तं लक्षयन् कथमुन्मत्तः ? कुतश्च  
यथादर्शनमेव मानमेयफलस्थितिः न पुनः यथातत्त्वमिति स्वयमवबुद्ध्येत बोधयति वा प्रमाणादेर-  
भावात् । - सिद्धिविनिश्चयटीका, पृ. ९२

पादटिप्पण - २४९

प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तमिति केचन ।

तेषामस्पष्टरूपा स्यात् प्रतीतिः कल्पनाऽथवा ॥

स्वार्थव्यवसितिर्नान्या गतिरस्ति विचारतः ।

अभिलापवती वित्तिस्तद्योग्या वापि सा यतः ।

अस्पष्टा प्रतीतिः कल्पना, निश्चितिर्वा कल्पना इति परिस्फुटं कल्पनालक्षणमनुक्त्वा अभिलापवती प्रतीतिः कल्पनेत्यादि तल्लक्षणमाचक्षाणो न प्रेक्षावान् ग्रंथगौरवापरिहारात् ।

- तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१२.८-९ एवं वृत्ति पृ. १८०

पादटिप्पण - २५१

तत्राद्यकल्पनापोढे प्रत्यक्षे सिद्धसाधनम् ।

स्पष्टे तस्मिन्नवैशद्यव्यवच्छेदस्य साधनात् ॥

अस्पष्टप्रतिभासायाः प्रतीतेरनपोहने ।

प्रत्यक्षस्यानुमानादेर्भेदः केनावबुध्यते ॥- तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१२.१०-११

पादटिप्पण - २५२

स्वार्थव्यवसितिस्तु स्यात्कल्पना यदि संमता ।

तदा लक्षणमेतत्त्यादसंभाव्येव सर्वथा ॥

तादृशकल्पनापोढस्य कदाचिदसंभवात् व्यवसायात्मकमानसप्रत्यक्षोपगमविरोधश्च ।

- तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१२.१२ एवं वृत्ति, पृ. १८३

पादटिप्पण - २५३

(१) संहृत्य सर्वतश्चित्तं स्तिमितेनान्तरात्मना ।

स्थितोऽपि चक्षुषा रूपं स्वं च स्पष्टं व्यवस्यति ॥

ततो न प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षत एव सिध्यति, नाप्यनुमानात् ।

तथाहि-

पुनर्विकल्पयन्किञ्चिदासीन्मे स्वार्थनिश्चयः ।

ईदृगित्येव बुध्येत प्रागिन्द्रियगतावपि ॥

ततोऽन्यथा स्मृतिर्न स्यात्क्षणिकत्वादिवत् पुनः ।

अभ्यासादिविशेषस्तु नान्यः स्वार्थविनिश्चयात् ॥

- तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१२.१३-१५

(२) ननु चार्थदर्शनस्य निश्चयात्मकत्वे साध्ये प्रत्यक्षविरोधः, संहृतसकलविकल्पदशायां रूपादिदर्शनस्यानिश्चयात्मकस्यानुभवात् ।

तदुक्तम् -

संहृत्य सर्वतश्चिन्तां स्तिमितेनान्तरात्मना ।

स्थितोऽपि चक्षुषा रूपमीक्षते साक्षजा मतिः ॥ प्रमाणवार्तिक, २.१२४

तथानुमानविरोधोऽपि व्युत्थितचित्तावस्थायामिन्द्रियादर्थगतौ कल्पनानुपलब्धेः । तत्र कल्प-

नासद्भावे पुनस्तत्स्मृतिप्रसङ्गः तदा विकल्पितकल्पनावत् । तदप्युक्तम् -

पुनर्विकल्पयन् किञ्चिदासीन्मे कल्पनेदुशी ।

इति वेत्ति पूर्वोक्तावस्थायामिन्द्रियाद्गतौ ॥-प्रमाणवार्तिक, २.१२५

तदेतदपि धर्मकीर्तैरपरीक्षिताऽभिधानम् ; प्रत्यक्षतो निर्विकल्पकदर्शनस्याप्रसिद्धत्वात् । संह-  
तसकलविकल्पावस्था ह्यश्वं विकल्पयतो गोदर्शनावस्था । न च तदा गोदर्शनमव्यवसायात्मकम्,  
पुनः स्मरणाभावप्रसङ्गात्, तस्य संस्कारकारणत्वविरोधात्, क्षणिकत्वादिवत् । व्यवसायात्मन एव  
दर्शनात् । संस्कारस्य स्मरणस्य च संभवात् । अन्यतस्तदनुपपत्तेः । तदुक्तम् -

व्यवसायात्मनो दृष्टेः संस्कारः स्मृतिरेव वा ।

दृष्टे दृष्टसजातीये नान्यथा क्षणिकादिवत् ॥ -सिद्धिविनिश्चय- १.४

-प्रमाणपरीक्षा, पृ. ८-९

पादटिप्पण - २५४

तदकल्पकमर्थस्य सामर्थ्येन समुद्भवात् ।

जात्याद्यात्मकभावस्य सामर्थ्येन समुद्भवम् ।

सविकल्पकमेव स्यात् प्रत्यक्षं स्फुटमञ्जसा ॥

परमार्थेन विशदं सविकल्पकं प्रत्यक्षं न पुनरविकल्पकं वैशद्यारोपात् ।

यथावभासतो कल्पात् प्रत्यक्षात्प्रभवन्नपि ।

तत्पृष्ठतो विकल्पः स्यात् तथार्थाक्षाच्च स स्फुटः ॥

-तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१२.१६-१८

पादटिप्पण - २५५

न चाभिलापवत्येव प्रतीतिः कल्पना जात्यादिमत्प्रतीतेरपि तथात्वाविरोधात् ।

न च जात्यादिरूपत्वमर्थस्यासिद्धमञ्जसा ।

निर्बाधबोधविध्वस्तसमस्तारेकि तत्त्वतः ॥१९ ॥

स्वतो हि व्यवसायात्मप्रत्यक्षं सकलं मतम् ।

अभिधानाद्यपेक्षायामन्योन्याश्रयणात् तयोः ॥२१ ॥

सति ह्यभिधानस्मरणादौ क्वचिद् व्यवसायः सति च व्यवसाये ह्यभिधानस्मरणादीति कथम-  
न्योन्याश्रयणं न स्यात् ।

संकेतस्मरणोपाया दृष्टसंकल्पनात्मिका ।

नैषा व्यवसितिः स्पष्टा ततो युक्ताक्षजन्मनि ॥२० ॥

गत्वा सुदूरमर्ष्येवमभिधानस्य निश्चये ।

स्वाभिलापानपेक्षस्य किमु नार्थस्य निश्चयः ॥२३ ॥

-तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१२.१९-२३

**पादटिप्पण - २५६**

ततः प्रत्यक्षमास्थेयं मुख्यं वा देशतोपि वा ।  
स्यानिर्विकल्पकं सिद्धं युक्त्या स्यात्सविकल्पकम् ।  
सर्वथा निर्विकल्पत्वे स्वार्थव्यवसितिः कुतः ।  
सर्वथा सविकल्पत्वे तस्य स्याच्छब्दकल्पना ॥

- तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१२.२६-२७

**पादटिप्पण - २५७**

सवितर्कविचारा हि पञ्चविज्ञानधातवः ।  
इत्येवं स्वयमिष्टत्वान्नैकान्तेनाविकल्पकम् ।  
विधूतकल्पनाजालं योगिप्रत्यक्षमेव चेत्  
सर्वथा लक्षणाव्याप्तिदोषः केनास्य वार्यते ।  
तदपाये च बुद्धस्य न स्याद्धर्मोपदेशना ।

- तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१२.२८-३२

**पादटिप्पण - २६०**

तदेतदविचारितरमणीयं ताथागतस्य; व्यवसायो हि दर्शनजन्यः । स किं दर्शनविषयस्योपदर्शकोऽनुपदर्शको वा इति विचार्यते । यद्युपदर्शकः तदा स एव तत्र प्रवर्तकः प्रापकश्च संवादकत्वात्, सम्यक्संवेदनवत्, न तु तन्निमित्तं दर्शनम् सन्निकर्षादिवत् । अथानुपदर्शकः; कथं दर्शनं तज्जननात् स्वविषयोपदर्शकम्, अतिप्रसंगात्, संशयविपर्यासकारणस्यापि स्वविषयोपदर्शकत्वापत्तेः । दर्शनविषयसामान्याध्यवसायित्वाद्विकल्पस्य तज्जनकं दर्शनं स्वविषयोपदर्शकमिति च न चेतसि स्थापनीयम्, दर्शनविषयसामान्यस्यान्यापोहलक्षणस्यावस्तुत्वात्, तद्विषयव्यवसायजनकस्य वस्तुपदर्शकत्वविरोधात् । - प्रमाणपरीक्षा, पृ. ६

**पादटिप्पण - २७०**

प्रवर्तकस्य च प्रत्यक्षत्वमनुमतं भवतां प्राप्ये भाविनीति चेत् ; न तस्य तेनाप्रतिपत्तेः । अप्रतिपत्नेऽपि प्रत्यक्षत्वे अतिप्रसङ्गात् । दृश्यप्रतिपत्तिरेव तस्यापि प्रतिपत्तिस्तयोरेकत्वादिति चेत्; उच्यते—

वस्तुतो यदि तद्भावः क्षणभङ्गि जगत्कथम् ?  
संवृत्या यदि तन्न स्यात् प्रत्यक्षमविकल्पकम् ॥११८५ ॥

वादिराज, न्यायविनिश्चयविवरण, भाग-१, पृ. ५२०

**पादटिप्पण - २७१**

भवतु वर्तमानविषयमेव प्रत्यक्षम्, न च तस्याप्रवर्तकत्वम्, उपलम्भपरितोषमात्रादेव तदुपपत्तेः;



भाविनि तु तस्य तत्त्वं व्यवहर्तृजनाभिप्रायादेव न तत्त्वत इति चेत् ; नन्वेवं क्षणभङ्गादावपि तस्यैव प्रामाण्यात् किमर्था तत्र प्रमाणान्तरप्रवृत्तिः ? समारोपव्यवच्छेदस्य विहितोत्तरत्वात् । निश्चयार्थं चेत् नीलादावपि किन्न तत्रवृत्तिः ? प्रत्यक्षादेव तस्य निश्चयादितिचेत् ; कथमेतत् तस्यानिश्चयरूपत्वात् ? निश्चयहेतुत्वादिति चेत् ; न, निर्विकल्पकत्वात् । निर्विकल्पकं हि प्रत्यक्षं कथं निश्चयहेतुः अर्थवत् ? निश्चयसंस्कारादेव विनिश्चयः प्रत्यक्षस्य तद्धेतुत्वं तत्संस्कारप्रबोधादिति चेत् ; न तत्रबोधस्याप्यर्थदिवोपपत्तेः ।

तन्न प्रत्यक्षान्निश्चयः । भवन्नपि कथं नीलादावेव न क्षणक्षयादावपि यतस्तत्रैव प्रमाणान्तरप्रवृत्तिः । दर्शनपाटवादेरुभयत्राविशेषादिति निरूपितत्वात् । अपेक्षणे च निश्चयस्य तस्यैव मुख्यं प्रामाण्यं भवेत् स्वार्थव्यवसायं; प्रत्यनपेक्षत्वेन साधकतमत्वात्, न प्रत्यक्षस्य विपर्ययात् । अविस्वादादस्यापि तदायत्तत्वात्, सत्येव हि तस्मिन्नीलादौ तदवलोकनात् असति च क्षणक्षयादौ सत्यपि प्रत्यक्षे विपर्ययात् । — न्यायविनिश्चयविवरण, भाग-१, पृ० ५२०-२१

पादटिप्पण - २७२

न हि तेषामेवावधारितो विस्वादादो निर्विकल्पस्य, विरोधात् । न च तमन्तरेण प्रामाण्यम्, तस्य तेन व्याप्तत्वात् अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । न चाप्रामाण्यस्य प्रत्यक्षत्वम्, इत्युपपन्नम् अविकल्पकमित्यादि । न च तेषामप्रामाण्यम्; अविस्वादादस्य तत्रावश्यम्भावात् । द्विचन्द्रादिचेतसां तु व्यवसायत्वमेव नास्ति; विधूतबाधस्यैवावसायस्य व्यवसायोपपत्तेः । कथं पुनः व्यवसायरूपत्वे तच्चेतसामविकल्पकत्वम्, विकल्पविशेषस्यैव व्यवसायत्वात् । — न्यायविनिश्चयविवरण, भाग-१, पृ० ५२१

पादटिप्पण - २७३

न ह्यथार्थादनुमानविकल्पात्तदवस्थापनमुपपन्नम्, अस्ति चैतत्परस्य “प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम् अर्थसामर्थ्यादुत्पत्तेरुत्तरार्थंक्षणवत् इत्यादेः, न सन्ति प्रत्यक्षे कल्पनाः, उपलब्धिक्षणप्राप्तानामनुपलम्भात्, भूतले घटवत्” इत्यादेश्च तदव्यवस्थापनयोगस्य दर्शनात् ।

— न्यायविनिश्चयविवरण, भाग-१, पृ० ५२४

पादटिप्पण - २७५

व्यवस्थितमेव तत् स्वतोऽपि तस्य तत्त्वव्यवस्थिते: “प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिध्यति” इति वचनादिति चेत्, किमिदानीमनुमानेन ? व्यामोहविच्छेद इति चेत्, सति व्यामोहे कथं व्यवस्थितत्वम् अतिप्रसंगात् । तन्न ततस्तदवगमः । नापि तद्विकल्पात्, तस्य तदवगमात्पूर्वं विकल्पान्तरवदप्रमाणत्वात् । तदवगमे प्रमाणत्वमिति चेत् न, परस्परश्रयात् — तदवगमात्प्रामाण्यम्, सति च

तस्मिंस्तदवगमः इति । नापि तद्विकल्पनान्तरात्, तत्राप्येवं प्रसङ्गादव्यवस्थितिदोषाच्च । ततो विकल्पबलादेव विकल्पानां वितथार्थत्वं प्रत्यक्षत्वञ्च व्यवस्थापयतां न सर्वथा वितथार्थत्वमभ्युपगन्तव्यम् । तथा च सिद्धं नीलादिविकल्पस्यापि सत्यार्थत्वं निरुपद्रवत्वादिति तस्यैव तत्र प्रामाण्यं निरपेक्षतया तदव्यवसायं प्रति साधकतमत्वात्, अविश्वानुसन्धानमाच्च, न निर्विकल्पस्य विपर्ययादिति प्रत्यक्षाभासमेव तत्, न प्रत्यक्षम् ।- न्यायविनिश्चयविवरण, भाग-१ पृ० ५२४

पादटिप्पण - २७७

अत्राह वैयाकरणः न वाक्संस्पर्शरहिता काचित् प्रतिपत्तिरस्ति शब्दानुविद्धायास्तस्याः प्रतिभासनात् । यदि तु संस्पर्शविकला साऽभ्युपगम्येत प्रकाशरूपतापि तस्याः हीयेत वाम्रूपता हि शाश्वती प्रत्यवमर्शिनी च तदभावे न तस्याः किञ्चिदपरं रूपमवशिष्यते । तदुक्तम्-

वाम्रूपता चेद् व्युत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती ।

न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥- वाक्यपदीय, प्रथमकाण्ड १.१२४

न च निरस्तोल्लेखं स्वसंवेदनं व्यवहारविरचनचतुरमिति सविकल्पमभ्युपगन्तव्यम् ।

- तत्त्वबोधविधायिनी (संमतितर्कटीका), पृ. ४८९-९१

पादटिप्पण - २७८

असदेतत् यतोऽध्यक्षं पुरः सन्निहितमेव भावात्मानमवभासयति तत्रैवाक्षवृत्तेः । वाम्रूपता च न पुरः सन्निहितेति न सा तत्र प्रतिभाति । न च व्यापितया पदार्थात्मतया वा अर्थदेशे सन्निहिता वागिति तद्दर्शने साप्यवभाति, वाचामर्थदेशे सन्निधेरयोगात् । तथाहि यदाऽक्षान्वये संवेदने पुरस्थो नीलादिराभाति न तदा तद्देश एव शब्दात्मा वक्तृमुखदेशस्य तस्यावभासनात् । न चान्यदेशतयोपलभ्यमानोऽन्यदेशोऽभ्युपगन्तुं युक्तः नीलादेरपि तथाभावप्रसक्तेः । अतो वाग्विविक्तस्य नीलादेरवभासनान्तर्यदेशे वाक्सन्निधिरिति न तत्संस्पर्शवत्यक्षमतिः । न च पदार्थात्मता वाचो युक्ता, तत्त्वेनाप्रतिभासनात् । स्तम्भादिर्हि शब्दाकारविविक्तः पुरः प्रतिभाति शब्दोऽप्यर्थविविक्तस्वरूपेण श्रोत्रज्ञानेऽवभातीति न तयोरैक्यं प्रतिभासभेदतो भेदात् ।-शब्दात्मकेऽपि पदार्थेऽभ्युपगम्यमाने श्रुतिरेव शब्दपरिणतिमधिगच्छति लोचनं च रूपविवर्तं पर्येतीत्यभ्युपगन्तव्यम् अन्यथैकमेवाक्षं विषयपञ्चकं विषयीकरोतीति तत्राप्यक्षपञ्चककल्पना विफलतामनुभवेत् ततः सकलमक्षवेदनं वाचकविकलं स्वविषयमेवावलोकयतीति निर्विकल्पकम् ।---

न च यद्यपि वाग् दृशि न प्रतिभाति तथापि स्मृतौ प्रतिभातीति विशेषणमर्थस्य भिन्नज्ञानग्राह्यस्यापि विशेषणत्वोपपत्तेरिति वक्तुं शक्यम् संविदन्तरप्रतीतस्य स्वातन्त्र्येण प्रतिभासनात् तदनन्तरप्रतीयमानविशेषणत्वानुपपत्तिः । यतो नैककालमनेककालं वा शब्दस्वरूपं स्वतन्त्रतया स्वग्राहिणि

ज्ञाने प्रतिभासमानं विशेषणभावं प्रतिपद्यते सर्वत्र तस्य तद् भावापत्तेः ।---

यदि च वाक्संसृष्टस्यैवार्थस्य ग्रहणं तदाऽगृहीतसंकेतस्य बालकस्य तद्ग्रहणं न भवेत् । अथ तस्यापि 'किम्' इति वागुल्लेखोऽस्तीति तदनुषक्ततद्ग्रहणं सविकल्पकं नैतद् युक्तम् ; तस्य किमपि इति सामान्यस्यैव ग्रहणं भवेन्न विशेषस्येति न विशदावभास्यर्थसंवेदनसंभवः । यदा चाश्वं विकल्पयतो गोदर्शनं परिणमति तदा तद्वागपरिच्छेदात् कथमवबोधस्य शाश्वती वाग्रूपता ? न हि तदा गोशब्दोल्लेखस्तदवबोधस्य संभवति तत्संवेदनाभावात् युगपद्विकल्पद्वयानुत्पत्तेश्च ।

ततोऽध्यक्षमर्थसाक्षात्करणान्न वाग्योजनामुपस्पृशतीति निराकृतम् "वाग्रूपता चेद् व्युत्क्रामेत्" इत्यादि लोचनाद्यध्यक्षे वाक्संस्पर्शयोगात्, यतः श्रोत्रप्राह्णां वैश्वरीं वाचं न तावन्नयनजसंवेदनमुपस्पृशति तस्यास्तदविषयत्वात् ।— **तत्त्वबोधविधायिनी**, द्वितीयकाण्ड, पृ. ४८९-९१

### पादटिप्पण - २७९

स्यादेतत् यद्यपि वाचो नयनजप्रतिपत्त्यविषयत्वान्न तद्विशिष्टार्थदर्शनमध्यक्षं तथापि द्रव्यादेर्नयनादिविषयत्वात् तद्विशिष्टार्थाध्यक्षप्रतिपत्तिः सविकल्पिका भविष्यति । तथाहि-नियतदेशादितया वस्तु परिदृश्यमानं व्यवहारोपयोगि अन्यथा तदसंभवाद् देशादिसंस्पर्गरहितस्य च तस्य कदाचिदप्यनुभवात् । यच्च देशादिविशिष्टतया नामोल्लेखाभावेऽपि वस्तु संगृह्णाति तत् सविकल्पकम् 'विशेषणविशेष्यभावेन हि प्रतीतिः कल्पना' देशादयश्च नीलादिवद् तदवच्छेदका दर्शने प्रतिभान्तीति न तत्र शब्दसंयोजनापक्षभावी दोषः ।— **तत्त्वबोधविधायिनी**, पृ. ४९३

### पादटिप्पण - २८०

एतदप्यसत्, यतोऽध्यक्षं पुरोवर्ति नीलादिकमवलोकयितुं समर्थम् न तदवष्टब्धं भूतलम्, तदनवभासे च कथं तद्विशिष्टमर्थं तदवगन्तुं प्रभुः यदपि तदनवष्टब्धं तत्र प्रतिभाति तदपि न तद्विशेषणमिति शुद्धस्यैव सकलस्य प्रतिभासान्न विशेषणविशेष्यभावग्रहणम् । तथाहि-दर्शने रूपमालोकश्च स्वस्वरूपव्यवस्थितं द्वितयमाभाति न तद्व्यतिरिक्तं कालदिगादिकमिति कथमप्रतिभासमानं तद्विशेषणं भवति सर्वत्र तद्भावप्रसक्तेः तेन "देशादिभिर्विशिष्टस्य सर्वस्यार्थस्य संवेदनम् इति निरस्तम् विशेषणभूतस्य कस्यचिदप्रतिभासनात् ।— किञ्च, समानकालयोर्वा भावयोर्विशेषणविशेष्यभावम्, भिन्नकालयोर्वा अक्षबुद्धिरवभासयति ? न तावद् भिन्नकालयोः तयोर्युगपत् तत्राप्रतिभासनात् यदा हि विशेषणं स्वादिकं पूर्वमवभाति न तदा स्वाभ्यादिकं विशेष्यम् यदापि चोत्तरकालं तदवभाति न तदा स्वादिकम् असन्निधानादिति न तद्विशिष्टतयाऽध्यक्षेण तस्य ग्रहणम् । ...नापि तुल्यकालयोर्भावयोर्विशेषणविशेष्यभावमध्यक्षमधिगन्तुं समर्थम् तस्यानव-

स्थितेः । तथाहि-अविशिष्टेऽपि दण्डपुरुषसंयोगे कश्चिद् दण्डविशिष्टतया पुरुषं 'दण्डी' इति प्रतिपद्यते अपरस्तु तत्रैव पुरुषविशिष्टतया 'दण्डोऽस्य' इति प्रतिपद्यते । असंकेतितविशेषणविशेष्यभावस्तु 'दण्ड-पुरुषौ' इति स्वतन्त्रं द्वयमधिगच्छति वास्तवे तु तस्मिन् योग्यदेशस्यप्रतिपत्तुणां दण्डपुरुषरूपयोरिव तुल्याकारतयाऽवभासो भवेत् न चैवम् । तेन दण्डपुरुषस्वरूपमेव स्वतन्त्रमध्यक्षावसेयम् विशेषणविशेष्यभावस्तु कल्पनाविरचित एव ।।....

विशेषणयोजना तु स्मरणादुपजायमाना अपास्ताक्षार्थसन्निधिर्मानसी ।

- तत्त्वबोधविधायिनी, पृ. ४९३-९४

### पादटिप्पण - २८१

ननु यदि न पुरऽस्थितार्थग्राही विकल्पः कथं ततस्तत्र प्रवृत्तिर्भवेत् ? यदेव विशेषणादिकं प्राक् तेनानुभूतं तत्रैव ततः प्रवृत्तिर्भवेत् न हि स्वात्मानमनारूढेऽर्थे प्रवृत्तिविधायि विज्ञानमुपलब्धम् अन्यथा शुक्लमर्थमवतरन्ती संवित्रीलार्थे प्रवर्तिका भवेत् । न च निर्विकल्पकमेव संवेदनं वर्तमानेऽर्थे प्रवृत्तिविधायि, विकल्पमन्तरेणापि सर्वत्र प्रवृत्तिप्रसक्तेः । न च सुखसाधनत्वनिश्चयमन्तरेण पुरः प्रकाशनमात्रेण कश्चित् प्रवर्तत इति विकल्प एव पुरोव्यवस्थितार्थग्राही प्रवर्तकत्वात् अक्षानुसारितया च स एवाध्यक्षमिति युक्तं पूर्वदृष्टनामादिविशेषणग्राही निश्चय इति, एतदप्यसङ्गतम्, धूमग्राह्याध्यक्षव्यतिरिक्तास्पष्टावभासाग्न्यनुमानाकारस्येव विशददर्शनभृतोऽर्थाकाराद् व्यतिरिक्तविकल्पमत्युल्लिख्यमानाऽस्पष्टाकारस्य तदाऽननुभवात् ।।---

यतो यदि नाम पुरोवर्तिनमर्थं विकल्पमतिरुद्धोतयितुं प्रभवति तथापि न तत्र प्रवृत्तिः प्रवृत्तिविरचनाचतुर्गार्थक्रियासमर्थरूपानवभासनात् तदवभासने ह्यर्थक्रियार्थिनां प्रवृत्तिर्युक्ता । न चार्थक्रियासम्बन्धं वर्तमानसमयसम्बन्धिन्त्यर्थे ताः प्रदर्शयितुं समर्थाः तदानीं तस्या असन्निधानात् । असन्निधौ च न तत्र सामर्थ्यावगतिः पदार्थस्वरूपमात्रावसायात् । न च तत्स्वरूपमात्रावसायादेव सामर्थ्यावगतिः अतिप्रसङ्गात् । ततः पुरोवर्तिनि प्रवर्तमानोऽपि न विकल्पकः प्रवर्तकः । ...

पूर्वदर्शनमनुस्मरन्नेव पूर्वदृष्टां व्यवहारी तत्राध्यारोपयति विस्मरणे तदनध्यवसायात् । यच्च स्मृतिरध्यवस्यति स्वरूपं न तद्दर्शनपथोपयुक्तम् आकारभेदात् । न च तद्दर्शनस्मरणे एकं विषयं बिभृतः 'पूर्वदृष्टं पश्यामि' इत्यध्यवसायात् । यतः किं स्मर्यमाणं दृश्यमानतया रूपं प्रतीयते, आहोस्विद् दृश्यमानं स्मर्यमाणतयेति विकल्पद्वयम् । तत्र यद्यद्यः पक्षस्तथा सति स्मर्यमाणं परिस्फुटतया रूपमाभातीति कथं तस्य परोक्षता ? अथ द्वितीयस्तत्रापि दृश्यमानं स्मर्यमाणेन रूपेणावभातीति सर्वं परोक्षं भवेदिति न काचिदध्यक्षमतिः सत्यार्था स्यात् । अतोऽक्षधीर्वर्तमानमेव रूपं प्रत्येति स्मृतिरपि तदसंस्पर्शि परोक्षं रूपमिति न तथोरैक्यम् प्रतिभासभेदस्य सर्वत्र भेदकत्वात् तस्य

च विशदाविशदरूपतयावभासमानयोर्दृश्यस्मर्यमाणयोः सदृशात् कथं न भेदः ? ...

न हि दृश्यमानस्मर्यमाणयोरभेदसिद्धिः दृश्यमाने स्मृतेः स्मर्यमाणे च दृशोऽनवतारात् ।

— तत्त्वबोधविधायिनी, पृ. ४९४-४९६

### पादटिप्पण - २८२

तन्न जातिर्दर्शने कल्पनाज्ञाने वा बहिराकारमाभिभ्रती स्वेन वपुषां प्रतिभाति कल्पनाबुद्धावप्यविशदाकारव्यक्तिरूपमन्तःशब्दोल्लेखं वापहाय वर्णसंस्थानव्यतिरिक्तजातिस्वरूपानवभासनात् । तन्नाप्रतीयमाना जातिः सती ।... एवं गुणक्रियादीनामप्यप्रतिभासनादसत्त्वमिति न तद्विशिष्टार्थग्राह्यक्षं सविकल्पकतामनुभवति ।— तत्त्वबोधविधायिनी, पृ. ४९७

### पादटिप्पण - २८३

अथ निर्विकल्पकत्वेऽध्यक्षेण शुद्धवस्तुग्रहणात् कथं ततो व्यवहृतिः सा हि हेयोपादेययोर्दुःखसुखसाधनत्वनिश्चये हानोपादानार्था दृष्टा, न च निर्विकल्पकमध्यक्षं तन्निश्चयरूपम् असदेतत्; यतो यद्यपि सविकल्पकमध्यक्षं तथापि कथं तदर्थिनां तत्र ततः प्रवृत्तिः ? न हि निश्चयमात्रात् फलार्थिनः प्रवर्तन्ते अपितु तज्जननयोग्यतावसायात्, सा चासन्निहितफलानिश्चये न निश्चेतुं शक्या । न च परोक्षं सुखसाधनत्वं निश्चिन्वती मतिरध्यक्षतामनुभवति अनुमितेरध्यक्षताप्रसक्तेः परोक्षनिश्चयरूपताया अविशेषात् । न च निश्चयात्मकेनाध्यक्षेण वस्तु निश्चीयते तत्प्रतिबद्धा च प्रागर्थक्रियोपलब्धा ततः पुरस्थार्थावसायात् तत्र स्मृतिः प्रादुर्भवन्ती तत्राभिलाषजननात् प्रवृत्तिमुपजनयति निर्विकल्पकेऽप्यस्य समानत्वात् ।... अथ वस्तुस्वरूपप्रतिभासं दर्शनमर्थक्रियासम्बन्धानुभवात् प्रवृत्तिमुपरचयितुं क्षमम् तत्सम्बन्धानुभवे वा सविकल्पकं तद् भवेत् । न चाप्रवर्तकस्य प्रामाण्यम् - “प्रामाण्यं व्यवहारेण” इत्यत्र व्यावहारिकस्य चैतत् प्रमाणस्य लक्षणमुक्तम् इत्यभिधानात्, असदेतत्; यतो न दर्शनं केवलं प्रमाणं क्षणिकत्वादावपि तस्य भावात्, किन्तु अभ्यासपाटवादिसव्यपेक्षं यत्रांशे विधिप्रतिषेधविकल्पद्वयं जनयत् पुरुषं प्रवर्तयति तत्रास्य प्रामाण्यमिति निश्चयापेक्षस्य प्रत्यक्षस्य व्यवहारसाधकत्वान्न प्रामाण्यक्षतिः; नन्वेवमपि यदि निश्चये सति प्रवृत्तिस्तदभावे च नेत्यभ्युपगमस्तर्हि प्रवृत्तिकरणान्निश्चय एव प्रमाणं भवेत्, न च दर्शनगृहीतं नीलं निश्चिन्वन्नुपजायमानो विकल्पो गृहीतप्राहितया अप्रमाणम्, यतोऽर्थक्रियासम्बन्धितामुल्लिखन्ती दर्शनावगतस्यार्थस्य कल्पना प्रवृत्तिमारचयति ।... सर्वत्र च कल्पनेव प्रवृत्तिं विरचयति दर्शनाभावेऽप्यनुमानात् प्रवृत्तिदर्शनाद् दर्शनसदभावेऽपि क्षणिकादौ व्यवसायाभावात् प्रवृत्तेरभावाद् व्यवहारमुपरचयन्ती मतिः प्रमाणमिति न निर्विकल्पिका सा प्रमाणं किन्तु विकल्पिकैव ।

— तत्त्वबोधविधायिनी, पृ. ४९७-९८

## पादटिप्पण - २८४

ननु न विकल्पस्याप्रामाण्यं किन्त्वसौ प्रत्यक्षं न भवति अनुमानताऽभ्युपगमात् । अथ लिङ्गज-  
त्वाभावादपरोक्षमर्थं निश्चिन्वन् कथमनुमानं विकल्पः ? नैतत् यतो नापरोक्षमेवार्थमसौ निश्चि-  
नोति अर्थक्रियासम्बन्धित्वस्य परोक्षस्याप्यध्यवसितेस्तदभावे च प्रवृत्तेरयोगात् ।

नन्वन्यगतचेतसोऽभ्यस्ते परिमलादावविकल्पाक्षमतेः प्रवृत्तिदर्शनात् कथं न निर्विकल्पकं  
प्रवर्तकम् ? किञ्च, यद्यनुमितरेव बाह्ये सर्वदा प्रवृत्तिमारचयति तर्हि तत्र नाध्यक्षं प्रमाणमिति  
स्वसंवेदनमात्रमेवैकमध्यक्षं भवेत् तथा च -“रूपादिस्वलक्षणविषयमिन्द्रियज्ञानम् आर्यसत्यचतु-  
ष्टयगोचरं योगविज्ञानम्” इत्यादि चतुर्विधाध्यक्षोपवर्णनमसङ्गतमनुषज्येते । अथ निर्विकल्पक-  
मध्यक्षं नार्थस्यार्थक्रियायोग्यतामधिगच्छति तदभावे न प्रवृत्तिरित्यप्रवर्तकत्वान्न बाह्ये प्रमाणं  
तर्ह्यनुमानमपि नार्थक्रियासङ्गतिमवभासयति तस्यावस्तुविषयत्वात् तथा च तदपि कथं प्रवर्तकम् ?  
अथ तदध्यवसायितया तस्योत्पत्तेरर्थप्राहित्वाभावेऽपि प्रवर्तकता, असदेतत् ; तदध्यवसायित्वस्या-  
प्यनुपपत्तेः ।

नन्वनुमाने सति प्रवृत्तिर्दृष्टा तदभावे सा न दृष्टेति तत्कार्यासौ निश्चीयते तर्ह्यभ्यासदशायां  
विकल्पविकले दर्शने सति प्रवृत्तिर्दृष्टा प्रतिपदोच्चारं तत्र विकल्पनासंवेदनेऽपि पुरः परिस्फुटप्रति-  
भासमात्रादेव प्रवृत्त्युपपत्तेस्तत्कार्याऽसौ किं न व्यवस्थाप्यते ? अथानुमानादनभ्यासदशायां प्रवृ-  
त्तिरूपलब्धेति तदन्तरेण सा कथं भवेत् ? न मन्दाभ्यासेऽनुमानादेव प्रवृत्तिः अभ्यासदशायां तु  
पर्यालोचनलक्षणानुमानव्यतिरेकेणापि वस्तुदर्शनमात्रादेव समस्तु तथादर्शनात् अन्यथाऽनभ्यास-  
दशायामनुमानात् प्रवृत्तिदर्शनात् सर्वदानुमानस्यैव व्यवहृतिजनकत्वे प्रत्यक्षेण लिङ्गग्रहणाभावतस्-  
तन्निश्चयकृदपरमनुमानमभ्युगन्तव्यम् तत्राप्यनुमानान्तराल्लिङ्गनिश्चय इति  
निश्चयकृदपरमनुमानमित्यनवस्थाप्रसङ्गतो न कदाचिद् व्यवहृतिर्भवेत् । ततोऽविकल्पकं दर्शन-  
मभ्यासदशायां व्यवहारकृदभ्युपगन्तव्यमन्यथा पूर्वोक्तप्रकारेणानुमानानवतारात् ।—

- तत्त्वबोधविधायिनी, पृ. ४९८-९९

## पादटिप्पण - २८६

अत्र प्रतिविधीयते -‘स्वार्थनिर्णयस्वभावं प्रत्यक्षं न भवति’ इत्येतत् किं तद्ग्राहकप्रमाणाभा-  
वादभिधीयते, आहोस्वित् तद्बाधकप्रमाणसद्भावात् ? तत्र न तावदाद्यः पक्षोऽभ्युपगमार्हः  
स्थिरस्थूलसाधारणस्य स्तम्भादेरर्थस्य बहिरन्तश्च सद्व्यवचेतनत्वाद्यनेकधर्माक्रान्तस्य ज्ञानस्यै-  
कदा निर्णयात् सांशस्वार्थनिर्णयात्मनोऽध्यक्षस्य स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धत्वात् तद्ग्राहकप्रमा-  
णाभावोऽसिद्धः ।

नापि तद्वाधकप्रमाणसद्भावात् तस्यैवासिद्धेः । तथाहि तद्वाधकमध्यक्षम् अनुमानं वा प्रकल्प्येत प्रमाणान्तरानभ्युपगमात् । न तावदध्यक्षं तद्वाधकं संभवति अविकल्पप्रसाधकस्य तस्य तद्वाधकत्वात् न च निरंशक्षणिक्कैकप्रमाणसंवेदनं स्वसंवेदनाध्यक्षतः सिद्धमिति प्राक् प्रतिपादितमिति नाध्यक्षं तद्वाधकम् । नाप्यनुमानं तद्वाधकं संभवति अध्यक्षप्रवृत्तौ तत्पूर्वकस्य तस्यापि तत्राप्रवृत्तेः ।— तत्त्वबोधविधायिनी, पृ. ४९९ एवं ५१५

### पादटिप्पण - २९०

न च विकल्पाविकल्पयोर्मनसोर्युगपद्भूतेः क्रमभाविनोर्लघुवृत्तेर्वा एकत्वमध्यवस्यति जनस्तत्रेत्यविकल्पाऽध्यक्षगतं वैशद्यं विकल्पे सांशस्वार्थाध्यवसायिन्यध्यारोपयतीति वैशद्यावगतिः एकस्यैव तथाभूतस्वार्थनिर्णयात्मनो विशदज्ञानस्यानुभूतेरननुभूयमानस्याप्यपरनिर्विकल्पकस्य परिकल्पने बुद्धेश्चैतन्यस्यापरस्य परिकल्पनाप्रसङ्ग इति सांख्यमतमप्यनिषेध्यं स्यात् ।

किञ्च सविकल्पाविकल्पयोः कः पुनरैक्यमध्यवस्यति ? न तावदनुभवो विकल्पेन आत्मन ऐक्यमध्यवस्यति व्यवसायविकलत्वेनाभ्युपगमात् तस्य अन्यथा भ्रान्तताप्रसङ्गात् । नापि विकल्पोऽविकल्पेन स्वस्यैक्यमध्यवस्यति तेनाविकल्पस्याविषयीकरणात् अन्यथा स्वलक्षणगोचरताप्राप्तेः अविषयीकृतस्य चान्यत्राध्यारोपाभावात् न ह्यप्रतिपन्नरजतः शक्तिकायां रजतमध्यारोपयितुं 'रजतमेतत्' इति समर्थः । न च यथेश्वरादिविकल्पस्तद्... तस्यासिद्धेश्च । न हि मरीचिकाजलरूपतयाऽध्यवसिता तद्रूपतयाऽसिद्धार्थक्रियोपयोगिन्युपलब्धा एवमनुभवोऽपि विकल्परूपतयाऽध्यवसितस्तथाऽसिद्धो नार्थक्रियोपयोगी नातः किञ्चित् सिध्यति । नापि विकल्पः तस्याऽवस्तुविषयत्वाभ्युपगमात् । यदि पुनर्विकल्पस्तद्रूपमात्मानमध्यवस्येत् तर्हि परमार्थविषयता तस्येति "विकल्पोऽवस्तुनिर्भासाद् विसंवादादुपप्लवः" इति असङ्गतं स्यात् । अत एव न विकल्पान्तरमपि तमध्यवस्येत् तस्यापि तुल्यदोषत्वात् ।

किञ्च तयोरैक्यं व्यवस्यतीत्यत्र यदि विकल्पं निर्विकल्पकतया मन्यते व्यवहारी तदा निर्विकल्पकमेव सर्वं ज्ञानमिति विकल्पव्यवहारोच्छेदादनुमानप्रमाणाभावः । अथाविकल्पकं विकल्पतया तदा सविकल्पमेव सर्वं प्रमाणमिति अविकल्पप्रत्यक्षवादो विशीर्येत । यथा हि प्रज्ञाकराभिप्रायेण मणिप्रभायां मणिज्ञानं 'य एव मणिर्मया दृष्टः स एव प्राप्तः' इत्यभिमानिनः प्रत्यक्षं प्रमाणम् अन्यथाऽभ्यासदशायां भाविनि दृश्यप्राप्ययोरेकत्वाध्यवसायात् प्रत्यक्षमेव प्रमाणमिति न भवेत्... यथा हि दृश्यं प्राप्यारोपात्प्राप्यम् तथाऽविकल्पो विकल्पारोपाद् विकल्पो भवेत् न्यायस्य समानत्वात् ।— तत्त्वबोधविधायिनी, पृ. ४९९-५००

## पादटिप्पण - २९१

अथ विकल्पेनाविकल्पस्य सहस्रांशुना तारानिकरस्येव तिरस्कारान्न तथा निर्णयस्तर्हि विकल्पस्याप्यविकल्पेन तिरस्कारात् प्रतिभासनिर्णयो न स्यात् ।

अथ विकल्पस्य बलीयस्त्वादविकल्पस्य च दुर्बलत्वात् तेन तस्य तिरस्कारः ; ननु कुतो विकल्पस्य बलीयस्त्वम् ? प्रचुरविषयत्वादिति चेत्, न, अविकल्पविषय एव प्रवृत्त्यभ्युपगमात् अन्यथाऽस्य गृहीतग्राहित्वासंभवात् । निर्णयात्मकत्वात् तस्य तदात्मकत्वमिति चेत् ; ननु तस्य किं स्वरूपे निर्णयात्मकत्वम्, उतार्थरूपे ? न तावत् स्वरूपे “सर्वचित्तचैतानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षं” (न्यायबिन्दु, १.१०) इत्यस्य विरोधात् । एवमपि तत्र तस्य निर्णयात्मकत्वे चक्षुरादिज्ञानं स्वपरयोस्तदात्मकं किं न भवेत् ? तथा च स्वार्थाकाराध्यवसायाधिगमश्चक्षुरादिचेतसां सिद्ध इति केन कस्य तिरस्कारः ? तन्न विकल्पः स्वरूपे निर्णयात्मकोऽभ्युपगन्तव्यः ।

अथाऽर्थे तस्य निर्णयात्मकत्वम् ; नन्वेवमेकस्य विकल्पस्य निर्णयानिर्णयस्वभावं रूपद्वयमायातम् तच्च परस्परं तद्वत्तश्च यद्येकान्तो भिन्नमभ्युपगम्यते समवायादेरनभ्युपगमात् सम्बन्धासिद्धेः ‘बलवान् विकल्पो निर्णयात्मकत्वात्’ इत्यस्यासिद्धिः ।

अथ निर्णयानिर्णयस्वभावयोरन्योऽयं तद्वत्तश्च कथञ्चित्तादात्म्यं तर्हि यत् स्वात्मनि अनिर्णयात्मकं बहिरर्थे च निर्णयस्वभावं रूपं तत्साधारणमात्मानं प्रतिपद्यते चेद् विकल्पः स्वरूपेऽपि सविकल्पकः प्रसक्तः अन्यथा निर्णयस्वभावतादात्म्यायोगात् । न च स्वरूपमनिश्चिन्तन् विकल्पोऽर्थं निश्चिनोति इतरथाऽगृहीतस्वरूपमपि ज्ञानमर्थग्राहकं भवेदिति न नैयायिकमतप्रतिक्षेपः । यथा च परज्ञातमननुभूतत्वान्नात्मनो विषयस्तथा विकल्पस्य स्वरूपमनिश्चितत्वान्नात्मनो विषय इति समानं पश्यामः । न च तस्यापि विकल्पान्तेरण निश्चयः तस्यापि विकल्पान्तेरण निश्चयापत्तेरनवस्थाप्रसक्तेः । अतस्तदाकारविषयीकरणसंभवाद् विकल्प्यार्थाभावतो दृश्यविकल्प्यावर्थावेकीकृत्य प्रवर्तत इत्ययुक्तमभिधानम् । ततो न बलवान् विकल्प इति कथं तेनाविकल्पतिरस्कार इति अविकल्पनिश्चयस्तदैव भवेत् न चैवमतो नाविकल्पस्य विकल्पेनैकत्वाध्यवसायः ।—**तत्त्वबोधविद्यायिनी**, पृ. ५००-५०२

## पादटिप्पण - २९२

किञ्च, विकल्पेऽविकल्पस्यैकत्वेनाध्यारोप इति कुतो निश्चीयते ? अस्पष्टास्वलक्षणग्राहिणि स्पष्टस्वलक्षणग्राहित्वस्य प्रतीतेस्तदध्यारोपावगतिरिति चेत् ; ननु यदि नाम तत्र तत्रतीतिः अविकल्पारोपस्तु कुतः ? स्पष्टत्वादेस्तद्धर्मस्य तत्र दर्शनादिति चेत् ; तद्धर्मः स्पष्टत्वादिरित्येतदेव कुतः ? तत्र दर्शनादिति चेत् ; अत एव विकल्पधर्मोऽप्यस्तु अन्यथाऽविकल्पस्यापि मा भूत् । न च



विकल्पव्यतिरेकेणाविकल्पमपरमनुभूयते यस्य स्पष्टत्वादिधर्मः परिकल्पेत एवमपि तत्र तत्परिकल्पने ततोऽप्यपरमननुभूयमानं विशदत्वादिधर्माधारं परिकल्पनीयमित्यनवस्थाप्रसक्तिः ।

— तत्त्वबोधविधायिनी, पृ. ५०२

### पादटिप्पण - २९३

अत किञ्चिज्ज्ञानं सविकल्पकमपरं निर्विकल्पकं राशयन्तराभावात् विकल्पस्य चार्थसामर्थ्योद्भूतत्वासंभवान् विशदत्वादिधर्मयोगः अविकल्पस्यापि तद्योगाभावे विशदत्वादिकं न क्वचिदपि भवेदित्यविकल्पस्यैव तदभ्युपगन्तव्यम् । भवेदेतत् यद्यर्थसामर्थ्यप्रभवत्वेन वैशद्यादेर्व्याप्तिः स्यात् तदभावे तन्न भवेत् न चैवम् अर्थसामर्थ्योद्भूतेऽपि दूरस्थितपादपादिज्ञाने वैशद्यादेरभावात् योगिप्रत्यक्षे चार्थप्रभवत्वाभावेऽपि च भावात् । न च तदप्यर्थसामर्थ्योद्भूतम् तत्समानसमयस्य चिरातीतानुत्पन्नस्य चार्थस्य तदग्रहणानुपपत्तेः । तथाहिप्रागसर्वज्ञः सन् — अथान्येन स्वभावेन तर्हि सांशं तत् प्रसज्यत इति तदग्राहिणोऽपि ज्ञानस्य सांशैकवस्तुप्राहकत्वेन सविकल्पकताप्रसक्तिः । एवं भाविकारणेऽपि वक्तव्यम् । तन्न योगिप्रत्यक्षमर्थसामर्थ्यप्रभवमभ्युपगन्तव्यम् अन्यथा पूर्वोक्तदोषप्रसक्तेः ।

विकल्पज्ञानमर्थसामर्थ्यप्रभवमपि यदि विशदं भवेत् तदा को विरोधः ?

— तत्त्वबोधविधायिनी, पृ. ५०२

### पादटिप्पण - २९५

ननु स्वप्नावस्थायां पुरोवर्तिहस्त्याद्यवभासमेकं ज्ञानमनुभूयते अपरं तु स्मरणज्ञानम् तत्र पूर्वोल्लेखतयोपजायमानस्य यदि वैशद्यवैकल्यम् नैतावता सर्वविकल्पस्य पुरोवर्तिस्तम्भाद्युल्लेखवतो वैशद्याभावः तत्र तस्य स्वसंवेदनाध्यक्षतः प्रतीतेः । न चाविकल्पकं तदिति वक्तव्यम् स्थिरस्थूलपुरोव्यवस्थितहस्त्याद्यवभासिनः स्वप्नदशाज्ञानस्याविकल्पकत्वे अनुमानस्यापि सांशवस्त्वध्यवसायिनो निर्विकल्पकत्वप्रसक्तेर्विकल्पवार्ताविरतिरेव स्यात् । अत एव 'प्रथमं निर्विकल्पकं निरशंवस्तुप्राहकं तदर्थसामर्थ्योद्भूतत्वात् तदुत्तरकालभावि तु निर्विकल्पकज्ञानप्रभवमर्थनिरपेक्षं सांशवस्त्वध्यवसायि सविकल्पकमविशदं लघुवृत्तेस्तु निर्विकल्पकज्ञानवैशद्याध्यारोपात् तत्राध्यक्षत्वाभिमानो लोकस्य' इति एतदपि निरस्तं द्रष्टव्यम् । विकल्प एव पूर्वोक्तन्यायेन वैशद्योपपत्तेर्निर्विकल्पकस्य च निरंशक्षणिकपरमाणुमात्रवसायिनः कदाचिदप्यनुपलब्धेस्तत्र वैशद्यकल्पनाया दूरापास्तत्वात् । — तत्त्वबोधविधायिनी, पृ. ५०२-५०३

### पादटिप्पण - २९९

अथ संहृतसकलविकल्पावस्थायां पुरोवर्तिवस्तुनिर्भासि विशदमक्षप्रभवं ज्ञानमविकल्पकं

संवेद्यत एव तथा चाध्यक्षसिद्ध एव ज्ञानानां कल्पनाविरह इति नात्र प्रमाणान्तरान्वेषणमुपयोगि । तदुक्तम् — “प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिध्यति ” इत्यादि । तथा पुनरप्युक्तम् -

संहृत्य सर्वतश्चिन्तां स्तिमितेनान्तरात्मना ।  
स्थितोऽपि चक्षुषा रूपं वीक्षते साक्षजा मतिः ॥

न ह्यस्यामवस्थायां नामादिसंयोजितार्थोल्लेखो विकल्पस्वरूपोऽनुभूयते । न च विकल्पानां स्वसंविदितरूपतयाऽननुभूयमानानामपि संभव इति विकल्पविकला सावस्था सिद्धा, असदेतत् ; यतस्तस्यामवस्थायां स्थिरस्थूलस्वभावशब्दसंसर्गयोग्यपुरोव्यवस्थितगवादिप्रतिभासस्यानुभूते : सविकल्पकज्ञानानुभव एव ।

न हि शब्दसंसर्गप्रतिभास एव सविकल्पकत्वम् तद्योग्यावभासस्यापि कल्पनात्वाभ्युपगमात् अन्यथाऽव्युपनसंकेतस्य ज्ञानं शब्दसंसर्गविरहात् कल्पनावन स्यात् । न च पूर्वकालदृष्टत्वस्य - शब्दसंसर्गयोग्यप्रतिभासस्य विशदतया विकल्परूपस्याप्यध्यक्षतोपपत्तेः शब्दयोजनामन्तरेणापि स्थिरस्थूरार्थप्रतिभासं निर्णयात्मकं ज्ञानमध्यक्षमभ्युपगन्तव्यम् अन्यथा तस्य प्रामाण्यमेवानुपपन्नं भवेत् ।

पादटिप्पण - ३०१

विकल्परश्च शब्दसंयोजितार्थग्रहणं तत्संयोजना च शब्दस्मरणमन्तरेणासंभविनी तत्स्मरणं च प्राक्तत्सन्निध्युपलब्धार्थदर्शनमन्तरेणानुपपत्तिमत् तद्दर्शनं चाध्यक्षतः क्षणिकत्वादाविव निश्चयजननमन्तरेणासंभवि निश्चयश्च शब्दयोजनाव्यतिरेकेण नाभ्युपगम्यत इत्यध्यक्षस्य क्वचिदप्यर्थप्रदर्शकत्वासंभवात् प्रामाण्यं न भवेत् । तस्मात् शब्दयोजनामन्तरेणाप्यर्थनिर्णयात्मकमध्यक्षमभ्युपगन्तव्यम् अन्यथा विकल्पाध्यक्षेण लिङ्गस्याप्यनिर्णयात् अनुमानात् तन्निर्णये अनवस्थाप्रसक्तेरनुमानस्याप्यप्रवृत्तितः सकलप्रमाणादिव्यवहारविलोपः स्यात् ।— तत्त्वबोधविधायिनी (सन्मतितर्कटीका), पृ. ५०३-५०४

पादटिप्पण - ३०२

यदपि ‘निरंशवस्तुसामर्थ्योद्भूतत्वात् प्रथमाक्षसन्निपातजं निरंशवस्तुग्राहि निर्विकल्पकमिति’ तदप्यसंगतम्, निरंशस्य वस्तुनोऽभावेन तत्सामर्थ्योद्भूतत्वस्य निर्विकल्पकत्वहेतोस्तत्रासिद्धेः । न च यत् निरंशप्रभवं तन्निरंशग्राहि, निरंशरूपक्षणप्रभवस्याप्युत्तररूपक्षणस्य तद्ग्राहित्वादर्शनात् । — तत्त्वबोधविधायिनी, पृ. ५०४

अपि च यदि निरंशवस्तुसामर्थ्योद्भूतत्वात् कल्पनापोढमध्यक्षं स्वसंवेदनं तथाभूतवस्तुप्रभवत्वाभावात् संवेदनग्राहि निर्विकल्पकं च न भवेत् ।— तत्त्वबोधविधायिनी, पृ. ५०९

## पादटिप्पण - ३०३

अथ नानुभवमात्राद् विकल्पप्रभवः अन्यथा निर्णयात्मकानुभववादिनोऽपि विस्तीर्णप्रघट्टकादौ वर्णपदवाक्यादेः सकलस्य निर्णयात्मनाऽध्यक्षेणानुभवात् स्मरणविकल्पानुदयो न भवेत् । अथात्र दर्शनपाटवाभ्यासप्रकरणाद्यपेक्षा तर्ह्यन्त्रापि सा तुल्येति, एतदप्यसत्, यतो दर्शनस्य पाटवं सच्चेतनादौ तदग्रहणयोग्यता तत्सामर्थ्ये अपाटवं तदग्रहणयोग्यता तच्च दर्शनस्य दृश्यस्य च सांशतायामुपपत्तिमदिति कथं न सविकल्पकता ? विकल्पजननाजनने तत्पाटवापाटवे अपि नाभ्युपगमनीये सांशतापत्तिदोषादेव । अथाभ्यासादिसहायं दर्शनं विकल्पमुत्पादयति ; नन्वेमपि यदेव सच्चेतनादौ दर्शनं तदेव चेत्, अन्यत्रोभयत्र विकल्पोत्पत्तिर्भवेत्---न चाभ्यासादिसहायमविकल्पकं कदाचिद् विकल्पमुपजनयद् दृष्टमिति कथं तस्य सहकारिसचिवस्य विकल्पजनकताभ्युपगमः ? अथ सच्चेतनादिविकल्पमविकल्पकमुत्पादयद् दृष्टमिति तदभ्युपगमः, स्यादेतत् यदि क्रमभाविहेतुफलभूतमविकल्पसविकल्पकं ज्ञानद्वयमवसीयेत । न च तदवसीयते सांशैकविकल्पस्वभावस्य सामान्यविशेषात्मकवस्तुग्राहिणः प्रथममेवोपजायमानस्यैकस्यैव निश्चयात् ।

यदप्यविकल्पकस्याभ्यासादिसहायविकल्पजनने प्रघट्टकास्मरणं दृष्टान्तत्वेनोपन्यस्तम्, तदप्ययुक्तम् ; यतो वर्णादीनां तज्ज्ञानानां च व्यक्तिभेदाद् दृढसंस्कारण्येव निश्चयात्मकान्यपि ज्ञानानि स्मृतिजनकानि नापराणीति प्रतिनियतविषयस्मृतिसंभवान्न सकलप्रघट्टकास्मरणदोषः अनिश्चयात्मकं तु ज्ञानं क्षणिकत्वादाविव न क्वचिद् विकल्पहेतुर्भवेत् इत्युक्तं प्राक् । न च भवत्पक्षे सच्चेतनादिस्वर्गप्रापणशक्त्यादीनां परस्परं तदनुभवानां च भेदः येनेदमुत्तरं समानं भवेत् । तथाहिसच्चेतनादितत्सामर्थ्ययोरभेदे तदनुभवादेकरूपादुभयत्र संस्कारः स्मरणं वा भवेत् न वा क्वचिदिति अन्यथा अनुभवस्य सांशतापत्तिरिति सविकल्पकत्वं भवेत् ।

— तत्त्वबोधविधायिनी, पृ० ५०६-५०७

## पादटिप्पण - ३०६

एकस्यार्थस्वभावस्य प्रत्यक्षस्य सतः स्वयम् ।

कोऽन्यो न दृष्टो भागः स्यात् यः प्रमाणैः परीक्ष्यते ॥— प्रमाणवार्तिक, ३.४३

नो चेद् भ्रान्तिनिमित्तेन संयोज्येत गुणान्तरम् ।

शुक्तौ वा रजताकारो रूपसाधर्म्यदर्शनात् ॥— प्रमाणवार्तिक, ३.४४

अत्र च तात्पर्यार्थः - यद् यतोऽभिन्नं तस्मिन्ननुभूयमाने तदनुभूयते, यथा तस्यैव स्वरूपम् अभिन्नं च सच्चेतनादेश्चेतसः स्वर्गप्रापणसामर्थ्यम् तस्य ततो भेदे सम्बन्धासिद्धेः ।... न च तत्सामर्थ्यं तच्चेतसोऽभिन्नमिति तदनुभवे तस्याप्यनुभवः चन्द्रग्रहणेऽपि तदेकत्वाग्रहणतस्तैमिरिकदर्शनेन व्यभिचारात् । तस्यापि ग्रहणमिति चेत्, न ; भ्रान्तेरभावप्रसङ्गतः “कल्पनापोढमभ्रान्तं

प्रत्यक्षम्” (न्यायबिन्दु, १.४) इत्यत्र भ्रान्तग्रहणानर्थक्यप्रसक्तव्यवच्छेदाभावात् । चन्द्रग्रहणमपि तत्र नास्तीति चेत्, न ; एकत्वाप्रतिपत्तावपि तत्र प्रतिभासदर्शनात् । एकस्य द्वित्वविशिष्टतया तस्य ग्रहणान्मरीचिकाजलज्ञानवद् भ्रान्तं तदिति चेत्, न—“प्रामाण्यं व्यवहारेण शास्त्रं मोहनवर्तनम्” (प्रमाणवार्तिक, १.७) इति भवतैवाभिहितत्वात् । न चैकत्रज्ञाने भ्रान्तेतररूपपद्वयमयुक्तम्—सर्वप्रमाणव्यवहारलोपः ।—**तत्त्वबोधविधायिनी**, पृ० ५०७-५०८

**पादटिप्पण - ३०७**

यस्य तु मतं दृश्यप्राप्ययोरेकत्वे अविशंवादाभिमानिनः प्रत्यक्षं प्रमाणम् इतरस्य तयोर्विवेके सत्यनुभूतेऽपि न प्रमाणम् तस्य चन्द्रदर्शने चन्द्रप्राप्त्यभिमानिनः किमिति चन्द्रमात्रे तन्न प्रमाणम् ? विवेकान्धवसायिनस्तु यदि तदननुभूतेऽप्येकत्वे प्रमाणं तर्हि “यद् यथावभासते तत्तथैव परमार्थसद्व्यवहारावतारि यथा नीलं नीलतयाऽवभासमानं तथैव सद्व्यवहारावतारि अवभासन्ते च क्षणिकतया सर्वे भावाः” इत्यनुमानमसङ्गतं हेतोरसिद्धताप्राप्तेः ।—**तत्त्वबोधविधायिनी**, पृ० ५०८

**पादटिप्पण, ३०८**

अविकल्पकं दर्शनं प्रमाणमिति चेत्, न, सुषुप्तावस्थायां तत्र सङ्गात् तत्रापि चैतन्यसद्भावात् अन्यथा प्रबोधवस्थाविज्ञानमनुपादानम् अचेतनोपादानं वा भवेत् ।---न च सुषुप्तावस्थायां विकल्पानुत्पत्तेर्न तत्र सङ्गः विकल्पवशात् तादात्म्ये सत्यपि तद्व्यवस्थायां बाह्यार्थेऽपि तत एव तद्व्यवस्थोपपत्तेर्विकल्प एव प्रमाणं भवेत् ।—**तत्त्वबोधविधायिनी**, पृ० ५०९

**पादटिप्पण - ३१०**

यदपि “अभ्यासदशायां दर्शनमेव विकल्पनिरपेक्षं प्रमाणम्” इति तत्र वक्तव्यं क्व तत् प्रमाणम् ? प्राप्ये भाविनि रूपादाविति चेत्, तस्याविषयीकरणे तेनायुक्तम् अन्यथा नीलज्ञानं पीते प्रमाणं स्यात् विषयीकरणे भाविविषयत्वं तस्यैव भवेत् तथा च “वर्तमानावभासि सर्वं प्रत्यक्षम्” इति विरुद्ध्येत । अथ वर्तमानविषयमपि भाविनि प्रवृत्तिविधानात् प्रमाणम्, न; अविषयीकृते प्रवर्तकत्वासंभवात् प्रवर्तकत्वे वा शाब्दमपि सामान्यमात्रविषयं विशेषे प्रवृत्तिं विधास्यतीति न मीमांसकमतप्रतिक्षेपो युक्तः । यदि वा विषयेऽपि कुतश्चिन्मित्ताद् ज्ञानं प्रवर्तकं तर्हि प्रत्यक्षपृष्ठभावि सामान्यमात्राध्यवसायविकल्पस्य विशेषे प्रवर्तकत्वं भविष्यतीति न युक्तम्—“दृश्यविकल्पयोरर्थयोरेकीकरणं तत्र प्रवृत्तिनिमित्तम्” इत्यभिधानात् । तन्न प्राप्ये तत् प्रमाणम् । दृश्यप्राप्ययोरेकत्वे तत् प्रमाणमिति चेत् कुत एतत् ? व्यवहारिणां तत्राविसंवादाभिप्रायात् अविशंवादि च ज्ञानं प्रमाणम् । तदुक्तम् - “प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्, अर्थक्रियास्थितिरविसंवादनम्” इति चेत् ; नेनु तदेकत्वं कस्य विषयः ? दर्शनस्येति चेत्, न ; तस्य सामान्यविषयतया सविकल्प-

कत्वप्रसक्तेः । विकल्पस्येति चेत्, न; अभ्यासदशायां विकल्पस्यानभ्युपगमात् ।

— तत्त्वबोधविधायिनी, पृ० ५१२-५१३

पादटिप्पण - ३१२

यत्तावदुक्तम्-“कल्पनापोढम्” इत्यादि ; तत्र केयं कल्पना-अभिलापवत्प्रतिभासः; निश्चयः, जात्याद्युल्लेखः, अस्पष्टाकारता, अर्थसन्निधिनिरपेक्षता, अनक्षप्रभवता, धर्मान्तरारोपो वा ?

—न्यायकुमुदचन्द्र, भाग-१, पृ० ४७

पादटिप्पण - ३१४

तत्राद्यपक्षोऽयुक्तः, प्रतिभासस्याऽभिलापवत्वानुपपत्तेः । तद्धि तत्त्वभावत्वात्, तद्धेतुत्वाद्वा स्यात् ? न तावत्तत्त्वभावत्वात्, चेतनाऽचेतनयोः विरुद्धधर्माध्यासतः तादात्म्याऽसंभवात् । ययो- विरुद्धधर्माध्यासः न तयोस्तादात्म्यम् यथा जलाऽनलयोः, विरुद्धधर्माध्यासश्च चेतनाऽचेतनरूप- तथा शब्द-ज्ञानयोरिति । अतः तत्त्वभावशून्यतया प्रत्यक्षस्याविकल्पकत्वसाधने सिद्धसाधनम् । नापि तद्धेतुत्वात्, तद्धि तज्जन्यत्वम्, तज्जनकत्वम्, उभयं वा ? तज्जन्यत्वेन तद्धत्वे श्रोत्रज्ञानस्य अविकल्पकत्वं न स्यात्, तस्याऽभिलापप्रभवतया तद्वत्त्वप्रसंगात् । तज्जनकत्वात्तद्धत्वे, प्रकृतिप्रत्ययादिप्रत्यक्षस्य सविकल्पकत्वं स्यात् । उभयपक्षेऽपि उभयदोषानुषङ्गः, एकत्रोभयरूप- ताविरोधश्च । अतः अभिलापवत्प्रतिभासस्य कल्पनालक्षणत्वानुपपत्तेः “यो यत्र शब्दो न निवे- शितः” इत्यादि प्रत्याख्यातम् ।—न्यायकुमुदचन्द्र, भाग-१, पृ० ४७-४८

पादटिप्पण - ३१६

अथ अस्पष्टाकारता विकल्पस्वरूपम्, तच्चास्य विकल्पकत्वादेव सिद्ध्यति ; तथाहि-यत् सविकल्पकं ज्ञानं तदस्पष्टं यथा अनुमानम्, तथा चेदं विवादापन्नं ज्ञानम्, इत्यप्यसाम्प्रतम्, निर्विकल्पकत्व-सविकल्पकत्वाभ्यां ज्ञानानां स्पष्टत्वाऽस्पष्टत्वयोरप्रसिद्धेः, स्वसामग्रीविशेषादेव तेषां तत्र-सिद्धेः । कथमन्यथा प्रत्ययत्वात् प्रत्यक्षमपि अनुमानवदस्पष्टं न स्यात् ? अन्योन्याश्रयश्च; अस्पष्टाकारत्वे हि सिद्धे सविकल्पकत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च अस्पष्टाकारत्वसिद्धिरिति । किञ्च, अस्य अस्पष्टता विशेषणविशिष्टार्थग्राहित्वात्, एकत्वपरामर्शित्वात्, परोक्षाकारोल्लेखित्वाद्वा स्यात् ? तत्र आद्यपक्षद्वयमयुक्तम्; वस्तुस्वरूपस्य अस्पष्टाहेतुत्वात् । यत् खलु वस्तुस्वरूपं तन्नाऽस्पष्टत्वहेतुः यथा नीलत्वादि, वस्तुस्वरूपञ्च विशेषणविशिष्टत्वादिकमिति । परोक्षाकारोल्लेखित्वञ्च यत्रास्ति तत्र अस्पष्टत्वमप्यस्तु, नान्यत्र । न हि सर्वत्र विकल्पः परोक्ष एवार्थे प्रवर्तते; वर्तमाने पुरोवर्तिन्यप्यर्थे स्पष्टाकारोल्लेखमुखेन तत्रवृत्तिप्रतीतेः ।—न्यायकुमुदचन्द्र, भाग-१ पृ० ५०-५१

## पादटिप्पण - ३१९

नापि अर्थसन्निधिनिरपेक्षता विकल्पलक्षणं पुरोवर्तिन्यर्थे सत्येव अस्येदन्तया प्रवृत्तेः, न हि ईदृशो विकल्पोऽसन्निहितेऽर्थे संभवति । अतश्च सन्निहितार्थलक्षणत्वेऽपि यदि अस्याऽप्रत्यक्षता, न किञ्चित् प्रत्यक्षं स्यात् ।—न्यायकुमुदचन्द्र, भाग-१, पृ० ५१

## पादटिप्पण - ३२०

नापि अनक्षप्रभवता तल्लक्षणम्, अक्षान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वतः अक्षप्रभवत्वस्यात्रैवावसायात्, न हि निर्विकल्पकम्, अक्षव्यापारानन्तरं कदाचिदप्युपलभ्यते । अर्थसाक्षात्कारिणश्चास्याऽक्षप्रभवत्वं भवति । न चाऽविकल्पस्य तत्साक्षात्कारित्वं संभवति, स्वरूपेणाप्यस्याप्रसिद्धत्वात् । यत् स्वरूपेणाप्रसिद्धं न तत् अर्थसाक्षात्कारि यथा वन्ध्यास्तनन्धय-विज्ञानम्, स्वरूपेणाप्रसिद्धञ्च अविकल्पकत्वाभिमतं विज्ञानमिति ।

—न्यायकुमुदचन्द्र, भाग-१, पृ० ५१

## पादटिप्पण - ३२१

धर्मान्तरारोपोऽपि न तल्लक्षणम् ; विकल्पे हि कस्य धर्मान्तरमारोप्यते ? निर्विकल्पकस्य चेत् ; किं तद् धर्मान्तरम् ? वैशद्यञ्चेत् ; 'वन्ध्यासुतसम्बन्धि तत् तत्रारोप्यते' इत्यपि किन्न स्यात् ? तस्य तद्धर्माधारतयाऽप्रसिद्धेः—कदाचिदपि प्रसिद्धम्, इति अक्षव्यापारप्रभवं वैशद्याध्यासितं स्वार्थसाक्षात्कारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षं प्रतिपत्तव्यम् । ततो भवत्परिकल्पितप्रत्यक्षलक्षणस्यानुपपत्तेः 'स्वसंवेदनेन्द्रिय' इत्यादिना तद्भेदोपवर्णनम् आकाशकुशेशयसौरभव्यावर्णनप्रख्यमित्युपेक्षते ।—न्यायकुमुदचन्द्र, भाग-१, पृ० ५१

## पादटिप्पण - ३२४

अथ निश्चयः कल्पनोच्यते, सत्यमेतत्, तद्रहितत्वं तु प्रत्यक्षस्याऽसत्यम्, प्रमाणस्याऽनिश्चयात्मकत्वानुपपत्तेः, तथाहि प्रत्यक्षं स्वार्थव्यवसायात्मकं प्रमाणत्वाद् अनुमानवत् । यत्पुनः स्वयमनिश्चितस्वरूपम् अर्थनिश्चयात्मकञ्च न तत्रमाणम्, यथा पुरुषान्तरज्ञानं संशयादिज्ञानञ्च । निश्चयो हि संशयादिव्यवच्छेदेन अर्थस्वरूपावधारणम्, तद्रूपता च प्रमाणस्य प्रमाणशब्दस्य निरुक्त्यैवाऽवसीयते । तथाहि-प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदलक्षणेन मीयते परिच्छिद्यते येनाऽर्थः तत् प्रमाणम्, न चैतन्निर्विकल्पके संभवतीति कथं तत्र प्रमाणशब्दस्यापि प्रवृत्तिः ? व्यवहाराऽनुपयोगित्वाच्च न तत् प्रमाणम्, यद्व्यवहारानुपयोगि न तत् प्रमाणम् यथा गच्छतृणस्पर्शसंवेदनम्, तथा च परपरिकल्पितं निर्विकल्पकं प्रत्यक्षमिति ।

—न्यायकुमुदचन्द्र, भाग-१, पृ० ४८

## पादटिप्पण - ३२९

ननु निर्विकल्पकमपि प्रत्यक्षं व्यतिरिक्तविकल्पोत्पादकत्वतः प्रवर्तकत्वात् प्रमाणतां प्रतिपद्यते ; इत्यपि श्रद्धामात्रम् ; तस्याऽविदितस्वरूपस्य सन्निकर्षादविशेषप्रसङ्गात्, तस्यापि हि इत्थं प्रवर्तकत्वमुपपद्यते । न च चेतनाऽचेतनत्वकृतस्तयोर्विशेषः निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्यापि चेतनत्वाऽप्रसिद्धेः । परानिरपेक्षतया स्वरूपोपदर्शकं हि चेतनमुच्यते, न चाविकल्पकाध्यक्षं स्वप्नेऽपि तथा स्वरूपमुपदर्शयतीति कथं तच्चेतनं यतः सन्निकर्षाद्विशेष्येत ? अतः तद्विशेषमिच्छता व्यवसायात्मकं तत् प्रतिपत्तव्यम्, निर्व्यापारस्य अननुभूयमानस्वरूपस्यास्य अपरप्रकारेण सन्निकर्षाद् भेदाऽप्रसिद्धेः ।—न्यायकुमुदचन्द्र, भाग-१, पृ० ४८-४९

## पादटिप्पण - ३३१

ननु 'पश्यामि' इत्येवम्भूतो विकल्प एवाध्यक्षस्य व्यापारः, तत्कथं निर्व्यापारता ? इत्यप्यसुन्दरम्, तद्व्यवसायात्मकत्वप्रसङ्गात् । न खलु व्यापारः तद्वतो भिन्नो, भवद्भिरङ्गीक्रियते ; तत्त्वभावत्वात्तस्य । अथ तत् कार्यत्वात् ततो भिन्नोऽसौ, कथं तर्हि तद्व्यापारः ? न हि पुत्रः पितुर्व्यापारो भवति । अस्तु वा; तथापि - यदि अविकल्पकाध्यक्षे व्यवसायस्वभावता न स्यात् तदा तत्रभवविकल्पेऽपि कुतोऽसौ स्यात् । स हि बोधरूपतया, विलक्षणसामग्रीप्रभवतया वा व्यवसायस्वभावतां स्वीकुर्यात् ? यदि बोधरूपतया ; तदाऽसौ प्रत्यक्षेऽप्यस्ति, इति तदपि व्यवसायस्वभावतां स्वीकुर्यात् । तदविशेषेऽपि 'यस्य साक्षादर्थे ग्रहणव्यापारः तन्न निश्चिनोति, यस्य तु तद्व्यापारोपजीवित्वम् असौ निश्चिनोति' इति असेः कोशस्य तीक्ष्णता । विलक्षणसामग्रीप्रभवता च अनयोः भेदे सिद्धे सिद्धयेत्, न च विकल्पव्यतिरेकेण अविकल्पकस्वरूपं स्वप्नेऽपि प्रसिद्धम् । एकमेव हीदं स्वार्थव्यवसायात्मकमिन्द्रियादिसामग्रीतः समुत्पन्नं विज्ञानमनुभूयते, न तत्र स्वरूपभेदः सामग्रीभेदो वा कश्चित् कदाचित् कस्यचित् प्रतिभाति अन्यत्र महामोहाक्रान्तः करणात् सौगतात् । कथञ्चैवं बुद्धिचैतन्ययोर्भेदं प्रतिवर्णयन् सांख्यः प्रतिक्षिप्येत ? विकल्पाविकल्पयोरिव अनयोरप्रतिपन्नस्वरूपयोरपि अभ्युपगममात्राद् भेदसिद्धिप्रसङ्गात् । तयोरेकत्वाध्यवसायाद् भेदेनाप्रतिपत्तिरित्यपि उभयत्र समानम् ।—न्यायकुमुदचन्द्र, भाग-१ पृ० ४९

## पादटिप्पण - ३३२

'जात्याद्युल्लेखः', कल्पना इत्यप्यविरुद्धम्, जात्यादीनां विशेषणविशेष्यभूतानां परमार्थसतां व्यामोहविच्छेदेनावसायस्य कल्पनात्वोपपत्तेः । यदप्युक्तम्—'यद् यदर्थसाक्षात्कारप्रवृत्तं ज्ञानम्' इत्यादि; तत्र कोऽयं विशेषणविशेष्याद्याकारो नाम योऽर्थसाक्षात्करणप्रवृत्ते ज्ञाने प्रतिषिद्धयेत्-प्रतिबिम्बम्, उल्लेखो वा ? प्रतिबिम्बञ्चेत्, सिद्धसाध्यता, ज्ञाने तत्रतिषेधस्य अस्माभिरप्यभ्युपगमात्, सकलज्ञानानां निराकारत्वप्रतिज्ञानात् । अथ उल्लेखः, तन्निषेधोऽनुपपन्नः, प्रमाणस्य यथावस्थिता-

र्थस्वरूपोद्योतकत्वात्, तत्स्वरूपञ्च जात्यादिविशिष्टं 'गौः' 'शुक्लः', 'चरति' इत्यादि प्रत्ययात् प्रसिद्धम् । न खलु प्रतीयमानस्याऽपलापो युक्तः सर्वत्रानाशवासप्रसङ्गात् ।

—न्यायकुमुदचन्द्र, भाग-१, पृ० ५०

### पादटिप्पण - ३३४

परनिरपेक्षतया वस्तुतथाभावप्रकाशकं हि प्रमाणम्, न चाविकल्पकम् तथा नीलादौ विकल्पस्य क्षणक्षयेऽनुमानस्यापेक्षणात् । ततोऽप्रमाणं तत् वस्तुव्यवस्थायामपेक्षित- परव्यापारत्वात् सन्निकर्षादिवत् ।— प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-१ पृ. ८७

### पादटिप्पण - ३५२

किञ्च असम्भवाव्याप्यतिव्याप्तयस्त्रयो दोषाः निषेधनीयाः लक्षणे विचक्षणैः । न च प्रत्यक्षशब्दवाच्चे सर्वस्मिन्नपि वस्तुनि निर्विकल्पकत्वाभ्रान्तत्वे सम्भवत इत्यसम्भवातिव्याप्तोरसम्भवेऽप्यव्याप्तिः प्राप्तैव प्रत्यक्षलक्षणस्य । तथागतमेकमन्तरेणापरेषां सविकल्पकज्ञानेऽपि प्रत्यक्षशब्दवाच्यत्वस्य प्रसिद्धेः । न च तत्र सविकल्पकत्वं पराकृत्य निर्विकल्पकत्वकल्पनां भवानप्यातिष्ठते ।—स्याद्वादरत्नाकर, पृ० २२

### पादटिप्पण - ३५३

भवति ह्येवमभ्रान्तपदस्यापार्थक्यत्वं सम्यग्ज्ञानस्य भ्रान्तत्वायोगात् । अथ समर्थित एवाभ्रान्तपदस्यार्थो विप्रतिपत्तिक्षेपो नाम । गच्छद्वृक्षादिदर्शनस्य हि ग्राह्ये विपर्यस्तस्यापि कल्पनापोढत्वं पश्यन्नवश्यमध्यवस्येत् प्रत्यक्षत्वं कश्चिदिति तत्रतिक्षेपायाविपर्यस्तार्थप्रतिपादकमभ्रान्तपदमुपादेयमिति चेत् । हन्त बौद्धोऽपि नट इव केवलवाक्प्रपञ्चेन वंचयसि । गच्छद्वृक्षादिवेदनं हि तत्र तत्र मिथ्याज्ञानं मिथ्याज्ञानमिति सर्वत्रांशे विसंवादकमिति प्रपञ्चतः प्रतिपाद्येदानीं ग्राह्ये विपर्यस्तमिति पर्यायान्तरं परिकल्प्याभ्रान्तपदेन व्यपोहसि ननु सम्यग्ज्ञानपदेनेति व्यक्तं ते वाग्व्यसकत्वम् ।—स्याद्वादरत्नाकर, पृ० २२-२३

### पादटिप्पण - ३५५

स्वसंवेदनप्रत्यक्षेण तस्य कल्पनाशून्यस्यैवानुभूयमानत्वात् । अथात्र विप्रतिपद्येत कश्चित् । नासौ विपरिचत् । तथाहि प्रत्यक्षस्य शब्दविकल्पनीयाद्यर्थसामर्थ्येनात्मलाभातद्रूपप्रतिभासित्वमेव न्याय्यं नाऽभिलापरूपप्रतिभासित्वमपि । असति चाभिलापरूपप्रतिभासित्वे कथं तत्र व्यवसायस्वभावत्वं सङ्गच्छते । किञ्च—

स्वलक्षणनिनादयो न खलु विद्यते संगतिः  
परस्परमभिन्नता न हि तयोः पृथग्दर्शनात् ।  
समस्ति न तदुत्थताप्यपरहेतुजन्यत्वतः



स्वलक्षणसमुद्भवं तदविकल्पकं वेदनम् ॥६७ ॥

यदवादि स्वसंवेदनप्रत्यक्षेण तस्य कल्पनाशून्यस्यैवानुभूयमानत्वादिति । तत्कोशपानप्रत्या-  
यनीयम् । नीलमहं विलोकयामीत्युल्लेखशेखरं व्यवसायात्मकमेव हि प्रत्यक्षं सर्वदा सर्वत्र सर्वैर-  
नुभूयते । यदप्यवादि प्रत्यक्षस्य शब्दविकलनीलाद्यर्थसामर्थ्येनात्मलाभादिति । तदपि नावदातम् ।  
नहि निःशब्दकार्थजनितमित्येतावतैव ध्वनिं विना कृत्यमभिधातुं पार्यते । अन्यथा ह्यचेतनवस्तुस-  
मुत्पादितमित्यचेतनमपि तद्भवेत् ।—स्याद्वाद्दरत्नाकर, पृ० ७५-७६

पादटिप्पण - ३५६

तथाहि स्वलक्षणगोचरे निर्विकल्पकप्रत्यक्षे समुत्पन्नेऽपि न यावद्विधिनिषेधद्वारा पश्चाद्  
भावविकल्पयुग्मं समुल्लसति न तावदिदं नीलं नेदं पीतमिति इदन्तयाऽनिदन्तया वा प्रतिनियत-  
पदार्थव्यवस्थानमास्थीयते ताथागतैः “यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवाऽस्य प्रमाणता” इति वचनात् उत्पन्न-  
स्यापि निर्विकल्पकस्य व्यवहारं प्रत्यनुत्पन्नप्रायत्वात् । तच्च व्यवस्थापकं  
प्रत्यक्षपृष्ठभावविकल्पयुगलकं प्रतिपत्तुः प्राक्प्रवृत्तसंकेतावसरसमवधारितं शब्दसामान्यमनुस्मरत  
एव भवितुमर्हति ।

स्वत एव हि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षं न पुनः शब्दसम्पर्कपेक्षया । तदपेक्षायां हि वर्णपदव्यव-  
सायः कथं नाम स्यात् । तद्व्यवसायेऽपि परस्य नाम्नोऽवश्यं स्मरणेनानवस्थोपनिपातात् । नामा-  
न्तरस्मरणमन्तरेण स्वत एव वर्णपदव्यवसाये तु वस्तुव्यवसायोऽपि स्ववाचकनामस्मरणमन्तरेण  
स्वत एवास्तु न कार्यं शब्दसम्पर्केण एवं च शब्दसम्पर्करहितमपि विशदसंवेदनम् । यतः, सविधव-  
र्तिनं निजांशव्यापिनं कालान्तरस्थायिनं स्थगितप्रतिक्षणपरिणाममलक्ष्यमाणपरमाणं परिमाणं वस्त्व-  
न्तरैः सह सदृशविसृशाकारं कुम्भादिकं भावमवभासयतीति कृत्वा सविकल्पकमित्यभिधीयते ।  
पराभिमतायःशलाकाकल्पक्षणक्षयिपरमाणुलक्षणग्रहणनिपुणनिर्विकल्पकप्रत्यक्षप्रतिक्षेपार्थं प्रत्य-  
क्षस्य शब्दसम्पर्कयोग्यगोचरता संदर्शनार्थञ्च ।—स्याद्वाद्दरत्नाकर, पृ० ७६-७८

## परिशिष्ट (चतुर्थ अध्याय) -ग

पादटिप्पण - ३७

से किं ते अणुमाणे ? अणुमाणे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा-पुव्ववं सेसवं, दिट्ठसाहम्मवं । से किं तं पुव्ववं ?

माया पुत्तं जहा नट्टं, जुवाणं पुणरागयं ।  
काई पच्चभिजाणेज्जा, पुव्वलिगेण केणई ।

तं जहा खतेण वा वण्णेण वा लंछणेण वा मसेण वा तिलएण वा, से तं पुव्ववं ।

से किं तं सेसवं ? पंचविहे पण्णत्ते, तंजहा कज्जेणं कारणेणं गुणेणं अवयवेणं आसएणं । किं तं कज्जेणं ? संखं सदेणं, भेरिं ताडिएणं, वसभं ढक्किएणं, मोरं किंकाइएणं, हयं हेसिएणं, गयं गुलगुलाइएणं, रहं घणघणाइएणं, से तं कज्जेणं । से किं तं कारणेणं ? तंतवो पडस्स कारणं ण पडो तंतुकारणं एवं वीरणा कडस्स कारणं ण कडो वीरणाकारणं, मिप्पिंडो घडस्स कारणं ण घडो मिप्पिंडकारणं, से तं कारणेणं । से किं तं गुणेणं ? सुवण्णं निकसेणं, पुप्फं गंधेणं, लवणं रसेणं, मइरं आसायएणं, वत्थं फासेणं, से तं गुणेण । से किं तं अवयवेणं ? महिसं सिंगेणं, कुक्कुडं सिहाएणं, हत्थि विसाणेणं, वराहं दाढाए, मोरं पिच्छेणं, आसं खुरेणं, वग्घं नहेणं, चमरिं बालगणेणं वाणरं लंगुलेणं दुपयं मणुस्सादि, चउपयं गवमादि, बहुपयं गोमियादि, सीहं केसरेणं, वसहं कुक्कुहेणं, महिलं वलयबाहाए । गाहा-

परिअरबंधणेणं भडं, जाणेज्जा महिलियं निवसणेणं ।  
सित्थेण दोणपागं, कविं च एक्काए गाहाए ॥

से तं अवयवेणं । से किं तं आसएणं ? अग्गिं धूमेणं, सलिलं बलागेणं, वुट्ठिं अब्भविकारेणं कुलपुत्तं सीलसमायारेणं । से तं सेसवं ।

से किं तं दिट्ठसाहम्मवं ? दुविहं पण्णत्तं, तं जहा सामन्नदिट्ठं च विसेसदिट्ठं च । से किं तं सामन्नदिट्ठं ? जहा एगो पुरिसो तथा बहवे पुरिसा जहा बहवे पुरिसा तथा एगो पुरिसो, जहा एगो करिसावणो तथा बहवे करिसावणा जहा बहवे करिसावणा तथा एगो करिसावणो, से तं सामन्नदिट्ठं ।

से किं तं विसेसदिट्ठं ? से जहाणामए केई पुरुसे कंचि पुरिसं बहूणं पुरिसाणं मज्झे पुव्वदिट्ठं पच्चभिजाणेज्जा अयं से पुरिसे, बहूणं करिसावणाणं मज्झे पुव्वदिट्ठं करिसावणं पच्चभिजाणिज्जा । अयं से करिसावणे । से तं विसेसदिट्ठं ।— अनुयोगद्वासूत्र, उत्तरार्द्ध, अनुमानप्रमाणवर्णन, पृ. १७२-

१७४



## ग्रन्थ - लेखकानुक्रमणिका

अकलङ्क २०, २१, २५, २६, २९, ३०, ३२, ३५,  
 ३६, ३७, ४२, ४५, ४६, ४७-५१, ५३, ५४, ५५,  
 ५८, ५९, ६१, ६२, ६३, ६४, ६६, ७६, ७९, ८०,  
 ८१, ८२, ८४, ८६, ८७, ८९, ९०, ९४, १०४,  
 १२९-१३२, १३४-१३६, १३८, १४०, १४१,  
 १४२, १४९-१५५, १६१, १७८, १७९, १९२,  
 १९८, १९८, १९९, २००, २०१, २०५, २०७  
 २११, २१२, २१४, २१८, २२३, २२४, २२६,  
 २३०, २३८, २३९, २४०, २४३, २४४, २४५,  
 २५२, २५४, २६०, २६१, २६२, २६३, २७०,  
 २७५, २७७, २७८, २८३, २८४, २८५, २८७,  
 २८९, २९१, २९३, २९४, २९७, २९८, २९९,  
 ३०४, ३०६, ३०७, ३११, ३१२, ३१८, ३१९,  
 ३२२, ३२३, ३२९, ३३३, ३३४, ३३५, ३३६,  
 ३४०, ३४१, ३४२, ३५६, ३५८, ३५९, ३६०,  
 ३६६, ३६७, ३६८, ३६९, ३७०, ३७१, ३७२,  
 ३७५, ३७८, ३८०, ३९६  
 अकलङ्कग्रन्थत्रय (प्रस्तावना) ६, १९, २६, ४७,  
 २२७, २८५, ३५६  
 अद्वैतबिन्दुप्रकरण २९  
 अनन्तलाल ठाकुर २९  
 अनन्तवीर्य २५, २६, ४७, ५०,  
 ५१, ५४, ५५, ६२, ६३, ६६, २२४, ३५६  
 अनुपलब्धिरहस्य २९  
 अनुमान-प्रमाण २१४  
 अनुयोगद्वारसूत्र ५, ३०, ३१, ३२, ३३,  
 ७७, ७८, २१२, २२०(२), २९०, ४१९  
 अनेकान्तजयपताका ३१, ३३, ३६, ४३, ४६,  
 ६२, ३५६  
 अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका ६१  
 अपोहप्रकरण २३, २९

अपोहसिद्धि (रत्नकीर्ति) २९, ३५१  
 अभयदेवसूरि ३९, ४७, ५४, ५६, ५७,  
 ६२, ६३, ६६, ७६, ७७, ८०, ८७, ९४-९९,  
 १३१, १४३, १६३-१७९, १८४, १८७, १८८,  
 १९२, १९३, १९४, १९६, २०६, २१४, २२३,  
 २२४, २२९, २३०, ३४०, ३४१, ३४४, ३४५,  
 ३५६, ३६८, ३७३  
 अभिधर्मकोश (सभाष्य) ७, ११, १२३, १३९  
 अभिधर्मकोशमर्मप्रदीप १६  
 अभिधर्मकोशाख्या १११  
 अभिधर्मपिटक ७, १४४, १४५, १४८  
 अभिधर्मसमुच्चय ३६  
 अभिनवधर्मभूषण ६१  
 अभिसमयालङ्कारिका १०  
 अर्चट (धर्माकरदत्त) १३, १५, २२, २३, २४,  
 २५, २८, ५४, ६५, ८९  
 अर्थशास्त्र (कौटिलीय) २, ४  
 अविद्धकर्ण २७  
 अष्टपाहुड ३५  
 अष्टप्रकरण १४  
 अष्टशती ४२, ४७, ४८, ५३, ७९,  
 ८७, ८९, १८३, ३१८  
 अष्टसहस्रिका प्रज्ञापारमिता १६  
 अष्टसहस्री २५, ४२, ५१, ५२, ५३,  
 ६२, ७८, ७९, ९०, ९१, १८३, २०९, ३१३  
 अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरण ६१, ६२  
 अष्टाङ्गसङ्ग्रह ५  
 अष्टाङ्गहृदय ५  
 असङ्ग ७, १०, ११, १४, १५, ३६

- आगमयुग का जैन दर्शन २९, ३१, ३२, ३६,  
७७  
आचाराङ्गसूत्र ३३, १३७, २०३  
आत्मानुशासनतिलक ५८  
आदिपुराण ५८  
आनन्दवर्द्धन २२, २३  
आप्तपरीक्षा ५१, ५२, ५५  
आप्तपरीक्षालङ्कृति ५२  
आप्तमीमांसा २१, २८, ३३, ४०-४२, ४८, ५२,  
५३, ५४, ७८, १३७, १३८, २०१, ३६६  
आर्यदेव ९, १५  
आलम्बनपरीक्षा १६, १८  
आवश्यकनिर्युक्ति १३६, १९५  
आवश्यकसूत्र ४४  
इत्सिंग १९, २६  
ईश्वरकृष्ण २, ३२१  
ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी ३०९  
ईश्वरसेन १८, १९  
उई ९, १८  
उत्तराध्ययनसूत्र ३५८  
उत्पादादिसिद्धि ६१  
उदयन २५, २९६, ३२१  
उद्योतकर ५, १५, १६, १९, २०, ५३, १०९,  
२११, २९५, ३२०, ३५१  
उपायहृदय ५, ९, १०, ३२, ३३, ७७, २१२,  
२९०  
उमास्वामी (उमास्वाति) ३, २५, ३१, ३३, ३४,  
४७, ५३, ६१, ६५, ७७, ७८, १२९, १३४, १३६,  
१३९, १४०, २०७, २९०, ३१८  
एकीभावस्तोत्र ५५, ५६  
एम्बारकृष्णमाचार्य २९  
ऐयास्वामी शास्त्री १८  
कठोपनिषद् ३२१  
कणाद ४, २३९, २४३, २९४  
कथावत्युप्पकरण ७  
कपिल ४, ३३५  
कमलशील १३, १४, १५, २२, २६, २७, ४५,  
५४, ५६, ५७, ६८, ७५, १०६, ११२, ११५,  
११६, ११८, ११९, १२०, १२१, १२५, १२७,  
१२८, १४३, २०८, २०९, २१०, २१५, २७१,  
२९०, २९७, ३३१, ३३९, ३६५  
कर्णकगोमी २१, ४७  
कार्यकारणभावसिद्धि २९  
कालमेघ ५  
काश्मीर की तांत्रिक परम्परा : साहित्य, दर्शन  
और साधना ३०९  
किकियाये ९  
किरणावली ३२१  
कीथ १८  
कुन्दकुन्द ३३, ३५, ६२, ६३, १३७, २०३  
कुमारनन्दी २८, ४६, ६२, २२३, २७६  
कुमारिल भट्ट ६, १५, १६, १९, २०, ३९, ४०,  
४७, ५३, ५५, ५६, ७०, ७१, ८८, ११२, ११३,  
२०४, २३८, २६१, ३०९, ३४०, ३४२, ३४३,  
३४४, ३४५, ३५१  
कुलभूषण २८  
केशवमिश्र ७८, २१३, २१६, २१९, २३४, २७४  
कैलाशचन्द्र शास्त्री ३६, ४०, ४७, ५८

कोट्याचार्य ४४	जयन्त भट्ट २०, २५, २१३, २३४, २५५, २६१,
कौटिल्य २, ४	२९६, ३०५, ३०६, ३०९, ३२१, ३४०
क्रियाकलापटीका ५८	जयराशि भट्ट ३, ५३, १०९
क्षणभङ्गसिद्धि २३, २४, २७, २८, २९	जयसिंहदेव ५५
क्षणभङ्गाध्याय २९	जल्पनिर्णय ४६
खण्डखण्डखाद्य ३	जितारि २७, १२५
गंगानाथ झा २६	जिनदासगणि १३९
गङ्गेश १३, २०४, २५६, २६१,	जिनभद्रगणि ३२, ४४, ६२, ६३,
२६९, ३२०	१२९, १३१, १३४, १३६, १३८, १४०, १४१,
गणेशीलाल सुथार ३२१	१४२, २०७, ३८०
गद्यकथाकोश ५८	जिनमित्र १९, २२, २३
गन्धहस्तिभाष्य ४०	जिनविजय (मुनि) २५, २८
गुणमति १९	जिनसेन ५८
गुणरत्नसूरी ६१	जिनेन्द्रबुद्धि ११, १७, १८, ६९,
गृह्यपिच्छ ३४, २७५	११०, १२१, २७०, २९१, ३४०
गोविन्दचन्द्र पाण्डे ३५१	जिनेश्वरसूरी ५६, ६१
गौतम (अक्षपाद) ४, ५, १०, १२, १३, १५,	जीत अभिनन्दन ग्रन्थ २०३
२१०, २७५, २७६, २८२, २८४, २९०, ३२०	जीवसिद्धि ४०
चतुःशती २७, २८, १४७	जुगलकिशोर मुख्तार ३६, ४०, ४७, ५८
चतुरविजय ४४	जैकोबी ३६
चन्द्रपाल १९	जैनतर्कभाषा ६१, १४०
चन्द्रोदय ५८	जैन तर्कशास्त्र में अनुमान विचार २१४, २३८,
चन्द्रसेनसूरी ६१	२७२, २७५, २८५
चन्द्रानन्दवृत्ति १७	जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन ४०
चरकसंहिता ४, ५, ९	जैनन्याय ४०, ४५
चारुकीर्ति ५५	जैन न्याय का विकास ३०
छान्दोग्योपनिषद् ४	जैन भाषा दर्शन १०७, १०८
जगन्नाथ उपाध्याय २६	जैन साहित्य और इतिहास पर विशद
जम्बूविजय (मुनि) १७, १८, २२, ४०, ४३, ४५	प्रकाश ३६, ४०

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास ५६

जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश २०५

जैमिनि ४

ज्ञानबिन्दु ६१

ज्ञानमित्र १९

ज्ञानश्री भद्र २२

ज्ञान श्री मित्र १३, २३, २९, ६६

टुबियंस्की १८

तत्त्वचिन्तामणि १३, २५६

तत्त्वबोधविधायिनी (सन्मतितर्कटीका) १६,

३९, ५६, ५७, ८०, ८६, ९४-९९, १६३-१७८,

१७९, १९५, १९६, २१४, २२९, २३०, ३४४,

३४५, ३७३, ३८९, ३९०, ३९१, ४०४-४१४

तत्त्वसङ्ग्रह २६, २७, ४५, ४६, ६५,

६६, ७५, १०५, १०६, ११२, ११५, ११६,

११७, ११९, १२०, १२५, १२७, १७९, १८३,

२०३, २०९, २१३, २१५, २२३, २२४, २२५,

२२६, २३१, २७१, २७२, ३०९, ३११, ३३१,

३३२, ३३८, ३३९, ३४१, ३४४, ३४५, ३५४,

३६५

तत्त्वसङ्ग्रहपञ्जिका १६, २६, २७, ४५, ७५,

७६, १०६, ११६, ११७, ११८, ११९, १२०,

१२१, १२२, १२७, १२८, २०९, २१०, २१५,

२५९, २७१, २९०, २९७, ३३१, ३३७, ३३८,

३३९, ३४०, ३४४, ३६४, ३६५

तत्त्वार्थभाष्य (तत्त्वार्थाधिगमभाष्य) १३६,

१४०, ३१९

तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक) १६, ३५, ४६,

४७, ५३, ५४, ६९, ७७, ७९, ८२, ८७, १२९,

१३०, १३५, १३६, १४९, ३९६

तत्त्वार्थवृत्ति ५८

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ३४, ४६, ५२, ५३, ८०,

८३, १४१, १४२, २१४, २२०, २२६, २२८,

२३९, २४६, २६३, २६४, २७८, २९९-३०१,

३१२, ३१४, ३२४, ३४३, ३७१, ३८५, ३८७,

३९९, ४००, ४०१

तत्त्वार्थसूत्र ३, ३३, ३४, ३५, ४७,

५३, ६७, ७७, ७८, १२९, १३४, १३७, १३८,

१३९, २९०, २९३, ३१८, ३१९, ३५७, ३५८,

३६८

तत्त्वोपप्लवसिंह ३

तन्त्रयुक्तिविचार ५

तर्कताण्डव ३२२

तर्कभाषा (केशवमिश्र) ६८, ७८, २१३, २१६,

२१९, २३४, २५५, २५६, २७४, ३६७

तर्कभाषा (मोक्षकरगुप्त) २९, ७५, २३५,

२३७, २७४, २८४, ३१०, ३५३

तर्कशास्त्र ११, १२

तात्पर्यनिबन्धटिप्पण २४

तार्किकरक्षा ३२०

त्रिकालपरीक्षा १६

त्रिपिटक ७

त्रिलक्षणकदर्शन ४५, २२३, २२४

त्रिलोचन २९

दरबारीलाल कोठिया ४०, ५१, ५५, २१४,

२३८, २७२, २७५

दर्शन और चिन्तन २९, २०३

दर्शन-दिग्दर्शन १०, १५, १९, २०

दलसुखमालवणिया ७, २०, २१, २४, २७,

२९, ३१, ३२, ३३, ३६, ३७, ३८, ४०

दशवैकालिकनिर्युक्ति ३२, २७४, २७५

दासगुप्ता १४

दिङ्नाग ३, ५, ६, ११, १२-१९,

२०, २६, ३०, ३६, ३८, ४०, ४३, ४४, ४५, ४७,

५४, ६४, ६५, ६८, ६९, ७०, ७३, ७५, ८२, १०९,

११०-११२, ११६, ११७, १२१-१२६, १४३,

१४४, १४५, १४८, १४९, २०४, २०५, २११,

२१२, २१३, २१४, २१५, २१७, २१८, २२०,

२७०, २७६, २८२, २९०, २९१, २९७, ३१०,

३११, ३३१, ३३२, ३३८, ३४०, ३४१, ३४२,

३४५, ३४७, ३५६, ३६४, ३७२

दुर्वेकमिश्र १३, १४, १५, २२, २४,

२७-२९, ६५, ७२

देवधिगणिकश्चमाश्रमाण ४५

देववाचक १३१

देवसेन ४३

देवेन्द्रबुद्धि २१, २३

द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्र ४३

द्वादशारनयचक्र (नयचक्र) ६, १५, १६, १७,

३४, ३९, ४०, ४३, ४४, ४५, ६२, ६४, ६५, १११,

१४५-१४७, २११, २१३, २१५, २२०, २७०,

३९४, ३९५, ३९६

द्वारिकादासशास्त्री २६

धर्मकीर्ति ३, ६, १३, १४, १५,

१८, १९-२८, ३६, ३८, ३९, ४०, ४३, ४४, ४७,

४९, ५३, ५४, ५५, ५७, ६०, ६३, ६४, ६५, ६९,

७१, ७२, ७३, ७४, ७५, ७६, ८८, ८९, ९०, ९३,

९४, १०२, १०६, १०९, १११-११५, ११७-

१२७, १३८, १४३, १४९, १५०, १५२, १५३,

१५४, १७६, १९३, १९७, १९९, २००, २०२,

२०४, २०५, २०८, २०९, २११, २१२, २१३,

२१५, २१७, २१८, २२०, २२१, २३४, २३५,

२४३, २४४, २४६, २४७, २५१, २५२, २५६,

२५७, २५८, २६०, २७१, २७३, २७४, २७५,

२७६, २७७, २७८, २८१, २८२, २८३, २८४,

२८६, २८७, २८९, २९०, २९५, २९७, ३०३,

३१०, ३३१, ३३२, ३४०, ३५२, ३५३, ३५४,

३५६, ३६३, ३६४, ३६८, ३७१, ३७२, ३७३,

३७५, ३७६

धर्मपाल १८, १९

धर्मभूषण २६०

धर्मोत्तमा २२

धर्मोत्तर १३, १४, २१, २२, २३,

२४, २७, २८, ३९, ४०, ५४, ५७, ६०, ६९, ७२,

७४, ७५, ८९, ९०, ९४, ९७, ९९, ११२-११५,

११८, ११९, १२३, १२५, १२७, १९९, २०४,

२०८, २०९, २१०, २१५, २१७, २२०, २२१,

२२२, २३२, २३३, २५४, २५७, २७२, २७३,

२७७, ३५३, ३६१, ३६५

धर्मोत्तरटिप्पण २४

धर्मोत्तरप्रदीप ७, ११, १४, २१, २४,

२७, २८, ४२, ७३, ११४, ११५, १२२

धवला ७७, १२९

ध्वन्यालोक २२

नन्दीचूर्णि १३६

नन्दीसूत्र ३०, ३१, ३२, ७७,

१२९, १३०, १३१, १३४, १३६, १३९, १४०,

१४१, १४२, १९५, २९०

नयप्रवेश ४८, ४९

नरेन्द्रसेन ६१

नागदत्त १५



नागदत्त १५  
 नागसेन ७, २०३  
 नागार्जुन ३, ५, ७, ८, ९, १५, २७,  
 ४०, १०९  
 नाथूराम प्रेमी ४७, ५८  
 नियमसार ३३, ३५, ७८  
 नियमसार तात्पर्यवृत्ति १३७  
 न्यायकन्दली १९५, २९६, ३०९, ३४०  
 न्यायकुमुदचन्द्र ४९, ५६, ५७, ५८, ५९,  
 ६२, ७८, १७९, १८२, १८७, १९५, १९६,  
 १९८, २३०, २५९, २६४, २६५, २८०,  
 ३०२-३०४, ३१४, ३१५, ३२५, ३३७, ३४५,  
 ३४६, ३४८, ३४९, ३५०, ३७४, ३७५, ३७६,  
 ३७७, ३७८, ४१४, ४१७  
 न्यायदीपिका ६१, २६०  
 न्यायप्रवेश १६, १८, १९, ४६, ७५,  
 २१०, २१८, २२०, २७४, २७६, २७७, २८१,  
 २८२, २८४  
 न्यायप्रवेशवृत्ति १९  
 न्यायबिन्दु ३, ४, २०-२२, २३, २४, २८, ६७,  
 ७५, १११, ११२, ११७, ११८, १२५, १२६,  
 १५८, १७४, १९९, २१३, २१५, २१७, २१८,  
 २२०, २३४, २३५, २३६, २३७, २४३, २५६,  
 २५७, २५८, २७१, २७२, २७३, २७४, २७६,  
 २७७, २८१, २८२, २८३, २८४, २८५  
 न्यायबिन्दुटीका २२, २३, २४, २८, ६९, ७२,  
 ७४, ७५, ९१, ९३, ९४, ९५, ९६, १०१, ११२-  
 ११५, ११८, ११९, १२३, १२५, १२७, १५८,  
 १७४, १८०, १८१, २०८, २१०, २१५, २१७,  
 २२०, २२२, २३०, २३२, २५४, २५७, २७०,  
 २७२, २७३, २७७, ३०२, ३५३, ३५५, ३६५

न्यायबिन्दुटीकाटिप्पणी २४, ११४  
 न्यायबिन्दुपिण्डार्थ २२  
 न्यायबिन्दुपूर्वपक्षसंक्षेप २२, २७  
 न्यायभाष्य १, २, ३, ५, २१०, २१७,  
 २७५, ३२०  
 न्यायमञ्जरी २१९, २५५, २५६,  
 २९६, ३०५, ३०९, ३२१, ३४०  
 न्यायमुख (न्यायद्वार) १६, १८, १२२  
 न्यायरत्नाकर २५६  
 न्यायवार्तिक ५, १६, १७, १९, २०,  
 ५३, ११०, २११, २१९, २९५, ३२०  
 न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका १६, ८८, २९६,  
 ३०९, ३२०, ३४०, ३५४  
 न्यायवार्तिकतात्पर्यपरिशुद्धि ३२१  
 न्यायविनिश्चय ४५, ४७, ४९, ५०, ५१,  
 ५५, ६४, १३१, १३८, १४९, १६१, १९७,  
 २००, २१२, २१५, २१८, २२३, २२४, २२६,  
 २६३, २७७, २८४, २८५, ३१८, ३२३, ३४२,  
 ३४३, ३५८, ३५९, ३६०, ३६८, ३७०, ३७८,  
 ३७९, ३९७  
 न्यायविनिश्चयविवरण २६, ५०, ५५, ५६,  
 १३२, १५१, १९७, १९८, १९९, २००, २०१,  
 २१९, २८३, २८४, ३५६, ३६८, ३७२, ३७३,  
 ४०१, ४०२, ४०३  
 न्यायसार २८६  
 न्यायसूत्र ४, ५, ८, १२, १३, १५, ३४, १२१,  
 १९५, २१०, २१२, २१६, २७६, २८२, २८४,  
 २८६, २९०, २९५, २९६, ३२०, ३३३  
 न्यायागमानुसारिणी १६, ४३, ४४, १४६,  
 ३९४

न्यायावतार ३०, ३१, ३३, ३५, ३६-३९, ४९,  
६२, ६४, ६५, ७९, ८३, २०५, २०९, २११,  
२१३, २१४, २१५, २१८, २२०, २२२, २७१,  
२७३, २७५, २७६, २७७, २७८, २८३, २८४,  
२९०, २९४, ३६६

न्यायावतारवार्तिक (न्यायावतारसूत्रवार्तिक)  
३८, ३९, ७९, ८१

न्यायावतारविवृति ३८, ३९, ८३, ९३, ९४,  
१२९, ३८६, ३८७

पञ्चास्तिकाय ३५

पत्रपरीक्षा ५१, ५२, २७५

परमार्थ (चीनी लेखक) ११, १२, १८

परलोकसिद्धि २३

परीक्षामुख ५४, ५५, ५८, ५९, ६२,  
६८, ७९, ८१, १०७, १३१, १३३, १३४, १३८,  
१९१, १९९, २१०, २१२, २१४, २१६, २१७,  
२१८, २२३, २३२, २३७, २३८, २४०, २४३,  
२४६, २५०, २५१, २५२, २५५, २६०, २६१,  
२६२, २७२, २७५, २७८, २७९, २८३, २८४,  
२८५, २८७, २९१, २९४, ३०८, ३१९, ३३३,  
३५७, ३५८, ३६२, ३६६, ३६७, ३६८, ३८२,  
३८३

पात्रस्वामी (पात्रकेसरी) २७, ३०, ३८, ४५, ४६,  
६२, ६३, ६६, २२३, २२४

पार्थसारथिमिश्र ७०, ८८

पार्श्वदेवगणि १९

पार्श्वनाथ ३०

पार्श्वनाथचरित्र ५५, ५६

पूज्यपाद देवनन्दी ३४, ४०, ४७, ५८, १२९,  
१३०, १३५, १३६, १४०, १४१, २०७, ३७८

पुण्यविजय (मुनि) २४

पुरन्दर २७

प्रकरणपाद १४४

प्रकरणार्थवाचा १०

प्रज्ञाकरगुप्त ३, १३, १५, २१, २३,  
२४, २५, २६, ३९, ४७, ५३, ५४, ५५, ६९, ७२,  
१०२, ११५, ११७, १२५, १४३, १४९, १७१,  
२०२, २५०, २६६

प्रज्ञागुप्त २६

प्रज्ञापनासूत्र ३६८, ३७८

प्रद्युम्नसूरि ५६

प्रभाकर १५, ५५, ८८

प्रभाचन्द्र २२, २५, ४७, ४९, ५१,

५४, ५५, ५६, ५७, ५८, ५९, ६०, ६२, ६३, ६६,  
७६, ७८, ७९, ८०, ८५, ८६, ८७, ८९, १०४,  
१०७, १३१, १३३, १४३, १७९-१९३, १९५,  
१९६, २०५, २०६, २२३, २२४, २३०, २३९,  
२४०, २४५, २४६, २४८, २५०, २५१, २५२,  
२५३, २५८, २५९, २६२, २६४, २७०, २७४,  
२७८, २७९, २८०, २८४, २८७, २८८, २८९,  
२९७, ३०१-३०५, ३०७, ३१४, ३१५, ३१७,  
३१८, ३२२, ३२५-३२७, ३२८, ३२९, ३३४,  
३३६, ३३७, ३४०, ३४१, ३४५, ३४६, ३४९,  
३५०, ३५६, ३५९, ३६८, ३७४, ३७५, ३७६

प्रभामित्र १९

प्रभावकचरित ४३

प्रमाणद्वित्वसिद्धि २४

प्रमाणनयतत्त्वालोक २, ३२, ३५, ५९-६०, ६२,  
७९, ८०, ८१, १०५, १३१, १३२, १३४, १३५,  
१३६, १३७, १४१, १४२, १४३, १९३, १९९,  
२०६, २१२, २१४, २१६, २१७, २१८, २२३,

२३७, २३८, २४२, २४३, २४७, २५१, २५२,  
२५५, २६०, २६२, २७१, २७३, २७५, २७६,  
२७८, २७९, २८२, २८३, २८४, २८५, २९०,  
२९४, ३०८, ३१९, ३३२, ३३३, ३५७, ३५८,  
३५९, ३६६, ३६७, ३८२, ३८३

प्रमाणनिर्णय २, ५६

प्रमाणपरीक्षा २, ३०, ४५, ४६, ५१-५३, ७८,  
९१, १३१, १३२, १३४, १५८, १५९, १६०,  
२१२, २१४, २१६, २२३, २२४, २२७, २२८,  
२३९, २७६, २९४, ३०७, ३१२, ३१३, ३१९,  
३२४, ३६१, ३६६, ३६७, ३८६, ४००, ४०१

प्रमाणप्रमेयकलिका ६१

प्रमाणप्रवेश ४८

प्रमाणमीमांसा (भाषाटिप्पण) २८९, २९५

प्रमाणमीमांसा (सवृत्ति) २, ४५, ६०, ६१, ७८,  
७८, ८०, ८६, ८८, ८९, १०७, १३१, १३३,  
१३४, १३५, १३६, १३७, १३८, १३९, १४१,  
१४२, १८२, २०२, २१०, २१२, २१४, २१६,  
२१९, २२१, २२२, २२३, २२४, २३१, २४३,  
२४८, २४९, २६०, २७२, २७३, २७५, २७८,  
२९४, ३०५, ३०८, ३११, ३१८, ३१९, ३२९,  
३३०, ३५७, ३६८

प्रमाणवार्तिक ६, १४, १८, १९-२३,

२५, २७, ३८, ५३, ५५, ६३, ६४, ६८, ६९, ७१,  
७२, ७३, ७४, ७६, ९३, १०२, १०६, १०७,  
११२, ११३, ११४, ११७, १२१, १२२, १२३,  
१२४, १२६, १२७, १४९, १५२, १५३, १५७,  
१६०, १७०, १७३, १७४, १७६, १७७, १७८,  
१८०, १८२, १८५, १८९, २००, २०२, २०८,  
२०९, २११, २१९, २२८, २३४, २३५, २३६,  
२४६, २४७, २५५, २५६, २५८, २५९, २७४,  
२९०, २९५, २९७, ३०३, ३०६, ३११, ३२५,

३२६, ३२९, ३३१, ३३२, ३३६, ३४०, ३५३,  
३५४, ३५५, ३५६, ३६४, ३६५, ३६६, ३७२,  
३७४, ३७५, ३७६, ३८४, ३९९, ४००, ४१२  
प्रमाणवार्तिक (मनोरानन्दवृत्ति) ११३, १२४,  
२११, ३४०, ३५४, ३५६

प्रमाणवार्तिक (स्ववृत्ति) २१, २४५, २५१,  
२५२, ३३२

प्रमाणवार्तिकभाष्य (प्रमाणवार्तिकालङ्कार) २,  
३, २१, २२, २५, २६, ५५, ६९, १०२, ११५,  
११७, १२५, १४९, १७१, २०२

प्रसाणविध्वंसन ९

प्रमाणविनिश्चय २, २०, २२, २३, ४९

प्रमाणविहेठन ९

प्रमाणसङ्ग्रह (सवृत्ति) २, ४७, ५०, ५१, ५४,  
९०, १३१, २१८, २२३, २३७, २३८, २४०,  
२६०, २६२, २९७, २९८, ३१९, ३३३, ३३६

प्रमाणसङ्ग्रहभाष्य ५१, ५४

प्रमाणसमुच्चय २, ५, १३, १६-१८,  
१९, २०, २७, ६९, ७५, ११०, १११, ११७,  
१२३, १२४, १४८, १८३, १९९, २११, २१३,  
२१५, २२०, २८२, २९०, २९१, २९७, ३१०,  
३३८, ३५४, ३५६, ३६४

प्रमालक्ष्म ६१

प्रमेयकण्ठिका ५५

प्रमेयकमलमार्तण्ड २२, २५, ५५, ५६, ५७,  
५८, ५९, ६०, ६२, ६८, ७८, ८६, १०७, १३३,  
१७९, १८६, १८७, १८८, १८९, १९०, १९२,  
१९३, २३०, २४७, २५०, २५१, २५२, २५३,  
२८०, २८४, २८८, २८९, २९२, ३०२, ३०४,  
३१६, ३२५, ३२६, ३३७, ३४६, ३४७, ३४९,  
३५०, ३५६, ३६७, ३७४, ३७५, ३७६, ३७७,

- ३७८, ४१७  
 प्रमेयरलमाला ५२, ५४, ५५  
 प्रमेयरलालङ्कार ५५  
 प्रवचनप्रवेश ४८, ४९  
 प्रवचनसार ३५  
 प्रवचनसारसरोजभास्कर ५८  
 प्रशस्तपाद ५, २१३, २९४  
 प्रशस्तपादभाष्य ५, १९५, २०४, २१३, २१९,  
 २८४, २८५, २९४, २९५, ३२१, ३३१  
 प्रामाण्यपरीक्षा २३  
 फूलचन्द्र शास्त्री ३५  
 बलदेव उपाध्याय १५  
 बलिरामशुक्ल २१४  
 बुद्धभद्र ९  
 बुद्धानन्द ४३, ६४  
 बेचरदासदाशी ३६, ५६  
 बोधिसत्त्वचर्यानिर्देश १०  
 बौद्धदर्शनमीमांसा १५  
 बौद्धविज्ञानवाद : चिन्तन एवं योगदान १४  
 ब्रह्मसूत्र ४, २९५  
 भगवतीसूत्र (व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र) ३०, ३१,  
 ७७, १२९, २९०  
 भद्रबाहु ३२, १२९, २७४  
 भर्तृहरि १९, ४३  
 भारतीय दर्शन में अनुमान २१३, २१७, २७४  
 भारतीय विद्या, भाग-३ ३६  
 भाविविक्त २७  
 भासर्वज्ञ २९, ५५, २८५, ३२१  
 मण्डनमिश्र ५५  
 मध्यमकालङ्कारग्रन्थ २७  
 मनुस्मृति १, ३२१  
 मनोरथनन्दी २१, २३, २६, ७२,  
 ७४, १०६, २११, ३५४, ३५६  
 मलधारी हेमचन्द्र ४४  
 मल्लवादी क्षमाश्रमण ६, १५, १६, २४, ३०,  
 ३३, ३६, ३८, ३९, ४२, ४३, ४४, ६२, ६३, ६४,  
 ६५, १४३-१४८, १४९, १५३, २०५  
 मल्लिषेणसूरि ६१  
 महापुराणटिप्पण ५८  
 महाभारत ३३  
 महायानोत्तरतन्त्र १०  
 महेन्द्रकुमारन्यायाचार्य ६, १९, २५, ४७, ४८,  
 ५६, ५७, ५८, २८५  
 महेश तिवारी ११  
 माइल्लधवल ४३  
 माणिक्यनन्दी ४७, ५४, ५५, ५८, ५९,  
 ६०, ६२, ७६, ७९, ८१, ८४, ८७, ८९, १०७,  
 १३१, १३२, १३३, १३४, १३८, २१२, २१४,  
 २१६, २१७, २१८, २२३, २३२, २३८, २३९,  
 २४०, २४२, २४३, २४४, २४५, २४६, २५०,  
 २५१, २५२, २६०, २६१, २६२, २७२, २७४,  
 २७५, २७८, २७९, २८०, २८१, २८३, २८४,  
 २९४, ३०७, ३०८, ३१९, ३५८, ३५९, ३६१,  
 ३८२, ३८३  
 माथुरीपञ्चलक्षणी २५६  
 माध्यमिककारिका ८, २७  
 मिरनोव १८  
 मिलिन्दपण्ह ७, २०३  
 मीमांसासूत्र ४

मुनिनथमल (सम्प्रति आचार्य महाप्रज्ञ) ३०  
 मैत्रेय १०  
 मोक्षाकरगुप्त १३, २९, ७५, २३५, २३७,  
 २७४, २८४, ३११, ३५३  
 यमारि २१, २३  
 यशोधरचरित ५६  
 यशोविजय ६१, ६२, १४०, २०७  
 युक्तिदीपिका ५  
 युक्तिषष्टिका ८  
 युक्त्यनुशासन ४०, ४१, ५२  
 युक्त्यनुशासनालङ्कार ५२  
 योगसूत्र २९५  
 योगसेन २७  
 योगाचारभूमिशास्त्र १०, ११  
 रत्नकरण्डटीका ५८  
 रत्नकरण्ड श्रावकाचार ४०  
 रत्नकीर्ति १३, २९, ६६, ३११, ३४०, ३५१  
 रत्नकीर्तिनिबन्धावलि ३११, ३४०  
 रत्नप्रभाचार्य ६०, २३१, २६०  
 रत्नाकरावतारिका ६०, २३१, २६०  
 रविगुप्त २१, २३  
 राजप्रश्नीय सूत्र ३०, ३१, १२९  
 रामायण ३३  
 राहुल सांकृत्यायन १०, १५, १९, २०, २२,  
 २४, २५, २७  
 लक्षणकार २७  
 लघीयस्त्रय ४७, ४८, ४९, ५१, ५८,  
 ५९, ८०, ८९, १३२, १३४, १४१, १४२, १४९,  
 १९९, २१२, २१५, २२६, २३८, २४५, २५४,

२६२, २९१, २९३, २९४, ३१२, ३१८, ३१९,  
 ३२३, ३३३, ३३४, ३३५, ३५७, ३६०, ३६१,  
 ३६७, ३६९, ३७०, ३९७  
 लघीयस्त्रयवृत्ति ६८, ८०, ८१, ८९, ९०, ९४,  
 १३४, १३८, २००, २३८, २४५, २५५, २६३,  
 २९३, २९४, ३११, ३१२, ३१८, ३३४, ३३५,  
 ३६०, ३६७, ३६८, ३६९, ३७०, ३९६, ३९७  
 लघुअनन्तवीर्य ५५, २४०  
 लामा तारानाथ २४  
 वरदराज ३२०  
 वर्धमानसूरि ५६  
 वसुबन्धु ७, १०, ११, १४, १५,  
 १६, १७, १९, २६, ४३, ४५, ६४, १०९, ११०  
 वसुरात ४३  
 वाक्यपदीय ११६, ३३८, ४०३  
 वाचस्पतिमिश्र १४, २०, २९, २०४,  
 २६१, २९६, ३०९, ३२१, ३४०, ३५१, ३५४  
 वाचस्पति मिश्र द्वारा बौद्धदर्शन का विवेचन १४  
 वात्स्यायन १, ३, ५, १५, २१०,  
 २१६, २१७, २७५, २७६, २९६, ३२०  
 वादकौशल ११  
 वादन्याय (जैन) २८, ४६, २८७  
 वादन्याय (बौद्ध) २०, २२, २३, २६, २७, ४६,  
 २५९, २८६, २८७, २८८  
 वादमहार्णव ५७  
 वादमार्ग ११  
 वादरायण ४  
 वादविधि ११, १०९, ११०, १२१  
 वादिदेवसूरि (देवसूरि, वादिदेव) २९, ४७, ५२,  
 ५४, ५७, ५९, ६०, ६२, ६३, ६६, ६७, ७६, ८०,

८१, ९९-१०३, १०४, १०७, १०८, १३१,  
 १३२, १३४, १३५, १४०, १४१, १४२, १४३,  
 १९३-१९६, २०१, २०७, २१२, २१४, २१६,  
 २१७, २१८, २२३, २२४, २३०, २३८, २३९,  
 २४०, २४२, २४३, २४४, २४५, २४६, २४७,  
 २४८, २५०, २५१, २५२, २६०, २६२, २६५,  
 २६६-२७०, २७१, २७२, २७३, २७४, २७५,  
 २७८, २७९, २८०, २८१, २८३, २८४, २९४,  
 २९७, ३०२, ३०३, ३०५, ३०७, ३०८, ३१४,  
 ३१७, ३१९, ३२२, ३२७-३२९, ३३२, ३३४,  
 ३३६, ३४१, ३५६, ३५९, ३६२, ३६७, ३८२,  
 ३८३, ३९२  
 वादिराज २६, ४७, ४९, ५१, ५०,  
 ५५, ५६, ६२, ६३, ६६, १३२, १४३, १६१-  
 १६३, १९७, १९८, १९९, २००, २१९, २८१,  
 २८३, ३५६, ३६८, ३७२, ३७३, ३७८, ४०१  
 वार्षगण्य ४३  
 विग्रहव्यावर्तनी ३, ८, ९  
 विजयलब्धिसूरीश्वर ४३, ४४  
 विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि ११  
 विद्यानन्द २०, २५, ३४, ४२,  
 ४६, ४७, ५१-५४, ५५, ६२, ६३, ६६, ७६, ७८,  
 ७९, ८२, ८३, ८७, ९०-९३, १०४, १३१, १३२,  
 १३४, १४०, १४१, १४२, १४३, १५३-१६१,  
 १७८, १७९, १८१, १८४, १८७, १८८, १९२,  
 १९३, १९४, २०५, २०६, २०७, २०९, २१२,  
 २१४, २१५, २१६, २२३, २२४, २२६, २२७,  
 २२८, २३०, २३९, २४०, २४४, २४५, २४६,  
 २४७, २४८, २६०, २६२, २६३, २६४, २७०,  
 २७५, २७८, २८७, २९४, २९७, २९९-३०१,  
 ३०४, ३०७, ३१२-३१४, ३१८, ३१९, ३२२,  
 ३२३-३२५, ३४०, ३४१, ३४३, ३५६, ३५९,

३६१, ३६६, ३६७, ३६८, ३७१, ३८५, ३८६  
 विद्यानन्दमहोदय ५१, ५२  
 विधुशेखर भट्टाचार्य १८  
 विनीतदेव २२, २३, ११४, ११८, १२७  
 विपश्चितार्थटीका २३, २७  
 विमलदास ६१  
 विशालामलवती (प्रमाणसमुच्चयटीका) १७,  
 १८, ६९, ७०, ११०, १११, १२३, २७०, २९१,  
 ३४०, ३५३  
 विशेषाख्यान २७, २८  
 विशेषावश्यकभाष्य ४४, १२९, १३६, १३८,  
 १४०, १४२, १९५  
 वेद ३३  
 वेदान्तपरिभाषा २१३  
 वेदान्तसार ३६६  
 वैदल्यसूत्रप्रकरण ८, ९  
 वैशेषिकसूत्र ४, ५, १७, १८, २४३,  
 २९४, ३२१  
 व्यासतीर्थ ३२२  
 व्योमवती ३२१  
 व्योमशिव २०, ५५, ३२१  
 शङ्कर २९  
 शङ्करस्वामी १६, १८, २७, ४६, ७५,  
 २१८, २२०, २७६, २८४  
 शङ्करानन्द २१, २३  
 शबरस्वामी ४०, ७१  
 शब्दाम्भोजभास्कर ५८  
 शाकटायनन्यास ५८  
 शाक्यबुद्धि २१, २३

शाङ्करभाष्य २९५

शान्तभद्र २२, २३, १९७, १९८

शान्तरक्षित १३, १४, १५, २२,

२६, २७, ४५, ५४, ५६, ५७, ६५, ६६, ७५, ७६,  
१०६, ११२, ११५, ११६, ११९, १२५, १२७,  
१२८, १४३, १४९, १७९, २०२, २०३, २०८,  
२१३, २१५, २२३, २२४, २३१, २३२, २७१,  
२७२, २७४, २९०, २९७, ३०९, ३११, ३३१,  
३३९, ३४०, ३४४, ३५३, ३६५

शान्तिवर्णी ५५

शान्तिसूरि ४, ३८, ३९, ५६, ६२, ७९

शाबरभाष्य ५, १९५

शालिकनाथ २१३

शास्त्रदीपिका ७०, ८८

शास्त्रवार्तासमुच्चय ४६, ६२

शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका ६१

शीघ्रबुद्ध १९

शीलभद्र १९

श्रीकण्ठशास्त्री ४७

श्रीदत्त ४६, ६२

श्रीधर २६१, २९६, ३०९, ३४०

श्रीनिवासशास्त्री १४

श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र ५२

श्रीहर्ष ३, १०९

श्लोकवार्तिक (मीमांसा) ६, १६, १७, १९, २०,  
५३, ६८, ७०, ७१, १०५, ११२, १२३, २३८,  
२४४, २५६, २९६, ३०९, ३४०, ३४२, ३४३,  
३४५, ३४७, ३४९

षट्खण्डागम ३०, ३१, ७७, १२९, ३१९

षड्दर्शनसमुच्चय ४६, ६१

षष्टितन्त्र १४५

सत्यशासनपरीक्षा ५२

सन्तानान्तरसिद्धि २०, २३

सन्मतितर्कप्रकरण ३५, ३६, ३९, ४०, ४३, ४४,  
४५, ५६, ५७, ६२, ९४, १६३, ३५९, ३७८

सप्तदशाभूमिशास्त्र १०, १४

सप्तभङ्गीतरङ्गिणी ६१

समदर्शी आचार्य हरिभद्र ४६

समन्तभद्र २५, ३०, ३३, ३८, ३९,

४०-४२, ४८, ५२, ५३, ६२, ६३, ७८, ७९,  
१३७, २०१, ३७९

समयसार ३३, ३५

समाधितन्त्रटीका ५८

सम्बन्धपरीक्षा २०, २२

सर्वदर्शनसङ्ग्रह १०५

सर्वार्थसिद्धि ३४, ३५, ३६, ४७, ५८, ७८,  
७९, १२९, १३०, १३५, १३६, १४१, १९५,  
३६८, ३७८

साकारसिद्धिशास्त्र २९

सागरमल जैन १०७, १०८

सांख्यकारिका ३, ६८, २१९, ३२१

सांख्यतत्त्वकौमुदी २१२, ३२१

सांख्यसूत्र ४, ५, १९५

सिंहसूरि १६, ४३, ४४, ४५, ६२, ६३, ६५,

१४३, १४४, ३९४

सिद्धर्षिगणि ३८, ३९, ६२, ६६, ७६,

८३-८५, ८७, ९३, ९४, ३८६, ३८७

सिद्धसेन १३, ३०, ३१, ३३, ३५-

४०, ४१, ४३, ४४, ४५, ४९, ५६, ५७, ६२, ६३,

६४, ६५, ६८, ७९, ८३, ९४, १६३, २०५, २०९,

२११, २१२, २१३, २१४, २१५, २१८, २२२,  
२६०, २७१, २७३, २७४, २७५, २७७, २७८,  
२८१, २८३, २८४, २९०, २९४, ३४४, ३५८,  
३६६, ३७३, ३७८, ३७९

सिद्धसेनगणि ३५, १४०, २०७

सिद्धहेमशब्दानुशासन ४३

सिद्धिविनिश्चय एवं वृत्ति ४७, ५०, ५१, ५४,  
५५, ८१, ९०, १४९, १९८, २००, २०१, २१४,  
२२६, २३८, २३९, २६१, २६२, २६३, २७८,  
२९७, २९८, ३२३, ३३५, ३४१, ३४२, ३५९,  
३६०, ३६६, ३६७, ३७१, ३९६, ३९७

सिद्धिविनिश्चयटीका २५, २६, ४७, ५०, ५१,  
५४, १५१, १९७, २००, २२४, २९८, ३४२,  
३५६, ३९६, ३९७, ३९८

सुखलाल संघवी २२, २४, २५, २७,  
२८, २९, ३६, ३९, ४०, ४६, ५६, ८९, १०७,  
१३६, १४०, २०३, २१९, २८९, २९५

सुगिउर १८

सुमति २७, ३०, ४५, ६२, ६३, ६६

सुरेश्वराचार्य ३६६

सुतागमे ३१, ३२

सुश्रुतसंहिता ४

सूत्रकृताङ्ग ३३

स्तुतिविद्या ४०

स्थानांगसूत्र ५, ३०, ३१, ३२, ७७,

२३७, २३८, २९०

स्थिरमति १९

स्याद्वादमञ्जरी ६१

स्याद्वादरत्नाकर २२, ४५, ५२, ५९,

६०, ६२, १०२, १०७, १४२, १९२, १९३,

१९६, २०१, २१४, २१९, २२४, २३०, २४५,  
२४८, २६६, २६७, २६९, २७२, २७५, २८०,  
२९२, ३०३, ३१४, ३१५, ३२७, ३२८, ३२९,  
३३७, ३५६, ३६२, ३९२, ३९३, ४१७, ४१८  
स्वयम्भूस्तोत्र ४०, ४२, ७९

स्वयूथ्यविचार २७, २८

हरप्रसाद शास्त्री २९

हरिभद्र १९, ३१, ३३, ३५, ३६,

४३, ४६, ६१, ६२, ६३, ३४०

हेतुचक्रसमर्थन १६

हेतुतत्त्वनिर्देश १२५

हेतुबिन्दु २०, २२, २५, २७, २८, २३४, २३५,  
२५६, २५७, २५९, २७८

हेतुबिन्दुटीका २२, २४, २५, २७, ६५, २१९,  
२५७, २५८, २५९

हेतुबिन्दुटीकालोक (अर्चटालोक) २२, २४,  
२७, २८

हेतुमुख १६

हेतुशास्त्र २

हेमचन्द्र ४३, ४७, ६०, ६१, ६२,

६३, ६६, ६८, ७६, ७८, ८०, ८६, ८७, ८९, १०७,  
१३१, १३३, १३४, १३६, १३८, १३९, १४०,

१४१, १४२, १८२, २०१, २०७, २१०, २१२,  
२१४, २१६, २२०, २२३, २२४, २३०, २३१,

२३९, २४०, २४३, २४४, २४५, २४८, २६०,  
२७२, २७३, २७४, २७५, २७८, २८७, २९४,

३०५, ३०७, ३०८, ३१७, ३१९, ३२९, ३३०,  
३५९, ३६८

हैनसाङ्ग १८, १९

A History of Indian Logic 1, 4, 10,  
11, 13, 15, 19, 24, 27, 36, 40, 61



- A History of Indian Philosophy 14  
 Akalaṅka's criticism of  
 Dharmakīrti's Philosophy 204, 263  
 A.N. Upadhye 36, 39  
 B.K. Matilal 2, 4  
 Buddhist Logic 6, 13, 14, 20, 22,  
 23, 24, 25, 26, 105, 114, 116, 117,  
 120, 126, 127, 213, 219, 338, 340  
 Buston 18, 20  
 Critique of Indian realism 14, 15,  
 71, 204, 339, 340  
 Dalsukh Bhai Malvaniya  
 Felicitation Volume I, 35  
 Dharendra Sharma 351  
 Dignāga, on perception 3, 16, 18,  
 110, 111, 121, 122, 123, 124, 125,  
 126, 364  
 D.N. Shastri 14, 71, 204, 340  
 Early Buddhist Theory of  
 knowledge 17  
 E. Frauwallner 15  
 G. Tucci 5, 9, 18  
 History of Buddhism 20  
 History of the Mediaeval school of  
 Indian Logic 7, 8  
 Jayatilīke 17  
 K.B. Pathak 47, 58  
 K. Kunjanni Raja 351  
 M.A. Dhaky 35  
 Massaki Hattori 15, 16, 17, 18, 110, 121  
 Nāgarjuna's Twelve Gate Treatise 8  
 Nagin J. Shah 204  
 Nathmal Tatia 137, 139, 140  
 Perception : an essay on classical  
 Indian theories of knowledge 2, 4  
 P.L. Vaidya 36  
 Pre-Dinnāga Buddhist Texts on  
 Logic from Chinese Sources 5, 9,  
 11  
 Randle 17  
 Rangaswamy Iyengar 16, 18  
 R.C. Dwivedi 5, 309  
 R.C. Pandeya 23  
 Satish Chandra Vidyabhushan 1, 4,  
 7, 11, 12, 13, 15, 18, 19, 25, 27, 36, 40,  
 47  
 Satkari Mookerjee 14, 120, 322, 351  
 Seven works of Vasubandhu 11, 109  
 Stecherbatsky 6, 13, 14, 20, 23, 24,  
 25, 26, 71, 117, 120, 126, 127, 219  
 Stefan Anacker 11  
 Studies in Jaina Philosophy 139, 140  
 Susan Haack 1  
 The Buddhist Philosophy as  
 presented in Mīmāṃsā  
 śloka-vārtika 340  
 The Buddhist Philosophy of  
 Universal flux 14, 20, 322, 338, 351  
 The Differentiation theory of  
 Meaning in India Logic 338, 351  
 The Nyāya Pravesh, as indicated  
 in न्यायप्रवेश and न्यायप्रवेशवृत्ति  
 Theory of meaning according to the  
 Buddhist Logicians 351  
 The Philosophy of Logics 1  
 Uī 9, 18

## विषयानुक्रमणिका

अकिञ्चित्कर हेत्वाभास २८५	अप्रमाण ५०
अक्ष १२९	अप्राप्यकारी १३९, १९६
अज्ञातार्थज्ञापकता ६९-७१, ७४, ७६, ७९, ८०, ८२-८८	अभिलाष १५९
अज्ञासा १३२	अभिलाषसंसर्गयोग्य ११३
अतीन्द्रियज्ञान १३४-१३७, २०१	अभ्यास १५८, १५९, १८८
अदोषोद्भावन निग्रहस्थान २८७	अभ्रान्त-भ्रान्त ७२, ७३, ९३, १००, १११, ११२, ११६-१२०, १७७, १९३, १९५
अधिपतिप्रत्यय १२४, १४३	अर्थक्रिया १०३, १०६, ११८, १६६, १६७
अध्यवसेय ७४, ९५, ९८, १००, १०१	अर्थक्रियास्थिति ७२, ८९, ९०, ९३
अनधिगत (अपूर्व) ७९, ८०, ८२-८८, ८९	अर्थप्रापकता ७२, ७४, ९१, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९-१०१, १०४, १५८
अनन्तरफल ३६६	अर्थसारूप्य (अर्थाकारता) ७५, १०५, १५८, ३८१
अनन्तरागम ३३	अर्थावग्रह १४१
अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष १३४, १३९, १९७	अर्थित्व १५८, १५९, १८९
अनियताकार प्रतिभास ११३	अवग्रह १४०, १४१, २०७
अनुगामी ७७, १३५	अवधिज्ञान १३५
अनुपलब्धि हेतु २३५, २५३, २५४, २५९	अवयव २, ५, ११, ३२, ५२, २१३
अनुमान ९, ३२, ३७, ४८, २०८, २०९, २१०, २११, २१२	अवाय १४२, २०७
अनुमान-भेद २१२, २१३, २१४	अविनाभाव २२०, २३०, २३२, के भेद २३२, २५८, २६१
अनुमानाभास २०८, २११	अविसंवादी ज्ञान (अविसंवादकता) ७१-७५, ७६, ७९, ८०, ८१, ८९-१०५, ११६, ११८, १५०, १५८, १६२, २०९
अनुमेय २७७	अव्यपदेश्य १४५
अनेकान्तवाद ४१, ४२, ४४, ६४, ६५, ९९, १०५, १४९, १५५	असाधनाङ्गवचन निग्रहस्थान २८६, २८८
अनैकान्तिक हेत्वाभास २८४, २८५	असिद्ध हेत्वाभास २८४
अन्तर्व्याप्ति २६९, २८२	आगम-प्रमाण ३३, ४१, ३३२
अन्यथानुपपत्ति ५०, २२०	आगमानुयायी १४
अपोह ३३८, के भेद ३३९, पर्युदास अपोह के २ भेद ३३९, ३४६, अपोह के अन्य भेद ३४८	
अपोहवाद ६१	

आत्मागम ३३	तत्त्वोपप्लववाद ५३
आन्वीक्षिकी १, २	तर्क २६२, २६५, ३१८-३२२
आप्तपुरुष ३३२ के प्रकार ३३३	तिर्यक सामान्य ३०८, ३५८
आलम्बन प्रत्यय १२४, १९७	त्रैरूप्य २११, २१९, २२०, २२८, २३१
इन्द्रिय-प्रत्यक्ष १२२-१२४, १३८, १३९, १८१, १९७	दर्शन १०९, १४१, १४९, १५६, १५७, १७९, २०५, २०७, ३७८, ३८३
ईहा १४१, १४२, २०७	दिगम्बर जैन सम्प्रदाय ६१, ६२, ६३
उत्तरचरहेतु २३८, २४९-२५१	दृश्य १५७, १६०
उपदर्शकता (अर्थप्रदर्शकता) ९१, ९४-९७	द्रव्य ८४, ८६, १०५, ३५८, ३६०
ऊर्ध्वता सामान्य ३०८, ३५८	द्रव्यमन १३९, १४०
एकत्व अध्यवसाय १८५, १८६, १८७, १९२	द्रव्यसद्रूप १४७
एकत्व प्रत्यभिज्ञान ३०७	द्रव्येन्द्रिय १३९, ३८०
एकार्थसमवायी हेतु २४३	धर्मज्ञता २०२
औपम्य-प्रमाण ३३	धर्मसंज्ञी १११
कल्पना ११०-११६, १४३-१४५, १४९, १५२, १५३-१५५, १६२, १६५, १७९, १८०, १८१, १८२, १८४	धारणा १४२, २०७
कारकसाकल्य ६८	धारावाहिक ज्ञान ८८, ८९
कारणहेतु २३८, २४५, २४९	नय (नयवाद) ३९, ४३, ४९, ३३३
कार्यहेतु २३५	नान्तरीयक २११
केवलज्ञान १३७	निग्रहस्थान १०, १२, २८६
क्षणिकवाद ५९, ७४, ९१, १५१, १५२, १६१	निर्विकल्पक ११०, ११२, ११४, ११५, ११७, १२७, १४९, १५०, १५४, १६०, १६४, १६६, १६७, १६८, १६९, १८१, १८२, १८३, १८५, १८६, १८८, १९०, १९२, १९४, २०४, २०५
गुण ३५९	नैमित्तिकी कल्पना १४३
गुणप्रत्यय १३५	नैरात्म्यवाद १५२
चित्राद्वैतवाद ६०	नोइन्द्रिय १३९
जाति-निरास १६७	न्याय २
ज्ञान ७, ३१, ३५, ४४, १२९, २०१, ३७८	पक्ष २१७, २७७, २७८
ज्ञानावरण १२९, १३३, १३७	

पक्षवचन २७६	प्रमाणाभास ४२, ४९
पक्षसत्त्व २१९ का खण्डन २२९, २३२ विचार २७६	प्रमाता ३८
पत्र ५२	प्रमेय १२४, १९५, ३५२, ३५७ ३६७
परमार्थसत् ७३, १४४, १४७	प्रवर्तकत्व (अर्थप्रवर्तकता) ७६, ९१, ९५, १६६
परम्परागम ३३	प्रात्ययिक ७७
परम्परा-फल ३६६	प्रापणीय (प्राह्य) ७४, ९५, १००
परस्पराश्रय दोष १६३, १८९	प्राप्यकारी १२३, १३९
परार्थानुमान १७६५, २७०-७३ के भेद २७३ के अवयव २७३	प्राप्यक्षण १६१
परोक्ष ३४, ३८, ४८, १२८, १२९	प्रामाण्य-अप्रामाण्य ५०, ७४, १०५-१०८, १६२, १८९
पर्याय ८४, ८६, १०५ गुण एवं पर्याय में भेद ३५९, ३६०	बहिर्व्याप्ति २६९, २८२
पाटव १५८, १५९, १८९	बाह्यार्थवाद ७५
पारमार्थिक प्रत्यक्ष १३४-१३८, १९७	भवप्रत्यय १३५
पूर्वचरहेतु २३८, २४९-२५१	भावना २०९
प्रकरण १८९	भावमन १३९, १४०
प्रत्यक्ष ३२, ३४, ३८, ४९, ११०, १११, १२९-१३१, १३२	भावेन्द्रिय १३९, ३८०
प्रत्यक्षानुपलम्भ पञ्चक २५९, ३२७	भ्रान्ति (भ्रम) ११८, १२०, १२२, १५२
प्रत्यक्षाभास ११७, १२१, १५२, १६३	मणिप्रभा-प्रदीपप्रभा ७३, ९२, ९३, २०८
प्रत्यभिज्ञान-स्वरूप ३०७-३०९	मन १३९
प्रमाण ५, ३१, ४१, ४२, ६०, ६१, ६३, ६८-७२, ७५, ७६-८१, ८२, १६९, १८२, ३३३	मनःपर्यायज्ञान १३६
प्रमाणद्वित्व खण्डन २९१-९३	माध्यमिक-सम्प्रदाय १३
प्रमाण-फल ४१, ७५, ७६	मानस-प्रत्यक्ष १२४, १२५, १९६, १९७, १९८, १९९
प्रमाणव्यवस्था २९१	मिथ्याज्ञान ७७, ९१, ९२
प्रमाणसंप्लव ६७, २९१	यादृच्छिकी कल्पना १४४
	युक्त्यनुयायी १४
	योगाचार ११, १३, १२०
	योगिप्रत्यक्ष १२६, १२७, २००, २०१

योग्यता ७५, ७६	सङ्केत-ग्रहण ३३६, ३४१
वाच्यवाचक भाव ११४	सत् (वस्तु) ४१, ६५, ६७, १०२
वाद-विद्या २, ३, ८, ९, ११	सत्त्वलक्षण २५९
विकल्प्य १५७	सन्तान (क्षण-सन्तान) ९५, ९७, ९८, १००, १०१
विज्ञप्तिमात्रता १४	सन्तानी ९९
विज्ञानवाद १३, १४, ६०, ७५, १५२ प्रमाण, प्रमेय एवं फल व्यवस्था ३५६	सन्निकर्ष १८३
विपक्षासत्त्व २१९	सपक्षसत्त्व २१९, कां खण्डन २२९
विरुद्ध हेत्वाभास २८४, २८५	सप्तभङ्गीवाद ४१, ६१
विरोधीहेतु २४३	समनन्तर प्रत्यय १२४, १९६
विवक्षा ३३७	समारोप १९३
वैधर्म्यदृष्टान्त ३७	सम्यग्ज्ञान ७३, ७५, ७७, ७८, ९१
वैभाषिक १३	सर्वज्ञता ३५, १३०, १३७, १३८, २०१-२०३, ३७९
वैशद्य (विशदता) ३८, १३२, १३३, १५२, १७३, १८१	सविकल्पक ८१, ११०, १५०, १५१, १५५, १५७, १६२, १६४, १६६-१७६, १७७, १८०, १८१, १८२, १८६, १८७, १९०, १९१, १९२, १९४, २०४, २०५, २०७
व्यङ्गनावग्रह १४१	सहकारी प्रत्यय १२४
व्यवसायात्मकता ७६, ७७, ९१, ९२, १०४, १५०, १५२, १५४, १५६, १५९, १६१, १८३, १८४, १९३, १९४	सहचर हेतु २५२, २५३
व्याप्ति-चर्चा २९, २५५, २५६	सांव्यवहारिक-प्रत्यक्ष ४४, ४८, १२९, १३१, १३८-१४२
शब्दार्थ-सम्बन्ध ३३४ (जैनमत) ३३८ (बौद्धमत)	साकारज्ञान १३२, ३७४, ३७५, ३७८
शून्य १४८	सादृश्य-प्रत्यभिज्ञान ३०७
शून्यवाद ८, ९, ६०	साध्य ४९, २१६ के कल्प २१७, विशेषताएं २१८
श्रुतज्ञान ३३३	सामान्य १२४, २०८, २५०, ३६२, ३६३
श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय ६१, ६२, ६३	सामान्यलक्षण ७०, ७३, ७४, ९८, १००, ३५४, ३५५
संवृतिसत्त्व ७३, ९२, ९८, १०२, १४४, १४७	
सकलप्रत्यक्ष १३७	

सामान्यविशेषात्मक २०७, ३५८, ३६१, ३६२  
 सौत्रान्तिक १३, १२०  
 स्मृति १४२, २९४  
 स्याद्वाद ४१, ४२, ६०, ६५, ६६  
 स्वपरप्रकाशकता ३५, ७८, ७९  
 स्वभाव हेतु २३५  
 स्वलक्षण ७०, ७३, ७४, ८८, ९२,  
 ९८, १००, ११४, २०७, ३५३, ३५४ का खण्डन  
 ३६१

स्वसंवित्ति ७५, ७६  
 स्वसंवेदनप्रत्यक्ष १२५, १२६, १९४, १२९  
 स्वार्थानुमान १७, ६५, २१५, २१६  
 हेतु ५, १२, ७७,  
 हेत्वाभास ९, २१९, २२८, २८३-२८६



## सहायक ग्रंथसूची

जैन-ग्रंथ (संस्कृत- प्राकृत)

अकलङ्ककग्रंथत्रय (न्यायविनिश्चय

प्रमाणसङ्ग्रह, लघीयस्त्रय)

अनुयोगद्वारसूत्र

अनेकान्तजयपताका (भाग-२)

अष्टशती, अष्टसहस्री

अष्टसहस्री (भाग-१)

आप्तपरीक्षा

आप्तमीमांसा

उत्तराध्ययनसूत्र

उत्पादादिसिद्धि

तत्वबोधविधायिनी (सन्मतितर्कटीका)

तत्त्वार्थवार्तिक

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (भाग-२ एवं ३)

तत्त्वार्थसूत्र

तत्त्वार्थाधिगमभाष्य

द्वादशारनयचक्र (भाग-१)

सम्पा. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, सिंधी जैन ग्रन्थमाला १२, अहमदाबाद-कलकता, १९३९

आर्यरक्षित, उपाध्याय आत्मारामजी महाराज, लाला मुरारी लाल चरणदास जैन, पटियाला स्टेट, १९३१

हरिभद्रसूरि, गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा, १९४७

सम्पा. बंशीधर, रामचन्द्र नाथारंग जी गांधी, अकलूज सोलापुर, १९१५

अनु. ज्ञानमती माताजी, दिगम्बर जैन त्रिलोकशोध संस्थान, हस्तिनापुर, १९७४

विद्यानन्द, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, १९४९

समन्तभद्र, श्री गणेशवर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, वाराणसी, १९७५

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, १९८९

चन्द्रसेनसूरि, ऋषभदेव केशरीमल संस्था, रतलाम, १९३६

अभयदेवसूरि, सम्पा. पं. सुख लाल संघवी एवं बेचरदास-दोशी, गुजरात विद्यापीठ, गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर, अहमदाबाद

अकलङ्क, सम्पा. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, भारतीय ज्ञान-पीठ, काशी, १९५३

निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

सम्पा. माणिकचन्द्र कौन्देय, श्री आचार्य कुंथुसागर ग्रंथ-माला, सोलापुर, १९५१-५३

उमास्वाति, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, तृतीय संस्करण, १९८५

उमास्वाति, सम्पा. खूबचन्द्र शास्त्री, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, १९३२

(१) मल्लवादी क्षमाश्रमण, सम्पा. मुनि जम्बूविजय, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, गुजरात, १९६६

	(२) सम्पा., आचार्य विजयलब्धिसूरीश्वर, चंदूलाल जमनादास शाह, छापी, गुजरात, १९४८
धवला (भाग १३)	वीरसेन, सम्पा. हीरालाल जैन भेलसा, म.भा. १९५५
नन्दीचूर्ण	जिनदासगणि महत्तर, प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी, १९६६
नन्दीसूत्र	अनु. हस्तिमल्ल मुनि, चन्दन जैनागम ग्रन्थमाला, सातारा सिटी, १९४२
निर्युक्तिसङ्ग्रह (आवश्यकनिर्युक्ति, दशवैकालिक निर्युक्ति)	श्री हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, लाखा बावल, जामनगर, १९८९
नियमसार (तात्पर्यवृत्तियुक्त)	कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, बापूनगर, जयपुर, १९८४
न्यायकुमुदचन्द्र (दो भाग)	प्रभाचन्द्र, सम्पा. महेन्द्रकुमार, माणिक्यचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रंथ माला, हीराबाग, पो. गिरगांव, बम्बई, १९३८ एवं १९४१.
न्यायदीपिका	अभिनवधर्मभूषण, सम्पा. दरबारी लाल कोठिया, वीरसेवा मन्दिर, दिल्ली, १९६८
न्यायविनिश्चयविवरण (दो भाग)	वादिराज, सम्पा., महेन्द्रकुमार, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९४९ एवं १९५४
न्यायागमानुसारिणी	सिंहसूरि, टीका, द्वादशारनयचक्र
न्यायावतार	सिद्धसेन, परमश्रुतप्रभावक मण्डल, बम्बई १९५०
न्यायावतारवार्तिक-वृत्ति	शान्त्याचार्य, सम्पा. दलसुख भाई मालवणिया, सिंधी जैन ग्रंथमाला नं. २०, अहमदाबाद
न्यायावतारविवृति	सिद्धर्षिगणि, सम्पा. ए.एन. उपाध्ये, सिद्धसेनाज न्यायावतार एण्ड अदर वर्क्स के अन्तर्गत बम्बई, १९७१
पत्रपरीक्षा	विद्यानन्द, सनातन जैन ग्रन्थमाला, कलकत्ता, १९१४
परीक्षामुख	माणिक्यनन्दी, अनु. मोहन लाल जैन, झांसी
प्रमाणनयतत्त्वालोक	वादिदेवसूरि, श्री तिलोक रत्न स्था. जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथडी, अहमदनगर, १९७२
प्रमाणनिर्णय	वादिराज, माणिक्यचन्द्र दिग. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई



प्रमाणपरीक्षा	विद्यानन्द, सम्पा. दरबारी लाल कोठिया, वीर सेवा मन्दिर, ट्रस्ट, वाराणसी, १९७७
प्रमाणमीमांसा (स्वोपज्ञवृत्तियुक्त)	हेमचन्द्र, सम्पा. एवं भाषाटिप्पण, सुखलाल संघवी, सिंधी जैन ग्रंथमाला, अहमदाबाद-कलकत्ता, १९३९
प्रमेयकमलमार्तण्ड (तीन भाग)	प्रभाचन्द्र, अनु. आर्थिका जिनमती, कमल प्रिण्टर्स, मदन-गंज-किशनगढ (राज)
प्रमेयरत्नमाला	लघु अनन्तवीर्य, अनु. पं. हीरालाल जैन चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६४
प्रवचनसार	कुन्दकुन्द, सम्पा. ए. एन. उपाध्ये, श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल, अगास, १९८४
युक्त्यनुशासन	समन्तभद्र, वीर सेवा मंदिर, सरसावा, १९५१
रत्नाकरावतारिका	रत्नप्रभ, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद, १९६८
विशेषावश्यकभाष्य	जिनभद्र, दिव्यदर्शन ट्रस्ट, मुम्बई, विक्रम संवत् २०३९
शास्त्रवार्तासमुच्चय	हरिभद्र, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद, १९६९
षट्खण्डागम	पुष्पदन्त भूतबलि, सम्पा., हीरा लाल जैन, भेलसा, म.भा.,
सत्यशासनपरीक्षा	विद्यानन्द, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५९
सन्मतिप्रकरण	सिद्धसेन, व्याख्या, सुखलाल संघवी, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, १९६३
समयसार	श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास (गुजरात), १९८२
सर्वार्थसिद्धि	पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९७१
सिद्धिविनिश्चयटीका (दो भाग)	अनन्तवीर्य, सम्पा. महेन्द्र कुमार, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५९
सुतागमे (भाग-१) (आचाराङ्ग सूत्र, भगवतीसूत्र, स्थानाङ्ग सूत्र)	सम्पा., पुष्पभिक्षु, सूत्रागम प्रकाशन समिति, गुडगांव, छावनी, १९५३
सुतागमे (भाग-२) (नन्दीसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र राजप्रश्नीयसूत्र)	सम्पा. पुष्पभिक्षु, सूत्रागम प्रकाशन समिति, गुडगांव-छावनी, १९५४

स्याद्वादमञ्जरी	मल्लिषेणसूरि, अनु. जगदीश चन्द्र जैन, परमश्रुतप्रभावक मण्डल, अगास, १९७०
स्याद्वादरत्नाकर (दो भाग)	वादिदेवसूरि, सम्पा. मोतीलाल लाधा, पुनर्मुद्रण, भारतीय बुक कार्पोरेशन, दिल्ली, १९८८
स्वयम्भूस्तोत्र	समन्तभद्र, वीरसेवा मंदिर, सरसावा
बौद्ध - ग्रंथ (संस्कृत-पालि)	
अभिधर्मकोश	वसुबन्धु, व्याख्या, आचार्य नरेन्द्र देव, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, १९५८
अभिधर्मकोश (सभाष्य)	बौद्धभारती, वाराणसी
अभिधर्मसमुच्चय	विश्वभारती संस्करण, १९५९
उपायहृदय	सम्पा. जी. टुची, (अंग्रेजी सूची)
कथावत्थुप्पकरण	पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन
ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावलि	सम्पा., अनन्तलालठाकुरदेव शर्मा, काशीप्रसाद जायसवाल, रिसर्च इंस्टीट्यूट, पाटलिपुत्र, १९५९
तत्त्वसङ्ग्रह (दो भाग) (तत्त्वसङ्ग्रहपञ्जिका सहित)	शान्तरक्षित, पञ्जिका, कमलशील, बौद्धभारती, वाराणसी, १९८१-८२
तर्कभाषा	मोक्षाकरगुप्त, ओरियण्टल, इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, १९४२
तर्कशास्त्र	सम्पा. जी. टुची. (अंग्रेजी सूची)
धर्मोत्तरप्रदीप	दुर्वेकमिश्र, सम्पा. दलसुख मालवणिया, काशीप्रसाद जायसवाल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पटना, १९५५
न्यायप्रवेश	शङ्करस्वामी, सम्पा. ए.बी., ध्रुव, ओरियण्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, १९६८
न्यायबिन्दुटीका	धर्मोत्तर, व्याख्या, श्रीनिवास शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ, १९७५
न्यायबिन्दुटीकाटिप्पणी	मल्लवादी, बिब्लोथिका इण्डिका, सेण्टपीटर्स बर्ग, १९०९
प्रमाणवार्तिक	धर्मकीर्ति, मनोरथनन्दिवृत्तियुक्त, बौद्ध भारती, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, १९८४

प्रमाणवार्तिक (स्वार्थानुमानपरिच्छेद स्ववृत्तियुक्त)	धर्मकीर्ति, सम्पा., दलसुख मालवणिया, नेपाल राज्य संस्कृत ग्रंथमाला, २, सन् १९५९
प्रमाणवार्तिकभाष्य	प्रज्ञाकरगुप्त, सम्पा., राहुल सांकृत्यायन, काशीप्रसाद जाय-सवाल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पटना, १९५३
प्रमाणसमुच्चय (सवृत्ति) (प्रत्यक्ष परिच्छेद)	दिङ्नाग, सम्पा., एच.आर. रंगास्वामी अयंगर, मैसूर विश्व-विद्यालय, मैसूर, १९३०
मिलिन्दपञ्चपालि	बौद्धभारती, वाराणसी, १९७९
रत्नकीर्तिनिबन्धावलि	रत्नकीर्ति, जायसवाल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पटना
वादन्याय	धर्मकीर्ति, बौद्धभारती, वाराणसी, १९७२
विग्रहव्यावर्तनी	अनु. कमलेश्वर भट्टाचार्य, द्वितीय संस्करण, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९८६
विशालामलवती (प्रमाणसमुच्चयटीका)	जिनेन्द्रबुद्धि, प्रमाणसमुच्चय एवं द्वादशारनयचक्र के प्रकाशनों में उपलब्ध
हेतुबिन्दुटीका (हेतुबिन्दुप्रकरण एवं आलोकयुक्त)	सम्पा., सुखलाल संघवी एवं मुनि जिनविजय, गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा, १९४९
अन्य दर्शन-ग्रंथ (संस्कृत)	
ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी	अभिनवगुप्त, सम्पा. सुब्रह्मण्य अय्यर एवं के.सी. पाण्डेय, इलाहाबाद
किरणावली	उदयन, ओरियण्टल इंस्टीट्यूट बड़ौदा, १९७१
कौटिलीय - अर्थशास्त्र	सम्पा. वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९६२
खण्डनखण्डखाद्य	श्रीहर्ष, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९७०
छांदोग्योपनिषद्	ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः, व्यास प्रकाशन, वाराणसी, १९८३
तत्त्वचिन्तामणि	गङ्गेश, तिरुपति, १९८२.
तत्त्वोपप्लवसिंह	जयरशिभट्ट, बौद्ध भारती, वाराणसी, १९८७
तर्कताण्डव	मैसूर विश्वविद्यालय, १९४३
तर्क-भाषा	केशवमिश्र, हिन्दी व्याख्या, विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि,

	चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९७७
तार्किकरक्षा	वरदराज, मेडिकल हाल, वाराणसी
न्यायकन्दली	श्रीधर, प्रशस्तपादभाष्य, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९७७
न्यायभाष्य	वात्स्यायन, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९७०
न्यायमञ्जरी	जयन्तभट्ट, काशी संस्कृत सीरीज, १०६, वाराणसी, १९३६
न्यायवार्तिक	उद्योतकर, सम्पा. अनु. श्रीनिवास शास्त्री, इण्डो विजन प्राइवेट लिमिटेड, गाजियाबाद, १९८६
न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका	वाचस्पतिमिश्र, काशी संस्कृत ग्रन्थमाला, २४, काशी १९२५
न्यायसूत्र	गौतम, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९७०
प्रशस्तपादभाष्य	प्रशस्तपाद, अनु. आचार्य दुण्डिराज शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९८०
ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, १९७७
मनुस्मृति	रणधीर बुक सेल्स, हरिद्वार, १९८८
माथुरीपञ्चलक्षणी	बदरीनाथ शुक्ल, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, १९८४
योगसूत्र (भोजदेववृत्तियुक्त)	सम्पा., रमाशंकर भट्टाचार्य, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६९
वाक्यपदीय	भर्तृहरि, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६६
वेदान्तसार	सदानन्द, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७९
वैशेषिकसूत्र (चन्द्रानन्दवृत्तियुक्त)	कणाद, सम्पा. मुनि जम्बूविजय, गायकवाड़ औरियण्टल सीरीज, नं. १३६, बडौदा, १९८२
व्योमवती	व्योमशिव, प्रशस्तपादभाष्य, चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी, १९२४
शाबरभाष्य	युधिष्ठिर मीमांसक, बहालगाढ़, हरियाणा, १९७७
शास्त्रदीपिका	पार्थसारथिमिश्र, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१५

श्लोकवार्तिक (न्यायरत्नाकर सहित)	कुमारिलभट्ट, रत्ना पब्लिकेशन, कमच्छा, वाराणसी, १९७८
सर्वदर्शनसङ्ग्रह	सायणमाधवाचार्य, पूना, १९५१
सांख्यकारिका	ईश्वरकृष्ण, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
सांख्यतत्त्वकौमुदी	वाचस्पतिमिश्र, व्याख्याकार गजाननशास्त्री मुसलगांवकर, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९८५
सांख्यसूत्र	कपिल सम्पा., रामशंकर भट्टाचार्य, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९७६
<b>हिन्दी ग्रंथ</b>	
अनुमान-प्रमाण	बलिराम शुक्ल, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, १९८६
अपोहसिद्धि	अनु. गोविन्दचन्द्र पाण्डे, दर्शन प्रतिष्ठान, बापूनगर, जयपुर, १९७१
आगमयुग का जैन दर्शन	दलसुखभाई मालवणिया, श्री सम्मतिज्ञानपीठ, आगरा, १९६६
काश्मीर की तांत्रिक परम्परा : साहित्य, दर्शन और साधना	आर.सी. द्विवेदी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
जैन तर्कशास्त्र में अनुमान-विचार	दरबारी लाल कोठिया, वीरसेवा मंदिर ट्रस्ट, वाराणसी, १९६९
जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन	दरबारी लाल कोठिया, वीरसेवा मंदिर ट्रस्ट, वाराणसी, १९८०
जैन - न्याय	कैलाश चन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, १९६६
जैन न्याय का विकास	मुनि नथमल, जैन विद्या अनुशीलन केन्द्र, राजस्थान विश्व-विद्यालय, जयपुर, १९७७
जैन भाषा-दर्शन	सागरमल जैन, भोगीलाल लहरचन्द्र भारतीय संस्कृति संस्थान, दिल्ली, १९८६
जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश	पं. जुगल किशोर मुख्तार, वीरसेवा मन्दिर, दिल्ली
जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग-३)	मोहन लाल मेहता, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९६७
दर्शन और चिन्तन (दो खण्ड)	सुखलाल संघवी, गुजरात विद्यासभा, १९५७

दर्शन-दिग्दर्शन	राहुल सांकृत्यायन, किताबमहल, इलाहाबाद, १९६१
बौद्ध दर्शनमीमांसा	बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, तृतीय संस्करण, १९७८
बौद्ध-धर्म-दर्शन	आचार्य, नरेन्द्रदेव, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, १९५६
बौद्ध विज्ञानवादः चिन्तन एवं योगदान	सम्पा., समदोड् रिनपोछे, केन्द्रीय उच्च तिब्बती संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, १९८३
भारतीयदर्शन में अनुमान	ब्रजनारायण शर्मा, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, १९७३
वाचस्पतिमिश्र द्वारा बौद्धदर्शन का विवेचन	श्रीनिवास शास्त्री, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र, १९६८
<b>English Books</b>	
Anacker, Stefan	Seven works of Vasubandhu, Motilal Banarasidass, 1984
Bhargava, D.N.	Jaina Tarka Bhāṣā, Motilal Banarasidass, Delhi, 1973
Bhatta, G.P.	Epistemology of the Bhatt School of Purva Mimamsā, Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1962
Bothara, Pushpa	The Jaina theory of perception, Motilal Banarasidass, Delhi, 1976
Buston	History of Buddhism (Chos-hbyung), Materialien Zurkunde des Buddhismms, Heidelberg, 1931
Dhruva, A.B.	The Nyāya Pravesh, Part I, Oriental Institute, Baroda, 1968
Dwivedi, R.C.	Contribution of Jainism to Indian Culture, Motilal Banarasidass, Delhi, 1975.
Frauwalner E.	Landmarks in the History of Indian Logic, Vienna, 1961
Jayatilleke, K.N.	Early Buddhist theory of Knowledge, George and Unwin Pvt. Ltd., London, 1963
Jha, Ganganath	The Tatva Saṁgraha, Ed. & tr., Motilal Banarasidass, Delhi, 1986

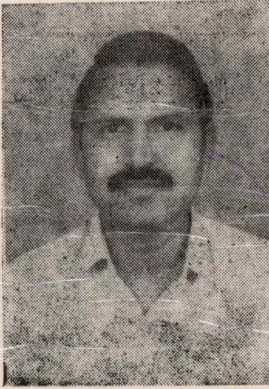
- Haack Susan The Philosophy of Logics, Cambridge University Press, 1978
- Hattori, Massaki Dignāga, on perception, Harvard University Press, 1968
- Hsuenli-Cheng Nagarjuna's Twelve Gate treatise, Dr. Reidel Publishing Company, Dordrecht. Holland, 1982
- Kochumuttom, Thomas A. A Buddhist Doctrine of Experience, Motilal Banarasidass, Delhi, 1982
- Mati lal, B.K. Perception : an essay on classical Indian theories of knowledge, Clarendon Press, Oxford, 1986
- Mookerjee, Satkari (1) The Buddhist Philosophy of Universal flux, Motilal Banarasidass, Delhi, 1980  
(2) The Jaina Philosophy of Non-Ab-solutism, Motilal Banarasidass, 1978
- Murti, T.R.V. The central Philosophy of Buddhism, George Allen and Unwin Ltd., London, 1960
- Randle , H.N. Fragments from Dignāga, Royal Asiatic Society, London, 1926
- Shah, Nagin J. Akalanka's Criticism of Dharmakīrti's Philosophy : A study, L. D. Institute of Indology, Ahmedabad, 1967
- Sharma, Dharendra The Differentiation theory of meaning in Indian Logic, Moutoun, The Hague, Paris, 1969
- Shastri, D.N. Critique of Indian Realism (The Philosophy of Nyāya-Vaisesika and its conflict with the Buddhist Dignāga School) Bhartiya vidya Prakashan, Delhi, 1976
- Shastri, Kuppu Swami A Primer of Indian Logic, Mylapore, Madras, 1961
- Stcherbatsky, F. Th. Buddhist Logic, 2 Vols. Doyer Publications New York, 1962
- Tatia, Nathmal Studies in Jaina Philosophy, P. V. Research

- Institute, Varanasi, 1951
- Vidyabhushana, Satish (1) A History of Indian Logic, Motilal Banarasidass, Delhi, 1978  
(2) History of the Mediaeval School of Indian Logic, Oriental Books Reprint corporation, New Delhi, 1977
- (Mrs.) Vijaya Rani The Buddhist Philosophy as presented in Mīmāṃsā ślokaṽrtika, Parimal Publications, Delhi, 1982
- Tucci, Giuseppe Pre-Dinnāga Buddhist Texts on Logic from Chinese Sources, (Upāyahrdaya, Tarkasāstra, Satsāstra, & Vighrahavyāvar-tani) Gaekwad Oriental Series, Baroda, 1929
- Upadhye, A.N. Sidhasena's Nyāyāvatāra and other works, Jain sahitya vikas mandal, Bom-bay, 1971
- पत्रिकाएं, अभिनन्दन-ग्रंथ एवं कोश  
अभिधान राजेन्द्र कोष  
जीत अभिनन्दन ग्रंथ  
जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश  
भारतीय विद्या (वर्ष-३)  
Adyar Library Bulletin  
Indologica Taurenensia
- श्री अभिधान राजेन्द्र कोष प्रकाशन संस्था, अहमदाबाद  
सम्पा. मुनि गुणवन्तचन्द्र गुनी, श्री जयध्वज प्रकाशन  
समिति, मद्रास, १९८६  
शु. जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी  
भारतीय विद्या भवन, बम्बई  
Vol. 18, 1959  
Vol. 8, 1985-86, Proceedings of the Sixth  
World Sanskrit Conference (Philadelphia :  
Oct. 13th-20th, 1984) EDIZIONI JOL-  
LYGRAFICA, TORINO ITAALY
- Proceedings AIOC 31st  
Session, Jaipur  
Pt. Dalsukh Bhai Malvaniya  
Felcilitation Volume I
- P.V. Research Institute, Varanasi, 1991





## लेखक-परिचय



डॉ० धर्मचन्द जैन का जन्म राजस्थान के टोंक जिले के अन्तर्गत अलीगढ़ नामक कस्बे में १३ सितम्बर, १९५८ को हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा के बाद जैन सिद्धान्त शिक्षण संस्थान, जयपुर में रह कर आपने हायर सेकेण्डरी से लेकर एम० ए० तक की शिक्षा प्राप्त की। राजस्थान विश्व-

विद्यालय, जयपुर द्वारा सन् १९७९ एवं १९८१ में, क्रमशः बी० ए० और एम.ए. की परीक्षा में सर्वोच्च अंक प्राप्त करने के लिए आपको स्वर्णपदक प्रदान किया गया। सम्प्रति आप जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर ( राज० ) में सहायक आचार्य, संस्कृत ( जैन दर्शन ) के पद पर कार्यरत हैं। मात्र ३७ वर्ष की उम्र में जैन दर्शन और प्राकृत भाषा के प्रखर एवं मेधावी युवा अध्येता डॉ० जैन को शिक्षा के क्षेत्र में कई पुरस्कारों से सम्मानित किया जा चुका है। राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर द्वारा उत्कृष्ट संस्कृत गद्य-लेखन के लिए आपको १९९१ में 'अम्बिकादत्त व्यास पुरस्कार' से सम्मानित किया गया। सम्यक् ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर द्वारा १९९४ में आपको 'युवा शोध प्रतिभा पुरस्कार' प्रदान किया गया। आपके लगभग बीस शोध-पत्र विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। आगम अनुयोग ट्रस्ट से प्रकाशित 'द्वयानुयोग' के समस्त अध्ययनों के आमुख एवं तृतीय भाग की भूमिका आपने लिखी है। वर्तमान में आप जैन जगत् की दो लोकप्रिय पत्रिकाओं - **जिनदानी** एवं **स्वाध्याय शिक्षा** के सम्पादक हैं।